गांधी-मीमांसा

(महात्मा गांधी के व्यक्तित्व-जीवन-सिद्धांत तथा सार्वजनिक कार्य-क्रम पर एक आलोचनात्मक दृष्टि)

मीमांसक

पंडित रामदयाल तिवारी

बी० ए० एल-एल० बी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४१

मूल्य ३)

दिवंगता

मिन्नी और बिन्नी की स्नेहमयी स्मृति

में

भारतमाता

को सादर, सप्रेम समर्पित

लेखक

"अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का
गज़ कभी छोटा न बने"

—महात्मा गांधी

आत्म-निवेदन

महात्मा जी के सिद्धान्त, सार्वजनिक कार्यक्रम तथा व्यक्तित्व पर विचार करते हुए कई वर्ष बीत चुके थे। अँगरेजी के दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रो मे दस-बारह लेख भी लिख चुका था। अन्यान्य देशी तथा विदेशी विद्वानो के अनेकानेक लेख भी मेरे पढने में आये थे। गाधी-साहित्य का यथाशक्ति परिशीलन भी समय समय पर करता आया था। इस पठन-पाठन तथा चिन्तन-मनन के सयुक्त प्रभाव से मेरे मन में कई बार यह इच्छा उत्पन्न हो चुकी थी कि मै भी गाधी जी के सम्बन्ध मे कुछ चरित्रचर्चा एव सिद्धान्त-विवेचन करूँ। 'नेकेड् फकीर' के लेखक मिस्टर रोबर्ट बर्नीज के समान उद्भ्रान्त विदेशी समीक्षको के विचारो को पढकर मेरी चिर-पोषित इच्छा जाग्रत् होकर और भी बलवती हो गई। प्रतीत हुआ कि भारतीय दृष्टि से भारत के हृदय-सम्राट् महात्मा गाधी की गौरव-गाथा एव सिद्धान्त-समीक्षा बहुत आवश्यक है। परन्तु सासारिक उलझनो में व्यस्त रहने के कारण अनुकूल मानसिक अवस्था के अभाव मे इच्छा रहते हुए भी मै बहुत दिनो तक कुछ भी न कर सका। अपनी तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए मुझे विश्वास भी नही था कि मै निकटवर्ती भविष्य मे अपने इस विचार को कार्य-रूप में परिणत कर सकूँगा।

परन्तु दैव की गति बडी विचित्र होती है। अकल्पित बाते जीवन में कई बार प्रस्तुत हो जाती है। मै कई कौटुम्बिक चिन्ताओ से ग्रस्त होने लगा। मानसिक अवस्था दिनोदिन बिगड चली। लिखने-पढने से जी हटने लगा, यहाँ तक कि अपनी इस विकृत मानसिक अवस्था में मैंने दैनिक पत्रो का पढना भी बन्द कर दिया। यही हालत कई दिनो तक बनी रही। परन्तु इस ससार में प्रत्येक बात की सीमा होती है।

एक दिन मेरी अन्तरात्मा जाग्रत् हुई और कहने लगी कि सांसारिक चिन्ताओं से परास्त होकर अकर्मण्य और निराश हो जाना पुरुषोचित व्यवहार नहीं है। उन्हें पराजित करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह किसी मनोनीत सत्कार्य में अपने समय और शक्ति को लगा दे। अन्तःकरण की इस प्रेरणा से मैं अपने चिन्ताग्रस्त मन और उदासीन हृदय की एकवाक्यता साधने में प्रयत्नवान् हो गया। इस प्रयत्न में प्रस्तुत ग्रन्थ की रूपरेखा खींचने में अपना जी बहलाने लगा। दो-चार छोटे-छोटे प्रारम्भिक अध्याय भी लिख डाले।

परन्तु इसी बीच में गत तेरह अप्रैल सन् पैंतीस को मोटर लारी में बैठकर मुझे कार्यवश बाहर जाना पड़ा। गांधी जी की आत्म-कथा का प्रथम भाग और इस ग्रन्थ का 'मोहनमाला' शीर्षक अर्द्धलिखित अध्याय—दोनों मेरे साथ थे। लारी तेज रफ्तार से जा रही थी। गांधी जी के पूर्वानुभूत कष्टों पर विचार करते हुए मैं आँखें मूँदकर बैठा हुआ था। थोड़ी देर में दूसरी लारी भी नजर आई जो हमारे आगे आगे दौड़ रही थी। कुछ देर में दोनों गाड़ियाँ आजू बाजू होकर प्रतिस्पर्धा के साथ दौड़ने लगीं। साइत बुरी थी। हमारी गाड़ी रास्ते से बहक गई और कुछ दूर जाकर ऐसी बुरी तरह लौटी कि उसके चारों चक्के ऊपर हो गये और लारी सहस्रधा होकर छोटे-छोटे लकड़ी के टुकड़ों में बिखर गई। एक गरीब आदमी की तात्कालिक मृत्यु हो गई। दूसरा बुरी तरह घायल हुआ और मैं भी टूटी कलाई, फूटा सिर और जख्मी पैर लेकर उस समाधि से बाहर निकला। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्व-कथित मानसिक आधि के साथ शारीरिक व्याधि का मेल हो गया। तीन हफ्तों तक मैंने बहुत कष्ट के दिन काटे। इसके बाद तकलीफ तो कम हो गई, परन्तु बाहर आने-जाने में महीनों तक मैं असमर्थ रहा। बिस्तर पर पड़े-पड़े दिन बिताने लगा।—

ऐसी हालत में क्या करता! अन्तरात्मा से मैंने प्रश्न किया कि इन दुर्दिनों का निपटारा किस तरह करना चाहिए। उत्तर मिला, पुरुष

तो उसे कहना चाहिए जो अपने आपत्तिकाल का भी सदुपयोग कर सके। स्वामी रामतीर्थ की वह खुदमस्ती से भरी हुई अनूठी उक्ति याद आई, 'पूरे है वही मर्द जो हर हाल मे खुश है।' हृदय के अन्ततंम प्रदेश से किसी ने कहा, "जिस कार्य का सूत्रपात तुमने किया है, उसे पूरा करने के लिए ही दैव ने तुम्हे यह सुयोग दिया है, इसी लिए देखो, तुम्हारा बाँया हाथ तो जख्मी है, परन्तु दाहिना बिलकुल सुरक्षित है, दैव के इस अभिप्राय पर कुछ विचार करो।" अन्त करण की बात थी, अतः-करण मे चुभ गई। शरीर की दुर्दशा की ओर देखा तो न तो ठीक-ठीक बैठते ही बनता था न चलते और न अच्छी तरह आराम से सोते। फिर भी हृदय का सकल्प जोर पकडता गया। आत्मचेतनता जाग्रत् होकर कहने लगी कि जिस महापुरुष ने दूसरो के कष्ट-निवारण मे अपने जीवन की बाजी लगा दी है और अपने कटकाकीर्ण कर्त्तव्य-पथ पर जिसे पग-पग मे अनेकानेक आपत्तियाँ झेलनी पड़ी है, उसकी नवस्फूर्तिदायिनी पावन चर्चा से बढकर इस कष्ट-काल के लिए दूसरा सत्कार्य ही क्या हो सकता है ? इस प्रश्न से प्रभावित होकर मैंने लेखनी उठाई और कभी कुछ बैठकर, कभी किसी प्रकार तकियो के सहारे लेटे हुए मैंने यथार्थ में इस ग्रथ का श्रीगणेश ही किया। प्रारम्भिक चार छोटे-छोटे अध्यायो को छोड-कर शेप का अधिकाश मैने इसी दैहिक असमर्थता की हालत में ही लिख डाला। सत्य और अहिंसा के अनन्य प्रेमी इस लोकोत्तर लोकनायक के सम्बन्ध में विचार करते हुए हृदय का कष्ट-भार बहुत कुछ कम हो गया। सचार की चिन्ता क्षीण होने लगी और विचारणीय विपय के चिन्तन-मनन से हृदय हलका हो गया। लिखने का काम तो केवल तीन या चार घटे ही कर सकता था, परन्तु विचार-धारा चौबीसो घटे प्रवाहित होने लगी। दिन-रात गाधी जी और उनके सिद्धान्त ही सूझने लगे। निशीथ के स्वप्नो में महात्मा जी से घटो सिद्धान्त-चर्चा किया करता। तल्लीनता यहाँ तक बढी कि मैं शरीर के सारे कष्ट भूल गया। भौतिक ससार कुछ काल के लिए मेरी आँखो से ओझल हो गया। मैं एक नवीन,

मोहक और सुन्दर सृष्टि में विचरण करने लगा। उस लासानी दुनिया से आज फिर भी मैं दूर पड गया हूँ। इन पंक्तियों को लिखते समय उस सूक्ष्म संसार की बाँकी झाँकी पल भर के लिए मुझे दृष्टिगत होकर फिर भी विलीन हो रही है। लेखनी रुक-सी रही है और उस आनन्दमय जगत् से छूटता हुआ लेखक का निराश हृदय फिर से उसे प्राप्त करने के लिए मचलकर मानो कहता है—

संभलने दे मुझे ऐ नाउमीदी, क्या कयामत है।
कि दामाने ख़याले यार छूटा जाय है मुझसे॥
(ग़ालिब)

आज वह 'दामाने ख़याले यार' मेरे हाथों से छूट रहा है। इसी कारण तो भूमिका भी मुश्किल से लिख रहा हूँ। महापुरुष गांधी की सिद्धान्त-चर्चा-रूपी प्रणयिनी आज इस पुस्तक के रूप में मेरे हाथों से छूट रही है। मेरे दुर्दिनों की यह त्राण-दायिनी आज मुझसे विदा ले रही है। अब मैं क्या करूँगा ? इस वियोग-व्यथा से आहत हृदय हाय खाकर माता जानकी के मनोहर शब्दों में कह रहा है—

तुम्हहिं देखि सीतल भइ छाती।
पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती॥

यहाँ तक तो मैंने आत्म-निवेदन किया। अब मुझे इस ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में कुछ थोड़ी-सी बातें और कहनी हैं। इस पुस्तक का पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' भूमिका के तौर पर ही लिखा गया है, इस कारण मेरा यहाँ का काम बहुत कुछ हलका हो चुका है।

गांधी-मीमांसा का सबसे सुयोग्य और अधिकारी लेखक कौन हो सकता है ? इस प्रश्न पर भी मैंने कुछ विचार किया और वह बहुत टेढ़ा मालूम पड़ा। पहले तो मेरी बुद्धि ने मुझसे यह कहा कि जिन विद्वान् लोगों को महात्मा जी के साथ सहवास और संभाषण का सौभाग्य अधिक से अधिक प्राप्त हुआ है, उनमें से कोई भी आदमी इस काम को अच्छी तरह कर सकता है। परन्तु मेरा तर्क आगे बढ़कर

कहने लगा कि महापुरुषो के आस-पास रहनेवाले लोग उनके व्यक्तिगत सद्व्यवहार और प्रेम-भाव से इतने प्रभावित हो जाते है कि वे परम श्रद्धालु होकर अपना विचार-स्वातन्त्र्य भी गुरु के चरणो में समर्पित कर देते है। "आज्ञा गुरुणा ह्यविचारणीया।" यथार्थ मे शिष्यत्व का उत्कर्ष भी इसी अवस्था में प्राप्त होता है। ऐसे लोग सच्चे देशभक्त और समाज-सेवक सत्पुरुष हो सकते हैं; परन्तु जिस पथ पर वे आरूढ रहते है, उसके निरपेक्ष समीक्षक नही हो सकते। यही उनकी नैसर्गिक कठिनाई है।

अब रही उन लोगो की बात, जो दूर ही से गाधी जी के सम्बन्ध में सोचने-समझने के अभ्यासी है। ऐसे लोग यदि विचारवान् हुए तो गाधी जी के अन्तर्दर्शन तो उनके विचारो में प्रत्यक्ष कर सकते है, निरपेक्ष भाव मे उनकी समीक्षा भी कर सकते है, फिर भी व्यक्तिगत परिचय के एकान्त अभाव मे कई ज्ञातव्य बातें उन्हे नही मालूम हो सकती। व्यक्तित्व और सिद्धान्त दोनो का आधार-आधेय सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना पूर्ण रूप से समझ में नही आता। तात्पर्य यह है कि गाधीवाद के सुयोग्य समीक्षक के लिए दोनो तरफ से कुछ कठिनाई जरूर है। फिर इन पक्तियो के लेखक की क्या बिसात, जो अपने को इस काम का सोलह आने अधिकारी माने। लिखने-पढने की असमर्थता, पुस्तको के अभाव और शरीर की लाचारी में यह मीमासा लिखी गई है। यह इस दुर्दैवी लेखक की खास कठिनाई थी। इस लाचारी की हालत में केवल पहले के अध्ययन और मनन के आधार पर ही मै लिख चला और लिख चुका।

इस ग्रन्थ की विचारधारा में कई बातें ऐसी है जिनका समर्थन, यदि मै चाहता तो, अन्यान्य विद्वानो के प्रामाणिक वाक्यो से कर सकता था। परन्तु दूसरो का प्रमाण देकर किसी बात को सिद्ध करना मेरी आलोचक मनोवृत्ति को आज तक कभी पसन्द नही आई। मेरी तो यही धारणा अद्यावधि रही आई है कि एक बुद्धिमान् मनुष्य के लिए उसकी

वुद्धि से वढकर कोई प्रमाण नही हो सकता। इसी धारणा के वशवर्ती होकर मैंने इस ग्रन्थ से प्रमाणो का सर्वथा वहिष्कार कर दिया है। अपनी और पाठको की प्रज्ञा को ही मैंने सर्वोपरि प्रामाणिक मानकर इस मीमासा की रचना की है। लेकिन इस ससार में ऐसा कोई नियम नही, जिसका एक-आध अपवाद न हो। अतएव 'अहिंसा-धर्म' शीर्षक प्रकरण में मैंने भी अपने पक्ष-समर्थन में तीन विद्वान् पुरुषो के प्रमाण दिये हैं। 'अहिंसा' का महत्त्वपूर्ण विषय था, एक अन्तर्दर्शी और कुशाग्रवुद्धि विचारक से मतभेद प्रकट करने का प्रसङ्ग था। अतएव मैंने अपने स्वभाव के विरुद्ध यह उचित माना कि इस विषय पर कुछ स्वयसिद्ध और माननीय विद्वानो के प्रमाण भी दे दूँ। ऐसे तीन व्यक्तियो के प्रमाण मैंने उपर्युक्त प्रकरण में दिये हैं। उनमे से प्रथम तो वगाल के प्रतिष्ठित और प्रख्यात साहित्य-शिल्पी तथा विचारक श्रीयुत वकिम-चन्द्र चट्टोपाध्याय हैं। दूसरे विद्वान् पराधीन भारत के निर्भय नर-केसरी और हमारे राष्ट्रीय सग्राम के अमर सेनानी तथा विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न लेखक और विचारक लोकमान्य वाल गगाधर तिलक है, जिनकी जोड का मौलिक विचार-सपन्न विद्वान् अर्वाचीन भारत में कोई हुआ ही नहीं। तीसरा प्रमाण जीवनमुक्त स्वामी रामतीर्थ का है जिनकी अगाध आध्यात्मिकता तथा अन्तर्दर्शिता से गाधी जी के समान मननशील महापुरुष को भी कुछ शिक्षा मिल सकती है। इन तीन व्यक्तियो के प्रमाणो के सिवाय किसी भी इतर विद्वान् का उद्धृत प्रमाण मैंने इस ग्रन्थ के किसी भी दूसरे प्रकरण में नही दिया है, यत्र-तत्र यत्किंचित् चर्चा भले ही की हो।

महात्मा जी की नैतिक महत्ता तथा व्यक्तित्व के प्रति मेरी वडी निश्चल श्रद्धा है। अतएव यह मेरी क्षुद्र लेखनी उनकी उदार भावना को पग-पग पर नतमस्तक होकर प्रणाम करती आई है। जान-बूझकर मैंने इस ग्रन्थ में किसी भी प्रसग पर एक भी ऐसे शब्द का उपयोग नही किया है जो उनके वडप्पन की ओर दुर्लक्ष्य करे और उनके अनन्य

भक्तो की मृदुल भक्ति-भावना को किसी तरह किसी अश मे भी ठेस पहुँचावें। कहने का अभिप्राय यह कि गाधी जी के उदार और पावन व्यक्तित्व को मैंने शिरोधार्य माना है। परन्तु इस ग्रन्थ की रचना मैंने एक श्रद्धावान् समीक्षक की दृष्टि से की है। अतएव उनके सिद्धान्तो और विचारो की आलोचना मैंने मीमासकोचित निर्भय आत्म-विश्वास के साथ की है। यदि मैं ऐसा न करता तो मुझे लेखनी उठाने की आवश्यकता ही प्रतीत न होती, न फिर इस ग्रन्थ का 'गाधी-मीमासा' नाम अपनी सार्थकता को प्राप्त हो सकता। जो अपनी अन्तरात्मा को दबाकर रखना चाहे, उसे समीक्षक की हैसियत से जन-समाज के सामने प्रकट ही नहीं होना चाहिए। स्वतन्त्र-रूप से किसी बात पर विचार करने की मन प्रवृत्ति मुझमे बिलकुल स्वाभाविक है। बुद्धि-स्वातन्त्र्य से प्रेरित होकर विचार-क्षेत्र मे मैं अपनी बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण मानने का अभ्यासी हूँ। जब कभी भी यह सम्भव होगा, अपनी स्वय-समर्थित प्रज्ञा के प्रकाश में ही मैं परमात्मा को पहचान सकूँगा, किसी दूसरे महान् से महान् व्यक्ति का भी प्रमाण मेरे लिए इस सम्बन्ध में सहायक सिद्ध न होगा, ऐसी मेरी धारणा है। अतएव महात्मा जी के व्यक्तित्व के मनोदर्शन तो मैंने श्रद्धापूर्ण हृदय से किये है, परन्तु उनके विचारो की परख मैंने तर्क की कसौटी पर कसकर ही करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयास में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इस बात की परीक्षा विद्वान् पाठक ही करेंगे, क्योकि समीक्षक भी समीक्षा के परे नहीं जा सकता। आखिर मुझ जैसे आलोचक के लिए भी कोई आलोचक चाहिए। मानवी आलोचना के परे तो एक परमात्मा ही है; क्योकि वह दुरूह है और उसकी कार्य-शैली लोगो की समझ मे ही नहीं आती।

अभी तक गाधी-साहित्य की जितनी रचना हुई है, वह अधिकाश में प्रशसात्मक है। विदेशी लेखको ने कुछ ग्रन्थ और सैकडो लेख ऐसे भी लिखे है जो केवल कौतूहल-पूर्ण, व्यगात्मक, छिद्रान्वेषी, सकुचित, स्वार्थी और अनुदार दृष्टि से लिखे गये है। अन्धश्रद्धा और अनुदारता

दोनो से परे होकर विचार करनेवाले गांधी-साहित्य का निर्माण अभी होने को है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस नई दिशा मे किया गया पहला प्रयत्न है। इसमें गांधी जी के व्यक्तित्व, सिद्धान्त तथा सार्वजनिक कार्यक्रम पर आलोचनात्मक दृष्टि से विस्तार के साथ विचार करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में महात्मा जी के जीवन-काल की भारतीय परिस्थिति, युग-समस्या तथा अन्तर्जातीय प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद उनकी आत्म-कथा, सत्याराधन लोक-सेवा, त्याग-वैराग्य, धर्म-जिज्ञासा तथा पूर्व जीवन की साम्राज्य-निष्ठा पर तत्त्व और मनोविकास—दोनो की दृष्टि से विचार किया गया है। तत्पश्चात् उनके विधायक कार्यक्रम की सर्वांगीणता, उपादेयता तथा तर्कसिद्ध मौलिकता पर विवेचना की गई है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी पर भी तुलनात्मक विवेचना करने का अल्प प्रयास मैंने किया है और उसके बाद ही मैंने गांधी, टॉल्सटॉय और लेनिन पर तुलनात्मक विचार प्रकट किये है। ग्रन्थ के उत्तरार्ध में महात्मा जी के आर्थिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तो की विस्तृत मीमांसा है। इसमे असहयोग, भद्र अवज्ञा, निष्क्रिय प्रतिरोध, धरना, उपवास, अहिंसाधर्म और सत्याग्रह के सैद्धान्तिक स्वरूप एव पारस्परिक सम्बन्ध तथा महात्मा जी के मत और दृष्टि-कोण एव ग्रन्थकार के समर्थन और मतभेद की विस्तृत विवेचना है। इसी अश मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गांधी जी के द्वारा प्रतिपादित निरपवाद अहिंसाधर्म-कर्तव्य-शील कर्म-योगियो के लिए उपयुक्त नही है, वह ससार-विरक्त कर्म-सन्यासियो की अहिंसा है।

तत्पश्चात् साम्यवाद पर सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ प्रकाश डालने के बाद यह बताने की चेष्टा की गई है कि कार्लमार्क्स का साम्यवाद भौतिकता-मूलक, श्रम-प्रधान सपत्तिवाद है, परन्तु महात्मा गांधी का साम्यवाद अहिंसा-मूलक, श्रम-विभाग-प्रधान समन्वयवाद है, अतएव वह सबसे अधिक स्थायी और सर्वांगीण समाज-सिद्धान्त है।

इसके बाद गांधी जी की 'हिन्द-स्वराज' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर एक विस्तृत आलोचना है, जिसमे वर्तमान सभ्यता, रेलवे, वकील, डाक्टर, पशुबल, निष्क्रिय प्रतिरोध, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली तथा यन्त्रो पर महात्मा जी ने जो विचार प्रकट किये है, उनकी चर्चा तथा आलोचनात्मक समीक्षा है। गांधीवाद और उसके भविष्य पर विचार करके यह ग्रंथ समाप्त हो जाता है।

गांधी जी के सत्य-सिद्धान्त का यथाशक्ति पालन करते हुए एक श्रद्धावान् आलोचक की दृष्टि से मैंने इस ग्रंथ को लिखने का प्रयत्न किया है। अतएव जहाँ-जहाँ अपनी विवेक-बुद्धि की प्रेरणा से मुझे अपना मतभेद प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ-वहाँ मैंने ऐसा ही किया है। महात्मा जी हिन्दू-सभ्यता के स्वाभिमानी तथा परिपक्व परिणाम हैं। इसी कारण वे अपने को 'सनातनी हिन्दू' घोषित करते है। उनके अभिभावक भक्तो ने तथा उनके विरोधियों ने ही उनकी चर्चा अभी तक की है। परन्तु हिन्दू-धर्म-शास्त्रो की वैज्ञानिक दृष्टि से गांधीवाद पर विचार करना अभी बाकी है। इस ग्रंथ में ऐसा ही कुछ प्रयत्न किया गया है। हिन्दुओ के पूर्वज प्राचीन आचार्यों ने मानव-धर्म के सभी अगो पर ऐसी गंभीर, व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है कि नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रो में अब हमारे लिए किसी नये आविष्कार की संभावना ही नही रह गई है। अतएव हिन्दू-समाज महात्मा जी के विचारों को उसी हालत में स्वीकार करेगा, जब कि उनके सिद्धान्त प्राचीन भारतीय आचार्यों की कसौटी पर खरे उतरेंगे, अन्यथा नही।

इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ३६ अध्याय है, जिनमें अहिंसा-धर्म, साम्यवाद, हिन्दू और मुसलमान, 'राउण्ड् टेब्ल कान्फ्रेन्स' सत्याग्रह का स्वरूप, हरिजन, विधायक कार्यक्रम तथा 'हिन्द-स्वराज' शीर्षक प्रकरण अपेक्षाकृत बहुत विस्तृत और सम्पूर्ण है। इस ग्रंथ की रचना कुछ ऐसी धरती पर हुई है कि इसके सभी विचारो से पूर्णतया सहमत होनेवाले

लोग बहुत कम सख्या में मिल सकेंगे। महात्मा गाधी के परम श्रद्धालुओ की दृष्टि से इस ग्रथ में विचार-वैमनस्य की उतनी ही गुजाइश है जितनी कि उनके कट्टर विरोधियो के दृष्टिकोण से हो सकती है। मैने इस मीमासा की रचना में किसी पक्ष-विशेष को प्रसन्न रखने का विचार भी नही किया है। यदि मै ऐसा करने में प्रयत्नवान् होता तो मीमासक की हैसियत से मुझे कर्त्तव्य-पथ से पराङ्मुख होना पडता। ऐसा करना मेरे लिए आत्म-हत्या के समान एक निंदनीय कर्म हो जाता और ग्रथ में जो यत्किंचित् विशेषता है वह बिलकुल विलुप्त हो जाती। ऐसा होना मुझे मजूर नही था।

ग्रथ के नामकरण के सम्बन्ध में दो शब्द लिख देना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। यथार्थ में इसका नाम 'गाधीवाद-मीमासा' अथवा 'गाधी-तत्त्व-मीमासा' होना अधिक स्पष्ट और उपयुक्त होता। यही नाम पहले मैंने पसन्द भी किया था। परन्तु बाद मैंने सोचा कि गाधी जी ने अपने जीवन को इतना सिद्धान्तमय बना डाला है कि उनका व्यक्तित्व उनके सिद्धान्तो के रूप में परिणत हो गया है। परिणाम-स्वरूप 'गाधी' और 'गाधीवाद' दोनो पर्यायवाची हो चुके है। इस विचार-सरणी के आधार पर मैंने 'गाधी-मीमासा' नाम ही इस ग्रथ के लिए उपयुक्त माना; क्योंकि 'गाधी-तत्त्व-मीमासा' में तीन शब्दो की योजना जरा लम्बी-सी पडती थी। उच्चारण में समय और श्रम दोनो की अधिक आवश्यकता थी।

इस ग्रन्थ की सुपाठ्य प्रति तैयार कराने में मुझे कई साहित्य-प्रेमी मित्रो से सहायता मिली है। उनमें से प० रघुनन्दनलाल जी पाँडे तथा पाठक हनुमानप्रसाद जी यदु 'विशारद' मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र है। अन्त में मै उन सभी मित्रो के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होने मेरे इस स्वल्प प्रयास को अपनी प्रज्ञा की दृष्टि से देखा है और इस ग्रथ की रचना में मन, वचन अथवा कर्म से मुझे किसी न किसी प्रकार की सहायता पहुँचाई

है। सबसे अन्त में मैं अपने दुर्दैव को भी हृदय से धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता जिसकी प्रेरणा ने मुझे मोटर-दुर्घटना का पात्र बनाया और ज़ख्मी बनाकर चार महीने शय्या-सेवन कराया और इस तरह मुझे इस ग्रंथ-लेखन के लिए पर्याप्त अवकाश दिया।

विजयादशमी,
संवत् १९९२,
रायपुर, सी० पी०

निवेदक
ग्रन्थकार

विषय-सूची

अध्याय विषय	पृष्ठ-सख्या
(१) विषय-प्रवेश	१
(२) विभूति-विचार	७
(३) युग-समस्या	१२
(४) भारतीय राष्ट्रीयता	१७
(५) गुरुतम भार	२६
(६) सास्कृतिक आक्रमण	३७
(७) हमारा नैतिक पतन	५६
(८) आत्म-कथा	७१
(९) जन्म-सिद्ध सस्कार	८५
(१०) सत्याराधन	९६
(११) लोक-सेवा	११०
(१२) धर्म-जिज्ञासा	१२३
(१३) त्याग-वैराग्य	१३९
(१४) वकालत	१५१
(१५) काग्रेस की राजनीति	१६३
(१६) नारी-जाग्रति	१७७
(१७) विधायक कार्यक्रम	१९४
(१८) राष्ट्र-भाषा	२४७
(१९) हिन्दू और मुसलमान	२६७
(२०) साम्राज्य-निष्ठा	३०७
(२१) ब्रह्मचर्य	३१९
(२२) हरिजन	३३७
(२३) असहयोग	३५६
(२४) सत्याग्रह का स्वरूप	३८१

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
(२५)	भद्र अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध	४०७
(२६)	अहिंसा-धर्म (१) खड	४२३
	अहिंसा-धर्म (२) खड	४६८
	अहिंसा-धर्म (३) खड	५०१
(२७)	साम्यवाद	५२२
(२८)	लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी	५८१
(२९)	टॉल्स्टॉय, लेनिन और गाधी	६०६
(३०)	शान्ति-समस्या	६१८
(३१)	स्वदेशी और स्वराज्य	६४०
(३२)	'राउड् टेबुल् कान्फ्रेंस' (गोलमेज परिषद्)	६६७
(३३)	मोहन-माला	७०७
(३४)	मान-चित्र	७२६
(३५)	'हिन्द-स्वराज्य'	७३१
(३६)	गाधीवाद	८३६

महात्मा गांधी

गांधी-मीमांसा

अध्याय १

विषय-प्रवेश

यद्यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंशसंभवम् ।।

हमारे इस पार्थिव ससार मे ऐसे लोगो की सख्या बहुत ही कम होगी, जिन्होने महात्मा गांधी का नाम न सुना हो। वर्तमान जन-समाज मे यदि कोई एक व्यक्ति ऐसा है, जिसे लोग बच्चे से बूढे तक अधिक से अधिक सख्या मे जानते हो, तो वह भारत का महापुरुष गाधी है, इसमें किसी को कुछ भी सदेह नही हो सकता। गाधी जी के नाम से परिचित उन बहु-सख्यक मनुष्यो मे भी ऐसे लोग बहुत कम होगे, जो उन्हे महात्मा न समझते हो और जिन्होने श्रद्धा-मूलक कौतूहल से प्रेरित होकर उनके सम्बन्ध मे दो-चार प्रश्न न किये हो। हिन्दुस्थान के तो वे इस समय जीवन-सर्वस्व हो रहे है। हमारे इस देश में असाधारणबुद्धि और हृदय से सम्पन्न, सदाचारी, विद्वान् और क्षमताशाली नेताओ की सख्या पर्याप्त है, परन्तु वे सब गाधी जी के कधे तक पहुँच पाते है। इस महापुरुष के हृदय का आभार और बुद्धि का लोहा उन सभी को मानना पडता है। जिस एक मनुष्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता हो कि उनके व्यक्तित्व के सामने पैंतीस करोड भारतीय जनता की राष्ट्रीय महासभा का विराट् स्वरूप

संकुचित हो जाता है, उसकी महत्ता का मानस-चित्र कल्पनाशील पाठक सहज ही खीच सकते है। इतने बड़े मनुष्य के सम्बन्ध में प्रमाण-पूर्वक कुछ लिखना बहुश्रुत और विचारशील लोगो का ही काम है। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे ही महापुरुषो के सम्बन्ध में अक्षम-सक्षम सभी प्रकार के लोग मनमानी बातें किया करते हैं। हम भी उनमें से एक है। सम्भवत इस काम को हम अपने लिए अनधिकारचर्चा समझकर छोड देते, परन्तु हमारी बुद्धि की दलील यह है कि महापुरुषो के सम्बन्ध में अपने-अपने मतानुसार कुछ कहने-सुनने का अधिकार सभी को रहता है, क्योकि वे एक के नहीं, सभी के होते है। जिस मनुष्य ने अपना तन, मन और धन सभी कुछ जन-समाज के सामने प्रकट रूप से समर्पित कर दिया हो, उसके गुण-दोष की चर्चा सार्वजनिक रूप में होना बिलकुल स्वाभाविक है।

महात्मा गाधी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करनेवाले विचारशील विद्वानो की कोई कमी नहीं है। गत बीस वर्षों के अन्दर ससार के समाचार-पत्रो में जितनी अधिक चर्चा गाधी जी के सम्बन्ध में हुई है, उतनी शायद ही किसी प्रसिद्ध पुरुष के सम्बन्ध में हुई हो। फिर भी उनके विषय में लोगो की जानकारी सर्वथा यथार्थ है, ऐसा कहने के लिए शायद ही कोई तैयार होगा। महापुरुष तो अकसर गलतफहमी के शिकार हुआ करते है। अपने जीवन-काल में गुण-ग्राहकता के पात्र होनेवाले लोक-नायक नेता तथा उपदेशक बहुत ही कम हुए है। जन-समाज का अनुभव तो यही कहता है कि महापुरुष अपने मृत्यु के उपरान्त ही अधिक जीते हैं। अतएव उनकी चर्चा उनके जीवन-काल में तो होती ही है, परन्तु उनके लोकातरित हो जाने के बाद उनके गुणो की छान-बीन और मीमासा विद्वान् लोग मनोयोग-पूर्वक सदियो तक किया करते है। उनके जन्म, जीवन और मरण का रहस्य भी कुछ समय के बाद ही खुलता है। महात्मा गाधी की महत्ता, उनके सिद्धान्त तथा कार्यक्रम पर विचार करनेवालो की अभी

भी कोई कमी नही है, परन्तु परिणाम की दृष्टि से इस लोकनायक पुरुष की यथार्थ परीक्षा भविष्य में ही हो सकेगी। यो तो साधारण मनुष्यो के भी गुण-दोष की यथार्थ पहचान उनके बाद ही हुआ करती है। मरणोत्तरकाल मे ही किसी मनुष्य के सम्बन्ध मे हम सहानुभूतिपूर्वक निरपेक्ष बुद्धि से विचार कर सकते है। हम अपने जीवनकाल मे भ्रान्ति, अनुचित वैमनस्य तथा द्वेप के पात्र बहुधा हो जाते है। परन्तु जब हमारी केवल कहानी रह जाती है तो लोग कुछ कृपालु होकर हमारी विशेपताओ की पहचान किया करते है। जन-समाज की मानसिक प्रवृत्ति ही ऐसी है, इसमें किसी का वश नहीं।

सर्व-साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में जब उनके समकालीन लोगो को यह कठिनाई प्रतीत हो सकती है, तो फिर महज्जनो के विषय में कहना ही क्या है? उनके तो मित्र और अमित्र अधिक से अधिक सख्या में हुआ करते है। जिस गाधी को लोग जन-समाज का कल्याणकारी महापुरुष समझते है, उसकी उपस्थिति और स्वतत्रता अधिकारियो को महान् आपत्तिजनक और भयावह प्रतीत होती है। ईसा, मसूर और सुकरात इसी निर्मूल धारणा के शिकार हो गये। इतिहास के पृष्ठो को कोई अतीन्द्रिय दृष्टि से देखे, तो उसे जगह-जगह रुधिर के छीटे दृष्टिगत होगे। समाज के उत्थान मे जिन सेवको ने कधे लगाये है, उनके पसीने तो सूख गये; परन्तु उनके रक्तस्राव के चिह्न मानवी सभ्यता के इतिहास में अभी भी अकित है।

कहने का साराश यह कि गाधी जी के जीवन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सोचने-समझने के लिए अभी सारा भविष्य पडा हुआ है। इस महापुरुष का व्यक्तित्व इतना विलक्षण और विशाल है कि उसे ठीक ठीक समझना समकालीन जन-समाज के लिए बहुत कठिन है। हिमालय के प्राकृतिक वैभव की दिव्य और देव-दुर्लभ झाँकी उसी मनुष्य को मिल सकती है, जो उसे कई मीलो की दूरी से देखता है। इस भू-मण्डल पर वह किस शान से खडा है—इस बात की जानकारी उसके आस-पास

रहनेवालो को नही हो सकती। ठीक इसी प्रकार महापुरुषों की यथार्थ पहचान समकालीन जन-समाज को नही, वरन् सदियों के बाद आनेवाली जन-सन्तति को हुआ करती है।

समकालीन जन-समाज अपने क्रान्तिकारी महापुरुषो के यथार्थ परिचय प्राप्त करने मे जो सक्षम नही होता, उसका एक कारण और भी है। जिस काल मे इन अलौकिक व्यक्तियो का आविर्भाव और उनके सिद्धान्तो का पहले-पहल प्रचार होता है, उस समय प्राचीन परिपाटी के अन्धे भक्त भी अधिक सख्या मे विद्यमान रहते है। समाज की भ्रान्ति-मूलक भावनाओ को सुदृढ शृङ्खला मे बाँधकर अपने प्रभाव को अक्षुण्ण बनाकर रखनेवाले लोग इन क्रान्तिकारी पुरुषो के प्रबल विरोधी बन जाते है और उनके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के भ्रम फैला कर लोगो में बुद्धि-भेद उत्पन्न किया करते है। ऐसे लोगो के मोह-पाश से अपने को सर्वथा मुक्त करने मे जन-समाज को बडी कठिनाई पडती है। समाज-सुधारक महात्माओ को इसी अड़चन का सामना करना पडता है और बहुधा उन्हे इसी प्रयत्न की बलि-वेदी पर अपना सर्वस्व भी अर्पण कर देना पडता है। हरिजनो के उद्धार का कार्यक्रम अपने हाथो में लेकर महात्मा जी ने जिस पथ का अनुसरण किया है, वह इसी तरह की कठिनाइयो से कटकित है। पूने का बम अगर कुछ मिनट बाद गिरा होता, तो महात्मा जी अछूतो की वेकसी पर बलिदान हो गये होते। परन्तु दैव को यह स्वीकार नही था।

अपने महापुरुषो को समझने-समझाने मे समकालीन जन-समाज को जो कठिनाई प्रतीत होती है, उसके उपर्युक्त दो कारण प्रधान है। फिर भी समझदारो के मार्ग मे जो अडचने आती है, उनको झेलने के लिए विचारवान् लोग हमेशा से तत्पर रहते आये है। गाधीवाद को समझने-समझाने में इस समय जो कठिनाई हो रही है, उसका प्रधान कारण हमारा दूषित अतर्जातीय वातावरण है। इस हिंसा-पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति मे लोगो की समझ मे यह बात नही

आती कि कुछ लोगो की अहिंसा किस मर्ज की दवा होगी ? जहाँ छल और धोखेबाजी का बाजार गरम है, वहाँ सचाई का एक हामी ससार का श्रेय-सपादन किस प्रकार कर सकेगा ? इस प्रकार के सन्देह-मूलक प्रश्न लोगो के मन मे उठ कर वही विलीन हो जाते है। समाधानकारक उत्तर के अभाव मे सत्य तथा अहिंसा पर जन-समाज की श्रद्धा स्थिर नही होने पाती।

ससार के इतिहास मे शायद ही ऐसा कोई महापुरुष हुआ हो, जिसे अपने जीवन-काल मे इतनी ख्याति मिली है, जितनी कि महात्मा जी को प्राप्त है। फिर भी इसका अर्थ यह नही है कि गाधी जी का अन्त-स्वरूप लोगो को समझ मे अच्छी तरह आ चुका है। उनकी ख्याति अधिकाश मे श्रद्धा-मूलक है । जो साधारण लोग है, वे उन्हे महात्मा समझते है और इसी कारण उनके दर्शन से कृतकृत्य हो जाने के बाद इस बात की परवाह नही करते कि उन्होंने क्या कहा। जो अधिकारी है, वे उन्हे सार्वजनिक शान्ति का शत्रु समझते है । जो समझदार है, उनमे से बहुत-से लोग गाधी जी को व्यावहारिक जीवन की ओर दुर्लक्ष्य करनेवाला अखण्ड आदर्शवादी समझते है। इस तरह उनके सम्बन्ध मे कई प्रकार के विचार और वहम फैले हुए है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस मनुष्य ने अपना आत्म-चरित्र लिखकर अपने अन्तर्बाह्य का इतना अधिक खुलासा कर दिया हो, उसी के सम्बन्ध में इतना व्यापक मत-भेद पाया जाता है।

प्रस्तुत विचार-धारा के द्वारा हम भी इस लोकोत्तर लोकनायक के सम्बन्ध मे अपने विचार पाठको के सामने प्रकट करना चाहते है। हम इस बात का दावा नही करते कि हमें उनका जो परिचय मिला है, वह सर्वथा यथार्थ है। फिर भी समय-समय पर उनके विचार, व्यवहार तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम पर हमने मनोनिवेश-पूर्वक विचार करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है और उनके सम्बन्ध में हमने स्वय अपने कुछ सिद्धान्त निश्चित किये है। पाठको की जानकारी के लिए

हम उन्हें यहाँ धारावाही रूप में प्रस्तुत करते है और इस बात की आशा करते हैं कि विचारशील पाठक विवेक की कसौटी पर उनकी मनोयोगपूर्वक परोक्षा करेंगे।

हाँ, एक बात की ओर हम अपने सहृदय पाठको का ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक समझते है और वह यह है। गाधी जी के प्रति हमारी जो श्रद्धा है, वह शायद ही किसी से कम हो। हम उन्हे इस युग का अवतार मानते हैं और अपनी इसी धारणा की ओर सकेत करने के लिए हमने इस लेख के शीर्ष भाग में गीता का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें योगेश्वर कृष्ण ने अपने विभूति-वर्णन का साराश निकाला है। इस धारणा से प्रेरित होकर हम भी इस प्रारम्भिक निवेदन के बाद कुछ थोडी-सी विभूति-सम्बन्धी चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं। पर हमने इस ग्रथ को एक श्रद्धावान् आलोचक की हैसियत से लिखने का शुभ सकल्प किया है। इस मन्तव्य की प्रेरणा से हम गाधी जी के जीवन-सिद्धान्त, व्यक्तित्व तथा कार्यक्रम पर सर्वाङ्गीण दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। सम्भव है, इस प्रयत्न में हमें कई प्रसगो पर मत-भेद प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत हो अथवा महात्मा जी के बड़प्पन का केन्द्र-बिन्दु हमें कही दूसरी जगह पर स्थापित करना पडे। स्वय गाधी जी को अन्ध-श्रद्धा बिलकुल पसन्द नही है। हमने भी अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर गाधी जी के मनोदर्शन श्रद्धामूलक विवेक के नेत्रो से किये है। उसी अन्तर्दर्शन का शब्द-चित्र हम पाठको के सामने प्रस्तुत करना चाहते है। हमें तो केवल इसी से सतोष है। क्योंकि हम इतना जानते हैं कि महात्मा गाधी के सम्बन्ध में जितना साहित्य-निर्माण अभी तक हो चुका है और भविष्य मे होगा, उसकी व्यापक और विशाल काया में हमारी यह विचार-धारा कहीं भी गुम हो जावेगी। अतएव सहृदय पाठक हमारे इस क्षुद्र प्रयत्न को 'स्वात सुखाय' ही समझें।

———

अध्याय २

विभूति-विचार

मानव-जीवन एक अधूरी समस्या है। प्रतीत होता है कि इस पहेली की पूर्ति करना ही हमारी सारी कर्मण्यता का उद्देश्य है। विहगम दृष्टि से समूचे सृष्टि-प्रपच की ओर देखो, अनायास विदित होगा कि प्राणि-समुदाय की सारी चहल-पहल, उसके सभी प्रयत्न, उसकी अविराम परिश्रमशीलता तथा चेष्टाये किसी महान् अन्तर्गत असतोष से प्रेरणा प्राप्त करती है। यदि प्राणियो के अन्त करण मे पैठने की अतीन्द्रियता हमें प्राप्त हो, तो हमे यह समझने मे अधिक देर न लगेगी कि एक विचार-शून्य क्षुद्रातिक्षुद्र कीटाणु और एक ज्ञानवान् तथा सभ्य मनुष्य के जीवन को गति एव चचलता देनेवाली आन्तरिक प्रेरणा का मूल-स्वरूप एक ही है। अपनी वर्तमान अवस्था से दोनो असन्तुष्ट है। असतोष का यह अन्तर्व्यापी भाव ही भिन्न भिन्न प्रसगो पर भिन्न-भिन्न कारणो से घनीभूत होकर दु ख, ग्लानि और सताप का रूप धारण किया करता है। इसी असतोष के चिरस्थायी भाव को मूलोच्छेदित करने की एकान्त कामना से प्राणी स्वभावत कर्मशील हुआ करता है। यथार्थ में कर्मण्यता की अविच्छिन्न शृखला का ही दूसरा नाम जीवन है। इस कर्म-शृखला का सूत्रपात किसने, कब और क्यो किया—यह एक ऐसी विषम और उलझन में डालनेवाली समस्या है कि इसे समझने-समझाने में ससार का सारा तत्त्वज्ञान कुठित हो चुका है।

कहने का साराश यह कि मनुष्य स्वय अपने ही लिए एक जटिल समस्या है। और तो क्या, वह स्वय अपनी ही असलियत से अबुद्ध और ग़ाफिल है। पार्थिव जीवन की जिस भौतिक परिस्थिति में अपने को

वह पाता है, उसकी जाँच-पडताल में वह अपनी कर्मण्यता का अधिकाश खर्च कर देता है। भू-पृष्ठ के अणु-परमाणुओ की छान-बीन में, दिगंत-व्यापी, सख्यातीत नक्षत्रो की गगन-भेदी परीक्षा में, सामाजिक सुख-शान्ति के समुचित सम्पादन में तथा राजनैतिक दुर्व्यवस्था की उखाड-पछाड में वह अपनी सारी शक्ति लगा देता है। मनुष्य-जीवन की यह परम्परागत क्रिया-शीलता ससार की बाल्यावस्था से आज तक जारी है। फिर भी इस प्रगतिमान् बीसवी शताब्दी में सभ्य से सभ्य और विद्वान् से विद्वान् मनुष्य भी शायद ही यह कहने को तैयार हो कि वह सर्वथा सुखी है। कुछ लोगो का अनुभव—और अधिकांश लोगो का अनुमान—दोनो का यही सकेत है कि बहिर्मुख इन्द्रियों की बाहरी चेष्टायें मानवी जीवन की आन्तरिक और अक्षुण्ण शान्ति के सम्पादन में तब तक विफल होती रहेंगी, जब तक मनुष्य अपने अन्तःस्वरूप से अपरिचित बना रहेगा।

आत्म-परिचय का मार्ग यदि बिलकुल प्रशस्त और निर्बाध होता, तो भी मनुष्य के लिए शान्ति-लाभ की समस्या बहुत कुछ सरल होते हुए भी कठिनाइयो से बिलकुल निरापद नही होती। परन्तु हमारी परिस्थिति इससे भी अधिक दुस्तर है। जीवन और मरण, सुख और दुःख, धर्म और अधर्म, आशा और निराशा की परस्पर विपरीत अवस्थाओं की उथल-पुथल में पड़कर जन-समाज इतना कर्त्तव्यमूढ हो जाता है कि विवेक की पतवार उसके हाथो से छूट जाती है और त्रयताप-सचलित सतप्त समीर के झोके खाकर उसकी जीवन-नौका सशयो के सर्वग्रासी भँवर-जाल में डूबने लगती है। कर्त्तव्य-मूढता की इस दुरवस्था में जन-समाज दुखी होकर 'त्राहि माम्' पुकारने लगता है। आत्म-स्वरूप को भूला हुआ ऐसा जन-समुदाय अपने कल्याण-पथ से भ्रष्ट होकर योग और क्षेम दोनो से शून्य हो जाता है। सामूहिक जीवन की इस हीनावस्था में लोग परस्पर पराङ्मुख होकर अपनी सामाजिक एकवाक्यता खो बैठते हैं। ऐसी दशा में श्रद्धा के स्थान

पर सशय, सहानुभूति के स्थान पर स्वार्थपरता और वन्धुत्व के स्थान पर विरोध के व्यवहार जातीय जीवन की शृखला को अस्तव्यस्त करके लोगो को पतित एव पतनशील वना देते है। कोई किसी की करुण-कहानी नही सुनता। कोई किसी को सद्भावना की दृष्टि से नही देखता। सभी अपनी अपनी डफली वजा कर अपना अपना राग अलापने लगते हैं। सामूहिक सम्वद्धता के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर समाज की सम्मिलित शक्तियाँ शतधा होकर बिखर जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि दुष्ट लोगो की प्रसुप्त और अनुशासित वासनाये प्रकट होकर अपना ताडव नृत्य दिखाने लगती है। दीन और निस्सहाय प्राणी इस कुत्सित वृत्तियो के शिकजे में पडकर नाना प्रकार की यन्त्रणाओ का अनुभव करते है। समाज के शक्तिमान् लोग परोपकार-पथ से पतित होकर अपनी शक्तियो का दुरुपयोग करने लगते हैं। पर-पीडन ही उनका धर्म हो जाता है। जिन्हे रक्षक होना चाहिए, वे भक्षक वन कर अपने ही स्वार्थ-साधन में सलग्न हो जाते हैं। समाज की इस दुर्व्यवस्था में धर्म की ग्लानि हो जाती है और नीतिमत्ता तिरोहित हो कर दुराचारियो को स्वच्छन्द छोड जाती है। ऐसी परिस्थिति का दुष्परिणाम वही होता है, जो होना चाहिए। दीन-दुखियो और सतप्त प्राणियो के करुण क्रन्दन और मनोवेदना की हाय से वातावरण परिपूर्ण हो जाता है।

महापुरुषो की सृष्टि सतप्त प्राणियो की इसी सम्मिलित हाय से हुआ करती है। आपद्-ग्रस्त अनाथो के तप्त नि श्वासो में एक विलक्षण रचनात्मक शक्ति अर्तनिहित रहती है। आपत्ति के समय लोगो के हृदय में यह इच्छा स्वभावत आविर्भूत होती है कि कोई उनका उद्धार कर दे। सताप-ग्रस्त जन-समाज की यह सम्मिलित इच्छा ही महापुरुषो की जननी हुआ करती है। सार्वजनिक सस्थाओ की रचना में जिस प्रकार लोग अपने अपने शक्त्यनुसार चदा देकर सहायक होते है, ठीक उसी प्रकार सार्वजनिक पुरुषो की सृष्टि भी लोगो के सगृहीत आध्यात्मिक

चंदे से हुआ करती है । असंख्य प्राणियों की सम्मिलित भावनाओं से जिनका निर्माण होता है, ऐसे महापुरुषों में असाधारण प्रेरणा-शक्ति का होना बिलकुल स्वाभाविक है। ऐसे लोग जन-समाज की प्रच्छन्न वेदना को अपने हृदय में लेकर ही जन्म लेते हैं । जन-समाज की सम्मिलित अंतरात्मा उनके द्वारा बोलती है। परमार्थ ही उनका स्वार्थ और जन-सेवा ही उनकी जीवन-चर्या होती है। आत्म-विस्मरणशील मानव-समाज को उसके अतस्स्वरूप का परिचय देना ही उनका जीवनोद्देश्य हुआ करता है। विश्व की ये वन्दनीय विभूतियाँ जन-समाज के संकट-काल में ही आविर्भूत होती हैं और संसार के कंटकाकीर्ण जीवन-पथ में अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाल कर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती हैं।

मनुष्य-जाति के विकास में ऐसी सामाजिक दुर्व्यवस्था के प्रसंग कई बार आ चुके हैं। जन-समाज के सामूहिक जीवन की शृङ्खला कई बार टूट कर अस्तव्यस्त हो चुकी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे सभी प्रसंगों पर किसी न किसी पथ-प्रदर्शक महापुरुष का आविर्भाव हुआ है। ऐसे लोकनायक महात्माओं ने अपने आचरण के द्वारा समकालीन मानव-समाज को जो शिक्षा दी है, वह हमारे साहित्य की स्थावर सम्पत्ति है। मनुष्य के सामने जीवन और मरण, धर्म और अधर्म की समस्यायें जब तक बनी रहेंगी, जब तक उसके विवेक पर स्वार्थ-मूलक अज्ञान का परदा पड़ा रहेगा और जब तक उसका कर्त्तव्य-पथ दैहिक, दैविक और भौतिक कठिनाइयों से कटकित बना रहेगा, तब तक उन महापुरुषों के छोड़े हुए ज्ञानालोक से मनुष्य-समाज का दुर्गम कल्याण-पथ प्रकाशित होता रहेगा। यही कारण है कि इस भू-मण्डल का अखिल मानव-समाज अद्यावधि महर्षि व्यास, राम, कृष्ण, जोरो एस्टर, गौतम बुद्ध, कन्फ्यूशस, मूसा तथा ईसामसीह के प्रातःस्मरणीय नामों को अपने हृदय में अंकित करके अपने को धन्य मानता आया है। यही कारण है कि घोर कलियुग के इस गये-गुजरे जमाने में भी सत्य-निष्ठा एवं कर्त्तव्य-परायणता के हामी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो

सकते हैं। यही कारण है कि मानवी मनोवृत्ति पशुता-पाश से आवद्ध होकर भी कभी कभी सतोगुणी सताप के दो-चार आँसू गिरा देती है। मनुष्य अपने लक्ष्य-पथ से भ्रष्ट होकर चाहे कितना भी पतित हो जावे, पर जब तक उसे किसी न किसी पथ-प्रदर्शक महापुरुष के अनुयायी होने का स्वाभिमान है और उसमे अपने आदर्श पुरुष के योग्य होने की सत्कामना है, तब तक उसके भावी उत्थान की आशा की जा सकती है।

इसी कारण हमारी यह हृदयगत धारणा है कि हमारे इस पतन-शील भारत का भविष्य भी आशा के आलोक से भासमान है, क्योंकि आज उसके दीन-हीन और उद्भ्रान्त जन-समाज में एक विश्व-विदित एव वन्दनीय विभूति विद्यमान है और सबसे आशाजनक बात तो यह है कि उसे अपने उस आदर्श पुरुष का स्वाभिमान भी है। आज उस महापुरुष के द्वारा प्रदर्शित कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ होने की नैतिक क्षमता हमारे अशक्त हृदयो में नही है। फिर भी हमारे लिए यह सतोष का विषय हो सकता है कि हमे अपनी सामाजिक त्रुटियो की जानकारी हो चुकी है। ज्ञान का पौधा इतना जीवट होता है कि एक बार अकुरित होकर फिर मुरझाना वह जानता ही नही। आज भारतीय जन-समाज में दुर्व्यवस्था के वे सब लक्षण विद्यमान है, जिनकी चर्चा हम इस अध्याय के पूर्वार्द्ध में कर चुके है। अतएव हमारे भारतवर्ष की सतप्त अन्तरात्मा इस महापुरुष की वाणी में अवतरित होकर स्पष्ट से स्पष्ट शब्दो में बोल रही है। आज योगेश्वर की वह पूर्व-परिचित प्रतिज्ञा भारतीय जन-समाज के उत्थान में चरितार्थ हो रही है और भारत पर कृपालु होकर भगवान् कृष्ण मानो फिर से अपनी उस अमर वाणी को दुहराते हुए कह रहे है —

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥"

———

अध्याय २

युग-समस्या

जिस युग में गाधी जी का जन्म हुआ है, वह सशय, सताप और हिंसावाद के आतक से ऊबा हुआ एक जमाना है। इस युग मे सामाजिक दुरवस्था के वे सब लक्षण विद्यमान है, जिनकी चर्चा हम अभी कर चुके है। इस समय पृथ्वी के पूर्वी और पश्चिमी—दोनो गोलार्द्धों में वैमनस्य और बेचैनी का आतक छाया हुआ है। पाश्चात्य दुनिया की राष्ट्रीय स्वार्थपरता और पूर्वी ससार की शिथिलता—इन दोनो के सम्पर्क मे जो अशान्ति उत्पन्न हुई है और इस समय जन-समाज में व्याप्त है, वह एक ऐसी दुस्साध्य व्याधि का रूप धारण कर चुकी है कि उससे त्राण पाना असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है। पश्चिम की सभ्यता नयी है; पूर्व की सस्कृति प्राचीन है। पहली स्वार्थ-रत है और दूसरी परमार्थ की सेविका है। पश्चिम अधिकार-प्रिय है और पूर्व कर्त्तव्य-शील है। पश्चिमी मनोवृत्ति जडवाद से आक्रान्त है और पूर्वी सस्कार अध्यात्मवादी है। पश्चिम का मानव-स्वभाव सग्रहशील है और पूर्व का मनोधर्म मनुष्य को त्याग तथा वैराग्य की ओर झुकाता है। दो मानवी स्वभावो की इस विषमता के कारण इस समय समूचे ससार में कुछ ऐसी उलझन आ पडी है कि अच्छे से अच्छे विचारको की समझ मे यह बात नही आती कि आखिर इस ससार-व्यापी झमेले का निपटारा किस प्रकार हो सकेगा। उनकी बुद्धि कुठित है और उनके प्रयत्न दिशा-शून्य हो रहे हैं।

पश्चिम के अधिकाश राष्ट्र समानधर्मा है। वे सभी व्यवसायी है। उनके दुर्भाग्य मे ऐसी भूमि उनके हिस्से में बहुत कम आई है जो अपनी

उर्वराशक्ति से उनका यथोचित लालन-पालन कर सके । कहना चाहिए कि उनको माता के स्तनो में काफी दूध नही है। अतएव पश्चिम के राष्ट्र-रूपो बुभुक्षित बच्चे हमेशा से धाई की तलाश में रहते आये हैं। पर अपने बच्चे को भूखा छोडकर कौन माता दूसरे को दूध पिलावेगो ? इसलिए पाश्चात्य ससार के भूखे राष्ट्र पृथ्वी को हडप जाने पर तुले हुए हैं। चालाक हैं, इस कारण वे अपने दुराचरण को 'व्हाइट्-मैन्स्बर्डन्' कह कर उसे पवित्र उत्तरदायित्व का रूप दे डालते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रो की इस सर्वग्रासी मनोवृत्ति का शिकार एशिया हो चुका है। उसकी विशाल काया यूरोप के नख-प्रहारो से जगह-जगह पर क्षतविक्षत हो चुकी है। अतएव यह विशाल महाद्वीप बेसुध है, घायल है, और मरणासन्न है ।

उसे कल तक इस बात को खबर भी न थी कि वह कुटिल राष्ट्रो की कूटनीति का शिकार हो चुका है। अपने नैसर्गिक वैभव की गोद में पला हुआ वह अभी-अभी तक ससार को बिलकुल निरापद ही समझता आया है। अपनी सभ्यता की बाल्यावस्था से आज तक उसे इस बात की कल्पना तक न थी कि ससार मे जीवन-कलह भी कोई चीज है। आक्रमणकारी शत्रुओ मे अपने को सुरक्षित रखने के लिए उसने चारो ओर मोटी और सुदृढ दीवारें जरूर बनाई । चीन की दीवार आज भी दुनिया मे आश्चर्य की वस्तु है। भारतवर्ष भी उत्तर में हिमालय तथा पूर्व, पश्चिम और दक्षिण मे महासागर का दुर्भेद्य कवच धारण करके अपने को अकुतोभय मानता आया। पर इन प्राचीन राष्ट्रो को इस बात की कल्पना तक न थी कि मेमने की खाल ओढ कर भेडिये घुस पडेंगे। वे दुश्मन को भी ईमानदार समझते थे और समझते थे कि आक्रमणकारी शत्रु प्रकट रूप से शस्त्र-सन्नद्ध होकर ही उपस्थित होगा। ऐसे ही खुले आक्रमण के लिए उनकी शूरोचित सरलता ने सारी व्यवस्था बना रक्खी थी। परन्तु पश्चिम की सभ्यता ने उनके लिए नये दुश्मन नये रूप मे पैदा किये। इन शत्रुओ के प्रच्छन्न

आक्रमण में न तो बन्दूक की आवाज आई, न तलवार ही चमकी। व्यवसाय का बाना लेकर और मित्रता का जामा पहन कर वे यहाँ सम्मानपूर्वक पधारे। इस अनिष्टकारी स्वागत के दृश्य को चीन की दीवार खडी खडी ताकती रही और हिमालय साक्षीरूप से चुपचाप देखता रहा। जब लोगो ने ही अपने सहारको का स्वागत किया, तो ये बेचारे निर्जीव सरक्षक कर ही क्या सकते थे? एशिया ने उल्लास के साथ यह माना कि मेरे घर में मेरे सहायक मेहमान आये। उसने जमीन दी, मेहमान के लिए घर बनवा दिये और कहा कि यह आप ही का घर है, जब तक इच्छा हो, बस रहिए, कमाइए-खाइए।

आज वे मेहमान मालिक हैं और मालिक चौकीदारी पर तैनात है। कहने का साराश यह कि इस समय ससार भर में जो एक विश्व-व्यापी अशाति फैली हुई है, वह इसी कुत्सित और विपरीत सम्बन्ध का परिणाम है। पश्चिमी राष्ट्र जो आपस मे लडते हैं वह इसी लिए कि एशिया उनके पजो के नीचे पडा हुआ एक शिकार है। भारतवर्ष और चीन के समर्थ होते ही पश्चिमी राष्ट्रो में नि शस्त्रीकरण की समस्या स्वय हल हो जावेगी। अभी तो केवल शान्ति का शाब्दिक आडम्बर है, हृदय उनके अशान्त और आतकित हैं। इसका कारण केवल इतना ही है कि पृथ्वी की निर्जीव और शिथिल जातियो को देखकर यूरोपीय राष्ट्रो की नीयत बिगडी हुई है। इसका मूल कारण एशिया की असावधानी है। जो इस बेखबर महाद्वीप को सतर्क और सावधान कर दे, वही महापुरुष है और वही जन-समाज का सच्चा सेवक भी सिद्ध होगा। विश्व-शान्ति की कुजी भी उसी के हाथ लगेगी।

महात्मा जी के जीवन-रहस्य को समझने के लिए वर्तमान की इस युग-समस्या को समझना नितान्त आवश्यक है। इसी लिए हमने इसकी चर्चा इस ग्रथ के प्रारम्भ ही में की है। चित्र का सौन्दर्य उसके पृष्ठ-भाग से ही खुलता है। ठीक उसी प्रकार महापुरुषो की विशेषतायें उनके जीवन-काल की परिस्थिति से ही आंकी जा सकती हैं। महात्मा

गाधो का आविर्भाव एक ऐसे युग में हुआ है जिसे हम व्यवसाय-प्रधान युग कह सकते हैं। इस समय पृथिवी पर वैश्य-वृति का प्रभाव विशेष है। ब्राह्मणत्व और क्षात्र धर्म जन-समाज से प्राय तिरोहित हो चुके है। रह गये हैं केवल प्रभावशाली वैश्य, जो अपनी पूँजी के बल पर शासक के आसन पर आसीन है। उनके हाथ में सतोगुणी और न्याय-पालक राजदड नही है। वे सिहासन पर एक शासक की हैसियत से बैठकर भी हानि-लाभ का तराजू हाथ मे लिये रहते है। जब तक तोल का झुकाव लाभ की ओर होता है, तब तक वे सुखी और शान्त रहते हैं। परन्तु ज्योही उनका 'ट्रेड बैलेन्स' बिगडा, त्योही वे आपे से बाहर हो जाते हैं। फिर उनमें और हिसक पशुओ मे केवल बाहरी आकारो का अन्तर रह जाता है, दोनो के प्रकार एक-से हो जाते है। गत यूरोपीय महासमर मे पश्चिमी राष्ट्रो ने जिस खूँखारी और हृदयहीनता का परिचय ससार को दिया, उसे देखकर कौन समझदार मनुष्य बीसवी शताब्दी की मानवता पर अभिमान कर सकता है?

कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान युग वैश्यो तथा व्यवसायियो का युग है। जगह जगह उन्ही का बोल-बाला है। सार्वजनिक समा-मचो पर तथा छापेखाने में उन्ही के मुखबिर काम करते हुए दिखाई देते है। शासन-सूत्र प्रत्यक्ष रूप से उन्ही के हाथो में है। प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली (Democracy) के अन्तर्गत प्रत्येक वय-प्राप्त मनुष्य मतदाता है सही, पर द्रव्य की लालच और प्रभाव के आतक से दरिद्र मतदाताओ के 'व्होट' श्रीमानो के ही चरणो पर न्यौछावर होते हैं। इस प्रकार प्रजा-सत्ता पूँजी के बल पर ठुकराई जा रही है। बिजली और वाष्प की प्रचड शक्तियो का दुरुपयोग करके ये पूँजीवाले थोडे से थोडे समय में अच्छी से अच्छी चीजें बना कर और अधिक से अधिक कीमत में बेच कर जो आमोद-प्रमोद और चैन की बसी बजा रहे है, उसकी कल्पना तक साधारण लोगो को नही हो सकती। ज्योही उनके विलासी जीवन में किसी तरह का विघ्न उपस्थित हुआ,

त्योंहों वे युद्ध की घोषणा करके लाखों ग़रीबों की आहुति अपनी तृष्णा का बलि-वेदी पर निस्संकोच दे डालते हैं। उत्पादक यन्त्रों (Instruments of Production) के ये हृदय-हीन स्वामी न तो प्रजासत्ता-वादी हैं, न राष्ट्रवादी। उनके जीवन का मूल मन्त्र स्वार्थवाद है। क्योंकि अपनी पूंजी के बल पर अपने कल-कारखानों के द्वारा न केवल वे बाहरी आदमियों का ही रक्त-शोषण करते हैं, वरन् अपने ग़रीब देश-भाइयों के प्रति भी उनका वही निष्ठुर व्यवहार है। कमाई का अल्पांश अपने मजदूरों को देकर अधिकांश का उपयोग वे अपनी 'इंदर-सभा' की सजावट में कर डालते हैं। राष्ट्रीय संपत्ति का नव-दशमांश इन्हीं एक दशमांश पूंजीपतियों के हाथ में है। शेष नव-दशमांश लोग एक दशमांश संपत्ति का अवलंब लेकर किसी प्रकार अपना उल्लासहीन परिश्रमसाध्य और अशांतिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

गांधी जी के माहात्म्य-रहस्य को हृदयङ्गम करने के लिए इस विश्व-व्यापी आर्थिक कष्ट तथा तज्जनित बुराइयों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि पूंजीवालों के बनियेपन की अंधेरशाही से दरिद्र जनता को त्राण देने के लिए इस महापुरुष का जन्म वैश्य-कुल में ही हुआ है। क्यों न हो, बनियों की चालबाजी एक बनिया ही पहचान सकता है।

अध्याय ४

भारतीय राष्ट्रीयता

अभी तक तो हमने इस बात की संक्षिप्त चर्चा की है कि संसार को जिस परिस्थिति में गांधी जी का जन्म हुआ है वह 'पूंजीवाद' की बुराइयों से अत्यन्त ग्रस्त है। वर्तमान युग-समस्या का यही विश्व-व्यापी रूप है। अब हमें यह देखना है कि जिस देश में इस महापुरुष का जन्म हुआ है, उस देश का विकास-मार्ग किस प्रकार और कितना कंटकाकीर्ण है।

इस बात को प्राय सभी जानते हैं कि हिन्दुस्थान को एक नये सामूहिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है और वह है राष्ट्रीय चेतनता। पश्चिमी विद्वान् अकसर कहा करते हैं और हम सुना करते हैं कि भारत के लिए 'राष्ट्र' संज्ञा अनुचित है। उनका यह भी कहना है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और अटक से लेकर कटक तक यह देश राष्ट्रीय भावना से संबद्ध आज तक कभी नही रहा। उसके इतिहास में यह चेतनता पहले-पहल अब आ रही है। हिन्दुस्थान कभी एक राष्ट्र था ही नही, अभी भी वह इस पथ का पथिक ही है। यह जाग्रति अब इसमें धीरे-धीरे अँगरेजों के सम्पर्क और शासन से आ रही है।

भारतीय शिक्षित समाज में भी कई लोगों की यही धारणा है। परन्तु हमारी राय में यह मत बिलकुल भ्रान्त है। इस धारणा से यह ध्वनि निकलती है कि हिन्दुस्थान अस्त-व्यस्त और असम्बद्ध जातियों का एक ऐसा विराट् समुदाय है जिसमें सामूहिक जीवन की कुछ भी एकवाक्यता नहीं है, न फिर उसकी सभ्यता के इतिहास

में कभी थी। जो लोग भारत को राष्ट्र मानने के लिए तैयार नहीं हैं (अभी हाल ही में लार्ड विलिंगडन ने असेम्बली के प्रारम्भिक भाषण में हिन्दुस्तान की ओर 'कान्टिनेंट' के नाम से संकेत किया है।) उन्हें इस बात को पहले जानना चाहिए कि 'राष्ट्र' हमारे संस्कृत-साहित्य का प्राचीन से प्राचीन शब्द है और इस शब्द के अंतर्गत सांस्कृतिक समन्वय की कल्पना सन्निहित है। मैज़िनी के मतानुसार राष्ट्रीयता (Nationality) किसी मनुष्य-जाति के सामूहिक व्यक्तित्व (Personality) को कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यदि हम निरपेक्षभाव से विचार करें तो हमें अनायास प्रतीत हो जायेगा कि हिन्दुस्थान के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा प्रान्तों में जो सांस्कृतिक एकवाक्यता दृष्टिगोचर होती है वह उसके व्यक्तित्वविशेष का ही द्योतक है। भारतीय जन-समाज के दृष्टिकोण, जीवन-लक्ष्य, मनोभावना तथा रहन-सहन पर गम्भीर दृष्टि से विचार करनेवाले को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दुस्थान एक ऐसा देश है जिसका जातीय जीवन एक ही संस्कार-सूत्र में पिरोया गया है। जलवायु की भिन्नता के कारण उसके भिन्न भिन्न प्रदेशों में वेश-भूषा की विषमता ज़रूर दिखाई देती है। भाषायें भी कई तरह की बोली जाती हैं। धार्मिक सम्प्रदाय भी इस देश में अनेक हैं। परन्तु इन बाहरी भेदों के मूल में जो एक विलक्षण मेल है वह किसी गम्भीर दृष्टि-वाले विचारवान् मनुष्य को ही दिखाई दे सकता है। अधिकांश पश्चिमी विद्वान् हिन्दुस्थान की इस मूल-गत सांस्कृतिक एकवाक्यता को नहीं देख सकते। उन्हें तो हमारे बाह्य जीवन का केवल भेद ही दिखाई देता है। भारतीय आत्मा का अंतर्दर्शन उन्हें नहीं हो सकता। इसी लिए वे ग़लतफ़हमी से कहा करते हैं कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र नहीं है।

भारतीय समाज की रचना पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें उसके जातीय जीवन में सांस्कृतिक एकीकरण की एक विलक्षण प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगत होती है। आर्य-सभ्यता की

छत्रच्छाया मे न जाने कितनी जातियाँ-वाहर से आकर एकाकार हो चुकी है। आजकल जो हिन्दुस्थानी विद्यमान है उनकी सभ्यता तो उन्हे भारत के प्राचीन आर्यो से मिली है, परन्तु उनके शरीर मे जो रक्त प्रवाहित हो रहा है उसमें कई जातियो का सम्मिश्रण है। यहाँ के मूल निवासी अनार्यो का आर्यो से रक्त-सवध होना तो अवश्यम्भावी था, परन्तु इतिहास इस वात का भी साक्षी है कि यूनानी, सिदियन, मगोल, पर्शियन, पार्थियन, तुर्क, मुगल, पठान तथा हूण के समान अनमिल जातियो को भी भारतीय जन-समाज ने आत्मसात् कर लिया है। इतने वडे सम्मिश्रित जन-समाज पर आर्य-सभ्यता की मुहर छाप लगा कर उसके तन, मन और प्राणो को समान सस्कारो के एक ही रग में रँग देना एक ऐसी अद्वितीय चातुरी, दूरदर्शिता तथा कार्य-कुशलता का काम है कि उसका सानी मानव-जाति के इतिहास में ढूंढने से भी न मिलेगा। जिस महापुरुष ने भारत की चारो दिशाओ में चार धामो की प्रतिष्ठा की, उसने मानो इस वात को सदैव के लिए स्वय सिद्ध कर दिया कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और अटक से लेकर कटक तक यह समूचा भूमिखण्ड एक सभ्यता के शासन से शासित हो रहा है और होता रहेगा। इसी अखिल भारतीय जन-समाज-व्यापी सभ्यता में भारत के प्राण, आत्मा तथा व्यक्तित्व विद्यमान है। कहने का साराश यह है कि हमारा हिन्दुस्थान अस्त-व्यस्त जातियो का कोई असम्वद्ध समुदाय नही है। वह समान सस्कार तथा सभ्यता से सगठित, सम्वद्ध और जीता-जागता जन-समाज है। अतएव वह अपने सामुदायिक व्यक्तित्व-विशेष के कारण मैज्जिनी के मतानुसार राष्ट्र कहलाने का वडे से वडा अधिकारी है। इस वात पर एक निरपेक्ष वुद्धि से विचार करनेवाले को कुछ भी सन्देह नही होना चाहिए।

किसी जन-समाज में राष्ट्रीयता स्थापित करने के लिए किन-किन वातो की आवश्यकता है, इस वात पर प्रो० रेमजे के समान कई विद्वानो ने गवेषणा-पूर्वक विचार किया है। यह एक स्वतत्र विषय है और

उसका विस्तार करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। परन्तु वर्तमान यूरोपीय राष्ट्रों की रचना पर ध्यान देने से हमें यह अनायास प्रतीत हो जाता है कि इस व्यवसाय-प्रधान युग में भाषा, वेष, धर्म तथा साम्प्रदायिक भिन्नतायें राष्ट्र-रचना के मार्ग में कोई रुकावट पैदा नहीं कर सकतीं। पश्चिमी संसार में शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र हो, जिसमें उपर्युक्त प्रकार की विषमतायें न पाई जाती हों। फिर भी वे राष्ट्र-पद से विभूषित होने के अधिकारी माने जाते हैं और वह केवल इसलिए कि वे एक ही सुसीमित भूमिखण्ड के निवासी हैं, उनका एक ही शासन-विधान है और उनका सामूहिक आर्थिक स्वार्थ बिलकुल सम्बद्ध है।

ऐसी हालत में मानना होगा कि एक ही सीमित भूमिखण्ड का निवास, एक ही शासन-व्यवस्था तथा आर्थिक स्वार्थ की अभिन्नता—ये तीन बातें वर्तमान राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य हैं। हिन्दुस्थान को दृष्टि में रखकर यदि हम विचार करें तो इन तीनों शर्तों के सम्पूर्ण होने की सम्भावना हमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है। हमारा यह देश एक सुसीमित और सम्बद्ध भूमिखण्ड है, इस नैसर्गिक और प्रत्यक्ष बात को कौन आँखवाला मनुष्य अस्वीकार कर सकता है? इसके पश्चात् राष्ट्रीयता के दूसरे साधन के सम्बन्ध में हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत यद्यपि एक ही सभ्यता के शासन से शासित होता आया है, तथापि उसकी राजनैतिक शासन-व्यवस्था एकसमान सार्वभौमिक तथा अखण्डित बहुत कम रही। एक छत्र से समूचे भारतवर्ष पर शासन करनेवाला चक्रवर्ती राजा अशोक को छोड़कर दूसरा कोई नहीं हुआ। हमारा अधिकांश जातीय-जीवन स्वतंत्र और कलह-शील नरेशों के विग्रह का इतिहास है। प्रतीत होता है कि हिन्दुस्थान की इसी परम्परा-गत कमजोरी को दूर करने के लिए इस सृष्टि के विधाता ने विदेशियों को यहाँ भेजा है। उनके सम्पर्क और शासन से आज समूचा भारतवर्ष एक ही राजनैतिक लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है और अपने इस नवीन पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका है। आज वह अपनी

राष्ट्रीय महासभा (Congress) को लोकसत्तात्मक शक्ति के रूप में पूज रहा है और उसके मन्तव्यो को शिरोधार्य मानता है।

वर्तमान राष्ट्रीयता का तीसरा महत्त्वशाली साधन आर्थिक स्वार्थ की अभिन्नता है। हमारे अर्थ-सम्बन्धी सयुक्त दृष्टिकोण को स्थिर करने का जो प्रयत्न हमारे राष्ट्रीय नेता अभी तक करते आये हैं, उसके लिए यदि अधिक से अधिक श्रेय किसी एक व्यक्ति को हम देना चाहें, तो उसका पात्र महात्मा गाधी के सिवाय कोई दूसरा नही हो सकता। आर्थिक स्वावलम्बन की जो शिक्षा हमें स्वदेशी आन्दोलन के द्वारा मिलती आई है, उसकी पूर्णता और व्यावहारिकता महात्मा जी के उपदेश, प्रयत्न तथा प्रत्यक्ष आचरण में हमे स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही हैं। अपनी आध्यात्मिकता की बुनियाद पर कायम रहते हुए यानी परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण का परित्याग न करते हुए आधुनिक व्यवसाय तथा उद्योग की दीक्षा देना ही महात्मा जी के जीवन की विशेपता है। विशेष बात तो यह है कि गाधी जी का दिया हुआ नैतिकता-मूलक, उद्योग-प्रधान जीवन-सन्देश न केवल हिन्दुस्थान के लिए आवश्यक है, वरन उसकी जरूरत पश्चिमी राष्ट्रो के लिए और भी अधिक है। अतएव हमें तो महात्मा जी के बडप्पन का केन्द्र-बिन्दु नीतिमत्ता और उद्योग के इस समन्वय मे ही दिखाई देता है। इसकी चर्चा कुछ विस्तार के साथ हम आगे चलकर करेंगे।

साराश यह कि हमारा देश वर्तमान राष्ट्रीयता के साँचे में भी ढल सकता है। क्योंकि उसमे सभी आवश्यक साधन मौजूद है। वह बहुत कुछ ढल भी चुका है। जिस जाति का सामूहिक व्यक्तित्व है, वह चाहे किसी भी रूप में हो, एक जीवित जन-समुदाय है। उसे हम किसी भी साँचे मे आवश्यकतानुसार ढाल सकते है। जो प्राणी जीता है, वही अपनी परिस्थिति से समन्वय स्थापित कर सकता है। ऐसी जीवन-शक्ति हमारे भारतवर्ष में भी थी और उसका आत्म-प्रकाशन

उसकी सभ्यता में हुआ था। आज भी वह देश के जन-समाज में विद्यमान है। परन्तु वह सदियों के प्रहार से जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त हो गया है। स्वतंत्रता के खुले वातावरण में केवल उसे स्वास्थ्य-लाभ की आवश्यकता है। सारांश यह कि हम भारतीयों को कोई नया व्यक्तित्व-निर्माण करने की आवश्यकता नहीं है। वह तो है, उसे चाहिए स्वाधीनता, खुली हवा और राजनैतिक दृष्टिकोण। यह दृष्टि-कोण उसे यूरोप के सम्पर्क से मिल चुका है। पश्चिम के आक्रमणकारी राष्ट्रों ने संसार की सभी जातियों को यह सिखाया कि अपने जानोमाल की रक्षा करने के लिए लोगों को अब पहले से बहुत अधिक सावधान रहना होगा। इस नयी चेतनता को प्राप्त करने में चीन और भारत को बहुत कीमत चुकानी पड़ी है और पड़ेगी। नैसर्गिक वैभव की गोद में पलनेवाले भारतीयों ने संसार को बड़ी से बड़ी सभ्यता को जन्म दिया तथा अपनी चिन्तन और मनन-शक्ति को ज्ञान के अन्तिम छोर (वेदान्त) तक पहुँचा दिया, ऐहिलौकिक वैभव का आस्वादन भी खूब किया और सबसे विलक्षण काम यह किया कि हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी तक समूचे भारतवर्ष के विराट् जन-समुदाय को एक ही संस्कार-सूत्र में पिरो दिया। इतना सब किया, पर उन्होंने कोई स्थायी एवम् सार्वभौमिक शासन-व्यवस्था स्थापित नहीं की। यथार्थ में उन्हें इस बात की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। हमारी राष्ट्रीयता का यह नया रूप नयी परिस्थिति की प्रेरणा का परिणाम है।

हम पहले इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि प्राचीन आर्यों ने इस देश में जो एक सार्वभौमिक सत्ता स्थापित की, उसका रूप सांस्कृतिक था। उसे सभ्यता का शासन (Culture state) भी कह सकते हैं। आज हिन्दुस्थान के अहित चाहनेवाले स्वार्थी लोग यहाँ के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में वैमनस्य का विष फैलाकर इस प्राचीन सत्ता की जड़ हिला रहे हैं। हिन्दुस्थान के अधिकांश मुसलमान और ईसाई भारतीयों के ही वंशधर हैं। उनमें हिन्दू-जाति का ही रक्त

विद्यमान है। रही मजहब की भिन्नता, सो भारत-भूमि तो धार्मिक स्वतन्त्रता की जन्म-भूमि रही ही आई है। अतएव हिन्दू-मुसलमानो के मेल में स्वाभाविक अडचन कुछ भी नही है। जो कुछ है, सो बनावटी है। हिन्दुस्थान की राजनीति में साम्प्रदायिकता का जो बीज बोया जा रहा है, वह इसी दृष्टि से बडा अनिष्टकारी सिद्ध हुआ है और होगा।

फिर भी हमारे इस देश को जिस राजनैतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी और जिसके अभाव के कारण उसे विगत कई सदियों तक विदेशी आक्रमणकारियो का लक्ष्य होना पडा, वह उसे यूरोप के सम्पर्क एव स्वार्थ-परायणता से मिल चुका है। आज हमारे अधिकाश समाचार-पत्र राजनीति को ही अपना प्रधान विषय बनाकर जन-समाज में प्रकाशित हो रहे है। फी सदी प्राय तीस-पैंतीस ग्रन्थ राजनीति और राष्ट्रीयता को ही अपना प्रतिपाद्य विषय मानते है। सार्वजनिक सभा-मञ्चो पर यत्र-तत्र और सर्वत्र राजनैतिक मसलो पर ही व्याख्यान सुनने को मिलते है। इस तरह राजनैतिक क्षोभ कई रूपो में जारी है। हमारा जातीय जीवन इस समय राजनैतिक आकाक्षाओ से ओत-प्रोत है। राजनैतिक 'स्वतन्त्रता की लगन हमारे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ और नेताओ को यहाँ तक लग चुकी है कि उनमें से कई लोग यह कहते हुए सुने जाते है कि इस देश की सारी बुराइयाँ परतन्त्रता-प्रसूत है। जब तक हम स्वतन्त्र न होगे, तब तक न तो हम किसी तरह 'अपना सामाजिक सुधार ही कर सकते है, न फिर हमारा नैतिक तथा आर्थिक उत्कर्ष ही सम्भव है। उनमें से कई लोग तो हिन्दुस्थान की धर्म-भीरुता से इतने विरक्त हो चुके है कि सरे आम ऐसा कहने मे उन्हे कुछ भी सकोच नही होता कि जब तक हमारे जन-समाज से धर्म का ढकोसला दूर न होगा, तब तक हमारा राष्ट्रीय विकास सम्भव नही है। विशेषकर अपनी राजनैतिक परिस्थिति की हीनता से ऊबे हुए भारतीय नवयुवक अपने जातीय जीवन से धर्म को छिन्न-मूल कर देने पर तुले हुए है। रशिया के आतकवादियो के सुर में सुर मिलाकर वे खुले शब्दो में

कहा करते है कि स्वर्ग मे ईश्वर का और पृथ्वी पर मे पूँजीपतियो का बहिष्कार जब तक न होगा, तब तक किसी भी सुधार की आशा करना व्यर्थ है।

इस प्रकार हिन्दुस्थान पश्चिमी राजनीति की आधिभौतिकता से धीरे-धीरे दीक्षित हो रहा है। सम्भावना तो प्रत्यक्ष रूप से यह दिखाई देती है कि आगे चलकर हम अपने प्राचीन आध्यात्मिक तथा नैतिक सस्कारो से शून्य होकर अपने हृदय और बुद्धि को पश्चिम की नैतिकता-शून्य राजनीति तथा राष्ट्र-नीति के सुपुर्द कर देंगे। हम ऐसा इसलिए समझते है कि हमारे नवयुवको की वर्तमान विचार-धारा यदि प्रगति पाती गई और उसमें आवश्यक परिवर्तन अथवा सुधार न हुए, तो कल समूचा हिन्दुस्तान वैसा ही सोचेगा। क्योकि आज जो नवयुवक कार्यकर्ता है, वे कल वर्तमान नेताओ के उठ जाने के बाद स्वय नेतृत्व का बाना धारण करेंगे। देश उसी ओर चलेगा, जिस तरफ वे उसे ले चलेंगे। काग्रेस के कार्यकर्ताओ मे जो नौजवानो का एक अघोर साम्यवादी दल तैयार हो रहा है, वह हमारी इस आशका का पोषक है। महात्मा गाधी की सत्य तथा अहिंसा-मूलक नीतिमत्ता इन युवको में से किसी एक को भी पसन्द नही है। आज वे जरा चुप है, परन्तु कल उनके नगाडे बजेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नही।

वर्तमान में हमारी प्रगतिशील राष्ट्रीयता का यही रूप है। आज वह अपनी प्राचीन नीतिमत्ता तथा आध्यात्मिकता से ऊबकर पश्चिम की नैतिकता-शून्य राजनीति के मन्दिर में अपना अर्घ्य चढाना चाहती है। भारतवर्ष के सम्बन्ध में महात्मा गाधी का जो 'मिशन' है, उसका रूप यही है कि वे हमारे आचार तथा विचारो में भारतीयता का नया उत्कर्ष देखना चाहते है, यहाँ तक कि उनके हृदय की इस प्रेरणा ने उनकी बाहरी वेष-भूषा को भी वैदिक युग की तद्रूपता दे डाली है। उनके कुछ विरोधी कहा करते है कि गाधी जी तो हिन्दुस्थान में वेदो का जमाना लाना चाहते है; भला बीसवी सदी में वह कभी

सम्भव भी है ? लँगोटी लगाकर चरखा चलाना सचमुच मे एक ऐसी बात है, जो जमाने को विलकुल नही पटती। गाधी जी भी इस बात को जानते है, पर फिर भी वे ऐसा ही करते है। इसमे उनका उद्देश्य यही है कि वे इस देश के शिक्षित जन-समाज के सामने भारतीय आचार और भारतीय विचार का आदर्श प्रत्यक्ष रूप से रखना चाहते है। भारतीय आचार उनकी रहन-सहन तथा वेष-भूषा में अकित है और भारतीय विचार उनकी अहिंसा और सत्य-सम्बन्धी मीमासा में सन्निहित है। हमे तो इस बात पर कुछ भी सन्देह नही कि गाधी जी के द्वारा भारत की अमर अन्तरात्मा बोल रही है। इसी कारण उनके विदेशी आलोचक अक्सर कहा करते है कि गाधी जी पाश्चात्य सभ्यता के जानी दुश्मन है। इसमे सन्देह नही कि महात्मा जी इस सभ्यता की प्रचलित बुराइयो के बडे जबर्दस्त विरोधी है और इसलिए है कि वे हिन्दुस्थान को उसके चिर-पोषित, सत्य, सनातन धर्म तथा उसके सस्कारो से भ्रष्ट होने देना नही चाहते। वे समझते है कि हिन्दुस्थान हमेशा से ससार का धर्म-गुरु रहता आया है, परन्तु आज उसकी वह पूर्वार्जित प्रतिष्ठा खतरे में है। इसलिए उसकी रक्षा करना उनके जीवन का बड़े से बडा ध्येय है। वे कहाँ तक सफल होगे, इसका उत्तर भविष्य देगा।

अध्याय ५

गुरुतम भार

युग-समस्या की ओर विहगम दृष्टि से देखते हुए हमने इस बात की चर्चा की थी कि संसार की जिस परिस्थिति में गाधी जी का जन्म हुआ है वह पूंजीपतियो की शोषण-क्रिया से जर्जरित और त्रस्त युग है। इस युग में वैज्ञानिक आविष्कारो का दुरुपयोग करके कुछ थोड़े से पूंजीवाले माला-माल हो रहे हैं और शेष जन-समाज दरिद्रता के दलदल में पड़कर अपने दुर्दिन बहुत कष्ट से काट रहा है। इन श्रीमानो ने अपने वैभव का प्रासाद एडी से चोटी तक पसीना बहानेवाले मजदूरो के निर्बल कन्धो पर स्थापित किया है और अपनी प्रमोद-वाटिका को दरिद्र जनता के रुधिर से सीच कर पल्लवित किया है। इस प्रकार अपने को सब प्रकार सुरक्षित बनाकर वे चैन की बशी बजा रहे हैं और दरिद्र ससार अपनी आर्थिक हीनता के आतक से दबा हुआ उन्ही की परिचर्या में लगा हुआ है। यन्त्रो के आविष्कार के पहले जो उद्योग-धधे घरो में सम्पादित होते थे, वे अब वहां से उठकर बड़े-बड़े नगरो में केन्द्रीभूत हो चुके हैं। परिणाम यह हुआ है कि ग्रामीण जीवन की सुन्दर विशेषतायें विलुप्त हो गई हैं। जमीन खोदने के सिवाय वहाँ जीविका के दूसरे साधन बिलकुल न रहे। भारत के समान कृषि-प्रधान देश में तो अब लोग देहातो को छोड कर जीविका की तलाश में शहरो में रहने लगे हैं और किसानो से कुली हो चुके हैं। इंगलैंड सरीखे उद्योग-प्रधान देशो में तो लाखो की तादाद में लोग अपनी स्वावलम्बन-शील आर्थिक अवस्था से छिन्न-मूल होकर घर और घाट दोनो से बाहर हो गये हैं। उनकी हालत ऐसी है कि मिल का मालिक जितनी मजदूरी दे, उतने

पर वे अपना और अपने बाल-बच्चों का जीवन-निर्वाह करें अथवा भूखों मरें। उनके लिए कोई तीसरी गति ही नहीं रह गई। यही हाल न्यूनाधिक अंश में अधिकांश पश्चिमी राष्ट्रों का है। जहाँ दस रुपयों में नौ रुपयों का मालिक एक आदमी हो और एक रुपया नौ मनुष्यों में विभक्त हो, वहाँ के द्रव्य-विभाजन की विषमता तथा तज्जनित विभीषिका का अनुमान सहृदय पाठक सहज ही कर सकते हैं। पूँजीवाद से आक्रान्त और अघोर युग का यही नग्न रूप है।

भारतवर्ष में भी यथार्थ में इंगलैंड के पूँजीपतियों का ही राज्य है, क्योंकि स्वयं अपने देश के शासक भी वे ही हैं। प्रजासत्ता का तो केवल बाहरी आडम्बर है। ऐसी हालत में हमारा यह देश भी पूँजीवाद के चंगुल में बुरी तरह पड़ चुका है। राजनैतिक परतंत्रता से चाहे वह आज ही मुक्त हो जावे, परन्तु विलायती पूँजीपतियों के आर्थिक बन्धन से मुक्त होना उसके लिए सदियों का काम होगा। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी आर्थिक परतंत्रता का पाश और भी जटिल है। आज हम अपनी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी आवश्यकताओं के लिए विदेशियों के इतने परावलम्बी हो रहे हैं कि यदि वे मजाक में कहीं हमारे पास अपनी बनाई हुई चीजें भेजना बन्द कर दें, तो हमारे घरों में रात को प्रकाश न हो और हमें दिगम्बर वेष में रहना पड़े। हमारी स्त्रियों के हाथों में चूड़ियाँ न चढ़ें और उनके मस्तक का सौभाग्य-सिन्दूर कदाचित् मिट जावे। परावलम्बन की यह कैसी रोमांचकारी विभीषिका है! सहृदय पाठक जरा विचार करें।

महात्मा गांधी जी के कार्य-क्रम तथा जीवनोद्देश्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग को अच्छी तरह समझने के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन की इस विषमता को हृदयंगम कर लेना बहुत आवश्यक है। यह अर्थ-विषमता ही साम्यवाद की जननी है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ पर इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त समझते हैं कि गांधी जी साम्यवाद के मूर्तिमान् अवतार हैं। कार्ल मार्क्स से लेकर आज तक साम्यवाद

के प्रचारक यूरोपीय देशो मे कई हुए। लेकिन हमारी यह निश्चित धारणा है कि वर्तमान की आर्थिक समस्या को हल करने का स्थायी और सच्चा उपाय सुझानेवाला गाधी के सिवाय कोई दूसरा नही हुआ। यूरोप के आर्थिक साम्यवाद का आदि विधाता कार्ल मार्क्स भी पूंजीवाद को छिन्न-मूल करने का ऐसा कोई उपाय न सोच सका।

इस दृष्टि से पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि महात्मा गाधी का कार्य-क्षेत्र केवल हिन्दुस्थान ही नही, ससार का समूचा जन-समाज है। ससार की समस्या ही उनकी समस्या है, और उनकी कल्याण-कामना इस मेदिनी-तल के समस्त सन्ताप-ग्रस्त प्राणियो के लिए है। उनका हृदय कहता है--'कामये दु खतप्नाना प्राणिनामार्तिनाशनम्'। यही उनके जीवन का मनोगत लक्ष्य है। इसी लिए वे जीते हैं और कदाचित् इसी शुभ सकल्प की पवित्र वेदी पर वे अपने प्राणो की आहुति भी दे डालें। ऐसी मृत्यु उनके जीवन के अनुकूल होगी और कदाचित् उनकी हृदयगत आकाक्षा भी यही हो। परमार्थ के लिए अपने प्राणो की आहुति देनेवाले महापुरुष शय्या पर पड़े पड़े त्रिदोष से मरना पसन्द नही करते। अपने जीवन के प्रतिक्षण का सदुपयोग करनेवाले अपनी मृत्यु से भी परमार्थ सिद्ध करने के अभिलाषी हुआ करते है। ससार के साधारण मनुष्य में और एक महापुरुष में यही तो भेद है। मनुष्य अपने लिए हँसता है और अपने लिए रोता भी है। पर महात्मा अपने लिए नही, दूसरो के लिए रोते हैं। जो हृदय दूसरो के लिए रोता है, वही परमात्मा का निवास है। स्वार्थी हृदय हृदय नही, वह ईश्वर का छोड़ा हुआ खँडहर है।

महात्मा गाधी की इस ससार-व्यापी सहृदयता की सक्षेप में चर्चा करके हम इस लेखाश में पाठको से विशेष कर यह कहना चाहते है कि आज तक मानव-जाति के इतिहास में जितने महापुरुष समय समय पर होते आये है, उनमें से किसी एक के भी सामने सार्वजनिक समस्या की जटिलता और व्यापकता ऐसी नही थी जैसी कि गाधी जी

के सम्मुख उपस्थित हैं। इतिहास के दायरे में जितने लोक-नायक धर्मोपदेशक आविर्भूत हुए, उनका कार्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत संकुचित था। उनके जमाने में हिन्दुस्थान और इँगलैंड या कनाडा और आस्ट्रेलिया एक दूसरे से इतने असम्बद्ध और दूर थे कि एक को दूसरे के अस्तित्व की जानकारी ही नहीं थी। इस पृथ्वी के पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्धों के बीच में भौगोलिक अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ था। जो जहाँ था, उसके ज्ञान और कर्म का क्षेत्र वहीं सीमित था। मानव-समाज की सभ्यता बिलकुल प्रारम्भिक और सादी थी। वह अपने विकास की वर्तमान उच्चता को प्राप्त नहीं हो पाई थी। जो भिन्न भिन्न मानवी सभ्यतायें आज एक दूसरे के सामने अड़ी हुई हैं, उनमें से कई का तो अस्तित्व ही नहीं था।

आज मनुष्य-जाति के मानसिक विकास तथा तदर्जित वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार में एक ऐसी जटिल और विलक्षण परिस्थिति पैदा कर दी है कि उसके प्रभाव से पृथ्वी का कोई भी कोना अछूता नहीं रह सकता। हमारी पृथ्वी बहुत बड़ी है, परन्तु आज 'वायरलेस' और वायुयानों की बदौलत वह इतनी छोटी हो चुकी है कि लोग अब निर्भय होकर एक-आध पक्ष में उसकी प्रदक्षिणा भी कर डालते हैं। जो बात आयर्लैंड में कही जाती है, उसे आस्ट्रेलिया का मनुष्य अपने कमरे में बैठकर सुन सकता है। कहने का साराश यह कि आज पृथ्वी के उत्तर और दक्षिण—इन दोनों ध्रुवों का फासला केवल गज़ भर का रह गया है। आज संसार के राष्ट्र एक दूसरे के पड़ोसी हो रहे हैं। परन्तु पड़ोसियों की सद्भावना उनमें नाम को भी नहीं है। इसी अभाव में सारी वर्तमान बुराइयों की जड़ है। पारस्परिक सद्भावना का यह अनिष्टकारी अभाव आज जन-समाज को आठ-आठ आँसू रुला रहा है।

गौतम बुद्ध के युग में जन-समाज के सामने जो सार्वजनिक समस्या उपस्थित थी, वह केवल हिन्दू-समाज से सम्बन्ध रखनेवाली थी। भारत की चहारदीवारी के बाहर उसका कोई विशेष मतलब नहीं था।

वैदिक युग का उत्कर्ष अस्त हो रहा था। यज्ञ-यागो का केवल अर्थ-शून्य आडम्बर ही शेष बच रहा था। देवताओ के नाम पर उन दिनो के पतनशील ब्राह्मण निरपराध पशुओ का बलिदान करके अपनी जिह्वा की वासना ही तृप्त किया करते थे। परमार्थ के नाम पर हिंसा का बाजार गरम था। आत्म-प्रवचना की हद हो चुकी थी। जो ब्राह्मण किसी समय श्रेय के उपासक माने जाते थे, वे केवल प्रेय के पीछे पडकर अपनी नीतिमत्ता खो चुके थे। जो लोग धर्म के रक्षक माने गये थे उनके असद्व्यवहार से जन-समाज में भयकर भ्रान्ति फैली हुई थी, प्राचीन वैदिक धर्म इस तरह अपना तथ्य खो चुका था और मध्य हिन्दू-समाज अपनी यथार्थता से भ्रष्ट होकर नैतिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो रहा था।

महात्मा गौतम का करुणाशील हृदय ब्राह्मणो की इस हृदय-शून्य हिंसा-वृत्ति को सहन नही कर सका। अतएव उन्होने प्राचीन यज्ञ-यागो की निस्सारता के विरोध में अपनी आवाज उठाई और जन-समाज के सामने 'अहिंसा परमो धर्म' का मानवोचित आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होने देखा कि मानव-धर्म का स्वरूप अपनी नैतिकता से भ्रष्ट होकर लोगो की केवल वासना-तृप्ति का साधन हो रहा है। इसलिए उन्होने केवल नीति-धर्म (Ethical relegion) का ही उपदेश लोगो को देना श्रेयस्कर समझा। ईश्वर, जीव और आत्मा के केवल बुद्धिगम्य सैद्धान्तिक पचडो में पडकर विद्वान् लोग मनुष्योचित सहृदयता से हाथ धो चुके थे। इसी लिए भगवान् गौतम ने आचरण-बल पर ही विशेष ध्यान दिया और उसे ही सच्ची धार्मिकता का आधार माना।

गौतम बुद्ध के सामने सार्वजनिक समस्या का यही रूप था, इससे अधिक कुछ भी नही। उन्हे केवल वैदिक धर्म के कुत्सित रूप का सामना करना था। आर्य-सभ्यता को अहिंसा के परम धर्म से संस्कृत करना ही उनके सार्वजनिक जीवन का उद्देश्य था। परन्तु अहिंसा का मूल सिद्धान्त उन्हे वैदिक साहित्य से ही मिला था। गौतम बुद्ध के समय में मानवी सभ्यताओ की विभिन्नता तथा मुठभेड उपस्थित

नही थी। वर्तमान सघर्षण-शील मजहवो के प्रचारक उन दिनो तक माता के गर्भ में आये ही नही थे। हजरत मुहम्मद और ईसा बुद्ध के बहुत पीछे आये। अतएव ईसाई तथा मुहम्मदी सम्प्रदायो का उन दिनो नामोनिशान भी न था। उनके अनुगामियो के आतक से पृथ्वी तव तक त्रस्त नही हुई थी, न फिर उनकी आक्रमणशील सभ्यता का दौर-दौरा ही जन-समाज पर हुआ था।

ईसा मसीह का कार्य-क्षेत्र पृथ्वी के उस अश मे था, जहाँ वर्वरता की घोर तमिस्रा छाई हुई थी। वर्तमान सभ्यता की रूप-रेखा भी उस जन-समाज में नही बन पाई थी। रोमन साम्राज्य का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो रहा था। ग्रीस गिर चुका था। यूनानी सभ्यता जो विशेष-कर कलात्मक थी, रोमन सस्कृति से सगठित होकर अपनी प्राचीन काया वहुत कुछ पलट चुकी थी और विचार-विनिमय के वर्तमान साधनो के अभाव में यूरोप के एक कोने मे सिमट कर पडी हुई थी । अधिकाश यूरोप तिमिरावृत्त था। उसे आत्म-ज्ञान के आलोक की आवश्यकता थी। ऐसी परिस्थिति में पूर्वी दुनिया का एक जीवन्मुक्त साधु वहाँ पहुँचा और उसने वौद्ध-धर्म से दीक्षित नीति-धर्म के वीज यूरोप की वर्फीली और वर्वरतापूर्ण पृथ्वी पर विखेरे। परन्तु वहाँ के जन-समाज के सस्कार इतने ऊँचे नही थे कि ईसा के अनमोल वचनो का उस पर कोई प्रभाव पड सकता, आज तक न पडा। यूरोपीय जन-समाज की कलह-शीलता का इसी से अनुमान हो सकता है कि महात्मा ईसा को लोगो से यह कहना पडा कि अगर तुम्हारे वायें गाल पर कोई थप्पड मारे, तो तुम नम्रता-पूर्वक दाँया गाल भी दे दो। इस उपदेश में हमें तत्कालीन हिंसक मनोवृत्ति की खासी झलक दिखाई देती है। महात्मा ईसा त्याग तथा वैराग्य के मूर्तिमान् अवतार थे। इसी लिए उन्होने कहा था कि सुई के छेद से इस पार से उस पार एक ऊँट का निकल जाना सम्भव है, पर एक सग्रह-शील वनिये के लिए स्वर्ग प्राप्त करना ऐसी वात है जो सम्भावना के वाहर है। अहिंसा, नम्रता

और त्याग—ये तीन ईसाई-धर्म की विशेषताये हैं। पर इन तीनों में से एक भी यूरोपीय जन-समाज को न तो उस समय ग्राह्य हुआ न आज भी उन्हे किसी तरह स्वीकार है। अपनी भौतिक सभ्यता मे ओत-प्रोत यूरोप अपने आचरण के द्वारा पग-पग पर महात्मा ईसा का उपहास कर रहा है। उनके पूर्वजो ने भी उस जीवन्मुक्त पुरुष के प्रति वही व्यवहार किया जो उनकी बर्बरता के अनुरूप था। परमात्मा के उस अनमोल लाडले को उन्होंने उस 'क्रास' पर चढाया जिसे उठाकर हाँफते हुए उसे मीलो तक ले जाना भी पडा था। इस निष्ठुर व्यवहार से यहूदी जन-समाज ने अपने मत्थे काले कलंक का टीका हमेशा के लिए लगा लिया। यह ऐसा कलक है, जो धोने से न तो धुलेगा, न मिटाने से मिटेगा।

हजरत मुहम्मद का कार्य-क्षेत्र तो और भी अधिक सकुचित था। उनका मिशन अरब के दुराचार-ग्रस्त जन-समाज के उत्थान मे ही समाप्त हो गया। जिन दिनो हजरत का उस तिमिरावृत्त रेगिस्तान मे आविर्भाव हुआ, लोग व्यभिचार, विलासिता तथा अध-विश्वास के शिकजे मे पडकर मनुष्य के रूप मे पशुओ का-सा विवेक-शून्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। ऐसे भ्रान्त एव जडताक्रान्त जन-समुदाय में मनुष्यत्व की यत्किंचित् प्रेरणा दे देना ही हजरत मुहम्मद का ध्येय था। उन्हे अपने उद्देश्य में सफलता तो मिली पर बहुत कम। मुहम्मदी धर्म से दीक्षित आक्रमणकारियो ने एशिया तथा यूरोप में जो सितम ढाया और जिस खूंख्वारी का परिचय दिया, उसके स्मरण-मात्र से मनुष्य-जाति का इतिहास एक बार कॉप उठता है।

इस तरह पाठक अनायास समझ सकते है कि गौतम बुद्ध, ईसा मसीह तथा हजरत मुहम्मद के युग प्रौढ मानवी सभ्यताओ के सघर्ष से बिलकुल शून्य थे। उनके जमाने में सार्वजनिक शिक्षा का अभाव था। इसी कारण लोगो में तर्क-शीलता तथा जाँच-पडताल करने की मनोवृत्ति जाग्रत नहीं थी। हाँ, इतना तो मानना होगा कि गौतम बुद्ध

को जिस जन-समाज मे काम करना पड़ा, वह सगठित, सभ्य और तर्क-शील भी था। वैदिक धर्म की सभ्यता तथा तज्जनित सस्कार लोगो में प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। फिर भी उनका युग विभिन्न सस्कारो के सघर्ष से सुरक्षित था। पतन-शील वैदिक धर्म को अहिंसावाद से परिष्कृत करना ही उनका प्रथम और अन्तिम ध्येय था।

परन्तु महात्मा गांधी का युग कुछ और है। तब और अब मे आकाश-पाताल का-सा अन्तर है। इस बीसवी सदी में सार्वजनिक शिक्षा का काफी प्रचार हो चुका है। लोग प्राचीन अधविश्वासो से मुक्त होकर अपनी विवेक-शक्ति का उपयोग करने लगे है। जब तक कोई बात बुद्धिगम्य न हो तथा तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे, तब तक उसे स्वीकार करने के लिए यह सदी हरगिज तैयार नही है। विचार करने की वैज्ञानिक प्रणाली प्रचलित हो चुकी है। लोग 'क्या, क्यो, किस तरह, किस कारण और किस लिए' की झड़ी बात-बात पर लगाने के लिए तैयार बैठे है। उनके प्रश्नो का यदि समाधानकारक उत्तर न मिला, तो फिर वे किसी भी सिद्धान्त तथा उपदेश-वचन को मानने के लिए राजी नही होते। यदि हम यह कहे कि इस बीसवी सदी में प्राचीन सभी सिद्धान्तो की कड़ी से कड़ी परीक्षा हो रही है तो इसमें हमें कुछ भी अतिशयोक्ति दिखाई नही देती। नीति-शास्त्र मे जिसे जाँच-पड़ताल का युग (The Age of Enquiry) कहते है, वह आज हमारे सामने उपस्थित है। जिन परम्परागत परिपाटियो के मूल में विवेक का आधार नही है, वे सबकी सब त्याज्य हो चुकी है। अन्ध-विश्वास के प्राचीन युग मे जो बातें सर्वमान्य थी, उनकी ओर वर्तमान का तर्कशील जन-समाज अवहेलना की अँगुली दिखाता है। लोग उस धर्म को मानने के लिए तैयार नही है जो इस लोक से पराङ्मुख होकर केवल कल्पित परलोक की झाँकी दिखाता है। वह समाज-व्यवस्था आज जन-समुदाय को स्वीकार नही है, जो मनुष्य और मनुष्य के बीच बनावटी भेद उत्पन्न करती है। वह नीति हमें

स्वीकार नहीं है, जिसका हमारे सामूहिक तथा राष्ट्रीय स्वार्थ से बिलकुल विरोध हो। वह शिक्षा आज सर्वोनीत नहीं हो सकती, जो परिणाम में अर्थकरी सिद्ध न हो। वे संस्कार आज सर्वथा त्याज्य हैं, जो लोगो को स्फूर्ति-दान देने में सक्षम नहीं है। वे महापुरुष भी आज हमारी श्रद्धा के पात्र नहीं हो सकते, जो केवल अपने बनावटी बडप्पन का आश्रय लेकर लोगो में अपना प्रभाव स्थायी रखना चाहते हैं। पोप और पुजारी, तीर्थ और पण्डे आज सदेह की दृष्टि से देखे जाते हैं। आज धर्म किसी के प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है। लोग स्वय अपनी प्रज्ञा के आधार पर सोचना-समझना चाहते हैं। कहने का साराश यह कि वर्तमान युग विश्व-व्यापी विचार-क्रान्ति का युग है। किसी धर्मोपदेशक की दाल अब नहीं गल सकती। अब तो विवेक और तर्क का साम्राज्य है, विचार-शून्य अन्ध-श्रद्धा के दिन बीत चुके।

ऐसे व्यापक विचार-क्रान्ति के युग में महात्मा गाधी का जन्म हुआ है। अतएव उनकी महत्ता भी क्रान्ति-मूलक है। हजारो वर्षो से गम्भीर तथा मन्थर गति से बहनेवाली आर्य-संस्कृति की जो जाह्नवी लोगो के हृदय और बुद्धि को प्लावित करती हुई चली आई है, उसकी बाढ आज रुक गई है। भारतीय सभ्यता की यह निर्मल गगा आध्यात्मिकता की ऊँची ऊँची कगारो से सुरक्षित है। उसके किनारे-किनारे दोनो ओर नीतिमत्ता के खाद्य से पले हुए सदाचार के सुहावने वृक्ष लगे हुए है। परन्तु प्राय डेढ-दो सौ वर्षो से पश्चिम की वैज्ञानिक तथा आधि-भौतिक सभ्यता का जो तूफानी प्रवाह बह रहा है, उसकी मुठभेड उस प्राचीन गम्भीरगामिनी पूर्वी सभ्यता से हो रही है, जिसका उद्गम-स्थान हमारा प्यारा भारतवर्ष है। इन दोनो विचारधाराओ की उथल-पुथल में पडकर भारतीय शिक्षित समाज का मनोबल आकण्ठ-मग्न हो रहा है। इस डूबते हुए जन-समाज का उद्धार कठिन से भी कठिन काम है। फिर भी महात्मा गाधी के सौभाग्य या दुर्भाग्य से यही काम उनके मत्थे पडा है। ऐसा गुरुतम भार मनुष्य-जाति के इतिहास में

आज तक किसी भी पीर, पैगम्बर तथा महापुरुष को उठाना नहीं पड़ा।

अपनी सभ्यता की बुनियाद से हिन्दुस्थान के उखड़ते हुए पैरों को जमाना महात्मा जी का केवल एकदेशीय काम है। इसके अतिरिक्त उनके मिशन का एक विश्व-व्यापी विराट् रूप भी है। यदि गवेषणा-पूर्वक विचार किया जावे तो उनके जितने सार्वजनिक कार्यक्रम हैं, उनकी उपयोगिता और आवश्यकता ससार के समूचे जन-समाज के लिए भी है। सत्याग्रह को ही लीजिए। सत्य पर आरूढ रहने की आवश्यकता क्या केवल हिन्दुस्थान ही को है? क्या अन्य राष्ट्रो को उनके जीवन मे इस नैतिक गुण की जरूरत नही है? ससार मे इँगलेंड-सरीखे ऐसे कई राष्ट्र है, जो पल्ले दरजे के दुराग्रही है। उन्हे सत्य-धर्म की विशेष आवश्यकता है, ऐसा समझना अनुचित न होगा। वर्तमान युग मे पश्चिम के सभ्य राष्ट्रो मे हिंसा का भयकर आतक छाया हुआ है। सारा यूरोप एक फौजी छावनी (Armed camp) मे परिणत हो रहा है। बुद्धिमान् से बुद्धिमान् रासायनिक विद्वान् विषैली से विषैली गैस के बनाने मे अपने एकान्त परीक्षालयों मे ऐसे दत्तचित्त होकर सलग्न है, मानो ब्रह्म-चिन्तन ही मे लीन हों। हिंसावृत्ति किसकी अधिक बढी हुई है, हिन्दुस्थान की या यूरोपीय राष्ट्रो की? उत्तर स्पष्ट है। जिनके सामने नि शस्त्रीकरण का प्रश्न है, उन्ही के सम्मुख अहिंसावाद का भी प्रश्न है। निहत्थे तथा नि शस्त्र जन-समुदाय के सामने यथार्थ मे अहिंसा-धर्म का प्रश्न उठता ही नहीं। इस पवित्र और उदात्त मानव-धर्म का अधिकारी यथार्थ मे निहत्था हिन्दुस्थान नहीं, शस्त्र-सन्नद्ध और शक्तिशाली यूरोप ही है। इस विषय की चर्चा हम विस्तार-पूर्वक प्रमाणानुकूल आगे करेंगे, अभी इतना ही सकेत बस है।

साराश यह कि अहिंसा-मूलक शान्ति-स्थापन केवल एकदेशीय ही नहीं, वरन् विशाल विश्व-व्यापी समस्या है। केन्द्रीभूत उद्योग-धधो (Centralised industry) से ससार मे जो अर्थ-विभाग की

अनिष्टकारी विषमता फैली हुई है, उसे दूर करने का एक ही उपाय है जिसका उद्घाटन महात्मा गांधी ने लंकाशायर के बीच बैठकर निर्भयता-पूर्वक किया था। भला, ऐसा किसका साहस है जो केन्द्रित व्यवसाय के तीर्थ लंकाशायर में बैठकर यह कहे, 'तुम अपने कल-कारखानों को तोड डालो और देहातों को आबाद करो।' कल-कारखानों के हामियों के लिए अथवा वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता में ओत-प्रोत दीक्षित लोगों के सामने ऐसी सलाह देना एक उपहास की बात मानी जायगी। परन्तु फिर भी गांधी जी ने ऐसा कहने में जरा भी संकोच नहीं किया। इसलिए कि उनकी सलाह में सचाई थी। साधक प्रमाणों तथा दलीलों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि जब तक मनुष्य का काम मशीन करता रहेगा, मनुष्य का आर्थिक कल्याण सम्भव नहीं है। अतएव महात्मा जी का चर्खा संसार-व्यापी आर्थिक कष्ट के विनाश के लिए योगेश्वर कृष्ण के चक्र-सुदर्शन का काम देगा, इसमें अणु-मात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिए। उनका हरिजन-आन्दोलन भी संसार की दलित जातियों की पुकार है, जो हिन्दुस्थान के अस्पृश्य प्राणियों के द्वारा प्रकट होकर कर्णगोचर हो रहा है।

इस तरह विचारशील पाठक देखेंगे कि महात्मा जी के सारे उपदेश मनुष्यत्व के मंच पर से दिये गये हैं। उनके कार्यक्रम की उपयोगिता केवल भारत के लिए ही नहीं, पृथ्वी के समूचे जन-समाज के लिए है। चरखा तथा घरेलू उद्योग-धंधों के द्वारा पश्चिमी उद्योगशील मनोवृत्ति का हिन्दुस्थानी जन-समाज में प्रचार करना और उसे अहिंसा-मूलक भारतीय अध्यात्मवाद में संस्कृत करना महात्मा गांधी का महान् से महान् उद्देश्य है। इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हो या न हो, पर इतना अवश्य मानना होगा कि इस जडता क्रान्त आधिभौतिक युग में अध्यात्म तथा अहिंसा की ऐसी बुलन्द आवाज़ ऐसी निर्भयता-पूर्वक उठाना किसी महान् सामर्थ्यवान् पुरुष का ही काम हो सकता है। गांधी जी का यह स्वयं-स्वीकृत कार्य-भार गुरुतम है और इसी में उनकी महत्ता का महत्त्व है।

अध्याय ६

सांस्कृतिक आक्रमण

(मनुष्य अपने पूर्वार्जित सस्कारो का मूर्तिमान् परिणाम है। जिन विचारो और आचारो को वह अपने जीवन मे बार बार दुहराता है, उन्ही के आधार पर उसके भावी सस्कार बनते है।) उन्ही से वह पहचाना भी जाता है। यो तो जब से किसी प्राणी की जीवन-धारा प्रवाहित होती है, तब से वह भले-बुरे सस्कारो को समेटता हुआ अग्रसर होता है। परन्तु पशु-योनि से जब जीव मनुष्य-योनि मे पदार्पण करता है, तब उसके जीवन-प्रवाह को एक नई दिशा मिल जाती है। विकास-मार्ग के इस मोड पर उसे नया दृष्टिकोण भी मिलता है और पशुता की पगडडी को छोडकर पुरुषार्थ के विस्तृत पथ पर उसे आरूढ होना पडता है। प्रकृति-रचना का यह मन्तव्य हमे स्पष्ट प्रतीत होता है, फिर चाहे मनुष्य उसका पालन करे या न करे। क्योकि इसी योनि मे उसे इच्छा-स्वातन्त्र्य भी प्राप्त होता है। यह देनगी पशुओ के लिए नही, केवल मनुष्य ही के लिए विधाता ने रख छोडी है। अतएव प्राणियो को मनुष्येतर अवस्था मे जो सस्कार प्राकृतिक प्रेरणा से प्राप्त होते है, उनमे काट-छाँट, परिवर्तन और सुधार उसे मनुष्य-योनि मे विवेक एव इच्छा-शक्ति के द्वारा करने पडते है। इस प्रकार मनुष्य स्वय अपने प्रयत्नो से बन सकता है और अपने ही दुष्कर्मों से बिगड भी जाता है।

मानवी सस्कारो में क्या विशेषता होनी चाहिए, इस विषय की चर्चा हम आगे चलकर 'अहिंसा' शीर्षक अध्याय मे करेंगे। इस प्रसग पर हम इतना ही सकेत कर देना पर्याप्त समझते है कि जैसे एक मनुष्य के व्यक्तिगत भले-बुरे सस्कार होते है, वैसे ही भिन्न भिन्न मनुष्य-जातियो के भी

भी वर्तमान है । ऐसा अमरत्व आज तक किसी भी जन-समाज को प्राप्त न हो सका ।

> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नही हमारी,
> सदियो रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा ।

वह कौन-सी बात है कि जिसके कारण हमारी आर्य-संस्कृति अद्यावधि अमर सिद्ध हुई है । इस बात की विस्तृत रूप से चर्चा करना हमे यहाँ पर अभीष्ट नही है । फिर भी सक्षेप मे इतना कह देना हम आवश्यक समझते है कि जिस बात को अपने जातीय-जीवन का केन्द्र-बिन्दु बनाकर हिन्दुओ ने अपनी सभ्यता का विकास किया था, वह मनुष्य जाति के लिए चिरस्थायी चिन्तन का विषय है। हिन्दू-जाति का मनोधर्म प्राचीन काल से यही कहता आया है कि 'येनाह नामृत स्या किमह तेन कुर्याम्' । भारत की अन्तरात्मा सदैव से यही कहती आई है कि जिससे मुझे अमरत्व प्राप्त न हो, उसे लेकर मै क्या करूँगी, वह तो मेरे लिए त्याज्य है । नाशवान् ससार की छानबीन में उसने कुछ ध्यान तो जरूर दिया,* परन्तु उसकी आन्तरिक प्रेरणा विशेष रूप से जीवन के अमरत्व की तलाश मे ही रहती आई । इस अध्यात्म-प्रियता मे ही हिन्दू-जाति का सामुदायिक व्यक्तित्व प्रदर्शित है । यह खास उसी की विशेषता है जो इतर जातियो में आज तक नही पाई गई । अपनी इसी विशेषता के कारण भारतवर्ष ससार का धर्म-गुरु रहता आया है और उसकी पुण्य भूमि मानव-धर्म की जननी होकर कृतकृत्य हो चुकी है । अपनी इसी आध्यात्मिक लगन के कारण हिन्दुस्थान अनेक महात्माओ को जन्म दे चुका है । इसी विशेषता के कारण उसकी चिन्तनशक्ति ज्ञान के अन्तिम छोर (वेदान्त) तक पहुँच चुकी है । आज तक ऐसी एक भी मनुष्य-जाति इस मेदिनी-तल पर आविर्भूत नही हुई, जिसने ज्ञान का ऐसा अक्षय कोष ससार को प्रदान किया हो और जिसने

---

* देखिए, बिनयकुमार सरकार की 'हिन्दूएचीव्हमेंट्स इन एक्जेक्ट साइंस' ।

जीवन-मरण तथा धर्म-अधर्म की सूक्ष्म समस्याओ पर गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करके इस जगत् के मूल-गत अविनाशी तत्त्व का ऐसी योग्यता-पूर्वक उद्‌घाटन किया हो। इसी अन्तर्दृष्टि में हमारी भारतीय सस्कृति की विशेषता है। इसी मौलिक सस्कार की बुनियाद पर हमारे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की नींव डाली गई है। इसी अध्यात्म-दृष्टि से हम ससार की सारी समस्याओ को हल करने के लिए स्वभावत प्रयत्नशील रहते आये है। इसी अमर आत्म-तत्त्व की भित्ति पर हमारे नीति-शास्त्र की रचना भी हुई है। हमारी चाल-ढाल, रहन-सहन, वेष-भूषा, भाषा तथा मनोभाव सब हमारी आध्यात्मिक दृष्टि से ही प्रेरणा प्राप्त करते है। हमारी सामाजिक सस्थायें तथा स्त्री-पुरुष के पारस्परिक परिणय-सम्बन्ध इसी अन्तर्दृष्टि से सचालित होते है। विश्व-शान्ति का रहस्य भी इसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से खुलता है। इसी दृष्टिकोण से जगत् को देखनेवाला ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मनोहर झाँकी देख सकता है। कहने का साराश यह है कि हमारी आध्यात्मिकता ही में हमारी जातीय सस्कृति का सार है। उसी में प्राचीन भारत के प्राण सन्निहित है। अपनी इस प्राचीन चेतना-शक्ति को खोकर वर्तमान भारत जीवित नही रह सकता। उसे अपनी भावी वैज्ञानिक सभ्यता की बुनियाद भी इसी प्राचीन अन्तर्दृष्टि पर डालनी होगी। वृक्ष अपनी ही जडो पर पल्लवित हो सकता है, वे बदली नही जा सकती। मनुष्य अपने ही प्राणो से जीता है, अन्यथा नही। ठीक इसी प्रकार हमारा जातीय जीवन हमारी निजी विशेषताओ पर ही अवलम्बित रहेगा। उन्हें छोडकर हम अपना सामुदायिक व्यक्तित्व कायम नही रख सकते। फिर हमारा अस्तित्व पृथ्वीतल से उठकर इतिहास के पृष्ठो में ही रह जायगा।

वर्तमान के अशान्त और कलहशील ससार को प्राचीन भारत के आध्यात्मिक सस्कारो की बडी आवश्यकता है। इसी लिए आवश्यकता इस बात की भी है कि वर्तमान हिन्दुस्थान उन्हें स्वय अपने जातीय-

जीवन में प्रकट करे, अन्यथा उनकी व्यावहारिकता तथा उपयोगिता सिद्ध करने का दूसरा साधन हो ही नही सकता। महात्मा गाधी के जीवन, उपदेश तथा आचरण से भारत का भाग्य-विधाता मानो इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है कि सत्य तथा अहिंसा के समान आध्यात्मिक सिद्धान्त केवल विचार और कल्पना की ही वस्तु नही है, उनका प्रत्यक्ष आचरण व्यावहारिक जीवन तथा कार्य-क्षेत्र मे सम्भव है, उपादेय है और आवश्यक भी है। अध्यात्म-मूलक नीतिमत्ता के आधार पर ही हम अपनी राष्ट्रीय तथा अन्त-र्राष्ट्रीय उलझनो मे निपट सकते है और उसी बुनियाद पर ही हम विश्व-शान्ति का स्थापन कर सकते है। महात्मा जी का जीवन इस त्रिकालाबाधित सिद्धान्त का जीता-जागता प्रमाण है।

परन्तु आक्रमणकारी विदेशियो का जब से दौर-दौरा शुरू हुआ, तब से हमारी पूर्वार्जित सस्कृति खतरे मे पडी हुई है। कोई भी विदेशी जाति जब किसी अन्य जाति पर आक्रमण करती है, तो सबसे पहले उसके शरीर को कब्जे में लाने के लिए प्रकट रूप से गोली-बारूद का उपयोग करती है। परन्तु केवल शरीर-शासन से ही मनुष्य शासित नही हो सकता। इसलिए भौतिक विजय के बाद जब तक उसके हृदय और आत्मा पर अधिकार न हो—मनोविजय न किया जाय, तब तक वह पूरा पराधीन हो ही नही सकता। हृदय और आत्मा की हार को ही सास्कृतिक पराजय कहते है। ऐसी पराजित जाति सदैव के लिए मिट जाती है। फिर उसके लिए कुछ भी आशा नही रह जाती। इसी को जाति की मृत्यु कहते है। जब तक ऐसी मौत न हो, तब तक वह पूर्णतया पराधीन नही हो सकती।

परन्तु जातीय सस्कारो पर विदेशियो का जो आक्रमण होता है, वह खुली चढाई से बहुत भयकर होता है। उसमे बन्दूक की आवाज और तोपो की गडगडाहट सुनाई नही देती। ऐसे आक्रमण मे तलवार भी नही चलती। जाति-विशेष के हृदय-गढ को जीतने की यह क्रिया ऐसी

शान्ति-पूर्वक और चुपचाप सम्पादित होती है कि आक्रान्त जाति को इस बात का पता ही नहीं चलता कि क्या हो रहा है। यह एक ऐसी क्रिया है जो अपनी प्रच्छन्नता के कारण अधिक भयंकर होती है। इसकी मार भी प्राणान्तक होती है। जिसकी संस्कृति पराजित हो चुकी, वह जाति मिट गई। भारतीय संस्कृति पर भी इस तरह के आक्रमण विदेशियों के द्वारा सदियों से होते आ रहे हैं। उनका सामना करना आर्य-सभ्यता का ही काम था। आज भी हमारे जातीय-जीवन में इस तरह के प्रच्छन्न प्रहार हो रहे हैं। हमारे सांस्कृतिक पराजय के सम्पादन में विदेशी अभी भी लगे हुए हैं। सर्वसाधारण लोग इस बात को नहीं जान सकते। इसका पता कुछ थोड़े से विचारवान् लोगों को ही लग सकता है। भारत में ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के बाद संस्कार-विजय की यह क्रिया नियमित रूप से जारी है और वह हमारे जीवन के अनेक क्षेत्रों में अनेक प्रकार से हो रही है। जरा देखें कि किस प्रकार वह प्रारम्भ हुई और अपना काम किस तरह कर रही है।

हमारे हिन्दुस्तान में विदेशी शिक्षा-प्रणाली का जिस समय पहले-पहल सूत्रपात हुआ, उस समय मेकाले साहब ने ब्रिटिश शासन के भविष्य का अनुमान करते हुए कहा था कि यदि हमें इस देश में अपने प्रभाव तथा प्रभुता को अक्षुण्ण बनाकर रखना है तो हमें विश्वविद्यालयों के द्वारा ऐसे लोगों की सृष्टि करनी होगी जो अपने रंग-रूप में तो हिन्दुस्तानी रहें परन्तु भाषा, भाव और संस्कारों से हमारे समान-धर्मा होकर हमारी सभ्यता के अनुगामी होना अधिक पसन्द करेंगे। मेकाले बड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि केवल राजनैतिक अधिकार के बल पर हिन्दुस्तान हमारे कब्जे में अधिक दिनों तक न रह सकेगा। जिस दिन उसे अपनी प्राचीन सभ्यता याद आवेगी और उसकी स्वाभिमान-वृत्ति जागृत होगी उसी दिन यह देश आत्म-गौरव की प्रेरणा से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करेगा। वह इस बात को भी अच्छी तरह जानता था कि भारत की एक खास सभ्यता है और

वह बहुत प्राचीन है। मेकाले से यह बात छिपी नहीं थी कि हिन्दुस्थान के प्राचीन आर्यों के उस निश्चित रहस्यवादी संस्कार में एक ऐसा विलक्षण जीवटपन है कि वह सदियों के घात-प्रतिघात का सामना करता हुआ अभी तक विद्यमान है। उस संस्कार का आधिपत्य जब तक एक हिन्दुस्थानी के हृदय पर रहेगा, तब तक वह अँगरेजों का विश्वसनीय सहायक तथा सेवक नहीं बन सकता। ऐसे भिन्न-हृदय और भिन्न-संस्कृति के लोगों के बीच में मुट्ठी भर अँगरेज रहकर सुख की नींद नहीं सो सकेंगे। अतएव हिन्दुस्थान के हृदयगढ़ पर अधिकार प्राप्त करना ही अँगरेजों की शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश माना गया।

तोप खिसकी प्रोफेसर पहुँचे
बसूला हटा तो रंदा है—

(अकबर)

इस प्रकार हमारे सांस्कृतिक पराजय का सिलसिला हमारी शिक्षा से शुरू हुआ। पश्चिमी ढंग पर हमारे नये विश्वविद्यालयों की रचना की गई। सबसे अनोखी और अटपटी बात यह हुई कि हिन्दुस्थान के बच्चों को विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देने की योजना की गई। हमारे जन्मगत संस्कारों को दबा देने की इच्छा इस विचित्र योजना के मूल में तो थी ही, पर एक दूसरा उद्देश और भी था। अँगरेजों की बनाई हुई हिन्दुस्थानी शासन-प्रणाली के प्रमुख सूत्रधार तो अँगरेज ही रहे और रहते आये, परन्तु उन्हें कुछ ऐसे लोगों की भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि जो थोड़ा-सा पारिश्रमिक लेकर छोटे छोटे पदों पर काम करें और अधिकारियों के विश्वसनीय सहायक हो सकें। शासन की कार्रवाइयाँ अँगरेजी भाषा में होने के कारण उन्हें कुछ अँगरेजी जाननेवाले क्लर्कों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता का अनुभव करते हुए उन्होंने मिडिल स्कूलों की स्थापना की, जहाँ से हर साल कुछ मूर्ख मिडिलची निकलते रहे और दफ्तर के बाबू बनकर साहबों की परिस्तिश में अपने जीवन के दिन संतोषपूर्वक बितावें। उनसे इस बात

को भी आशा की गई कि बदमिज़ाज गोरे अधिकारियों की डाँट और "डैमफूल" सुनकर भी वे अपने को अनादृत न मानें। आज इस हिन्दुस्थान में छोटी छोटी तनख्वाह पर काम करनेवाले हज़ारों हिन्दुस्थानी क्लर्क विदेशी सत्ता के संचालन में सहायक हो रहे हैं। इनकी मनोवृत्ति बड़ी शोचनीय है। दिन भर काम करके भी उन्हें बड़ी बड़ी फाइलों का बोझा लादकर आफिस से लौटना पड़ता है। बुद्धि उनकी इतनी सङ्कुचित होती है कि अपने साहबों की चर्चा के सिवाय इन्हें कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं। साहब ही उनके आराध्य देव हैं। साहबों की सम्भाषण-शैली, व्यवहार, रहन-सहन, उनकी अँगरेज़ी भाषा सभी में इन हीन हिन्दुस्थानियों को लोकोत्तरता दिखाई देती है। इन क्लर्कों का मनुष्यत्व इतना ओछा रहता है कि इनकी मानापमान-बुद्धि बिलकुल तिरोहित हो गई है। पेन्शन भोगने के पहले ही ये बेचारे अपने अनाथ बच्चों को दरिद्रता की गोद में सुलाकर स्वयम् संसार से कूच कर जाते हैं।

क्या कहें अहबाब क्या कारे नुमायाँ कर गये,
बी० ए० किया, नौकर हुए, पेंशन मिली, फिर मर गये।

(अकबर)

इन क्लर्कों के सिवाय अँगरेज़ सरकार को ऐसे लोगों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो अदालतों की अँगरेज़ी कार्रवाई तथा कानून को समझने-समझाने में शासक और शासित के बीच दुभाषियों का काम कर सकें। इसी मंशा के परिणाम-स्वरूप आज हमारे हिन्दुस्थान के प्रत्येक नगर और तहसीलों में सैकड़ों वकील-बैरिस्टर नज़र आते हैं। इनका होना देश के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ है। जिन लोगों की जीविका ही भाई-भाई के झगड़ों पर अवलम्बित रहती है, वे समाज के सहायक नहीं, संहारक ही हो सकते हैं। ऐसे लोगों का मूलोत्पाटन जन-समाज से जितनी जल्दी हो, उतना ही अच्छा। वकील और बैरिस्टर तो वहीं सार्थकतापूर्वक रह सकते हैं, जहाँ वाणिज्य है, व्यापार है, जहाँ सैकड़ों इकरारनामें रोज़ लिखाये जाते हों और जहाँ सैकड़ों रद्द भी होते हों।

भारत-सरीखे कृषि-प्रधान देश में जहाँ लोग शान्ति-पूर्वक अपनी अपनी जमीन जोतते हों और जहाँ लोगों में केवल किसान और मालगुजार का सम्बन्ध हो, वहाँ वकील और बैरिस्टर की उपस्थिति शान्ति के स्थान में कलह पैदा करनेवाली होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। परिणाम भी वैसा ही हुआ है। कानून जाननेवाले लोगों के इस वर्ग के लिए गौरव की बात तो इतनी जरूर है कि उन्हीं में से हमारे प्रतिष्ठित राष्ट्रीय नेता अधिक संख्या में उत्पन्न हुए। पर अधिकांश वकील-बैरिस्टर-समाज निहायत निकम्मा है, अकर्मण्य है।

विश्वविद्यालयों का उच्च शिक्षा स्तर विश्व-विद्यालयों के सचालन के लिए भी आवश्यक प्रतीत हुई। परिणामस्वरूप हमारे कालेजों में अच्छे अच्छे योग्य प्रोफेसर विद्यमान हैं। उन सबके ऊपर एक गोरा प्रिन्सिपल जरूर रहता है और उसी के आतंक और इशारे से हमारे हिन्दुस्थानी प्रोफेसर चलते हैं, उन्हें चलना ही पड़ता है। वे 'कान्स्टिट्यूशन' को 'थ्योरी' बखूबी समझते हैं, पर उसकी प्रचलित बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाना नहीं जानते। उनके मुंह पेट के अन्दर बन्द हैं। इतिहास का ज्ञान उन्हें बखूबी है, पर जिस समय देश का इतिहास बन रहा हो, उस समय वे मौनावलम्बन-पूर्वक उदासीन रहा करते हैं। ऐसे ही त्रस्त और आतंकित हिन्दुस्थानी विद्वानों के हाथों में हमारी वर्त्तमान शिक्षा की बागडोर है।

इस प्रकार वकील, बैरिस्टर, सॉलिसिटर, प्रोफसर और डाक्टर हमारे सांस्कृतिक पराजय के साधन हो रहे हैं। भारतीय जन-समाज में एक समय जो उच्च स्थान ब्राह्मण को प्राप्त था, उसका अभिलाषी अँगरेज है। इसी लिए उसने हर जगह प्रत्येक सस्था में ऊँचा से ऊँचा स्थान अपने लिए सुरक्षित रखा है। अदालत हो या कालेज, दफ्तर हो या दरबार, पुलिस हो या फौजी-विभाग, हर जगह ऊँचे से ऊँचा आसन अँगरेज को ही मिल सकता है। अँगरेज का आतंक हर जगह छाया हुआ है। उनको प्रसन्न रखने के प्रयत्न में हम अपने जन्मगत सस्कारों से हाथ

खोते जा रहे हैं। किसी समय हम इतने भीरु नहीं थे। परन्तु सभ्य विद्वानों की तालीम ने हमसे नैतिक साहस छीन लिया है। किसी समय हम आपस में भाई-चारे का निर्वाह करना जानते थे, परन्तु हमारे वकील और बैरिस्टर तथा मोहर्रिरों ने हमें कलहशील बना दिया है। एक समय था जब हम अपने भारत के महापुरुषों का तथा भारतीय साहित्य का मनोयोग-पूर्वक अध्ययन करते थे। लेकिन वर्तमान विश्व-विद्यालयों ने हमें इस ओर से उदासीन बना दिया है। किसी समय हम अपनी मातृ-भाषा में ठीक ठीक लिखना और बोलना जानते थे। परन्तु अँगरेज़ी शिक्षा ने हमारी समझदारी को इतना कुण्ठित कर दिया है कि घरेलू मामलों में भी हिन्दुस्थानी बाप हिन्दुस्थानी बेटे को अँगरेज़ी में पत्र लिखता है। पोशाक हमारी ऐसी ऊल-जलूल हो गई है कि हम नकली साहब बन बैठे हैं। कालर और टाई लगाने की तमीज़ हमें नहीं है, परन्तु उन्हें लगावेंगे ज़रूर। हिन्दुस्थान गरम देश है। यहाँ पतलून, मोज़े और बूट उपयोगी तो सिद्ध होते ही नहीं, प्रत्युत हानिकारक हैं। फिर भी शिक्षित हिन्दुस्थानियों को इसी पोशाक की लत पड़ गई है। इस प्रकार हमारी प्रत्येक आदतों में विदेशीपन का ज़बरदस्त छापा हुआ है। यही हमारे सांस्कृतिक पराजय की क्रिया है, जो चुपचाप भारतीय जन-समाज में जारी है। भारतीय हृदय और आत्मा पर विदेशी सभ्यता का यह आक्रमण अपना काम बहुत कुछ कर चुका है। पर इस सभ्यता की चढ़ाई में बन्दूक की आवाज़ नहीं आई। सिपाही भी कहीं नज़र नहीं आये। हम पहले ही कह चुके हैं कि चुप्पी और चालाकी से होनेवाला यह सांस्कृतिक आक्रमण बड़ा ख़तरनाक होता है। इसका मारा फिर नहीं बचता। जिस जाति के हृदय में उसके जन्म-सिद्ध संस्कार और सभ्यता का प्रभाव विद्यमान है, वह चाहे राजनैतिक क्षेत्र में परतन्त्र भले ही हो, उसके पुनरुत्थान की आशा हम कर सकते हैं। परन्तु जिस जन-समाज के हृदय और मस्तिष्क से उसके पूर्वजों के छोड़े हुए संस्कार ही भूल गये हों और जिसका हृदय-नाड़ टूट गया हो जो

जन-समाज अपनी आत्मा को खोकर अनात्मवान् हो गया हो और इस तरह जिसका व्यक्तित्व ही विलीन हो गया हो, उसके पुनर्जीवन की आशा दुराशामात्र है।

विदेशी शासन के द्वारा निर्मित इन विश्व-विद्यालयो से जब हमारे विद्यार्थी पहले-पहल दीक्षित होकर निकले, तो इन उद्भ्रात नौजवानो के हृदय और मस्तिष्क मे पश्चिमी सभ्यता का ऐसा जोरदार नशा चढने लगा कि वे मेकाले साहब की कल्पना के अनुसार साहबीपन से ओतप्रोत होकर निकले। जन्म और लालन-पालन तो उनका हिन्दुस्थान में ही हुआ था, रूप और रग दोनो हिन्दुस्थानी थे। परन्तु उनके शरीर और मन की जो सजधज थी, वह एकदम विदेशी थी। बगाल-प्रान्त अँगरेजो के सम्पर्क मे सबसे पहले आया और अँगरेजी-शिक्षा का सूत्रपात भी सबसे पहले वही हुआ। कलकत्ता-विश्व-विद्यालय हिन्दुस्थान की इतर यूनिवर्सिटियो से पहले स्थापित हुआ। उन दिनो अँगरेजी शासन को अँगरेजो के मातहतो मे काम करनेवाले कई मुलाजिमो की आवश्यकता थी। बस क्या था, हिन्दुस्थान के इन यूनिवर्सिटी-दीक्षित बदरग नौजवानो को घडाधड नौकरियाँ मिलने लगी। जिन्होने स्वतन्त्र धन्धा स्वीकार किया, उन्हे भी प्रतियोगिता के अभाव में खूब आमदनी होने लगी। उन दिनो के वकील और बैरिस्टर बात की बात मे मालामाल हो गये। पश्चिमी दृष्टिकोण की दीक्षा और प्रचुर आय इन दोनो के सयोग ने उन दिनो के शिक्षित हिन्दुस्थानियो को उन्मत्त और उद्भ्रान्त बना दिया। अँगरेज उनके लिए आदर्श पुरुष हो गये। उनकी रहन-सहन मे उन्हे सभ्यता की सीमा दृष्टिगोचर होने लगी। आँख मूँदकर उन्होने विदेशियो का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। परन्तु अपनी इस अनुकरण-शीलता में उन्होने अँगरेजो के गुण तो न सीखे, उनके दुर्गुणो का स्वागत अपने हृदय-द्वार पर पहले किया। व्हिस्की की बोतलें ढलने लगी। गोमास भी खाने की प्रवृत्ति उनमें आने लगी। अँगरेजो के साथ हाथ मिलाने मे, उनके साथ

उठने-बैठने में और उनकी कृपादृष्टि प्राप्त करने में वे अपने सौभाग्य की पराकाष्ठा समझने लगे। पश्चिमी उच्च-समाज का वह स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध, स्वतन्त्रता और रहन-सहन तथा खान-पान की तड़क-भड़क ने उन्हें विदेशियों का सोलह आने गुलाम बना दिया। परिणामस्वरूप उन्हें अपने धर्म और सभ्यता में घोर अनास्था हो गई। वे यह भी मानने लगे कि 'भारतीय सभ्यता' नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। हिन्दू-धर्म में उनका रहा-सहा भी विश्वास जाता रहने लगा। सारांश यह कि वे अपने घर, समाज और देश में रहते हुए भी बाहर हो गये।

जिस समय पश्चिमी सभ्यता की आँधी से भारतीय नौजवानों के हृदय और मस्तिष्क सारा-सारा झोंके खा रहे थे, उन्हीं दिनों पश्चिम के पादरी ईसाई-मत का प्रचार करने में सतत दत्तचित्त, तत्पर थे। समय समय पर होनेवाले दुर्भिक्ष उनके सहायक हो गये। शिक्षित भारतीयों में से कई लोगों के पैर तो इतने ज्यादा उखड़ गये कि वे अपनी विवाहिता पत्नियों को छोड़कर बाजार में विशेष पैदा करके अपने कुटुम्ब और परिवार से हमेशा के लिए बाहर हो गये। जिन्होंने उनका लालन-पालन किया था और जिन लोगों ने उन पर बड़ी बड़ी आशायें बाँध रखी थीं वे बेचारे वयोवृद्ध माता-पिता आँसू पोंछते रह गये।

शिक्षित भारतीयों की इस मानसिक दुरवस्था को देखकर ही बंगाल में राजा राममोहनराय को एक ऐसे नये समाज की रचना करनी पड़ी, जिसका आधार तो वैदिक धर्म था, परन्तु जिसका रहन-सहन विदेशियों से मिलता-जुलता था। यह 'ब्राह्मसमाज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने कदाचित् सोचा होगा कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से हमारे रंग-ढंग में विदेशीपन का आना तो अवश्यम्भावी है, परन्तु प्रयत्न ऐसा हो कि कम से कम हिन्दुस्थानी हृदय पर ईसाई-धर्म का प्रभाव न पड़ने पावे। भारत के शिक्षित समाज को विधर्मी होने से बचा लेने के लिए राजा साहब को यह योजना बनानी पड़ी। मूर्ति-पूजा से शिक्षित लोगों को अनास्था हो गई थी; इसलिए उन्होंने एक नये मन्दिर

की रचना की, जहाँ ईसाई ढग पर सामूहिक रूप मे स्त्री-पुरुषो की सम्मिलित प्रार्थना होने लगी। वैदिक धर्म के सस्कारो को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने इस नये आडम्बर की रचना की। उन दिनो राजा राममोहनराय और ईसाई पादरियो के दर्म्यान जो लिखा-पढी तथा धर्म-सम्बन्धी बहसे होती थी, वे आज भी लिखित रूप में विद्यमान है। उन्हे पढकर राजा साहब की अद्वितीय योग्यता तथा नम्रता और पादरियो की अज्ञानान्धता तथा उद्दडता का अनुमान कोई भी सहज ही लगा सकता है।

ब्रह्म-समाज की आवश्यकता उन दिनो के भारतीय विद्वानो को प्रतीत होने लगी, यहाँ तक कि राजा राममोहनराय के पश्चात् केशवचन्द्र सेन, प्रतापचन्द्र मजूमदार तथा ईश्वरचन्द विद्यासागर के समान उद्भट विद्वान् उसके सदस्य और सहायक हो गये। समय की गति, शिक्षित भारतीयो की मानसिक प्रवृत्ति तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बढती हुई लगन को देखकर उन्होंने ब्रह्म-समाज के लिए विवाह-सम्बन्धी (Brahmo Marriage Act) योजना सरकार से स्वीकार कराई और उसके द्वारा ब्रह्म-समाज के स्त्री-पुरुषो को वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद करने-कराने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार आधा तीतर और आधा बटेररूपी ब्रह्म-समाज कुछ कुछ चल निकला। अपनी प्राचीन परिपाटियो से जो शिक्षित हिन्दुस्थानी असन्तुष्ट हो जाते थे और जिन्हे पश्चिमी रहन-सहन तथा सभ्यता का चसका लग जाता था, जिन्हे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर निरकुशता पसन्द होती थी, उनमे से बहुत-से लोग इस समाज की शरण लेकर एकदम विधर्मी होने से बच जाते थे। इस प्रकार ईसाई पादरियो के द्वारा सास्कृतिक आक्रमण की जो प्रक्रिया जारी थी, उसे रोकने का भगीरथ और कालानुरूप प्रयत्न पहले-पहल राजा राममोहन ने किया।

तत्पश्चात् बगाल में एक ऐसे सत्पुरुष का आविर्भाव हुआ, जो जीवन्मुक्त था और जो मनसा, वाचा तथा कर्मणा भारतीय धर्म तथा

सस्कारो का सजीव एव मूर्तिमान् अवतार था। इस प्रातःस्मरणीय महापुरुष को लोग परमहस रामकृष्ण के नाम से आज तक श्रद्धापूर्वक पुकारते है। इनका ग्रामीण रग-ढग और प्रगाढ पाण्डित्य लोगो को विस्मय में डालता था। इनकी प्रतिभा विलक्षण थी। काली की अखड आराधना में अपने व्यक्तित्व को विलीन करके वे बच्चे के समान रोया करते थे। 'मा-मा' कहकर वे समाधि-मग्न हो जाते थे। पार्थिव चेतनता की अवस्था में वे छोटी छोटी कहानियो के रूप में हिन्दू-धर्म के सूक्ष्म सिद्धान्तो को ऐसी सुन्दरता और सरलता से बात की बात में सुझा देते थे कि बात हृदय और बुद्धि मे बैठ जाती थी। उनकी विलक्षण प्रतिभा-शक्ति की ख्याति सुनकर उन दिनो के शिक्षित भारतीय उनके पास विस्मय-प्रेरित होकर जाया करते थे और आश्चर्य-चकित तथा गम्भीर मुद्रा से सोचते हुए लौट आया करते थे। परमहस के उपदेश-वाक्यो को सुनकर वे यह भी सोचा करते थे कि आखिर हिन्दू-धर्म तथा आर्य-सभ्यता में कोई ऐसी विशेषता जरूर है, जो ऐसे विलक्षण और प्रतिभावान् पुरुष उत्पन्न कर सकती है।

परन्तु परमहस देव भारतीय शिक्षित समाज को सर्वतोभावेन सुसस्कृत करने में एक तरह से निहत्थे हो रहे थे। उन्हे एक ऐसे सुयोग्य पात्र की आवश्यकता थी, जो अँगरेजी भाषा और वैज्ञानिक तर्क-सरणी का पारगामी विद्वान् हो और जिसका हृदय भारतीय सस्कारो से ओतप्रोत हो, जिसकी बुद्धि कुश की नोक के बराबर तीक्ष्ण और पैनी हो और जो सत्य सनातन हिन्दू-धर्म के त्रिकालाबाधित सिद्धान्तो को भारतीय तथा पश्चिमी शिक्षितसमाज के सामने अधिकारपूर्वक रख सके। बी० ए० की कक्षा में पढनेवाला नरेन्द्रदत्त नाम का एक कुशाग्रबुद्धि और तर्कशील युवक अपने काका के अनुरोध से धर्म पर बहस करने की इच्छा से एक दिन उनके पास पहुँचा। परमहस देव ने सिर से पैर तक उसे देखा। नरेन्द्र की शरीर-रचना विशाल थी, मनोहर थी। उसके समान सुन्दर और प्रभाव-

शाली मुखडा आज तक देखने मे नही आया। उस नौजवान की बडी बडी और मनोहर आंखो की खिडकियो से ताकती हुई एक महती अन्तरात्मा को परमहंस ने अपनी आत्मदृष्टि से देखा और कहा, आओ, बैठो, मै तुम्हे ढूंढ ही रहा था।

कहा जाता है कि नरेन्द्र ने उसी बैठक मे ढिठाई के साथ परमहस देव से पूछा, क्या ईश्वर है और उसे आप दिखा सकते है ? परमहस दृढतापूर्वक बोले, हां है और मै तुम्हे दिखा सकता हूँ , शर्त इतनी है कि तुम मेरे पास आते जाओ। नरेन्द्र उस दिन से वहां जाने लगा। गुरु और शिष्य का प्रेम इतना लोकोत्तर और प्रगाढ हो गया कि जिस दिन नरेन्द्र उनके पास नही जाता, उस दिन जीवन्मुक्त परमहस देव अधीर हो जाते थे। उसकी तलाश मे वे वेलूर छोडकर कलकत्ते तक पागल के समान दौड जाते थे। परमहंस देव ने इस प्रकार अपने को नरेन्द्र मे आत्मसात् करके उसे नरेन्द्र नामक एक नवयुवक विद्यार्थी से विश्व-विजयी विद्वान् स्वामी विवेकानन्द के रूप मे परिणत कर दिया। परमहस देव का विवेकानन्द में आवेशावतार हो गया। यही अवतार शिकागो की धर्म-सभा मे पहुंचा और वेदान्त के आधार पर मानव-धर्म की मीमासा उसने ऐसी सफलतापूर्वक की कि ससार के अन्यान्य सकीर्ण मजहबो के मुसाहब कुठित रह गये। स्वामी विवेकानन्द के उस विलक्षण और प्रतिभाशाली भाषण को सुनकर अमेरिका का सभ्यताभिमानी ईसाई जन-समाज दग रह गया। उन्ही दिनो 'न्यूयार्क हेरल्ड' के सपादक ने इस आशय के वाक्य अपने सपादकीय नोट मे लिखे थे —

"शिकागो की धर्म-सभा मे स्वामी विवेकानन्द सबसे महान् व्यक्ति है। उनके विचारो को सुनकर हमे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दुस्थान ऐसे विद्वान् देश मे ईसाई मजहब के प्रचारको को भेजकर हमने बडी मूर्खता का काम किया है।" *

---

*Swami Vivekanand seems to be easily the most important figure in the Parliament of religions.

धर्म-सभा के बाद स्वामी जी का अमेरिका में जो स्वागत हुआ, उसे कौन नहीं जानता। इस प्रकार जब अमेरिका ने इनकी बुद्धि और प्रतिभा का लोहा माना, तब कहीं भारतीय शिक्षित समाज ने माना कि हिन्दुस्थान का वेदान्त-धर्म भी कोई माननीय और मननीय वस्तु है। तब कहीं उन्हें इस बात का आभास होने लगा कि भारत की प्राचीन सभ्यता में भी बुद्धि और वैज्ञानिक विचारधारा का प्रकाश मिल सकता है। इस तरह शिक्षित हिन्दुस्थानियों की विचार-धारा को स्वामी जी ने भारतीय साहित्य की ओर फेर दिया और [illegible] कह डाला था कि "भारत के नौजवानों, अपने यथार्थ स्वरूप से पराङ्मुख कदापि न होना। तुम यह न भूलना कि तुम्हारा देश [illegible] है। तुम यह न भूलना कि तुम भारतीय हो। भारत ही तुम्हारी बाल्यावस्था का दोला है, वही तुम्हारे यौवन का [illegible] है और वही तुम्हारी जरावस्था का वाराणसी है। हे भाई, तुम गरीब से गरीब और हीन से हीन हिन्दुस्थानी को दौड़कर गले लगाओ और स्वाभिमान-पूर्वक आपस में मिलकर संसार को यह घोषित कर दो कि हम भारतीय भाई भाई हैं, हम सब हिन्दुस्थानी हैं, एक हैं।'

भारतीय आध्यात्मिकता में ओतप्रोत राष्ट्र-भावना के प्रचारक स्वामी जी के ये जीते-जागते शब्द संसार के कानों में गूंजने लगे। पश्चिमी संसार यह मानने लगा कि हिन्दुस्थान भी कोई राष्ट्र है और उसकी एक राष्ट्रीय सभ्यता है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। स्वामी जी के व्याख्यानों में वे सब विचार मौजूद हैं जो हमारे सामने आज राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में प्रस्तुत हैं। अस्पृश्यता-निवारण तथा दलितोद्धार की आवश्यकता स्वामी जी के व्याख्यानों में जगह जगह बतलाई गई है। कहने का सारांश यह कि पश्चिमी सभ्यता के

Now that we have heard & seen him, we feel how foolish we have been to send missionaries to such a learned nation

आक्रमण को भारत की अन्तरात्मा अधिक सहन न कर सकी। वह कई प्रान्तों में अपने कई महान् पुरुषों की वाणी में अवतरित होकर आत्मरक्षा के प्रयत्न में ललकार उठी। स्वामी विवेकानन्द के ही समकालीन पंजाब में जीवन्मुक्त स्वामी रामतीर्थ हुए। कालेज की प्रोफेसरी का त्यागपत्र देकर उन्होंने सन्यास का गेरुआ बाना धारण कर लिया। अमेरिका, जापान तथा इतर देशों में भ्रमण करके व्यावहारिक वेदान्त का ज्ञान पश्चिमी संसार को देते हुए उन्होंने सिद्ध किया कि हिन्दुस्थान को किसी दूसरे धर्म तथा सभ्यता से दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयम् दूसरों को बहुत कुछ दे सकता है।

पश्चिम के सांस्कृतिक आक्रमण के विरोध में एक बड़ी ज़बरदस्त आवाज़ गुजरात से आई, जो महर्षि दयानन्द की थी। उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म का आश्रय लेकर और उसकी तर्कशील मीमांसा लिखकर हिन्दू-धर्म के परिष्कार का बड़ा व्यापक और स्थायी प्रयत्न किया। उनका निश्चित किया हुआ सामाजिक कार्यक्रम आज हिन्दू-महासभा के सामने एकमत से स्वीकृत हो चुका है। जिन सुधारों की आवश्यकता उन्होंने आज से आधी सदी के पहले बताई थी, उनका महत्त्व हमें आज प्रतीत हो रहा है। उनके द्वारा स्थापित किया हुआ आर्य-समाज एक जीता-जागता जन-समाज है। धीरे-धीरे घुलनेवाले पिलपिले हिन्दू-समाज के चारों तरफ उन्होंने आर्य-समाजी अटलता का एक ऐसा कठोर आवरण डाल दिया कि उसके कारण हिन्दू-समाज में किसी विधर्मी उपदेशकों की दाल ही न गलने पाई। हिन्दू-समाज में आर्य-समाज की रचना का यह परिणाम भी हुआ कि विदेशियों के सांस्कृतिक आक्रमण से उसकी रक्षा होने लगी।

इस तरह शिक्षित भारतीयों को भारतीयता से पुनर्दीक्षित करने का जो सूत्रपात राममोहनराय, परमहंस देव, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा महर्षि दयानन्द ने किया, उसकी पूर्णता महात्मा गांधी के द्वारा वर्त्तमान में हो रही है। हिन्दुस्थान के सांस्कृतिक परिवर्त्तन के सम्बन्ध

में मेकाले की इच्छा हमारे विश्वविद्यालयो के द्वारा बहुत कुछ सफल हुई और होनेवाली थी कि इतने ही मे साबरमती के इस पचावाले बाबा ने बढती हुई विदेशी सभ्यता की बाढ को एक ज़ोर का धक्का दिया। वह सैकडो गज़ पीछे हट गई और अब उसके आगे बढने की कोई आशका नही है। गाधी जी के द्वारा भारत की अन्तरात्मा ललकार उठी। इस आवाज़ ने शिक्षित भारतीयो के कान खडे कर दिये। परिणाम यह हुआ कि इन पन्द्रह वर्षों के अन्दर इस देश से साहबीपन बहुत कुछ उठ चुका है। कोट और पतलून पहनकर चलने-फिरनेवाले कई हिन्दुस्थानी साहब अब अपना नकली जामा उतारकर खद्दर का कुरता और गाधी-टोपी में अपना विशेष गौरव मानने लगे है। उनके दृष्टिकोण में भारतीयता आने लगी है। रहन-सहन में अब उन्हे हिन्दुस्थानीपन पसन्द हो गया है। परन्तु शिक्षित लोगो की साहबी मनोवृत्ति मे इस उचित परिवर्त्तन के लिए गाधी जी को अपने जीवन के द्वारा प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना पडा। शिक्षित हिन्दुस्थानी साहबो से पतलून, कालर और टाई छुडाने के लिए गाधी जी को पचा पहनना पडा। उनके हाथो से छुरी काँटा छुडाने के लिए उन्हे टिन के तसले में खाना पडा। उनसे देशी चीज़ो का व्यवहार कराने के लिए उन्हे खद्दर या गाढा पहनना पडा। कहने का साराश यह कि हम विकृत-बुद्धि भारतीयो मे भारतीयता की प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए गाधी जी को एक दरिद्र भारतीय किसान का अर्द्धनग्न रूप धारण करना पडा।

इस महापुरुष की बदौलत आज हमारे हृदय और बुद्धि मे बहुत परिवर्त्तन हो चुका है। आज हम अपने को हिन्दुस्थानी कहने मे अपना गौरव मानने लगे हैं। आज हमें अपनी वेश-भूषा, अपनी रहन-सहन, अपना धर्म और अपने सस्कार प्यारे लगते है। आज हम भारतीय सभ्यता के स्वाभिमानी हैं। आज हमें यह अनुभव होने लगा है कि जिस जन-समाज ने इस गये-गुज़रे ज़माने में भी आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बसु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चित्तरजनदास, लोकमान्य तिलक, लाला लाज-

पतराय, मोतीलाल नेहरू और महात्मा गाधी के समान लोकमान्य नेता तया महापुरुष पैदा किये, उसकी सभ्यता में कोई विशेषता जरूर होनी चाहिए। आज हमारी वह भ्रान्ति तिरोहित हो चुकी है जिससे प्रेरित होकर हम समझते थे कि हमारी प्राचीन सभ्यता इस युग के लिए किसी मशरफ की चीज़ नहीं है। आज हमें इस बात का अनुभव हो रहा है कि विश्व-शान्ति की जो समस्या इस समय जन-समाज के सामने प्रस्तुत है, उसे सुलझाने की युक्ति भारत के ज्ञानकोष में ही मिल सकेगी। हमारी यह परिवर्तित मनोवृत्ति हमें मनुष्यत्व प्रदान करेगी और हमें स्वाभिमानी बनाकर ससार के सामने हमारा मस्तक ऊँचा करेगी। अपने इस उज्ज्वल भविष्य मे हमें किसी तरह का सन्देह नही है। परमात्मा करे, वह दिन हमारे लिए शीघ्र से शीघ्र आवे, यही हमारी हृदयगत आकाक्षा है—यही हमारी प्रार्थना है।

अध्याय ७

हमारा नैतिक पतन

मनुष्य मनुष्य इसलिए है कि वह विवेकशील है। कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, अधर्म का निर्णय करना ही विवेक का व्यापार है। परन्तु मनुष्यत्व के आदर्श का पालन केवल मनोधर्म के निर्णय से ही पूरा नहीं पड़ता। कर्तव्य-पथ के निश्चय हो जाने के उपरान्त मनुष्य को उस मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए दृढ़निश्चय होना चाहिए और संकल्प-सम्पादन के मार्ग में जो बाधायें उपस्थित हों, उन्हें परास्त करने की इच्छा-शक्ति तथा कष्टसहन की क्षमता भी चाहिए। इतनी योग्यता ही

तभी हमारी मानवता सार्थक हो सकती है, अन्यथा नही। जन-समाज के साधारण लोगो को यह मनुष्योचित सामर्थ्य सहज सुलभ नही है। इसी लिए तो महाकवि गालिब ने विचार-पूर्वक कहा है —

'आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना।'

आमतौर पर इतना कह चुकने के बाद हमारे हृदय मे यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि हिन्दुस्थानियो मे काफी इन्सानियत है अथवा नही। इस प्रश्न के यथोचित उत्तर देने मे हमारे विवेक को कोई कठिनाई प्रतीत नही होती। भारतवर्ष से मनुष्यत्व बहुत कुछ उठ चुका है, इसमे हमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जिस दिन अपने आत्म-गौरव एव जातीय स्वाभिमान को भूलकर भारतीयो ने विदेशियो का स्वागत किया और अपना ताज सिर से उतार कर हँसते हँसते उनके कर-कमलो में समर्पित कर दिया, उसी दिन हमारा मनुष्यत्व काल-कवलित हो चुका।

अपनी राष्ट्रोचित स्वतन्त्रता एव अधिकार दूसरो को सौंपकर गोया हमने अपने मानवता को अन्त्येष्टि क्रिया कर डाली। यदि आज ससार में हमारा कहीं भी मान नही है, यदि हम आज दर-बदर ठुकराये जा रहे है, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? विस्मय तो हमे तब होता, जब ऐसी हालत मे भी हम पृथ्वी पर श्रद्धास्पद बने रहते। जो मनुष्य अपना इज्जत आप करता है उसी का मान ससार में सभव है। आत्म-गौरव के लुट जाने के बाद फिर मानव-जीवन मे शेष रह ही क्या जाता है ?

'सभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'

अजीर्ण से ज्वर जाता है और ज्वर से अजीर्ण और भी बढ जाता है। इस अजीर्ण-ज्वर-न्याय से हम स्वाभिमान-शून्य होकर परतन्त्र हो गये और परतन्त्रता के बाद हमारा रहा-सहा आत्मगौरव और भी तिरोहित हो गया। परिणामस्वरुप आज हम भारतीयो की कैसी दशा है ? आज हम मानव-जाति के लिए कलक-रूप हो रहे है। हम दोनो दुनिया

से इस तरह हाथ धो बैठे हैं कि न तो हमारा परमार्थ ही सिद्ध होता है, न फिर हमारा स्वार्थ ही सध सकता है। ऐसा स्वार्थ-परमार्थ-शून्य जीवन किसी भी मर्ज की दवा नहीं है। ऐसे निरर्थक जीवन को गले लगाकर हम इतने पतित हो चुके हैं कि हमारे आचरणों में आज दिन नैतिक गुणों को बू-बास भी नहीं है। अपने प्यारे देश तथा देशभाइयों के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के स्वाभिमानी हृदय को यदि कोई बात कड़ी से कड़ी ठेस पहुँचाती है तो वह हमारा नैतिक पतन ही है। जिस दिन संसार ने यह देखा कि केवल धमकी के आतंक से घबराकर भारत के होनहार नवयुवकों ने 'यूनियन जैक' के सामने सामूहिक रूप से सिर झुकाया और उन नतमस्तक नवयुवकों में ऐसा एक भी माता का पुत्र न निकला जो यह कहे कि यदि हमारे हृदय में 'यूनियन जैक' के प्रति श्रद्धा नहीं है तो चाहे आसमान जमीन से मिल जाय, लेकिन हमारा सिर आध इंच भी नीचे न झुकेगा। जिस दिन संसार ने भारत की भावी संतति की यह मानसिक दुर्दशा देखी, उस दिन उसे विश्वास हो गया कि हिन्दुस्थान मिट चुका। इस घटना ने महात्मा जी की आँखें खोल दीं।

विश्वविद्यालयों में जो हमारे भावी होनहार पढ़ रहे हैं, उनकी भी मनोदशा बिगड़ी हुई है। परतन्त्रता का दूषित वातावरण और बेढंगी शिक्षा-प्रणाली इन दोनों ने मिलकर हमारे विद्यार्थी नवयुवकों के मानसिक दृष्टिकोण को इतना विकृत कर रखा है कि समझ में नहीं आता कि भविष्य में वे क्या कर सकेंगे। उनकी सारी बातें बनावटी हो गई हैं। इसी लिए तो अकबर साहब का रोना है—

तिफ्ल में बू आये क्यों मा-बाप के एतबार की।
दूध तो डब्बे का है, तालीम है सरकार की॥

हमारे कालेजों के लड़के तो इतने निर्जीव होते हैं कि इस खद्दर के जमाने में भी विलायती सूट में मचलते फिरते हैं। उन्हें इस बात का गोया ध्यान ही नहीं, कि देश की विचार-धारा किस ओर बह रही है। वे कदाचित् यह कभी सोचते ही नहीं कि वे देश के कौन हैं, और देश

का उनसे क्या सम्बन्ध है। रहे तो इतने गाफिल। यदि उनमें कही राष्ट्रीय चेतनता आई तो वे बहक कर पश्चिमी क्रान्तिकारियो की नकल मूर्खतापूर्वक अपने विवेक की आँखो को बन्द करके किया करते है। फिर वे महात्मा जी के अहिंसावाद के एकदम विरोधी बन बैठते है। रशियन साम्यवाद का सुख-स्वप्न देखते हुए वे अपनी विशेष परिस्थिति को ध्यान ही मे नही लाते। पृथ्वी पर से पूंजीपतियो को निकालते हुए वे स्वर्ग से ईश्वर को भी अर्द्धचन्द्र दे डालते है। यह नास्तिकता-मूलक क्रान्तिकारी मनोविकार ससार को मिला हुआ पश्चिमी अभिशाप है। भारत को इससे बाल-बाल बचना चाहिए, अन्यथा हमारे कलह-शील सम्प्रदायो में उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ेगा कि यह भारतमाता अपने बच्चो का खून अपने ही बच्चो के द्वारा देखकर सदियो तक आह भरती रहेगी। महात्मा जी की दी हुई यह अहिंसात्मक मनोवृत्ति विदेशियो के विरुद्ध कामयाब हो या न हो, परन्तु इसमें सन्देह नही कि वह हमारे भावी राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे पारस्परिक भाईचारा स्थापित करने के लिए बड़े काम की चीज होगी। परन्तु क्रान्तिकारी भारतीय नौ-जवान इन बातो की परवाह नही करते। वे सोचते तक नही कि आखिर इन सबका परिणाम क्या होगा। यह उनके नैतिक पतन का लक्षण है।

जब हम अपने हिन्दुस्तानी सेठ-साहूकारो तथा इतर रोज़गारियो की ओर दृष्टिपात करते है तो हमारा वही नैतिक पतन हमे उनमे भी दृष्टिगोचर होता है। हमारे रोज़गारी रोज़गारी नही, विदेशी शासन के गोया "मैनेजिंग एजेन्ट" है। बाहर से जरा कम कीमत मे माल मँगाकर अधिक से अधिक दाम मे यहाँ बेचकर दलाली से मुनाफा कमाना ही उनके रोजगार का नग्न रूप है। हमारे देश मे विदेशी व्यापारियो के द्वारा जो रक्त-शोषण की क्रिया जारी है, उसके वे स्वदेशी सहायक है। इन नादानो को खबर ही नही कि अन्ततोगत्वा उनकी भी यही दशा होनेवाली है जो आज दरिद्र जन-समाज की हो रही है। इन व्यापारियो ने ईमानदारी

जनता में सार्वजनिक शिक्षा का यह अभाव हमारी राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग में पड़ा हुआ एक बड़ा भारी रोड़ा है। इस को पहले दूर करना होगा, तब कहीं देश अपने गौरव के दिन देख सकेगा, अन्यथा हर्गिज़ नहीं।

वर्तमान शिक्षा जो इस देश में है, वह नगरों में पुञ्जीभूत हुई है। इस शिक्षा की तासीर ने हमें ऐसा बदरंग बना दिया है कि हम स्वयम् समझ में नहीं आता कि हम क्या हैं। हमारी रहन-सहन और दृष्टिकोण में कुछ ऐसा विचित्र बेढगापन आगया है कि हम निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कह सकते कि हम क्या होना चाहते हैं। हम कुछ विचार तो कर सकते हैं, पर हमारी कार्य-कारिणी शक्ति बिल्कुल कुण्ठित हो गई है। गत सत्याग्रह-आन्दोलन में स्त्रियाँ और बच्चे तो कूद पड़े, लेकिन विदेशी शिक्षा-प्रणाली से दीक्षित भारतीय या तो अदालतों में अपने स्वार्थ की पैरवी करते रहे, या विश्वविद्यालयों में अपने होनहार विद्यार्थियों को 'पैराडाइज लास्ट' पढ़ाते रहे। कहने का साराश यह कि विदेशी शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव हमारे मनुष्यत्व के एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण अग पर बहुत बुरा पड़ा है। हिन्दुस्थान का अधिकाश शिक्षित जन-समाज सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में निहायत निकम्मा है, पगु है। इस शिक्षित समाज में महात्मा जी, लोकमान्य, लाजपतराय तथा देशबन्धु के समान त्यागी समाज-सेवक जो पैदा हुए, वे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के कारण नहीं, प्रत्युत अपने जन्म-गत महान् सस्कारों के कारण हुए हैं। इस शिक्षा का जो प्रभाव पड़ा है उसका असर अधिकाश लोगों में देखिए, वह कोई अभिमान की चीज नहीं है। नुक्ता-चीनी में ही उनकी सारी योग्यता समाप्त हो जाती है। महात्मा जी को अपने राष्ट्रीय सग्राम में इन शिक्षितों से बहुत आशा थी, परन्तु उन्हें अन्त में निराश होना पड़ा।

हमारे यहाँ विद्वानों का कमी नहीं। अपने अपने विषय के अच्छे से अच्छे पारगामी विद्वान् हमारे विश्वविद्यालयों में अध्यापन का काम कर रहे हैं। योग्य से योग्य वकील-बैरिस्टर हमारी अदालतों में बाल की खाल

निकाल रहे है। सिद्ध से सिद्ध लेखक अपनी अपनी कलम का जौहर समाचार-पत्रो में दिखा रहे है। अच्छे मे अच्छे साहित्य-प्रेमी काव्य, उपन्यास तथा नाटक की रचना कर रहे हैं। कहने का साराश यह कि हमारे देश में विद्वान् हैं, परन्तु उन सबकी एक कमजोरी जो प्रत्यक्ष दिखाई देती है वह यह है कि वे सबके सब तेजोहीन हैं। उनमें पुरुषोचित साहस और खरापन नही। राजनैतिक परतन्त्रता के वातावरण में उनका शिक्षित हृदय आतंकित हो गया है। यथार्थ मे हमें इन्ही को दलित-जाति (Depressed Class) के नाम से पुकारना चाहिए। जिसकी अन्तरात्मा दबी हुई है वही सच्चा दलित है। हमारे शिक्षित भारतीयो मे अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रति ऐसी लज्जास्पद अनास्था जो दृष्टिगोचर हो रही है उसका विशेष कारण उनका नैतिक पतन है और इस पतन का विशेष कारण उनकी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली है। वे कालिदास और भवभूति को नही जानते, लेकिन शेक्सपीयर और मिल्टन के पात्रो की छान-बीन और टीका-टिप्पणी मनोयोग-पूर्वक किया करते हैं। भाषा उनकी ऐसी विचित्र और बेढगी हो गई है कि वह जमीन की है न आसमान की। न तो वे अँगरेजी मे ही योग्यता-पूर्वक लिख-बोल सकते है, न फिर वे अपनी मातृभाषा पर ही कोई अधिकार रखते हैं। बहुत-से हिन्दुस्थानियो को यह कहने मे भी सकोच नही होता कि मैं अँगरेजी में जितना अच्छा लिख-बोल सकता हूँ, उतना हिन्दी में नही। पारस्परिक सभाषणो मे वे हिन्दी-अँगरेजी की मिलावट से बने हुए कुछ ऐसे बेढगे वाक्य मुँह से निकालते है कि एक सस्कृत कानो मे वे बेहद खटकते हैं। अँगरेजी माध्यम से शिक्षित होने के कारण उनके विचार धुँधले रहते हैं। बुद्धि उनकी परावलम्बी हो गई है। विषयो के मनन और अभ्यास मे पश्चिमी ग्रथकारो को वे अधिक प्रामाणिक समझते हैं।

"नेटिव्ह की क्या सनद है साहब कहे तो मानूँ।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-प्रतिभा को हमने तभी स्वीकार

किया जब पश्चिमी विद्वानो ने उनको 'गीताञ्जलि' के लिए उन्हे नोबेल पुरस्कार दिया। स्वामी विवेकानन्द को महत्ता का परिचय हमें तभी मिला जब अमेरिका ने उनकी कदर की। इस तरह हम अपने ही महापुरुषो को स्वतन्त्ररूप ने पहचानने मे अक्षम हो रहे है। हमारी बुद्धि का यह परावलम्बी वृत्ति हमारी विद्वत्ता के लिए लाछन-स्वरूप है। यह बौद्धिक हीनता हमारे लिए गौरव की वस्तु नही है।

इस तरह हमारे शिक्षित भारतीयो के न तो विचार स्पष्ट है, न उनकी बुद्धि स्वतन्त्र है। न तो उनके दृष्टिकोण में भारतीयता है, न उनका सज-धज और रहन-सहन मे। न तो उनकी भाषा ही परिमार्जित हिन्दी रहती है, न उसके भाव ही ऐसे उदार होते जैसा कि होना चाहिए। न तो उनमें हृदय की बात स्पष्ट रूप से कहने का नैतिक साहस है, न अपने को हिन्दुस्थानी कहने का स्वाभिमान ही है। वे एकदम 'इनफीरिआरिटी काम्प्लेक्स' के शिकार है। जहाँ एक अँगरेज तन कर खडा होता है वही पर एक हिन्दुस्थानी नतकाय होकर विनम्र खडा रहता है। अतएव एक हिन्दुस्तानी और अँगरेज के बीच सच्ची मित्रता कठिन ही नही, एक प्रकार से असम्भव है। जब तक दासता का कलक हिन्दुस्थानी के मत्थे लगा रहेगा, तब तक वह आदर और प्रेम का पात्र ससार में नही हो सकता। तभी तो लाला जी ने अपनी दर्दभरी आवाज मे इस आशय के मार्मिक उद्‌गार निकाले थे।

"मै इंगलैंड को गया और फ्रास को भी गया। मैंने जर्मनी की भी यात्रा की और अमेरिका का भी भ्रमण किया। परन्तु जहाँ जहाँ मैं गया, अपनी गुलामी का बिल्ला साथ साथ लेता गया। परतन्त्रता-रूपी कलक का टीका मेरे मस्तक पर लगा हुआ था।" जिस सन्तप्त हृदय ने ये शब्द निकले है उसमें स्वाभिमान की कैसी आग थी! आत्म-ग्लानि की कैसी अभिनन्दनीय भावना थी! इस पुरुषोचित भावना को इस विनीत लेखक का कोटिश नमस्कार है।

इस तरह पराधीनता के वातावरण में हमारा जातीय जीवन बिलकुल नैतिकता-शून्य हो चुका है। जहाँ देखें, वही हमारे अध पतन के लक्षण दिखाई देते है। क्या स्कूलो में, क्या कालेजो में, क्या दफ्तरो में, क्या सार्वजनिक सस्थाओ में, क्या अदालतो में, क्या बाहरी लेन-देन में, सभी बातो में हिन्दुस्थानी स्वभाव गिरा हुआ दिखाई देता है। अदालती कार्रवाइयो मे तथा मामले-मुकदमो में तो लोग ईमान-धर्म की कसम खाकर भी ऐसे निश्चिन्त होकर झूठ बोलते हैं कि कुछ कहा ही नही जा सकता। हिन्दुस्थान के लोगो में व्यक्ति-गत स्वार्थ-परता पल्ले दर्जे की पहुँच चुकी हैं। एक दूसरे के साथ इस तरह रहते हे जैसे कि ३६ के अक में तीन और छ रहते हैं। एक मनुष्य यदि दूसरे के प्रति अनाचार करता हो तो दस हिन्दुस्थानी चुपचाप खडे खडे तमाशा देखा करते हैं। अन्याय का निर्भयतापूर्वक प्रतिकार करनेवाला उनमें से कोई विरला ही निकलता है। दूसरो की तकलीफो को अपनी समझने की उदार बुद्धि उनमें नहीं है। यहाँ तक कि अब दो भाई भी आपस में मिलकर नही रह सकते। जानते-बूझते हुए भी वे अपनी नासमझ और अपढ स्त्रियो को सलाह मानकर हमारे प्राचीन सयुक्त कुटुम्ब (Joint family system) की सुन्दर प्रणाली को नष्ट करते जा रहे हैं। इस प्रकार एक दूसरे की सहायता से वंचित होकर हम अकेले-अकेले स्वार्थ-साधन में भी विफल होते जा रहे हैं। हम इस बात को समझते ही नही कि कुटुम्ब, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की सेवा में अपने को खो जाना ही आत्म-प्राप्ति का सच्चा उपाय है।

"जिसने दिल खोया उसे सब कुछ मिला,
फायदा देखा इसी नुकसान में।"

सगठित रूप से काम करने की शक्ति हमारे लिए दुर्लभ हो रही है। हमारे सम्बन्ध में यदि कोई सक्षिप्त परिचय माँगे तो कम से कम हम तो यही कहेंगे कि जिस देश में हर एक आदमी अपने अढाई चावल की खिचडी अलग पकाता है उसी का नाम हिन्दुस्थान है।

जो अत्यन्त स्वार्थी है, वही हिन्दुस्थानी मनोवृत्ति है। कोरे मौलिकता-शून्य नकलची यदि कहीं मिल सकेंगे तो वे इस देश के शिक्षित समाज में ही सुलभ होंगे। आंख मूंद कर विदेशियों की नकल करना, आधे कच्चे, आधे पक्के हिन्दुस्थानी शिक्षितों के ही पल्ले पड़ा है। इन्होंने एक तरह से अधगोरों के समान अपनी एक जाति बना ली है। स्वयम् कोई बड़े विद्वान् न हों, पर जन-साधारण से मिलना अपनी 'पोज़ीशन' से बाहर समझते हैं। विदेशियों के दुर्गुण तो उन्होंने ले लिये, पर उनके सद्गुणों से बिलकुल शून्य हैं। उनकी पोशाक ले ली, पर उनका पौरुष छोड़ दिया। उनकी विलास-प्रियता ले ली, पर उनकी कर्मण्यता से मतलब नहीं। उनकी रहन-सहन इन्हें पसन्द है, पर उनके समान जीने और मरने का माद्दा बिलकुल नहीं है। विदेशी सभ्यता से दीक्षित भारतीय शिक्षित समाज की यह 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली बनावट एक विचित्र रचना है। ऐसी भदेस रचना परतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। सर्व-साधारण हिन्दुस्थानी स्वभाव का परिचय लेना हो तो मेलों में, बाजारों में तथा रेलगाड़ी के डब्बों में देखिए, जहाँ कई प्रान्तों के तथा कई प्रकार के लोग इकट्ठे हो जाते हैं। ऐसे स्थानों में हिन्दुस्थानी मनोवृत्ति का परिचय खूब मिलता है। परिस्थिति की लाचारी से लोग एक ही डब्बे में यात्रा करते हैं, एक साथ सिमट कर उन्हें बैठना भी पड़ता है, पर वे एक दूसरे को अपने से नीच समझ कर आपस में झिझकते हैं। एक पंजाबी एक मद्रासी को ऐसे कौतूहलपूर्ण नेत्रों से घूर कर देखता है, मानो उसके सामने कोई विदेशी खड़ा हो। एक बार जो डब्बे के भीतर घुस पड़ा, वह फिर दरवाजे पर पहरेदार होकर बैठ जाता है और दूसरे यात्रियों से यही कहता जायगा कि यहाँ जगह नहीं है, किसी दूसरे डब्बे में जाओ। दूसरे डब्बे का भी वही हाल होता है। स्त्रियाँ, बच्चे लेकर स्थानाभाव के कारण खड़ी रहती

है और हिन्दुस्थानी पुरुष पैर तान कर सोते नज़र आते हैं। उनमें पौरुष तो क्या, इतना मनुष्यत्व भी नहीं कि एक भी आदमी अपनी जगह खाली कर दे और खड़ी हुई स्त्रियों से यह कहे कि "बहनो, यहाँ बैठो।" इन पंक्तियों के लेखक ने ऐसे बहुत-से दृश्य अपनी थोड़ी-सी रेल-यात्रा में देखे हैं। हमारे सहृदय पाठकों ने भी देखा होगा। ये बातें मामूली नहीं, हमारे निन्दनीय नैतिक पतन के सूचक हैं।

सारांश यह कि हिन्दुस्थान से पुरुषार्थ बहुत कुछ उठ चुका है। हमारी अन्तरात्मा डरी हुई और आतंकित है। हम लोगों में जो सुसंगठन दिखाई देता है, वह कोई शूरोचित सरलता तथा अनुशासन-प्रियता का परिणाम नहीं है। वह हमारे दब्बूपन का प्रदर्शन-मात्र है। हममें से जो सरकारी नौकर हैं, उनके सम्बन्ध में यदि कोई बात न कही जाय तो ही अच्छा है। वे तो कदाचित् उस बात को भूल ही गये हैं कि हिन्दुस्थान की उनको पैदाइश है, और वे यहीं मरेंगे भी। नौकरी बजाना और अपनी तनख्वाह पकाना ही उनका ध्येय है। 'लॉयल्टी' उनमें सरकार की भी नहीं, केवल अपने स्वार्थ की है। हिन्दुस्थानियों की बनिस्बत एक अँगरेज अफसर की मातहती उन्हें अधिक पसन्द होती है। ऊँचे से ऊँचा हिन्दुस्थानी आफिसर भी अपनी कार्रवाइयों में उतनी निरपेक्ष बुद्धि से काम नहीं ले सकता जितना एक अँगरेज शासक दिखा सकता है। बौद्धिक योग्यता में वह अँगरेज से कम नहीं होता, लेकिन अपने मनुष्यत्व में वह अँगरेज की किसी तुलना में नहीं आ सकता।

इस तरह हम अपने जातीय जीवन के किसी भी क्षेत्र का निरीक्षण करें, हमारे नैतिक पतन का वही लज्जास्पद रूप आँखों के सामने आता है। नैतिक बल के बिना मनुष्यत्व सम्भव नहीं और बिना मनुष्यत्व के मनुष्योचित स्वाधीनता भी असम्भव है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य।'

भारतीयों को जब उनके घर हिन्दुस्थान में ही अनेक प्रकार के अपमानों का भाजन बनना पड़ता है तो बाहर अन्यान्य देशों में सन्मान

की सम्भावना कैसी ? 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। करि विचार देखहु मन माहीं॥'

यों तो हमारे इस देश में जितने लोक-नायक नेता उत्पन्न हुए, उनमें से सभी ने अपने आचरण के द्वारा हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करके हमारा नैतिक बल न्यूनाधिक अंश में जरूर बढाया। परन्तु इस सम्बन्ध में महात्मा जी को जो सफलता मिली है वह अद्वितीय और महान् आश्चर्य की बात है। इन बीस वर्षों के अन्दर इस अदम्य साहसी ने भारत के स्वाभिमान को इतना जाग्रत कर दिया है कि वर्तमान समय में ऐसे लोगो की सख्या कम नहीं है जो अपने निश्चय-पथ पर आरूढ रहने के लिए हर हालत में तैयार है और जो अपने शुभ सकल्प की वलि-वेदी पर मिट जाने के लिए प्रस्तुत हो सकते है। सत्याग्रह-आन्दोलन के जमाने में जिन लोगो ने छोटे छोटे बच्चो और स्त्रियो को पुलिस के डण्डों का तिरस्कार करते हुए अपने प्यारे राष्ट्रीय झडे की मान-रक्षा के लिए गोरे सिपाहियो से छीना-झपटी करते देखा होगा, उन्हे यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि महात्मा जी की बदौलत हम हिन्दुस्थानियो की नैतिक योग्यता अल्पकाल ही में कितनी अधिक बढ चुकी है। जिस समय हमने यह देखा कि एक अदने से अदना स्वयम्-सेवक सरकारी इजलास में खड़ा होकर ऐसा कह सकता है कि मै इस अदालत की कार्रवाइयो को हरगिज नहीं मानता, उस समय हमें विश्वास हो गया कि बूढे भारत की रीढ सीधी हो गई है और वह आज अपने नव-यौवन के विकास-पथ पर अग्रसर हो रहा है। 'मार्शल लॉ' के जमाने में जहाँ एक भी नौजवान ऐसा नही मिला जो 'यूनियन जैक' को सलाम करने से निर्भयता-पूर्वक इनकार कर दे, वहाँ गुजरात के इस नीतिमान् सेनानी ने सैकडो ऐसे बालक पैदा कर दिये जो अपनी सत्याग्रही शान में दृढतापूर्वक यह कहते हुए सुने जाते थे कि —

'दुश्मन के आगे सर न झुकेगा किसी तरह।
यह आसमाँ जमीं से मिलाया न जायगा।'

इसमें जरा भी सन्देह नही कि महात्मा जी के इस नैतिक सग्राम ने सैकडो आवारा फिरनेवाले चरित्रहीन नौ-जवानो को सार्वजनिक सेवा के पवित्र पथ पर आरूढ कर दिया। सैकडो परदेवाली भीरु महिलाओ को प्रचलित अनाचार का विरोधी बनाकर मातगिनी देवी का रूप दे दिया। सहस्रो अकर्मण्य और असमर्थ पुरुषो के हृदय में आत्म-गौरव की भावना जाग्रत करके उन्हे सियार से सिह बना दिया। हजारो की तादाद में डरपोक देहातियो को सगठित रूप में अन्याय को ठुकराने का नैतिक साहस दे दिया। जो लोग यह समझते है कि महात्मा जी का आन्दोलन विफल हो गया, वे समझते ही नही कि सफलता किसे कहते है और वह किस प्रकार मिल सकती है। इस विषय की चर्चा हम प्रसङ्ग आने पर आगे चलकर करेगे। अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि न सही स्वराज्य महात्मा जी के जीवन-काल में, परन्तु इस लोकनायक महापुरुष ने उसकी नीव इतनी गहरी डाल दी है कि इस नैतिक बल की बुनियाद पर जो राष्ट्र-निर्माण निकट भविष्य मे होगा, वह इतना सुदृढ, सगठित और स्थायी होगा कि इस मेदिनी-तल पर उसका सानी ढूँढने से भी न मिलेगा। इसमें सन्देह नही की महात्मा जी की दी हुई इसी नैतिक प्रेरणा के बल पर भारत एक दिन फिर विश्व-विजयी होगा, जरूर होगा। ससार के धर्म-गुरु की खोई हुई प्रतिष्ठा उसे फिर मिलेगी। फिर से वह उन्नत-भाल होकर इस दुराचार-ग्रस्त ससार मे शान्ति का स्थापन करेगा और भारतीय सभ्यता की पताका देश-देशान्तरो मे ऐसी उडेगी कि स्वयम् भारत के पूर्व-इतिहास में भी तद्वत् विश्व-व्यापी गौरव का उदाहरण दूसरा न मिल सकेगा। इस उज्ज्वल भविष्य का सेहरा अभी भी महात्मा जी के प्रशस्त ललाट पर लगा हुआ है। जिसकी प्रज्ञा की आँखें खुली हुई है, वह उसे देख सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते है —

"सकल पदारथ है जग माही। कर्म-हीन नर पावत नाही॥"

समार में सभो पदार्थ है, परन्तु उनका अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जो अपनी पुरुषोचित कर्मण्यता को उसका साधन बना सकेगा। मनुष्य के लिए मनुष्यत्व ही एक सबसे दुर्लभ पदार्थ है। जिसे वह प्राप्त हो गया, समार की सिद्धियाँ उसकी दासी होकर रहती है। मनुष्य अपनी इन्सानियत के आधार पर स्वराज्य ही क्या, साम्राज्य ही क्या, महर्षि विश्वामित्र के समान एक नई सृष्टि की रचना करके ईश्वर का प्रतिस्पर्धी हो सकता है। इसमें सन्देह नही कि मनुष्य का मनुष्यत्व एक ऐसा मौलिक पदार्थ है कि जिसके साधने से इहलोक और परलोक दोनो एक साथ सध जाते है। ऐसे अनमोल, देव-दुर्लभ पौरुष को देनगो हिन्दुस्थान को महात्मा जो मे प्रचुर परिमाण में मिली है, इसमें किसी को सन्देह हो क्या हो सकता है? मनुष्यत्व के विधायक इस लोकोत्तर पुरुष को हमारा कोटिश नमस्कार है।

अध्याय ८

आत्म-कथा

यह सृष्टि आदि से अन्त तक गुण-दोषमयी रचना है। अतएव इसके अन्तर्गत जितने जड पदार्थ तथा चेतन प्राणी विद्यमान है, उन सभी में गुण और दोष का मेल किसी न किसी अनुपात मे पाया ही जाता है। मनुष्य इस पार्थिव जगत् का सर्वश्रेष्ठ जीवधारी है। फिर भी वह इस व्यापक नियम का कोई अपवाद नहीं है। उसमे भी गुण और दोष दोनो पाये जाते है। अन्तर केवल इतना ही पडता है कि जड पदार्थ और मनुष्येतर जीवधारी अपनी भली-बुरी दोनो प्रकार की विशेषताओ को प्रकट रूप से धारण करते है और इस प्रकार उनका यथार्थ परिचय प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पडती। लेकिन मनुष्य एक चालाक प्राणी है। वह अपने ऐबो को भीतर दबाकर और गुणो को बाहर सजाकर रखने का अभ्यासी है। वह इस बात को पसन्द नही करता कि समाज के सामने उसके दोषो की प्रदर्शनी हो। इसी स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित होकर वह अपनी बुरी से बुरी प्रवृत्तियो को अपने जीवन के अन्त तक जन-समाज की आंखो से अदृष्ट रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस युक्ति के सिवाय उसमें दूसरी विशेषता यह भी देखी जाती है कि वह अपने छोटे से छोटे गुण को भी 'इन्डिया-रबर' के समान फैलाकर इतना बडा आडम्बर दे दिया करता है कि उसके विस्तार के परदे में अपने सारे ऐबो को छिपा लेता है। इस तरह बुरे से बुरे आदमी जन-समाज मे सभ्य से सभ्य स्वाँग बनाये हुए फिरा करते है। मूर्ख और अशिक्षित लोग तो इस स्वाँग-रचना में इतने सफल नही हो पाते, परन्तु चतुर, चालाक और शिक्षित आदमी

इस कार्य में बड़े सिद्ध-हस्त हुआ करते हैं और बहुत दिनो तक लोगो को अपनी असलियत से अनभिज्ञ बनाकर रख सकते हैं। इसी कारण मनुष्य की यथार्थ पहचान करना इतर प्राणियो की अपेक्षा बहुत कठिन काम है।

मनुष्य में यदि बोलने की शक्ति न होती, तो कदाचित् वह अपनी त्रुटियो को इतनी सफलतापूर्वक नही छिपा सकता। आत्मश्लाघा उसे स्वभावत प्रिय होती है। इसी स्वभाव का अवलम्ब लेकर वह अपने ही मुख से अपनी प्रशसा के बड़े-बड़े पुल बांधता है और उनके नीचे अपने दुराचरण का गन्दा पानी बहाया करता है। लोग ऊपर से निकल जाते हैं, उनकी दृष्टि एकाएक नीचे की ओर नही पड़ने पाती और यदि पड़ती भी है, तो कई दिनो के बाद, और बहुत ताक-झांक के उपरान्त। मनुष्य-स्वभाव की इसी चालाकी की ओर सकेत करते हुए किसी अंगरेज कवि ने ठीक ही कहा है—

For man is practised in disguise,
And cheats the most discerning eyes

इसमें जरा भी सन्देह नही कि मनुष्य के समान धोखा देनेवाला प्राणी इस जीव-सृष्टि में कोई भी नही है। दोष-गोपन के इस कुत्सित काम को वह अपनी वाक्शक्ति का दुरुपयोग करके आत्मश्लाघा के द्वारा ही बहुधा किया करता है। ससार में शायद ही कोई विरला मनुष्य होगा, जिसने अपने जीवन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपनी बड़ाई न की हो। दरिद्र या श्रीमान्, शिक्षित या अशिक्षित, सभी प्रकार के मनुष्यो में आत्म-प्रशसा करने की कुटेव न्यूनाधिक अश में पाई जाती है। अन्तर इतना ही पड़ता है कि गँवार आदमी अपनी तारीफ प्रत्यक्ष रूप से खुले एवम् भदेस शब्दो में किया करता है और अपने को सभ्य समझनेवाला शिक्षित मनुष्य उसी बात को पोशीदे ढग से कहता है। परन्तु आत्म-प्रशसा की आन्तरिक मनोवृत्ति दोनो की एक ही होती है। कुछ लोग जो अधिक चतुर होते है, इस अभिप्राय को

आवश्यकता से अधिक नम्रता तथा बनावटी आत्मनिन्दा के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अतएव हमारी यह निश्चित धारणा है कि अनावश्यक आत्मनिर्भर्त्सना मनुष्य के लिए उतनी ही बडी कमजोरी है, जितनी कि अनुचित आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति।

अपने विकास-पथ में उत्तरोत्तर अग्रसर होने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को इन दोनो प्रकार के दुर्गुणो से बचना चाहिए। सच पूछा जाय तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि अनुचित आत्म-प्रशसा करने की मानसिक प्रवृत्ति विशेषकर बडे लोगो की ही कमजोरी है। जो लोग समाज के साधारण आदमी होते हैं और जिन्हे जन-समाज मे किसी भी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त नही हो सकती, वे बेचारे अपने जीवन के दिन ससार के किसी अज्ञात कोने मे सन्तोष-पूर्वक बिता डालते हैं। परन्तु जो लोग परिस्थिति की अनुकूलता से कुछ मानसिक गुणो का अर्जन कर पाते हैं और इस कारण जिन्हे जन-समाज मे थोडी-बहुत ख्याति मिल जाती है, उनके लिए आत्मश्लाघा के अपराध से बचना बडा कठिन हो जाता है। अपने सम्बन्ध में उनकी धारणा भी उचित से बहुत ऊँची हो जाती है। अतएव इसमें सन्देह नही कि बडों के विकास-पथ में अवरोध डालनेवाली यह आत्म-स्तुति-प्रियता एक बडी जबर्दस्त अडचन है।

ससार के अधिकाश सर्व-साधारण लोग तो ऐसे होते है कि उन्हे अपनी कमजोरियो का ज्ञान ही नही रहता। ऐसे मनुष्यो के सामने आइना बनकर यदि कोई समझदार आदमी उनका दोष-प्रदर्शन करे, तो वे अपनी आँखे मूँदकर एकदम बिगड बैठते है। वे अपने दोषो को देखना ही नहीं चाहते। समझना चाहिए कि इन लोगों ने अपने मनुष्यत्व के विकास-पथ पर पैर ही नहीं रक्खा है। इन अधिकाश लोगो के अतिरिक्त जन-समाज में कुछ थोडे से ही आदमी ऐसे होते हैं, जिन्हे अपने गुण और दोष दोनो का सम्यक् ज्ञान रहता है। परन्तु ऐसे अल्प-सख्यक लोगो में से अधिकाश मनुष्य अपनी अच्छाई और

बुराई की गठरी अलग-अलग बाँधकर रखते हैं। गुणों की गठरी वे सामने रखते हैं और बुराइयों की गठरी अपनी पीठ पर इस इच्छा से लाद लेते हैं कि समाज का ध्यान उसकी ओर अनायास आकृष्ट न होने पावे। इन पंक्तियों के लेखक का ऐसा विश्वास है कि समाज की बाल्यावस्था से आज तक ऐसे सत्पुरुष विरले ही हुए होंगे, जिन्होंने अपने गुण और दोष दोनों को ईमानदारी के साथ जन-समाज के सामने खोलकर रख दिया हो। अपने गुणों का बखान तो अच्छे से अच्छे भी आदमी किया करते हैं, परन्तु अपराध स्वीकार करने की नैतिक क्षमता एक ऐसी चीज है, जो सर्वथा दुर्लभ है। वह बड़े से बड़े लोगों में भी नहीं पाई जाती। आमतौर पर समाज में यत्र-तत्र और सर्वत्र आत्म-स्तवन की अभिरुचि ही दृष्टिगोचर होती है।

आत्म-चरित्र लिखने की जो एक नई मानसिक प्रवृत्ति बड़े लोगों में आजकल दिखाई देती है, वह अधिकांश में इसी आत्म-स्तुति-प्रियता से प्रेरणा प्राप्त करती है। यह प्रथा पश्चिमी है और पाश्चात्य सभ्यता का व्यक्तिवाद इस प्रवृत्ति का प्रेरक है। अपने को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की अप्रशंसनीय मनोवृत्ति ही अधिकांश लोगों को आत्म-चरित्र लिखने के लिए उत्तेजना देती है। पश्चिमी देशों में जिन मनुष्यों को जीवन के किसी क्षेत्र में ख्याति मिल जाती है, उनमें से अनेक लोग अपना चरित्र आप ही लिख छोड़ते हैं। पाश्चात्य साहित्य में आज तक ऐसे कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और विद्यमान हैं। हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि इन पुस्तकों से जन-समाज ने कोई लाभ उठाया अथवा नहीं। दो-चार तो हमने भी देखे हैं, पर उन्हें पढ़ जाने के बाद हमें यह धारणा बनानी पड़ी है कि उनके लेखक यदि अपने को इस प्रकार अमर बनाने का प्रयत्न न करते, तो समझदार लोगों की राय में वे कदाचित् अधिक ऊँचे प्रतीत होते। हमारे भारतवर्ष में तो बड़े बड़े कवि, सत्पुरुष तथा विद्वान् लोग अपने

चरित्रो को इतने अज्ञात छोड गये है कि आज दिन वे विचारको के बीच विवाद के विषय हो रहे है ।

यथार्थ में सफलतापूर्वक आत्म-निरोक्षण कर सकना मनुष्य का बडे से बडा गुण है। ज्ञानवान् मनुष्य ससार की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्याओ को समझ लेता है, परन्तु अपने लिए वह स्वय ऐसी समस्या है कि उसे सफलतापूर्वक हल करना योग्य से योग्य विद्वानो के लिए भी एक दुष्कर कार्य है। फिर भी मानना होगा कि जिन थोडे से सत्पुरुषो को बौद्धिक समता पर्याप्त अश मे प्राप्त हो चुकी है, उनके लिए अपने गुण-दोष का यथार्थ परिचय प्राप्त करना सर्वथा सम्भव और शक्य है । इस प्रकार योग्यतापूर्वक आन्तरिक आत्म-परीक्षा करना मुश्किल तो है ही, परन्तु उसी ईमानदारी के साथ परीक्षा-फल को ससार के सामने प्रकाशित करना मनुष्य के लिए कठिन से भी कठिन काम है। हमारी धारणा है कि सभ्य ससार मे आत्म-चरित्र का लिखने-वाला ऐसा कोई भी प्रसिद्ध पुरुष नही हुआ, जिसने अपने दोषो की गम्भीर परीक्षा करके उन्हे जन-समाज के सामने मुक्त-कठ से प्रकट भी किया हो। इसमे सदेह नही कि दोष-स्वीकार के लिए जिस नैतिक वल की आवश्यकता होती है, वह देवदुर्लभ है।

अपनी बुराइयो को प्रकट करने में जो मानसिक कठिनाई प्रतीत होती है, वह ख्याति के अनुपात मे बढ जाती है। अधिकाश ख्यातनामा पुरुष ससार मे ऐसे होते है, जिन्हे लोग एकदम साधु या महात्मा तो नही समझते, परन्तु उनके अन्यान्य मानसिक गुणो के कारण उन्हे मान देते है। वर्तमान काल के हिटलर, मुसोलिनी, लेनिन, कमाल पाशा तथा डी-वेलेरा सरीखे प्रथम श्रेणी के नेताओ की गणना ऐसे ही प्रसिद्ध पुरुषो मे की जा सकती है । जिस पश्चिमी सभ्यता में राष्ट्र-सघ के प्रतिनिधियो के लिए भले-बुरे सभी तरह के भौतिक भोगो का खुले-आम प्रवन्ध करना क्षतव्य माना जा सकता

है, वहाँ नैतिक आचरण की पवित्रता नेतृत्व के लिए अनिवार्य नहीं मानी जाती। फिर भी ऐसे जन-समाज में भी जिन लोगों ने आत्म-चरित्र लिखने का निष्फल प्रयत्न किया है, उन्होंने अपनी नैतिक त्रुटियों को आवश्यकतानुसार प्रकट करने की नैतिक क्षमता नहीं दिखाई। परन्तु भारत-सरीखे देश में जहाँ आचरण की पवित्रता ही पूजी जाती हो एक ऐसे आदमी के लिए जो कि महात्मा की हैसियत से लोगों के हृदय पर आसन मार चुका हो, अपने वर्तमान तथा विगत दोषों का निरपेक्षभाव से उद्घाटन कर देना एक ऐसे विलक्षण साहस का काम है, जो मनसा, वाचा, कर्मणा से नमस्कार करने योग्य है। अतएव हमारी यह निश्चित धारणा है कि गाधी जी की आत्म-कथा ससार के साहित्य में एक अद्वितीय रचना है।

महात्मा जी अपने नैतिक उपदेशों की बदौलत महान् है। परन्तु अपनी भूलो को स्वीकार करके वे महान् से भी महान् हो गये है। यथार्थ में आत्म-चरित्र लिखने का उनके समान अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है, जिसने स्वाभिमान की मर्यादा को अटल रखते हुए अपने को विनीत से भी विनीत बना लिया हो। जो आदमी अपने को बड़ा समझता है, वह इस विशाल ससार में तुच्छ से भी तुच्छ है। उसे चाहिए कि अपने ज्ञान की आँखो को खोलकर इस व्यापक सृष्टि की ओर जरा दृष्टिपात करे। अनन्त आकाश में असंख्य सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती है। उन असख्य सृष्टियों में एक से एक बढकर गणना-तीत प्राणी विद्यमान है। इस व्यापक सृष्टि-प्रपच में यदि हम अपनी समूची पृथ्वी के समस्त विद्वानो, लोकनायक नेताओं तथा महापुरुषों को एकत्र करके उन्हे एक ही व्यक्ति का रूप दे डालें, तो भी वे कुल मिलाकर इस निखिल ब्रह्माड में एक रजकण की प्रतिष्ठा को प्राप्त हो सकेंगे या नहीं, इस बात पर हमें सन्देह है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह जगत् इतना व्यापक एवम् इतना महान् है और इसके अन्तर्गत एक से एक बडे विद्वान् और महापुरुष इतनी अगणित सख्या में

विद्यमान है कि समझदार मनुष्य के लिए अपने व्यक्तित्व पर अभि-मान करने की जरा भी गुंजाइश नही रह जाती।

इस विशालकाय विश्वरचना की ओर देखकर अपनी तुच्छता प्रकट करते हुए एक भक्त-हृदय विश्वविधाता से नम्रतापूर्वक कहता है—

अगणित हैं विश्व तेरे, जिनमें असख्य प्राणी।
उनमें मैं अपनी गिनती, प्रभु, कौन-सी गिनाऊँ॥

अतएव जो मनुष्य अपने को विश्वात्मा मे विलीन करके तुच्छ से भी तुच्छ समझता है, वही महान् है और उसे ही महापुरुष मानना सार्थक होगा। उसी महज्जनोचित विनय-भाव को प्रकट करते हुए अपने आत्मचरित्र की भूमिका मे महात्मा जी यो लिखते है—

"सत्य के शोधक को एक रज-कण से भी नीचे रहना पडता है। सारी दुनिया रजकण को पैरो तले रौंदती है, पर सत्य का पुजारी तो जब तक इतना छोटा नही बन जाता कि रजकण भी उसे कुचल सके, तब तक स्वतत्र सत्य की झलक भी होना दुर्लभ है।"

जो मनुष्य अपने को रजकण से भी तुच्छ समझता है, वह फिर अपने को दूध से धुला हुआ बिलकुल निर्दोष नही मान सकता। उसे अपनी त्रुटियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं और उसकी विनय-भावना उसे दोष-स्वीकार करने की नैतिक क्षमता भी प्रदान करती है। इसी लोकोत्तर भावना मे प्रेरित होकर महात्मा जी ने अपनी भूमिका के अन्त में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं.—

"पाठको को अपने दोषो का परिचय मैं पूरा पूरा कराने की आशा करता हूँ, क्योकि मुझे तो सत्य के वैज्ञानिक प्रयोगो का वर्णन करना है। यह दिखाने की कि मैं कैसा अच्छा हूँ, मुझे तिल-मात्र भी इच्छा नही।"

(महात्मा जी के आत्म-चरित्र में अन्यान्य गुण तो है ही, परन्तु उन (सबमें सबसे बडी और वन्दनीय विशेषता जो हमें दृष्टिगोचर हुई, वह उनकी अलौकिक स्पष्ट-वादिता एवम् दोष-स्वीकार करने की नैतिक क्षमता है।) अपनी बाल्यावस्था तथा यौवन की किसी भी भल-

-पर परदा डालने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है। उनको प्रकट करते समय अनिच्छा-जनित जो मानसिक कष्ट उन्हे हुआ है, उसका भी खुलासा उन्होंने कर दिया है। 'बाल-विवाह' शीर्षक अध्याय के आरम्भ में ही वे लिखते हैं —

"जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पडे तो अच्छा, परन्तु इस कथा में मुझे ऐसी कितनी ही कडवी घूंटें पीनी पडेंगी। सत्य के पुजारी होने का दावा करके मैं इससे कैसे बच सकता हूँ ?"

दोष-स्वीकार करने की यह विलक्षण प्रवृत्ति केवल आत्म-चरित्र ही में नहीं, बल्कि उनके जीवन के कई महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर दिखाई दे चुकी है। भला ऐसा कौन महान् से महान् लोक-नायक सेनानी होगा, जो विरोधी सत्ता को इतनी शान के साथ अपने आन्दोलन का बाकायदा नोटिस देकर चौरीचौरा हिंसाकाण्ड के बाद इस बात को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार भी कर ले कि वर्तमान वातावरण में जनतात्मक आन्दोलन का इरादा करके मैंने हिमालय के समान बडी भूल की है। स्वाभिमान और शान का खयाल किसी भी जन-समाज के नेता को ऐसा कहने से जरूर रोकता, लेकिन गाधी जी इस वर्ग के नेताओ में नहीं हैं। वे तो सत्य के अनन्य पुजारी हैं। जिस बात को उनकी अन्तरात्मा स्वीकार कर लेती है, उसे प्रकट करने मे फिर उन्हे कुछ भी सकोच नहीं होता। झूठी शान तो सासारिक लोगो का साधारण दुर्गुण है। उन्हे यह बात चौरीचौरा के हिंसाकाण्ड से जँच गई कि देश का वातावरण अहिंसात्मक आन्दोलन के अनुकूल नहीं है और फौरन इस सत्य को प्रकट-रूप से उन्होंने स्वीकार भी कर लिया। इस बात की चिन्ता उन्हे न हुई कि ससार उनके नेतृत्व के सम्बन्ध में क्या सोचेगा और क्या कहेगा। लोगो ने गाधी जी की इस घोषणा को नापसन्द भी किया। कई लोगो ने सरे आम यह भी कहा कि वे राजनीतिक क्षेत्र में नेता होने योग्य व्यक्ति नहीं हैं, महात्मा भले ही हो। परन्तु गाधी जी का सत्य-प्रेम अटल है। जो मनुष्य अपनी

बाल्यावस्था में ही हरिश्चन्द्र के समान सत्य-सघ होने का अभिलाषी था और जिसने ससार-क्षेत्र को सत्य की प्रयोगशाला करार दे रक्खा है, उसे फिर सत्य के सिवाय किसी बात की परवाह नही हो सकती। उनकी निश्चल सत्य-निष्ठा क्या कहती है, पाठक सुने—"मै तो चाहता हूँ कि चाहे मुझ जैसे अनेको का क्षय हो जाय, पर सत्य की सदा जय हो। अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज कभी छोटा न बने।"

कहने का तात्पर्य यह कि सत्यवादिता गाधी जी के जीवन की सर्वोपरि विशेषता हैं। यह एक ऐसी बात है कि जिसे उनके विरोधी आलोचक भी मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर चुके है। अतएव अपने गुण-दोष की छान-बीन में, भी उन्होने इसी सत्यनिष्ठा से काम लिया है। क्या लेखो में, क्या सार्वजनिक सभा-मचो पर, क्या पत्र-व्यवहार में, क्या पारस्परिक सम्भाषणो में, उनके हृदय का द्वार सदैव खुला रहता है। वे इस बात को कई बार स्वीकार कर चुके है कि महात्मा जी की उपाधि से मुझे मन ही मन लज्जित होना पडता हैं। आत्म-चरित्र की भूमिका में वे स्पष्ट शब्दो में स्वीकार करते है कि मै अपने विकारो को देख तो सकता हूँ, पर अब भी उन्हे निर्मूल नही कर पाया हूँ। महात्मा की उपाधि से भूषित होनेवाले मनुष्य के लिए अपनी त्रुटियो को इस प्रकार प्रकट रूप से स्वीकार करना महान् पौरुष का काम हैं। अपने इसी सत्याराधन का परिचय उन्होने अनेक छोटे-बडे प्रसगो पर दिया हैं। बडे प्रसग की चर्चा हम चौरीचौरा के सम्बन्ध मे कर चुके है। एक छोटे प्रसग का उदाहरण लीजिए—

विलायत की किसी आम-सभा मे सभी प्रकार के प्रश्नो का शान्ति-पूर्वक उत्तर देते हुए गाधी जी को देखकर किसी परिचित अँगरेज महिला ने उनसे कौतूहल-पूर्वक पूछा कि गाधी जी, आप कभी खिन्न अथवा अशान्त होते है या नही? इस प्रश्न के उत्तर में प्रत्युत्पन्नमति महात्मा जी ने तत्काल ही विनोदपूर्वक कहा कि यदि यह सवाल आप कस्तूरबा से करे, तो यथार्थ उत्तर आपको मिल सकेगा।

उनके कहने का आशय था कि लोग मुझे महात्मा के नाम से पुकारते हैं, परन्तु मेरी त्रुटियो का ज्ञान उन्हे नही है। उनकी जानकारी उसी को हो सकती है, जो हमेशा मेरे साथ रहती आई है। इसके प्रत्युत्तर में प्रश्न करनेवाली उस महिला ने हँसते हुए कहा कि 'मेरे पति तो मुझसे वडी सज्जनतापूर्वक पेश आते है, आप यह क्या कह रहे है?' गाधी जी ने फौरन जवाव दिया, "तव तो मुझे प्रतीत होता है कि इस प्रकार दूसरो के सामने अपने पतिदेव की तारीफ करने के लिए आपको उनसे खासी अच्छी रिश्वत मिली है।" आसपास के सुननेवाले इस सारगर्भित विनोद को सुनकर हँसने लगे। महिला चुप हो गई।

गाधी जी ने उस अँगरेज़ महिला को जो उत्तर दिया, वह भी एक कडवी घूँट थी। शकर जी हलाहल पान करके प्रसिद्ध हो गये है परन्तु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऐसे आदमी के लिए जिसे लोग ईश्वर का अवतार समझते हो, अपनी प्रच्छन्न कमजोरियो को ऐसी सचाई के साथ परिणाम का खयाल न करते हुए प्रकट कर देना एक ऐसा कठिन काम है कि उसे ससार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष ही कर सकता है। हमारे भारतवर्ष में ऐसे कई सन्त-महात्मा हो चुके है, जिन्होंने अपने भगवान् के सामने प्रेमाकुल होकर अपने दोषो की सूची वनाकर रख दी है, परन्तु वे सब ससार से विरक्त थे और लोकमत की उन्हें परवाह नही थी। गाधी जी प्रधानत जन-समाज के सेवक है और लोकमत के आधार पर ही उनके जीवन का सारा कार्य-क्रम अवलम्बित है। फिर भी वे अपने सम्बन्ध में खरी-खोटी कहने में नही चूकते। उनकी इस अचूक सत्यवादिता में ही उनके वडप्पन का रहस्य है।

सत्य-शोधन के मार्ग में उन्होने किसी पर किसी प्रकार की रियायत की हो, इसका एक भी उदाहरण हमें मालूम नही है। अपने पूज्य पिता के सम्बन्ध में भी उन्होने ऐसा कहने में सकोच नही किया कि 'मेरा खयाल है कि वे कुछ विषयासक्त होगे।' छाया के समान अनुगामिनी अपनी सुशीला धर्मपत्नी का भी दोषोद्घाटन उन्होने

केवल तीन रुपयो के लिए कर डाला। श्रीमती कस्तूरवा के पास आश्रम-नियम के विरुद्ध धोखे से तीन रुपये किसी समय रह गये थे। गाधी जी को इस वात की खबर लगी। जाँच करने पर मालूम हुआ कि वात सच थी। सम्पादकीय लेखनी तो हाथ में थी ही, उन्होने इस वात को अपने पत्र में निस्सकोच होकर प्रकाशित कर दिया। भला, जो आदमी अपनी नाजुक से नाजुक प्रसग की वुराइयो को भी प्रकट करने मे नही चूकता, उस सत्य-समर्थक से रियायत की आशा कैसी? पिता की मृत्यु के समय अपनी जिस विषयाधता की चर्चा उन्होने अपने आत्म-चरित्र में की है, उसको प्रेरणा देनेवाली नैतिक क्षमता सर्वथा लोकोत्तर है। वह इस दुनिया की चीज नही है। वे लिखते हैं कि 'यदि मैं विषयांध न होता तो अन्त समय तक पिताजी के पैर दवाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ होता।' कैसा मर्मभेदी दोष-स्वीकार है? सहृदय पाठक जरा विचार करें।

महात्मा जी ने आत्म-चरित्र लिखकर पाश्चात्य प्रथा का अनुसरण तो किया है, पर उन्हे प्रेरित करनेवाली लोक-सेवा की सद्भावना सर्वथा सतोगुणो है और पूर्वी विशेषता है। आत्मकथा का दूसरा नाम उन्होने 'सत्य के प्रयोग' दिया है। इस नाम की सार्थकता उनके लिखे हुए प्रत्येक पृष्ठ में झलकती है। केवल सत्य के पुजारी होने के कारण वे अपने जीवन में कैसे कैसे अनेक दुर्गुणो से वच गये, यही वतलाना उनकी आत्मकथा का प्रधान उद्देश्य है। वाल्यावस्था की भूलें, यौवन की विषयावता, सार्वजनिक जीवन के अपमान तथा वुरी सगति के दुष्परिणाम, इन सभी घटनाओ का वर्णन उन्होने ऐसी निरपेक्ष भावना से किया है कि हम सरीखे ससारी लोगो को पढकर अवाक् होना पडता है। अपनी त्रुटियो को जन-समाज के सामने खोल कर रख देने में अपनी प्रतिष्ठा और वडप्पन का जरा भी लिहाज उन्होने नही किया। गाधी जी का वर्तमान जीवन तो प्रतिक्षण इतना सार्वजनिक हो रहा है कि उनके पास अव छिपाने योग्य कोई रहस्य ही न रहा। क्या

सोते, क्या जागते, क्या चलते-फिरते, क्या खाते-पीते, वे हमेशा लोगो से घिरे रहते है। परन्तु मनुष्य का मन एक ऐसा स्थान है, जहाँ की क्रियाओ को केवल मन का स्वामी ही देख सकता है। इन मानसिक क्रियाओ की छान-बीन में महात्मा जी हमेशा लगे रहते है और जब कभी आवश्यकता होती है, उनका प्रसगानुकूल खुलासा कर देने में वे कभी नही चूकते। यह तो उनके वर्तमानकाल का आध्यात्मिक कार्यक्रम है। परन्तु उनके पिछले जीवन की बहुत-सी बातें जन-समाज के सामने प्रकट नही हो पाई थी। उन्ही रहस्यो का उद्घाटन गाधी जी ने अपनी आत्माकथा में किया है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्म-चरित्र लिखकर उन्होने अपने पूर्व-जीवन के दोष-परिहारार्थ प्रायश्चित्त ही किया है। यथार्थ में उनकी आत्मकथा केवल कथा नही, एक विलक्षण और असह्य मानसिक तपश्चर्या है।

गाधी जी की स्पष्टवादिता में एक और महत्त्व की बात है जो विचारवान् पाठको के लिए ध्यान देने योग्य है। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में सत्य के पुजारी होने का दावा करते हुए भी वे इस बात के दावीदार नही है कि उन्होने सत्य-सम्बन्धी जो धारणा स्थिर की है, वह अन्तिम है और उसमे परिवर्तन अथवा सुधार की आवश्यकता नही रह गई। वे आत्मकथा की भूमिका में इस बात को स्वीकार करते है कि "सत्य अब तक मेरे हाथ नही लगा है और अभी तक मैं उसका शोधक-मात्र हूँ; पर सत्य का किसी न किसी रूप में अवलम्ब लेना आवश्यक है, इसलिए जब तक परम और अन्तिम सत्य का साक्षात्कार नही हो जाता, तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।" इस स्वीकृति में महात्मा जी के आलोचको के लिए कुछ कहने-सुनने तथा कटाक्ष करने की कोई गुजाइश ही नही रह गई। सर्व-सम्मति से महात्मा कहलानेवाले के लिए अपने सत्यज्ञान-सम्बन्धी ऐसी असमर्थता प्रकट करना एक ऐसी बात है, जिसमें किसी भी आँखवाले को सत्य की

अलौकिक झलक दृष्टिगोचर हो सकती है। कम से कम इन पंक्तियों के लेखक को ऐसा प्रतीत हुआ है कि सत्य के सम्यक् और सम्पूर्ण-ज्ञान-सम्बन्धी असमर्थता प्रकट करके महात्मा जी ने अपनी सत्यनिष्ठा का एक उदार और मनोहर उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है। यह सत्याराधन उनके जीवन का सिरमौर है और उनकी महात्ता का साराश है। हम यह देख सकते है कि उनके सिर पर का ताज खालिस काँटो का बना हुआ है। परन्तु हमें यह भी दिखाई देता है कि जिन काँटो ने उनके मुकुट का निर्माण हुआ है, उनमे से प्रत्येक की नोक पर एक एक देदीप्यमान हीरा बँधा हुआ है। वह हीरा भूगर्भ से निकलनेवाला और सूर्य के उधारी प्रकाश से चमकनेवाला कोई जड पदार्थ नही है। वह तो अन्तःकरण के अन्तरतम प्रदेश मे आविर्भूत होनेवाला स्वय प्रकाशित सत्य-प्रेम है।

गरीब देवताओं ने बडे परिश्रम के बाद समुद्र-मन्थन के द्वारा चौदह रत्न निकाले। पर इस रत्न को वे भी न पा सके। जरूर पाते, यदि वे इस काम में दानवों से सहयोग न किये होते। महात्मा जी के पास आज यह रत्न सोलहो आने विद्यमान है, क्योंकि वे ऐसे सहयोग से पराङ्मुख हो चुके है।

श्री जयरामदास जी, श्री आनन्द तथा गाधी जी के अन्य दूसरे साथियो का ससार को उपकार मानना चाहिए, जिनकी प्रेरणा से यह आत्मकथा लिखी गई है। यो तो उनके सार्वजनिक जीवन के अथ से इति तक महात्मा जी की लेखनी चलती आई है तथा चल भी रही है। उनकी लिखी हुई अन्यान्य पुस्तकें तथा लेख-सग्रह भी प्रकाशित है। परन्तु यह आत्मकथा उनके लेखो में ही नही, वरन् सभ्य-ससार के साहित्य में भी बिलकुल बेजोड रचना है। इसकी जितनी प्रशसा की जाय, थोडी ही होकर रहेगी। जिस बेरहमी के साथ इस आत्मकथा के लोकोत्तर लेखक ने अपने जीवन के अन्तर्बाह्य का खुलासा किया है, वह इस पृथ्वी पर सत्य-निष्ठा का एक अमर उदाहरण होकर रहेगा, इसमें

हमें तिल-मात्र भी सन्देह नहीं है। आत्मकथा के हिन्दी-अनुवादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय जी के साथ हमारा भी यह विश्वास है कि 'यह उज्ज्वल कथा भूमण्डल के आत्मार्थियों के लिए एक दिव्य प्रकाश का काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्मा का अमर सन्देश सुनावेगी।'

अध्याय ६

जन्म-सिद्ध संस्कार

गाधी जी की आत्मकथा को विचार-दृष्टि से पढनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु के मन मे यह प्रश्न स्वभावत उपस्थित होता है कि इस समय एक विशाल वट-वृक्ष के समान पृथ्वी पर उनका जो बडप्पन छाया हुआ है, उसका बीज उन्हे कब और किस तरह प्राप्त हुआ। यह तो हम समझ चुके है कि उनकी महत्ता का मूल उनका सत्य-प्रेम है। पर सत्य से प्रेम करना उन्होने कब और किस तरह सीखा? उनकी स्वय लिखित जीवनी में तो हमें सत्य के प्रयोग ही मिलते है और उनके परिणामो का ज्ञान होता है। जीवन के प्रसगो पर सत्य के प्रयोग करने-वाले के मन में पहले निश्चल सत्य-निष्ठा चाहिए। यह निष्ठा तो गाधी जी के जीवन में हमें दिखाई देती है, परन्तु उनके हृदय मे उस धारणा का जन्म कब और किस प्रकार हुआ—इस गम्भीर और योग्य कौतूहल का निवारण उनकी आत्मकथा से बिलकुल नही होता। हम सरीखे जन-साधारण के लिए यह बडी निराशा-जनक बात है। इस अभाव के लिए हम गाधी जी को जवाबदार ठहराना नही चाहते इस सम्बन्ध में उनके लिए कोई चारा ही नही था। यदि वे अपनी सत्य-निष्ठा को किसी घटना-प्रसङ्ग पर प्राप्त किये होते, तो उसे प्रकट करने में वे कभी न चूकते। लेकिन जो चीज उन्हे जन्म-गत सस्कार के रूप में मिली है, उसका पूर्व-इतिहास स्वय उन्हे ही मालूम नही है। फिर वे लोगो को क्या लिखकर बताते? यही उनकी कठिनाई थी।

ससार में कई लोग ऐसे भी होते है जिनके जन्म-सिद्ध सस्कार तो बुरे होते है, परन्तु वे अपने जीवन के उत्तर-काल में शिक्षा, सत्सग तथा

अनुभव की प्रेरणा से बहुत सुधर जाते है। यथार्थ में आत्म-सुधार ही जीवन का ध्येय है। महर्षि वाल्मीकि का उदाहरण हमारे आशय को अच्छी तरह प्रकट कर सकता है। उनके सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि अपने जीवन के पूर्व-काल में वे बडे दुराचारी थे । लूट-मार और डकैती से ही उनका जीवन-निर्वाह होता था। जिन दिनो वे अपनी दुष्ट-चर्या में मनसा, वाचा, कर्मणा सलग्न थे, किसी ने उनसे पूछा "भाई ! यह तो बताओ, कि यह सब तुम किनके लिए करते हो और लूट-मार से प्राप्त किये हुए तुम्हारे धन का उपयोग करनेवाले कौन है ? वाल्मीकि ने अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगो के नाम लिये। प्रश्नकर्ता ने तब उनसे कहा कि उन लोगो से जाकर ज़रा यह तो पूछना कि चोरी और डकैती में जो तुम्हे पाप लगता है और उसके कारण तुम्हे भविष्य में जो दण्ड मिलेगा, उसके हिस्सेदार होने के लिए वे लोग राजी है या नही ? वाल्मीकि के हृदय में यह बात चुभ गई। वे घर गये और अपने लोगो से उन्होने ऐसा ही प्रश्न किया। इस पर परिवार तो क्या, उनके स्त्री-बच्चो तक ने पाप में साझीदार होने से इनकार कर दिया। इस घटना ने वाल्मीकि की आँखें खोल दी। ससार की स्वार्थ-परता एव निस्सारता उनके नेत्रो के सामने अपने नग्नरूप में दृष्टिगोचर होने लगी। उस दिन से वाल्मीकि के विचार और आचार की दिशा ही बदल गई। कालान्तर में वे सत्य-निष्ठ होकर चाण्डाल से चतुर महर्षि हो गये। उनका अमर ग्रन्थ रामायण आज जन-समाज में श्रद्धा-पूर्वक पढा और सुना जाता है। आदिकवि की प्रतिष्ठा उन्हे ही प्राप्त है।

रामायण के दूसरे लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक गोस्वामी तुलसीदास जी के पूर्व-कालीन जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में भी इसी तरह की कथा प्रचलित है। वाल्मीकि के समान दुराचारी तो वे नही थे, पर ससार के सर्व-साधारण लोगो के समान वे विषयानुरक्त ज़रूर थे। अपनी स्त्री के बिना उन्हें एक दिन भी व्यतीत करना दुष्कर था। कहा जाता है कि किसी समय उनकी धर्म-पत्नी दो-चार दिनो के लिए अपने माँ-बाप के

घर चली गई। तुलसीदास जी को स्त्री का यह स्वल्प वियोग भी असह्य हो गया, यहाँ तक कि वे अधीर होकर दूसरे ही दिन उसके पास ससुराल पहुँच गये। उस साध्वी को अपने पति के इस व्यवहार से बड़ा क्षोभ हुआ। अतएव लज्जा-जनित क्रोध के आवेश में आकर उसने अपने विषयासक्त पति से कहा, 'महाराज! आपका यह व्यवहार सभ्य मनुष्य को शोभा देनेवाली बात नहीं है। इस हाड़-मास के बने हुए शरीर पर आप इतने अनुरक्त दिखाई देते है। यदि यही अनुराग आपको भगवान् के भजन में हो, तो आपका कल्याण हो जाय।' गोस्वामी जी इस सार-गर्भित कटूक्ति को सुनकर गम्भीर हो गये। उसी क्षण वे अपनी ससुराल से वापस चले आये और तत्पश्चात् उन्होंने अपनी जीवन-चर्या ही बदल दी। आज गोस्वामी तुलसीदास जी की राम-निष्ठा से कौन परिचित न होगा? जन-समाज के लिए उनकी भाषा-रामायण स्थावर आध्यात्मिक सम्पत्ति है और साहित्य की मनोहर से मनोहर रचना मानी जाती है।

इसी तरह की कहानी कृष्ण-भक्त सूरदास जी के सम्बन्ध में भी सुनी जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त महापुरुषो के जीवन-चरित्रो को पढकर हम अनायास समझ सकते हैं कि उनकी सत्य-निष्ठा का सूत्रपात कब और किस तरह हुआ। हम यह जान सकते है कि अपने जीवन के पूर्वार्जित अनुभव का अवलम्ब लेकर उन्होंने प्रसङ्गविशेष में किसी खास घटना से चिरस्थायी शिक्षा ले ली। और इस प्रकार दीक्षित होकर वे साधारण मनुष्य से जीवन्मुक्त साधु, महात्मा तथा महोपदेशक हो गये। गाधी जी के जीवन में ऐसे आकस्मिक परिवर्तन का परिचय हमें कही भी नही मिलता। उनकी आत्मकथा से यह बात तो मालूम होती है कि यौवन के पूर्वार्द्ध में उनमें काम-लिप्सा सर्व-साधारण ससारी लोगो के समान ही थी। परन्तु इसे हम मामूली प्राकृतिक प्रेरणा के सिवा कुछ नही कह सकते। एक पत्नी-व्रत की विशुद्ध मानसिक भावना भी विषयासक्ति के साथ उनमें विद्यमान थी और इस सद्भावना ने उन्हें

कई कठिन प्रसगो पर नैतिक पतन से सुरक्षित रक्खा। उनकी चर्चा महात्मा जी ने निस्सकोच होकर की है और यह स्पष्ट-वादिता केवल उन्ही की विशेषता है। विषयासक्ति से वे अपनी यौवनावस्था में ही धीरे धीरे विरत होने लगे और जिस समय ससार के समस्त साधारण लोगो में यौवन की प्रेरणा बनी ही रहती है, ठीक उसी अवस्था में ही उन्होने ब्रह्मचर्य धारण करने का सकल्प भी कर लिया। इस निश्चय के लिए उन्हे गोस्वामी तुलसीदास के समान किसी मर्म-भेदी नसीहत की आवश्यकता नही हुई। न फिर सूरदास के समान उन्हें लाचार होकर अपनी आँखें फोडने की नौबत ही आई। विषयासक्ति से यौवनावस्था में ही विरक्ति का आविर्भाव हो जाना एक ऐसी अनोखी मानसिक निवृत्ति है जो जन्म-सिद्ध सस्कार के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

लेकिन महात्मा जी को विषय से विराग उसी क्रम से होने लगा, जिस क्रम से वे सार्वजनिक सेवा में सलग्न होने लगे। लोक-सेवा के मूल में मानव-प्रेम था और इस प्रेम को प्रेरणा देनेवाली उनकी हृदय-गत सत्या-राधना थी। इस प्रकार उनकी उत्तरोत्तर बढनेवाली नैतिक महत्ता की जननी सत्य-प्रियता ही थी। अभी तक वे यही कहते आये हैं और आज विश्व-विश्रुत महात्मा हो जाने के बाद भी उनका यही कहना है कि उनकी सारी खटपट, अविराम परिश्रम-शीलता, तथा लोक-सेवा केवल सत्य की तलाश के लिए ही है। उनके कथनानुसार वह परम सत्य उन्हें अभी हस्तगत नही हुआ है, पर उसकी झलक उन्हें समय-समय पर अवश्य दिखाई देती है। कहने का साराश यह कि गाधी जी के विगत और वर्तमान जीवन को स्फूर्ति देनेवाली भावना एकमात्र सत्य-निष्ठा ही है। इसी निष्ठा से प्रेरित होकर अपने जीवन में उन्होंने सत्य के अनेक प्रयोग किये है और उनसे उन्हें सन्तोष ही हुआ है। ऐसे प्रयोग उनके अभी तक जारी हैं और तब तक चलते रहेंगे, जब तक उन्हें सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन न हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सत्य-निष्ठा उन्होने कब और किस

तरह प्राप्त की। इस सम्बन्ध में हम पहले ही सकेत कर चुके है कि गाधी जी की आत्मकथा से इस वात का पता नही लगता।

यदि कोई मनुष्य गगा जी के उद्गम-स्थान का पता लगाने के लिए कलकत्ते से रवाना हो और किनारे किनारे चलता जावे, तो हरिद्वार के आगे गगोत्तरी तक तो वह मजे में चला जायगा, लेकिन फिर इस वात का अनुमान करना भी उसके लिए कठिन हो जायगा कि उसके आगे गगा जी की धारा सूक्ष्म रूप से किस प्रकार और किस स्थान-विशेष से निकली है। ठीक उसी तरह गाधी जी की माहात्म्य-गगा का पावन प्रवाह तो हमें उनके जीवन में दिखाई देता है और किनारे किनारे चले जाने पर हमें कुछ दूर तक वह आगे भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अन्त में इस वात का पता नही लगता कि आखिर इतनी वडी धारा किस सूक्ष्म रूप में और कहाँ से निकली है। महात्मा जी की सत्य-निष्ठा-रूपी सरिता का सूक्ष्म रूप हमें उनकी वाल्यावस्था में ही दृष्टिगोचर होता है और ऐसी अवस्था में जव कि ससार के सर्वसाधारण वालक स्वाभाविक प्रेरणा से ही झूठ वोलने लगते है और सत्य की उन्हे कल्पना तक नही होती। गान्धी जी अपनी आत्मकथा में लिखते है कि वचपन में उन्हे सत्य हरिश्चन्द्र का नाटक देखने को मिला। उनके नन्हे-से हृदय पर उस नाटक का वडा प्रभाव पडा, यहाँ तक कि उस खेल को देखने के लिए उनका जी वार वार ललचाता। परन्तु पैसे कौन देता। अतएव वे मन ही मन उस नाटक के दृश्यो को दुहराया करते, हरिश्चन्द्र की मानसिक दृढता की प्रशसा करते और उन पर आई हुई आपत्तियो पर एकान्त में आँसू भी वहाते। कई वार उनके वाल-हृदय में यह प्रश्न भी उठता कि ससार के सभी लोग हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी क्यो नही होते। उस विचार के साथ-साथ उनके हृदय में यह भी आकाक्षा उदय होती कि हरिश्चन्द्र के समान सत्य-समाराधक मै भी वन जाऊँ और उन्ही के समान सत्य के नाम पर कष्ट सहन करने की क्षमता मै भी प्राप्त करूँ।

महात्मा जी की प्रौढावस्था में लोक-सेवा की जो लोकोत्तर लगन दिखाई देती है, उसका भी सूक्ष्म रूप हमें उनकी बाल्यावस्था में ही दृष्टिगोचर होता है। अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं कि स्कूल की पुस्तकों के सिवाय वे दूसरी किताबें नहीं पढते थे। परन्तु एक मौक़ा ऐसा आया कि श्रवण-पितृभक्ति नामक एक छोटी-सी पुस्तक उन्हें अपने पिता की मेज़ पर पड़ी हुई मिली। कौतूहलवश उन्होंने उसे उठा लिया और पढने लगे। उसे पढ जाने के बाद श्रवण की मातृ-पितृ-भक्ति का बड़ा गहरा प्रभाव उनके हृदय पर पड़ा। उसी दिन से श्रवण-चरित्र के अनुकरण करने की प्रवृत्ति उनके मन में जाग्रत हो गई। परन्तु इसके भी पहले उनके हृदय में माता-पिता तथा बड़े-बूढों के प्रति भक्ति-निष्ठा वर्तमान थी। श्रवण-चरित्र ने उन्हें एक आदर्श दे दिया। यही बात सत्य-निष्ठा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

इस प्रकार विचारवान् पाठक देखेंगे कि शैशवावस्था में ही गांधी जी के हृदय पर हरिश्चन्द्र नाटक और श्रवण-पितृ-भक्ति का चिरस्थायी प्रभाव पड़ चुका। आज यदि हम उनके बड़प्पन को एक विशाल गगन-चुम्बी इमारत का रूपक देना चाहें, तो हमें उस भवन के दो आधार-भूत स्तम्भ दिखाई देते हैं। एक तो है लोक-सेवा और दूसरी है सत्यनिष्ठा। इन दोनों का सूक्ष्म सूत्रपात उनकी बाल्यावस्था में ही हो चुका था। किसी प्रभावशाली नाटक को देखने तथा पुस्तक को पढने के बाद क्षणिक उत्साह का होना एक स्वाभाविक बात है, जो कई लोगों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। परन्तु ऐसे सत्प्रभाव का सदैव के लिए अमिट हो जाना और वह भी दस या बारह वर्ष की छोटी उम्र में, एक ऐसी असाधारण से असाधारण घटना है कि उसकी सम्भावना हम जन्म-गत संस्कार के बिना सिद्ध ही नहीं कर सकते। न जाने कितने बालक आज भी सत्य हरिश्चन्द्र का नाटक देखते होंगे तथा श्रवण-चरित्र भी पढते होंगे। पर ऐसे कितने निकलेंगे कि जिनके हृदय में श्रवण तथा हरिश्चन्द्र के अनुकरण करने की मानसिक आकांक्षा उत्पन्न होती होगी। यथार्थ में इन दोनों पुरुषों के चरित्र ऐसे

हैं कि वे वाल्यावस्था में साधारण लोगो को वडे शुष्क और नीरस प्रतीत होते हैं, शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो दूर ही रही। परन्तु वालक गाधी को इन चरित्रो में अटूट नैतिक सम्पत्ति मिल गई। आज उनके समान इस पृथ्वी पर ऐसा दूसरा श्रीमान् कौन है, जिसका कोष अक्षय हो और जिसका धन दोनो हाथो से पानी के समान वहाने पर भी उत्तरोत्तर वढता ही जाता हो। इस अविनाशी आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी महात्मा जी अपनी वाल्यावस्था में ही हो गये। ऐसे मनुष्य से वढकर सौभाग्य-शाली और कौन हो सकता है?

गाधी जी की लोकैषणा तथा सत्य-भावना केवल अपना आदर्श स्थापित करके ही शान्त न हुई। यह तो वहुत मामूली वात है और प्रत्येक पढा-लिखा मनुष्य इसे जानता है कि किन गुणो के लिए किन देवताओ तथा महापुरुषो को आदर्श मानना चाहिए। परन्तु जानकर ही क्या, प्रत्यक्ष आचरण में अनुकरण करने का शुभ सकल्प तथा नैतिक वल भी चाहिए। 'नायमात्मा वलहीनेन लभ्य'। परमात्मा का साक्षात्कार इस वल के विना सभव नही। यह नैतिक वल हमें गाधी जी में उनकी वालावस्था से ही दिखाई देता है। समय समय पर उन्होंने इस शक्ति का कैसे परिचय दिया, इस वात की चर्चा हम सत्याराधन शीर्षक अध्याय मे करेंगे। यहाँ पर हमें इतना ही वतलाना अभीष्ट है कि गाधी जी की महत्ता के जो दो आधारस्तम्भ-गुण है, उनका अर्जन उन्हें इस जन्म मे नही करना पडा। उनके सस्कार तो वे जन्म ही से लेकर आये थे। हाँ, अलवत्ता इतना तो मानना होगा कि इस जीवन में उन्होंने आचरण-द्वारा उन जन्म-सिद्ध नैतिक गुणो का और भी अधिक विकास किया है।

जो लोग वच्चो की मानसिक जाँच-पडताल में माता-पिता के सस्कार तथा स्वभाव को भी महत्त्व देते है, उनके लिए भी कुछ विचार-सामग्री गाधी जी के चरित्र मे मिल सकती है। उन्होंने अपने पिता के सम्वन्ध में लिखा है कि वे कुटुम्व-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार पर साथ ही क्रोधी थे। क्रोध की मात्रा तो गाधी जी की मानसिक रचना में नही के

बराबर है, पर पिता के सभी गुण उनमें बहुत बड़े पैमाने में पाये जाते है। अपनी जिस स्वाभिमान-वृत्ति से उन्होंने सारे हिन्दुस्थान को बात ही बात में इतना स्वाभिमानी बना दिया, वह भी उनके पिता में किसी अंश में विद्यमान थी। एक बार असिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेंट ने राजकोट के ठाकुर साहब का अपमान किया। गाधी जी के पिता जी ने उसका विरोध किया। एजेन्ट बड़े अप्रसन्न हुए और उनसे माफी मॉंगने को कहा। दिन भर हवालात में रहना उन्हे मजूर हुआ, पर उन्होंने माफी नही मॉंगी। आज उसी पिता के पुत्र का स्वाभिमान एक समूचे साम्राज्य की जड को हिला रहा है।

महात्मा जी में जो धर्म-भावना और शारीरिक कष्ट सहने की असाधारण प्रवृत्ति पाई जाती है, वह उनकी माता में भी विद्यमान थी। वे बड़ी भावुक और धर्म-भीरु थी। उपवास-सम्बन्धी जो धर्म-भावना महात्मा जी के स्वभाव में पाई जाती है, वह तो प्रतीत ऐसा होता है कि खास उनकी माता जी की ही आध्यात्मिक सम्पत्ति थी, जो पुत्र को विरासतन मिली है। हम पहले ही लिख चुके है कि वे किस तरह हमेशा उपवास किया करती थी और चौमासे में सूर्य-दर्शन के बिना कई दिनो तक निराहार रह जाया करती थी। दुनिया जानती है कि गाधी जी उपवास-व्रत के कितने प्रेमी है। यह युग खाने-पीने का बडा शौक़ीन है। विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता मे तो अनशन-व्रत के लिए कोई स्थान ही नही। ज़माने की इस सास्कृतिक परिस्थिति में अपने उपवासो के कारण महात्मा जी को कई बार उपहासास्पद भी होना पडा है। फिर भी इस बात को कौन समझदार आदमी अस्वीकार कर सकता है कि इसी व्रत की बदौलत 'यरवदा' जेल में आमरण अनशन का भयकर मन्तव्य स्थिर करके इस महात्मा ने भारतीय राष्ट्रीयता की जो सेवा की है, वह उनके सेवा-मय जीवन में भी अद्वितीय है।

इस विषय में महात्मा जी ने अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग मे अग्रलिखित विचार प्रकट किये है—

"वालको को जिस तरह माँ-बाप की आकृति विरासत में मिलती है, उसी तरह उनके दोष-गुण भी विरासत में मिलते है। हाँ, आस-पास के वातावरण के कारण तरह तरह की घटा-बढी होती जाती है। परन्तु मूल पूँजी तो वही रहती है जो उन्हें वाप-दादो से मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही वालक दोषो के इस विरासत से अपने को बचा लेते हैं। यह तो आत्मा का मूल स्वभाव है। उसकी वलिहारी है।"

गाधी जी के इन विचारो से हमारा मत-भेद है। हमारी सम्मति में प्रत्येक बच्चे की मूल पूँजी तो वही रहती है, जिसका अर्जन वह स्वयम् अपने कर्म और अनुभव के द्वारा पूर्व जन्मो में कर चुकता है। वाप-दादो से उसे मूल पूँजी नही मिलती। हाँ, शरीर ससर्ग के कारण उनसे व्याज के रूप में कुछ थोडा-सा भला-बुरा स्वभाव जरूर हासिल कर लेता है। जो वालक अपने को दोषो के विरासत से वचा लेते है, उनके पूर्व-सस्कार वहुत अच्छे और सुदृढ रहते है। आत्मा के मूल स्वभाव को इसका कारण वताना हमें ठीक नही जँचता। यदि ऐसा होता तो सभी वालको को अपने माँ-वाप के दोषो से सुरक्षित रहना चाहिए, क्योकि आत्मा तो सभी में होती है। और उसका मूल स्वभाव एक ही है। माता-पिता के ससर्ग-दोष से बचना या न बचना वालक की परिस्थिति तथा शिक्षा-दीक्षा पर अवलम्बित है। जीव-दृष्टि से ससार मे प्रत्येक प्राणी की स्वतन्त्र सत्ता है और उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक पूँजी भी खास उसी की होती है। अपनी इस पूर्वार्जित सम्पत्ति को लेकर ही वह जन्म लेता है और कुछ घटा-वढी के वाद उसी को साथ लेकर वह लोकान्तरित भी होता है। कोई भी बच्चा माता के गर्भ में धुले-पुछे साफ स्लेट के समान नही आता। उसमें तो न जाने कितनो लिखाई-पढाई पहले ही से विद्यमान रहती है।

जो लोग वर्त्तमान जीवन को प्रथम और अन्तिम भी मानते है, वे सृष्टि-रहस्य का ककहरा भी नही समझते। इस दृश्य और अदृश्य जगत् के मूल में जो परम अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, उसकी अवरोहण और आरोहण ऐसी दो क्रियाये है। इन्ही दो क्रियाओ से एक लम्बाकार वृत्त

बन जाता है, जिसे हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। वह इन दोनो क्रियाओ की सयुक्त गति के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। जीवन-यात्रा के यही दो पथ हैं। अवरोहण-पथ में वह परम तत्त्व अपनी यथार्थता से नीचे उतर कर नाना रूप में उत्तरोत्तर प्रकट होता है और किसी एक निर्दिष्ट सीमा पर पहुँच कर भिन्नता का बाना छोडते हुए अपनी वही पुरानी एकता की ओर अग्रसर होता है। इस ऊर्द्ध्वगामी गति को आरोहण कहते हैं।

मनुष्य एक आरोहण-शील प्राणी है। उसका जीवन अमरनाथ की चढाई के समान है। जिन लोगो ने यात्रियो को अमरनाथ पर्वत पर देव-दर्शन के लिए चढते हुए देखा होगा, उन्हे इस जीवन का रूपक अच्छी तरह समझ में आ जावेगा। प्रत्येक यात्री अपनी अपनी शक्ति के सहारे दो-चार साथियो के साथ चढता चला जाता है। कोई किसी को उठाकर शिखर तक नही पहुँचाता। स्वावलम्बन के सिवाय कोई गत्यन्तर नहीं। परन्तु हाँ, प्रत्येक के हाथ में एक लकडी जरूर चाहिए, जिसके आधार की आवश्यकता चढाव के पग पग पर हुआ करती है। जीवन-विकास के ऊर्द्ध्वगामी पथ पर मानव-धर्म ही आधारभूत लकडी का काम देता है। यदि धर्मरूपी लकडी का सहारा न मिले, तो जीवनयात्री के पैर कही भी फिसल जायें और देव-दर्शन से वचित होकर वह किसी भयकर खाई में गिर पडे। कहने का साराश यह है कि इस संसार-यात्रा में प्रत्येक आरोहणशील मनुष्य अपने ही धर्म-बल के सहारे श्रीचरणो की ओर अग्रसर हो रहा है। कोई आगे बढ चुका है, कोई पीछे है; परन्तु सभी की गति देवस्थान की ओर है।

गांधी जी उस देव-स्थान के बहुत निकट पहुँच चुके हैं। न जाने, इस दुर्गम यात्रा को समाप्त करने में उन्हें कितने जन्म लग गये। प्रतीत तो ऐसा होता है कि देव-मन्दिर की विमल पताका उन्हे पूर्वजन्म से ही

दृष्टिगोचर होने लगी थी। यदि ऐसा न होता, तो माता के गर्भ से ही वे सत्यनिष्ठा तथा सेवाभाव के देव-दुर्लभ सस्कारो को लेकर जन्म धारण न कर सकते और हरिश्चन्द्र तथा श्रवण-चरित्र का पावन प्रभाव उनके बाल-हृदय पर कुछ भी न पडता। अतएव हमें तो इस बात पर तिल-मात्र भी सन्देह नही है कि उनकी वर्त्तमान महत्ता अधिकाश मे उन्हे पूर्व-जन्मार्जित नैतिक सम्पत्ति के रूप मे ही मिली है।

अध्याय १०

सत्याराधन

द्वैत का प्रसार सीमित होते हुए भी इतना विस्तृत है कि मानवी विचार और कल्पना के लिए उसके ओर-छोर का पता लगाना असम्भव है। जिस प्रकार समुद्र की मछली विस्तृत जल-राशि के बाहर निकल ही नहीं सकती और निकलने के बाद अपनी चेतनता खो बैठती है, ठीक उसी तरह हमारे विचारों की दौड़ वहीं तक रहती है, जहाँ तक द्वैत का साम्राज्य है। उसके बाहर तो उनका अवसान हो जाता है। जल के बाहर निकलते ही जब मछली संज्ञाशून्य हो जाती है, तो उस बेचारी को स्थल की कल्पना ही क्या हो सकती है? ठीक यही हालत हमारी विचार-शक्ति की है। द्वैत के अन्दर अद्वैत सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते और उसके बाहर हमारे विचारों की पहुँच ही नहीं होती। अतएव इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि सत्य-दर्शन केवल विचार के नेत्रों से संभव नहीं। उसके लिए तो हमें मनन, चिन्तन तथा आचरण के द्वारा अपने अन्तःकरण को जाग्रत करना होगा, संकल्प-विकल्प-शून्य, निर्विकार और शान्त आत्मा में ही परम-सत्य का प्रतिबिम्ब पड सकता है। तर्क तथा विवेक से हम सत्य की एकमात्र सत्ता को सिद्ध जरूर कर सकते हैं, परन्तु उसका प्रत्यक्ष दर्शन तो निर्विकल्प समाधि की अवस्था में ही संभव है।

जब मनुष्य की विचार-धारा द्वैत के भीतर ही भीतर चक्कर काटती है और उसके बाहर नहीं निकल सकती, तो उसको प्रकट करने-वाली भाषा भी द्वैतभाव के अतिरिक्त बोल ही क्या सकती है? अन्तर्दर्शी आचार्यों ने अनुभूत अद्वैतावस्था को भाषा के द्वारा प्रकट करने में कोई बात उठा नहीं रखी, परन्तु उन्हें अन्त में 'नेति, नेति' कहकर

मौनावलम्बन ही करना पड़ा । भला, द्वैत की भाषा अद्वैत-वर्णन किस प्रकार कर सकेगी ? इसी आशय को प्रकट करनेवाली एक कथा उपनिषदों में वर्णित है। एक बार किसी शिष्य ने अपने पारदर्शी आचार्य से प्रश्न किया कि महाराज, ब्रह्म का स्वरूप कैसा है, मुझे कृपाकर सुनाइए। आचार्य इस प्रश्न को सुनकर चुप रहे। शिष्य ने उसी प्रश्न को कई बार दुहराया, परन्तु गुरु जी कुछ न बोले। तब जरा खीझ कर शिष्य ने कहा कि महाराज, मेरी प्रार्थना की ऐसी अवहेलना क्यों ? आचार्य बोले, प्यारे शिष्य, ब्रह्म-वर्णन तो मैं कर चुका, क्या तुम न समझ पाये ? अद्वैत परमात्मा तो शब्दों के परे है, अतएव उसका वर्णन मौन ही हो सकता है।

साराश यह है कि जिस अर्थ में हम ससार के अन्यान्य भौतिक पदार्थों को जानते है, देखते है तथा इतर स्थूल एव सूक्ष्म इन्द्रियों से उनका ज्ञान प्राप्त करते है, उस अर्थ में परम सत्य की जानकारी नहीं हो सकती। 'विज्ञातार केन विजानीयात्' ? जो स्वय सबका जानने-वाला है, उसे कोई कैसे जाने ? जो आँखें सबको देखती है, वे स्वय अपने पर दृष्टिपात कैसे करें ? यही कठिनाई मनुष्य को भी आत्म-परिचय प्राप्त करने में होती है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान का होना असम्भव है। सर्वथा सम्भव है, लेकिन आत्म-ज्ञान की क्रिया निराली होती है। जिस समय हम अपने सामने किसी भौतिक पदार्थ को देखते है, उस समय यदि हम अपना मानसिक विश्लेषण करें, तो प्रतीत होगा कि देखने की क्रिया, द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन—इन तीन साधनों से सिद्ध होती है। जब जब आत्मा अपने से भिन्न किसी अनात्मा का ज्ञान भौतिक इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करती है, तब तब उपर्युक्त तीन साधनों का होना अवश्यम्भावी है। परन्तु आत्मा स्वय अपने को जब देखती है, तब दृष्टा, दृष्टव्य और दर्शन तीनों का अवसान हो जाता है, अथवा यों कहे कि तीनों एकाकार हो जाते है। इसी लिए कहना

पड़ता है कि जिस अर्थ में हम भौतिक पदार्थों की जानकारी प्राप्त करते हैं, उस अर्थ में आत्म-ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य'। फिर भी एक निराले अर्थ में आत्मा की जानकारी बिलकुल सम्भव है। यदि ऐसा नहीं होता, तो जीव-सृष्टि के लिए आशा ही क्या रह जाती ? फिर तो अज्ञान ही अनन्त हो जाता !

सत्य, आत्मा और परमात्मा दोनों के लिए पर्यायवाची शब्द हैं। अध्यात्म-शास्त्रियों का सिद्धान्त है कि यह समूचा विश्व-प्रपंच एक ही मूल तत्त्व का रूपान्तर है। इसको परमात्म-तत्त्व भी कहते हैं। इसी तत्त्व की ओर वेदान्त ने (ब्रह्म) शब्द से संकेत किया है। यह ब्रह्म-तत्त्व अपनी पूर्णता को सुरक्षित रखते हुए सृष्टि-प्रसार में बिखर कर अथवा प्रतिबिम्बित होकर असंख्य आत्माओं के रूप में भी विद्यमान है। इसी बात को द्वैत की भाषा में ऐसा कहना पड़ता है कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। समुद्र और बूँद की तथा अग्निराशि और चिनगारी की उपमाओं से भी लोग दोनों का सम्बन्ध समझ लेते हैं। परन्तु इसके साथ साथ इतना भी समझ लेना चाहिए कि किसी भी भौतिक पदार्थ की उपमा से हम आत्मा-परमात्मा के अन्योन्य-सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जल-राशि से एक बूँद निकाल लेने पर समुद्र एक बूँद से कम हो जाता है। परन्तु परमात्मा से असंख्य आत्माओं के आविर्भूत होने पर भी उसकी पूर्णता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। परमात्मा की इस विलक्षण विशेषता को एक विलक्षण श्लोक के द्वारा ही वेदान्त ने प्रकट किया है —

"पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते॥"

पूरे से पूरा निकलने के बाद भी पूरा ही शेष रह जाता है ! कैसा विलक्षण गणित है !!!

कहने का आशय यह है कि आत्मा और परमात्मा दोनों पूर्ण हैं। दोनों का वस्तुत एक ही मौलिक रूप है। दोनों शुद्ध, बुद्ध और

मुक्त है। दोनो एक होते हुए दो है और दो होते हुए भी एक है। दोनो देश, काल और निमित्त के परे है। दोनो अविनाशी एवम् अपरिवर्तन-शील है और इसी अर्थ मे दोनो सत्य है, क्योकि इनका क्षय कभी नही होता। बोल-चाल की भाषा में जगत् सत्य होते हुए भी वेदान्त की भाषा में मिथ्या है, क्योकि वह परिवर्तन-शील और नाशवान् है। ब्रह्म (आत्मा अथवा परमात्मा) सत्य है, क्योकि वह अविनाशी है।

यह अविनाशी सत्य एक निर्बाध तत्त्व है। परन्तु वह निर्बाध अवस्था में ही सीमित नही है। विश्व-प्रपच के रूप में प्रकट होकर उसने अनन्त सापेक्षिक रूप धारण किये है। ससार मे हमे इन्हीं रूपो के दर्शन हो सकते है। निर्बाध-सत्य के दर्शन के लिए हमें अपनी चेतनता को ससार के परे ले जाना पडता है। सत्य के इस परम रूप का दर्शन जीव-सृष्टि का परम से परम ध्येय है। इस विषय की चर्चा हम यत्किंचित् विस्तार के साथ 'सत्याग्रह का स्वरूप'-वाले अध्याय में करेंगे। अतएव यहाँ इतना ही बस होगा।

सत्य के इस निर्बाध-स्वरूप की अपनी जानकारी के सम्बन्ध में महात्मा जी ने अच्छी तरह खुलासा कर दिया है। वे अपनी आत्म-कथा की भूमिका में लिखते है —

"परमेश्वर की व्याख्यायें अगणित है क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित है। विभूतियाँ मुझे आश्चर्य-चकित तो करती ही है; मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती है, पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य-रूपी परमेश्वर का ही। मेरी दृष्टि में वही एकमात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है। पर यह सत्य अब तक मेरे हाथ नही लगा है। अभी तक तो मै उसका शोधकमात्र हूँ। हाँ, उसकी शोध के लिए मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी छोड देने के लिए तैयार हूँ और इस शोधरूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम देने की तैयारी कर ली है। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें है। परन्तु जब तक इस सत्य का साक्षात्कार नही हो जाता, तब तक मेरी

अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी काल्पनिक सत्य को अपना आधार मान कर, दीप-स्तंभ समझकर उसके सहारे में अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।"

हम पहले ही किसी अध्याय में लिख चुके हैं कि महात्मा जी ने सत्य-ज्ञान-सम्बन्धी असमर्थता प्रकट करके अपनी सत्य-निष्ठा का ही परिचय दिया है। सचमुच में सत्यरूपी परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन दुर्लभ से भी दुर्लभ है। जीव-सृष्टि के लिए सत्य-साक्षात्कार परम से परम उद्देश्य भी है। उसे सिद्ध कर चुकने के बाद मनुष्य आप्तकाम हो जाता है। उसके लिए फिर कोई समस्या ही नहीं रह जाती। जीवन के इस परम लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए न जाने कितने जन्म-जन्मान्तर की आवश्यकता होती है, यह कौन कह सकता है। गांधी जी इस सत्य-रूपी रत्न की तलाश में प्रयत्नशील हैं। उनका सारा जीवन इसी एक धुन में व्यस्त है। जन-समाज की सेवा भी वे उसी परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए कर रहे हैं। उनकी जीवात्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने को अधीर है। उनकी यह आध्यात्मिक उत्कंठा उनकी महत्ता के सर्वथा अनुरूप है। अभी उनकी आत्मा पर माया का पतला-सा आवरण पड़ा हुआ है। उस महीन परदे से छन कर उन्हें अभी सत्य की यत्किंचित् झलक ही दिखाई देती है। इसी कारण उनमें अभी कर्म-शीलता भी बनी हुई है। जिस दिन उनकी आत्मा से माया का यह सूक्ष्म आवरण भी हट जावेगा और सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे, उस दिन महात्मा जी कदाचित् निश्चल होकर अपनी सारी राजनीतिक तथा सामाजिक खटपट भी छोड़ बैठें और 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' की बाँकी और अलौकिक झाँकी में मस्त और आनन्दविभोर होकर हमेशा के लिए मौन भी धारण कर लें। "मन मस्त हुआ फिर क्यों बोलें।"

ऐसी हालत सभी प्रत्यक्ष-दर्शियों की हो जाती है। ब्रह्म का जानने-वाला स्वयम् ब्रह्मरूप हो जाता है। "जानत तुमहि तुमहि ह्वै जाई।"

ब्रह्म-ज्ञान में विचारों का पूर्ण-विराम हो जाता है। और जहाँ विचारों का अवसान हो चुका, वहाँ कर्म की सम्भावना कैसी ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्बाध, सत्य-ब्रह्म के प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने के लिए मुमुक्षु को किन साधनों का अवलम्बन करना चाहिए। इसका उत्तर देना ही धर्मशास्त्र का प्रधान विषय है। अनेक लोग अनेक प्रकार से अपनी अपनी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देना पसन्द करेंगे। ज्ञानी ज्ञान-मार्ग की, कर्मयोगी कर्म-पथ की, भक्त भक्ति-मार्ग की सिफारिश करेगा। परन्तु हम तो सर्व-साधारण लोगों के लिए साधारण-सी भाषा में यही कहना उचित समझते हैं कि त्रिगुणात्मक संसार के परे जाकर निर्बाध सत्य के साक्षात्कार के लिए सामर्थ्यवान् होने के पहले प्रत्येक मोक्षकामी मनुष्य को परम सत्य के आविर्भूत, अवतरित एवम् सापेक्षिक रूपों की उपासना करना चाहिए। निर्बाध सत्य के अगणित सापेक्षिक रूप हैं। इन्हीं रूपों की उपासना को साधन बना कर मनुष्य परमसत्य के साक्षात्कार में समर्थ हो सकता है। धर्मशास्त्र ने आचरण के लिए जितने नैतिक गुण निश्चित किये हैं, वे सब परमसत्य के सापेक्षिक रूप ही हैं। उन्हें हम सापेक्षिक इसलिए कहते हैं कि उनके यथोचित पालन में हमें देश, काल तथा पात्र का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना पड़ता है। दया, करुणा, क्षमा, दानशीलता, सहानुभूति, न्याय, औदार्य तथा प्रेम इत्यादिक मानवोचित गुण सत्य-ब्रह्म के ही सापेक्षिक रूप हैं। इन्हीं के समाराधन में मनुष्य आचरण-बल प्राप्त करता है और हृदय की शुद्धि भी होती है। हृदय के शुद्ध और सद्भावना-समन्वित होते ही मन निर्विकार और निर्मल हो जाता है। निर्मल अन्तःकरण में परमात्मा का साक्षात्कार बिलकुल सुलभ है। ज्ञान, कर्म और भक्ति—इन तीनों साधनों में चाहे कोई विशेष रूप से किसी भी मार्ग का अवलम्बन करे, परन्तु चित्त-शुद्धि का होना सभी के लिए आवश्यक है। मन को विकारों के पाश से मुक्त करना ही उपर्युक्त तीनों धर्म-मार्गों का लक्ष्य-बिन्दु है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सापेक्षिक सत्य की पहचान हम अपने प्रतिदिन के जीवन में किस प्रकार करें। इस काम में मनुष्य को सहायता पहुँचाना ही धर्मशास्त्र का कर्त्तव्य है। परन्तु शास्त्र-ज्ञान जितनी सहायता दे सकता है, उसके सिवाय धर्म-पथ पर आरूढ रहनेवाले मनुष्य को सद्भावना और विवेक-शक्ति की भी जरूरत होती है। सद्भावना की प्रेरणा न मिलने पर शास्त्रों का कोरा ज्ञान अजागल-स्तन के समान निष्फल हो जाता है। हम चाहे इस बात को बुद्धि के आधार पर अच्छी तरह समझते हों कि दुःखी मनुष्य समवेदना अथवा दया का पात्र है, फिर भी यदि हृदय में आवश्यक सद्भावना न रही तो जानते-बूझते हुए भी हम किसी सत्पात्र की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। परन्तु कोरी विचार-शून्य सद्भावना कई बार कुपात्र को सहायता पहुँचा कर धोखा खा जाती है। अतएव धर्माचरण के लिए विचारशीलता की भी उतनी ही आवश्यकता हुआ करती है। तब कहना होगा कि मानवोचित धर्म के पालन में, सापेक्षिक सत्यों के समाराधन में हमें शास्त्रज्ञान, सद्भावना और विवेक इन तीनों साधनों का सम्यक् योग चाहिए।

अब देखना है कि सापेक्षिक सत्यों की पहचान हमें किन-किन रूपों में करनी चाहिए। इस काम के लिए हमें विचारशीलता की बड़ी आवश्यकता होती है। दो मनुष्य आपस में लड़ते हैं। एक ने दूसरे की सम्पत्ति छीन ली है। अधिकारों की इस लड़ाई में सापेक्षिक सत्य उसी के पक्ष में है, जिसके हक छीन लिये गये हैं। न्यायाधीश या कोई भी समझदार आदमी अधिकार छीननेवाले को मिथ्याचारी और दण्डनीय ठहरावेगा। कोई दुराचारी शक्तिमान् किसी निस्सहाय व्यक्ति को व्यर्थ सता रहा है। इस मामले में सत्य निस्सहाय अशक्त के ही पक्ष में रहेगा और धर्मचारी मनुष्य दुष्ट को दण्ड देने में तथा अशक्त निर्दोषी की सहायता करने में कुछ भी सकोच न करेगा। कहने का साराश यह कि नीति-शास्त्र ने जन-समाज के सामूहिक

जीवन को सचालित करने के लिए जितने नियम निर्धारित किये है, वे सब परमसत्य के सापेक्षिक आधार पर ही अवलम्बित है। इन नियमो के पालन करनेवाले को हम सदाचारी कहते है, क्योकि उनका आचरण सत् अथवा सत्य-धर्म पर स्थित रहता है। सदाचरण की सोपान-परम्परा के द्वारा ही मनुष्य परम सत्य परमात्मा तक पहुँच सकता है। मोक्ष-कामी के लिए इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा साधन नही है।

महात्मा जी के आत्म-चरित्र को विचारपूर्वक पढने से प्रतीत होता है कि सदाचारप्रियता उनकी जन्म-सिद्ध विशेषता थी। गुरुजनो की सेवा करना, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य समझना तथा सच बोलना उनकी बाल्यावस्था के स्वाभाविक लक्षण प्रतीत होते है। सदाचार के नियमो का परस्पर ऐसा सम्बन्ध रहता है कि किसी एक नियम का अच्छी तरह पालन किया जाय, तो अन्यान्य नियमो का आचरण सुगम हो जाता है। सदाचरण का सबसे पहला उदाहरण हमे गाधी जी के जीवन में पितृ-सेवा के रूप में दृष्टि-गोचर होता है। स्कूल से लौटने के बाद ससार के सर्वसाधारण बालको को खेल की सूझती है, परन्तु बालक गाधी को यह बात पसन्द नही थी। वे बीमार पिता की सेवा में सलग्न हो जाते थे। माता के प्रति भी उनकी वैसी ही असाधारण निष्ठा थी। यथार्थ में यह मातृ-भक्ति गाधी जी को सत्य-पालन में बडी सहायक हुई। जिस देवी के चरणो में उनकी इतनी प्रगाढ श्रद्धा थी, उसका वचन भग करके उसे मानसिक सन्ताप पहुँचाना, अथवा अपने मिथ्याचार को छिपाकर उसे धोखा देना बालक गाधी को बिलकुल मजूर नही था।

'जन्म-सिद्ध सस्कार' शीर्षक अध्याय में हम इस बात की चर्चा कर चुके है कि गाधी जी की मातृ-पितृ-भक्ति एवम् सत्य-निष्ठा उनके वर्तमान जीवन की बिलकुल जन्मगत विशेषता है। यदि ऐसा नही होता, तो श्रवण-पितृ-भक्ति और सत्य हरिश्चन्द्र के नाटको के पढने तथा देखने के बाद उनके बाल-हृदय में जो महत्त्वाकाक्षा उत्पन्न

हुई, वह उस उम्र में कभी सम्भव नहीं थी। दस या बारह वर्ष की अवस्था में हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी होने की इच्छा करना एक बालक के लिए बहुत ही विलक्षण बात है। इतनी छोटी उम्र में ऐसे आदर्श का निर्माण होना जन्म-गत सस्कार के बिना सभव नहीं।

बालक गाधी की सत्य-निष्ठा का एक बडा मनोहर उदाहरण देखने सुनने लायक है। वह है चोरी का प्रायश्चित्त। यह ससार क्या है, एक काजर की कोठरी है। यहाँ आकर बिल्कुल बेदाग रह जाना एक असम्भव-सी बात मालूम होती है। गलतियाँ सभी से हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि सदाचारशील मनुष्य अपनी भूलो का प्रायश्चित्त तुरन्त कर डालता है और साधारण लोग अपने पातकों की शृखला बाँधते चले जाते है और उसके बन्धन से अपने हृदय, मन और आत्मा को जकडते जाते है। बन्धन के दोनो छोर उन्ही के हाथों में रहते है।

जीवन में गाधी जी से भी भूलें हुई है, परन्तु उनके लिए आवश्यक प्रायश्चित्त करने में उन्होने कभी देर नही लगाई। अपने जीवन की सध्या में तो अपनी आत्मकथा के द्वारा उन्होने अपनी सभी गलतियो के लिए प्रायश्चित्त कर डाला है। परन्तु उनकी यह आदत केवल प्रौढ जीवन की ही विशेषता नहीं है। मिथ्याचार के बाद फौरन अपराध-स्वीकार तथा तत्प्रेरित पश्चात्ताप करने की सतोगुणी प्रवृत्ति उनमें बाल्यावस्था से ही दिखाई देती है। उनकी स्वाभाविक सत्य-निष्ठा ही इस प्रवृत्ति की जननी है।

गाधी जी के एक भाई मासाहारी थे। उन्होने २५) के लगभग कर्ज कर रक्खा था। इस ऋण को चुकाने की चिन्ता दोनो भाइयो को हुई। इतने रुपये नही मिल सकते थे। लेकिन दूसरे भाई के हाथ मे सोने का एक कडा था। उसमें से एक तोला सोना काट कर उन दोनो ने निकाल लिया और उसकी कीमत से कर्ज चुका दिया। इस घटना को कडावाले भाई तो भूल गये, पर गाधी जी को वह खटकती रही।

अन्त में अपने अन्त करण की वेचैनी मिटाने के लिए उन्होने अपने पिता के सामने दोष स्वीकार कर लेने का निश्चय कर ही डाला। जवानी इजहार देने की हिम्मत न हुई, अतएव उन्होने चिट्ठी के द्वारा सब वातो का खुलासा कर दिया। पिता उन दिनो एक भीषण रोग से आक्रान्त थे। उन्होने चिट्ठो पढो और सताप-जनित भावावेश में आकर वे अश्रु-मोचन करने लगे, गाधी जी भी रोने लगे। दृश्य वडा मार्मिक था। पिता ने अपराधी पुत्र से कुछ भी न कहा। फिर भी उनके क्षमा-शील और नि शब्द अश्रुकणो ने पुत्र के हृदय के टुकड़े-टुकडे कर दिये। प्रेम-मूलक अहिसा का यह एक मनोहर उदाहरण था। गाधो जी के हृदय पर पिता की इस शान्तिमयी क्षमा का चिरस्थायी प्रभाव पड गया।

यह घटना इस वात को सिद्ध करती है कि अन्यान्य प्रकार की भूलें करते हुए भी गाधी जी सत्य-निष्ठ थे। अपने किये हुए अपराध को अधिक दिनो तक छिपाने की गलती उनसे कभी न हुई। विलायत में विद्यार्थी की हैंसियत से उन्हे अपने को विवाहित वताने मे शर्म मालूम हुई। इसलिए लज्जा-वश उन्होने उस वात को छिपाया। परन्तु अपनी असलियत को वे अधिक दिनो तक गुप्त न रख सके और एक दिन प्रसङ्गवश उन्होने अपने विवाहित होने की वात प्रकट कर दी, तव कही उनका हृदय हलका हुआ। असत्य-भाषण का दुर्वह भार वे अधिक दिनो तक न सँभाल सके। जीवन के प्रारम्भ से ही महात्मा जी का दिल इस सम्वन्ध में नाजुक रहा है। सत्य-भाषण की प्रेरणा उन्हें जन्म-गत सस्कार से ही मिलती आई। इस देव-दुर्लभ गुण को प्राप्त करने में उन्हे किसी से शिक्षा-दीक्षा की कुछ भी आवश्यकता नही हुई। यह सत्यवादिता ही गाधी जी की महत्ता का मूल है। इसी के आधार पर उनके अन्यान्य गुण भी अवलम्व प्राप्त कर रहे है। जिस मनुष्य ने ससार को प्रयोगशाला वना लिया हो और सत्य को ही अपने लिए प्रयोग का विषय निश्चित किया हो, उसका

जीवन सदाचारमय न हो तो क्या हो ? महात्मा जी के विरोधी उनके सम्बन्ध में खरी-खोटी कहने में नही चूकते। लेकिन उनमें से शायद ही कोई ऐसा असत्य-भाषी भी निकलेगा, जो यह कहने का दुस्साहस कर सकेगा कि गाधी जी असत्य बोलते है। उनके सिद्धान्त तथा विचार के आलोचक आज भी कई मिलेंगे, परन्तु उनकी सचाई तथा नेक-नीयती पर कटाक्ष करनेवाला मनुष्य आज तक देखने में नही आया न सुनने में भी आया। महात्मा जी की सत्य-निष्ठा उनके जीवन की एक ऐसी सर्वोपरि विशेषता है कि उसके सम्बन्ध में उनके मित्र और अमित्र दोनो एकमत है।

परन्तु असत्य ससार में चारो ओर असत्य का ही बोलबाला दृष्टि-गत होता है। जिस दुनिया में धोखेबाजी और फरेबों का बाजार गर्म है, वहाँ सचाई के एक हामी को यदि पग-पग पर आपत्तियो से आलिंगन करना पडे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। ससार महात्मा जी को उनकी सचाई के लिए मान देता है सही, पर यह भी बिलकुल सच है कि इसी ससार में उन्हे अपनी सत्य-निष्ठा के कारण ही सैकड़ो कष्ट भी सहने पडे है। कठिनाइयाँ ऐसी एक से एक बढकर रही है कि अप्रतिम सत्यारावन ही उनका सहायक हो सकता था। मानव-सभ्यता के प्रातःकाल में जिस मनुष्य ने यह कहने का साहस किया कि पृथ्वी ही चारो ओर चक्कर लगाती है और सूर्य स्थिर है, उसे इस वैज्ञानिक सत्य को मूर्ख-जन-समाज के सामने प्रकट करने के लिए प्राण-दण्ड देना पडा था। आज इस बीसवी सदी को गैलिलियो के जमाने से बहुत अधिक सभ्य होने का दावा है। फिर भी इस सभ्यताभिमानी जमाने में सभ्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर गाधी जी के समान सत्य के उपासक को बार-बार अभियुक्त होना पडता है, और वह भी केवल इसलिए कि यह मानव-समाज का अनन्य सेवक मानवी स्वतत्रता का पैरवीकार है। क्या गैलिलियो का युग इससे अधिक असभ्य था? मानव-स्वतत्रता क्या

वैज्ञानिक सत्य नहीं है? अवश्य है, परन्तु सभ्य ब्रिटिश साम्राज्य के संचालक उसे मानने के लिए तैयार नहीं है। उसको घोषित करनेवाला उनकी दृष्टि से अपराधी है।

फिर भी सत्य-सध महापुरुष सत्य-निष्ठा के मार्ग मे आनेवाली आपत्तियो को फूल के समान झेलने के लिए तैयार रहते है। महात्मा गाधी ने भी अपनी कठिनाइयो का सामना ऐसे ही अदम्य उत्साह और आशावाद से प्रेरित होकर किया है। अपने अलौकिक सत्य-प्रेम की प्रेरणा से ससार के सामने खरी-खोटी निर्भयता-पूर्वक कहने में उन्हे कभी सकोच नहीं हुआ। लार्ड हार्डिज के जमाने में बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय के उद्घाटन-समारम्भ की सभा मे हिन्दुस्थान के राजाओ-महाराजाओ के सामने गाधी जी ने जो सीधी सीधी बातें सुनाई थी, उन्हे कौन नहीं जानता। उनकी कही हुई वे बातें बिल्कुल खरी थीं और इसी लिए आलोचित सत्ताधिकारियो को वे खोटी लगी। इसमें सदेह नहीं कि इस खोटे ससार मे खरी बात ही खोटी लगती है और खोटी बहुत मनोरम। लेकिन गाधी जी के समान सत्य-निष्ठ महापुरुष अपने खरेपन से बाज नही आते। 'न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीरा', ससार कुछ भी कहे, कुछ भी सोचे।

सत्य-समाराधन के मार्ग में जो अडचनें आती है, वे अधिकाश में स्वार्थ-मूलक हुआ करती है। जो मनुष्य स्वार्थ-साधन से पराङ्मुख होकर परमार्थ-रत हो जाता है, उसके लिए सत्य-पथ फिर दुर्गम नही रह जाता। इस पथ के पथिक को कष्ट तो भोगने ही पडते है, परन्तु कष्ट-सहन की अलौकिक क्षमता उसे अपनी सत्य-शीलता से ही प्राप्त हो जाती है। सत्य-धर्म पर आरूढ रहनेवाले मनुष्य को यदि कठिनाइयाँ झेलनी न पडें, तो उसके सत्य-प्रेम की सत्यता की परीक्षा ही कैसे हो? कदाचित् इसी लिए विधाता ने सत्य-पथ को फूलो से बिछा हुआ नही बनाया। यदि हरिश्चन्द्र अपने ऊपर आई हुई आपत्तियो को सफलता-पूर्वक सहन न कर सकते, तो आज ससार एक

सत्यनिष्ठ महापुरुष के उदाहरण से अपरिचित रह जाता। पिता के प्रतिज्ञा-पालन में कृतनिश्चय होकर राम यदि वनवास की अगणित कठिनाइयो को नगण्य न मानते, तो जन-समाज आज एक मर्यादा पुरुषोतम के प्रात स्मरणीय नाम से वंचित रह जाता। पौरुष का मार्ग यदि कांटो से बिछा हुआ न होता, तो आचरण-बल का विकास सम्भव ही न था। असत्य के समर्थको में आपत्तियो का सामना करने का सामर्थ्य ही नही होता। वे जरा-सी आँच पाकर पिघल जाते है। वज्र की दुर्जयता एक सत्य-शील हृदय ही धारण कर सकता है। इसी लिए धर्मशास्त्रो का सिद्धान्त है "सत्यमेव जयते नानृतम्" ?

महात्मा जी की सत्य-प्रियता उनके व्यक्तिगत जीवन की एक खास चीज तो है ही, परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन मे सत्य-निष्ठा को प्रधान प्रतिष्ठा देकर उन्होने कार्य-कर्ताओ में बड़ी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। जन-साधारण की धारणा है कि राजनीति और सत्य के बीच कोई अटूट सम्बन्ध नही हो सकता। राजनैतिक क्षेत्र मे तो लोगो के ख्याल से दाँव-पेंच और कुटिल मन्तव्यो से काम लेना पड़ता है। विरोधियो को धोखा देकर पराजित करना एक अभिनन्दनीय नीति मानी जाती है। पश्चिमी राष्ट्रो के कुशल राजनीतिज्ञ इस कुटिल नीति का उपयोग पग-पग पर करते हुए देखे जाते है। उनकी भाषा यथार्थ में विचारो को प्रकट करने के लिए नही, वरन् उन्हें गुप्त रखने के काम में लाई जाती है। मन, वचन और कर्म की प्रवचना-मूलक विषमता को वे "डिप्लोमेसी" के नाम से पुकारते है। जो मनुष्य अपने विपक्षियो के मन में एक प्रकार की धारणा उत्पन्न करके मौके पर विपरीत आचरण के द्वारा उन्हे धोखे में सफलतापूर्वक डाल सकता है, वह पश्चिमी जन-समाज में एक चतुर और माननीय नेता समझा जाता है। ऐसे ही चालबाज और कुटिलकर्मा राष्ट्र-नेताओ की एक अन्तर्जातीय सभा भी कायम हो चुकी है। इसे 'लीग ऑफ

नेशस' कहते है। इस लोग की कार्रवाइयो से ससार शकित है। इसके प्रत्येक मतव्य से दुविधा और दुरगोपन की बू आती है। इसकी ड्योढो पर धूर्त्तता के पग पोछने के लिए सत्य पायदाज का काम दे रहा है। इसकी छतो से नोति-मत्ता औंधी लटक रही है और इसकी फर्श शतरज के खानो के समान खचित है। परमात्मा इस लाग से शकित ससार की रक्षा करे।

ऐसे कुटिलतापूर्ण राजनैतिक युग मे महात्मा गाधी का जन्म हुआ है। पश्चिम के स्वार्थ-मूलक आर्थिक राष्ट्रीयता के कर्णधार इन कपटी राजनीतिज्ञो की तुलना में वे ऐसे दिखाई देते है, जैसे कुटिल काक-मण्डली के बीच भोला राजहस बैठा हो। इस मण्डली से सत्यता और सरलता दोनो का पूर्ण वहिष्कार है। आमतौर से लोगो को यह धारणा भी हो गई है कि राजनीति कोरी सत्यता के सहारे सफल नही हो सकती। अतएव महात्मा जी के भारतीय प्रशसको में भी ऐसे लोगो की कमी नही है, जो उन्हे महापुरुष समझ कर उनका अभिवादन तो करते है, परन्तु उनके राजनैतिक नेतृत्व को उनकी अप्रतिम सत्य-निष्ठा के ही कारण सशय की निगाह से देखते है। तथापि गाधी जी अटल सत्य-शोधक है।

राजनैतिक क्षेत्र में भी उनके सत्य के प्रयोग जारी है। स्वराज्य उनके लिए गौण है। सत्य प्रधान है। असत्य-मार्ग के अवलम्बन से यदि उन्हे स्वराज्य भी प्राप्त हो, तो वह सर्वथा त्याज्य है। उनकी धारणा है कि मनुष्य अपना मनुष्यत्व खोकर स्वराज्य का अधिकारी नही हो सकता और मनुष्य सत्य-पथ से भ्रष्ट होकर मनुष्य नही रह जाता। वे अपनी इसी धारणा में स्थिर है, ससार उनसे सहमत हो या न हो। उनकी सत्य-निष्ठा ध्रुव नक्षत्र के समान अटल है। जिस महापुरुष के द्वारा भारत की अन्तरात्मा बोल रही हो और जो भारतीय सस्कृति से ओत-प्रोत दीक्षित हो, उसको महात्ता का केन्द्र-विन्दु सत्य-प्रेम ही हो सकता है। अध्यात्मवादी भारत का हृदय-सम्राट्, सत्याराधक गाधी के रूप में ही प्रकट हो सकता है। मिथ्याचारी ससार को ऐसे सत्य-निष्ठ पथ-प्रदर्शक महात्मा की आवश्यकता है, हमेशा रहेगी।

अध्याय ११

लोक-सेवा

ईश्वर के अस्तित्व को निश्चयपूर्वक न माननेवालो की सख्या ससार में वहुत ही कम होगी। अपनी अपनी सस्कृति तथा वौद्धिक विकास के अनुसार प्रत्येक मनुष्य उसकी सत्ता को स्वीकार करता है तथा अपना पसन्द किया हुआ नाम देकर अपने ही ढग से उसकी उपासना किया करता है। परन्तु इन अगणित आस्तिक लोगो में ऐसे मनुष्यो की सख्या कदाचित् वहुत ही कम होगी, जिन्हें परमेश्वर की कल्पना सर्वागीण एवम् व्यापक रूप में प्राप्त हो चुकी हो। आमतौर से लोगो की यह धारणा है कि ईश्वर ससार से वाहर कही सुदूरवर्ती स्वर्गलोक में निवास करता है और वही से सृष्टि-सचालन का काम किया करता है। इन वहु-सख्यक लोगो के मतानुसार ईश्वर ससार में कही भी दृष्टिगोचर नही होता, न हो सकता, उसका दर्शन स्वर्गलोक में ही सम्भव है। इसी धारणा से प्रेरित होकर लोग ईश्वरोपासना के लिए या तो उसकी मूर्ति वना लेते है या फिर उसके लिए गिरजाघर अथवा मसजिद वना कर अकेले में चुपचाप या चिल्ला-चिल्लाकर उसको याद किया करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जन-समाज के सर्व-साधारण लोग अदृश्य परमेश्वर के नाम पर अपनी सारी धार्मिकता समाप्त कर डालते है। ईश्वर के लिए जो कुछ श्रद्धा उनके हृदय में रहती है वह मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर में खर्च हो जाती है और वाहरी व्यक्त ससार के लिए फिर वैसी कोई उदार [भावना उनके पास शेष नही रह जाती। कई लोग तो ससार तथा जन-समाज को वधन-रूप समझ कर तिरस्कार की दृष्टि से भी देखा करते

हैं। धर्म तथा ईश्वरोपासना का यह विकृत रूप जन-समाज के लिए वडा अनिष्टकारी सिद्ध हुआ है। इतिहास इस दुष्परिणाम का साक्षी है।

ऐसी समझ के लोगो को कोई कैसे समझावे कि उनकी ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना बिलकुल सकीर्ण और अहितकर है। ईश्वर किसी स्थल-विशेष मे मर्यादित नही है। वह सर्वव्यापी है। उसका रूपाश तो हमारी स्थूल दृष्टि के सामने है और शेष हमारी वर्तमान इन्द्रियो से ओझल है। कहने का साराश यह कि हमारी सीमित शक्ति के मानदण्ड से ईश्वर के व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो रूप हैं। समूचा ससार उसका व्यक्तरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनो मे वह समान रूप से विद्यमान है। परन्तु मानव-स्वभाव की ऐसी अज्ञान-मूलक विचित्रता है कि वह परमेश्वर के प्रकट रूप को देखते हुए भी उसकी ओर से उदासीन रहता है और जिस अव्यक्त रूप की उसे कल्पना तक नही हो सकती, उसकी उपासना में वह सलग्न रहता है। परमेश्वर के अदृष्ट रूप की आराधना कोई आपत्तिजनक बात नही है। लेकिन यदि उसका परिणाम यह हो कि मनुष्य विश्व-रूपी प्रत्यक्ष ईश्वरीय विभूति से पराङ्मुख हो जावे, तो हमें कहना पडेगा कि ऐसी अदृष्टाराधना किसी भी मर्ज की दवा नही हो सकती। मानवी सभ्यता के इतिहास में धर्म के नाम पर मनुष्य ने अपने भाई मनुष्य का जो रक्तपात किया है, वह इसी विकृत ईश्वरोपासना का भयकर दुष्परिणाम है। परमात्मा इस अनिष्टकारी धार्मिकता से जन-समाज की रक्षा करे।

व्यक्त ससार में परमेश्वर की अनेक विभूतियाँ दृष्टिगोचर होती है। यो तो समूचा विश्व-प्रपच ही उसका विराट् रूप है; फिर भी उसकी स्पष्ट झलक चेतन प्राणियो में विशेष रूप से दिखाई देती ह। जीव-धारियो में मनुष्य सबसे बडी ईश्वरीय विभूति है। इस ससार में नारायण का व्यक्तरूप जन-समाज में ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हम असख्य नर-रूप नारायणो से अपने को हमेशा घिरे हुए पाते है। लेकिन हमारी विकृत बुद्धि व्यक्त नारायण की सदैव अवहेलना करती है।

अवहेलना ही नही, प्रत्यक्ष विरोध भी कर बैठती है। तांबे-पीतल की मूर्तियो को, गुडियो के समान सिंहासनो में सजा कर हम उनकी पूजा-प्रतिष्ठा बडे भक्ति-भाव से किया करते है। परन्तु ठीक उसी समय यदि कोई भूखा, दुर्बल और दरिद्र नर-नारायण हमारे द्वार पर आकर एक मुट्ठी अनाज के लिए हाथ फैलावे, तो हम आपे से बाहर होकर पूजा-स्थान से ही उसे अनाप-शनाप गालियाँ दे डालते है। यह लोगो की धर्म-प्रियता का उपहासजनक और निंदनीय रूप है। जो मनुष्य नर से प्रेम नही कर सकता, उसकी नारायण-भक्ति निर्मूल है, आत्म-प्रवञ्चना है। मनुष्य की ओर पीठ फेरकर हम भगवान् को सामने कदापि नही पा सकते। इसी कारण हमारी यह निश्चित धारणा है कि लोक-सेवा धार्मिकता का सर्वश्रेष्ठ रूप है और परमेश्वर की सोलह आने सच्ची उपासना है।

इस ससार में जो चीजें श्रेष्ठ होती है वे बहुधा सुलभ नही होती। परन्तु धर्म के सम्बन्ध में सृष्टिकर्त्ता का विधान ऐसा मौलिक है कि लोक-सेवा धार्मिकता का सर्वश्रेष्ठ रूप होकर भी सर्व-सुलभ है। यज्ञ, याग, पूजा, पाठ, होम तथा अनुष्ठान के लिए आवश्यक साधन सभी के पास नही रहते। लेकिन यदि इच्छा रही तो लोक-सेवा सर्वत्र और सदैव सुलभ हो सकती है। इस दुखी और सन्तप्त ससार में लोक-सेवा का न जाने कितना व्यापक और विस्तीर्ण क्षेत्र पडा हुआ है। सेवा चाहनेवालो की सख्या बहुत अधिक है, पर सेवको की सख्या बहुत ही कम है। धर्म के नाम पर नाना प्रकार के स्वाँग रचनेवालो में यदि कही यत्किंचित् भी लोक-सेवा की भावना जाग्रत हो जावे तो जन-समाज की परिस्थिति बहुत सुधर जावे और लोग अपनी वर्तमान हीनता से मुक्त होकर सुखी हो जावें। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे बीच में ऐसे ही मनुष्यो की सख्या अधिक है जो कमजोरो को दबाते है और दीन-दुखी लोगो को और भी दलित बना डालते है। जो अपने को बडे ईश्वरनिष्ठ और धर्म-परायण

समझते है, वे दुराचारी और दलित दोनो से उदासीन होकर पत्थर के बनाये हुए निर्जीव नारायण की आराधना मे लगे रहते है। थोडे से लोक-सेवक जो ससार में जन्म लेते है उन्हे जन-समाज के दुराचारी लोगो का सामना तो करना ही पडता है, परन्तु धर्म के विकृत रूप के पुजारियो की ओर से भी उन्हे कई कठिनाइयाँ सहन करनी पडती है। गाधी जी को हरिजनो के उद्धार-कार्य मे ऐसे ही धर्म-धुरधरो से सारी कठिनाई उपस्थित हो रही है।

लोक-सेवा धर्म का सर्वश्रेष्ठ और सर्व-सुलभ साधन होते हुए सुकर भी है। हमारे इस कथन का यह आशय नही है कि सेवा-धर्म पर आरूढ रहनेवाले मनुष्य को किसी तरह का कष्ट नही होता। होता है, परन्तु सन्तप्त और दुखी प्राणियो की परिचर्या मे जिस मानसिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है उसका हमारे हृदय में आविर्भाव होना अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। मनुष्य की हैसियत से इस जीवन में हम भी कई बार आपद्ग्रस्त होकर शारीरिक तथा मानसिक वेदनाओ का अनुभव किया करते है। इस अनुभव के आधार पर हम इतना तो अनायास समझ सकते है कि इतर प्राणियो को भी वैसा ही कष्ट होता है। यदि हमारी यह समझ समवेदना की जननी न हुई तो कहना पडेगा कि हमारे हृदय मे मनुष्यत्व का पौधा अभी अकुरित ही नही हुआ। अपने ही समान दुखी प्राणियो के लिए जिसके हृदय मे समवेदनामूलक प्रेम के भाव जाग्रत नही होते, वह मनुष्य अदृष्ट, अपरिचित और आप्तकाम परमेश्वर की उपासना किस हृदय से कर सकता है, यह बात हमारी समझ में अभी तक नही आई। ससार की दु खद परिस्थिति में रह कर जो लोग अपना जीवन व्यतीत करते है, उनके बीच पारस्परिक सहानुभूति-भाव का होना बिलकुल स्वाभाविक है। मानवी समवेदना की यह स्वाभाविकता ही लोक-सेवा को सुकर बनाती है।

ससार के सभी धर्मो का यह सिद्धान्त है कि परमेश्वर नि स्वार्थ

भक्ति के बिना प्रसन्न नहीं होता। यथार्थ में हमारे आध्यात्मिक विकास के मार्ग में हमारी स्वार्थ-परता ही रुकावट पैदा करती है। जब तक हमारे लिए अपना व्यक्तिगत जीवन ही सब कुछ है, जब तक हम परार्थ के लिए स्वार्थ का यत्किंचित् भी त्याग नहीं कर सकते, तब तक हमारे मोक्ष का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध है। इस बात पर किसी को कुछ भी संदेह नहीं होना चाहिए। परार्थ-संपादन के द्वारा ही परमार्थ सिद्ध होता है। जो मनुष्य स्वार्थ-रहित होकर जन-समाज-रूपी व्यक्त परमात्मा की उपासना नहीं कर सकता, वह अदृष्ट परमेश्वर को क्या पहचान करेगा? जिस अंधे को जनता में जनार्दन के दर्शन नहीं होते, उसे शून्याकाश अथवा स्वार्थ-पूर्ण हृदय में अव्यक्त परमेश्वर की व्यापक और असीम विभूति क्या खाक दिखाई देगी? अपनी आत्मा को व्यक्तिगत संकीर्णता से मुक्त करके जनता के समष्टिगत परमात्मा में लीन कर देना जिसने नहीं सीखा, वह अव्यक्त परमेश्वर की व्यापक और अखंड सत्ता से एक-वाक्यता किस तरह स्थापित करेगा? कदाचित् प्रगतिशील मनुष्य की इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही परमात्मा आंशिक रूप में हमारी स्थूल इन्द्रियों के सामने भी प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु फिर भी हम ऐसे मूर्ख हैं कि दृष्टिगत परमात्मा से पराङ्मुख अथवा उदासीन रह कर प्रच्छन्न परमेश्वर के पीछे व्यर्थ दौड लगाते हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि हमारी सेवा का सच्चा अधिकारी हमारा भाई मनुष्य ही है, क्योंकि उसे जरूरत है। आप्तकाम परमेश्वर को कुछ भी नहीं चाहिए। 'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्'।

लोक-सेवा ही गीता-प्रतिपादित कर्मयोग का मार्ग है। संसार से पराङ्मुख होकर ब्रह्म-चिन्तन में रत होनेवाला मनुष्य मोक्षार्थी भले ही हो, परन्तु फिर भी वह स्वार्थी है। इसके सिवाय निर्जन एकान्त में अपने अन्तर्गत त्रुटियों का ज्ञान होना उसके लिए बहुत कठिन है। आत्मसंयम का साधन विषयों के बीच में ही सम्भव है।

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा'। लोक-सेवक को हमेशा नाना प्रकार के प्रलोभनो के बीच रहना पडता है। इसी कारण आत्म-निरीक्षण मे उससे भूल होने की सम्भावना नही रह जाती। ससारी लोगो मे घिरे रहने के कारण उसे अपने हृदय की मलिनता का परिचय पग-पग मे मिला करता है। इस प्रकार आत्म-प्रवचना की सम्भावना मे दूर रह कर वह मोक्ष-मार्ग की एक बडी भारी अडचन से बच जाता है। इसके अतिरिक्त सेवा-धर्म पर आरूढ रहनेवाला मनुष्य दभ तथा अहकार-भावना से सुरक्षित रहता है। जो लोक-सेवक हीनातिहीन प्राणियो की परिचर्या में लगा रहता है, उसके हृदय मे अहकार के भाव स्वभावत उत्पन्न ही नही होते। वह नम्र से भी नम्र हो जाता है। विनय-शीलता उसके नस-नस में समा जाती है। वह अपने को रज-कण से छोटा समझकर महान् से भी महान् हो जाता है —

खाकसारी मे दिखाई रफअतो पर रफअते,
इस जमी ने वाह कैसे आसमाँ पैदा किये।

इसी खाकसारी की बदौलत महात्मा गाधी महान् हो गये है। उनके स्वभाव की लोकोत्तर नम्रता उन्हे लोक-सेवा से ही प्राप्त हुई है। उन्होने इस बात का कई बार खुलासा कर दिया है कि सत्य परमेश्वर के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से कृतार्थ हो जाना उनकी सारी कर्मण्यता का परम उद्देश्य है। वे मोक्ष-कामी है। सत्य-दर्शन के अन्यान्य साधनो मे उन्हे लोक-सेवा ही अधिक पसन्द हुई है। अतएव सत्य-धर्म पर आरूढ रहकर जन-समाज की सेवा करना ही उनके जीवन का मूलमत्र है। यो तो ससार में कई और कई प्रकार के समाज-सेवक विद्यमान है, परन्तु गाधी जी की सेवा-भावना बडी विलक्षण है। वह केवल उन्ही की विशेषता है। प्रतीत होता है कि सत्यनिष्ठा के साथ साथ लोक-सेवा की इस देव-दुर्लभ भावना को लेकर ही वे माता के गर्भ मे आये थे, क्योंकि हम देखते है कि

उन्हे बाल्यावस्था से ही सेवा की लगन थी। स्कूल से लौटने के बाद तत्क्षण वे अपने बीमार पिता की शुश्रूषा में प्रेमपूर्वक सलग्न हो जाते थे। बीमार आदमी के पास नियमित रूप से बैठकर उनकी परिचर्या में लगे रहना एक ऐसा काम है जिसमे बडे-बूढो का भी मन बहुत देर तक नही लगता। फिर चचल-हृदय बालको के लिए यह काम कितना दुष्कर है, इसका अनुमान समझदार पाठक सहज ही लगा सकते है। तथापि बालक गांधी को यह दुष्कर कार्य अत्यन्त सरल प्रतीत होता था। पितृ-परिचर्या से उनके बाल-हृदय को सतोष होता था। नव-विवाहिता स्त्री के प्रेम से यत्किचित् आकृष्ट होकर अन्तिम कुछ घडियो मे मरणासन्न पिता की चरण-सेवा जो उन्हे छोडनी पडी, उसका पश्चात्ताप आज भी उनके सुकुमार हृदय के टुकडे टुकडे कर रहा है। अपनी उस कमजोरी का खुलासा आत्मकथा में करके गाधी जी ने बडा करारा और कठिन प्रायश्चित्त भी कर डाला है। यह काम उनके समान महापुरुष से ही साध्य हो सकता था। ऐसी नैतिक क्षमता रखनेवाला सत्पुरुष सैकडो सदियो में एक-आध ही उत्पन्न होता है।

गाधी जी दक्षिणी आफ्रिका को मुकदमा लेकर वकालत करने गये थे। अवधि केवल साल भर की थी। वर्ष समाप्त हुआ। वे हिन्दुस्थान को लौटने की तैयारी में सलग्न हुए। अब्दुल्ला सेठ ने उनके लिए विदाई का जलसा किया। प्रभावशाली हिन्दुस्थानी व्यापारी तथा इतर लोग वहाँ उपस्थित हुए। गाधी जी के हाथ मे उस समय एक समाचार-पत्र था जिसके एक कोने में दक्षिण-आफ्रिका-प्रवासी भारतीयों का मताधिकार-सम्बन्धी समाचार छपा हुआ था । उससे मालूम हुआ कि नेटाल की धारा-सभा में एक ऐसा बिल पेश था जिसके द्वारा वहाँ के हिन्दुस्थानियो के मताधिकार छीने जानेवाले थे। गाधी जी ने उपस्थित लोगो का ध्यान उस समाचार की ओर आकर्षित किया और उसके दुष्परिणामो का चित्र खीचा। लोगो के कान खडे हुए। अब्दुल्ला सेठ तथा इतर लोगो ने नेता के अभाव की लाचारी बतलाई।

गाधी जी के सेवा-भाव समन्वित हृदय मे प्रवासी भारतीयो की निस्सहायता चुभ गई। ऐसी चुभी कि उन्होने उसी क्षण अपना जाना स्थगित कर दिया। विदाई का जलसा कार्यकारिणी समिति में परिणत हो गया। उसी दिन गाधी जी की लोक-सेवा का श्रीगणेश अज्ञात एवम् अकल्पित रूप से अनायास हो गया। वह एक अत्यन्त शुभ घडी थी। उस महत्त्वशाली मुहूर्त मे एक महान् आत्मा ने ससार के दलितो का उद्धार-कार्य अपने लोकोत्तर सबलता से परिपूर्ण हाथो में ले लिया। उस दिन निस्सहाय और अशक्त भारत एक सबलबाहु भीष्म का आश्रय पाकर सनाथ हो गया। उस दिन भारत की मूक अन्तरात्मा अपने स्वत्व-सपादन के लिए मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गई। निस्सदेह वह हमारे कर्मशील स्वाभिमान का जन्म-दिवस था।

इस तरह महात्मा जी लोक-सेवा की अप्रतिम भावना से प्रेरित होकर दक्षिण-अफ्रिका मे ठहर गये और मताधिकार-सम्बन्धी आन्दोलन में प्राणपण से लग गये। वकालत उनके लिए बिलकुल गौण हो गई। प्रवासी भारतीयो की सेवा ही उनका प्रधान मनोनीत कर्त्तव्य हो गया। यो तो सार्वजनिक रूप से गाधी जी अफ्रिका-निवासी हिन्दुस्थानियो के अधिकारो के लिए लडने लगे, फिर भी उन्हे दुखी, अनाथ तथा रोगियो की वैयक्तिक सेवा करने की ऐसी विलक्षण लगन थी कि वकालत करते हुए तथा सार्वजनिक आन्दोलन मे नेतृत्व की बागडोर सँभाले हुए भी वे अनुमति लेकर कुछ समय के लिए अस्पताल में बीमारो की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए जाया करते थे। जोहासबर्ग के कुली-लोकेशन मे प्लेग की बीमारी एकाएक फैल गई। वहाँ अपने कुछ मित्रो को लेकर गाधी जी पहुँचे और बीमारो की परिचर्या तथा देख-भाल मे लग गये। इस प्रसग का वर्णन गाधी जी ने आत्मकथा में इस तरह किया है —

"शुश्रूषा की यह रात भयानक थी। मै इससे पहले बहुत-से रोगियो की सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परन्तु प्लेग के रोगी की सेवा करने का अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरो की हिम्मत ने हमें

निडर बना दिया था। रोगियों की शुश्रूषा का काम बहुत न था। उन्हें दवा देना, दिलाना देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरह साफ कर देना--इसके सिवाय अधिक काम न था।"

इसके सिवाय बीमारों की सेवा का और काम हो क्या हो सकता था? इतनी शुश्रूषा तो पूरी थी। मैला साफ करने का काम अच्छे अच्छे सेवकों के लिए भी इतना कठिन है कि करते नहीं बनता। फिर भी आमतौर से घृणित माने जानेवाले कामों में भी गांधी जी के लिए कोई कठिनाई नहीं थी। एक बार किसी कोढ़ी को देखकर उनके मन में यह इच्छा उत्पन्न हो गई कि मैं इस दुखी मनुष्य की कुछ सेवा करूँ। अपने ही निवास-स्थान में उसे कुछ दिनों तक साथ रखा और उसकी शुश्रूषा की। परन्तु सार्वजनिक उलझनों ने उन्हें समय ही कहाँ मिलता था कि वे ऐसी वैयक्तिक सेवा का शौक़ पूरा करते। सेवा का शौक?

हाँ, सेवा का शौक! अच्छे से अच्छे सहृदय लोग भी बीमार आदमी की सेवा कोरी कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर किया करते हैं। लेकिन बाहर चलते फिरते कोढ़ी को घर में बुलाकर रखना, उसके ज़ख्म साफ करना तथा उसकी देख-भाल करना एक ऐसी बुलाई हुई बला है कि बिना शौक तथा विलक्षण सेवा-भावना के उस काम को करना कोई भी पसन्द न करेगा। हम सरीखे साधारण संसारी आदमी कहेंगे कि यह तो सुख-दुखमय संसार है, अपने अपने कर्मों का फल यहाँ सभी को भोगना पड़ता है। किसी को ऐसी क्या पड़ी है कि चलते-फिरते रोगी को अपने घर बुलावे, खिलावे-पिलावे और उसकी देख-रेख करे। ऐसी अनावश्यक जवाबदारी कोई अपने मत्थे क्यों ले? ऐसे रोगियों को सार्वजनिक चिकित्सालयों में क्यों न भेज दिया जाय? किसी भी समझदार से समझदार आदमी को भी ये विचार उपयुक्त जँचेंगे। लेकिन ऐसा समझनेवालों को यह भी समझ लेना चाहिए कि ऐसी ही सेवाओं की बदौलत महात्मा जी माला-

माल हो गये हैं। इतने प्रचुर परिमाण में जो आध्यात्मिक सपत्ति उनके हृदयकोष मे विद्यमान है, वह सारी की सारी उन्हे ऐसी ही सेवाओ के बदले परमात्मा ने फीस के रूप मे मिली है। वह ऐसी सम्पत्ति है जिसका क्षय तो होता ही नही, प्रत्युत जो व्याज-दर-व्याज बढती ही जाती है। दीन और अपाहिजो के नि स्वार्थ सेवा के बदले जो आत्म-धन प्राप्त होता है, वह मनुष्य को ऐसा भी श्रीमान् बना देता है कि उसके घर कुबेर पानी भरता है और ऋद्धि-सिद्धियाँ पखा झलती और पैर दबाती है। गाधी जी ऐसे ही श्रीमान् है। उनसे बढ कर धन-कुबेर इस मेदिनी-तल मे और कौन है ? आत्मा की प्यास सोने-चाँदी के टुकडो से बुझने की नही। उसे चाहिए विश्वात्मा का चुम्बन और प्रेमालिगन। दलित और सन्तप्त प्राणियो के क्षीण और निर्बल बाहुओ मे ही परमात्मा का प्रेमपाश है। इस पाश मे जिसने अपने को बाँध लिया, उसे बन्धन-मुक्त होते देर नही लगती। महात्मा जी ब्रिटिश साम्राज्य के बन्धन से मुक्त है, परन्तु दुखी और दरिद्र जनता के दुर्बल बाहुओ मे वे स्वयम् खुशी मे आबद्ध है। उडीसा के बीभत्स नर-ककालो मे उन्हे विश्वभर की मनोहर झाँकी दृष्टिगोचर होती है और हरिजनो की बेकसी में उन्हे विश्वात्मा का प्रत्यक्ष सकेत मिलता है। उसी के इशारे वे भूखे-प्यासे गाँव-गाँव पैदल फिरा करते है। लोक-सेवा-जनित शारीरिक कष्टो को सहन करती हुई उनकी पवित्र और उदार अन्तरात्मा अपने परमात्मा से प्रार्थना-पूर्वक कहती है —

आपकी जिसमे हो मरजी—वह मुसीबत बेहतर,
आपकी जिसमे खुशी हो—वह *मलाल अच्छा है।*

जन-समाज की सेवा ही गीता-प्रतिपादित कर्मयोग का मार्ग है। लोक-सग्रह का यही विशुद्ध रूप है। ऐसे ही लोक-सेवको के सम्बन्ध में योगेश्वर कृष्ण ने मुक्त-कठ होकर कहा है —'न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।' केवल व्यक्तिगत मोक्ष को लक्ष्य-पथ मे रख कर जन-समाज का परित्याग करनेवाला आत्मार्थी गीता-धर्म के महान्

प्रवर्तक को मान्य नही है। योगेश्वर पार्थ-सारथी ने कर्म की जैसी तर्क-सिद्ध वैज्ञानिक व्याख्या की है वह इस बात को सिद्ध करती है कि जन-सेवा से पराङ्मुख और अकर्मा होकर मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त नही हो सकता।

कर्मण्यकर्म य. पश्येदकर्मणि च कर्म य.।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत्॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देख सकता है वही विद्वान है और वही कर्माकर्म के रहस्य का समझनेवाला है। भूख-प्यास से तडपते हुए त्रस्त प्राणी को उदासीन भाव से चुपचाप देखनेवाला कर्म-सन्यासी भले ही यह समझे कि मैंने कोई कर्म नही किया; परन्तु गीता उसके मत्थे दुष्कर्म का पातक-भार मढ देती है। जो मनुष्य निस्सहाय जीवो की यथाशक्ति सहायता से पराङ्मुख अथवा उदासीन रहता है, उसका मनका फेरना केवल भटके हुए मन का फेर है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। हाथ-पैर सिकोड कर केवल निश्चल हो जाने से ही मनुष्य कर्मो का परित्याग नही कर सकता, न फिर ऐसा कर्म-शून्य होकर रहना उचित ही है। वह तो इस हर्ष-विषाद-मय ससार में इसी लिए आया है कि जन-समाज के दु ख-सुख का साझीदार बने और त्रस्तप्राणियो के कष्ट-निवारण में अपनी सारी धार्मिकता एवम् ईश्वर-निष्ठा को समर्पण कर दे। उसका सकल्प हो—'कामये दु ख-तप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम्'।

इसी शुभकामना के आधार पर मोक्ष की सोपान-परम्परा खडी हो सकती है। कृष्णार्पण-बुद्धि से निष्काम होकर लोक-संग्रह करना ही धार्मिकता का सोलह आने सच्चा रूप है। महात्मा जी ऐसे ही कर्ममय कर्मयोगी जीवन को अपने आचरण के द्वारा चरितार्थ कर रहे हैं।

आधिभौतिक उपयोगितावाद (Utilitarianism) की दृष्टि से भी अधिकाश लोगो का अधिक सुख सम्पादन करना नैतिकता का चरम रूप है। 'अधिकाश लोगो का अधिक सुख' एक वैज्ञानिक भाषा है

और 'लोक-सेवा' का ही पर्यायवाची है । इस सेवा-धर्म पर स्वामी विवेकानन्द इतने मुग्ध थे कि वे अपने व्यक्तिगत मोक्ष को गौण मानते थे । वे कहते थे कि भवसागर की जिस किश्ती पर मैं अपने भाइयो के साथ सवार हूँ, उन्ही के साथ पार लगना या डूब मरना मुझे पसन्द है, परन्तु किश्ती से कूदकर अकेले पार जाना मुझे प्रिय नही मालूम होता। सेवा-धर्म का यह आदर्श एकदम अनूठा है। यथार्थ मे मनुष्य को व्यक्तिगत मुक्ति कोई विशेष महत्त्व की चीज नही है। कदाचित् इसी कारण इस विश्व मे ऐसे अनेक महात्मा विद्यमान है जो स्वय तो बन्धनमुक्त है, परन्तु जन-समाज के उद्धार-कार्य मे सदैव सलग्न रहते है। ऐसे मुक्त पुरुष पृथ्वी पर नाना रूप में प्रकट होते है और जन-समाज को प्रासगिक सहायता किया करते है। ऐसे ही मुक्त उद्धारको को थियासोफी मे 'मनुष्य जाति के बडे भाई' (Elder brothers of the human race) के नाम से सबोधित करते है।

भारत-माता के सपूत और त्रस्त भारतीयो के बडे भाई की तरह महात्मा गाधी जन-सेवा के सत्य-पथ पर आरूढ है। हिन्दुस्थान के दुखी किसानो की दरिद्रता से द्रवीभूत होकर उन्होने स्वय एक अर्द्धनग्न कृषक का रूप धारण कर लिया है। खीर खानेवालो से मॉड पीनेवालो की सेवा नही बन पडती। ठाटबाट के साथ अत्यजो की गन्दी कुटियो में घुसने के लिए हृदय तैयार नही होता। उच्चासन पर बैठनेवालो के हाथ जनता-जनार्दन के चरणो तक नही पहुँच सकते। इसी भावना से अधीर होकर गाधी जी छोटा-सा पचा पहने हिन्दुस्थान के दुखी देहातो की धूल छान रहे है। इस विशालकाय देश के एक छोर से दूसरे छोर तक इतनी अधिक यात्रा करनेवाला भारतीय नेता उनके समान कोई दूसरा आज तक न हुआ। सन्तप्त को सान्त्वना देते हुए, बेकारो को कार्य की दिशा दिखाते हुए, विदेशी वस्तुओ के बेखबर प्रेमियो

को जगाते हुए, पतितों को उठाते हुए, निर्बलों को बल देते हुए, निराश लोगों को उत्साह-दान देते हुए, कलहशील सम्प्रदायों को समझाते हुए और पराधीन देश को स्वाभिमान एवम् स्वाभिमान की दीक्षा देते हुए लोकोत्तर लोक-सेवक गांधी जी अपने जीवन का एक एक पल जनता-जनार्दन के चरणों में अर्पण कर चुके हैं। इसी सेवा-धर्म में ही उनका प्यारा परमात्मा उन्हें दृष्टिगोचर हो रहा है। इस सम्बन्ध में महात्मा जी के निम्नलिखित विचार मनन करने योग्य हैं।—

"शुश्रूषा के इस शौक ने आगे चलकर व्यापक रूप धारण कर लिया। वह यहाँ तक कि उसमें मैं अपना काम-धंधा छोड़ बैठता। अपनी धर्म-पत्नी को भी उसमें लगाता और सारे घर को भी शामिल कर लेता था। इस वृत्ति को मैंने 'शौक' कहा है, क्योंकि मैंने देखा है कि यह गुण तभी निभता है जब आनन्द-दायक हो जाता है। खींचातानी करके दिखाव या मुलाहिजे के लिए जब ऐसे काम होते हैं तब वे मनुष्य को कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवा से चित्त को आनन्द नहीं मालूम होता वह न सेवक को फलती है, न सेव्य को सुहाती है। जिस सेवा से चित्त आनन्दित होता है उसके सामने ऐशोआराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती है।"

(आत्मकथा, प्रथम भाग—पृष्ठ-संख्या २६८)

सेवा-धर्म का यथार्थ रहस्य इन पंक्तियों में अंकित है। सच्ची सेवा सहानुभूति-मूलक होती है। दीन-अपाहिजों की देखरेख करना मेरा धर्म है—ऐसी कोरी-बुद्धिगत और शुष्क धारणा पर्याप्त नहीं होती। उसके साथ द्रवीभूत हृदय का समवेदनामूलक सहयोग चाहिए। तभी लोक-सेवा आनन्ददायक हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अध्याय १२

धर्म-जिज्ञासा

मनुष्य इस पार्थिव जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। यदि उसे अपनी इस मानवोचित प्रतिष्ठा का ध्यान रहे तो उसके आत्म-विकास के लिए सदाचरण के नियम ही पर्याप्त हैं। यदि मनुष्य इतना ही समझ ले कि उसका व्यवहार इतर प्राणियों के प्रति कैसा होना चाहिए तो उसके लिए मानव-धर्म की परिसमाप्ति वहीं हो जाती है। सदाचार के नियमों को ही नीति-धर्म कहते हैं। इन नियमों की रचना सामाजिक व्यवस्था को शान्तिपूर्ण एवं प्रगतिशील बनाने के उद्देश्य से की गई है। पृथ्वी पर जितने समाज तथा सम्प्रदाय हैं कदाचित् उतने ही मजहबी विचार हैं। परन्तु सदाचरण के नियम सर्वत्र एक-से पाये जाते हैं। यथार्थ में सर्व-स्वीकृत नीति-धर्म ही मानव-धर्म का साराश है। यदि संसार के भिन्न-भिन्न मजहबों में से हम नीति-धर्म को निकाल ले, तो फिर उनमें ईश्वर, स्वर्ग और नरक-सम्बन्धी झूठी-सच्ची कल्पनाओं के अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं रह जाता। यदि मनुष्य अपने भाई मनुष्य के प्रति सदाचार के नियमों का पालन करने लगे, तो फिर उसे किसी भी मजहब की आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन कठि-नाई तो इस बात की है कि जब तक उसे ईश्वर, स्वर्ग और नरक के कल्पित प्रलोभन तथा भय न दिखाये जावे तब तक वह अपनी बुराइयों से बाज नहीं आता। जो मनुष्य अपनी मानवोचित प्रतिष्ठा के विचार से सदाचारी हो सकता है, उसे न तो ईश्वर की जरूरत है, न फिर स्वर्ग और नरक-सम्बन्धी कल्पित भावनाओं की। ऐसे ही सदाचरण-शील मनुष्य की धार्मिकता उत्कृष्ट मानी जा सकती है। भय तथा प्रलोभन

से जो धर्म-भीरुता आती है वह कोई आदरणीय भावना नही मानी जा सकती। सच्ची धार्मिकता का आधार मनुष्यत्व ही है।

गाधी जी की गणना ऐसे ही जन्म-सिद्ध सदाचारी लोगो मे की जा सकती है। मजहब के अर्थ मे धर्म-जिज्ञासा उनके मन में पीछे उत्पन्न हुई। परन्तु उनको सस्कार-सिद्ध सत्य-निष्ठा तथा लोक-सेवा की भावना उनके हृदय में पहले से ही विद्यमान थी। यो तो उनका जन्म वैष्णव-सम्प्रदाय में एक धर्म-निष्ठ माता के गर्भ से हुआ था और बाल्यावस्था मे ही कुटुम्ब की पुरानी नौकरानी रम्भा ने भूत-प्रेतादि का डर छुडाने के लिए उनके बाल-हृदय में राम-नाम का बीज बो दिया था। उनके चचेरे भाई रामायण के बडे प्रेमी थे। पिता भी अपनी बीमारी की हालत में प्रतिदिन रामायण सुना करते थे। इन दोनो के प्रभाव से बचपन मे ही गाधी जी रामायण के कुछ प्रेमी हो चुके थे। भागवत का गुजराती अनुवाद उन्होने पढ लिया था। राम-रक्षा का पाठ भी वे अपनी बाल्यावस्था में किया करते थे। परन्तु इन बातो को केवल कौतूहल-मूलक समझना चाहिए। उनके हृदय मे तब तक ईश्वर-निष्ठा विशेष रूप से जाग्रत नही हुई थी। स्कूल और कालेजो में धर्म-शिक्षा देने की व्यवस्था न तो आज-कल है और न गाधी जी के समय मे ही थी।

थिऑसॉफिकल सोसायटी के लिए यह बडे गौरव और गर्व की बात है कि इस युग के महान् मनुष्य और सर्वश्रेष्ठ धर्मोपदेशक गाधी जी के हृदय मे धर्म-जिज्ञासा की प्रेरणा दो थिऑसॉफिस्ट मित्रो के सत्सग से ही पहले-पहल हुई। यथार्थ मे थिऑसॉफी हिन्दू-धर्म का वर्तमान वैज्ञानिक रूपान्तर है। उसके मूल-सिद्धान्त आर्य-धर्म तथा वेदान्त-दर्शन से लिये गये हैं। इस समाज के जन्मदाता कर्नल ऑल्कॉट और मैडम ब्लैवेट्स्की थे। कर्नल साहब अमेरिकन थे और बडे विद्वान् तथा विचारशील थे। ब्लैवेट्स्की एक रशियन किसान की लडकी थी। शिक्षा-दीक्षा उसे बहुत ही मामूली मिली थी। लेकिन वह एक विलक्षण स्त्री थी और अद्भुत मानसिक तथा बौद्धिक शक्ति

की स्वामिनी थी। उसने यो तो कई पुस्तके लिखी है, परन्तु उसकी 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' (गुप्त-विद्या) नामक तीन वडे वडे भागो मे जो ग्रन्थ विद्यमान है उनकी गणना ससार-साहित्य के कुछ थोडे से प्रथम श्रेणी के ग्रन्थो मे की जा सकती है।

अपने राष्ट्र-प्रेम की मस्ती में आकर स्वामी विवेकानन्द उन दिनो का सुख-स्वप्न देखा करते थे जब कि भारत-माता आर्य-धर्म और हिन्दू-सभ्यता के शान्ति-पूर्ण आक्रमण से समूचे ससार मे विचार-क्रान्ति उत्पन्न करेगी और मेदिनीतल के मानव-समाज को वेदान्तधर्म की पवित्र दीक्षा से कृतकृत्य कर देगी। इन पक्तियो के लेखक की यह हृदयगत धारणा है कि हिन्दू-सभ्यता आज थिऑसॉफी का वर्तमान वैज्ञानिक वाना लेकर सभ्य ससार में अपने सास्कृतिक विजय की पताका उडा रही है। आज यूरोप तथा अमेरिका के वडे से वडे विद्वान् थिऑसॉफी के श्रद्धालु समर्थक है और गीता-प्रेमी वनकर योगेश्वर कृष्ण की अमरवाणी के द्वारा आर्य-सभ्यता का पावन रस पान कर रहे है। आर्य-धर्म की अन्तरात्मा आज थिऑसॉफी के द्वारा वोल रही है। विचारशील पश्चिमी ससार उसे सावधान होकर सुन भी रहा है। स्वामी जी का स्वर्ण-स्वप्न आज जाग्रत-जीवन में चरितार्थ हो रहा है। जिस वेदान्त-धर्म का अमर सन्देश उन्होने शिकागो की धर्म-सभा में लोगो को सुनाया था उसकी गूँज थिऑसॉफी के ज़रिये ससार के कोने कोने में आज भी प्रतिध्वनित हो रही है।

भारत-माता का कोई शिक्षित सपूत अपने पूर्वजो के वतलाये हुए धार्मिक सिद्धान्तो से चाहे कैसा भी अवूझ रहे और साहवीपन की मिथ्या शान मे आकर पूरा विदेशी वन जावे, परन्तु आज विदेशो मे भी उसे ऐसे ऐसे विद्वान् तथा साधारण लोग मिलेगे जो वर्तमान के शिक्षित पर उद्भ्रान्त भारतीयो के कान पकड कर कहेंगे 'भूले हुए भाई, हम तो तुम्हारी ही सभ्यता के कायल है, तुम किधर जा रहे हो?' क्या यह कम आश्चर्य की वात है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष को

अपने धर्म की शास्त्रीय जिज्ञासा विलायत में हुई और वह भी गीता के द्वारा दो विदेशी मित्रों की प्रेरणा से। महात्मा जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं —

"विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा। उस बीच दो थिऑसॉफिस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझे गीता पढ़ने की प्रेरणा की। उन दिनों वे तो एडविन एर्नाल्डकृत गीता के अँगरेज़ी अनुवाद को पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने को कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता संस्कृत में तो क्या, गुजराती में भी नहीं पढ़ी थी। यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी। पर साथ यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने को तैयार हूँ।"

इन थिऑसॉफिस्ट मित्रों के साथ गांधी जी ने गीता का पहले-पहल अभ्यास किया और उसके द्वारा अपने पूर्वजों के तत्त्वज्ञान का अद्भुत रहस्य देखा। तब से गीता गांधी जी की बाइबिल हो गई है। वे लिखते हैं —

"तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्-गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन दिन अधिक दृढ़ होती गई और अब तो तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है।"

भगवद्गीता के सम्बन्ध में महात्मा जी का दिया हुआ यह प्रमाण एक कोरे विशेषज्ञ विद्वान् का नहीं है। इस सम्मति के मूल में एक धर्म-प्राण महापुरुष के आधारभूत आन्तरिक अनुभव एवं अन्तर्दर्शन हैं।

विचार करने की बात है कि इन्हीं दो विदेशी मित्रों की प्रेरणा से गांधी जी ने बुद्ध-चरित भी पढ़ा। कई लोगों की ऐसी धारणा है कि महात्मा जी गौतम बुद्ध के वर्तमान संस्करण हैं। अधिकांश लोगों की राय है कि उनकी पूर्ण अहिंसात्मक दृष्टि में ही उनके बड़प्पन की विशेषता है। गौतम बुद्ध के बाद अहिंसा परमो धर्म की आवाज़ को बुलन्द

करनेवाला महापुरुष गाधी जी के सिवाय कोई दूसरा नही हुआ। गाधी और गौतम पर तुलनात्मक दृष्टि से हम आगे विचार करेगे।

गौतम बुद्ध आर्य-सस्कृति के ही वशधर थे। अतएव उनका परिचय प्रत्येक भारतवासी को भारत के वातावरण में ही मिल जाना चाहिए। पर हमारी वर्तमान हीनता यहाँ तक बढ चुकी है कि हमे अपने महापुरुषो का परिचय देश मे नही, विदेशो में मिलता है। यही हाल गाधी जी का भी हुआ। गीता ने उन्हे जीवन मे कर्मशीलता एव समबुद्धि दी और गौतम बुद्ध ने उन्हे अहिसा का गम्भीर और अमर पाठ पढाया। इन्ही दो बातो की बदौलत महात्मा जी आज महान् है।

पाठको को यह सुनकर आश्चर्य होना चाहिए कि गाधी जी के वर्त-मान बडप्पन के ये दोनो शास्त्रीय आधार-स्तम्भ (कर्मयोग और अहिसा) उन्हे विदेश मे विदेशी मित्रो की प्रेरणा से प्राप्त हुए। खेद है कि गाधी जी को उन दो मित्रो के नाम या तो याद नही रहे या उन्होने उनका नामोल्लेख करना अनावश्यक समझा। मीमासक की दृष्टि से हमे इन दो थिऑसॉफिस्ट मित्रो का सम्पर्क महात्मा जी के जीवन में बडा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। क्योकि गीता और बुद्ध-चरित पढ चुकने के बाद गाधी जी के जन्मगत हिन्दू-सस्कार और भी दृढ हो गये। उन्हे इस बात की प्रतीति हो गई कि धर्म-ज्ञान की पिपासा उनके पूर्वजो के छोडे हुए साहित्य-सरोवर मे ही बुझ सकती है, अन्यत्र नही। उन्ही मित्रो की प्रेरणा से उन्होने मैडम ब्लैवेट्स्की-लिखित 'दे थिऑसॉफी' नामक पुस्तक भी देखी और उसमे उन्हे हिन्दू-धर्म की गहरी छाप मिली। वे लिखते है —

"मुझे कुछ ऐसा खयाल पडता है कि इन्ही भाइयो के कहने से मैडम ब्लैवेट्स्की-रचित 'दी थिऑसॉफी' पुस्तक भी मैने पढी। उससे हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी पुस्तको के पढने की इच्छा हुई। पादरी लोगो के मुँह से यह सुना करता था कि हिन्दू-धर्म तो अन्ध-विश्वासो से भरा हुआ है, यह खयाल दिल से निकल गया।"

गांधी जी के उपर्युक्त वाक्य थिआसॉफी-सम्बन्धी हमारी पूर्व-कथित धारणा का समर्थन करते हैं। थिआसॉफी हिन्दू-धर्म का वैज्ञानिक रूप है। इन पंक्तियों के लेखक को भी हिन्दू-धर्म का विशेष ज्ञान 'थिआसॉफी' के द्वारा ही हुआ है।

उपर्युक्त बातों का निष्कर्ष यह निकला कि महात्मा जी को धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की जिज्ञासा पहले-पहल विदेश में थिआसॉफिस्ट मित्रों की प्रेरणा से हुई और उन्होंने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा के द्वारा गीता और गौतम-चरित की ओर गांधी जी का ध्यान आकर्षित किया। गीता और गौतम दोनों गांधी जी के हृदय में सदैव के लिए चुभ गये। उनके जन्म-सिद्ध हिन्दू-संस्कार शास्त्र-ज्ञान का आधार पाकर पल्लवित होने लगे। वे इतर मजहबों के मिथ्या प्रभाव से हमेशा के लिए सुरक्षित हो गये। अतएव इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने थिऑसॉफी का सदस्य होना भी स्वीकार नहीं किया। भला, वे क्यों होने लगे, गीता का अटल आधार पाकर वे तो पूरे हिन्दू हो गये। सैद्धान्तिक दृष्टि से एक हिन्दू को थिआसॉफिस्ट होने की जरूरत बिलकुल नहीं है। व्यावहारिक बात कुछ और है।

गीता और गौतम-चरित पढ चुकने के बाद गांधी जी को बाइबिल पढ जाने की प्रेरणा भी एक ईसाई मित्र के द्वारा मिली। हज़रत ईसा के 'सरमन आन दि माउण्ट' का असर स्वभावत उनके हृदय पर गहरा पडा। 'स्वभावत' हम इसलिए कहते हैं कि गांधी जी जन्म-सिद्ध नीतिमान् थे और ईसा के उक्त 'सरमन' में नीति-धर्म का ही उपदेश है। परन्तु प्रतीत होता है कि नम्रता के सिवाय उन्हें बाइबिल में कोई नई शिक्षा न मिल सकी। गीता-सिद्धान्त से परिचित मनुष्य को धर्म-ज्ञान की शास्त्रीय नवीनता फिर अन्यत्र सीखने-समझने के लिए नहीं रह जाती। बहुत सम्भव है कि हज़रत ईसा के उपदेश-वचन से परिचित हो जाने के बाद गांधी जी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार जो उन्हें बुद्ध-चरित में मिले थे, और भी पक्के हो गये होंगे। ईसाई

मजहब की वुनियाद वौद्ध और यहूदी मजहवो पर डाली गई है। अतएव गौतम का अहिंसावाद, हजरत ईसा को पूरा पूरा मान्य है। हाँ, ईसाइयो की वात कुछ और है। वे वेचारे तो हजरत ईसा को हो आज तक नही समझ पाये। वाये गाल पर थप्पड मारनेवाले को वे दायाँ गाल तो देते ही नही, प्रत्युत मारनेवाले के दोनो गाल लाल कर देते है। वर्वर जाति के खूँखार वशधर यूरोप-निवासी हजरत ईसा की नम्रता और अहिंसात्मक भावना को अभी तक नही समझ पाये। निकटवर्ती भविष्य में वे समझ सकेंगे, ऐसी आशा भी नही है। जिनका जोवन मास और मदिरा के विना एक दिन भी नही चल सकता, उनके हृदय में अहिंसा की उदार भावना जाग्रत नही हो सकती। ईसाइयो के इस विलासी जीवन से गाधी जी को वडी खिन्नता थी। अतएव जिस भले ईसाई ने उन्हे वाइविल पढने का आग्रह किया उनसे हिन्दुस्थान के ईसाइयो का उन्होने अपना अप्रिय अनुभव कह सुनाया। उस ईसाई मित्र ने उन्हे विश्वास दिलाया कि आप वाइविल जरूर पढें, मास मदिरा से और ईसाई-मजहव से कोई अकाटच सम्वन्ध नही है। गाधी जी ने उनकी सलाह मान ली।

हम पहले कह चुके है कि गीता और गौतम-चरित पढ जाने के वाद गाधी जी को धर्म-सम्वन्धी धारणा जड पकडने लगी थी। उन्हे प्रतीत हो चुका था कि हिन्दू-धर्म में अध्यात्म-पिपासा को शान्त करने के लिए पर्याप्त ज्ञान-सामग्री उपलब्ध हो सकती है। किसी इतर मजहव से प्रभावित होने के पहले अपने ही धर्म का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक और उचित भी है। उपर्युक्त प्रकार से गाधी जी पहले ही से हिन्दू-धर्म के ज्ञान से सुरक्षित हो चुके थे। इस कारण जव प्रिटोरिया में मि० वेकर ने ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए परोक्ष रूप से उन्हे ईसाई-धर्म से दीक्षित होने के लिए सकेत किया तो गाधी जी ने स्पष्ट शब्दो में यह उत्तर दिया।

"जन्मत मैं हिन्दू हूँ। पर मुझे उस धर्म का विशेष ज्ञान नही।

दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नही जानता। अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का भी यथा-शक्ति अध्ययन करने का विचार है।"

अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना वे इसलिए चाहते थे कि उन्हे इस बात का आन्तरिक विश्वास हो गया था कि हिन्दू-धर्म के गम्भीर अध्ययन और मनन के बाद उन्हे किसी दूसरे धर्म मे दीक्षित होने की आवश्यकता न रह जावेगी। यह आन्तरिक विश्वास उनके हृदय मे गीता और बुद्ध-चरित के साधारण परिचय से ही जाग्रत हो चुका था। इस विश्वास के साथ मि० बेकर के प्रभाव ने टक्कर लगाया। परिणाम-स्वरूप गाधी जी के हृदय में धार्मिक मन्थन हो चला। उस रात को जब वे सोने लगे तो नीद आने के पहले उनके मस्तिष्क में निम्नलिखित विचार चक्कर काटने लगे —

"ईसाई-धर्म का अध्ययन मैं किस हद तक करूँ? हिन्दू-धर्म का साहित्य कहाँ से प्राप्त करूँ? उसे जाने बिना ईसाई-धर्म का स्वरूप मैं कैसे समझ सकूँगा?"

अन्त में सोने के पहले गाधी जी ने यह निश्चय किया कि जब तक मैं अपने धर्म का ज्ञान पूरा पूरा न कर सकूँ, तब तक मुझे दूसरे धर्म को अगीकार करने का विचार न करना चाहिए।

दूसरे दिन वे गिरजाघर में पहुँचकर ईसाई-मडली में दाखिल हुए। उस दिन की प्रार्थना उन्ही के लिए की गई। प्रार्थना इस तरह की थी —

"हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। जो शान्ति तूने हमें प्रदान की है, वह इसे भी देना। जिस ईसामसीह ने हमे मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसामसीह के नाम पर माँगते है।"

गुमराह ईसाई-समाज! हम तुझसे क्या कहें! समझ मे नही

आता कि अपने किस दुर्भाग्य की प्रेरणा मे महात्मा ईस
अनमोल शिक्षा के बीज तेरे पथरीले हृदय में बिखेरे। तेरे
की जोड की यदि कोई वस्तु है तो वह तेरा मिथ्याचार ही है। क्या
तुझे शान्ति मिल चुकी है ? जिनकी बदौलत आज सारा ससार आतकित
और अशात हो रहा है, उनके मुख से शान्ति का दावा! निर्लज्जता,
मिथ्याभिमान और आत्म-प्रवचना की हद हो गई!

इस स्वधर्माभिमानी मण्डली के सम्पर्क में आकर गाधी जी ने ईसाई-मजहब-सम्बन्धी कई पुस्तकें देखी, परन्तु उनके दृढ-निष्ठ और तर्कशील हिन्दू-हृदय पर उनका कोई विशेष प्रभाव न पड सका। कारण इतना ही था कि गाधी जी की विचारशील बुद्धि साम्प्रदायिक सकीर्णता मे बिलकुल अछूती थी। एक दिन मि० कोट्स नामक एक कट्टर ईसाई मित्र ने उनके गले में पडी हुई वैष्णवी कठी की ओर दृष्टिपात किया और उसे तोडकर फेंक देने के लिए गाधी जी से आग्रह भी किया! पर वह माला तो उन्हे मिली हुई माता जी की प्रसादी थी। महात्मा जी की महान् मानसिक रचना में जिस धर्मनिष्ठ देवी का कौशल-पूर्ण योग था, जिसकी पावन-स्मृति उन्हे विदेश के प्रवचना-पूर्ण वातावरण में मिथ्याचार से पग-पग में रक्षा करती थी, और जिनके सामने की हुई प्रतिज्ञा की बदौलत गाधी जी कुपथगामी होने से बाल-बाल बच गये थे, उस पुत्र-वत्सला, वीर-प्रसविनी और साध्वी माता की दी हुई प्रसादी कण्ठी गाधी के समान मातृ-भक्ति-परायण, स्नेहशील और महान् पुत्र के कण्ठ से क्या कभी उतर सकती थी! कण्ठ भले ही उतर जाता, पर उस स्नेहमयी जननी की दी हुई कण्ठी उतरनेवाली नही थी। कोट्स के आग्रह का परिणाम कुछ भी न हुआ।

ईसाई-मतावलम्बी भाइयो के मस्तिष्क में एक बडी बेवकूफी का विश्वास न जाने किसने और कब भर दिया है, जिसकी बदौलत वे आज-कल मिथ्याचारी बने हुए है। वे समझते है कि मनुष्य पाप-कर्म से हरगिज नही बच सकता। लेकिन फिर भी उसे स्वर्ग

तो प्राप्त करना ही है। ऐसी हालत में सबसे अच्छी बात तो यह है कि हजरत ईसा के मत्थे अपने पातक-भार को लादकर सुखी और शान्त हो जाना चाहिए। इस अन्ध-विश्वास का भयकर परिणाम यह हुआ है कि अपने को अच्छे से अच्छे ईसा-भक्त समझनेवाले ईसाई भी अपने आचरण पर विशेष निगरानी नही रखते। वे तो अपने मनोनीत कर्म, अकर्म और दुष्कर्म करते चले जाते हैं। क्योंकि उन्हे आन्तरिक विश्वास है कि उनके भले-बुरे कर्मों का जवाबदार स्वय वे नहीं, उनके पैगम्बर है। इससे बढकर किसी पीर या पैगम्बर की बदनसीबी और क्या हो सकती है? जिस मजहब के माननेवालो का ऐसा निर्मूल और मूर्खतापूर्ण विश्वास हो, उस मजहब के लिए कोई भविष्य नही है। इस बात पर किसी को कुछ भी शका नही होनी चाहिए। कुतर्क-सिद्ध बुनियाद पर कोई भी मजहब बहुत दिनो तक खडा नही रह सकता।

'प्लाइमथ ब्रदरन्' नामक सम्प्रदाय के ईसाइयो ने गाधी जी से उपर्युक्त आशय की ही दलील पेश की और उससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनका मजहब उत्तम से उत्तम है। परन्तु गाधी जी के गले उनकी बातें उतर न सकी। उनके तर्क-शील हिन्दू-संस्कार ने यो उत्तर दिया —

"यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो जैसा कि आपने बयान किया है तो इससे मेरा काम नही चल सकता। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता, मै तो पाप-प्रकृति से, पाप-कर्म से मुक्ति चाहता हूँ। जब तक मुझे वह न मिलेगी, मेरी अशान्ति मुझे प्रिय लगेगी।"

"मैं पाप के परिणामसे नही, पाप की प्रवृत्ति से मुक्ति चाहता हूँ।" कैसी सारगर्भित, सतर्क और सुन्दर उक्ति है! अपने किये हुए पाप के दुष्परिणामो को किसी दूसरे पर लादने का प्रयत्न करना कायरता है, स्वार्थ-परता की पराकाष्ठा है। उन्हे झेलने के लिए प्रत्येक स्वाभिमानी मनुष्य को कटिबद्ध रहना चाहिए। सच बात तो

यह है कि सृष्टि-कर्ता का न्याय-पूर्ण विधान ही ऐसा है कि रामदत्त के किये हुए कर्म का परिणाम देवदत्त नहीं भोग सकता। अपनी अपनी करनी और अपना अपना धाम। विश्व-शासन-प्रणाली का यही नैतिक रहस्य है। खेद है कि इस त्रिकालावाधित स्थिर सिद्धान्त को अधिकाश ईसाई-समाज नही समझता। यही कारण है कि वे अपने दुराचारो से अशक्त जन-समाज को इतना अधिक त्रास दे रहे है और अपने अनाचार के पाप मे अपने को ईसा-भक्त होने की वदौलत मुक्त भी समझ रहे है। ऐसे लोगो के सुधार की सम्भावना ही असम्भव-सी प्रतीत होती है।

पाप की मानसिक प्रवृत्ति ही सारी बुराइयो की जड है। 'मन एव मनुष्याणा कारण वधमोक्षयो' जब तक यह प्रवृत्ति वनी रहेगी, तब तक उसके द्वारा असख्य पातक अनन्त काल तक होते रहेगे। इतने अपरिमित पातक-भार को कोई कहाँ तक सँभालेगा। माना कि महात्मा ईसा सामर्थ्यवान् है, पर उस पवित्रात्मा के मत्थे आखिर ईसाई-समाज किस न्याय के आधार पर अपना पहाड-सा पातक-पुज मढना चाहता है? 'सर्मन ऑन दी मॉउण्ट' का उपदेश तो उसने इसी लिए दिया है कि मानवी दुराचार के मूल मे रहनेवाली पाप की प्रवृत्ति ही नष्ट हो जावे। इस जरा-सी बात को अधिकाश ईसाई नही समझ पाये। फिर भी वे अपने को ईसाई कहते है। प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका मैरी कॉरोली के मतानुसार ईसाई तो एक ही पैदा हुआ, पर अफसोस, वह क्रॉस पर चढा दिया गया।

गाधी जी के जन्म-गत सस्कारो पर उनके ईसाई मित्रो के द्वारा जो आक्रमण हुआ उसका शुभ परिणाम यह निकला कि उनके हृदय मे धर्म-जिज्ञासा बहुत तीव्र हो चली। वेकर साहब उनके धार्मिक भविष्य के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित थे। एक वार वे गाधी जी को प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो के कन्वेन्शन में वेलिंगटन भी ले गये। सभा के उत्साह-पूर्ण वातावरण में उन्हे बहुत आनन्द आया। परन्तु ईसाई-मत

के प्रति उनके जो भाव थे उनमे कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। हजरत ईसा को त्यागी और महात्मा मानने के लिए वे तैयार थे, लेकिन उन्हे ईश्वर का एकमात्र अद्वितीय पुत्र मानना गाधी जी के अवतारवादी हिन्दू-हृदय को स्वीकार नही था। उन्हे यह बात भी न पट सकी कि जो ईसा को मानता है उसी का उद्धार सम्भव है। मनुष्य को छोडकर इतर जीवधारियो की आत्मा नहीं होती, यह धारणा भी गाधी जी को निर्मूल प्रतीत हुई। सैद्धान्तिक दृष्टि से ईसाई-मत में उन्हे कोई असाधारणता न मिली। साराश यह कि वे इस धर्म को सर्वोपरि मानने के लिए तैयार नहीं थे। गाधी जी लिखते है कि त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्म ही मुझे श्रेष्ठ मालूम हुआ। अन्ततोगत्वा उन्होंने ईसाई मित्रो से अपने हृदय का खुलासा कर दिया। वे निराश हुए, पर कर ही क्या सकते थे।

इसी प्रकार गाधी जी के कुछ मुसलमान मित्र भी यह चाहते थे कि गाधी जी इस्लाम की दीक्षा ले लें। सेठ अब्दुल्ला ने मुहम्मदी धर्म की खूबियाँ बताई। इन सब प्रयत्नो का परिणाम यह हुआ कि गाधी जी हिन्दू-धर्म की यथेष्ट जानकारी के लिए अधिकाधिक व्यग्र हो चले। उन्होने हिन्दुस्थान के कई धर्म-शास्त्रियो को जिज्ञासा-पूर्ण पत्र लिखे। कई लोगो के उत्तर आये, पर रायचन्द भाई के पत्र ने उनकी शकाओं का विशेष समाधान किया। भाईजी ने पचीकरण, मणिरत्न-माला, योग-वासिष्ठ, षड्दर्शन-समुच्चय इत्यादिक कई पुस्तके भेजी। गाधी जी उन्हे चाव से पढने लगे और हिन्दू-धर्म के प्रति उनकी आस्था विचार-मूलक होकर दिनोदिन प्रगति पाने लगी।

डर्बन मे मि० स्पेंसर वाल्टन दक्षिण-अफ्रिका मिशन के मुखिया थे। गाधी जी इनके सम्पर्क में भी आये। वाल्टन साहब ने उनसे ईसाई-धर्म स्वीकार करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से कभी नही कहा। परन्तु प्रतीत होता है कि उनकी आन्तरिक मशा वही होगी। वाल्टन साहब के साथ वे हर रविवार को चर्च भी जाया करते थे। परन्तु

गाधी जी तो रायचन्द भाई की बदौलत हिन्दू-धर्म मे अधिकाधिक लीन होते जा रहे थे। नर्मदाशकर का 'धर्म-विचार', मैक्समूलर का 'हिन्दुस्थान हमे क्या सिखा सकता है ?' और थिऑसॉफिकल सोसाइटी का प्रकाशित किया हुआ उपनिषदो का अनुवाद भी वे क्रमश पढ गये। इन ग्रन्थो के सिवाय गाधी जी ने टॉलस्टॉय का 'गॉस्पेल इन ब्रीफ' 'ह्वाट् टु डू' और वाशिंगटन आइर्विंग का 'मुहम्मद चरित्र' भी देखा। इस तरह वे हिन्दू-धर्म-ज्ञान के प्रखर प्रकाश मे तुलनात्मक दृष्टि से इतर धर्मों का भी अभ्यास करने लगे। इन सब अभ्यासो का परिणाम यह हुआ कि दिनोदिन अपने पूर्वजो के धर्म मे दृढ-निष्ठ होते हुए गाधी जी इतर धर्मों की ओर भी आदर भाव से देखने लगे। इस तरह धर्म का व्यापक स्वरूप उनके सामने प्रकट होने लगा और वे अपने को सनातनी हिन्दू समझने मे अपना गौरव मानने लगे।

इसमे सन्देह नही कि हिन्दू-धर्म ससार के सब मजहबो मे अद्वितीय है। उसकी प्राचीनता आज विचारशील विद्वानो की दृष्टि मे सिद्ध हो चुकी है। जिन दिनो वर्तमान पश्चिमी राष्ट्रो के पूर्व-पुरुष वर्बरता की तमिस्रा मे लीन थे और जगली वृक्षो की टहनियो से अपनी पूँछ लिपटाकर एक दूसरे की ओर देखते हुए अपनी बत्तीसी काढ रहे थे, उन दिनो हिन्दू-धर्म के आदि प्रवर्तक गौतम, व्यास और वसिष्ठ के समान अन्तर्दर्शी महात्मा पद्मासन लगाकर ब्रह्म-चिन्तन मे सलग्न थे। इस प्रकार मानवी प्रज्ञा की आँखे पहले-पहल अध्यात्मदर्शी भारत ही में खुली। उस दिन से हिन्दू-सस्कृति का अविच्छिन्न प्रवाह युगो के आवरण को चीरता हुआ नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओ को पार करता हुआ और जिज्ञासु जन-समाज के हृदय और मस्तिष्क को धोकर स्वच्छ सस्कृत और स्वस्थ बनाता हुआ अद्यावधि बहता चला आया है। आज उन प्रात -स्मरणीय महर्षियो के वशधर अपनी सामाजिक दुरवस्था के कारण हीन और परतत्र वातावरण मे अपने लक्ष्य-पथ से भ्रष्ट हो चुके है। दीन और दरिद्र मनुष्य के हाथ मे रक्खा हुआ हीरा भी दूसरो को कॉच के टुकडे

के समान प्रतीत होता है। यही दुरवस्था आज हिन्दू-धर्म की हो रही है। उसकी कदर आज हिन्दुओ की नालायकी के कारण कुछ भी नही है। उसकी कीमत आज हिन्दू-हीनता के विकृत मानदण्ड से आँकी जा रही है। जो हिन्दू-जन-समाज इतना असमर्थ और परमुखापेक्षी हो रहा है, उसके धर्म-साहित्य मे ऐसी कौन-सी विशेषता हो सकती है जो दूसरो के जानने लायक होगी ? अधिकाश अनभिज्ञ विदेशियो की यही धारणा है। फिर भी ससार के विद्वान् विचारक इस बात को स्वीकार करने लगे है कि हिन्दुओ के धार्मिक साहित्य मे समूचे मानव-समाज के लिए श्रेय-सम्पादक ज्ञान-सामग्री विद्यमान है। प्रो० मैक्स-मूलर का 'ह्वाट कैन इडिया टीच अस' इसी आशय का सर्वमान्य ग्रन्थ है।

यथार्थ मे हिन्दू-धर्म किसी खास मजहब (Religion) का नाम नही है। वह तो मानव-धर्म के आधार पर रचित एक व्यापक सस्कृति (Culture) का द्योतक है। 'मजहब' या 'रिलिजन' शब्द से जो साम्प्रदायिक अर्थ निकलता है, उससे 'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत अधिक व्यापक है। 'धार्यते अस्मिन् इति धर्म'। जिन विश्व-व्यापी एव चिरन्तन नियमो से जगत् का धारण, भरण और पोषण होता है, उनके समुच्चय को धर्म कहते है। हिन्दू-धर्म इसी व्यापक अर्थ में धर्म है। मजहब के साम्प्रदायिक अर्थ में तो उसके अन्तर्गत अनेक मजहब विद्यमान है। यथार्थ मे जिसे हम हिन्दू-धर्म के नाम से पुकारते है वह अनेक मजहबो का एक सघ (Federation of faiths) है। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र मे स्वय-शासित अनेक प्रान्तो का सघ आज-कल देखने में आता है, ठीक उसी प्रकार धार्मिक विचार के क्षेत्र में भारत के प्राचीन आर्यो ने एक ही सस्कृति के अन्तर्गत कई धार्मिक सम्प्रदायो का एक सघ निर्माण किया था। इसी सघ को अनभिज्ञ लोग मजहब के अर्थ मे हिन्दू-धर्म के नाम से पुकारते है।

अपने जन्म-काल से इस धर्म की यह विशेषता रही आई है कि

उसके प्रवर्तकों ने विचार-स्वातन्त्र्य के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं डाला। स्वतन्त्रता के स्वास्थ्यकारक वातावरण में लोग अन्धपरम्परा से विशुद्ध मुक्त होकर तत्त्वानुसन्धान में सलग्न होने लगे। परिणाम यह हुआ कि सैद्धान्तिक दृष्टि से छ प्रकार के दर्शन-शास्त्रों की रचना हुई, जिनमे वेदान्त-दर्शन सर्वश्रेष्ठ है। जैन और बौद्ध-धर्म भी हिन्दू-धर्म-रूपी विशाल विटप की शाखाएँ मात्र है। विचार-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा से हिन्दू-धर्म की नींव परीक्षित, तर्क-सिद्ध और सत्य सिद्धान्तों के आधार पर डाली गई है। इसी कारण इसे सत्य सनातन-धर्म भी कहते हैं। ईसाई और मुहम्मदी मजहबों के समान उसका अस्तित्व किसी व्यक्ति-विशेष के आधार पर अवलम्बित नहीं है। हिन्दू-धर्म में महात्माओं की सख्या बहुत अधिक है। राम और कृष्ण सरीखे पुरुष ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। परन्तु हिन्दू-धर्म इन अवतारों के बिना भी विद्यमान था और भविष्य में रह भी सकता है। राम और कृष्ण की उपासना तो लोग इस कारण करते है कि उन महापुरुषों ने अपने जीवन-काल मे सनातन-धर्म के त्रिकाला-बाधित सिद्धान्तों के समर्थन, पालन तथा प्रचार में लोकोत्तर क्षमता दिखाई थी।

कहने का साराश यह है कि हिन्दू-धर्म का आधार परीक्षित और अनुभूत सत्य है, कोई व्यक्तिविशेष नही। इसी कारण यह धर्म सदियो के आघात प्रतिघात को सहता हुआ आज भी विद्यमान है। भविष्य भी इसी धर्म के लिए है, क्योंकि आज-कल की प्रगतिशील वैज्ञानिक विचार-सरणी की कसौटी में हिन्दू-धर्म के सिवाय कोई भी दूसरा धर्म खरा नही उतर सकता। जिस धर्म के सिद्धान्त तथा विश्वास विवेक और तर्क के प्रखर प्रकाश मे चमक सकेंगे वे ही आनेवाले जन-समाज को ग्राह्य होंगे। इतर मजहब सब इतिहास के पृष्ठों में चिपक कर रह जावेंगे। लोगों के प्रत्यक्ष जीवन से उनका कोई सम्बन्ध न रह जावेगा।

हिन्दू-धर्म के इस उदार वातावरण में गाधी जी का जन्म एक वैष्णव

सम्प्रदाय मे हुआ था। उनके पिता के जीवनकाल में ही उनके यहाँ कई मत-मतान्तरो की चर्चा हुआ करती थी। बालक गाधी के हृदय मे वे सब जन्म-सिद्ध एव परिस्थिति-प्रेरित सस्कार जमे हुए थे। राम-नाम का बीज रम्भा ने वो ही दिया था। रामायण की रुचि भी कुछ कुछ जाग्रत हो चुकी थी। स्नेहमयी माता की धर्म-निष्ठा, उपवास, व्रत तथा सहिष्णुता का प्रभाव उनके हृदय मे था ही। बुद्धि की प्रौढता प्राप्त करते ही दैवयोग से उन्हें विलायत में गीता और गौतम का भी परिचय पहले ही मिल गया। इस प्रकार गाधी जी की स्वधर्म-निष्ठा काफी बलवती हो चुकी थी। ऐसी दशा में बेचारे अन्धविश्वासी ईसाइयो की क्या चल सकती थी? परिणाम कुछ और हुआ। गाधी जी की धर्म-जिज्ञासा बढ चली और वे अटल सनातनी हिन्दू हो गये।

अध्याय १२

त्याग-वैराग्य

जब आत्मा का अनात्मा से सबंध होता है, तो उसे जीवदशा प्राप्त हो जाती है। आत्मा चेतन है, अनात्मा जड़ है। दोनो के सपर्क से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और इनके सबंध-विच्छेद से लय होता है। यथार्थ मे आत्मा और अनात्मा दोनो परमात्मा के अग है। परन्तु द्वैत के साम्राज्य में दोनो के गुण-धर्म भिन्न हो जाते है और परस्परविरोधी बन जाते है। इन दो विरोधी तत्त्वो के सघर्ष मे ससार का अस्तित्व है। इस सघर्षण-शील ससार मे जीव-दशा को प्राप्त होकर आत्मा अनेक प्रकार के अनुभव करती है। इन अनुभव से उसे आत्म-जाग्रति होती है। अनात्मा के प्रति आत्मा की उस अनुभव-सिद्ध अनास्था मे ही त्याग-वैराग्य का मूल है।

समूचा ससार सग्रह और विग्रह ऐसी दो क्रियाओ के तारतम्य से सचालित हो रहा है। भौतिक तत्वो के सग्रह मे रचना और विग्रह में सहार है। यो तो ये दोनो क्रियायें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे साथ साथ चल रही है, लेकिन फिर भी समष्टि रूप से सृष्टि-विकास के पूर्वार्द्ध मे सग्रह और उत्तरार्द्ध मे विग्रह विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। विश्व-शासन के इस व्यापक नियम की प्रेरणा से प्रभावित होकर जीव भी अपने विकास की पूर्वावस्था मे सग्रह-शील होता है। मनुष्य-योनि की चेतनता प्राप्त करके वह इस दिशा मे और भी अधिक कर्मशील हो जाता है।

आत्म-तोष की आन्तरिक इच्छा ही मनुष्य को सग्रहशील बनाती है। स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त करने की एकान्त कामना से वह प्रयत्नशील होकर जीवन मे धन, जन और ज्ञान का अर्जन किया करता

है। नाना प्रकार की आमोद-प्रमोद-सपादक सामग्रियो से घिरकर वह प्रसन्न होना चाहता है। अनेक कुटुम्बियो तथा इष्ट-मित्रो के सहवास से वह सुखी होने का प्रयत्न करता है। इन सब भौतिक साधनो से वह कुछ सुखी तो होता है, परन्तु उसका सुख स्थायी नही हो सकता। ऐसे सुख का स्थायी होना सभव भी नहीं है। भौतिक सामग्रियो से प्राप्त होनेवाला सुख उन सामग्रियो के विलीन हो जाने पर उसी क्षण नष्ट भी हो जाता है। सुख के अभाव मे मनुष्य को जिस मानसिक अवस्था का अनुभव होता है, उसे दुख कहते हैं। मानवयोनि के कई जन्म सुख-दुख से उत्पन्न होनेवाले उद्वेग मे बीत जाते है। अन्ततोगत्वा अपने विकास की विशिष्ट अवस्था में अनुभव-जन्य ज्ञान के आधार पर मनुष्य यह समझने लगता है कि अत्यन्त और अविनाशी आनन्द की प्राप्ति उसी वस्तु से हो सकता है, जो स्वयम् अविनाशी हो। नश्वर साधनो से अमर शान्ति का मिलना अक्षरश असभव है। ज्ञान का ऐसा प्रकाश जब आत्मा पर पडता है, तो मनुष्य की सग्रह-शीलता नष्ट होने लगती है। ससार के अनुभूत भौतिक साधनो से वह उदासीन होने लगता है और शान्ति-सपादन मे कृत-निश्चय होकर अपनी वासनाओ को बाहरी ससार से खीच लेता है। उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर सुख-प्राप्ति के लिए सूक्ष्म साधनो का उपयोग करने लगती है। इस प्रयत्न मे वह बाह्य जगत् को छोड कर विचार तथा भावनाओ के ससार में परिभ्रमण करने लगता है। अपनी बुद्धि और हृदय को वह सुख का साधन बनाकर काव्य, साहित्य, कला तथा विज्ञान में व्यस्त हो जाता है। यह मानसिक आमोद उसे बाह्य ससार के भौतिक सुखो से अधिक स्थायी प्रतीत होता है और अपने जीवन के सुदीर्घकाल तक वह इसी मे लीन रहता है। अन्ततोगत्वा विचारो और भावनाओ के द्वन्द्व और अस्थिरता से भी खिन्न होकर वह आत्म-निष्ठ हो जाता है। आत्म-निष्ठा उसे द्वन्द्वज सघर्ष से सर्वथा मुक्त करके अमर और अक्षुण्ण शान्ति का अधिकारी बना देती है। जन्म-जन्मान्तर की सारी दौड-धूप, खटपट और चहल-

पहल मिट जाती है। जीव आत्मरत होकर अपने ठिकाने पहुँच जाता है। इसी को मोक्ष कहते है। इसी मोक्ष की अवस्था में 'शान्त शिव सुन्दर' के दर्शन होते है। इस दर्शन से प्राणी आप्तकाम होकर कृत-कृत्य हो जाता है।

हृदय के जिस भाव की प्रेरणा से मनुष्य सुख के भौतिक साधनो मे मुंह फेर लेता है, उसे वैराग्य कहते है। सच्चा और स्थायी वैराग्य विचार-मूलक होता है और वैराग्य-सपादक सच्चे विचार को अनुभव-सिद्ध भी होना चाहिए। ऐसे विचार के अभाव में जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह बिलकुल ही क्षणिक हुआ करता है। लोग उसे 'श्मशान वैराग्य' कहते है। शुद्ध और स्थायी वैराग्य की आतरिक प्रेरणा से बाह्य-जगत् में जो आचरण होता है, उसे त्याग कहते है। यही त्याग-वैराग्य का बाह्यान्तर सबध है। वैराग्य मानसिक दृष्टिकोण है और त्याग तत्प्रेरित व्यवहार है। बाहरी त्याग के बिना वैराग्य सभव है, पर वैराग्य के बिना त्याग सभव नही। इस अन्तर का खुलासा हम आगे चलकर कभी करेंगे।

त्याग की महिमा बडी विचित्र है। विधिविधान कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पीछे दौडनेवाले मनुष्य से ससार दूर भागता है और दूर भागनेवाले के पीछे वह दौड़ता है।

"भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम,
अब जो नफरत हो गई वह बेकरार आने को है।"

ससार-लोलुप मनुष्य से स्वय ससार ही नफरत करता है और जो उससे विरक्त हो बैठता है उसकी खुशामद में यह दुनिया उसके चरण धोकर पीती है। त्यागी मनुष्य आप्तकाम हो जाता है। जब उसकी अन्तर्दृष्टि में प्राप्त करने योग्य कोई पदार्थ नही रह जाता, तो ससार की सुख-सामग्रियाँ उसके भ्रू-विलासमात्र से प्रस्तुत हो जाती है। त्याग के इस विपरीत और परम परिणाम को ओर लक्ष्य करके स्वामी राम-तीर्थ कहते है —

"अपने मज़े के खातिर गुल छोड ही दिये जब,
सारे जहाँ के गुलशन फिर हो गये मेरे सब।"

मनुष्य चाहे कैसा भी वैभव-सपन्न हो, लेकिन जब तक उसके हृदय में सग्रह-शोलता एव तज्जनित द्रव्य-पिपासा बनी हुई है, तब तक वह प्रकट रूप से श्रीमान् होते हुए भी दरिद्री है। दरिद्रता यथार्थ में मानसिक अवस्था का नाम है। परन्तु जो मनुष्य धन-जन-लिप्सा से अपने मन को मुक्त कर लेता है, वह हृदय से श्रीमान् तो हो ही जाता है, पर यदि वह चाहे तो ऋद्धि-सिद्धियाँ उसके द्वार पर बद्धाञ्जलि होकर किसी भी समय सेवार्थ उपस्थित हो जाती है। इसी आशय को अँगरेज़ी का एक विद्वान् लेखक इस तरह प्रकट करता है —

Reduce thy claim of wages to a zero and hast thou the world under thy feet.

त्यागी मनुष्य कभी टोटे में नही रहता। इसी लिए तो कवि कहते है —

जिसने सब खोया उसे सब कुछ मिला।
फायदा देखा इसी नुक़सान में॥

त्याग और सत्य का आधार-आधेय सबध है। सत्य-निष्ठा के विना त्याग सम्भव नही और त्याग के विना सत्याराधन भी असम्भव है। जो मनुष्य निष्प्रेय ही है, वही खुलकर साफ साफ बातें कर सकता है। मनुष्य डरता है अपने स्वार्थ ही से। जिसने परमार्थरत होकर स्वार्थ का परित्याग कर दिया हो, वह शाहशाह के समान निर्भय होकर बातें कर सकता है। भय से बढ कर मनुष्य के लिए कोई घातक विकार नही होता और भय स्वार्थ का सगा भाई है। ससार के सर्वसाधारण स्वार्थी लोगो का मुख म्लान रहता है, परन्तु सत्यनिष्ठ त्यागी का मुखमडल दीप्तिमान् रहता है। अन्त करण की शान्तिमूलक प्रसन्नता ही त्यागी महापुरुष को कान्तिमान् बनाती है। सुनते है कि एक बार स्वामी विवेकानन्द से किसी अमेरिकन महिला ने ढिठाई के साथ यह प्रश्न किया, स्वामी जी, आप इतने सुन्दर क्यो दिखाई देते है ? परमहस

देव के प्रियतम शिष्य उस विषय-विरक्त सन्यासी ने शीघ्र ही उत्तर दिया, बहिन ! वह मेरा वेदान्तधर्म है, जो मेरे मुख पर सौन्दर्य बिखेर रहा है।

स्वामी जी की धर्मपरायणता के मुख्य आधार क्या थे ? कामिनी और काञ्चन का अखण्ड त्याग। परमहंस देव स्वामी रामकृष्ण इस त्याग की महिमा गाते हुए कभी अघाते नही थे। इसी त्याग की स्वर्गीय कान्ति उनके प्यारे शिष्य के मनोहर मुखमडल पर आठोयाम अठखेलियाँ करती हुई दृष्टिगोचर होती थी।

हिन्दू-धर्म में त्याग की बडी महिमा गाई गई है। वैराग्य का भाव हिन्दुत्व के स्वभाव-सिद्ध सस्कार में ही समाया हुआ है, यहाँ तक कि विचार-शून्य वैराग्य से जो सासारिक अनास्था उत्पन्न हो जाती है, वह हमारे लिए एक जातीय दुर्गुण का रूप धारण कर चुकी है। हिन्दुस्थानी स्वभाव अल्प सतोषी होता है। इसी कारण वह इतना क्रियाशील भी नही है, जितना कि उसे होना चाहिए। विचार-शून्य मिथ्या वैराग्य के कारण जो अकर्मण्यता आती है, वह जन-समाज को क्रिया-हीन और शिथिल बना देती है। इससे मानवी स्वभाव में केवल तमोगुण की वृद्धि होती है और रजोगुण का ह्रास हो जाता है। इसी कारण कई लोगो की ऐसी धारणा है कि हिन्दू-धर्म के त्याग-भाव ने लोगो को अकर्मण्य बनाकर गत-पौरुष और पराधीन बना दिया है, अतएव उन्हे सग्रहशील स्वभाव की बडी आवश्यकता है।

इस आक्षेप में तथ्यांश जरूर है, पर इससे त्याग के महत्त्व में कुछ भी अन्तर नही पडता। सच्चा त्यागी पौरुष-हीन नही होता। त्याग का परिणाम अकर्मण्यता नही है। आज तक हिन्दू-धर्म के इतिहास में न जाने कितने कर्मशील त्यागी हो चुके है। वर्त्तमान काल में हमारे सामने महात्मा गाधी का ज्वलन्त उदाहरण विद्यमान है। त्याग उनका इतना बढा-चढा है कि एक अँगौछे के सिवाय उनके पास ऐसी चीज नही जिसे वे अपनी कह सकें। पर इस त्याग-भाव के साथ उनमें कर्मण्यता भी इतनी असाधारण कोटि की है कि उनका एक एक पल पहले से ही किसी न

किसी कार्य में नियुक्त रहता है और उसी के साथ मितव्ययिता भी ऐसे हद दरजे की है कि चलते-फिरते त्यकते सूत का कच्चा धागा भी वे बीन लेते हैं। आये हुए पत्रों के कोरे कागज भी काटकर आगे के उपयोग के लिए सुरक्षित रख छोड़ते हैं। दरिद्र जनता का दर्दी नेता ऐसा ही होना चाहिए।

महात्मा जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि गीता, बुद्धचरित और बाइबिल पढ जाने के बाद तुलनात्मक दृष्टि से मैंने तीनों का तात्पर्य त्याग ही निकाला। इसमें सन्देह नहीं कि उन तीनों ग्रन्थों का सारांश त्याग ही है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से गीता-प्रतिपादित वैराग्य में और बुद्ध-आचरित त्याग में अन्तर भी है। गौतम बुद्ध कर्म-सन्यासी थे। ईसा भी इसी कर्म-सन्यास-पथ के पथिक थे। परन्तु गीता को त्याग का यह स्वरूप मान्य नहीं है। वह कर्म-सन्यास नहीं सिखाती। वह तो कर्म-फल का त्याग चाहती है। अत्यन्त प्राचीन काल से सांख्य-योग और कर्म-योग में जो अन्तर चला आया है, वही भेद इन तीनों ग्रन्थों में भी विद्यमान है। गौतम बुद्ध ज्ञानी होकर भिक्षु हो गये थे; यहाँ तक कि अपने ही द्वार पर वे भिक्षा माँगने आये। हज़रत ईसा भी लँगोटिया सन्यासी थे और कबीर के समान कहा करते थे कि 'जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।' एक धनी मनुष्य से उन्होंने कहा कि तेरे पास जो कुछ है, गरीबों को दे डाल और चल मेरे साथ। यह 'घर फूंक और तमाशा देख' वाला त्याग गीता को मान्य नहीं है। कौरवों का सामना देखकर अर्जुन ने यही तो कहा था कि महाराज, इस कुल-क्षय से हाथ लाल करने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि सब कुछ छोड़कर मैं ही राह का भिखारी बन जाऊँ। लेकिन योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन के इस प्रस्ताव का उपहास किया और बड़े व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहा —

"अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाम्श्च भाषसे"

महात्मा जी के जीवन में त्याग का सिलसिला उसी समय से शुरू हो गया, जिस समय उन्होंने अपनी विदाई के जलसे में एक महीना

ठहर जाने का निश्चय करके सेठ अब्दुल्ला वगैरह से इस आशय की बातचीत की।

सेठ अब्दुल्ला बोले —

अब इन्हें रोकने का अख्त्यार मुझे नहीं। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको है। पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिलकर उन्हें रोक लें। पर ये तो बैरिस्टर हैं। इनकी फीस का क्या होगा ?

गांधी जी लिखते हैं —

'फीस की बात सुनकर मुझे दुख हुआ। मैं बीच ही में बोला, अब्दुल्ला सेठ, इसमें फीस का क्या सवाल ? सार्वजनिक सेवा में फीस किस बात की ? यदि मैं रहा तो एक सेवक की हैसियत से मैं रह सकता हूँ।'

गांधी जी का दक्षिण अफ्रिका का जीवन इसी सेवा-भाव से ओत-प्रोत था। अपनी वकालत का परवाह न करके केवल सच्चे मुकदमे लेकर दक्षिण-आफ्रिका की स्वर्णभूमि में न जाने कितना त्याग उन्होंने परोक्ष रूप से किया है। परोक्ष त्याग जन-साधारण की दृष्टि से दिखाई नहीं देता और प्रत्यक्ष त्याग चकाचौंध उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष त्याग भी महात्मा जी ने पूरा पूरा किया है। पर वह परोक्ष त्याग से बहुत कम है। आज तो उनके हाथ में टीन का तसला और कमर में अँगौछे के सिवाय कुछ भी नहीं है।

जब वे दक्षिण-आफ्रिका से अपना आन्दोलन समाप्त करके लौटे, तब एक गुजराती किसान के दीन-हीन वेष में थे और कोट, पतलून, टाई कालर के साथ वहाँ पहुँचे थे। हिन्दुस्थान में आकर उन्होंने कुरता भी उतार दिया और धोती के दो अँगौछे बना लिये। दक्षिण आफ्रिका में प्राप्त की हुई सम्पत्ति वहीं एक सार्वजनिक ट्रस्ट के हवाले कर दी। भवानीदयाल जी दक्षिण-आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में लिखते हैं —

"इस आश्रम (फीनीक्स सेट्लमेंट) को समृद्धिशाली बनाने में गांधी

जी ने पौन लाख से अधिक खर्च किया। फिर गाधी जी यह सारी जायदाद पच ट्रस्टियों के अधीन कर आप भिखारी वन गये।"

जायदाद को ट्रस्ट के हवाले करते हुए ट्रस्टडीड में गाधी जी ने स्वयम् अपने तथा कुटुम्ब के लिए जो शर्तें रखी थी, वे भी सुनने योग्य है। उन शर्तों में त्याग का भाव प्रत्यक्ष है । उन्होने अपने लिए एक मकान और दो बीघे ज़मीन लिये। यह भी तय किया कि प्रेस में काम करके वे पाँच पौंड से अधिक नही ले सकते। उनकी मृत्यु के बाद यह रक़म उनकी स्त्री तथा उनके छोटे छोटे दो बालक रामदास और देवदास को तब तक मिले, जब तक कि वे इक्कीस वर्ष के न हो जावें। बालिग होने पर वे इस रक़म के अधिकारी न रहेगे। पाठक देखे, नाबालिगी की इस शर्त में अपत्य-प्रेम और पुरुषार्थ-प्रियता का कैसा सुन्दर मेल है।

सन् १९०१ में जब महात्मा जी दक्षिण-आफ्रिका से हिन्दुस्थान को लौटे, तो उन्हे बहुत सी बेश-कीमती चीजें मित्रो ने उपहार में दी। उन भेंटो में एक पचास गिनी का हार कस्तूर बा के लिए था। परन्तु गाधी जी ने उसे अपनी ही सेवा के उपलक्ष मे मिली हुई चीज़ मानी। ऐसा मानकर वे इस बात पर विचार करने लगे कि इन चीज़ो को स्वीकार करना उनके लिए उचित होगा या नही।

वे लिखते है —

"जिस शाम को इनमें से मुख्य मुख्य भेंटें मिली, वह रात मैंने पागल की तरह जाग कर काटी। कमरे में यहाँ से वहाँ टहलता रहा। परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती नही थी। सैंकडो रुपयो की भेंटें न लेना भारी पड रहा था। पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।"

अततोगत्वा बहुत सकल्प-विकल्प के बाद उनके हृदय में त्याग-भावना की ही जीत हुई। उपहारो को वापस कर देना निश्चित हो गया। गाधी जी ने बच्चो को भी राज़ी कर लिया। अब रही कस्तूरबा, सो उन्हे समझाने की चिन्ता व्यापने लगी। गाधी जी ने धीरे से

त्याग का प्रस्ताव उनके सामने पेश किया । आखिर कुछ सभाषण के वाद कस्तूरवा ने झुँझला कर कहा —

"हाँ जानती हूँ तुमको, वही न हो जिन्होने मेरे भी गहने उतार लिये है । जव मुझे ही नही पहिनने देते हो तो मेरी वहुओ को जरूर ला दोगे । लडको को अभी से वैरागी वना रहे हो ।' इन गहनो को मै नही वापस देने दूँगी । और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक ?"

यह सब कुछ सुन लिया, पर गाधी जी तो ठहरे अपनी धुन के पक्के । उपहारो को लौटाकर उन्हे सार्वजनिक ट्रस्ट के सुपुर्द कर देने का अटल सकल्प वे कर ही चुके थे । बेचारी कस्तूरवा क्या करती, मन मसोस कर रह गई ।

गाधी जी के समान वैराग्यशील पुरुष की मानसिक अवस्था से पाठक अनायास समझ सकते है कि त्याग करना कितना कठिन है । एकदम यह काम विलकुल नही सध सकता । सम्पूर्ण त्याग कर सकने की क्षमता प्राप्त करने के लिए छोटे-छोटे त्यागो के द्वारा पहले वहुत दिनो तक अभ्यास करना पडता है । तव कही मनुष्य वेलाग होकर अपनी प्यारी से प्यारी चीज का सन्यास कर सकता है ।

तव से आज तक महात्मा जी का जीवन त्यागी और वैराग्यशील ही रहा है । अपने जीवन की आवश्यकताओ को उन्होने कम से कम कर डाला है । यदि वे किसी और युग मे अथवा किसी दूसरे देश मे जन्म लिये होते, तो वे सम्भवत लोगो को त्याग-वैराग्य का ही उपदेश देते और स्वय एक पाई पर भी हाथ न लगाते । परन्तु उनके मत्थे परमात्मा ने एक ऐसे देश का उद्धार-कार्य डाल दिया है, जो विलकुल दरिद्र है और जहाँ लाखो मनुष्यो को भरपेट भोजन नही मिलता तथा अपनी लज्जा ढाँकने के लिए जहाँ स्त्रियो को पर्याप्त वस्त्र भी सुलभ नही है । वेकारी और दरिद्रता से ग्रस्त जन-समाज को त्राण देनेवाले महात्मा जी स्वयम् भले ही त्यागी हो, परन्तु भूखे जन-समाज के सामने वे त्याग का आदर्श ही क्या रख सकते है ? हीन मनुष्य त्याग ही किसका

करे ? आखिर त्याग के लिए कोई त्यागने योग्य सामग्री भी तो हो। ऐसे लोगों के सामने त्याग-वैराग्य की शिक्षा बिलकुल उल्टी पड़ती है। बुद्धि-भेद उत्पन्न होता है और अनधिकारियों के द्वारा सदुपदेश का भयंकर दुरुपयोग भी हुआ करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत का जातीय धर्म-त्याग-वैराग्य-मूलक है। लेकिन जिन दिनों हिन्दुस्थान को यह दीक्षा दी गई थी, उन दिनों यहाँ लक्ष्मी का पूर्ण निवास था। ऐहिलौकिक वैभव से हिन्दुस्थान मालामाल हो रहा था। उन दिन महात्मा ईसा के शब्दों में हिन्दुस्थानियों से यह कहने की आवश्यकता थी कि मनुष्य केवल रोटियों की बदौलत नहीं जी सकता (Man liveth not by bread alone)। परन्तु आज हमारे हाथों से हमारी रोटियाँ तक छिन गई हैं, हम बुभुक्षित हैं। आज तो हमारी गरीबी का अनुभव हमें यही सोचने की प्रेरणा दे रहा है कि मनुष्य-जीवन के लिए रोटियाँ ही सब कुछ हैं। भूखे आदमी के लिए त्याग कहाँ और धर्म कहाँ ? वह इन सब बातों का अनधिकारी है। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अमेरिकन लोगों के सामने कहा था, मेरे अमेरिकन मित्रो, कदाचित् तुम यह कहो कि आप हमें वेदान्त-धर्म की शिक्षा देने इतनी दूर क्यों आये हैं ? क्या हिन्दुस्थान को इस ज्ञान की जरूरत नहीं है ? इन प्रश्नों का उत्तर तो मैं यही दे सकता हूँ कि इस धर्म का अधिकारी वही हो सकता है जो सामर्थ्यवान् और श्रीमान् है। तुम्हारा जन-समाज अटूट सांसारिक वैभव का स्वामी है। तुम्हारी संग्रह-शीलता बहुत बढ़ी हुई है, अतएव तुम्हें त्याग-मूलक वेदान्त की जरूरत है और तुम्हीं इस धर्म के अधिकारी हो। मेरा हिन्दुस्थान बिलकुल दरिद्र देश है। उसे मैं धर्म की क्या शिक्षा दूँ ! उसे तो मैं यही कहूँगा कि प्यारे, कमाओ, खाओ और धन-संग्रह करो।

त्याग-शील गांधी जी भी हिन्दुस्थान को कमाने-खाने का उपदेश दे रहे हैं। दरिद्रता के कारण जो नैतिक पतन हो जाता है, उससे बचाकर भारतीयों को संग्रहशील, उद्यमी और कर्मण्य बनाना ही उनका प्रधान

उद्देश्य है । इसी कारण स्वयम् अपने लिए सर्वस्व का परित्याग कर देने के बाद भी गाधी जी के हाथ स्टेशनो पर एक एक पाई बटोरने के लिए खुले रहते हैं । अपने लिए सोने की मुहरे तो छोड दी, पर दूसरो के लिए वे ताँबे के पैसे उगाहते फिरते हैं । इस तरह गाधी जी ने अपना ससार तो छोड दिया, पर ससार को अपना बना लिया । यथार्थ में त्याग का आशय भी यही है । स्वार्थ का परित्याग करके मनुष्य को एकदम अर्थ-शून्य नही हो जाना चाहिए, न फिर ऐसा सभव ही है । अपना वैयक्तिक और छोटा स्वार्थ छोडकर महापुरुष सामाजिक राष्ट्रीय तथा समष्टिगत स्वार्थ-सपादन के लिए प्रयत्नशील होता है । समष्टिगत स्वार्थ को ही परमार्थ कहते हैं । अतएव स्वार्थ और परमार्थ में क्षेत्र-विस्तार का ही अन्तर है । एक का दायरा छोटा और दूसरे का बहुत बडा होता है । परमार्थ मे स्वार्थ रहता है, पर स्वार्थ मे परमार्थ नही समा सकता । जो परमार्थी है, उसके दोनो काम—स्वार्थ और परमार्थ—एक साथ सिद्ध होते हैं । केवल स्वार्थ-साधन मे जो लोग लगे रहते है, उनका परमार्थ तो सिद्ध होता ही नही, स्वार्थ भी कई प्रसङ्गो पर विफल हो जाता है । परन्तु परमार्थी का परमार्थ पूरा हो या न हो, स्वार्थ तो सिद्ध हो ही जाता है । यहाँ पर हम स्वार्थ शब्द का उपयोग पारमार्थिक स्वार्थ के अर्थ मे कर रहे हैं । उदाहरण के लिए गाधी जी का कहना है कि मैं जन-समाज की सेवा मे इसलिए सलग्न हूँ कि मैं अपने मोक्ष का उसे अच्छा साधन मानता हूँ । ऐसी हालत मे उनके प्रयत्न से एक बार मान ले—हिन्दुस्थान को स्वराज्य प्राप्त न भी हुआ याने उनका समष्टिगत परमार्थ न भी सिद्ध हुआ, तथापि उनका वैयक्तिक मोक्ष (पारमार्थिक स्वार्थ) कही जाने का नही, वह तो मिलने ही वाला है । इसी कारण कहा भी जाता है कि यदि ससार में कोई बडा से बडा स्वार्थी है, तो वह वही मनुष्य है, जो परमार्थ-साधन मे लगा हुआ है । परमार्थी से बढकर कोई स्वार्थी नही ।

"अपने मजे की खातिर" महात्मा जी ने अपना ससार छोड दिया है,

परन्तु दरिद्र भारतीय जनता की भलाई के लिए उन्होंने सारा संसार अपने ऊपर लाद लिया है। उन्हें एक क्षण भी फुरसत नहीं। त्याग की ऐसी उल्टी प्रथा है। गीता में योगेश्वर कृष्ण ने ऐसी ही अनासक्त कर्म-शीलता का उपदेश दिया है और स्वयम् अपना ही उदाहरण देकर कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्य त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥

केवल मानसिक वैराग्य ही भगवद्गीता को मान्य है। त्याग का यही रूप गांधी जी के जीवन में भी चरितार्थ हो रहा है।

हम पहले कह आये हैं कि हिन्दुस्थान का दरिद्र और अकर्मण्य जन-समाज इस समय त्याग के नाम पर किसी भी तरह के उपदेश का अधिकारी नहीं है। उसे तो उद्यमी और संग्रह-शील बनाना है। कर्म-सन्यास के विकृत संस्कार से उसे मुक्त करना है। भाग्य तथा दैव पर अनुचित विश्वास करनेवाली हिन्दुस्थानी जनता को पौरुष और परिश्रम का पाठ पढ़ाना है। बेकारों को काम में लगाना है। देश का जितना धन प्रतिवर्ष बाहर चला जाता है, उसका पाई पाई देश ही में बचा कर रखना है। यही प्रयत्न गांधी जी को भी प्रिय है। अतएव उनके कार्य-क्रम में सार्वजनिक दृष्टि से त्याग की बू-बास भी नहीं है। व्यवसाय, उद्यम और संग्रहशीलता ही वर्तमान भारत को चाहिए और चाहिए उसे पूरा पूरा बनियापन। इसी कारण भूखे भारत का उद्धार-कर्त्ता वैश्य-कुल में ही प्रकट हुआ है। आन्तरिक वैराग्य और बाहरी बनियेपन से वह काम ले रहा है। दरिद्र देश के कर्णधार को यही चाहिए।

अध्याय १४

वकालत

वकालत का पेशा जिस रूप में हमे पश्चिम के सम्पर्क से हमारे विदेशी शासको के द्वारा मिला है, वह एक अजीवो-गरीव धन्धा है। अजीव इसलिए है कि पेशे के रूप मे यह काम हिन्दुस्थान मे कभी नही किया गया। और गरीव हम उसे इसलिए कहते है कि इस धधे में सत्य का मानदण्ड कुछ घटिया होने के कारण आत्मा को गरीब होने का अदेशा हमेशा वना रहता है। कम से कम हिन्दुस्थान मे आज वह जिस रूप में विद्यमान है, वह कोई अभिमान की वस्तु नही है। पश्चिमी देशो के न्याय-शास्त्रियो ने वकीलो के कर्त्तव्य पर जो सिद्धान्त स्थिर किये है, वे हमे भ्रात प्रतीत होते है। उनकी धारणा है कि किसी भी एक पक्ष का समर्थन करना वकील का कर्तव्य है। फैसला करके किसी निश्चय पर आना जज का ही काम है। इसमे सन्देह नही कि अधिकाश मामलो मे दोनो पक्षो की वाते सुनने के वाद ही किसी ठीक निर्णय पर पहुँचना सभव हो सकता है। परन्तु कई मामले ऐसे भी आते है, जिनमे एक पक्ष की वात सुनकर भी हम यह निर्णय कर सकते है कि कमजोर कौन है। फिर भी ऐसे कमजोर पक्ष का सरे अदालत समर्थन करना वकीलो के लिए अनुचित नही माना जाता। कतल के मामलो मे भी यह नैतिक विश्वास होते हुए कि मुलजिम अपराधी है, आमतौर से सभ्य से सभ्य वकील पैरवी करते नजर आते है। कोर्ट का सत्य कुछ और माना जाता है और 'आउट आफ कोर्ट' सत्य कुछ और। फीस लेकर अपनी कानूनी योग्यता का ईमानदारी के साथ किसी स्वीकृत पक्ष के लिए यथाशक्ति उपयोग करना वकालत

का एकमात्र कर्तव्य माना जाता है। अदालत से स्वतंत्र होकर किसी निश्चय पर (यदि आ सके तो) आना और उसके अनुसार किसी पक्ष की नैतिक योग्यता के संबंध में विचार तथा आचरण करना वकालत के दायरे से बाहर की बात हो गई है। पेशे का यह नग्न रूप है। व्यवसाय-दृष्टि सामाजिक कर्तव्य-बुद्धि को मात दे चुकी है। अतएव यह पेशा न तो भारतीय सभ्यता तथा संस्कारों के अनुरूप है, न फिर आर्थिक दृष्टि से ही वह देश को लाभदायक सिद्ध हुआ है। जिन पेशेवर लोगों की जीविका जन-समाज के पारस्परिक झगड़ों पर अवलम्बित है, उनका सामूहिक अस्तित्व सर्वसाधारण के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता। अनुभव भी हमारे इस विचार का समर्थक है।

समाज-शास्त्र की दृष्टि से यदि हम वकालत-पेशे की प्रचलित धारणा पर विचार करें, तो वह असंगत एवं निर्मूल सिद्ध होती है। जिस देश में जन-समाज की सत्ता निर्बाध होती है, वहाँ वह अपनी शासन-पद्धति की रचना अपने प्रतिनिधियों-द्वारा स्वयं करती है। इस निर्माण में उसको यह स्पष्ट आज्ञा है कि जो मनुष्य सामाजिक जीवन के आवश्यक नियमों की अवहेलना तथा उल्लंघन करेगा, उसे शासकों के द्वारा दंडित होना पड़ेगा। सभ्य राष्ट्रों के 'पिनल कोड' इसी सामाजिक मन्तव्य के कानूनी रूपान्तर है। इस आदेश का पालन करना प्रत्येक योग्य नागरिक का कर्तव्य तो है ही, पर अपराधी को दण्ड दिलाने में शासकों की सहायता करना भी उनका परम से परम कर्तव्य है। ऐसी दशा में यह मानना होगा कि वकील का वास्तविक कर्तव्य-कर्म किसी एक पक्ष का समर्थन करना नहीं हो सकता। उसे चाहिए कि वह सत्यासत्य के निर्णय में न्यायाधीश का सहायक हो। उसे यथार्थ में किसी पक्ष का नहीं प्रत्युत न्याय का समर्थन करना चाहिए। यदि यही दृष्टि स्थिर हो गई, तो फिर वकालत का काम पेशे के रूप में नहीं रह जाता। न्याय के समर्थन में पैरवी करनेवाले के लिए किसी मुलजिम से फीस लेने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। इस विचार से वकालत शिक्षित मनुष्य का एक

पवित्र सामाजिक कर्तव्य हो जाता है और ऐसा होना भी चाहिए। धंधे के रूप मे तो भ्रष्ट होकर वह बड़ा भयंकर हो जाता है। दुर्भाग्य से इन पंक्तियो का लेखक पेशेवर वकील था और उपर्युक्त विचार उसके अनुभव से समर्थित होते हैं।

हमारे दरिद्र देश की वर्तमान परिस्थिति मे वकीलो की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या बड़ी शोचनीय है। न जाने कितने हिन्दुस्तानी युवक आज इस संख्या को प्रतिवर्ष बढ़ाते हुए अपनी शक्ति और समय का दुरुपयोग करते हुए दिखाई देते है, दूल्हे के समान सजे-सजाये पेट की चिन्ता से संतप्त होकर बेकार बैठे रहते हैं। उनका जीवन स्वार्थ और परमार्थ दोनो से शून्य हो रहा है। इससे बढ़कर दुर्भाग्य किसी मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है ?

वकील-सम्प्रदाय के विरुद्ध इतना लिख चुकने के बाद किसी भी निरपेक्ष भाववाले मनुष्य को स्वीकार करना होगा कि इस वर्ग ने हिन्दुस्थान के अधिकाश नेताओ को जन्म दिया है। लाला लाजपतराय, महर्षि मालवीय, देशबन्धु चितरंजनदास, पंडित मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, पटेल बन्धु, सेनगुप्त, श्रीयुत नरीमैन, राजगोपालाचार्य, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, स्वामी श्रद्धानन्द तथा अनेक गण्य-मान्य नेता वकील वर्ग से ही निकल कर आये हैं। लेकिन बात तो यह है कि वे सच्चे नेता तभी बन सके, जब वकालत के धंधे से उन्होंने हाथ धो लिया और वकील-समाज से बाहर निकल आये।

यह धंधा अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ अधिक मानास्पद था। परन्तु कालान्तर में वकीलो की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने के कारण तथा दूषित प्रतियोगिता की बदौलत यह पेशा अपने लक्ष्य-पथ से बहुत गिर गया। आर्थिक परिस्थिति की वर्त्तमान विषमता तो उसे नैतिकता-शून्य बनाकर बिलकुल भ्रष्ट कर चुकी है। इसके सिवाय अपने असहयोग-आन्दोलन के द्वारा वकीलो की परीक्षा करके महात्मा गांधी ने उन्हे और भी नालायक और कायर सिद्ध कर दिया है। अतएव

आज दिन वे जन-समाज की दृष्टि में अपनी पुरानी प्रतिष्ठा बहुत कुछ खो चुके है। देश की बढती हुई दरिद्रता ने उन्हे आर्थिक दृष्टि से और भी लाचार बना दिया है। यह दुरवस्था उनके नैतिक पतन के लिए विशेष कारण हुई है। महात्मा जी ने जिस समय चमार-मोचियो से वकीलो की तुलना करके उन्हे हीन ठहराया था, उस समय हिन्दुस्थान के वकील-सम्प्रदाय में कुछ अप्रसन्नता फैल गई थी। परन्तु महात्मा जी की सम्मति बिलकुल यथार्थ थी। आर्थिक तथा नैतिक दोनो दृष्टि-बिन्दुओ से मोची का पेशा वर्तमान की दूषित वकालत से कही बहुत अच्छा है। इस बात पर किसी को कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए।

लेकिन इस ऐतिहासिक बात पर तो कुछ भी सन्देह नही कि राष्ट्रीय चेतनना का जन्म पहले-पहल वकील-सम्प्रदाय में ही विशेष रूप से हुआ और उसी समाज के कुछ पुरुष-रत्नो के प्रयत्न से हिन्दुस्थानी जन-समाज में देश-सेवा की मनोवृत्ति जाग्रत हुई। ऐसे लोगो मे गाधी जी का स्थान सबसे अग्रगण्य है। उन्होने भी अपने जीवन का सूत्रपात बैरिस्टर की हैसियत से ही किया। लेकिन नीति-धर्म के हामी होने के कारण बैरिस्टरो की कई बातें उन्हे नही पट सकी। सिवाय इसके जैसा कि उनकी आत्मकथा से मालूम होता है—स्वभाव से सरल, नम्र और मितभाषी होने के कारण उन्हे शुरू मे इस बात का आत्म-विश्वास भी नही था कि वे वकालत में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। उनके सामने मित्रो ने फ़िरोज़शाह मेहता का आदर्श रखा। परन्तु विश्व-कर्त्ता ने तो उनके लिए उससे भी बहुत बडा आदर्श पहले ही निश्चित कर रखा था। मनुष्य की नही, मनुष्यत्व की पैरवी करना उनके हिस्से मे आया था। भला वे अदालती वीर कैसे बन सकते थे? इसी कारण हमें कहना पडता है कि जिस समय ममीबाई के मुकद्दमे में अदालत के सामने खडे होने पर गाधी जी का सिर घूमने लगा और पैर कॉपने लगे, उस समय भाग्य-विधाता मानो उनसे कह रहा था, कि गाधी!

यह स्थान तुम्हारे लिए निर्दिष्ट नही है, तुम्हे तो लोकमत के इजलास मे ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध पैरवी करने के लिए मैने जन्म दिया है, यहाँ से भागो। गाधी जी सचमुच मे उस मामले की फीस मुवक्किल को लौटाकर अदालत से भाग आये। फिर यह भी पता न लगाया कि आखिर उस मुकदमे का क्या हुआ। इस प्रथम अनुभव ने ही उन्हे वैरिस्टरी से इतना विरक्त बना दिया कि किसी हाईस्कूल का विज्ञापन देखकर उन्होने फौरन अँगरेजी शिक्षक के पद के लिए एक दरख्वास्त दे दी। परन्तु बी० ए० न होने के कारण वह ७५) की जगह भी उन्हे न मिली। उस दिन यह बात किसे मालूम थी कि यही आदमी हिन्दुस्थान का हृदय-सम्राट् और ससार के समूचे जन-समाज का एक ही शिक्षक होकर रहेगा? हेतुर्न गम्यो विधे ।

बम्बई की बैरिस्टरी का अपना अनुभव बतलाते हुए महात्मा जी ने वर्त्तमान के बेकार बैरिस्टरो को एक मजे की नसीहत दी है। मालूम नही, उसे लिखते समय उनके मन मे विनोद का भाव था या नही। वे लिखते हैं कि जिन दिनो मै बेकार बैरिस्टर था, अपने निवास-स्थान गिरगाँव से हाईकोर्ट तक पैदल ही आता-जाता। इससे खर्च मे किफायत हुई और बीमार भी न पडा। कहने का साराश यह कि आजकल के बेकार बैरिस्टर खाली न बैठकर अगर पैदल ही चला करें, तो कम से कम खाया हुआ भोजन तो हजम कर सकते है। कुछ पैसे भी ट्राम या गाडी के किराये से बचा सकते है, जिसे आमदनी मान ले तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से कोई हर्ज भी नही।

वकालत की सबसे पहली बात, जो महात्मा जी की नीतिमत्ता को नागवार गुजरी, वह थी दलालो को कमीशन देने की स्वीकृति। ममीबाई का जो सबसे पहला मुकदमा उन्हे मिला था, उसमे उन्होने कमीशन देने से साफ इनकार कर दिया। बहुतेरा उन्हे समझाया, पर वे टस से मस न हुए। इस मामले की पैरवी छोडकर और उसकी फीस लौटाकर किस तरह गाधी जी अदालत से बाहर चले आये थे, यह हम अभी देख चुके है।

पर बम्बई छोडकर जब वे राजकोट आ गये, तो उन्हे हलकी हलकी अर्जियाँ लिखने को मिलने लगी और करीब २००) महीने की आमदनी भी होने लगी। पर यहाँ पर गाधी जी के पैर कमीशन देने के लिए फिसल गये। क्या करते, परिस्थिति ही ऐसी थी।

बम्बई से गाधी जी निराश होकर तो लौटे ही थे, राजकोट का रियासती वातावरण भी उन्हे अच्छा न लगा। यहाँ के षड्यन्त्रो से तो उनका जी और भी ऊब गया। सिवाय इसके तत्कालीन पोलिटिकल एजेट से झगडा हो जाने के कारण राजकोट की सबसे बडी अदालत का मार्ग भी एक तरह से अवरुद्ध हो रहा था। गाधी जी के हृदय मे निराशा की कोई सीमा न थी। उनके भाई साहब भी बडे हताश हुए। ऐसी हालत में वे फिर कोई नौकरी स्वीकार कर लेने की फिकर में लग गये। इस प्रकार जिस समय उनके लिए चारो दिशाये शून्य हो रही थी, जिस समय उन्हे यह नही सूझ रहा था कि आखिर किस रास्ते जायँ, दैव ने उनके लिए एक पैगाम भेजा, जिसे स्वीकार करने के लिए ही उनका जन्म हुआ था। यह वह पैग़ाम था, जिसे कबूल करके गाधी जी आज जन-समाज के पैग़म्बर हो रहे हैं।

पोर बन्दर की एक मेमन दूकान का सन्देशा आया कि दक्षिण-आफ्रिका में दूकान-मालिक का एक बडा मुक़दमा चल रहा है और उसमें बडे-बडे बैरिस्टर दोनो तरफ से पैरवी कर रहे है। उसमे गाधी जी की जरूरत सिर्फ इसलिए थी कि गुजराती फरीक और अँगरेज बैरिस्टर के बीच दुभाषिये का काम वे अच्छी तरह कर सकते थे। कुछ सकल्प-विकल्प के बाद वे यह समझकर दक्षिण-आफ्रिका जाने को तैयार हो गये कि उन्हे बहुत मिहनत न करनी पडेगी। आने-जाने का खर्च और जुमला १०५ पौंड फीस पर वे अपनी महान् यात्रा के लिए कटिबद्ध हो गये। नई दुनिया देखने के नये उत्साह से वे हिन्दुस्थान छोडकर निकल पडे।

मेमन का मुकदमा लेकर जाना परमात्मा का दिया हुआ एक

निमित्त था। इस बाह्ययोजना के गर्भ में एक मार्मिक और महत्त्वशाली भविष्य छिपा हुआ था। ईश्वर की मशा थी कि भारत के उद्धारक होने के पहले यन्त्रणा और अपमान की धधकती हुई वेदी में गाधी बेरहमी के साथ होम दिया जाय। यन्त्रणाओ की आँच से गुजर कर ही नर नारायण-पद को प्राप्त कर सकता है। परमार्थ का मार्ग फूलो से बिछा हुआ नही होता। इस पथ के पथिक को नगे पैर काँटो पर चलना पडता है। इस राह को जो पार कर जाते है, उन्ही को सच्चा और अमर ऐश्वर्य मिल सकता है। दैव के इच्छानुसार गाधी जी को उसी राह पर चलना था, सो चले।

जहाज के कैबिन भर चुके थे। पर ईश्वर जिसे पार करना चाहता है, उसके लिए रुकावट कौन पैदा कर सकता है ? जहाज के अफसर को स्वय अपने कैबिन की एक खाली जगह देनी पडी। लामू बन्दर में तो गाधी जी छूट ही गये थे, लेकिन नाव पर से वे मछवे के द्वारा उठा लिये गये। इन सभी बातो में दैव की प्रेरणा काम कर रही थी। उसी से प्रेरित होकर कूदते-फाँदते महात्मा जी दक्षिण-आफ्रिका मे दाखिल हो गये।

जन्मसिद्ध सस्कारो से एक सतोगुणी, सरलप्रकृति और स्वाभिमानी मनुष्य दक्षिण-आफ्रिका की दारुण परिस्थिति मे आत्मबल की तलाश करते हुए इस तरह पहुँच गया। जिस मामले के सबध मे गाधी जी गये थे, उसकी पैरवी उन्होने अपने ही ढग से की। वादी और प्रतिवादी दोनो की निश्चित बरबादी का खयाल करके उनके बीच आपस में समझौता करा दिया। लडनेवालो में सद्भावना का बीज बो दिया। उसी के साथ-साथ वकालत की प्रचलित प्रणाली से उन्हे और भी घृणा हो गई। क्यो न होती, उनकी जन्मगत सहृदयता बन्धु-विरोध के विरुद्ध थी। हिन्दुस्थानियो को आपस में लडाकर पैसा कमाने के लिए उन्हे दैव ने नही भेजा था। भारतीयो को सबद्ध बनाकर उनके प्रति होनेवाले अनाचारो का सगठित रूप से विरोध करना तथा उन्हे स्वाभिमान

के पथ पर आरूढ करना ही उनकी आफ्रिका-यात्रा का अलक्षित उद्देश्य था। गाधी जी को शीघ्र ही प्रतीत होने लगा कि दाम और चाम दोनों खोकर उन्हे लोगो की पैरवी करनी पडेगी।

गाधी जी अपनी आत्मकथा मे लिखते है कि अपने बीस साल के वकालत में अधिक समय मेरा सैकडो फरीकैन में समझौता कराने में बीता। उनका यह भी कहना है कि ऐसा करके मैंने धन खोया, ऐसा नही कह सकते और आत्मा को तो किसी भी तरह नही खोया। जिन लोगो की ऐसी धारणा है कि किसी अश में असत्य और बना-वटीपन का आश्रय लिये बिना वकालत मे कामयावी नही मिल सकती, उनके लिए महात्मा जी के इस सत्य-प्रयोग में शिक्षा लेने के लिए काफी सामग्री है। यथार्थ में लोक-सेवा की दृष्टि से ही वकालत उचित है। सच्चे लोक-सेवक को धन की प्राप्ति नही होती, ऐसी भी बात नही है। 'नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।' जो मनुष्य परोप-काररत है, उसका योग-क्षेम स्वय ईश्वर ही सँभालता है।

दक्षिणी-आफ्रिका के एशियाई कर्मचारियो में रिश्वतखोरी का बाजार गर्म था। जिन लोगो को वहाँ जाने का अधिकार था, वे वहाँ नही जा पाते थे और जिन्हे अधिकार नही था, वे सौ सौ पौड देकर दाखिल हो जाते थे। गाधी जी ने पोलिस-कमिश्नर से मिलकर ऐसे दो आफिसरो के नाम गिरफ्तारी के वारट निकाले। दोनो पर मुकदमा दायर हुआ और काफी सबूती होते हुए भी सफेद आदमियो की जूरी ने सफेद मुलजिमो को छोड दिया। इस बात का दु ख तो गाधी जी को हुआ ही, पर विशेष अप्रसन्नता उन्हे वकालत के रोजगार पर हुई। वे लिखते है—"इससे (अपराधियो के बरी होने पर) मै स्वभावत बहुत निराश हुआ। पोलिस-कमिश्नर को भी दु ख हुआ। वकीलो के रोजगार के प्रति मेरे मन में घृणा उत्पन्न हुई। बुद्धि का उपयोग अपराध को छिपाने मे देख मुझे यह बुद्धि ही खलने लगी।"

महात्मा जी की यह सम्मति हमारे पूर्व-कथित विचारो का समर्थन

करती हैं । प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि सामाजिक शान्ति तथा सदाचरण के उल्लघन करनेवाले को दण्डित करने मे वह सहायक हो । ऐसा न करके जो मनुष्य अपने कानूनी ज्ञान तथा बुद्धि का उपयोग अपराध छिपाने में किया करता है, वह कदाचित् अभियुक्त—मुलजिम से अधिक गुनहगार है । ऐसे लोग परोक्ष रूप से सामाजिक अपराधो को उत्तेजना देते हैं, ऐसा समझने में हमें कुछ भी आपत्ति प्रतीत नही होती ।

महात्मा जी के जीवन की यही एक महत्वशाली विशेषता रही आई है कि जैसा वे सोचते हैं, वैसा ही उनका आचरण भी होता है । अतएव अपने मुवक्किल के अपराध छिपाने में वे कभी सहायक नही हुए । एक वार ट्रान्सवाल मे मैजिस्ट्रेट की अदालत मे पैरवी करते हुए उन्हे ऐसा मौका आया कि मुकदमे के बीच में ही उन्हे पता चला कि उनका फरीक अपराधी है और उसका मुकदमा झूठा है । ऐसा विश्वास होते ही वे अदालत मे यह कह कर बैठ गये कि यह आदमी अपराधी प्रतीत होता है, आप इसके विरुद्ध फैसला दे सकते हैं । मैजिस्ट्रेट प्रसन्न हुए और विपक्षी वकील गांधी जी के इस व्यवहार को देखकर दग रह गया । क्यो न होता वह जो पाश्चात्य जूरिस्टो का शागिर्द था । वकील-सम्प्रदाय में आमतौर पर यह धारणा विद्यमान हैं कि जो वकील अपनी कमजोरियो को सफलतापूर्वक छिपा सकता है, वही सबसे योग्य है । आजकल अदालती मामलो मे दोनो पक्षो के वकीलो का यह कर्त्तव्य ही माना जाता है कि वे अपनी अपनी कमजोरियो को छिपावें । यही काम यदि उनके साधारण पढे-लिखे फरीक लोग करते, तो उन्हे दोष छिपाने में इतनी सफलता प्राप्त नही हो सकती थी । परन्तु जब इस काम को कानून जाननेवाले कुशाग्र-बुद्धि वकील करने लगते हैं, तब तो जज का काम बडा कठिन हो जाता है । अतएव यह मानना पडेगा कि आजकल की दूषित वकालत से जजो को न्याय करने मे सहायता तो मिलती ही नही, प्रत्युत उन्हे अनेक वार बडी कठिनाई भी पडती है । इसमें तो हमे तिल-मात्र भी सन्देह नही कि वर्तमान का वकील-

समाज शिक्षित अपराधियो का एक खास बना-ठना गिरोह हो रहा है। जन-समाज को इनसे वडा खतरा है। अधिकारियो तथा समाज-व्यवस्थापको के लिए यह एक विचार करने योग्य विषय है।

महात्मा जी के ऐसे आचरणो का परिणाम यह हुआ कि जज और वकीलो के समाज में उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ गई। पाठक कदाचित् ऐसा समझेंगे कि वे कम से कम मुकदमेवाज लोगो मे जरूर वदनाम हो गये होगे। पर ऐसा भी न हुआ। जो लोग उनके पास आते थे, वे सच्चा मामला लेकर ही आते थे। यहाँ तक कि जो लोग उनके मुस्तकिल फरीक थे, वे अपना झूठा मामला तो झूठ के पैरवीकार वकीलो के पास ले जाते थे, पर जब सच्चे की बारी आती थी, तो उसे वे गाधी जी को ही दिया करते थे। क्यो न देते, सचाई की शान ऐसी ही होती है! इसमें तो सन्देह नही कि यदि गाधी जी सत्य के ऐसे हामी न होते और सच-झूठ सभी तरह के मामले लिया करते, तो उनकी आमदनी दूनी और चौगुनी हो जाती। परन्तु उन्हें असत्य-समर्थन से पैसा कमाना मजूर नही था।

वकालत के क्षेत्र में उन्होने सत्य का एक बडा प्रयोग अपने अज्ञात-नामा किसी बड़े से मुवक्किल के मामले में किया। इसमें अदालत से नियुक्त पचो के निर्णय में जमा-नामे की रकम भूल से उलटी लिख दी गई थी। निर्णय गाधी जी के मुवक्किल के ही पक्ष में था। इस भूल पर विपक्षी ने पच-फैसले को रद्द करने के लिए दरख्वास्त दी। सीनियर वकील और गाधी जी में इस बात पर मतभेद हो गया। सीनियर वकील भूल स्वीकार करने का विरोधी था और गाधी जी को यह बात नही पटती थी। उन्होने तो यहाँ तक कह दिया कि भूल सुधारते हुए मुवक्किल को नुकसान सहना पडे तो क्या हर्ज है? बहुत वाद-विवाद के बाद न जाने कैसे मुवक्किल के गले गाधी जी की बात उतर गई और उसने मामले की पैरवी उन्ही पर छोड दी। सीनियर आदमी लाचार हुआ। गाधी जी ने अदालत के सामने भूल स्वी—

की। सिलसिलेवार सब बातें अदालत को सच-सच समझा दी। परिणाम उन्हीं के पक्ष में निकला। और वह फैसला उसी जज ने दिया जो पहले इस भूल को जालसाजी समझता था। सत्य-निष्ठा के साथ जो सच बोला जाता है, वह जरूर कारगर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसी तरह एक सत्य का प्रयोग उन्होंने पारसी रुस्तमजी के मामले में भी किया। ये सज्जन रोजगारी थे और व्यवसाय-बुद्धि की बुराई से प्रायः चुंगी की चोरी किया करते थे। ऐसी बातें बहुत दिनों तक छिप नहीं सकतीं। चोरी पकड़ी गई। रुस्तमजी अपने वकील गाधी जी के पास कानूनी सलाह लेने घबराये हुए आये। गाधी जी ने सारी बातें सुनीं और क्या कहा सो भी सुनिए—"मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना तो खुदा के हाथ है। मैं तो आपको उसी हालत में छुड़ा सकता हूँ, जब आप अपना गुनाह कबूल कर लें।"

पाठक अनायास समझ सकते हैं कि उस बेचारे के हृदय पर क्या बीती होगी। लेकिन अन्त में वह उसी तरीके से छूटा। चुंगी-अफसर के सामने पश्चात्तापपूर्वक उसने भूल स्वीकार की। यही भूल-स्वीकार उसे सरकारी वकील के सामने करना पड़ा। उस भले पारसी का हार्दिक पश्चात्ताप दोनो सरकारी अधिकारियो के दिल पर अपना असर कर गया। नुकसानी के तौर पर कुछ रकम देकर वह बरी हो गया। सार्वजनिक अपकीर्ति से वह इस तरह बच गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि गाधी जी उन सभी प्रसगो पर रुस्तम जी के साथ थे और स्वय उनकी सत्यनिष्ठा और सद्व्यवहार अफसरो पर प्रभाव डालने मे सहायक हो रहे थे।

जो लोग वकालत को व्यवसाय का नग्न रूप देकर अपनी जीविका चला रहे हैं, उन्हें एक बार गम्भीर होकर अपने कर्त्तव्य-पथ का निरीक्षण करना चाहिए। यदि उनका कानूनी ज्ञान, बौद्धिक योग्यता

तथा बोलने की शक्ति केवल इसी लिए है कि लोगो की कमजोरियाँ छिपाई जायँ अथवा उनका युक्ति-पूर्वक समर्थन हो, तो पेट को यदि नही, तो कम से .कम उनकी बुद्धि को तो यह स्वीकार करना ही पडेगा कि वे समाज के बडे से बडे दुश्मन है। उनकी विद्या और बुद्धि वकालत को इस रूप में स्वीकार करके उनके ही अध पतन का मार्ग साफ कर रही है। जो पढा-लिखा और सज्ञान मनुष्य अपनी पैनी बुद्धि का उपयोग अपराधियो के पक्ष-समर्थन में किया करे और उसी से अपनी जीविका भी चलावे, उससे तो वह निरक्षर गरीब हजार दर्जे अच्छा है, जो अपनी झोपडी में बैठकर ईमानदारी के साथ अपना टाँका चमडे पर चलाता है और दो-चार पैसे कमा लेता है।

जन-समाज को शान्त, सुखी और प्रगतिशील बनाने के लिए व्यवस्था को आवश्यकता है। समाज तथा शासन-सम्बन्धी नियमो के सार्वजनिक पालन पर ही यह व्यवस्था अवलम्बित रहती है। अतएव सामाजिक सदाचार का उल्लघन करनेवाला समाज का शत्रु है। ऐसे मनुष्य का समर्थन करना, और वह भी व्यवसाय के रूप में, महान् निदनीय कर्म है। सार्वजनिक व्यवस्था के सरक्षको को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

अध्याय १५

कांग्रेस की राजनीति

अँगरेजी शासन को हिन्दुस्थान में स्थापित हुए मुश्किल से डेढ सौ वरस गुजरे होगे कि हमारी राष्ट्रीय चेतनता काग्रेस के द्वारा बोलने लगी। इस महान् सस्था का सवसे पहिला अधिवेशन सन् १८८५ ई० में वम्वई नगर में हुआ। तत्पश्चात् साल-व-साल इस राजनैतिक महासभा की वैठकें दिसम्वर की छुट्टियो में होने लगीं। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वह भारतीयो की राजनैतिक आकाक्षा को विनय-शील शब्दो में प्रकट करके साल भर के लिए फिर शान्त और अकर्मण्य हो जाया करती थी। उसके सामने हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय आदर्श की स्पष्टता विलकुल नही थी। न तो उसके पास ऐसा कोई रचनात्मक कार्यक्रम ही था, न फिर उसमें ऐसा कोई नैतिक वल ही था जिसके आधार पर वह स्वावलम्वन का पाठ भारतीय जन-समाज को सिखा सकती। उसके अधिवेशनो में त्यौहार का-सा मजा मिला करता था। साल भर तक ग्यारह वजे से पाँच वजे तक अदालतो और दफ्तरो में काम करनेवाले कुछ शिक्षित हिन्दुस्थानी देश के किसी वडे नगर मे दिसम्वर की छुट्टी पाकर इकट्ठे हो जाया करते थे और कुछ चहल-पहल के वाद कुछ प्रार्थनात्मक प्रस्ताव पास करके अपने अपने घरो को सानन्द लौट जाते थे। इस प्रकार देश-भक्ति और दिल-वहलाव का मजा एक साथ सुलभ हो जाता था। उन दिनो काग्रेस के सभापतित्व की इच्छा उन्हो लोगो को विशेषरूप से हुआ करती थी, जो अधिकारियो की आँखो में चढकर किसी ऊँचे पद के अभिलाषी हुआ करते थे। काग्रेस का सभापतित्व सरकारी प्रतिष्ठा का साधन समझा जाता था।

ऐसे सभापति कई हुए। लार्ड सिनहा, जस्टिस चदावरकर, सर शकरन नायर तथा मवोलकर—इस बात के उदाहरण हैं।

उन दिनो काग्रेस की वागडोर प्रार्थनावादी और विनयशील राजनीतिज्ञो के हाथ मे थी। प्रस्तावो की रचना में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि ऐसा कोई शब्द अथवा वाक्य उनमे न आने पावे, जिससे अधिकारीवर्ग को किसी तरह की अप्रसन्नता हो। काग्रेस का सगठन घास के पूले के समान एक ढोला-ढाला और शिथिल ढाँचा था। अखिल भारतीय काग्रेस-कमेटी के सिवाय प्रान्तो तथा जिलो में कोई सस्था ऐसी विद्यमान नही थी, जो काग्रेस के मतव्यानुसार अपने अपने स्थानो में कुछ काम करती। प्रतिनिधियो की चुनाई मे विशेष नियमो का कोई पालन नही किया जाता था। काग्रेस देखने की जिसकी इच्छा हुई, वही प्रतिनिधि हो जाया करता था। बडे बडे लोगो के व्याख्यान सुनने के लिए ही लोग वहाँ उपस्थित हुआ करते थे तथा अधिवेशन के उपरान्त तारीफ करने का तर्ज भी यही होता था कि अमुक नेता ने बडा मार्मिक व्याख्यान दिया एव अमुक आदमी की भाषण-शैली तथा अँगरेजी बहुत अच्छी थी। व्याख्याता भी लोगो की इस अभिरुचि से अनभिज्ञ नही थे और इसी दृष्टि से वे अपनी मनोनीत एव कठाग्र वक्तृता का प्रदर्शन भी किया करते थे। व्याख्यान के बाद मिनटो तक तालियाँ बजती थीं और वक्ता और श्रोता दोनो प्रसन्न हो जाते थे। देश के राजनैतिक आदर्श के सम्बन्ध में 'डोमिनियन स्टेटस्' का उपयोग बडे सशक और भयभीत होकर हमारे साहसी से साहसी नेता ही कर सकते थे।

कई वर्षों के बाद काग्रेस के लिए वह समय आया, जब कि १९०६ के कलकत्ता-अधिवेशन में स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने हमारे राजनैतिक लक्ष्य के सम्बन्ध में 'स्वराज' शब्द का उपयोग पहले-पहल किया। दादाभाई नौरोजी अपने जीवन के उत्तर-काल मे इँगलैंड ही में रहते थे और कुछ समय तक ब्रिटिश पार्लियामेंट के मेम्बर भी थे। अँगरेजो के

साथ उनका सहवास था, अतएव उनका 'इनफिरियोरिटी काम्प्लेक्स' त्रिशयत के वातावरण में बहुत कुछ उड चुका था। इसी लिए उनमे साहस की मात्रा विशेष थी। इसी कारण उन्होंने 'स्वराज' शब्द के उपयोग करने की प्रशसनीय क्षमता दिखाई। उसी दिन से नव-भारत के राजनैतिक साहित्य मे 'स्वराज' शब्द का प्रचार होने लगा। परन्तु फिर भी काग्रेस के शब्द-कोष मे 'स्वराज' शब्द का अर्थ 'डोमिनियन स्टेटस्' याने औपनिवेशिक स्वराज ही माना जाता था। इस शब्द का जो सर्व-स्वीकृत अर्थ पूर्ण स्वतत्रता (Complete independence) आज है, उसकी कल्पना तक उन दिनो के लिबरल राजनीतिज्ञो को दुर्लभ थी।

समय ने फिर पलटा खाया। लिबरल राजनीतिज्ञो की नम्रनीति का कोई परिणाम न देखकर देश का मिजाज कुछ गरम हुआ और वह कुछ दृढ-प्रतिज्ञ, कर्मण्य और त्यागी नेताओ के द्वारा प्रकट होने लगा। देश मे गरम दल की सृष्टि हुई और वह दिनो दिन जोर पकडने लगा। इस दल के नेता लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिनचन्द्रपाल थे। ये तीनो सक्षिप्त रूप मे 'लाल-बाल-पाल' के नाम से देश मे प्रसिद्ध थे और इन्ही त्रिमूर्ति के सक्षिप्त और सबद्ध नाम के नारे सर्वत्र लगाये जाते थे। नरम और गरम दल के हामी उन दिनो एक दूसरे की कडी से कडी आलोचना किया करते थे। एक की नीति दूसरे को बिलकुल नापसन्द थी। नरम और गरम—इन दो दलो के सघर्ष ने काग्रेस के इतिहास मे एक सूरतकाण्ड की भी रचना कर डाली। गरम दलवाले लोकमान्य के नेतृत्व मे काग्रेस से अलग हो गये और जन-समाज के सामने अपनी निर्भय नीति का प्रचार करने लगे। इन नेताओ मे पौरुष की मात्रा बडी तेज थी। अपने तेजोमय मस्तक को ऊँचा उठा कर वे निर्भयतापूर्वक अपने हृदय की बाते किया करते थे। लोकमान्य तिलक के इस अमर वाक्य को किसने नही सुना है?

"स्वराज मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर ही छोडूँगा।"

अपनी इस पुरुषोचित निर्भयता के लिए उन्हे बहुत कीमत चुकानी पडी। जिन दिनो परतन्त्रता की तमिस्रा मे समूचा भारतीय जन-समाज गफलत की नींद सो रहा था, उन दिनो भारतमाता के इन सजीव लाडलो को घूमघूम कर हिन्दुस्थान की तग, साम्प्रदायिक और आडी-टेढी गलियो मे गश्त लगाना पडा और पुकार कर यह कहना पडा "प्यारे भारतीयो, जागो, तुम्हारा सर्वस्व लुट रहा है।" सरकारी ताड़ना के पात्र होते उन्हे देर न लगी। हिन्दुस्थान की ग़फलत में ही जिनकी भलाई है, उनके लिए जानी दुश्मन वही हो सकता है, जो सोते हुए जन-समाज को सावधान करे। लाल-बाल-पाल अपने अपने समय पर सरकारी मेहमान हुए। उनकी कार्रवाइयाँ कुछ काल के लिए बन्द हो गई। फिर भी उनकी आवाज़ हिन्दुस्थान के कानो मे गूँजती रही। लोग उन्हे पूज्य मानने लगे और उनके स्वागतार्थ हज़ारो की तादाद में टूटने लगे। ब्रिटिश शासको को लोक-प्रिय नेताओ का ऐसा स्वागत खार-सा खटकता था। लेकिन वे क्या करते? त्याग और नि:स्वार्थ सेवा की ताक़त कोई ऐसी चीज़ नही है जो 'कुम्हड-बतिया' के समान अँगुली दिखाते ही मुरझा जावे। इन लोक-नायक नेताओ के नैतिक पृष्ठ की रीढ़ इतनी मज़बूत थी कि जेल से निकल कर वे अपनी खतरनाक देश-सेवा का श्रीगणेश 'पुनश्च हरि: ओम्' कह कर ही किया करते थे। जेल से छूटने के बाद प्रात:स्मरणीय लोकमान्य ने अपने 'केसरी' का अग्रलेख इसी शीर्षक से लिखा था। नेताओ की यह निर्भयता सत्ताधारियो को कुछ घबराहट में डालने लगी।

एक समय फिर आया, जब गरम दल के नेता सन् १९१५ के लखनऊ-अधिवेशन के प्रसङ्ग पर कांग्रेस मे सम्मिलित हुए। उसके पहले राष्ट्रीय सस्था की बागडोर लिबरल राजनीतिज्ञो के हाथो में थी। जन-समाज तो गरम दल के नेताओ के अधिकार मे आ चुका था। अपनी तपस्या और आत्म-समर्पण के द्वारा वे लोगो के हृदयो पर आसन मार चुके थे। वे जन-समाज के वंदनीय हो चुके थे। उनकी गाडियाँ श्रद्धालु

स्वयंसेवकों के द्वारा खींची जाती थी और वे लोगों के लाडले पथ-प्रदर्शक हो चुके थे। उनके चित्रों से प्रत्येक शिक्षित भारतीय का कमरा सजा रहता था। कहने का सारांश यह कि ऐसे लोकप्रिय लोगों के आते ही कांग्रेस खुशी खुशी उनके अधिकार मे आ गई। लिवरल देश-भक्त कांग्रेस के सभा-मंच मे धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। अब गरम दल के नेताओं की गरम और तेज आवाज वहाँ से कर्ण-गोचर होने लगी। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस को अधिकारिवर्ग सनीचर की दृष्टि से देखने लगा। कांग्रेस का हामी होना अब स्वार्थ-पर शौकीनों का शगल नहीं रह गया। अब उसके प्रस्तावों में उग्रता आने लगी। सभा-मंच से व्याख्यान भी तेज से तेज होने लगे, यहाँ तक कि लिवरल राजनीतिज्ञों के लिए कांग्रेस का वातावरण बहुत गरम हो गया। उनके लिए लू चलने लगी। उस लू के थपेड़े खाकर के वे कांग्रेस से घबराहट में बाहर निकल पड़े और उन्हें अपने ठंडे दिलवालों की एक 'लिवरल कनव्हेंशन' कायम करनी पड़ी। अधिकारियों की कृपा से प्राप्त होनेवाले यत्किंचित् अधिकार का उपयोग करना और कुछ अधिक के लिए प्रार्थनाशील बने रहना उनका मनोधर्म हो गया। यही मनोभाव उनकी सम्मिलित नीति में भी प्रकट होने लगा। ऐसे ही लोगों की ओर संकेत करके महाकवि अकबर ने ये मौलिक उद्‌गार निकाले थे—

कौम के गम मे डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
लीडर को रंज बहुत है, पर आराम के साथ॥

जब से कांग्रेस गरम दलवालों के नेतृत्व मे आई, उसकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढने लगी और भारतीय शिक्षित समाज का वह अंश जो सरकारी नौकरी तथा प्रभाव से मुक्त था, इसका समर्थक हो गया। हिन्दुस्थान की राजनीति में दो प्लेटफार्म हो गये। एक बहुत बडा और दूसरा बहुत छोटा। छोटे सभा-मंच से औपनिवेशिक स्वराज का आदर्श रक्खा गया और बृहत्‌मंच से स्वराज की ध्वनि आने लगी। कांग्रेस के गरम दलवालों ने

औपनिवेशिक स्वराज को कोई अपना अटल सिद्धान्त नहीं माना। मनुष्योचित समता के साथ यदि औपनिवेशिक स्वराज सम्भव हो, तो वह उन्हें नामञ्जूर भी नहीं था और न कदाचित् अभी भी है। लेकिन गत पचास वर्षों का अनुभव तो यही रहता आया है कि हिन्दुस्थान को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत समानता के अधिकार मिलना सम्भव नहीं। प्रगतिशील राजनीतिज्ञों का यही मत रहा है कि हिन्दुस्थान इंगलैंड या डोमिनियन किसी भी अर्थ में नहीं हो सकता। ब्रिटिश साम्राज्य के आस्ट्रेलिया तथा कनाडा सरीखे अन्यान्य अंगों में ब्रिटिश जाति के ही बराबर अधिकार में विद्यमान हैं। अतएव अपनी जाति तथा सभ्यता के लोगों के लिए भाईचारे का भाव होना इंगलैंडवालों के लिए नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दुस्थान इंगलैंड के गर्भ से निकला हुआ बच्चा नहीं है। वह तो हजारों वर्षों का बूढा स्वाभिमानी देश है जिसकी सभ्यता और संस्कार ब्रिटिश संस्कृति से बिलकुल भिन्न हैं। हिन्दुस्थान इंगलैंड की पीड से निकली हुई कोई शाखा नहीं, वह बाहर से हासिल किया हुआ एवम् इंगलैंड के पंजो के नीचे दबोचा हुआ एक शिकार है। यदि औपनिवेशिक स्वराज की योजना से भारत स्वतन्त्र हो जावे और ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत रहे, तो इंगलैंड को लेने के देने पड़ जायेंगे। इस बात को अँगरेज राजनीतिज्ञ अच्छी तरह जानते हैं। इसी लिए 'डोमिनियन स्टेटस्' का आदर्श हिन्दुस्थान के लिए उन्हें पसन्द भी नहीं है।

जिन दिनों लोकमान्य तिलक के समान सर्वमान्य नेताओं के द्वारा कांग्रेस अपनी स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द कर रही थी उन्हीं दिनों अधिकारियों की ओर से विदेशों में यह प्रचार हो रहा था कि कांग्रेस कुछ थोड़े से पढ़े-लिखे असन्तुष्ट लोगों की संस्था है। इन लोगों का जनता पर कोई प्रभाव नहीं है और इसके द्वारा हिन्दुस्थानी जन-समाज की राजनैतिक आकांक्षा ठीक ठीक प्रकट भी नहीं होती।

अधिकारियों को इस बात का दावा था कि लोग वर्तमान शासन-प्रणाली से सर्वथा सन्तुष्ट हैं और कुछ लोगों की अप्रामाणिक और बनावटी मांग आदरणीय नहीं मानी जा सकती। इसके उत्तर में भारतीय नेता कहा करते थे कि किसी भी देश या जन-समाज में अधिकांश लोगों के अधिक सुख की बात सोचनेवाले थोड़े ही लोग हुआ करते हैं और यह कहीं भी सम्भव नहीं कि सब लोग अपनी हानि और लाभ के सम्बन्ध में समान योग्यता से विचार कर सकें। सार्वजनिक शिक्षा के अभाव में हिन्दुस्थान के लोगों में ऐसी शक्ति ही कहाँ से आ सकती है कि जिससे वे राजनीति के समान जटिल विषय पर योग्यतापूर्वक कुछ सोच सकें। अतएव जो थोड़े से हिन्दुस्थानी अपने देश-भाइयों की बेहतरी के विषय में सोच सकते हैं, उन्हीं को हमें जन-समाज के स्वाभाविक संरक्षक मानना चाहिए। इस तर्क-सरणी के आधार पर कांग्रेस का दावा था कि हिन्दुस्थानी जनता का प्रतिनिधित्व उसके सिवाय किसी भी दूसरी संस्था को नहीं मिल सकता। इधर सत्ताधारी इस बात के दावीदार थे कि भारतीय जनता की बेहतरी का भार उनके मत्थे पड़ा है और इसलिए उसे कुछ थोड़े से पढ़े-लिखे अनुभव-हीन कांग्रेस-नेताओं के हाथ वे नहीं छोड़ना चाहते। इस तरह का द्वन्द्व प्राय अभी भी जारी है। लेकिन अब दुनिया हिन्दुस्थान की वस्तु-स्थिति को समझ चुकी है, पहले नहीं जानती थी।

इस बात को मान लेने में हमें कुछ भी संकोच नहीं है कि कांग्रेस उन दिनों सचमुच में पढ़े-लिखे लोगों की संस्था थी और जनता से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं था। इसी लिए उसमें मौखिक तेज़ी के सिवाय कोई ऐसी ताकत भी पैदा नहीं हुई थी। उसके पास ऐसा कोई कार्यक्रम भी नहीं था, जिसकी बदौलत वह जनता से अपना सम्बन्ध स्थापित करती। उसकी क्रियाशीलता शहरों में ही समाप्त हो जाती थी। देहाती दुनिया उससे बहुत दूर थी। गाँव के किसान जो भारत के सच्चे नागरिक हैं, दिनों दिन तंगदस्त होते जा रहे थे। अपनी तकलीफों को

वे चुपचाप बरदाश्त करते चले जाते थे। उन्हे कष्ट तो होता था, परन्तु विचार-शक्ति और विद्या के अभाव मे उनकी समझ में यह बात नही आती थी कि आखिर उनकी यन्त्रणाओं के कारण क्या हैं ? हिन्दुस्थान की गूंगी जनता इस प्रकार अपने कष्ट के दिन काट रही थी। शासन के आतंक मे दबी हुई वह अपना पेट काटकर सरकारी खजाना पूरा कर देती थी और अपने बच्चो को चावल का पानी पिला कर या रूखी-सूखी रोटी खिला कर बहला लिया करती थी। नेताओं की दौड़-धूप उनकी समझ में नही आती थी और न उन्हे देहातों मे किसी बड़े नेता के दर्शन ही होते थे। लोगो की जबानी ग्रामीण जनता उनके नाम भर सुना करती थी। कहने का आशय यह कि कांग्रेस के विरुद्ध विदेशी सत्ताधिकारियो का जो आक्षेप था, उसमे सत्यांश जरूर था।

जिन दिनो इस देश की राजनैतिक परिस्थिति कांग्रेस-नेताओं के आन्दोलन से क्षुब्ध होती जा रही थी, उन्ही दिनो यूरोप में संग्राम शुरू हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए धन-जन की सहायता अधिकारियो के द्वारा माँगी गई और यह आश्वासन दिया गया कि यदि प्रस्तुत संग्राम में हिन्दुस्थान से यथोचित सहायता मिली, तो इंगलैंड युद्ध-समाप्ति के बाद भारत की माँगो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगा। देश के कई कांग्रेस-नेता चाहते थे कि जब तक ब्रिटिश शासक इस बात का कोई प्रामाणिक आश्वासन न दें, तब तक हिन्दुस्थान यूरोपीय संग्राम के सम्बन्ध में उदासीन ही बना रहे। लेकिन महात्मा जी को यह बात पसन्द नही आई। अपने जिस जन्म-सिद्ध सौजन्य से प्रेरित होकर दक्षिण-आफ्रिका में उन्होंने बोअर-युद्ध में अपना आन्दोलन स्थगित करके ब्रिटिश साम्राज्य को सहायता पहुँचाई थी, उसी स्वाभाविक उदारता से प्रेरित होकर वे यहाँ भी इंगलैंड को धन-जन से मदद देने मे संलग्न हो गये। लड़ाई समाप्त हुई। भारतीय सेना ऐसे ठीक मौक़े पर फ्रांस के मैदान में पहुँची, जिस समय मित्रराष्ट्रों की सेना घबराहट में पड़ी थी और उसके पैर उखड़नेवाले थे। इस प्रासंगिक

सहायता के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने हिन्दुस्थान की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आशा हुई कि अब भारत को आत्म-शासन के अधिकार शीघ्रातिशीघ्र मिल जावेंगे। लेकिन उस आशा को घोर निराशा में परिणत होने देर न लगी। रोलेट एक्ट और पंजाब के हत्याकाण्ड ने मिलकर गांधी जी की आँखें खोल दी। उसी दिन से वे ब्रिटिश साम्राज्य के अपनी दुश्मन हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि अँगरेजो की सभ्यता में दूसरो के प्रति उदार भावना के लिए कोई गुंजाइश नही है। घोर निराशा की इस प्रेरणा ने उन्हे कट्टर असहयोगी बना दिया।

अब महात्मा जी देश के राजनैतिक जीवन में असहयोग-सिद्धान्त का प्रचार करने लगे। अब तक लोगों को कल्पना भी नही थी कि विदेशी शासन से युद्ध छेडने का कोई ऐसा भी तरीका हो सकता है। लोग उत्कंठापूर्वक उनके विचारो को सुनने लगे और इस प्रकार हिन्दुस्थान के सार्वजनिक जीवन में गांधी-युग का आविर्भाव हुआ। महात्मा जी के असहयोग-सिद्धान्त की मीमांसा हम आगे चल कर करेंगे। अभी देश की राजनैतिक प्रगति से ही हमारा सम्बन्ध है। सन् १९२० के नागपुर-वाले अधिवेशन मे महात्मा जी कांग्रेस के सर्वेसर्वा हो चले। उनका नेतृत्व प्राप्त करते ही राष्ट्रीय महासभा अपनी पुरानी काया पलटने लगी। उन्होंने इस संस्था को सम्बद्ध और सुदृढ बनाने के लिए नई संगठन-योजना बनाई। असहयोग-जनित उत्साह से देश का वातावरण तरंगित होने लगा। स्कूल और कालेजो के विद्यार्थियो में खलबली मच गई। कुछ देश-भक्त वकील महात्मा जी की आवाज सुनकर अदालतो से निकल पडे और ऐसे कई लोग भी असहयोग-संग्राम मे जूझ पडे, जिन्हे या जिनके सम्बन्ध मे इस बात की कल्पना भी नही हो सकती थी, कि वे इतने त्याग और सामर्थ्य का परिचय अपने जीवन मे कभी दे सकेंगे। मोहनदास के मोहन-मंत्र ने शिथिल हृदयो मे भी जाग्रति का जादू फूंक दिया।

उमंग के इस वातावरण में महात्मा जी की संगठन-योजना अपना

इस तरह इस ज़ोरदार नेता की बदौलत हिन्दुस्तान की राजनैतिक महत्ता लोक-प्रिय होकर और प्रखर बनी। उनकी शाखायें-प्रशाखायें देश के जिलों और तहसीलों में फैल गईं। परिणाम-स्वरूप देहातों में राजनैतिक सभायें होने लगीं। दुखी किसान हजारों की तादाद में एकत्रित होकर राष्ट्रीय शिक्षा पाने लगे और समझने लगे कि उनके कष्टों के कारण क्या हैं। वे अब खुद तक अपनी करुण-कहानी बतलाने लगे और इस बात का अनुभव करने लगे कि उनकी तकलीफें ऐसी नहीं हैं जो दूर नहीं की जा सकती। उन्हें विश्वास होने लगा कि यदि उन्होंने पर्याप्त प्रयत्न-शीलता दिखाई तो उनका कल्याण अवश्यम्भावी है। आशा और विश्वास की इस सम्मिलित प्रेरणा ने उन्हें कांग्रेस का समर्थक बना दिया। इस प्रकार महात्मा

गांधी के विलक्षण प्रभाव और प्रेरणा-शक्ति ने हमारी महासभा को जनतात्मक रूप दे दिया। अब कांग्रेस थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों की संस्था न रह गई। इस बात का सबूत भी ब्रिटिश शासन को मिल गया। जब असहयोग-आन्दोलन स्थगित हुआ और देशबन्धु दास, तथा मोतीलाल नेहरू सरीखे कांग्रेस-नेताओं ने 'स्वराज-पार्टी' कायम करके कौंसिलों में प्रवेश करने का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा, तो सर्वत्र अधिक से अधिक संख्या में उन्हीं की जीत रही। यद्यपि स्वयम् कांग्रेस ने कौंसिल-प्रवेश को अपना कार्यक्रम नहीं बनाया था, तथापि लोगों ने इस बारीक बात की कोई परवाह नहीं की और उन्हीं को अपना मत दिया। जो कांग्रेस और महात्मा गांधी के अनुगामी सिद्ध हो चुके थे। संगठन के सूक्ष्म फंदे तो पढ़े-लिखे लोगों के लिए हैं, देहात की सरल और अपढ़ जनता सेवा और लगन को ही देखती है।

हम कह चुके हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में महासभा के सामने कोई ऐसा विधायक कार्य-क्रम नहीं था जिसे अमल में लाने के लिए कार्य-कर्ताओं को साल भर प्रयत्नशील होना पड़ता। महात्मा जी ने कांग्रेस को जनतात्मक रूप तो दिया ही, पर इसके साथ साथ रचनात्मक कार्य-क्रम भी उसके सामने प्रस्तुत किया। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। गांधी-युग में हमारी राष्ट्रीय महासभा का ध्येय भी अपनी पूरी ऊँचाई तक उठ गया। लाहौर के अधिवेशन ने पूर्ण स्वराज (Complete independence) की घोषणा कर दी। 'स्वराज' शब्द से अर्द्ध या तृतीय, चतुर्थांश स्वराज का अर्थ हरगिज़ नहीं निकलता, उसका मतलब 'पूर्ण स्वराज' ही होता है। फिर भी औपनिवेशिक स्वराज से अपने आदर्श की भिन्नता और उच्चता प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय महासभा ने एक अनावश्यक विशेषण का उपयोग किया। राजनैतिक लक्ष्य (Ideal) के बदलते ही साधन (Means) भी बदल गया। 'वैध नियमों के द्वारा' (by constitutional means) के स्थान पर 'उचित और

शान्त साधनों से' (by legitimate and peaceful means) स्वराज का सम्पादन करना अभीष्ट हो गया। इस तरह गांधी जी के जमाने में कांग्रेस का ध्येय तो ऊँचा हो गया और साधन का रूप भी बदलकर अधिक व्यापक, उग्र और स्वावलम्बी हो गया।

कांग्रेस के ध्येय और साधन में जो परिवर्तन हुए, वे अनुभव की प्रेरणा से हुए थे, जल्दबाजी और नासमझी से नहीं। यदि हम किसी शासन-व्यवस्था में सुधार करना चाहते हों और उसके नियम ऐसे हों कि उनके द्वारा यथोचित सुधार हो ही नहीं सकता, तो उन नियमों के प्रति दुर्लक्ष्य करने के सिवाय कोई गत्यन्तर ही नहीं रह जाता। यदि कौंसिलों के द्वारा हम लोकमत प्रकट करें और उन पर अधिकारि-वर्ग अमल ही न करें, तो ऐसी कौंसिलों के द्वारा सिवाय मौखिक उद्गार निकालने के और किया ही क्या जा सकता है? हमारे नेताओं को भी ऐसा ही अनुभव हुआ। इसी लाचारी में गांधी जी ने कौंसिलों को व्यर्थ समझकर उनका बहिष्कार कर दिया। उन्हें मायामन्दिर कह कर लोगों को उनसे विरक्त कर दिया। कौंसिलों के बाहर जन-समाज में जाग्रति फैलाना नेताओं का प्रधान उद्देश्य हो गया। राष्ट्रीय महासभा इस प्रकार स्वावलम्बी होकर 'डायरेक्ट एक्शन' की समर्थक हो गई। वैध उपाय तिरस्कृत हो गये।

इस तरह हमारी राष्ट्रीय महासभा की स्वावलम्बन-वृत्ति महात्मा जी के नेतृत्व-काल में अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गई। लाहौर-कांग्रेस के पश्चात् हमारे सर्वमान्य नेताओं ने सैकड़ों सभा-मंचों से निर्भयता-पूर्वक अनेक बार इस बात का खुलासा कर दिया कि हिन्दुस्थान इँगलैंड का डोमिनियन किसी भी अर्थ में नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी राष्ट्रीय सभ्यता, दृष्टिकोण तथा आर्थिक स्वार्थ बिलकुल भिन्न हैं। अतएव पूर्ण स्वतंत्रता के बिना उसका सामूहिक विकास असम्भव है।

कहने का अभिप्राय यह कि गत पन्द्रह वर्षों के अन्दर कांग्रेस की

काया बिलकुल बदल गई। काग्रेस से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए महात्मा जी ने जो नई योजना बनाई है और जो बम्बई के अधिवेशन में स्वीकृत हो चुकी है, उसके अनुसार तो काग्रेस के प्रतिनिधियो की सख्या केवल दो हजार हो गई है। सदस्य बनने के नियम भी कडे हो गये है। इस सगठन-योजना का परिणाम यह होगा कि अब काग्रेस के सदस्य वे लोग ही बनना चाहेगे, जिनको देश-सेवा की सच्ची लगन होगी। प्रतिनिधियो की सख्या कम हो जाने के कारण अब महासभा के अधिवेशन छोटे-छोटे स्थानो में भी हो सकेंगे और पहले की अपेक्षा खर्च भी कम पडेगा। इस तरह हमारी महासभा अब बडे बडे नगरो को छोडकर जिला, तहसील तथा परगनो की ओर अग्रसर हो रही है। अब वह ग्रामीण जनता के द्वारो पर अपना अधिवेशन करेगी, क्योकि महात्मा जी की बदोलत हमारे राष्ट्रीय नेताओ को इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि हमारे देश की शक्ति वास्तव में शहरो में नही, ग्रामीण जन-समाज की जाग्रत आकाक्षाओ में सन्निहित है। इस व्यापक विचार-परिवर्तन का श्रेय गाधी जी के सिवाय किसी दूसरे को नही मिल सकता।

गाधी जी आज काग्रेस से अलग हो चुके है। इस सम्बन्ध-विच्छेद के मूल में जो नीतिमत्ता और दूरदर्शिता है, उसकी चर्चा प्रसगानुकूल हम कभी आगे चल कर करेंगे। परन्तु हमारी इस राष्ट्रीय सस्था को महात्मा जी ने जो जान बख्श दी है, वह नष्ट नही हो सकती। चलते-चलाते उन्होने एक नई सगठन-योजना भी दे दी है। यदि उसका उपयोग हमारे काग्रेस-कार्यकर्ताओ ने ठीक ठीक किया, तो महासभा और भी सगठित हो जावेगी। जिस सस्था को इस बात का हौसला हो कि वह आगे चलकर हिन्दुस्थान के लिए पार्लिमेंट का काम करेगी, उसके सगठन और सचालन में जरा भी शिथिलता क्षम्य नही मानी जा सकती। महात्मा जी की इस नई योजना को प्रेरणा देनेवाली भावना यही है। आज जिस समय हम इन पक्तियो को लिख रहे है,

हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्ता नई योजना के अनुसार कांग्रेस के सदस्य बनाने में लगे हुए हैं। नये संगठन का काम जारी है। उधर महात्मा जी देहाती उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में लोगों से परामर्श ले रहे हैं और कांग्रेस की नीति-संचालन का भार अपने योग्य अनुगामियों की जिम्मे-दारी पर छोड़ कर वे देहाती दरिद्र जनता की रोटी का प्रश्न हल करने में मनसा-वाचा-कर्मणा लगे हुए हैं। आज कांग्रेस की नीति कौंसिलों की ओर मुखातिब है। परन्तु परिस्थिति की लाचारी कल हमारे राजनैतिक वातावरण में कौन-सा नया रंग लावेगी, यह कोई नहीं कह सकता। यदि कोई नया प्रसंग आ जाय और कांग्रेस-नेताओं को कौंसिलों से बाहर आना पड़े, तो अब वे महात्मा जी की बदौलत समझ चुके हैं कि कौंसिलों के बाहर जन-समाज में किस तरह काम किया जा सकता है।

अध्याय १६

नारी-जाग्रति

सृष्टि-कर्ता ने स्त्री और पुरुष के बीच मे ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध स्थापित किया है कि एक के बिना दूसरे का जीवन-निर्वाह नही हो सकता। समाज की रचना तथा विकास में दोनो का प्रेम-मूलक सहयोग अनिवार्य है। जहाँ दोनो में विग्रह है, वहाँ जन-समाज की सामूहिक प्रगति असम्भव है। स्त्री और पुरुष दोनो मिलकर ही पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करते है। दोनो का सम्मिलित व्यक्तित्व ही समाज-सगठन की बुनियाद है। मनुष्यत्व के नाते कई गुण तो उन दोनो में समान रूप मे पाये जाते है, फिर भी कुछ स्वाभाविक विशेषतायें ऐसी है जो खास उन्ही की है। नम्रता, सकोच, सलज्जता, करुणा, सहनशीलता, दया, प्रेम और सहृदयता ये स्त्रियोचित गुण है। इसका यह मतलब नही कि पुरुषोचित स्वभाव में इन गुणो का बिलकुल अभाव होता है। उसी प्रकार साहस, शौर्य, विवेक, दूर-दर्शिता एव परिश्रमशीलता पुरुषो के विशेष गुण है। लेकिन इनका अत्यन्त अभाव स्त्रियो में भी नही होता। यथार्थ मे सुयोग्य पुरुष तो वही है जिसकी मानसिक रचना में दो-तिहाई पुरुषोचित और एक तिहाई विशेषताये स्त्रियोचित हो। उसी प्रकार स्त्री-स्वभाव की सुयोग्यता दोनो प्रकार के गुणो के सम्यक् मेल पर ही अवलम्बित रहती है।

प्राचीन भारत स्त्रियो के प्रति बड़ा श्रद्धावान् था। उसकी धारणा थी कि जहाँ स्त्रियो का आदर होता है, वहाँ देवता निवास करते है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" दोनो के सामाजिक अधिकार समान थे और प्रत्येक धार्मिक तथा सार्वजनिक कार्य मे दोनो का

सहयोग अनिवार्य माना जाता था। इसी कारण स्त्रियो की शिक्षा पर आवश्यक ध्यान दिया जाता था। हमारे प्राचीन साहित्य में, सीता, सावित्री, दमयन्ती, मदालसा, लीलावती, मैनासुन्दरी, ब्राह्मी सुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध है। इनके सिवाय प्राचीन तथा मध्य-कालीन युगो में न जाने कितनी सुयोग्य स्त्रियाँ हिन्दू-समाज में हो चुकी है। इतिहासो में तो बडे लोगों की ही चर्चा रहती है, उनमें जन-साधारण के लिए कोई स्थान ही नहीं।

प्राचीन आर्य्यों ने भारतीय समाज की रचना स्त्री-पुरुषो की स्नेह-मूलक सम्बद्धता पर ही की थी। स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी मानी जाती थी। कोई भी यज्ञ दोनो के सहयोग के विना सम्पादित नहीं हो सकता था। भगवान् रामचन्द्र ने धर्म-पत्नी सीता के अभाव में उनकी स्वर्ण-मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी, तब कहीं अश्वमेध यज्ञ पूरा हो सका। प्राचीन भारत में पुरुषो के प्रति स्त्रियो की आत्म-समर्पण-भावना अपनी सीमा को पहुँच चुकी थी, यहाँ तक कि पति की मृत्यु के बाद पत्नी अपने जीवन को निस्सार समझती थी। ऐसी हालत मे वह अपने स्वामी के साथ चिता में या तो जीवित जल जाती थी या अपना वैधव्य-जीवन एक योगिनी के समान व्रत, पूजा तथा तपश्चर्या में व्यतीत किया करती थी। भारतीय आर्य्यों ने स्त्री-पुरुष के परिणय-बन्धन को केवल सासारिक शरीर-सम्बन्ध ही नही, उसे चिरस्थायी आत्म-सम्बन्ध माना था। अतएव विवाह-बन्धन के विच्छेद की कल्पना तक हमारी सभ्यता ने नहीं की। दोनो का सामाजिक कार्य-क्षेत्र एक होते हुए भी गुण-धर्म के अनुसार स्त्री-पुरुषो की कर्तव्य-सीमा निर्दिष्ट थी। भावी नागरिक यानी बच्चो के लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा में ही गृह-देवियो का अधिकाश समय और ध्यान खर्च होता था। वे खास-खास सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। पुरुषो का अधिकाश समय बाहरी सामाजिक क्षेत्र में धनोपार्जन, अध्ययन, अध्यापन, व्यवसाय, वाणिज्य तथा अन्यान्य प्रकार के जीवन-सग्राम में व्यतीत होता था।

कहने का साराश यह कि भारतीय सभ्यता की नीव स्त्री-पुरुषो की प्रतिस्पर्धा एव प्रतिद्वन्द्विता में नही, दोनो के कर्तव्य-मूलक सहयोग पर ही डाली गई थी। दोनो के मध्य ऐसे आदर्श सम्बन्ध की योजना आज तक भारतीयो को छोडकर किसी दूसरी मानव-जाति ने नही की।

परन्तु काल की गति ऐसी कुटिल होती है कि किसी के भी दिन समान रूप से नही जाते। भारत के भाग्य ने भी पलटा खाया और उसके लिए भी दुर्दिनो का दौर-दौरा शुरू हुआ। हिन्दू-समाज की सम्बद्धता कालान्तर मे शिथिल होने लगी। जिस वर्णाश्रम-धर्म की बुनियाद पर उसकी रचना हुई थी, उसका कई कारणो से शनै शनै ह्रास होने लगा। यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है कि एक समूचे ग्रन्थ के लिए प्रतिपाद्य विषय हो सकता है। फिर भी हम यहाँ पर इतना सकेत कर सकते है कि हमारी सम्मति मे हिन्दू-समाज के भीतर वर्ण और आश्रम-धर्म में सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही हिन्दू-समाज की पतनशीलता का मुख्य कारण हुआ। प्राचीन आचार्यों ने वर्ण-व्यवस्था के साथ साथ आश्रम-धर्म की रचना इसलिए की थी कि दोनो एक दूसरे के परम सहायक होते रहे। वे परस्पर किस प्रकार की सहायता पहुँचा सकते है, इसका खुलासा करना भी हमें यहाँ अभीष्ट नही है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त और प्रासगिक होगा कि हिन्दू-समाज कई कारणो से अपने उत्कर्ष के मार्ग से विचलित हो गया और उसकी व्यवस्था दिनो-दिन बिगडती गई। यह अधोगामिनी क्रिया सदियो तक जारी रही।

जब किसी जाति की सामाजिक व्यवस्था बिगड जाती है, तब उसका दुष्परिणाम मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर होता है। अपने विभूति-वर्णन-वाले अध्याय में हमने ऐसी सामाजिक दुरवस्था का कुछ सक्षिप्त वर्णन किया है। उसका सबसे पहला असर लोगों की शिक्षा-दीक्षा में होता है। मनुष्य अपने वर्ग के सामूहिक स्वार्थ से पराङ्मुख होकर व्यक्तिगत स्वार्थ को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। स्वार्थ-पर वाता-

वरण मे स्त्री और पुरुष के बीच स्नेह का सूक्ष्म स्नायु ढीला होकर टूट भी जाता है। जहाँ लोगो में स्वार्थ-परता समाई, वहाँ स्त्री और पुरुष भी परस्पर व्यवहार में स्वार्थी बन जाते हैं। सच पूछा जाय तो इन दोनो का सुयोग्य सम्बन्ध जब तक बना रहता है, तब तक समाज-शृंखला की कड़ियाँ टूटती ही नही। ऐसी स्वार्थपर अवस्था हिन्दू-समाज के लिए भी उसके दुर्दिनो में आई। उसका परिणाम यह हुआ कि पुरुष स्त्री की चिर-पोषित आत्म-समर्पण-बुद्धि का दुरुपयोग करने लगा। जब मनुष्य गिर जाता है, तभी वह अपने को ऊँचा समझता है। पुरुष अपने कर्तव्य-पथ से गिर गया और इसी कारण वह अपने को स्त्री से अधिक महत्त्व देने लगा। वह ऐसे ऐसे सामाजिक नियमो की रचना करने लगा, जिनके अनुसार स्त्रियो को समाज मे गौण स्थान मिलने लगा। केवल बच्चो को जन्म देना तथा उनका लालन-पालन करना ही उनका एकमात्र कर्तव्य माना जाने लगा। अतएव उनके लिए शिक्षा की अनिवार्यता भी दूर हो गई। परिणामस्वरूप वे अशिक्षित रहने लगी। शिक्षा के अभाव में उन बेचारियो की बुद्धि कुंठित होने लगी। वे जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियो से अनभिज्ञ रहने लगी। बच्चो के लालन-पालन के लिए भी कुछ कम शिक्षा नही चाहिए। अतएव अशिक्षित मातायें अपने इस प्रधान कर्तव्य में भी विफल हो चलीं। माताओ की इस विफलता का परिणाम समाज तथा राष्ट्र के लिए महान् घातक होता है। भावी सुयोग्य नागरिको के अभाव में लोगो की उच्छृङ्खलता तथा स्वार्थ-परता और भी बढ जाती है। बस एक बुराई इस तरह दूसरे को सहायक हो चली। इस प्रकार अपनी महिलाओ की ओर दुर्लक्ष्य करके हम पुरुषोचित पथ से स्वय भी भ्रष्ट हो गये। आज हम उसी खोये हुए पुरुषार्थ को तलाश मे हैं। उसके अभाव में आज हिन्दुस्थान आठ-आठ आँसू रो रहा है।

आज हमारी माताओ और बहिनो की अवस्था बड़ी शोचनीय है। वे अशिक्षित तो हैं ही, पुरुषो के स्वार्थी हाथो में गोया गुड़िया बन

चुकी है। घर की चहारदीवारी के भीतर उनका चिरन्तन निवास हो गया है। वही उनके ससार की सीमा है। यह विशाल सुन्दर ससार उनकी कौतूहल-पूर्ण आँखो से ओझल है। दुनिया में क्या हो रहा है, पृथ्वी कितनी बडी है, उस पर कैसे कैसे लोग रहते है, उनकी विचार-धारा तथा सभ्यता कैसी है, हम किस देश के निवासी है, हमारी सभ्यता क्या है, तथा हमारे सामाजिक दोष क्या है और हम उन्हे कैसे दूर करे—इन बातो की कल्पना तक हमारी गृह-देवियो को नही है। ऐसी हालत में वे पुरुषो की सहायक तो होती ही नही, प्रत्युत बाधक भी हो रही है। जहाँ के पुरुष ही अज्ञानी और अशिक्षित है, वहाँ की नारियो की दुरवस्था राम ही जाने।

हमारी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी इस विषमता की ओर तिरस्कार की अँगुली दिखाते हुए कई विदेशियो ने मुक्त-कण्ठ होकर कहा है कि स्त्री-शिक्षा के अभाव में हिन्दुस्थान अपने पैरो आप खडा नही हो सकता। एक ही डैने के बल पर पक्षी उड नही सकता। उसका गिरना अवश्य-म्भावी है। हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में ऐसा आक्षेप करनेवाले इन विदेशियो की आन्तरिक भावना चाहे बुरी हो, पर उनके कथन में तथ्य जरूर है। जब हम स्वय अपनी स्त्रियो को परदो से मुक्त नही कर सकते तो विश्व-विधाता किस नियम के आधार पर हमे परतन्त्रता से मुक्त करेगा! यही तो उसके सामने भी अडचन है।

हिन्दुस्थान की सर्व-साधारण स्त्रियो की कैसी हालत है? उनके दुर्भाग्य का श्रीगणेश उनके जन्म ही से होता है। लडकी हुई, सारा कुटुम्ब कुम्हला गया। और तो क्या, स्वय माता का जी जरा कच्चा हो जाता है। यदि उसके एक-दो भाई हुए, तो परिवार भर का अधिक से अधिक दुलार लडको के लिए सुरक्षित रहेगा। लडकी लडके की हैसियत को नही प्राप्त हो सकती, क्योकि वह दूसरे घर की सम्पत्ति मानी जाती है। कन्याओ के सम्बन्ध में समूचे हिन्दू-समाज की यही अन्तर्गत धारणा है। यही कारण है कि जहाँ लडको के लिए ऊँची से ऊँची शिक्षा की व्यवस्था

होती है और उनके भविष्य-निर्माण के लिए सैकडो और हजारो रुपये खर्च किये जाते है, वहाँ निरक्षर लडकियाँ केवल दो-चार गहने, कुछ बर्तन और कपडे-लत्ते के साथ दूसरे घर को विदा कर दी जाती है। वह भी ऐसी कच्ची उमर मे जब कि उन्हें माता-पिता के लाड-प्यार की अधिक से अधिक आवश्यकता रहती है। उन बेचारियो के लिए बाल्यावस्था तथा उसके स्वच्छन्द आमोद-प्रमोद मानो विधाता ने बनाये ही नही। अपने अपरिपक्व शरीर और मन को लेकर वे युवती होने के बहुत पहले ही पति-गृह को चली जाती है और बहुत ही कच्ची उमर में मातायें भी बन जाती है। उसका परिणाम उनके स्वास्थ्य पर बडा अनिष्टकारी होता है। अनेक लडकियाँ यक्ष्मा का शिकार हो जाती हैं और जीवन के मध्याह्न में ही अपने नन्हें नन्हे बच्चो को छोडकर चल बसती है।

यदि जीती रही, तो सास के दुर्व्यवहार तथा अन्यान्य लोगो की अवहेलना से वे अपनी गृहस्थी की प्रारम्भिक अवस्था में कुछ वर्षों तक बहुत कष्ट पाती है। परिणाम यह होता है कि जरा के बहुत पहले उनके जीवन का केवल भग्नावशेष ही रह जाता है। इस शारीरिक तथा मानसिक दुरवस्था के साथ उनका अज्ञान भी इतना चढा-बढा रहता है कि वे सिवाय गहनो अथवा दीगर घरेलू बातो के किसी दूसरे विषय की चर्चा ही नही छेड सकती। बाहर की विशाल दुनिया उनके लिए नही है। हिन्दू-गृहस्थी की इस चहारदीवारी के भीतर ही स्त्री मरती-जीती है। यह हालत अधिकाश नागरिक गृहस्थी की है। देहात में रहने-वाली स्त्रियाँ यदि घर मे नही, तो अपने गाँव मे ही आजीवन बन्द रहती है। ऐसी माताओ से हम स्वराज्य के अधिकारी भारतीय पुत्रो की आशा करते है। इसमें सन्देह नही कि जब तक हम अपनी स्त्रियो की ओर श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखना न सीखेंगे, तब तक दुर्दैव हमारा पीछा न छोडेगा। जब हमारी गृह-देवियो की पूजा होगी, तभी हमारे घरो मे देवताओ का निवास होगा। जहाँ उनका निवास है, वहाँ दुर्दैव कहाँ?

फिर भी अपनी वर्तमान हीनावस्था में भी भारत की नारी आदरणीय है। उसकी बुद्धि कुण्ठित है, पर उसका हृदय सुन्दर है—सद्भावना-पूर्ण है। वह अपने नैतिक बल मे भारतीय पुरुष से अभी भी कई दरजे बढकर है। उसके सस्कार अभी भी अच्छे है। पुरुष के प्रति अभी भी उसकी आत्म-समर्पण-बुद्धि प्राय वैसी ही बनी हुई है। अपने गृह-कार्य में वह अभी भी दक्ष है, और हिन्दू-गृहस्थी की गई-गुजरी विशेषता उसी की बदौलत बनी हुई है। उसका हृदय शुद्ध और सरल है। भारतीय नारी की इसी सहृदयता पर महात्मा जी मुग्ध है। देखिए उनके प्रति सम्बोधन करते हुए वे क्या लिखते है—

"भारत की नारियो ने गत बारह महीनो मे बडे आश्चर्यजनक काम किये है। उन्होने अपने कर्तव्य का निर्वाह शान्ति-पूर्वक दया की मूर्ति के समान ही किया है। उन्होने अपने सारे जेवर दे डाले। चन्दो के लिए उन्होने घर घर फेरी दी। धरना देने का काम भी उन्होने किया। पहले जो सुन्दर सुन्दर और महीन मिल की साडियाँ पहनती थी, उन्होने शुद्ध पर मोटा खद्दर का कपडा धारण किया और इस प्रकार अपनी आन्तरिक पवित्रता का परिचय दिया। यह सब उन्होने स्वराज के लिए, खिलाफत के लिए और पजाब के अत्याचारो के विरोध में किया। उनका आत्म-समर्पण एकदम निर्दोष है। उनके इस उत्साह को देखकर मुझे विश्वास होता है कि ईश्वर हमारे साथ है।"

जिस समय हिन्दुस्थान की अधिकाश स्त्रियाँ अशिक्षित और अत्यन्त पराधीन अवस्था में पडी हुई अपना उल्लास-हीन जीवन व्यतीत कर रही है, उस समय शहरो मे रहनेवाली कुछ पढी-लिखी महिलायें कुछ कुछ चेतनता प्राप्त कर रही है। उनमें से अधिकाश सख्या उन स्त्रियो की है, जिन्होने विश्व-विद्यालयो मे अँगरेजी की शिक्षा पाई है। उन्ही के प्रयत्न से एक अखिल भारतीय स्त्री-सभा की भी सृष्टि हो चुकी है। उसका अधिवेशन नियमित रूप से कुछ वर्षो से होने लगा है। और उसमें कुछ ईसाई, कुछ पारसी, कुछ हिन्दू और कुछ थोडो

संस्था में मुस्लिम स्त्रियाँ जिन्हें यूरोप के 'सफ्रेजिस्ट' आन्दोलन की हवा लग चुकी है, शामिल हुआ करती हैं। यथार्थ में इन थोड़ी-सी पढ़ी-लिखी स्त्रियों के इस स्वल्प प्रयत्न को भारत की सर्व-साधारण स्त्रियों का प्रतिनिधित्व देना अनुचित होगा। इन अधिवेशनों में 'डाइव्होर्स', 'बर्थ कन्ट्रोल', तथा स्त्री-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी अन्यान्य पश्चिमी ढंग की माँगें पेश की जाती हैं और सभा बरखास्त हो जाती है। कौंसिलों में जाने की मनोवृत्ति इन पश्चिमी ढाँचे में ढली हुई बन्धन-मुक्त स्त्रियों में विशेष मात्रा में दिखाई देती है। यथार्थ में उन्हें अपने भारतीय संस्कार तथा व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अपनी जमीन से उनके पैर उखड़ गये हैं। हमारे राजनैतिक नेतृत्व में जो थोड़ी-सी शिक्षित महिलायें दिखाई देती हैं, वे भी इसी श्रेणी में हैं। उनका सम्पर्क सर्व-साधारण पुरुषों से भले ही हो, परन्तु भारत की नारियों से उनका कोई लगाव नहीं।

आज तक हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय नेताओं में ऐसा एक भी पुरुष महात्मा गांधी के सिवाय पैदा नहीं हुआ, जिसने स्त्रियों के अन्तःपुर में प्रवेश किया हो। लोकमान्य तिलक इस देश के सर्वमान्य नेता हो गये हैं। परन्तु अन्तःपुर तक उनकी भी पहुँच न हो पाई। जिस देश में स्त्रियों की स्वच्छन्दता ने लोगों को इतनी निराशा हो, जहाँ गृहस्थी की चहारदीवारी के अन्दर स्त्रियों के लिए सूर्योदय और सूर्यास्त भी होता हो, वहाँ प्रवेश करने का अधिकार यदि किसी को मिल सकता है तो उसे जन-समाज में अत्यन्त श्रद्धा का पात्र होना चाहिए। ऐसी विलक्षण और अद्वितीय पात्रता गांधी जी के सिवाय वर्तमान भारत में किसी को नहीं मिल पाई। हिन्दुस्थान में ऐसी अप्रतिम श्रद्धा का पात्र एक महात्मा ही हो सकता है, चाहे फिर वह अर्ध-नग्न अवस्था में ही क्यों न प्रकट हो। हिन्दुस्थान अपने आदर्श पुरुष को अक्सर चिथड़ों में पहचानता आया है। त्याग और वैराग्य की इस देश में सर्वत्र पूजा है। यह उसके आध्यात्मिक संस्कारों की प्रेरणा का परिणाम

है। कोरी विद्वत्ता विद्वानो के बीच भले ही सम्मान की दृष्टि से देखी जावे, लेकिन भारतीय जन-समाज आमतौर से सदाचरण का उपासक है। हमारी स्त्रियाँ अशिक्षित है, इस कारण केवल पाण्डित्य उनके लिए कोई मशरफ की चीज नही। अतएव केवल वाग्विलासियो से हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ झिझकती है। परन्तु उन्हे ज्योही इतना विश्वास हो गया कि अमुक आदमी सत्पुरुष और साधु है, त्योही वे अपने मुँह पर से घूँघट उठा लेती है और नि सकोच होकर बातें कर सकती है। भारतीय स्त्रियो में महात्माओ के प्रति जो ऐसी सस्कार-जन्य आदर-बुद्धि है, उसका अनुचित लाभ आज-कल के अनेक छद्मवेशी, कुटिल-हृदय साधु, महन्त और पुजारी उठा रहे है।

गाधी जी के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करने के पहले स्वराज्य-आन्दोलन में भारतीय स्त्रियो का कुछ भी योग नही था। वे जानती तक नही थी कि स्वराज्य किस चीज का नाम है और उसे प्राप्त करने से क्या लाभ होगा। यथार्थ में गाधी जी के आने के पहले हमारे राजनैतिक आन्दोलन का स्वरूप ही कुछ ऐसा था कि उसमें हमारी स्त्रियाँ कुछ भाग ही नही ले सकती थी। कौंसिलो के सभा-मचो पर वैध उपायो का अवलम्बन तथा तत्सम्बन्धी वाद-विवाद केवल पुरुष ही कर सकते थे। उनकी भी सख्या जन-समाज में थोडी ही थी। परन्तु महात्मा जी के नेतृत्व में शाब्दिक वितण्डावाद हमारे राजनैतिक क्षेत्र से एकदम उठ गया। ठोस कार्यों का जमाना आगया। इस गाधी-युग मे एक कर्मशील देशभक्त के लिए केवल मौखिक योग्यता हेय हो गई। स्वतन्त्रता की वलि-वेदी पर आत्म-समर्पण करने का युग आया। इस काम में हिन्दुस्थान के कौंसिलवादी विद्वान् जो केवल वक्तृता देना ही जानते थे, बिलकुल नालायक सिद्ध हुए और गाधी जी की शान्ति-सेना में अपना तन, मन और धन अर्पण करने के लिए वे लोग तैयार हो गये जो न तो बहुत पढे-लिखे थे और न जिनको राजनीति का कोई ज्ञान ही था। परन्तु उनमे सहृदयता थी, देश के लिए सच्ची लगन

थी और अपने मन्तव्य पर मर मिटने की मनोगत आस्था थी। यह गाधी जी का फूँका हुआ जादू था जो इस अपढ जन-समाज पर वात की वात में काम कर गया। ऐसे लोगो में हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ भी थी। जिन लोगो ने महिलाओ की किसी विराट् सभा मे गाधी जी के सामने अपने प्यारे आभूषणो को सहर्ष उतार कर देते हुए अपढ़ स्त्रियो को देखा होगा, उन्हें इस वात पर विश्वास होते देर न लगी होगी कि हमारी वहिनें अपनी इस हीनावस्था में भी नमस्कार करने योग्य है। वे अशिक्षित हैं सही, पर उनके हृदय पवित्र है, उदार हैं और सद्भावनापूर्ण हैं। उन्हे केवल विवेक की आवश्यकता है, फिर देखना, भारत का स्त्रीत्व कैसा खिल उठता है। उसका सानी फिर ससार में ढूँढने से भी न मिलेगा।

अपने गये गुजरे दिनो में भी इस देश की नारियो ने अपने निष्क्रिय और क्रियात्मक सत्याग्रह से जिस स्वाभिमान-वुद्धि का परिचय दिया और जैसी शूरोचित दृढता दिखाई, वह ससार के इतिहास में एक ऐसी घटना है जिसकी जोड का दूसरा उदाहरण अन्यत्र न मिल सकेगा। डडा-पुलिस के सगठित दल को देखकर जहाँ पुरुषो के भी छक्के छूटते थे, वहाँ हिन्दुस्थान की अपढ परन्तु सुसस्कृत नारियाँ जुलूस लेकर दृढता-पूर्वक आगे वढ जाती थी। इस प्रकार वे एक वार अधिकारियो को भी घवराहट और किंकर्तव्य-विमूढता की हालत में डाल देती थी। राष्ट्रीय झडे के लिए कई स्थानो पर उन्होने गोरे सिपाहियो से भी छीना-झपटी सफलता-पूर्वक की है। सैकडो की तादाद में वे हँसती हँसती जेल चली गई। कई तो अपने नवजात शिशुओ को लेकर सरकार की मेहमान हुई। सुनने में आया है कि कई ने उस कृष्ण-जन्म-सदन में अपने पुत्र-रत्न को पहले पहल देखा। कई वीमार हुई, पर अपने स्वाभिमान के पथ पर अडी रही, जरा भी विचलित नही हुई। पजाव की देवी उर्मिला के शब्द इन पक्तियो के लेखक के कानो में इस समय भी गूँज रहे है। जेल जाते समय हमारे कार्यकर्ता तथा नेता

सर्व-साधारण को जो सन्देश दे जाते थे, उन्हे हम सुना करते थे। परन्तु आज हमे वे सब विस्मृत हो गये हैं। लेकिन देवी उर्मिला के वे मनोहर शब्द आज भी हमारे हृदय और आत्मा को पुलकित बना रहे हैं। देवी जी की वाक्य-रचना सुन्दर थी और उससे भी अधिक सुन्दर थी उनकी भावना। देखिए, उनके सन्देश में भाषा और भावना का सम्मिलित सौन्दर्य कैसा मनोहर है!

देवी जी ने कहा था—

"पिता जी मुझे काश्मीर बुला रहे हैं। पर मेरा काश्मीर तो जेल में है, जिसके अन्दर पार्थिव जगत् की सबसे सुन्दर विभूति—गाधी बन्द है।"

काश्मीर के नन्दन-वन मे परमात्मा की विभूति अवश्य दिखाई देती है। परन्तु गाधी जी के जीवन मे जिस विभूति के दर्शन हमे होते हैं उसकी सुषमा कुछ और है। उसका सानी काश्मीर के काननो में कहाँ! ऐसा सौन्दर्य-पुज गाधी जहाँ विद्यमान हो, वह जेल जेल नही, सौन्दर्य और उल्लास का उद्यान है।

इस प्रकार भारत की स्त्रियो ने महात्मा जी के राष्ट्रीय कार्यक्रम में जो लगन दिखाई, वह मनुष्य-जाति के इतिहास मे अप्रतिम है, इसमे ज़रा भी सन्देह नही। गाधी जी ने इन नारियो के हृदय को अपनी तपस्या के बल पर ही जीता है। जहाँ कही वे जाते थे, सार्वजनिक सभा के सिवाय एक खास महिला-सभा की योजना जरूर की जाती थी। गाधी जी के पैर छूने के लिए तथा कुछ भेट चढाने के लिए उनका ऐसा ताँता लग जाता था कि उन्हे कई स्त्री-सभाओ मे बोलने के लिए अनुकूल अवकाश ही नही मिल पाता था। देहात की भोली-भाली स्त्रियाँ उनके दर्शन से कृत-कृत्य हो जाती थी और उन तक न पहुँच सकने के कारण दूर ही से प्रणाम करके अपने बच्चो के लिए आशीर्वाद ले लिया करती थी। महात्मा जी के सामने सहर्ष उतारे हुए जेवरो का ढेर लग जाता था। दरिद्र वृद्धाये श्रद्धातिरेक मे आकर

अपने कथील के कड़े ही उतार कर दे डालती थी। हृदय की पहचान करनेवाले सहृदय गांधी जी इस दृश्य को देखकर गद्गद हो जाते थे। हिन्दुस्थान का यह स्वराज्य-आन्दोलन यदि हिंसात्मक होता, तो कुछ थोड़े से पुरुष ही काम आते तब नहीं। परन्तु महात्मा जी के विरोध का ढंग ही कुछ ऐसा था कि उसमें बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ भी उसी खूबी के साथ योग दे सकती थीं। विशेषकर निष्क्रिय, प्रतिरोध (Passive resistance) का तरीक़ा तो ऐसा है कि उसको जितनी अच्छी तरह अमल में स्त्रियाँ ला सकती हैं, वैसा पुरुष भी नहीं कर सकते। इस तरह का विरोध स्त्री-स्वभाव के अनुकूल भी है। बहुधा अपनी नाराजगी प्रकट करने के लिए गृहस्थी में स्त्रियाँ विरोध के इस निष्क्रिय रूप का उपयोग किया भी करती हैं। इस ढंग के विरोध के लिए जो सहन-शीलता तथा मानसिक शक्ति चाहिए, वह कदाचित् स्त्रियों में पुरुषों से अधिक मात्रा में पाई जाती है। स्त्री-स्वभाव की यह अनुकूलता भी एक ऐसी बात थी जिसके कारण महात्मा जी को महिला-समाज में इतनी अधिक सफलता मिली।

जो हो, गांधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन की बड़ी से बड़ी विशेषता तो यही है कि उसने हिन्दुस्थान के स्त्री-समाज में बहुत ही थोड़े समय में ऐसी विलक्षण और व्यापक चेतनता जाग्रत कर दी कि सदी का काम दस वर्षों के अन्दर हो गया। विदेशी वस्त्रों की दूकानों के सामने धरना देकर लापरवाह पुरुषों के हृदय पर भी हमारी बहिनों ने ऐसा प्रभाव डाला कि उनके भी कान खड़े हो गये। उनकी इस अमूल्य सहायता से बायकाट के कार्यक्रम को खूब तीव्रता मिली। उसका करारा आघात भी विदेशी रोज़गारियों पर पड़ा। उसकी मार से लंकाशायर अभी भी कराह रहा है। हिन्दुस्थान के लिए बनी धोतियाँ इँगलैंड में 'विन्डो-स्क्रीन' का काम देने लगीं।

कई नगरों में ये स्त्रियाँ डिक्टेटर का भी काम कर रही थीं। बम्बई सरीखे शहर में 'पिकेटिंग' करना उन्हीं का काम था। इन दिनों

केसरिया साडी का नजारा जिसने देखा होगा, वह उस दृश्य को कभी नही भूल सकता। भारतीय ललनाओ की इस विलक्षण जाग्रति ने हमारे विदेशी आलोचको को भी चौकन्ना कर दिया। वे समझने लगे कि हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ आखिर ऐसी मूक और निस्सहाय नही है जैसा कि वे समझते आये थे। भारत की वहिनो और माताओ की इस अद्भुत सजीवता का सोलहो आने श्रेय गाधी जी के सिवाय किसी दूसरे को नही' मिल सकता।

महात्मा जी को भारतीय महिलाओ से जो ऐसी अपूर्व सहायता मिली, उसका कारण आन्दोलन की अहिंसात्मकता तो जरूर थी, परन्तु एक दूसरा सबब और भी था। गाधी जी ने सत्य और अहिंसा के आधार पर अपने कार्यक्रम को विशुद्ध धार्मिक रूप दे दिया था। यथार्थ मे देशोद्धार का काम धर्म-मूलक ही है। धर्म-भावना की यह प्रेरणा भारतीय ललनाओ के हृदयो में जादू का काम कर गई। यो तो समूचा हिन्दुस्थान धर्म-प्राण देश है। पर हमारी स्त्रियाँ धर्म ही के नाम पर जीती है और धर्म ही के नाम पर कष्ट-सहन की अप्रतिम क्षमता भी दिखा सकती है। पुरुषो मे आज दिन जो यत्किंचित् धार्मिकता रह गई है, वह हमारी इन गृह-देवियो की ही वदौलत है। गाधी जी ने उनकी धर्म-प्रियता का खासा समयानुकूल सदुपयोग किया और उसे एक नया रूप और नई दिशा दे दी। जिन्हे राष्ट्रीयता की कल्पना भी नही थी, वे उनकी प्रेरणा से देश के नाम पर मर मिटने के लिए तैयार हो गईं। क्यो न होती, जब उनके सामने गाधी जी ने सीता, सावित्री और दमयन्ती का चिर-परिचित मनोगत आदर्श ऐसी युक्ति-पूर्वक रक्खा और कहा कि "वहिनो, हमारा यह देश दरिद्र हो चुका है, यहाँ लाखो और करोडो गरीव किसानों और मजदूरो को भर पेट खाने को नही मिलता। अपनी स्त्रियो की लज्जा ढाँकने के लिए उनके पास काफी वस्त्र ही नही है। ऐसी हालत में तुम्हे ये वेशकीमती वस्त्र और आभूषण शोभा नही देते। ध्यान रखना कि रावण

के राज्य में सीता ने ज़ेवर नहीं पहने थे।" हिन्दू-नारियाँ अपनी आराध्य देवी सती सीता की करुण-कथा तथा त्याग-भावना के इस पवित्र आदर्श को सुन-समझकर श्रद्धातिरेक से प्रेम-विभोर हो जाती थीं। गांधी जी के सामने बात की बात में आभूषणों का ढेर लग जाता था।

लोग नासमझ होते हैं जो हीरे और मणि की तलाश में भूगर्भ को खोदते फिरते है। जितना प्रयास वे इन भड़कीले पत्थरों की खोज में किया करते हैं, यदि उसका चतुर्थांश भी वे नारी-हृदय के सपुटित हृदय-कोष को खिलाने में खर्च कर दें तो इन देवियों के हृदय-गर्भ से ऐसे अलौकिक देदीप्यमान और मनोहर रत्न इतनी अधिक सख्या में एक के बाद एक निकल पड़ें कि हमारा यह हीन जन-समाज दैवी सम्पत्ति से माला-माल हो जाय और उसके तिमिरावृत हृदय का एक एक कोना सद्भावनाओं से भासमान हो जाये। समुद्र-मन्थन के द्वारा देवताओं ने सिर्फ चौदह रत्न निकाले थे। परन्तु शुद्ध सतोगुणी शिक्षा और सस्कार के मान-दण्ड से भारतीय ललनाओं के प्रशान्त हृदय-सागर से चौदह सौ नहीं, चौदह हज़ार ऐसे अनमोल भाव-रत्नों का आविर्भाव हो, जिन्हें देखकर एक बार देवताओं को भी दाँतों तले उँगली दबानी पड़ेगी। कौन कह सकता है कि हमारी माताओं, बहिनों तथा स्त्रियों के अशिक्षित और निःशब्द हृदयों में कितनी मूक वेदनायें भरी हैं? कौन कह सकता है कि सुसंस्कृत वाक्-शक्ति के अभाव में कैसे कैसे सुन्दर सद्भावना-सुमन उनके हृदय रूपी उद्यानों में सम्पुटित ही रह जाते हैं, खिलने नहीं पाते। अभागा भारत उनके स्वर्गीय सौरभ से वंचित हो रहा है। उन्हें देखनेवाला परखनेवाला कौन है!

कितने बेताब हैं जौहर मेरे आईने में।
किस तरह जल्वे तड़पते है मेरे सीने में॥
इस गुलशन में मगर देखनेवाले ही नहीं।
दाग़ सीने में जो रखते हैं वो लाले ही नहीं॥

नारी-हृदय के गुलशन में जो फूल खिलते हैं, उनका देखनेवाला कोई नहीं! अफसोस!!

फिर भारतीय नारी का हृदय! वह तो अपनी सुषमा से नन्दन-वन को भी मात करता है! हमारी भारतीय ललनायें शब्दो से अशिक्षित हैं। विश्वविद्यालयो मे उन्हे 'ट्रिगनामेट्री' डिफरेंशियल, कैलकुलस, ज्यामेट्री तथा विज्ञान की शिक्षा नहीं मिली हैं, परन्तु जन-समाज को उदार और कर्तव्य-निष्ठ बनानेवाले शुद्ध और शीलोचित सस्कारो मे उनके हृदय ओत-प्रोत है। उनके पावन भाव-प्रवाह में हीन से हीन मनुष्य भी एक बार निमज्जन कर ले, तो वह दानव से देव बन जाये, मनुष्यत्व प्राप्त करना तो कोई बात ही नहीं।

आज भारत के पुरुष इतने निकम्मे और नालायक क्यो हो रहे हैं? आज परतन्त्रता की बेडियो को पहने हुए भी पान चवाते हुए वे इतने प्रसन्न-मुख क्यो दिखाई देते है? आज उन्हे अपनी हीनता कायल क्यो नहीं करती? आज उनकी पुरुषोचित आत्म-प्रतिष्ठा और गौरव-बुद्धि लुप्त क्यो हो रही है? इतना अपमान सहकर भी वे क्यो जी रहे है? केवल इसी कारण कि वे अपने मनुष्यत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं। सिर्फ इसी लिए कि उनके हृदयो में वह सचालन-शक्ति नही है जो उन्हे बेचैन बना दे। ऐसा हृदय, ऐसी सचालन-शील सद्-भावना, ऐसी कार्यकारिणी शक्ति उन्हे अपनी माताओ से मिलेगी, बहिनो से मिलेगी, अन्यत्र और अन्यथा नही। इस दुर्दमनीय स्वाभिमान-बुद्धि का देनेवाला, इस ससार में दूसरा नहीं, त्रिभुवन में भी नही है। महिरावण से युद्ध करते हुए राम—लकाविजयी राम—क्लान्त हो गये, अपने पौरुष से निराश हो बैठे! उस समय उनकी सहायता किसने की थी, किसने उन्हें त्राण दिया था? भारत की आदर्श-नारी सती सीता ने!

परन्तु आज भारतीय ललनाओ के हृदय-द्वार बन्द है। सामाजिक अव्यवस्था तथा अनावश्यक बन्धनो से सकुचित होकर वे कुण्ठित हो

चुके हैं। पुरुषों के अनाचार-जनित सन्तापों से सतप्त होकर वे झुलस गये हैं। आज उनकी पराधीन और परितप्त दशा का हाल एक अन्तर्यामी परमात्मा ही जानता है। कदाचित् वह भी समवेदना से पीडित होकर अपनी सारी शक्तियों को समेट कर वही जा बैठा है। अन्यथा हम सरीखे हीन भारतीय पुरुषों मे उसकी दैवी सम्पत्ति का ऐसा अनिष्ट-कारी अभाव क्यो दिखाई देता ?

सृष्टि-सहार के बाद कल्पान्त में यदि कोई सृष्टिकर्ता से यह प्रश्न करेगा कि तुमने अपने ससार में सबसे अनूठी चीज कौन-सी बनाई थी, तो इसमे सन्देह नही कि विधाता मुग्ध-कण्ठ होकर कह उठेगा "भारतीय नारी।" सीता, सावित्री, दमयन्ती तथा द्रौपदी के स्मरण से वह पुलकित हो जावेगा। उसकी सर्वनाश-दर्शी निष्ठुर आँखें एक बार आँसुओ से ओत-प्रोत हो जावेंगी।

भारतीय नारी, तुम धन्य हो! वह तुम्हारी पति-परायणता ही तो थी जिसने तुम्हे अप्रतिम सहनशीलता दी। वह तुम्हारे पातिव्रत धर्म का तेज ही तो था, जिसने धधकती हुई अग्नि को भी ठण्डा कर दिया। वह तुम्हारी अलौकिक भक्ति-भावना ही तो थी, जिसने दस हाथ साडी को ब्रह्मरूप अनन्त बना दिया। वे तुम्हारे तेजोमय वचन ही तो थे, जिन्होंने "जहासि निद्राम् अशिवैं शिवारुतै" और "जटामर सन् जुहुधीहि पावकम्" के रूप मे निकल कर सग्राम-विरत पुरुष को शस्त्र-सन्नद्ध बनाया। वह तुम्हारा स्नेह-सना मृदुल व्यवहार ही तो था, जिसने आज तक हिन्दू-गृहस्थी को मेदिनी-तल का स्वर्ग बना रक्खा है। वह तुम्हारे दिव्य और पावन जीवन की कीर्ति-कौमुदी ही तो थी, जिसने भारत का मुख ससार में उज्ज्वल किया। इसमें जरा भी सन्देह नही कि भारतीय सभ्यता जिस दीक्षा से दीक्षित है, वह तुम्हारी ही दी हुई है।

परन्तु आज हमारी इस दीन-हीन सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक दुरवस्था मे भारत का नारी-हृदय मूक है, नि शब्द है, लेकिन

वेदनामय है, सद्भावनामय है। उसे शिक्षा चाहिए, क्षमता चाहिए। फिर देखना वह कैसा खिल उठता है। उसकी हृत्तन्त्री कैसी बज उठती है।

तू जरा छेड तो दे तिश्नये मिजराव है साज।
नगमें बेताब हैं तारो से निकलने के लिए।।

साबरमती आश्रम के उस हृदयशाली साधु ने भारतीय नारी की इसी हृत्तन्त्री को युक्ति-पूर्वक छेड दिया और उससे देशभक्ति, आत्म-त्याग और सहनशीलता की जो दिव्य और मनोहर रागिनी निकली उसे जिसने नही सुना, वह कानो के रहते हुए भी बहरा है और जिस हृदय पर उसका प्रभाव नही पड सका, वह हृदय नही, एक निर्जीव पाषाण-खण्ड है। महात्मा जी की दी हुई यह नारी-जाग्रति-रूपी दुर्लभ देनगी हिन्दुस्थान के लिए आशीर्वाद है। भारतीय स्त्रियो की इस राष्ट्रीय चेतनता ने इस पराधीन देश का मस्तक बहुत ऊँचा उठा दिया। आज कौन कह सकता है कि हमारी मातायें किसी से किसी प्रकार कम है ? हिन्दुस्थान के स्वराज्य-सग्राम में उन्होने जो विलक्षण नैतिक क्षमता दिखाई, वह देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरो में अकित रहेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नही।

अध्याय १७

विधायक कार्यक्रम

प्रकृति ने हमारे भौतिक शरीर की जो रचना की है वह ध्यान देने योग्य है। इस रचना की सवद्धता तथा उसके भिन्न-भिन्न अवयवो में पारस्परिक सहयोग-सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए एक कल्पित प्राचीन कहानी बहुत प्रसिद्ध है। एक बार मानव-शरीर के हाथ, पैर और सिर ने आपस में विचार किया कि हम लोग दिन-रात परिश्रम करते करते थक जाते है और बडी मुश्किल से इस शरीर को चलाने के लिए भोजन प्रस्तुत किया करते है। परन्तु यह पेट कुछ भी नहीं करता। वह न चलता, न फिरता और एक ही जगह आराम से पडा रहता है। फिर भी हमारी सारी कमाई वह हडप जाता है। अतएव उन्होंने चुपचाप यह निश्चय किया कि कल से हम लोग भी अपनी सारी खटखट वन्द कर दें और देखें कि यह पेट, भोजन-सामग्री किस तरह जुटाता है और क्या करता है। उन्होने दूसरे दिन हडताल कर दी। दो-चार दिन इसी तरह बीत गये। तदुपरान्त जब पेट को भोजन न मिला, तो हाथ-पैर भूख से ऐंठने लगे, सिर चक्कर खाने लगा। सारा शरीर शिथिल पड गया। हाथ-पैर का हिलना-डुलना भी वन्द हो गया। उनकी कार्य-कारिणी शक्ति खो गई और मस्तिष्क में विचार करने की योग्यता न रह गई। देह के अग-प्रत्यङ्ग में भीषण वेदना होने लगी। शरीर की इस दुरवस्था को देख कर पेट ने सिर से कहा कि भई, ये हाथ-पैर तो सोचने-विचारने से रहे, पर तुम तो समझ सकते हो कि मैं जो भोजन लेता हूँ वह सारे शरीर के लिए लाभदायक होता है। उसी प्रकार तुम जो सोच-समझकर निर्णय करते हो, वह भी हम सबके

लिए कल्याणकारी होता है। हाथ-पैर के परिश्रम भी हमारी तुम्हारी भलाई के लिए ही हैं। इस तरह हम सब एक दूसरे के सहायक हैं और हम सबके सम्मिलित सहयोग से यह शरीर-यात्रा पूरी होती है। यह कौन-सी दुर्बुद्धि तुम लोगो मे समाई है जो तुमने आत्म-घाती षड्यत्र रचा है। विरोधी अगो की समझ में यह बात आगई और आगे के लिए वे सावधान हो गये।

इस मामूली-सी कहानी मे बडा गम्भीर तथ्य है। इस तथ्य को जो वैद्य या हकीम जानता है, वह जब किसी का इलाज करता है तब भिन्न-भिन्न अवयवो के भिन्न-भिन्न कष्टो के निवारण के लिए सोच-समझकर ऐसी मिश्रित दवा की योजना करता है कि जिससे समूचे शरीर को एक साथ लाभ हो और सब अगो के कष्ट एक साथ दूर हो। वह जानता है कि इस शरीर की रचना ही ऐसी है कि एक अवयव के दुखी होने पर उसकी वेदना समूचे शरीर में व्याप्त हो जाती है। अतएव इस देह के किसी भी अग की अवहेलना नही की जा सकती। सबका महत्त्व समान है। कोई किसी से छोटा और कोई किसी से बडा नही है।

प्राणि-शरीर की यह अन्योन्यावलम्बी रचना ऐसी मौलिक है कि इससे भिन्न किसी दूसरी सजीव रचना की कल्पना भी नही की जा सकती। भारत के प्राचीन समाज-सस्थापको ने जिस समय हिन्दू-समाज की रचना की, तो मनुष्य के शारीरिक सगठन को ही अपना आदर्श माना और इसी नैसर्गिक योजना के अनुसार 'गुण-कर्म-विभागश' अपनी वर्ण-व्यवस्था बनाई। अपने सामाजिक सगठन में उन्होने ब्राह्मणो को सिर बनाया और क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रो को समाज के हाथ, पेट तथा पैरो का रूप दिया। इस प्रकार उन्होने एक जातीय विराट् पुरुष की रचना की। हम ससार के किसी भी जनसमुदाय की ओर देखें, वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादिक नाम न पाये जाते हो, मगर ये चार प्रकार के लोग वहाँ भी मिलेंगे और इन चार के अतिरिक्त पाँचवें प्रकार के लोगो की कल्पना भी नही हो सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारा जन-समाज एक विराट

शरीर हैं और उसके अंग-प्रत्यङ्ग आपस में इतने संबद्ध हैं कि एक वर्ग का कष्ट दूसरे वर्गों को भी व्यापता है और एक का कल्याण सबके लिए हितकर होता है। किसी जन-समाज को जब हम राजनैतिक संज्ञा देना चाहते हैं तो उसे 'राष्ट्र' कहते हैं। अतएव राष्ट्र एक नागरिक का विराट् रूप है। महात्मा गांधी के राष्ट्रीय कार्य-क्रम को हृदयंगम करने के लिए समाज-रचना के इस अन्तर्गत सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। इसलिए उसकी चर्चा हमने कुछ विस्तार के साथ की है।

'कांग्रेस की राजनीति' शीर्षक अध्याय में हम यह कह चुके हैं कि हमारी राष्ट्रीय महासभा के जन्म से लेकर कई वर्षों तक हमारे नेताओं के सामने कोई विधायक कार्य-क्रम ही नहीं था। जो कुछ था, सब प्रार्थनात्मक था। कांग्रेस के मन्तव्यों का यह निष्क्रिय रूप उसके राजनीतिक लक्ष्य की प्रेरणा का ही परिणाम था। उन दिनों हमारे कांग्रेस-नेता समझते थे कि ब्रिटिश छत्रछाया के नीचे 'डोमिनियन स्टेट्स' याने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' प्राप्त करके रहना ही हमारे लिए सम्भव है और वही अवस्था हमारे लिए हितकर भी होगी। ऐसी समझवालों के लिए यह समझना भी बिलकुल स्वाभाविक था कि ब्रिटिश पार्लिमेंट हमें जो कुछ देगी, वही मिलेगा। वे कदाचित् यह भी समझते थे कि हमारी राष्ट्रीय स्वतंत्रता हमें अन्ततोगत्वा अँगरेज़ों से देनगी के रूप में ही मिलेगी। अतएव ऐसी हालत में वे अधिकारियों के सामने अनुनय-विनय के सिवाय कर ही क्या सकते थे ? जब कोई चीज़ किसी बलवान् पुरुष से दान के रूप में ही मिल सकती है, तो नतकाय होकर प्रार्थना करना ही एक मात्र कर्तव्य हो जाता है। हमारे 'लिबरल' दलवाले प्रार्थनाशील राजनीतिज्ञों की मनोवृत्ति का यही खुलासा है और कांग्रेस के प्रारम्भिक जीवन में कई वर्षों तक ऐसे ही लोग हमारे राष्ट्रीय जीवन के सूत्रधार थे।

आगे चलकर कुछ वर्षों के बाद जब कांग्रेस की बागडोर गरमदल के नेताओं के हाथ में आई, तो हमारे राष्ट्रीय मंतव्यों में केवल अन्तर

इतना ही हुआ कि राष्ट्रीय महासभा के प्रस्तावों से कोरी विनयशीलता निकल गई और उनमें उग्रता आ चली। अब हमारे गरमदल के नेता निर्भीकता-पूर्वक कहने लगे कि स्वतन्त्रता हमारी चीज है, उसे हम लेकर छोड़ेंगे; तुम रोकनेवाले और कृपापूर्वक देनेवाले कोई नहीं होते। उन निर्भय वाक्यों के लिए उन्हें अपने जीवन में बहुत कीमत भी चुकानी पड़ी। वे सच्चे देशभक्त थे। समाज-सेवा की उन्हें लगन थी। इसलिए उन्होंने सब यातनायें सहर्ष भोग ली, पर अपना स्वाभिमानी मस्तक उन्होंने कभी नहीं झुकाया। इस त्यागी और उग्र दल के नेता लोकमान्य तिलक और पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय थे।

इन गरम दलवाले राष्ट्र-नेताओं के युग में औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना से कुछ विराग तो जरूर उत्पन्न हो गया, मगर फिर भी हमारे राजनैतिक लक्ष्य की स्पष्टता उन दिनों उतनी नहीं थी, जितनी कि आज है। आज कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य की समर्थक है। वह ऐसी शासन-व्यवस्था चाहती है कि जिसमें इंगलैंड का कुछ भी संबंध न हो। साराश यह कि वह अपने पैरों आप खड़ी होना चाहती है। यह स्वावलम्बन-वृत्ति हमारी राष्ट्रीय सभा के रचनात्मक कार्यक्रम की जननी है। और इस राष्ट्रीय मनोवृत्ति के मुख्य विधाता हमारे हृदय-सम्राट् गांधी जी हैं। उन्होंने अपने समूचे कार्यक्रम की रचना हमारे स्वावलम्बनशील राजनैतिक आदर्श को अपने लक्ष्य-पथ में रखकर ही की है।

इसके सिवाय महात्मा जी के विधायक कार्यक्रम की विशेषता यह है कि वह समाज-संगठन के पूर्वकथित मूलगत सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करता। एक चतुर वैद्य के समान गांधी जी ने हमारे जन-समाज-रूपी शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर तथा उनकी कमजोरियों और आवश्यकताओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करके एक ऐसा मिश्रित उपचार निकाला है कि जिससे हमारी सभी राष्ट्रीय व्याधियां एक साथ दूर हो और रोगी पूर्णतया स्वस्थ हो जावे। उनका बनाया हुआ कार्यक्रम ऐसा सर्वांगीण है कि उसमें कोई मौलिक परिवर्तन करना संभव नहीं।

प्रत्येक कार्यक्रम हमारी किसी सामाजिक व्याधि को दूर करने की रामबाण दवा है। हमारे राष्ट्रीय नेताओ मे इस संबध मे बहुत-सी बहस-मुबाहिसे हुई, पर गाधी जी के विधायक कार्यक्रम में परिवर्तन करना उन्हे बहुत कठिन प्रतीत हुआ। क्यो न हो, महात्मा जी का वैज्ञानिक उपचार ऐसा ही अकाट्य है। जरा देखे, उसकी बनावट कैसी है।

हिन्दू-मुस्लिम मेल

इस बात को कौन नहीं जानता कि इस देश के राजनैतिक प्रगति के मार्ग में हिन्दू और मुसलमानो का पारस्परिक वैमनस्य बडा जबर्दस्त बाधक है। हमारे सभी राष्ट्रीय नेता इस बात को स्वीकार करते है कि जब तक इन दो सम्प्रदायो में मेल न होगा, तब तक हम इस देश मे ऐसी कोई शासन-व्यवस्था स्थापित नही कर सकते जो पूर्णतया प्रजा-सतात्मक और स्थायी हो। हिन्दू और मुसलमानो के स्वभाव एव साम्प्रदायिक विशेषताओ के सम्बन्ध म हम आगे चलकर विस्तृत रूप में चर्चा करेगे। अभी हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि अन्त-तोगत्वा इन दोनो के सामञ्जस्य के बिना हमारे देश की खैरियत नही है। इस समय भी हमारी राष्ट्रीय विवशता का प्रधान कारण यही साम्प्रदायिक विषमता है। यह भेद-बुद्धि अधिकाश में बनावटी है और जो लोग हिन्दुस्थान को स्वतन्त्र देखना नही चाहते, उनकी कूटनीति के द्वारा पल्लवित की हुई विषैली लता है। हिन्दू और मुसलमानो की यह पारस्परिक दुर्भावना मानो आकाश-बेलि के समान हमारे राष्ट्र-वृक्ष पर फैली हुई है। यदि इसी तरह वह फैलती गई, तो हमारा सामु-दायिकजीवन निःसत्व होकर सूख जायगा, इसमें जरा भी सदेह नहीं।

हिन्दू और मुसलमानो के साम्प्रदायिक समझौते की समस्या एक ऐसी विचित्र दुरवस्था मे पडी हुई है जिसे अंगरेजी मे 'व्हिशस् सर्किल' याने 'बुराई का चक्कर' कहते है। कई लोगो की ऐसी भी राय है कि जब तक हम स्वतन्त्र न होगे, तब तक हिन्दू-मुस्लिम मेल सभव नहीं है।

पर बात यह भी है कि जब तक इन दोनो मे आवश्यक मेल न होगा, तब तक स्वराज्य मिलना भी सभव नही है। अतएव कई लोगो की समझ मे यह बात बिलकुल नही आती कि आखिर इस चक्करदार उलझन से हम लोग किस तरह निपट सकेंगे। ऐसे लोग निराशावादी होकर कहा करते है कि हिन्दुस्थान के दुर्दिन ज्यो के त्यो रहेगे और उसकी बेडियाँ खुल नही सकती। इस घोर निराशावाद से हम सहमत नही है। जब हम इस बात को जानते है कि यह ससार भिन्नतापूर्ण होकर भी मेल-मूलक है और जब जीव-मात्र की प्रगति अनेकत्व से एकत्व की ओर हो रही है, तब हम यह कैसे मानें कि हिन्दू और मुसलमानो में मैत्री-भाव का होना बिलकुल असम्भव है। कदापि नही मान सकते। अतएव मानव-समाज की विकास-परम्परा के रहस्य को समझनेवाला इस सम्बन्ध में निराश नही हो सकता। कदाचित् यही कारण है कि अपने प्रयत्नो में कई बार विफल होकर भी महात्मा जी साम्प्रदायिक मेल की सम्भावना से विरक्त होना पसन्द नही करते। अभी भी वे आशावान् है, होना भी चाहिए।

गाधी जी के नेतृत्व-काल में इस कार्यक्रम को बहुत उत्तेजना मिली। इसका प्रधान कारण उनकी उभय सम्प्रदायव्यापी लोक-प्रियता है। उनके अतिरिक्त हिन्दू-नेताओ में ऐसा एक भी व्यक्ति नही है, जिसे मुसलमान लोग अधिक से अधिक सख्या में इज्जत की निगाह से देखते हो। कुछ थोडे से मूर्ख हठधर्मियो को छोडकर महात्मा जी सभी के प्यारे है। और नही तो कम से कम उनके व्यक्तित्व को सम्मान देने में अधिकाश हिन्दू-मुसलमानो का मेल सपादित हो चुका है। यह भी क्या कम है। इससे कम से कम इतना तो सिद्ध होता है कि दोनो सम्प्रदायो मे ऐसे कई अच्छे लोग है जो अच्छे को अच्छा कह सकते है। अच्छेपन को पसन्द करनेवाले लोगो में मेल का हो जाना बहुत सभव है, क्योकि आखिर वे किसी एक अच्छे स्थान पर मिल तो सकते है। मेल की मनो-वृत्ति को तैयार होने मे ज़रा देर लगती है और फिर एक बार वह जाग्रत

हुई कि मेल होने देर नहीं लगती। हमें पूरा विश्वास है कि इन दोनों सम्प्रदायों में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होगा—अवश्य होगा। परन्तु प्रेम ईश्वरीय शक्ति का एक ऐसा गुण है कि जिसका उदय मानव-हृदय में कुछ तपस्याओं के बाद होता है। इस तपस्या की आग में हिन्दू और मुसलमान—दोनों को गुजरना होगा, तब कहीं उनके हृदय एक दूसरे के योग्य होंगे।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के नाम पर हमारे महात्मा जी ने बहुत तपस्याएं की हैं। इस साम्प्रदायिक मैत्री के नाम पर उन्होंने जो इक्कीस दिनों का उपवास किया था, उसे कौन नहीं जानता। उसके बाद ही साम्प्रदायिक सुलह के लिए दोनों ओर के नेताओं ने यथाशक्ति प्रयत्न भी किया, परन्तु तात्कालिक परिणाम कुछ भी न हुआ। इसके बाद गांधी जी की उपस्थिति में दूसरा प्रयत्न उस समय हुआ जब कि 'राउन्ड टेबुल कान्फ्रेंस' का दूसरा अधिवेशन लंदन में हो रहा था। वहां भी विफलता ही रही। क्यों न रहती, वहां तो लोगों के सच्चे प्रतिनिधि कुछ थे ही नहीं। अधिकारियों के नामजद लोग ही वहां उपस्थित थे और वे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हाथों में उनकी कठपुतली नाच रहे थे। ऐसा गिरा हुआ मनुष्यदल ऐसे शुभ कार्य के सम्पादन में सक्षम नहीं हो सकता।

तीसरा प्रयत्न प्रयाग में किया गया। इस बार महात्मा जी ने कोई क्रियात्मक योग नहीं दिया। वे केवल सहानुभूति-पूर्ण हृदय से सब बातें दूर से सुन रहे थे। इस तीसरे प्रसंग पर तो लोगों के मन में आशा का बहुत कुछ संचार हो चुका था। परन्तु इस बार भी देश को कोई यश न मिला। असेंबली के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के संबंध में जिस समय प्रयाग में नेताओं के बीच चर्चा चल रही थी और मुस्लिम-नेता साढ़े बत्तीस सैकड़ा पर प्राय राजी हो चुके थे, ठीक उसी समय इंगलेंड के साम्राज्यवादियों की ओर से यह घोषणा हुई कि मुसलमान साढ़े तैंतीस सैकड़ा के हकदार हैं और नयी योजना में उन्हें इसी हिसाब से साम्प्रदायिक

प्रति-निधित्व प्राप्त होगा। अदूरदर्शी मुस्लिम नेता इस प्रलोभन के पाश में पड गये। प्रयाग का प्रयत्न जहाँ का तहाँ रह गया। इनके सिवा छोटी-मोटी कोशिशे दो-चार, दस-पाँच नेताओ के बीच मे समय समय पर प्रकट और प्रच्छन्न रूप से होती ही आई है। ऐसा ही एक छोटा-सा प्रयत्न अभी हाल में ही मिस्टर जिन्ना और बाबू राजेन्द्रप्रसाद के दर्म्यान में हुआ, परन्तु वह भी सफल न हुआ।

कहने का अभिप्राय यह है कि महात्मा जी के नेतृत्व में, याने गत पन्द्रह वर्षो के अदर जितने अधिक प्रयत्न हिंदू-मुस्लिम-मेल के सबध मे हुए, उतने कदाचित् हिन्दुस्थान के समूचे साप्रदायिक इतिहास मे कभी नही हुए थे। भले ही उनका परिणाम इष्ट न हुआ हो, परन्तु इन बातो से इतना तो सिद्ध होता है कि दोनो दलो के नेताओ को सुलह की आवश्यकता अब अधिक प्रतीत होने लगी है। इस प्रतीति की मात्रा अभी काफी तेज नही हुई है, पर होती जा रही है। ज्यो ही आवश्यकता की इस अनुभूति में आवश्यक तीव्रता आई, त्यो ही उसी दिन हमारी यह चिरकालीन समस्या हल हो जावेगी। गाधी जी को इस सभावना पर अप्रतिम विश्वास है। इसलिए वे हिंदू-मुस्लिम-मेल के प्रश्न को राष्ट्रीय कार्यक्रम मे सबसे प्रमुख स्थान देकर अनुकूल समय की बाट जोह रहे है।

अस्पृश्यता-निवारण

दलित जाति के उद्धार का प्रश्न एक व्यापक राष्ट्रीय समस्या है। इससे और हमारी साप्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि ऐसे लोगो की सख्या हिंदू और मुसलमान दोनो मे पाई जाती है। हमारी धारणा है कि आनुपातिक दृष्टि से दलितो की सख्या हिंदुओ की अपेक्षा मुसलमानो में अधिक है। मुस्लिम जनता अत्यत अशिक्षित और तिमिरावृत अवस्था में है। उनकी आर्थिक दशा भी बहुत शोचनीय है। प्राय यही हालत हिंदू दलितो की भी है। दोनो सप्रदायो के इन दीन हीन लोगो की

शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक अवस्थाओ मे आवश्यक सुधार का होना अनिवार्य है। क्योंकि जिस मनुष्य के पैर अपाग होकर ठीक न जमते हो, वह चल ही नहीं सकता। इसी दृष्टि से छ-सात करोड की सख्या में भारतीयो का दलित और सामर्थ्यहीन होना हमारे स्वराज्य-पथ में एक वडा जबरदस्त वाधक है। यह एक ऐसी बात है जिस पर किसी का कुछ भी मत-भेद नही हो सकता और न है।

आमतौर से लोगो की जो यह धारणा ह कि दलितो का वर्ग केवल हिंदू-जन-समाज में सीमित है, उसका यह भी अर्थ निकलता है कि मुसलमानो मे दलित है ही नही। यह एक भयकर भूल है। इस मिथ्या और निर्मूल विचार के प्रवर्तक विशेषकर वे लोग है जो अपने 'सेंसस रिपोर्ट' में 'दलित जाति' का उपयोग केवल हिंदुओ के ही सबध में किया करते है। यही गलतफहमी हम सरीखे नासमझ लोगो के मन में भी समा गई है। अधिकारियो का यह भी कहना है कि हिंदुओ में ऊँची जाति तथा दलितो के बीच सामूहिक स्वार्थ-विरोध है। अतएव अबेडकर सरीखे कुछ लोगो की पीठ ठोककर साम्राज्यवादियो ने हिंदू-समाज के दो टुकडे करने की इच्छा से एक नया प्रश्न खडा कर दिया है। हिंदू-समाज के अतर्गत मनोमालिन्य और द्वेष का यह बीजारोपण भारतीय राष्ट्रीयता का महान् से महान् घातक है। हिंदू-मुसलमानो मे साप्रदायिक मेल का होना हिंदुओ की सामाजिक सबद्धता पर ही निर्भर है। यदि हिंदू ही आपस में तीन-तेरह रहें, तो उनसे सुलह करने की मनोवृत्ति मुसलमानो में उत्पन्न नहीं हो सकती। इस बात को इँग्लेंड के कुटिल साम्राज्यवादी बखूबी जानते है। नयी शासन-सुधार-योजना के अदर दलित जातियो को पृथक् निर्वाचन का जो अधिकार दिया जानेवाला था, उसके मूल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की यही कुटिल नीति काम कर रही थी।

परन्तु गाधी जी की अप्रतिम तपश्चर्या ने उनकी इस अनिष्टकारी योजना को कुठित कर दिया। साम्राज्यवादियो की दाल नही गल पाई।

'राउंड टेबुल कान्फ्रेंस' मे दलितो के पृथक् निर्वाचन के सबध
जी ने अपने हृदय का खासा खुलासा कर दिया था। उन्होने क
यदि मेरे मुसलमान और सिक्ख भाई अपने पृथक् निर्वाचन पर ...कुल
अड़ ही जावे, तो मैं लाचार हूँ, उनका विरोध नही कर सकता। लेकिन
यदि हिंदू-जन-समाज मे दलितो के लिए ऐसी कोई योजना अमल मे
लाई जावेगी, तो उसका विरोध मैं अपने प्राणो की बाजी लगाकर
भी करूँगा। उस समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने उनकी इस प्रतिज्ञा को
भाषा का एक अतस्सारहीन आडबर ही समझा था। लोग तेजी मे आकर
अक्सर ऐसा कहा ही करते है। परन्तु उन्हे क्या मालूम कि वे शब्द किसी
और के नही थे, उनका बोलनेवाला अपनी आन पर मर मिटनेवाला
ससार का सबसे श्रेष्ठ पुरुष गाधी था। ऐसे ही महात्माओ के सबध मे
सत तुकाराम ने कहा है—

जैसा बोले तैसा चाले।
त्याची वदावी पाउले॥

गाधी जी इसी कोटि के महापुरुष है। वे जैसा बोलते है, वैसा
चलते भी है। इसी लिए वे जन-समाज के वदनीय है। बार-बार वचन
देकर बार-बार तोडनेवाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की औकात ही कितनी,
जो उनकी इस महानता को समझ पावे। अतएव उन्होने महात्मा जी
के उन सारगर्भित शब्दो की पूरी पूरी अवहेलना की।

उन्होने अपनी योजना में दलितो को शेष हिंदू-समाज से अलग
कर दिया। इस अनिष्टकारी षड्यत्र को परास्त करना किसी दूसरे
राजनीतिक नेता का काम नही था। हिंदू-समाज के दो टुकडे करने की
इस दूषित मनोवृत्ति को कुठित कर देना गाधी के समान किसी महापुरुष
का ही काम था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ महात्मा जी की उस भीषण प्रतिज्ञा
को सभवत भूल गये थे, परन्तु साबरमती के उस सत्यसध भीष्म
को अपने शब्द बखूबी याद थे। उन शब्दो का शब्दश अनुसरण उन्होने
अपने आचरण मे कर दिखाया। सोच-विचार कर ससार को ऐलान

कर दिया कि यदि हिंदू-समाज के मर्मस्थान पर इस तरह कुठाराघात होगा, यदि दलित भाई हिंदुओ से पृथक् किये जावेंगे, तो मै भी निराहार रहकर अपने प्राण दे दूंगा। कुछ लोग सभवत कहेंगे कि अहिंसा का हामी और जेल का विवश कैदी यरोडा कारागार के अदर इसके सिवाय कर ही क्या मकता था। परन्तु हम पूछने है कि कोई भी शूर, कोई भी वीर और कोई भी वहादुर से बहादुर जो अपने आचरण मे पूर्णतया स्वतन्त्र भी हो, इससे अधिक कर ही क्या सकता है? जो मनुष्य अपने प्राणो को सत्कार्य के लिए हथेली पर लिये फिरता है, वह त्रैलोक्य-विजयी है, वह मृत्युजय है। ससार की कोई भी शक्ति उसे पराजित नही कर सकती। जीवन-सग्राम मे विजय का सेहरा ऐसे ही पुरुष-रत्न को मिल सकता है। प्राणो की ममता ही मानवी दुर्बलताओ की जननी है। जिसे प्राणो की ममता नही, वह क्या नही कर सकता।

ऐसे ही शक्तिशाली महापुरुष से ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को गांठ पडी। गाधी जी के आमरण उपवास-व्रत की सूचना से ससार सिहर उठा। साम्राज्यवादियो के छक्के छूट गये, उनके कान खडे हो गये। यो तो गाधी जी ने अपने जीवन में कई लवे-लवे उपवास किये है, पर उन सभी प्रसंगो पर उनकी हालत अत तक भी चिन्ताजनक नही हुई थी। लेकिन यरोडा के इस उपवास में सिर्फ सात ही दिनो के अदर उनकी शारीरिक दशा वहुत नाजुक हो गई। हर रोज की स्वास्थ्य-बुलेटिन से जो चिन्ताजनक समाचार मिलते थे, उससे देश में निराशा, क्रोध और ग्लानि का सम्मिलित आतक छाता जाता था। वातावरण नाना प्रकार की आशकाओ से परिपूर्ण हो गया। देश के राष्ट्रीय नेता गाधी जी के अनमोल प्राणो की रक्षा करने के लिए व्यग्र और व्याकुल हो उठे। अवेडकर महोदय से समझौते की गरम गरम वाते होने लगी। ले-देकर किसी तरह मामला तय हुआ। महात्मा जी को उनका सम्मिलित निर्णय सतोषजनक जँच गया। तव तक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कौतूहलपूर्ण अशात हृदय से यहाँ की सारी कार्रवाइयाँ ताक रहे थे। ज्यो ही यहाँ

नेताओ के दर्म्यान निर्णय हुआ, त्यो ही उनमें खलवली मच गई। इधर गाधी जी की अवस्था प्रतिक्षण विगड रही थी। उनके इस विलक्षण आत्मोत्सर्ग का नैतिक प्रभाव उनके कुटिलता-पूर्ण हृदय पर भी अपना असर कर गया। उन्हें इस वात का भय हो गया कि अभी तक तो गाधी के प्राण-विसर्जन की जवावदारी हिंदुस्थानी नेताओ पर ही थी, पर अव उनका आपस में जो फैसला हो गया, उसे स्वीकार करने मे हमारी ओर मे जरा भी देर हुई और उसका परिणाम कही गाधी जी के जीवन पर प्राणातक हुआ, तो ससार के सामने ब्रिटिश जाति का सिर हमेशा के लिए नीचा हो जावेगा। एक लोकनायक महापुरुष के प्राणघात का पातक-भार हमारे सिर पर हमेशा के लिए लद जायगा। सभवत ऐसे विचार उनके मन में जरूर आये होगे। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश कैबिटेन में वेचैनी छा गई। रात को वेमौके उन्हे वैठक करनी पडी और दलितो के लिए पृथक् निर्वाचन की योजना को गरमागरम आलू के समान उन्हे घवराहट में हाथ से छोड देना पडा। पूना का पैक्ट उन्हे तत्काल मजूर करना पडा और उसका समाचार भी उन्हे तत्काल ही भेजना पडा। सरकारी सूचना ऐसे मौके पर हिंदुस्थान और ससार के सौभाग्य से मिल गई, जिस समय गाधी जी के गमनोत्सुक प्राणो का रुक जाना सम्भावना के वाहर नही पहुँच पाया था। प्रार्थना के पश्चात् महात्मा जी ने अपना व्रत विचार पूर्वक तोड दिया। हिंदुस्थान अपने हृदय-सम्राट् की इस विलक्षण नैतिक विजय से आनन्द-विभोर हो गया। इस तरह भारत-माता का सिरमौर लाडला वाल वाल वच गया।

गाधी जी ने अपने जीवन-काल में जन-समाज की और विशेष कर भारतीयो की वहुत सेवा की है। अभी तक उनका वह अखड सेवा-व्रत जारी है और जव तक उनके भौतिक शरीर में उनकी महती आत्मा विद्यमान रहेगी, जारी रहेगा। फिर भी हम कभी कभी ऐसा सोचते है कि यदि उनकी सारी सेवायें तराजू के एक पल्ले में रखी जायें और दूसरे में दलित-वर्ग-सवधी यह सेवा रखी जाय, तो कम से कम इन पक्तियो

के लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि शायद वे दोनों सदैव अलग ही रहें। जिस आधार पर हमने अपनी यह राय कायम की है उसे स्पष्ट कर देना हमें उचित प्रतीत होता है। हमारे श्रीमान् पुस्तक इस बात को मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्राण इस समय शिथिल हो रहे हैं। फिर भी हमारी राष्ट्रीय चेतना जो कुछ हिन्दू-समाज में ही विद्यमान है अन्यत्र किसी भी सम्प्रदाय में नहीं। आगे आनेवाले दिनों में जब कभी हमारा हिन्दुस्थान राष्ट्रीयता के भाव-प्रवाह से ओत-प्रोत होगा, तो उस प्रवाह का उद्गम-स्थान हिन्दू-समाज ही होगा। इसके कहने का अभिप्राय यह है कि इस देश के राष्ट्रीय उत्कर्ष की सम्भावना हिन्दू-जन-समाज की अविभक्त सम्बद्धता पर ही अवलम्बित है। यदि हिन्दू ही आपस में एक दूसरे से पराङ्मुख हो गये, यदि उनकी शाखा स्वयं ही छिन्न-भिन्न हो गईं, तो फिर हमारी राष्ट्रीय-भावना किसका आश्रय लेकर विद्यमान रहेगी? जब तक हिंदू-समाज संगठित रहेगा, तभी तक मुसल्मानों से मेल की सम्भावना भी बनी रहेगी। पर हिंदुओं के छिन्न होते ही इस आशा पर एकदम पानी फिर जायगा, इस बात पर हमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं है। फिर उच्च कुलीन हिंदू-समाज, दलितवर्ग और मुसल्मानों के बीच जो विग्रह की आग फैलेगी, उसकी ज्वाला से हमारी राष्ट्रीयता का वर्धमान पौधा ऐसी बुरी तरह से जड़ से जल जायगा कि फिर उसका पनपना असम्भव होगा। तीनों वर्गों के बीच वैमनस्य का जो त्रिदोष हिन्दुस्थान को लगेगा, वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए प्राणघातक सिद्ध होगा, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

महात्मा जी के दूरदर्शी मस्तिष्क में ये विचार न आये होंगे, ऐसा हम मानने के लिए तैयार नहीं हैं। फिर भी उन्होंने अपने यरोडावाले उपवास को धार्मिक रूप देना ही श्रेयस्कर समझा। उनका कहना था कि हिंदू-समाज में दलितवर्ग को पृथक् निर्वाचन देना उसकी दलितावस्था को चिरस्थायी बना देना है। दलितों का उद्धार पृथक होने में नहीं है बल्कि हिंदू जन-समाज में उनके घुल-मिल जाने पर

अवलंवित है। पृथक् निर्वाचन की योजना का अवश्यभावी परिणाम यह होगा कि उच्च कुलीन हिंदुओ के हृदय में अपने दलित बंधुओ के प्रति जो रही सही सहानुभूति शेष है, उसे फिर सदैव के लिए नष्ट होने में देर न लगेगी।

कहने का साराश यह कि धर्म-प्राण महात्मा जी ने दलितोद्धार का प्रश्न राष्ट्रधर्म की बुनियाद पर नही, मानव-धर्म की प्रेरणा से अपने सुदृढ हाथो में लिया है। धर्म के इस व्यापक रूप के आग्रह से ही गाधी जी ने अपनी जान लडाने का शुभ सकल्प किया था। उसी दिन से दलितोद्धार की समस्या उनकी नजर मे विशेष रूप से चढ गई। उसी दिन से इस प्रश्न को अपने सार्वजनिक कार्यक्रम मे उन्होने सबसे प्रथम स्थान दे दिया। इस प्रश्न का राजनीति से कोई सबध नही था। इसलिए उन्होने जेल में रहते हुए भी ब्रिटिश अधिकारियो की पूर्व प्रतिज्ञा के आधार पर दलितो की सेवा करने का अधिकार माँगा। पर ऐसी अनुमति देने में सत्ताधिकारियो को कठिनाई प्रतीत हुई। अतएव उन्हें महात्मा जी को जेल से मुक्त कर देना पडा। जेल से बाहर आते ही शुद्धि के निमित्त उन्होने इक्कीस दिनो का लबा उपवास फिर किया। पूर्वक्त यरोडा—उपवास के अनुभव के आधार पर लोगो को इस बार गाधी जी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बडी निराशाजनक आशका हुई। पर महात्मा जी को अपनी इस नई तपस्या से कुशलतापूर्वक निपटने का पूरा आत्मविश्वास था जिसे उन्होने लोगो से प्रकट भी किया। उनका यह तप परमात्मा की अनुकम्पा से सफलता-पूर्वक समाप्त हुआ। उसके बाद गाधी जी हरिजनो के उद्धार में मनसा, वाचा, कर्मणा सलग्न हो गये। कुछ दिनो के बाद उन्होने इसी कार्यक्रम को हाथ में लेकर सारे भारतवर्ष का साल भर तक भ्रमण किया। इस देशव्यापी दौरे में उन्होने अस्पृश्यता निवारण पर ही विशेष ध्यान दिया। हिन्दू-समाज से अस्पृश्यता दूर करना दलितोद्धार का एक महत्त्वपूर्ण अग है। जिस दिन हिन्दू-समाज के हृदय से अपने हीन बन्धुओ के प्रति तिरस्कार का यह भाव तिरोहित

हो जावेगा, उसी दिन से दलितोद्धार का सच्चा श्रीगणेश भी होगा। इसी लिए महात्मा जी ने हरिजनो की समस्या को अपने हाथ मे सबसे पहले लिया है। इसी उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर उन्होने हरिजन-सम्बन्धी दो पत्र भी निकाले, जो अभी तक अपना प्रचार-कार्य सफलता-पूर्वक कर रहे हैं। हरिजनो के सम्बन्ध मे हम आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से विचार करना चाहते हैं। उसी के साथ 'दलित' शब्द के औचित्य तथा मन्दिर-प्रवेश-सम्बन्धी प्रश्नो पर भी कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार सहृदय पाठक देखेंगे कि यद्यपि दलितोद्धार का प्रश्न राष्ट्रीय महासभा के सामने बहुत पहले से था और महर्षि दयानन्द तथा 'सर्वेंट ऑफ इडिया सोसाइटी, के द्वारा किसी अश में सपादित हो रहा था, तथापि इस रचनात्मक कार्यक्रम को गाधी जी की बदौलत ही ऐसी उग्र उत्तेजना मिली। इस समय के बहुत पहले हिन्दू-समाज की इस कमजोरी की ओर स्वामी विवेकानन्द का भी ध्यान आकर्षित हुआ था और उन्होंने अपने प्रभावशाली भाषणो में दलितोद्धार की नितान्त आवश्यकता भी कई प्रसगों पर प्रदर्शित की थी। छोटे बड़े और भी कई लोगो ने भारतीय जन-समाज को इस कमजोरी की ओर प्रत्यक्ष रूप से सकेत किया था। परन्तु कार्यरूप में इस परपरागत विचार को इतना व्यापक रूप से परिणत करनेवाला महात्मा जी के सिवाय दूसरा भारतीय नेता नही हुआ।

भारतीय जन-समाज के लिए दलितोद्धार का रचनात्मक कार्यक्रम यथार्थ में ऐसा काम है जिसको पूर्णरूप से सम्पन्न करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। सत्ता के बल पर यह दुर्वह कार्यभार बहुत आसानी से उठाया जा सकता है। परन्तु हमारे राष्ट्रीय नेताओ के हाथो में अभी राज-सत्ता नही है। अपनी सेवा, लगन तथा तज्जनित लोक-प्रियता के कारण जितना अधिकार उन्हे लोगो के हृदय पर प्राप्त हो चुका है, उसी का उपयोग वे करते आ रहे हैं। मन्दिर-प्रवेश-सम्बन्धी कानून को ही लीजिए। यह प्रस्ताव कुछ ऐसा नही है कि इस सम्बन्ध में कोई समाधानकारक आपत्ति किसी को होनी चाहिए। जिस जगह

सौ आदमी रहते हों, उस बस्ती के निन्यानवे लोग यदि अपने सार्वजनिक मन्दिर में अछूतों का प्रवेश स्वीकार कर लें, तो एक आदमी भी पुराने रिवाज के आधार पर दीवानी अदालत से बहुमत अथवा यों कहे, करीब करीब सर्वसम्मति के विरुद्ध हुक्मनामा निकालकर लोगों के मन्तव्य को रद कर सकता है। प्रजासत्तात्मक प्रणाली के अन्दर किसी विषय पर लोगों के प्रतिनिधि यदि दो बराबर बराबर दलों में विभक्त हो जावें तो वहाँ एक आदमी का भी इधर का उधर होना विवाद-ग्रस्त विषय का फैसला कर देता है, यानी एक मनुष्य का बहुमत उतना ही प्रभावशाली होता है जितना अधिक से अधिक लोगों का मन्तव्य हो सकता है। परन्तु इस मन्दिर-प्रवेश-सम्बन्धी घृणास्पद रुकावट को दूर करने के लिए सौ मनुष्यों में निन्यानवे लोगों का बहुमत भी किसी काम का नहीं। इस घृणित परिपाटी में तथा तत्प्रेरित दकियानूसी कानून में हमें तो लोकमत की समाधि बनी हुई दिखाई देती है।

गांधी जी ने इस कार्यक्रम को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि इसे अच्छी तरह एकाग्र मनसा सम्पन्न करने के लिए उन्होंने कांग्रेस की छत्रच्छाया में एक हरिजन बोर्ड भी स्थापित कर दिया है। उसके लिए वर्ष भर हिन्दुस्थान के इस कोने से उस कोने तक आँधी के समान चलकर गांधी जी ने प्रचार का काम किया है। बहुत-सा द्रव्य भी इकट्ठा किया है। हरिजनों की मैली-कुचैली गलियों में चलकर तथा उनकी दरिद्रता-ग्रस्त झोपड़ियों के भीतर झाँक झाँक कर इस दरिद्रनारायण के अप्रतिम पुजारी ने दीन-हीन लोगों की करुण-कहानी अपने सन्तप्त हृदय से सुनी है, उन्हें आश्वासन दिया है और उनके सामने मर्मभेदी समवेदना के आँसू बहाये हैं। हरिजनों को भी यह आन्तरिक विश्वास है कि अब की बार उन्हें कोई कल्याणकारी, विश्वास-पात्र और सच्चा हरिजन गांधी जी के रूप में मिला है। अपनी इसी सत्पात्रता के आधार पर आत्मविश्वास की दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर महात्मा जी ने गोलमेज-वाली सभा में कहा था कि सरकार हरिजनों के प्रतिनिधि चाहे अम्बेडकर

सरीखे महानुभावों को तो मानें, परन्तु मैंने भी उनके हित-समाधान के लिए खून सुखाया है और आज भी मेरा ही बल पर हरिजनों के प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का मुझे पूरा पूरा अधिकार है। गांधी जी के इन शब्दों की सच्चाई संसार के प्रत्येक मनुष्य को प्रतीत हो रही थी। सर सैमुअल होर, मिस्टर बाल्डविन तथा रैमजे मैकडानल्ड के भी कुटिल हृदय इस सचाई को स्वीकार करते होंगे। परन्तु उन्होंने अपने स्वार्थ को सत्य का विरोधी बना रखा था। इसलिए ये प्रवञ्चक से गांधी जी का हरिजन-प्रतिनिधित्व स्वीकार नहीं कर सकते थे। अम्बेडकर महोदय की पीठ ठोंककर वहाँ के स्वार्थलोलुप साम्राज्य-वादियों ने उस भले आदमी को इतना दुराग्रही बना दिया था कि उसने खुली सभा में गांधी जी के विरुद्ध कुछ अपमान-सूचक शब्द निकाले थे। उसके उत्तर में गांधी जी ने बाद में किसी पत्र-प्रतिनिधि से जो कुछ कहा था, वह उनकी महत्ता के सर्वथा अनुरूप था। उन्होंने कहा था कि अम्बेडकर महोदय मेरे मुंह पर यदि थूक भी दें तो भी जो अनाचार सवर्ण हिन्दुओं ने हरिजनों पर किया है उसका प्रायश्चित पूरा न पडेगा। मालूम नहीं हरिजनों के दावेदार प्रतिनिधि अम्बेडकर के हृदय पर गांधी जी की इस मर्मस्पर्शी वाणी का क्या असर हुआ। वही जाने या राम जाने। प्रतीत तो ऐसा होता है कि कुछ भी असर न हुआ। शब्द तो परिणामवाही उसी के लिए होते हैं जिसका हृदय सस्कृत होता है।

हरिजनों के उद्धार-कार्य के लिए 'सर्वेंट् ऑफ इंडिया सोसाइटी' के स्वनामधन्य सदस्य श्रीयुत ठक्कर-बप्पा महोदय गांधी को परमात्मा से आशीर्वाद के रूप में मिल गये हैं। उनके सेवा-संलग्न हाथों में हरिजन-सुधार का काम देकर महात्मा जी बडे सन्तुष्ट हैं। साल भर तक तो उन्होंने अपना जीवन ठक्कर-बप्पा को सौंप ही दिया था। गांधी जी अपना व्यक्तित्व-प्रदर्शन करना तो जानते हैं, पर अपने को किसी सत्पात्र के हाथ सौंप देना भी जानते हैं। ठक्कर-बप्पा को उन्होंने ऐसा ही सत्पात्र पाया।

इन पक्तियो के लेखक को रायपुर मे वप्पा महोदय से प्रदर्शनी-भूमि पर घूमते घूमते हरिजनोद्धार-सम्वन्वो वडी देर तक चर्चा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे वाहर-भीतर विलकुल खरे प्रतीत हुए।

उन्ही के तथा उनके समान कुछ सच्चे हरिजनो की देखरेख में हरिजन-वोर्ड का काम चल रहा है और सफलता-पूर्वक चल रहा है। हरिजन-सेवक के कालमो में समय समय पर जो रिपोर्ट प्रकाशित होती है, उससे यह पता चलता है। कुछ आलोचक यह कहते हुए सुने जाते है कि इस कार्य की प्रगति जरा मन्द है। पर हमारी धारणा है कि यह काम इतना गम्भीर और विशाल है कि इसका सम्पूर्ण होना सदियो का काम है। अतएव इसकी गति इससे अधिक तीव्र कदाचित् नही हो सकती। यदि जरूरत से अधिक तीव्रता इसमें आई तो इसकी अतिम सफलता पर हमे कुछ सन्देह भी हो जावेगा। यह काम उच्चकुलीन हिन्दुओ की मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखता है और उदार मनोवृत्ति का निर्माण एक-दो दिनो में नही हो सकता। रोमनगर को रचना इससे वहुत सरल और सुसाध्य थी।

मादक द्रव्य-निषेध

गाधी जी के नेतृत्व के पूर्व भी दलितोद्धार की चर्चा राष्ट्रीय कार्यक्रम के सम्बन्ध में हो जाया करती थी। परन्तु उसमे अस्पृश्यता-निवारण-सम्वन्धी विशेषता जिस तरह महात्मा जी की वदौलत आ गई, उसी तरह मादक द्रव्यो के त्याग का आन्दोलन भी उनका दिया हुआ विलकुल नया कार्यक्षेत्र है। यथार्थ मे अस्पृश्यता-निवारण और मादक द्रव्य-निषेध दोनो दलितोद्धार से सम्वन्ध रखनेवाली योजनायें है। यो तो मद्यपान का दुष्परिणाम सभी श्रेणी के लोगो को भोगना पडता है। परन्तु फिर भी दरिद्रता के साथ सुरा का सयोग और भी भयकर हो जाता है। जिन लोगो को भरपेट खाने को नही मिलता, जिनकी स्त्रियो के पास अपनी लज्जा ढांकने के लिए काफी

वस्त्र नहीं हैं, ऐसे लोग यदि शराब के आदी हो गये तो फिर पूछना ही क्या, कोढ़ में खाजवाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। ऐसे दरिद्रताग्रस्त जन-समाज में मदिरा देवी का नग्न नृत्य देखते ही बनता है। मनुष्य के नैतिक पतन के लिए गरीबी बहुत काफी होती है। यदि उसमें कहीं शराब का भूत सवार हो गया, तो मनुष्यत्व और पशुता में वस्तुत: कोई अन्तर नहीं रह जाता। जहाँ मिल में काम करनेवाले मजदूरों की बस्ती है, वहाँ रात को जाकर कोई देखे कि खाली पेट में सुरापान करनेवाले दुर्दैव-ग्रस्त लोग किस प्रकार अपना जीवन विताते हैं और उनकी स्त्रियाँ पतित पतियों के अनाचार से किस तरह इस जीवन ही में नरक का दृश्य भोगती हैं। दिन भर मिलों में काम करनेवाले थके हुए मज़दूरों में इस दुर्गुण की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है। फिर भी सुरा राक्षसी का साम्राज्य उन्हीं तक सीमित नहीं है। आमतौर से उसकी हुकू-मत का विस्तार बहुत व्यापक है। फिर भी हमारी ऐसी व्यक्तिगत धारणा है कि जिस समय महात्मा जी ने मादक द्रव्य-निषेध-सम्बन्धी अपनी योजना बनाई, उस समय उनकी दृष्टि के सामने दरिद्र मजदूरों की यह स्वयकृत दुरवस्था ही स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। अतएव हमारी राय में मादक द्रव्यों का वहिष्कार दलितोद्धार का एक अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अग है।

यो तो ससार में मादक द्रव्य अनेक प्रकार के होते है। फिर भी उन सबमें अग्रगण्य मदिरा है। तन, मन और वचन के सौ-सौ टुकडे करने-वाली यह दानवी सृष्टिकर्त्ता की बडी पुरानी रचना है। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में उसके जन्म का वर्णन वडे आलकारिक ढग से किया गया है। लिखा है कि जब देवताओं और दानवों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया, तो उसमें से एक के बाद एक चौदह रत्न निकले। उनमें से विष और अमृत के साथ यह सुरा भी निकली। देव बडे चतुर थे। अतएव सारा अमृत तो वे ही पान कर गये, दैत्यों के लिए एक बूंद भी

शेष न छोड़ा। विष की बारी आई तो उन्होंने उसे औघड़ बाबा शंकर के मत्थे मढ दिया या यों कहना चाहिए कि उनके गले के नीचे उतार दिया। हलाहल की तेजी से शिवजी का कण्ठ नीला पड गया और उसी दिन से उनका नाम भी नीलकण्ठ हो गया। अब शेष रही मदिरा, सो चतुर देवों ने उसका समूचा पात्र उठाकर उदारतापूर्वक दैत्यों को पिला दिया। मूर्ख दानव अपने भविष्य का विचार न करते हुए सारी मदिरा पी गये और उसी दिन से शराब दानवी सम्पत्ति की जननी होगई। आसुरी सम्पत्ति-सम्पादिका यह सुरा राक्षसी कहीं भी अकेली नहीं जाती। उसके आस-पास उसके कई परिचारक भी रहा करते हैं। काम और क्रोधरूपी अपने सहायकों को लेकर जिस घर में अथवा जन-समाज मे वह अपना प्रवेश करती है, वहाँ मनुष्योचित गुणों की ऐसी भयकर लूट मचा देती है कि लुट जानेवाले के पास आखिर मानव-स्वरूप का अन्त सार-हीन केवल ढाँचा ही रह जाता है और वह भी अपने अत्यन्त हीन और भीषण रूप में। इस तरह यह दानवी अपनी विनाश-लीला युगों से दिखलाती हुई चली आई है। जन-समाज से इसका मूलोन्मूलन करनेवाले सन्त, महात्मा और समाज-सुधारक अनेक हुए, पर वे तो सबके सब चले गये, लेकिन यह दानवी अभी भी मौजूद है और दीन-हीन जन-समुदाय मे मचलती फिरती अपना अट्टहास अभी तक सुना रही है। इस अट्टहास ने महात्मा जी के करुणाशील हृदय को बिलकुल अधीर बना दिया है और वे सुरा-सहार की योजना मे मनसा-वाचा-कर्मणा लगे हुए हैं। मालूम नही, विधाता ने उनके हाथ यश देने का विचार किया है या नहीं।

यो तो हमारे पुराणो के अनुसार कलियुग सुरा का बडा ज़बरदस्त समर्थक है। फिर भी ऐसा कहने में हमें कुछ भी अनौचित्य नही दिखाई देता कि पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क से शराबखोरी को पूर्वी ससार में बडी उत्तेजना मिली है। यूरोप तथा अमेरिका के लोग आमतौर से सुरा के बडे शौकीन होते हैं। सर्दी के दिनो में भोजन के साथ या

उसके पहले वे अपने छोटे-छोटे बच्चों को भी हलकी तासीरवाली शराब पिला दिया करते है। लुभावनी से लुभावनी अनेक प्रकार की मदिरा भी वे अपने यहाँ तैयार करते हैं। उनका कोई भी सार्वजनिक भोज या नृत्य बिना शराब के सफलतापूर्वक संपादित नहीं होता। अपने अच्छे से अच्छे समाचार-पत्रों में वे निस्संकोच होकर व्हिस्की का विज्ञापन प्रकाशित किया करते है। अँगरेजी का कदाचित् एक भी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र न मिलेगा, जिसे शराब के विज्ञापन से पूरा पूरा परहेज हो। जब समूचा जन-समाज ही इसका हामी है, तो किसी को किसी तरह की आपत्ति ही क्योंकर हो सकती है? अमेरिका के 'जॉन पुसीफुट' नामधारी एक सज्जन ने अपने देश में शराब के विरुद्ध बड़ा व्यापक आन्दोलन खड़ा किया था, यहाँ तक कि मद्यपान के विरुद्ध उस देश में एक बड़ा जबरदस्त दल तैयार हो गया। परिणाम यह हुआ कि प्रेसिडेंट हूवर के जमाने में एक निषेधात्मक कानून भी पास हो गया और शराब बेचना कानून से नाजायज करार दे दिया गया। उस जमाने में भी अमेरिका के व्यवसायी लुक-छिप कर बाहर से शराब मँगाया करते थे तथा उनके दुर्दमनीय शौकीनो को अपने स्थानों में पिलाया भी करते थे। फिर भी कानूनी निषेध होने के कारण शराब कम मिलती थी और बहुत दाम में प्राप्त होती थी। मदिरा के अभाव में उनके क्लबो तथा नाच-घरो का वातावरण उदासीन और सीठा पड़ गया। शराब के बिना भौतिक आमोद-प्रमोद का मजा आता ही नहीं। सुरा और सुन्दरी का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव अमेरिका की अन्तरात्मा इस निषेध के विरुद्ध थी और उसके ओठ मदिरा के अभाव में सूख रहे थे। निरानंद का वातावरण चारो ओर छाया हुआ था। थोड़े ही दिनो में अमेरिका की सभ्यता सुरा से वियुक्त होकर घबरा उठी और ऐसी उलटी हवा उस देश में बहने लगी कि रूजवेल्ट बहादुर के जमाने में सुरा-सुन्दरी को उसकी खोई हुई वह पुरानी प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त हो गई। मदिरा का कानूनी निषेध ही स्वयं निषिद्ध हो

गया। पश्चिमी जन-समाज में शराब की पैठ कितनी गहरी है, इस बात की सूचना अमेरिका की इस विफलता से पूरी पूरी मिल जाती है। इसी लिए गांधी जी की यह हृदयगत धारणा है कि शराबखोरी और जूआ पश्चिमी जातियों के राष्ट्रीय दुर्गुण हैं। रायपुर के राजकुमार कालेज में वहाँ के विद्यार्थियों के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए गांधी जी ने कालेज के अँगरेज़ प्रिंसिपल की उपस्थिति ही में कहा था कि बच्चो, अँगरेज़ों के सपर्क में आकर उनके सद्गुण तो जरूर लेना, लेकिन मद्य-पान और जूआ सरीखे उनके राष्ट्रीय दुर्गुणों से बाल-बाल बचने के लिए प्रयत्नशील रहना। मालूम नहीं, प्रिंसिपल महोदय को गांधी जी के ये सार-गर्भित और निर्भयतापूर्ण कैसे जँचे। इस जातीय आक्षेप को उन्होंने चुपचाप सुन लिया। सत्य ऐसा ही सबल होता है।

गांधी जी का दिया हुआ यह मादक द्रव्य-निषेधवाला कार्य-क्रम एक ऐसी अभिनन्दनीय योजना है कि इसका विरोध बुरे से बुरा आदमी भी प्रकट रूप से नहीं कर सकता। हिन्दुस्थान के विदेशी सत्ताधारी भी इसका विरोध नहीं कर सकते। लेकिन अफसोस की बात तो यह है कि प्रान्तीय सरकारों की बहुत-सी आय मदिरा की मद से हुआ करती है। 'एक्साइज़ एक्ट' के द्वारा शराब बनाने का सारा ठेका उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है और साल भर में एक बार नीलाम करके छोटे-छोटे ठेकेदारों को जगह जगह का ठेका दे दिया जाता है। मुनाफा कमाने की इच्छा से ये छुटभइये बड़ी दिलचस्पी के साथ मादक द्रव्यों का विस्तार बढ़ाते हैं। जहाँ जहाँ गरीबों की बस्ती है, जहाँ जहाँ मद्यपान करनेवालों की संख्या अधिक है, उन्हीं स्थानों पर वे शराब की काली काली शीशियाँ सजाये आसन मारकर आसीन रहते हैं। उन्हीं के आस-पास भूँजी मूँगफली और भजिये की दूकानें भी तैनात रहती हैं। दरिद्रताग्रस्त, मूर्ख कुली तथा मज़दूर अपनी मज़दूरी पाते ही अच्छी संख्या में इन स्थानों को संध्या-समय आबाद करते हैं। वे आपस में किस तरह व्यवहार करते हैं तथा मद्यपान और भजिया-भोज के बाद सड़कों

का रूप दे दिया, तो हजारो की तादाद में लोगो को सिर्फ इसी कारण सरकारी मेहमान होना पडा कि वे लोगो से नम्रता-पूर्वक यह कहते थे कि "भाई, शराब मत पीओ, वह बहुत बुरी चीज है।" समझ में नही आता कि जो सत्ता ऐसे लोगो पर जुर्म करार दे सकती है, उसे सभ्यता का दावा किस प्रकार शोभा दे सकता है। तथापि हमारी सभ्य सरकार को ऐसी निषेध-निषेधक नीति पसन्द होने पर भी ऐसा ही दावा है। सरकार को उसके सुसज्जित कानूनी शस्त्रागार में एक भद्दी-सी खुरपी भी न मिली जिससे वह 'मदिरा पिकेटिंग' का प्रतिकार करती। यही अडचन उन्हे विदेशी वस्त्रो के पिकेटिंग के सम्बन्ध मे भी हुई। अतएव फौरन एक ऐसे फौलादी हथौडे की रचना उन्होने 'आर्डिनेन्स' के रूप में कर डाली कि जो धरना देने-वालो के सिर पर धडाधड पडने लगा। शराब अथवा विलायती वस्त्रो की दूकान पर आप खडे हुए कि गिरफ्तारी हुई। सैकडो ऐसे उदाहरण लोगो ने देखे है। 'पिकेटिंग' करनेवाले अधिकाश सत्याग्रही इसी तरह गिरफ्तार हुए है। अदालत में मैजिस्ट्रेटो को भी ऐसे लोगो को सजा देने में पशोपेश हुआ करता था। मगर क्या किया जाता। पुलिस का चालानी मामला था और सरकारी नीति ही ऐसी थी। आर्डिनेन्स सामने अडा हुआ था। न्याय और नीतिमत्ता का सवाल कोसो दूर था। फिर नौकरो की औकात ही कितनी ?

फिर भी महात्मा जी ने जिस नैतिक बल का मन्त्र लोगो के हृदयो में फूंका था, उसने साधारण से साधारण लोगो को, बच्चो तथा स्त्रियो को भी ऐसा कृत-निश्चय बना दिया था कि इस आर्डिनेन्स की लोगो ने कोई परवाह नही की और वे महीनो तक दूकानो के सामने धरना देते रहे और जेल भी जाते रहे। परन्तु अधिकाश में यह काम नगरो मे ही पुंजीभूत हो रहा था। सुदूर देहातो में ऐसा कोई काम व्यापक रूप में नही हो सका। स्वयम्सेवको का अभाव ही इसका प्रधान कारण हो सकता है। फिर नेताओ तथा

कार्यकर्ताओ की सबसे पहले जेल जाने की नीति भी इसमें सहायक हो गई। फिर भी शराब-पिकेटिंग का कार्यक्रम जहाँ-जहाँ जारी रहा, वहाँ एक देव-दुर्लभ दृश्य दिखाई देता था। इस आन्दोलन का जनता पर कुछ यह भी प्रभाव पडा कि कई स्थानो पर मद्यपान करनेवाली जातियो ने अपनी जातीय सभायें की, कसमें खाई और अपना सामूहिक प्रस्ताव भी शराबखोरी के विरुद्ध पास किया। उन सब प्रयत्नो का कुछ थोडा-सा परिणाम तो अभी रह गया है, पर अधिकांश में शराब का बाजार फिर भी गरम हो चुका है। क्यो न हो, देव और दानवो के सम्मिलित सहयोग से निकलनेवाली यह मदिरा ऐसी हाव-भाववाली वेश्या है कि इसके दामन में एक बार आदमी उलझा कि उसका निकलना बहुत मुश्किल है। यह विलासिता की सगी बहिन है और दरिद्रता की सहचरी है। जन-समाज को इसके चगुल से छूटना एक तरह से असम्भव प्रतीत होता है।

फिर भी मनोबलवाले महापुरुष ऐसी कठिनाइयो की परवाह नहीं करते। उन्हीं आशावादी आदर्शवादियो में गाधी जी का भी स्थान है। इसी लिए वे अभी भी इसी प्रयत्न में लगे हुए है और अपने जीवन की अन्तिम घडियो तक लगे रहेंगे। यथार्थ मे शराब-सम्बन्धी सुधार करने का सबसे सफल और सुविधाजनक तरीका क़ानूनी निषेध है। लेकिन जैसा कि हम कह चुके है, इस सम्बन्ध में वर्तमान सत्ताधारी विरुद्ध है। वे मद्यपान का सर्वथा निषेध करना नही चाहते। ऐसी हालत में गाधी जी के लिए लोकमत का आश्रय लेने के सिवाय कोई दूसरा चारा ही नही है। यथार्थ में जन-सुधार का उत्तम से उत्तम उपाय भी यही है, यदि सध गया तो।

खादी-प्रचार

खादी ऐसी चीज है जो शायद गाधी जी को सबसे अधिक प्यारी है। जिस समय लोग उनकी सत्य-निष्ठा तथा आतरिक महत्ता को

नहीं समझ पाये थे, उन दिनो में भी वे चरखे से हर रोज सूत निकाला करते थे और उसी का बुना हुआ वस्त्र अपने उपयोग में लाते थे। उन दिनो लोग उनके इस नये और विचित्र प्रयोग को विनोद-पूर्वक कौतूहल की दृष्टि से देखा करते थे। स्वदेशी का विचार तो लोगो के मन में तब भी था, परन्तु स्वदेशी का यह एकदम निर्दोष रूप उनकी प्रज्ञा की आँखो में दिखाई नही देता था। वे खादी-प्रचार की असाध्यता पर मखौल उडाते थे। बडे बडे पुतलीघरो के जमाने मे भी कही चरखा चल सकता है? गाधी जी भी अजीबो गरीब आदमी है! इस तरह की बाते लोग और विशेषकर शिक्षित हिन्दुस्थानी किया करते थे। परन्तु आज उनकी जबाने बन्द हो चुकी है और वे समझने लगे है कि इस देश का आर्थिक कल्याण मिलो से नही सध सकता। इस देश-व्यापी दरिद्रता को दूर करनेवाला रामबाण खद्दर ही है। यह बात भारतीय अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त के द्वारा सिद्ध की जा चुकी है और कई अर्थ-शास्त्री खद्दर की महिमा का सप्रमाण बखान कर चुके है। आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय सरीखे प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् खादी-प्रचार के कट्टर हिमायती हो चुके हैं।

आज हिन्दुस्थान की समूची राष्ट्रीय महासभा खादीपोश है। काग्रेसवालो के सिवाय इतर लोग भी खादी पहनना शिष्टता का लक्षण मानने लगे है। विदेशी वस्त्रो से सुसज्जित हिन्दुस्थानी आज हिकारत की निगाह से देखे जाते है। जिस खादी में किसी समय अव्यवहार्य प्राचीनता की विचित्र झलक दिखाई देती थी, वही खादी आज भारत के राष्ट्र-प्रेमियो के लिए अधिक से अधिक आदर की वस्तु हो रही है। आज इस देश में ऐसे नगर बहुत कम होगे, जहाँ खादी की दूकान न हो। काग्रेस की छत्रच्छाया में गाधी जी ने एक अखिल भारतीय चरखासघ (All India Spinners' Association) की सृष्टि कर दी है। यह सघ योग्य सचालको की देख-रेख में नियमित रूप से काम कर रहा है। इसकी शाखायें भी बनी हुई है। और उनके

द्वारा खादी-प्रचार का काम हो रहा है। परिस्थिति की कठिनाइयो का विचार करते हुए हमें ऐसा कहने मे कुछ भी सकोच नही होता कि यह काम सतोषजनक रीति से सपादित हो रहा है। कई स्थानो में कई लोग खद्दर की आर्थिक अभ्यर्थना को हृदयगम भी कर चुके है। इस समय इसी उद्योग की बदौलत हजारो की तादाद में निस्सहाय विधवायें तथा इतर लोग अपनी जीविका चला रहे है।

यो तो स्वदेशी-प्रचार का आन्दोलन हिन्दुस्थान में वग-भग के जमाने से चला आया है। गरम दल के राष्ट्रीय नेताओ ने इस प्रचार को बहुत उत्तेजना दी थी। परन्तु उनके जमाने में स्वदेशी वस्त्र का अर्थ हिन्दुस्थानी मिल का बुना हुआ कपडा ही माना जाता था। देशी मिल के वस्त्र पहननेवालो को राष्ट्र-प्रेमी का खिताब भी सुलभ था। परन्तु महात्मा जी ने 'स्वदेशी' शब्द की व्याख्या ही बदल दी है और उसमें अधिक गम्भीरता ला दी है। परिणाम यह हुआ है कि आज देशी मिल के वस्त्र पहननेवाले अध-कच्चे राष्ट्र-भक्त समझे जाते हैं और उनका कोई विशेष सम्मान नहीं है। लोगो की यह नई समझ सकारण भी सिद्ध होती है। हिन्दुस्थान में मिलो की सख्या इतनी अधिक नही है कि समूचे देश भर के जन-समाज के लिए काफी वस्त्र तैयार कर सकें। ऐसी हालत में हमारे देश के लिए पचासो मिलो की आवश्यकता और होगी। इन मिलो के कल-पुरजे न तो हम इस समय तैयार ही कर सकते और न उनके बिगड जाने पर उन्हें हम यहाँ सुधार सकते है। निकटवर्ती भविष्य में हम इतना सब कर सकने की क्षमता प्राप्त कर सकेंगे, इस बात का बडा सदेह है। ऐसी हालत में देशी मिलो की सख्या बढाने के लिए करोडो की मशीन तथा कल-पुरजे विदेशो से मँगाने पडेंगे। इनको सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रतिवर्ष लाखो रुपयो का सामान हमें बाहर से मँगाना ही पडेगा। इतना सब धन इस दरिद्र देश मे कहाँ से आवेगा? परिणाम यह होगा कि जो द्रव्य हम कपडो के लिए बाहर भेजते हैं, उसी को हमें यत्रो के खरीदने में खर्च करना पडेगा। इस

तरह हम परावलम्वी वने ही रहेगे और देश की सम्पत्ति वस्त्रो के नाम पर नही तो यत्रो के लिए प्रतिवर्ष वाहर जाती ही रहेगी। न सही लैंकेशायर को, वरमिनघाम को तो पैसा चला ही जायगा। देश को आखिर इससे वचत कुछ भी न होगी। ऐसी हालत मे कोई भी समझदार मनुष्य इस वात को स्वीकार करेगा कि हमारा स्वदेशी का सिद्धान्त ऐसा हो कि जिसके आधार पर हम अपनी अधिक से अधिक अर्थ-रक्षा कर सकें। यह विशेषता गाधी जी की दी हुई व्याख्या तथा योजना में पाई जाती है। जरा देखे, वह कैसी है।

हिन्दुस्थान कृषि-प्रधान देश है। इस देश में २३ करोड आदमी ज़मीन जोत-बोकर ही अपनी जीविका चलाते है। इस प्रकार हमारे किसान भोजन की सामग्री तो प्रस्तुत कर लेते हैं, परन्तु अपने कपडो-लत्तो के लिए वे नितात परमुखापेक्षी हो रहे है। मनुष्य के भौतिक जीवन के लिए जितनी आवश्यकताये होती है, उनमे से मुख्यातिमुख्य भोजन और वस्त्र है। ये दोनो वस्तुएँ शरीर और प्राण-रक्षा के साधन है। अतएव प्रत्येक राष्ट्र तथा जनसमाज को इन दोनो अनिवार्य आवश्यकताओ के लिए परावलम्वी हरगिज़ नही होना चाहिए। जो जरूरी चीज हमारे पास नही है और जिसे हम दूसरो से प्राप्त करते हैं, उसका समय पर पर्याप्त परिमाण में मिलना सम्भव हो, अथवा न हो। फर्ज़ कीजिए कि इँगलैंड किसी यूरोपीय युद्ध में सम्मिलित होकर सकट में पड गया। आपत्ति-काल में लोगो को अपनी ही सूझती है। उन्हे दूसरो की असुविधायें ऐसे समय पर नही व्यापती। अतएव सग्राम की व्यग्रता तथा आर्थिक एवम् औद्योगिक अडचनो के कारण क्षण भर के लिए मान ले कि लैंकेशायर की मिलें वन्द हो गई। ऐसी हालत मे हिन्दुस्थान क्या करेगा? उत्तर स्पष्ट है। या तो उसे वस्त्रहीन होकर अर्द्ध-नग्न अवस्था में रहना पडेगा या उसे अपने घर ही में कताई-वुनाई का प्रवन्ध करना पडेगा। लेकिन समूचे देश की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ऐसा प्रवन्ध करना कुछ एक-

दो दिनो का काम तो नहो है, उसके लिए तो वर्षो का प्रयत्न चाहिए। पाठक स्वयम् विचार सकते हैं कि हमे ऐसी दशा में किस दुरवस्था का सामना करना पडेगा। जिस प्रकार एक बार के किये हुए भोजन के हज्म होते हो अथवा उसके कुछ पहले ही से हमें दूसरे भोजन के लिए खटपट करनी पडती है, ठीक उसी प्रकार एक वस्त्र के फटते ही अथवा उसके कुछ पहले ही से हमे दूसरा नया वस्त्र मँगाकर रखना पडता है। भोजन के विना तो हम दो-चार दिन भूखे रह भी सकते है और हमारी सभ्यता पर उसका कोई विशेष आघात नहीं पहुँच सकता। लेकिन वस्त्र एक ऐसी चीज है कि जिसके अभाव में सभ्य आदमी एक क्षण भी नही रह सकता। इस दृष्टि से मानना होगा कि वस्त्र भोजन से भी आवश्यक वस्तु है। ऐसी जरूरी चीज के लिए परावलम्बी होना किसी भी सभ्य जाति के लिए उपहास और लज्जा की वात होगी। फिर भी हिन्दुस्थान जिसे अपनी सभ्यता का दावा है इसी तरह परमुखापेक्षी हो रहा है और वह अपनी इस हीनावस्था में सतुष्ट भी है। कैसी शरम की वात है!

अभी तक तो हमने इस विषय पर सुविधा तथा सभ्यता की दृष्टि से विचार किया। पर एक दूसरा महत्त्वशाली दृष्टिकोण और भी है जो हमारी आर्थिक योग्यता से सम्बन्ध रखता है। अनुभव के आधार पर हमारी ऐसी धारणा है कि हिन्दुस्थान की गृहस्थी में लोगो को वर्ष भर में जितना भोजन के लिए खर्च करना पडता है उससे कहीं अधिक या कम से कम उतना ही पैसा वस्त्रो के लिए भी आवश्यक होता है। शादी-विवाह, मौत-मिट्टी तथा तीजा-त्योहार में जो कपडे लगते है, उनका खर्च अलग ही समझना होगा। अतएव किसान लोग खा-पीकर तथा सरकारी भरना अदा करने के वाद जो कुछ गल्ला (यदि वच रहा तो) वेचकर पैसा इकट्ठा करते है वह सब उनके कपडो-लत्तो में समाप्त हो जाता है। ऐसी हालत में प्रासगिक आवश्यकताओ के लिए उन्हे क़र्ज लेने के सिवाय कोई दूसरा

चारा ही नही रह जाता। फिर वर्तमान मे हमारे कृषि-जीवियो की आर्थिक अवस्था ही ऐसी नही है कि वे पहले साल का लिया हुआ कर्ज दूसरे साल की आमदनी से चुका सके। इस तरह ऋण का बोझ उनके सिर पर साल-ब-साल बढता ही जाता है और एक दिन उनके लिए ऐसा भी आ जाता है कि सरकारी भरना अदा न कर सकने के सबब अथवा दीगर साहूकारो की डिग्री से तग होकर वे बरबाद हो जाते है। उनकी जमीन छिन जाती है और वे किसान से कुली होकर किसी तरह अपना कष्टमय जीवन व्यतीत किया करते है।

जिस देश में ३५ करोड में से तेईस करोड लोग किसानी करते हो, वहाँ पर किसानो की दरिद्रता समूचे देश की दरिद्रता है। इस स्वयसिद्ध बात को कोन अस्वीकार कर सकता है? वर्तमान मे सारे हिन्दुस्थान को जिस आर्थिक असमर्थता का कष्टप्रद अनुभव हो रहा है उसका कारण हमारे किसानो की गरीबी के सिवाय कुछ भी नही है। जडो के सूख जाने के बाद फिर वृक्ष फूल-फल नही सकता। कृषिजीवी ही हमारे राष्ट्रीय जीवन के मूलाधार है। ऐसी दशा में उनका विनाश सारे देश का विनाश है।

तब कहना होगा कि इस देश-व्यापी दरिद्रता से भारत को मुक्त करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन तो यही है कि जिस तरह हम अपने भोजन की सामग्री आप ही उत्पन्न करते है, उसी तरह अपनी शरीर-रक्षा के लिए स्वय अपना वस्त्र आप ही तैयार करें और वह भी इस हिसाब से कि इस जरूरी चीज के लिए किसी भी प्रकार, किसी भी अश में हमें दूसरो का आश्रय लेना न पडे। ऐसा उपाय आज तक गाधी जी के सिवाय किसी भी दूसरे राष्ट्रीय नेता को नही सूझ पडा। वह उपाय है खद्दर का प्रचार। अभी तक खादी शब्द मोटे कपडे का पर्यायवाची रहा है। परन्तु वर्तमान में उसका अर्थ बहुत व्यापक हो चुका है। अब वह हाथ के कते हुए सूत से हाथ ही के बुने हुए महीन

से महीन कपडो के लिए भी व्यवहार में लाया जाता है। अब विशुद्ध स्वदेशी वस्त्र को ही खद्दर या खादी कहते है।

कुछ लोग अक्सर कहा करते है कि इस जमाने में खादी-प्रचार अव्यवहार्य है। उनके इस भ्रान्त-विचार का दूसरा आशय यह भी निकलता है कि अपने वस्त्रो के लिए दूसरो के भरोसे रहना व्यवहार्य है और स्वावलम्बी होना हमारे लिए सम्भव नही है। इस नासमझी की कोई सीमा नही है। हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि हम मिल के कपडो का उपयोग करना पसन्द करे, तो चाहे वे वस्त्र देशी मिलो के बने हो या विदेशी मिलो के, दोनो अवस्थाओ मे हमे परावलम्बी होकर रहना पडेगा। चाहे हम लैंकेशायर से कपडे मँगावें या बरमिनघाम से कल-पुरजे, हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति का प्रवाह रुक नही सकता। इस प्रवाह को रोकने का एक ही उपाय सम्भव है और वह सर्वथा शक्य भी है। वह यह है कि चरखे से हम अपने घरो मे ही सूत कात लें और गाँव ही में हम अपने कोष्टियो से उसे बुनवा लें। हिन्दुस्थान में अभी भी रुई की खेती कुछ कम नही है। फिर यदि लोग इस बात को ध्यान में लावें तो और भी कई स्थानो में कपास की पैदावारी की जा सकती है। अभी भी हमारे इस देश में ऐसे लोग जीवित है जिनके स्मृति-काल में यहाँ कई स्थानो में कपास की उपज होती थी और चरखे चलते थे। परन्तु लैंकेशायर की बदौलत आज उन धन्धो का नामोनिशान भी नही है। गाधी जी की यह योजना नई होते हुए भी पुरानी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे इस देश में इतनी तादाद मे एक से एक सुन्दर महीन और रग-बिरगे कपडे बनते थे कि हम अपनी आवश्यकता-पूर्ति के बाद विदेशो को भी भेज सकते थे। ढाका का मलमल मशहूर है। भारत के बने हुए ठप्पेदार कपडे विलायत मे इज्जत की निगाह से देखे जाते थे। ऐसे सभी वस्त्र चरखो और देशी मँगठो की बदौलत ही हम तैयार किया करते थे। उन दिनो वाष्प-शक्ति का आविष्कर्ता जेम्स वाट् का जन्म भी नही हुआ था। ऐसी

हालत में खादी को अव्यवहार्य समझानेवालों से हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब हिन्दुस्तान चरखे की वदौलत अपने वस्त्रों की आवश्यकता पहले पूरी कर सकता था तो वही वात आज भी संम्भव क्यों नहीं है? यदि इस अभियोग का कोई उत्तर हो सकता है तो वह केवल इतना ही कि पहले हिन्दुस्तानी लोग अपनी चीजों की कदर करना जानते थे, उनकी प्रज्ञा की आँखें खुली थीं और वे स्वाभिमानी भी थे। आज हमें दूसरों की वनाई हुई चीजें अधिक पसन्द हैं, हमारी स्वाभिमान-बुद्धि खो गई है और हमारे विवेक की आँखें फूट गई हैं।

'अफसोस कि हम अन्धे हैं, और सो भी रहे हैं।'

(अकवर)

कुछ ऐसी ही विकृत वुद्धि के लोग कहा करते हैं कि चरखे में सूत कौन निकाले? इतना समय ही कहाँ है? हमारी धारणा है कि *समय* की शिकायत विलकुल झूठी है। आज दिन संसार में यदि कोई एक ऐसा देश है जहाँ वेकारी की संख्या दिनों दिन वढती जा रही है और जहाँ हजारों और लाखों की तादाद में लोग निरुद्यमी रहकर भूखों मरते हैं तो वह अभागा हमारा हिन्दुस्थान ही है। हजारों और लाखों निस्सहाय विधवायें अपनी जीविका चलाने में असमर्थ हो रही हैं। हजारों की तादाद में वच्चे और वूढे भीख माँगते नगरों में नजर आते हैं। वर्ष भर में कम से कम चार महीने किसान भी खाली रहते हैं। इस वात को 'रॉयल एग्रीकलचरल कमीशन' ने भी स्वीकार किया है। काम के दिनों में भी घरों में स्त्रियाँ और वृद्धायें मक्खियाँ हँकाती वैठी रहती हैं। ताज्जुव तो यह है कि जिस देश में समय की कदर ही नहीं है और जहाँ इतनी निर्दयता-पूर्वक समय की हत्या की जाती है, वहाँ के लोग समयाभाव की शिकायत करें! ऐसी निर्मूल दलील हम हिन्दुस्थानियों को शोभा नहीं दे सकती। समय है, वहुत है, केवल सद्वुद्धि नहीं है। यदि हमारे पास भोजन और वस्त्र सरीखे आवश्यक पदार्थों को तैयार करने के लिए समय नहीं है

मानना होगा कि हमारे जातीय जीवन की अन्तिम घडी भी आ चुकी है; जीवन के लिए भी अब समय न रहा।

विवेक के आधार पर हमे मानना होगा कि हमारे पास पर्याप्त समय है और साधन भी हैं, अथवा प्रस्तुत किये जा सकते है। जिस चीज की कमी है वह हमारी राष्ट्रीय दृष्टि है। हम महीन से महीन कपडो की ओर सुन्दर से सुन्दर चीजो की तलाश में रहते है, परन्तु यह नही सोचते कि वे चीजें हमे देश ही से मिलती है या विदेश से आती है। इस सद्‌बुद्धि का अभाव ही हमारी दिनो दिन बढती हुई दरिद्रता का जनक है। जिस दिन हिन्दुस्थान इस बात को समझने लगेगा कि दूसरो की अच्छी से अच्छी चीजें हमारे काम की नही और हमारी भद्दी से भद्दी वस्तुएँ भी हमारे काम की है, उसी दिन से भारत का दुर्दैव भी पीछे हटता चलेगा। आज हमारी इसी परावलम्बी बुद्धि को दूर करने के लिए महात्मा जी चोटी से एडी तक अपना पसीना बहा रहे है। ग्रीष्म के सन्तप्त दिनो मे वे देहातो की पैदल यात्रा करते हुए अपने जरा-जीर्ण शरीर का खून सुखा रहे है। क्या हिन्दुस्थान इतना गया-बीता है कि वह इतने बड़े सेवक की इतनी लगन के साथ की हुई सेवा को एकदम निष्फल कर देगा? आशा कहती है, 'नही', पर विश्वास जरा चुप है। इस विषय की सक्षिप्त चर्चा हम अपने 'गाधीवाद' शीर्षक अध्याय में करनेवाले है।

अखिल भारतीय चर्खा-सघ को खादी-प्रचार में पर्याप्त सफलता— यदि मान लें—न भी मिली हो, तो भी इतना तो किसी भी आँख-वाले को मानना ही पडेगा कि उस सस्था ने कम से कम इस बात को प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदुस्थान की आँखे खुल जायें तो खद्दर इस तरह देश में तैयार हो सकता है, इस प्रकार हजारो बेकारो को काम में लगाया जा सकता है, उनकी व्यर्थ जानेवाली शक्ति का सदुपयोग हो सकता है और देश का पैसा बचाया जा सकता है। अखिल भारतीय चरखा-सघ को प्रयोगशाला समझकर यदि हम

अपनी आलोचक बुद्धि से काम लें, तो हमे मुक्तकठ से स्वीकार करना होगा कि वह सस्था सफल सिद्ध हो चुकी है । यथार्थ मे खद्दर को वडे उद्योग के रूप मे उठाने का काम हिन्दुस्थान के रोजगारी पूँजीपतियो का है, यह काम कुछ राष्ट्रीय महासभा का अथवा अन्य किसी सार्वजनिक सस्था का नही है । वे तो केवल जन-समाज मे जाग्रति फैला सकते हैं और मार्ग-प्रदर्शक का काम कर सकते हैं, इससे अधिक नही । परन्तु हमारे सेठ-साहूकारो को तो दलाली से फुरसत नही है । अभी तक ऐसा एक भी सेठ महाजन सामने न आया जिसने अपने व्यक्तिगत आत्म-विश्वास के आधार पर यह कहा हो कि खादी-प्रचार के काम मे मैं पचास लाख रुपया लगाने के लिए तैयार हूँ और मैं इसी राष्ट्र-हितैषी व्यवसाय में बन जाऊँ या विगड जाऊँ । श्रीमान् लोग गाधी जी के समान महापुरुष के प्रभाव में आकर वडी हिम्मत के साथ दस-वीस हजार डरते-डरते चदा दे दिया करते हैं और विदेशी वस्त्रो की दलाली में फिर सलग्न हो जाते हैं । इसे चदा देना नही कहते, यह वला टालना है, एक तरह की रिश्वत है । वात तो यह है कि यदि हमारे वैश्यो मे कोई माद्दा है, तो उन्हे चाहिए कि वे स्वयम् राष्ट्रहित से प्रेरित होकर अपनी व्यक्ति-गत जिम्मेदारी पर शुद्ध खादी का रोजगार करें, अच्छी अच्छी चीजे वनवावें और इस वात को सिद्ध कर दें कि हिन्दुस्थान में खद्दर-प्रचार सम्भव है, लाभदायक भी है । यदि इतना काम हिन्दुस्थान के वैश्यो से न हुआ तो हमें कहना होगा कि हिन्दुस्थान ब्राह्मणत्व और क्षात्रधर्म से तो हाथ धो चुका है, यहाँ अव वैश्य भी मिट गये । रह गये है केवल शूद्र, दास-वृत्तिवाले, दलाली कमानेवाले, विदेशी रोजगारियो के इशारे पर नाचनेवाले और निर्जीव मनुष्यत्व-शून्य कठपुतले !

महात्मा जी खद्दर को आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक वनाने के लिए वडे चिंतित हैं । अतएव उनकी प्रेरणा से एक लाख के पुरस्कार की घोषणा उस मनुष्य के लिए हुई है जो ऐसा चरखा वना

दे, जिसके द्वारा कम से कम समय में अधिक से अधिक सूत निकाला जा सके। अफवाहें तो इस सम्बन्ध में कई उड़ा करती हैं, पर अभी तक कोई सन्तोषदायक रचना प्रस्तुत नहीं हो पाई। फिर भी कुछ लोग अपने अपने आविष्कारों में संलग्न हैं और आशा है कि निकटवर्ती भविष्य में कोई न कोई कुशल कारीगर अपनी करामात दिखा ही देगा। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है। जरूरत मालूम हुई तो तरीका निकल ही आवेगा।

खादी-प्रचार के कार्य-क्रम में गांधी जी को जो सबसे बड़ी कठिनाई अप्रत्यक्ष रूप से उठानी पड़ रही है वह हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों और दीगर पूंजीपतियों की अनास्था है। ये लोग परोक्षरूप से विरोधी भी हैं यदि ऐसा कहें तो अनुचित न होगा। उनकी अधिकांश पूंजी करीब ४० करोड़ की तादाद में देश-हितघातक मिलों में लग चुकी है। फिर उनके जन्म-गत संस्कार भी ऐसे महान् नहीं हैं कि देश-हित के खयाल से लाखों की आमदनी को तिलांजलि दे डालें। ऐसी हालत में उनकी मानसिक दशा बड़ी शोचनीय हो रही है। कई मिल के मालिक गांधी जी के प्रभाव में आकर स्वयम् तो खादी पहनते हैं, पर दूसरों पर अपने मिल का कपड़ा ही लादते हैं! यह कैसी विचित्र विडम्बना है! ऐसे ही लोगों से हिन्दुस्तान के नये साम्यवादी जवान दिलोजान से नाराज हैं और यहाँ तक नाराज हैं कि गांधी जी को भी वे पूंजीपतियों के हिमायती कह बैठते हैं। इन लोगों की आवाज अब कांग्रेस के सभामंच से आने लगी है। यदि इनका जमाना आया तो न जाने क्या होगा। पर गांधी जी इनके आक्षेपों को सुनकर भी गम्भीर हैं। उनकी दृष्टि बहुत दूर तक जाती है और बहुत गहराई तक पहुँचती है। इन साम्यवादियों की चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

हिन्दुस्तान के पूँजीपतियों की उपर्युक्त अनास्था के कारण गांधी जी को जन-साधारण की सहायता पर ही निर्भर होना पड़ा है। परन्तु हिन्दुस्तान का साधारण जन-समाज दरिद्र है। उसे तो अपने प्रति-दिन

की जीविका का सवाल ही मुश्किल हो रहा है। पूँजी-पति तो खादी-प्रचार की योजना को शुरु ही से सनीचर की दृष्टि से देखते आये है। वनिये वडे धर्म-भीरु होने का आडम्बर रचा करते है। अतएव महात्मा जी के दर्शन वे समय समय पर कर लिया करते है और कुछ थोडा-सा नैवेद्य भी लगा देते है। महात्मा जी उनकी अतरात्मा को अच्छी तरह पहचानते है, पर क्या करे, वे भी स्वयम् ऐसे वनिये है कि रास्ते का पडा हुआ छोटा-सा सूत भी उठा लेते है। जो कुछ द्रव्य उन्हे दरिद्र-नारायण की सेवा के लिए मिला, वही सही। लेकिन गाधी जी का वनियापन धर्म-मूलक है। उन्हें व्यास जी के वे वचन याद होगे —

ऊर्ध्ववाहु विरोम्येप न च कश्चित् शृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते ॥

परन्तु हिन्दुस्थान के वनिये धर्म से पैसा कमाना भूल गये। महात्मा जी व्यास के समान ऊर्ध्ववाहु होकर वही शिक्षा आज व्यवसायी जन-समाज को दे रहे है। लेकिन कोई नही सुनता। सुनेंगे, अच्छी तरह सुनेंगे, क्योकि वे दिन करीव करीव आ ही चुके है जव कि उन्हे शैतान के साथ ठेका करने का प्रायश्चित्त भोगना पडेगा। वर्तमान की आर्थिक दुरवस्था की मार उन्हे भी पड रही है। वडे वडे सेठ साहूकार दिवालिये हो रहे है। जो अभी मजे मे है, उनके भी दुर्दिन अव दूर नही है। गाधी जी के वचन उन्हे फिर याद आयेंगे, और आठ आठ आँसू रुलायेंगे। उनकी हालत अभी उस आकाशवेलि के समान है, जो वृक्ष को सुखाकर खुद भी सूख जाती है। लोगो की लूट में सहायक होने का प्रायश्चित्त उन्हे देना होगा—जरूर देना होगा।

खद्दर की वर्तमान सफलता तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध मे जो विशेष जानकारी लेना चाहे वे विशेषज्ञो की लिखी हुई पुस्तकें पढ सकते है। यहाँ हमारा उद्देश इस कार्य-क्षेत्र का दिग्दर्शनमात्र है। खादी हिन्दुस्थान के उद्भ्रान्त जन-समाज मे प्रचार पावे या न पावे; पर

इतनी बात बिलकुल सच है कि वही एक साधन है कि जिससे यह देश अपने वस्त्र के सम्बन्ध में सोलह आने स्वावलम्वी हो सकता है।

गाधी जी की राय में खादी-प्रचार दलितोद्धार का एक महत्त्व-पूर्ण साधन भी है। इसलिए जिन दिनो में उन्होने केवल हरिजन-कार्य ही हाथ में लिया था, उन दिनों में भी वे खादी से किसी तरह उदासीन नही थे। बल्कि जहाँ कही उन्हे खादी-भाडार या खादी-प्रदर्शनी के उद्घाटन का सुअवसर हाथ लगता था तो उसे वे जाने नही देते थे। वे कहा भी करते थे कि खादी हरिजनो की आर्थिक समस्या हल करने में सहायक सिद्ध हुई है, हो रही है और भविष्य मे होगी। इसलिए मैं खादी-प्रचार को हरिजनो के उद्धार-कार्य का एक महत्त्वशाली अग समझता हूँ। गाधी जी के इस विचार के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कह सकता। यथार्थ में खादी एक ऐसी कामधेनु है कि वह श्रीमान् से लेकर भिखारी तक सभी के लिए प्रत्यक्ष आशीर्वाद है। यदि हम उसकी इस विशेषता को न समझ पायें, तो हमारा ही दुर्भाग्य है। उसके आर्थिक सामर्थ्य पर कुछ भी आघात नही होता।

खद्दर के सम्बन्ध में हिन्दुस्थान के मुसलमानो की विशेष अनास्था नालायकी का नमूना है। अपने ईद-बकरीदो में वे विदेशी कपडे पहनकर मचलते हुए निकलते है। खादी के प्रचार से यदि हिन्दुस्थान की किसी एक जाति को अधिक से अधिक लाभ होने की निश्चित सम्भावना है तो वह मुसलमान ही है। बुननेवाले और रँगाई का काम करने-वाले अधिकाश मुसलमान ही है। उनकी सख्या ४½ करोड है। फिर भी इस देश के मुसलमान ही इस सम्बन्ध मे विशेष उदासीन है। ईद और बकरीद के जुलूसो में जो मुस्लिम जन-समाज अपने खुशबूदार कपडो से बाहर निकलता है, उसमे खद्दरपोश इन्सान का मिलना बहुत मुश्किल होता है। उनकी मनोवृत्ति का हाल एक परमात्मा ही जानें। एक बार ऐसी भी उडती हुई खबर थी कि लैंकेशायर के कुछ चन्द रोजगारी 'दि आगाखाँ' की साजिश से दिल्ली के कुछ पूंजीवाले मुसलमानो

को विलायती वस्त्र की एजेंसी दिलाने के लिए कोशिश कर रहे है। पर अभी तक उसका परिणाम कुछ न निकला। पिकेटिंग के जमाने में भी मुसलमानो की दूकानो के सामने विशेष अड़चने आती थी। हड़तालो के समय भी उनकी दूकाने बहुधा खुली ही रहती थी।

खद्दर के सम्बन्ध मे नये ढग के हिन्दुस्थानी साम्यवादियो में जो अनास्था है, उसकी चर्चा हम प्रसगवश आगे चलकर करेंगे। यह भी एक औघड-पन्थी नौजवानो का दल है जो स्वयम् अपने हृदय का हाल नही जानता। पर वे तेज जबान निकाल सकते है। वे देहातियो की सेवा करना चाहते हैं, पर चरखे से उन्हे कोई विशेष प्रेम नही दिखाई देता। वे तो केवल पूंजीपतियो से पूंजी छीनने पर ही तुले हुए दिखाई देते है।

इन विरोधियो के सिवाय उधर हमारे वर्त्तमान शासक भी खद्दर को कोई मुहब्बत की निगाह से नही देखते। खादी-प्रचार का विषय हमारी आर्थिक समस्या से सोलहो आने सम्बन्ध रखता है। उसमे राजनैतिक गध कुछ भी नही मानना चाहिए। फिर भी सरकारी नौकरो के लिए खादी एक भय की वस्तु है। उसकी टोपी तो उनकी दृष्टि मे बिलकुल बदनाम ही है। खद्दरपोश हिन्दुस्थानी गाधी का आदमी माना जाता है। अभी हाल में जिस गुप्त सरकारी सरक्युलर का भेदोद्घाटन 'फ्री प्रेस' ने किया था, उसको पढने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकारी लोग ग्राम-सगठन तथा घरेलू उद्योग-धन्धो के प्रचार को सन्देह और विरोध की नजर से देखते है।

इस तरह गाधी जी को खादी-प्रचार में कई विरोधी शक्तियो का सामना एक साथ करना पड रहा है। फिर भी वे सहस्रबाहु होकर सभी का शान्तिपूर्वक प्रतिकार कर रहे है। ईश्वर उन्हे इस जमाने के इस मौलिक प्रयोग मे कहाँ तक सफलता देगा यह कहना हम सरीखे जड़ताक्रात लोगो के लिए कठिन है। परन्तु उसकी उपयोगिता तथा

व्यवहार्यता के सम्बन्ध में किसी समझदार आदमी को कुछ भी सन्देह नही होना चाहिए।

इस अध्याय मे तो हमने केवल हिन्दुस्थान के हित को दृष्टि में रखते हुए खादी-प्रचार के सम्बन्ध में अपने विचार संक्षिप्तरूप में प्रकट किये हैं। परन्तु चरखा और खद्दर की उपादेयता का एक विश्वव्यापी विराट् रूप भी है। इस व्यापक दृष्टि-कोण मे खद्दर न केवल हिन्दुस्थान का त्राता है, वरन् वह इस मेदिनी-तल के समूचे जन-समाज के लिए भी कल्याणकारी है। उसकी इस व्यापक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही गाधी जी केन्द्रीभूत एव यन्त्र-सचालित व्यवसाय के सबसे बड़े तीर्थ लकाशायर मे भी अपना चरखा अलग ही चला रहे थे। कल-पुरजो के पुजारी पुराने ढग का चरखा चलानेवाले गाधी जी को कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। परन्तु गाधी जी का आत्मविश्वास अदम्य है। वे जन-समाज की आर्थिक कठिनाइयो को व्यापक, वैज्ञानिक और पारमार्थिक—तीनो दृष्टियो से एक साथ देख सकते है। कल-पुरजे चलानेवाले मानव-रूपी पुरजो की बिसात ही क्या, जो चरखे के अन्तर्गत रहस्य को समझ पाते। इस मर्म का उद्घाटन हम किसी आगामी अध्याय में करेंगे।

धर्म-प्राण भारत के हृदय-सम्राट् को धर्म-प्राण होना ही चाहिए, अन्यथा उसे भारतीय आत्मा का अवतार नही कह सकते। यही कारण है कि महात्मा जी की सारी कारंवाइयाँ धर्म-मूलक होती है। और तो क्या चरखे से सूत निकालना भी उनकी दृष्टि मे एक पारमार्थिक प्रयास है। उन्होने उसे यज्ञ का रूप दे डाला है। यज्ञ-याग के विवेक-सिद्ध आशय को ध्यान मे रखनेवाला कोई भी समझदार आदमी गाधी जी की इस पारमार्थिक भावना को स्वीकार ही करेगा। प्राचीन काल में जब लोगो के सामने वर्त्तमान की आर्थिक समस्या उपस्थित नही थी, यज्ञ का रूप कुछ और था। उन दिनो मे चावल, घी तथा इतर खाद्य-द्रव्यो की आहुति अग्नि में डालकर देवता प्रसन्न किये जाते

थे और जन-समाज के कल्याण के लिए उनकी सहायता माँगी जाती थी। परन्तु आज हिन्दुस्थान अपनी वर्त्तमान दरिद्रता की दुरवस्था मे यज्ञ के उस रूप को स्वीकार नही कर सकता। आज तो घी का प्रश्न ही नही है, लोगो को सूखा चावल भी भरपेट खाने को नही मिलता। आज भूखे भारत की जठराग्नि प्रज्वलित हो रही है। उसे शान्त करने के लिए भोजन चाहिए। आज बाहर बलि-वेदी पर अग्नि प्रस्तुत करने का युग नही है। वह तो दरिद्र जनता के पेट मे ही जल रही है। करुणाशील देवता आज दरिद्रनारायण की जठराग्नि के द्वारा ही अपना बलि पाकर सतुष्ट हो सकेंगे, अन्यथा नही।

खद्दर के द्वारा जो आय हो सकती है उसकी एक एक पाई इस देश के गरीबो के हिस्से मे आती है। कपास की उपज करनेवालो से लेकर बुनने और रँगनेवालो तक इस आय का यथोचित वितरण हो जाता है और यही पैसा बाहर जाने से बच भी जाता है। इस प्रकार अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे भी खादी दरिद्र जनता के लिए प्राण-प्रद सिद्ध हो रही है। ऐसी हालत मे सूत कातना तथा खादी पहनना या उसका प्रचार करना गरीब हिन्दुस्थान के लिए यज्ञ का उत्तम से उत्तम रूप माना जा सकता है। अन्तर्गत सिद्धान्त वही है, परन्तु उसका बाहरी रूप देश, काल तथा पात्र के अनुकूल परिवर्त्तित हो चुका है और होना भी चाहिए। अतएव जो मनुष्य खादी की इस व्यापक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रतिदिन नियमित रूप से सूत कातता है, वह इस प्रयत्न मे जनता-जनार्दन से अपना आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस एक-वाक्यता मे जो आध्यात्मिक प्रगति उसे प्राप्त होती है, वह किसी भी अन्य पारमार्थिक साधन मे उतनी सुलभ नही है। महात्मा जी कताई-बुनाई को जो यज्ञ का रूप देते है, उसका आध्यात्मिक रहस्य यही है। उन्होने भी अपनी भावना का ऐसा ही खुलासा किया है।

हाथ की कताई और हाथ की बुनाई इन दोनो का आधार-आधेय सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना पनप नही सकती। एक जमाना था,

जब हमारे ग्रामीण जन-समाज मे जगह-जगह चरखे चलते थे और उनके द्वारा कते हुए सूत करघो पर चढाये जाते थे। इस तरह हमारे किसान अपने वस्त्रो के लिए सर्वथा स्वावलम्बी होकर चैन से अपनी गुजर-बसर किया करते थे। परन्तु आज हाथ की बुनाई तो किसी अश मे जारी है, पर चरखो का एकदम अभाव हो गया है। ऐसी हालत मे बुनने-वाले कोष्टियो को मिलो की शरण लेनी पडी है। लेकिन करघो और मिलो के बीच बडा घातक स्वार्थ-विरोध है। मिल-सचालक पूँजीवाले हमेशा से इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते आये है कि हाथ के बुने हुए वस्त्र बाजार मे मिल के कपडो से बाजी न मारने पावें। मिल-मालिको के इन सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम कोष्टियो के परम्परागत उद्यम पर बडा अनिष्टकारी सिद्ध हो रहा है। पाठक जरा देखें कि मिलो और करघो को औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता किस तरह चल रही है।

टैरिफ बोर्ड का अनुमान है कि इस देश में करीब २५ लाख (२½ मिलियन) करघे चलते है और इनके द्वारा क़रीब एक करोड (१० मि०) लोगो की परवरिश होती है। वस्त्रोत्पादक मिलो में सिर्फ चार लाख आदमी काम करते है और उनकी मजदूरी से केवल १० लाख आदमियो की गुजर हो रही है। अब जरा देखें कि दोनो की उत्पादक शक्तियाँ किस अनुपात में अपना अपना काम कर रही है। सन् १९३२ का आँकडा बतलाता है कि उस साल १७,००० (१७०० मि०) लाख गज कपडा करघो के द्वारा तैयार हुआ, जिसकी कीमत ३७ ४३ करोड रुपये कूती गई। इसी साल हिन्दुस्तानी मिलो ने २८,९९० (२८९९ मि०) लाख गज वस्त्र तैयार किये, जिनकी क़ीमत का अन्दाजा ६५ ७६ करोड लगाया गया। यह तो अभी इन गये-गुजरे दिनो की बात है, लेकिन १९१० के पहले करघो के द्वारा तैयार किये हुए कपडो की गज-सख्या मिल के वस्त्रो से अधिक थी। इन आँकडो से समझदार पाठक सहज ही अनुमान कर सकते है कि इस देश के लिए करघो का औद्योगिक महत्त्व कितना अधिक है। अभी भी यहाँ मिलो के द्वारा जितने लोगो की जीविका चल

रही है उससे दसगुने आदमियो का भरण-पोषण करघो के द्वारा हो रहा है।

वस्त्र तैयार करने के इन दोनो साधनो पर जब हम लागत की दृष्टि से विचार करते है तो वही अन्तर हमे वहाँ भी दिखाई देता है। विशेषज्ञो का अनुमान है कि मिलो के लिए १,००० करघो के तैयार करने मे करीब पाँच लाख रुपये लगते है और उनके द्वारा दिन भर मे ५०,००० गज कपडे तैयार हो सकते है तथा ५०० जुलाहो की मिहनत आवश्यक होती है। यदि यही पाँच लाख की रकम घरेलू करघो मे लगा दी जावे तो अनुमान किया जाता है कि उनके द्वारा १६,००० कोष्टियो को काम मिले और प्रतिदिन १,६०,००० गज कपडे तैयार हो। मिलो की रचना मे जो रकम मकान, मैशिनरी तथा सचालक यत्रो के लिए खर्च होती है उसका हिसाब अलग ही है। इसके सिवाय कल-पुरजो के खरीदने मे तथा उनके विगड जाने पर सुधरवाने मे जो पूँजी साल-ब-साल लगाई जाती है, वह भी बहुत अधिक होती है। घरेलू करघो को सुव्यवस्थित रूप से चलाने मे न तो बडी बडी बेशकीमती इमारतो की ही जरूरत होती, न फिर उनको सुधारने मे लोगो को परावलबी ही होना पडता है। उनके विगड जाने पर गाँव के ही बढई-कारीगर उन्हे बना भी सकते है। कहने का आशय यह है कि पाँच लाख की लागत मे मिल-करघो के द्वारा जितने लोगो को प्रतिदिन के हिसाब से काम मिलता है, उससे कही ३२ गुना अधिक जुलाहो की जीविका घरेलू करघे चला सकते है। इनकी उत्पादक-शक्ति भी प्रतिदिन के हिसाब से यत्र-सचालित करघो से तिगुनी से भी अधिक होती है। इसके सिवाय मिलो के करघे शहरो में चलते है, जहाँ जीवन-निर्वाह की सामग्री महँगी पडती है। घरेलू करघे देहातो मे चल सकते है, जहाँ खाने-पीने की चीजे अपेक्षा-कृत सस्ती मिल सकती है। अतएव दोनो की मजदूरी मे भी काफी अतर होना चाहिए। घरेलू करघो के अनुकूल इतनी सब बाते होते हुए भी हम देखते है कि हमारे देश के जुलाहे दिनोदिन बर्बाद होते जा रहे है

और अपने परंपरागत उद्योग से हाथ धोकर दरिद्रता और बेकारी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ज़रा देखें, उनकी बढ़ती हुई इस आर्थिक दुरवस्था के कारण क्या हैं।

हिन्दुस्तानी जुलाहों की बढ़ती हुई दुर्दशा पर हमने मनोनिवेशपूर्वक विचार किया है और अंत में हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मिलों पर उनका निर्भर रहना ही उनके विनाश का कारण हो रहा है। इस देश के मिलों में प्रतिवर्ष ९,५०० (९५०मि०) लाख पाउंड सूत तैयार होता है। उसमें से करीब १ करोड़ (१० मि०) पाउंड सूत तो बाहर चला जाता है और क़रीब ६,००० (६००मि०) लाख पाउंड सूत देशी मिलों में ही खर्च हो जाता है। शेष ३,५०० (३५० मि०) लाख पाउंड सूत अपने घरेलू करघों के लिए देश के जुलाहे खरीद लेते हैं। इस सूत से कपड़े बुनकर और अपने परिश्रम की यत्किंचित् कीमत लगाकर वे अपनी गुज़र-बसर करने की कोशिश में चोटी से एडी तक पसीना बहाते हैं। परन्तु हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों की स्वार्थ-बुद्धि इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकती। अतएव वे अपने लिए बाज़ार को सुरक्षित रखने की इच्छा से मिल के सूत की क़ीमत तो बढ़ा देते हैं, पर अपने वस्त्रों की क़ीमत ज्यों की त्यों रहने देते हैं। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि सूत की महँगाई के कारण कोष्टियों के बुने हुए कपड़े मिल के वस्त्रों से बाज़ार में महँगे पड़ते हैं और इस कारण उनके खरीदार नहीं मिलते। ग़रीब जुलाहों के प्रति मिल के मालिकों का यह स्वार्थ-प्रेरित व्यवहार अत्यंत निन्दनीय है। इधर तो वे अधिक कीमत लगाकर मुनाफे के साथ अपना एक तिहाई सूत जुलाहों के पास बेच डालते हैं और उधर अपने कपड़ों की क़ीमत कम करके उनके बुने हुए वस्त्रों की खपत नहीं होने देते। ऐसी हालत में देश के कोष्टियों के लिए एक ही उपाय रह जाता है और वह है, मिल के सूतों का बहिष्कार। लेकिन जब तक लोगों के हाथ में सूत तैयार करने का दूसरा साधन उपलब्ध नहीं है, तब तक जुलाहों के लिए मिल के सूत का बहिष्कार संभव नहीं हो सकता।

यो तो घरेलू करघो के पक्षपाती कई तरह के उपाय सोचा करते है। कोई कहता है कि मिल-मालिको और जुलाहो के बीच ऐसा समझौता हो जावे कि जिसमे घरेलू करघो के द्वारा जैसे वस्त्र तैयार किये जाते है वैसे वस्त्र मिलो में वुने ही न जायें। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि मिलो में जो वस्त्र वुने जाते है उनके तादाद की हदवदी कर दी जावे। इस तरह अनेक लोग अनेक प्रकार के उपाय सोचा करते है। परन्तु जहाँ के श्रीमान् लोगो में स्वार्थ-बुद्धि प्रवल है और जहाँ के सत्ताधारी स्वयम् इस सवव मे उदासीन है, वहाँ कोई भी ऐसा उपाय अमल मे नही लाया जा सकता जिससे इस स्वार्थ-विरोध का निपटारा सफलतापूर्वक हो सके। अतएव मिल-मालिको और जुलाहो के बीच इस स्वार्थ-सघर्ष का परिणाम यही होना है कि हिंदुस्थान के जुलाहे वहुत जल्दी लुप्त हो जावेंगे और मिलो के लिए मैदान विलकुल खाली रह जायगा। मिलो के स्वार्थ-लोलुप स्वामी इस सभावना का स्वागत करने के लिए सहर्ष तैयार है। अपने स्वार्थ के लिए घरेलू करघो की वदौलत जीनेवाले एक करोड आदमियो का खून करने के लिए वे दिलोजान से तैयार है। इन मरणासन्न और वुभुक्षित जुलाहो को उनकी निश्चित दुर्दशा से त्राण देने के लिए हिंदुस्थान की सरकार ने वडी मेहरवानी के साथ २५ लाख प्रतिवर्ष के हिसाव से पाँच साल तक सहायता देने का विचार किया है। परन्तु यह स्वल्पातिस्वल्प सहायता प्यासे के मुँह में सिर्फ एक वूँद पानी के समान होगी, इससे अधिक कुछ भी नही।

हमारे वस्त्रोत्पादक उद्योग-धधे विदेशियो के द्वारा किस प्रकार नष्ट किये गये, इस वात का साक्षी इतिहास है। यहाँ पर उसे दुहराने की जरूरत नही। परन्तु आज की परिस्थिति ऐसी है कि गरीव लोगो के वचे-वचाये रोजगार को नष्ट करने में हमारे स्वदेशी श्रीमान् भी सहायक हो रहे है। उनमें से कुछ लोग तो वे है जो ठेठ लकाशायर से वने हुए कपडे मँगाकर इस देश में उनका प्रचार वढाते है और कुछ लोग अपनी पूँजी के वल पर इसी देश में मिलो की रचना करके कपड़े

तैयार करते है। कई मिल-मालिक महीन कपड़ो के लिए बाहर से सूत भी मँगाते है। इस प्रकार वे विदेशी वस्त्रो के खरीदने में मिलो के लिए बाहर से कल-पुरजे तथा सूत मँगवाने मे इस दरिद्र देश का बहुत सा पैसा हर साल विदेशी रोजगारियो को दे डालते है। यदि वे इतना ही करते तो राष्ट्र-हित की दृष्टि से उनका पातक-भार काफी बड़ा हो जाता। लेकिन वे इसके सिवाय अपनी स्वार्थ-नीति से प्रेरित होकर राष्ट्र-घात के कुमार्ग मे और भी आगे बढ चुके हैं। एक ओर तो जैसा कि हम कह चुके है, वे विदेशी रोजगारियो से बना-बनाया वस्त्र मँगाकर देश का पैसा बाहर भेजते है और इस तरह घरेलू करघो को चलने नही देते और दूसरी ओर अपनी निज की मिल खोलकर रहे-सहे जुलाहो को और भी तबाह कर रहे है। ऐसी हालत मे कोई आश्चर्य नही कि इन पूँजीवालो के नाममात्र से ही हिंदुस्थान के नौजवान साम्यवादी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उनके इस अनाचार को शांति-पूर्वक सह लेना सचमुच बड़े धैर्य का काम है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में धैर्य के सिवाय कोई गत्यतर नही है और उसे धारण करना ही होगा।

खादी-प्रचार के प्रति साधारण लोगो की अनास्था और पूँजीवालो का अप्रत्यक्ष विरोध—इन दोनो कठिनाइयो का सामना गाधी जी को एक साथ करना पड रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमारी जड़ताक्रांत मति के अनुसार घरेलू करघो को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि देश के जुलाहे जरा अपने दृष्टि-कोण को बदल दें। इतना प्राय निश्चित ही है कि मिल-मालिको से उनका समझौता होना यदि असभव नही, तो कठिन से कठिन जरूर है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वे मिल के सूत का अवलबन धीरे धीरे छोड दें और उसी अनुपात में हाथ के कते हुए सूत अपने काम में लावें। आमतौर से वे इस बात की शिकायत करते है कि हाथ के कते हुए सूत कमजोर होते हैं और इसलिए उन्हे करघो पर तानने में कठिनाई होती है। परन्तु यह तो प्रारभिक अवस्था की बिलकुल स्वाभाविक

अड़चन है और उसे जब कभी प्रारभ करे, पार करना ही होगा। सिवाय इसके महात्मा जी की प्रेरणा से अब हाथ कताई में बहुत तरक्की भी हो चुकी है। परतु जुलाहो को इस दिशा मे लोकमत से ही प्रेरणा मिल सकती है। अतएव अततोगत्वा लोगो का ही पहला कर्तव्य है कि वे इन जुलाहो से हथ-कते सूत उपयोग मे लाने की प्रेरणा करे और मिल-सूत के बने हुए वस्त्र खरीदना बद कर दें। गाधी जी इसी देशव्यापी लोकमत की सृष्टि में लगे हुए है।

हमें अर्थशास्त्री होने का जरा भी दावा नहीं है। फिर भी हम अपनी मामूली समझ से ऐसा सोचते हैं कि जहाँ जहाँ हमारे देशी जुलाहो की बस्ती अधिक है, उसी के आस पास के स्थानो में कपास की खेती को उत्तेजित करना आवश्यक है। सभव है कि कुछ स्थानो के सबध मे यह योजना कामयाब न हो, पर कई स्थान ऐसे भी निकलेगे जहाँ जुलाहो की बस्ती भी है और कपास की यदि उत्तम नही, तो साधारण पैदावारी भी की जा सकती है। सर्व-साधारण लोगो को यदि जुलाहे और कपास एक ही स्थान में दृष्टिगोचर हो, तो उनमे सूत कातने की प्रवृत्ति बहुत कम कठिनाई के साथ जाग्रत की जा सकती है। खादी-प्रचार के सबध में सबसे आवश्यक बात हमें कपास की खेती ही प्रतीत होती है। हिंदुस्थान के बहुत-से प्रातो में ऐसे गाँव बहुत कम निकलेंगे, जहाँ कपास की खेती के लायक पचीस पचास एकड जमीन न निकल सकती हो। जिन स्थानो में चावल की उपज और वर्षा अधिक होती है वहाँ भी ढालू और सूखी जमीन पर कपास की खेती हो सकती है। कहने का अभिप्राय यह कि आज दिन कई ऐसे गाँव मौजूद है, जहाँ रुई पैदा की जा सकती है, जुलाहे भी है; परन्तु कच्चे माल के अभाव में खादी तैयार करना दुष्कर हो रहा है। जिस दिन ऐसे स्थानो में जगह जगह रुई के ढेर लग जावेंगे, उस दिन लोगो को उसका उपयोग करना सीखना ही होगा। इस प्रकार कपास की पैदावारी खादी-प्रचार के लिए बडी उत्तेजक सिद्ध होगी। पास में कपास न होने पर दूर से उसका मँगाना और फिर चरखा

चलाना एक ऐसी बात है कि जिसको स्वीकार करने के लिए बहुत दूरदर्शिता की जरूरत होती है। जन-साधारण के लिए यह बहुत ही दुर्लभ गुण है। इसी कारण हमारी यह निश्चित धारणा है कि किसानो के पास रुई का अभाव ही खादी-प्रचार के मार्ग में रुकावट पैदा कर रहा है। अतएव सार्वजनिक कार्यकर्ताओ को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

देश के म्रियमाण जुलाहो की रक्षा करने का एकमात्र साधन वही है जो गाधी जी बतला रहे है। न तो सहकारी समितियाँ काम दे सकती है, न फिर मिल-मालिको से किसी तरह का समझौता ही वर्तमान परिस्थिति में सभव है। यदि कोई साधन शक्य है, तो वह स्वावलवनशीलता ही है। इस पुरुषोचित गुण के विना हम अपने वैभव और कल्याण के दिन नहीं देख सकते। मिलो के मोह-पाश से कपडे बुननेवाले तथा पहनने-वाले दोनो को मुक्त होना पड़ेगा; तभी किसानो को आर्थिक स्वतत्रता प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नही।

चरखे के सबंध में अकसर यह शिकायत सुनने में आती है कि उससे दिन भर में इतना सूत नही निकल सकता कि जिसकी कीमत से लोग अपनी जीविका अच्छी तरह चला सकें। लेकिन चरखे की आर्थिक उपयोगिता को इस दृष्टि से देखना भूल है। वह तो देश के कृषि-जीवियो को अपने कपडे-लत्तो के सबध में स्वावलवी बनाने का एक ज़रिया है और बेकारी के मौसम में उन्हें काम देने का एक साधन है। इसके द्वारा देश की जो सपत्ति प्रतिवर्ष बाहर जाने से बचेगी, वह आखिर उन्ही लोगो के पास रहेगी। इसके सिवाय खद्दर की लोक-प्रियता आगे चलकर हथ-कते सूत की क़ीमत भी बढावेगी और इस प्रकार केवल चरखे की बदौलत जीवन-निर्वाह करना भी सुकर और शक्य हो जावेगा। अखिल भारतीय चरखा-सघ की बदौलत आज की प्रारभिक अवस्था में भी जितने लोगो की परवरिश हो रही है, उसका ज्ञान सघ के वार्षिक रिपोर्ट से अनायास हो सकता है। जिन लोगो को इस विषय की जानकारी चाहिए, वे सघ की औद्योगिक प्रगति पर मनोनिवेश-पूर्वक विचार करें।

पर्यालोचन

महात्मा जी के रचनात्मक कार्य-क्रम के यही चार प्रधान अग है। इस कार्य-क्रम मे आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा राष्ट्रीय हितों का बडा सुन्दर मेल है। हिंदू-मुस्लिम-मेल का प्रश्न प्रधानत राष्ट्रीय है। अस्पृश्यता-निवारण तथा मादक द्रव्य-निषेध का कार्य-क्रम सामाजिक सबद्धता तथा नैतिक उत्कर्ष की सम्मिलित बुनियाद पर स्थापित है। खादी-प्रचार धर्म और अर्थ दोनो का दाता है। इस प्रकार गाधी जी का दिया हुआ विधायक कार्य-क्रम सर्वाङ्गीण है और हमारे जातीय जीवन के सभी प्रधान क्षेत्रो मे एक समान कल्याणप्रद है। सच पूछा जाय तो इस कार्य-क्रम में हमारे भौतिक और आध्यात्मिक दोनो तरह के स्वराज्य के साधन सन्निहित है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए महात्मा जी आत्म-विश्वास-पूर्वक अकसर कहा करते थे कि लोग यदि मेरा कहना मान लें, तो मैं एक वर्ष मे स्वराज्य दिला सकता हूँ। लोगों ने कुछ तो माना, परन्तु जैसा चाहिए, वैसा ध्यान नही दिया। इसी कारण स्वराज्य भी एक वर्ष में प्राप्त न हो सका। लेकिन स्वराज्य प्राप्त करने की कुछ शक्ति लोगों को जरूर मिल गई।

गाधी जी के दिये हुए रचनात्मक कार्यक्रम का यह वैज्ञानिक उपचार हमारे राष्ट्रीय 'एनीमिया' के लिए रामवाण है। परन्तु रोगी अपनी व्याधि से इतना अधिक ग्रस्त हो चुका है और इसी कारण उसकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि वह दवा पीने को तैयार ही नही होता। न हो, लेकिन जमाने की हवा गाधी जी के अनुकूल बह रही है। पूँजीवाद का युग पृथ्वी भर के जन-समाज के लिए बडा घातक सिद्ध हुआ है। श्रीमानो ने अपने कल-कारखानो के द्वारा लोगो को खूब लूटा है। जिस सपत्ति को जन-समाज में वितरित होना चाहिए था, उसका अधिकाश थोडे से पूँजीवाले समेटे बैठे है। अभी तक तो इन थोडे से श्रीमानो के दिन चैन से बीते; अब उनकी भी तबाही के दिन आ चुके है।

अब उनके पास माल भरा पड़ा है, कोई खरीदार नहीं। इसलिए वे अब अधिक माल तैयार करना नहीं चाहते। उन्हें अब कम मजदूरों की जरूरत है। इस कारण लोग बेकार हो चुके हैं और हो रहे हैं। ऐसी हालत में घरेलू उद्योग-धंधे ही लोगों के सहायक हो सकते हैं, दूसरा कोई चारा नहीं। हिन्दुस्थान सरीखे देश में जहाँ वस्त्रों की बहुत अधिक जरूरत है और मिलों की संख्या बहुत कम है, चरखे के सिवाय दूसरा साधन सुलभ नहीं हो सकता। अतएव परिस्थिति तो ऐसी आ रही है कि जो काम उपदेश से न हो सका, उसकी पूर्ति किसी अंश में जमाने की लाई हुई बेकारी कर देगी।

महात्मा जी ने राष्ट्रीय महासभा के सामने अद्यावधि जो कार्य-क्रम प्रस्तुत किया है उसके दो पहलू हैं, पहला विधायक, दूसरा विघातक। दूसरे प्रकार के कार्य-क्रम के लिए तो उन्हें बहुत-से सिपाही मिले। सत्याग्रह के दिनों में स्वयंसेवकों का जेलों की ओर तांता-सा लग गया था। परन्तु विधायक कार्यों के लिए गांधी जी की कार्य-कारिणी सेना में नाम दर्ज करानेवाले बहुत ही कम निकले। आज महात्मा जी को ऐसे लोगों की बहुत अधिक आवश्यकता है जो गाँव गाँव घूम करके देहातियों से मिले, उनके सम्पर्क में आवें और उनके बीच में रहकर उन्हें औद्योगिक, नैतिक तथा राष्ट्रीय शिक्षा दें। गिरफ्तार होकर बरस-छः महीना एक जगह ए० या बी० क्लास में जेल काटने की बनिस्बत मई की प्रचंड दोपहरी में गाँव गाँव घूमना कहीं अधिक दुष्कर है। कदाचित् ऐसा ही है, तभी तो लोग जेल जाने के लिए इतनी अधिक संख्या में तैयार हो गये, परन्तु रचनात्मक कार्यक्रम के लिए उनमें से अधिकांश लोगों में वह मानसिक तैयारी नहीं दिखाई देती। इसका कारण तो हमें यही प्रतीत होता है कि जिन गुणों के आधार पर मनुष्य जेल जा सकता है, उनका उपयोग रचनात्मक काम के लिए विशेष नहीं है। क्षणिक आवेश में आकर हम जेल के अन्दर दाखिल हो सकते हैं और एक बार वहाँ दाखिल हो जाने पर स्वाभिमान बुद्धि की प्रेरणा

से सजा के अन्तिम दिन तक बन्दी-जीवन का निर्वाह भी कर सकते हैं। लेकिन विधायक कार्यक्रम के लिए क्षणिक आवेश किसी काम का नहीं होता। ऐसे कामों के लिए सबसे पहली आवश्यकता जिस बात की है, उसे समवेदना कहते हैं, यानी दरिद्र जनता की दुरवस्था को देखकर हमारे दिलों में बेचैन बननेवाली सहानुभूति चाहिए। समाज-सुधारक के लिए सबसे पहली जरूरत उसी गुण की होती है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत के समाज-सेवक नौजवानों से एक बार कहा था कि प्यारे युवकों, जिस दिन समाज की चिन्ता से तुम्हें रात को नींद न आवे, उसी दिन समझना कि तुम सच्चे समाज-सेवक हो गये। अभिप्राय कहने का यह है कि जन-सुधार के लिए जिस समवेदना-मूलक छटपटी की आवश्यकता होती है, वह बड़ी बेशकीमती मानसिक अवस्था है। इसी कारण वह बहुत कम लोगों में पाई भी जाती है। विधायक कार्यक्रम की एक और खासियत है जो सत्तर-अस्सी सैकडा लोगों को नापसन्द होती है। जेल जाने में जो एक बहादुरी का दिखावा है और जिसके कारण थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक ख्याति मिल सकती है, वह बात विधायक कार्यक्रम में बिल्कुल नहीं पाई जाती। इस क्षेत्र में काम करनेवाले को वर्षों तक अज्ञात रहना पडता है। कोई उसका नाम तक नहीं लेता, न फिर उसे स्वागत के हार ही सुलभ होते। बडी लगन के साथ धैर्य-धारण-पूर्वक वर्षों तक ठंडे दिल वो दिमाग से अज्ञात-वास में रहकर काम करना पडता है, तब कहीं लोग कहते हैं कि अमुक आदमी बडा अच्छा कार्य-कर्त्ता है, उसने अमुक अमुक काम किये। इसके सिवाय जैसा कि हम कह चुके हैं विधायक काम करनेवाले को शारीरिक कष्ट भी बहुत झेलने पडते हैं। वक्त बेवक्त खाने-पीने को मिलता है, कभी मिलता ही नहीं। कभी कोसो तक चलना पडता है। जेल जाने के लिए विशेष सहयोग की जरूरत नहीं। कोई भी आदमी जो चाहे, कानून की अवज्ञा करके अकेला जेल जा सकता है। परन्तु विधायक कार्य के करने-वाले को कई तरह के लोगों से सहयोग भी करना पड़ता है। काम करने

की इच्छा भी हो, पर अन्यान्य कार्य-कर्त्ताओ मे सहयोग करने की मानसिक क्षमता न हो, तो रचनात्मक काम ही नही चलता। इसके सिवाय रचना करनेवाले को अपने वर्षो के प्रयत्न मे कई बार निराशा तथा आत्म-ग्लानि का सामना करना पडता है। यदि उसमे पर्याप्त धैर्य तथा आशा-वादिता न हो, तो वह सेवा-धर्म पर बहुत दिनो तक आरूढ नही रह सकता। इसी कारण तो किसी ने बडी बुद्धिमानी से कहा है कि —

'सेवा-धर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य'

साराश यह कि रचनात्मक कार्य करनेवाले समाज-सेवक को सम-वेदना, नम्रता, सहनशीलता, सहयोग-बुद्धि, धैर्य तथा सलग्नता सरीखे अनमोल एव देव-दुर्लभ नैतिक गुणो की आवश्यकता होती है। इन गुणो का सम्यक् मेल बहुत ही कम लोगो मे पाया जाता है। यही कारण है कि गाधी जी को विधायक कार्य-क्रम मे उतनी सहायता नही मिल रही है जितनी उन्हे विघातक तथा केवल विरोध प्रकट करनेवाले कामो में मिली।

रचना और सहार की क्रियाओ में जो एक बडा अन्तर है वह यह है कि सहार करते देर नही लगती, पर रचना का काम बहुत धीरे होता है। अतएव गाधी जी का विधायक कार्यक्रम सत्याग्रह-आन्दोलन के समान एक-दो वर्षो का काम नही है, वह सदियो का काम है। यथार्थ में रचना करने की कोई सीमा ही नही है। जन-समाज मे सुधार करने की आवश्यकता हमेशा बनी ही रहेगी। हमारे आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विकास की परम्परा सृष्टि के अन्तिम दिनो तक जारी रहेगी। इसके सिवाय सहार करने का अधिकार उसी को दिया जा सकता है, जो उसके स्थान पर क्षमता-पूर्वक निर्माण भी कर सके और वह रचना ऐसी हो जो विनाशित व्यवस्था से अच्छी हो। केवल सहार करने की क्रिया अपेक्षाकृत बहुत सरल है। अतएव रचनात्मक शक्ति के अभाव में विघातक आचार एक बहुत ही खतरनाक चीज है। समझदारो को उसका हमेशा प्रतिकार करना चाहिए। महात्मा जी में दोनो शक्तियाँ विद्यमान है।

पर यह मेल उनके अधिकाश अनुगामियो मे नही पाया जाता। यही तो उनके सामने एक बडी भारी अडचन है। आज ऐसे कितने लोग है जो ग्रामोण उद्योग-सघ मे गाधी जी की मनसा, वाचा, कर्मणा सहायता करने के लिए तैयार है ? कितने जेल-यात्री सत्याग्रही सिपाही ऐसे है जो गाँव गाँव घूमकर खादी-प्रचार करना पसन्द करते है ? हरिजनो की मैली-कुचैली गलियो मे घूमकर उनकी सेवा करनेवाले सच्चे और सहृदय कार्यकर्त्ता कितने है ? इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर है, 'बहुत कम।'

इन सब अड़चनो के सिवाय गाधी जी के सामने जो एक व्यापक और सबसे बडी कठिनाई है वह हिन्दुस्थानी जन-समाज की अज्ञान-मूलक उदासीनता है। जहाँ तक स्वदेशी तथा खादी-प्रचार का सबध है, हिन्दुस्थानियो मे यह वैश्योचित सद्‌बुद्धि है ही नही कि यदि हम अपने देश की बनी हुई चीजे खरीदेगे तो अन्ततोगत्वा वे हमें सस्ती पड़ेंगी। अभी के फायदे पर खयाल करके वे जापान की सस्ती चीजे खरीदना अधिक पसन्द करते है। भारत के जन-समाज को यह वैश्योचित दृष्टिकोण देना भी गुजरात के उस महान् बनिये का काम है। हरिजनोद्धार तथा मादक द्रव्य-निषेध के कामो मे ब्राह्मणोचित उदाराशयता तथा मानसिक पवित्रता की आवश्यकता है। पर जहाँ लोगो मे स्वार्थ-प्रेरित स्वदेशी भावना नही है, वहाँ परमार्थ और मानव-प्रेम के विशुद्ध भाव उत्पन्न ही कैसे हो सकते है ? यह मजिल तो बहुत दूर की है। हिन्दू-मुस्लिम-मेल के लिए विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण चाहिए। परन्तु साम्प्रदायिकता से ग्रस्त और जर्जरित भारतीय जन-समाज मे ऐसी दृष्टि रखनेवालो की सख्या कम से कम आज की अवस्था में अधिक नही हो सकती। फिर भी जितनी सख्या है उसका अधिकाश गाधी जी की प्रेरणा, नैतिक पवित्रता तथा दूरदर्शी नेतृत्व का परिणाम है। इन सारी कठिनाइयो के विकट झमेले को देखकर लेनिन से लेकर हिटलर, मुसोलिनी तथा कमालपाशा सरीखे राष्ट्र-निर्माताओ के भी छक्के छूट जाते। यह तो ससार का

सर्वश्रेष्ठ महापुरुष और भारत के हृदय-सम्राट् महात्मा गांधी का ही काम है जो सहस्र-बाहु होकर सरकारी दमन, सर्व-प्रिय अनास्था, कार्यकर्ताओं का अभाव, साम्प्रदायिक विरोध इत्यादि एक से एक बड़ी अड़चनों का सामना करते हुए धैर्य-धारण-पूर्वक अखंड आशावाद से प्रेरित होकर जगन्नियन्ता से राष्ट्रोन्नति के लिए प्रार्थना करें और प्रार्थनामयी भावना के सहारे जन-सेवा में मनसा, वाचा, कर्मणा संलग्न रहे।

अध्याय १८

राष्ट्र-भाषा

इस पृथ्वी पर कई रूप-रंग के मनुष्य देखे जाते हैं। कोई गोरा होता है, कोई काला, कोई ऊँचा होता है, कोई नाटा और कोई दुबला होता है, कोई मोटा। परन्तु इन भेदों के होते हुए भी मानव-शरीर की भौतिक रचना एक-सी होती है। हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह तथा आँखें समान रूप से सभी मनुष्यों की अपने स्थान पर ही होती हैं। और इसी प्रकार शिक्षा-दीक्षा की बदौलत यद्यपि भिन्न भिन्न मनुष्यों की मानसिक रचनाओं में बहुत अन्तर पड़ जाता है, तथापि जिसे हम मानव-स्वभाव कहते हैं वह सभी प्रकार के लोगों में समान-रूप से पाया जाता है। सुख और दुःख के प्रसंगों पर लोगों के हृदय और मस्तिष्क में जो भाव तथा विचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायः एक ही से होते हैं। यदि इस मानव-स्वभाव-जात विचार-साम्य को प्रकट करने का साधन भी एक ही होता, तो हमारी पृथ्वी की भिन्न-भिन्न मनुष्य-जातियों में जो इतनी विषमता, भेद-बुद्धि, विचार-वैमनस्य एवं तज्जनित कलह दिखाई देता है, वह कदाचित् नहीं रहता। परस्पर आत्म-प्रकाशन के अभाव ही से एक जाति का मनुष्य दूसरे से दूर पड़ जाता है। मनुष्य के लिए आत्म-प्रकाशन (Self-expression) का सबसे उत्तम साधन उसकी भाषा और साहित्य है। यदि इस पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही भाषा बोली जाती, तो उसका साहित्य भी एक ही होता और लोगों में दृष्टि-भेद बहुत कम रह जाता। दृष्टिभेद के अभाव में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग बहुत कुछ अभिन्नहृदय होकर एक दूसरे से भाईचारे का व्यवहार करते और इस पारस्परिक प्रेम-व्यवहार के कारण संसार अधिक सुखी होता। इस दृष्टि से देखने पर पाठकों

को अनायास प्रतीत होगा कि भाषा और साहित्य की विषमता जन-समाज मे ग़लतफ़हमी और फूट पैदा करती है। ससार मे इस समय जो इतनी अशान्ति और कलहशीलता विद्यमान है, वह अधिकाश मे इसी भेद-बुद्धि का दुष्परिणाम है।

किसी भी जन-समाज के सामूहिक विकास की योजना मे भाषा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यदि दो मनुष्यो के बीच आत्म-प्रकाशन का साधन एक ही न हो, तो वे बिलकुल पास-पास रहते हुए भी अलग-अलग दुनिया मे रहते है। दोनो समानरूप से मनुष्य होते हुए भी वे एक दूसरे को बडे आश्चर्य की दृष्टि से देखते है। एक की भाषा दूसरे को विचित्र और परिहासजनक प्रतीत होती है। अतएव दोनो को अपने-अपने विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए कोई प्रसग ही नही मिलता। एक के लिए दूसरे का हृदय-द्वार वद रहता है। ऐसी दशा मे सहानुभूति का प्रश्न बहुत दूर जा पडता है। यदि कोई पंजाबी किसी तैलगू-भाषी आदमी को उसकी भाषा मे बिलख-बिलख कर रोता हुआ सुने, तो सभवत सहानुभूति के बदले उसके हृदय मे विनोद का भाव जाग्रत होगा। इसी एक उदाहरण से पाठक समझ सकेंगे कि भाषा-वैषम्य दो मानव-हृदयो के बीच कितना अधिक अन्तर डाल देता है। एक का करुण-क्रन्दन और दूसरे का परिहास! फिर ऐसे दो हृदयो के बीच भाई-चारे का सबध किस तरह स्थापित हो? सभव नही।

भारतीय राष्ट्रीयता के मार्ग मे जो सबसे बडी अडचन है, वह राष्ट्र-भाषा का अभाव है। ऊपर हमने पजाबी और तैलगू का जो उदाहरण दिया है, वह इस देश मे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अभिन्न-सस्कृति होते हुए भी राष्ट्र-भाषा के अभाव मे दो भिन्न-भिन्न प्रान्तो के निवासी एक दूसरे को विदेशी और विधर्मी के समान प्रतीत होते है। उनके आराध्यदेव एक ही है, सभ्यता तथा जीवन-लक्ष्य भी एक ही है, यत्किंचित् भेद के साथ खान-पान, रहन-सहन तथा चाल-चलन

भी प्राय समान है। फिर भी एक बगाली की भाषा गुजराती मनुष्य की भाषा से भिन्न होने के कारण दोनो एक दूसरे को समझ ही नही पाते। हिन्दुस्थान की यह अन्तर्प्रान्तीय नासमझी और विचार-भ्राति तब तक दूर न होगी, जब तक भिन्न-भिन्न प्रान्तो के बीच आत्म-प्रकाशन का एक ही साधन उपलब्ध न होगा। जिस तरह अलग-अलग ईटो को सीमेण्ट से जोडकर ही कारीगर किसी भवन का निर्माण कर सकता है, ठीक उसी प्रकार एक ही राष्ट्र-भाषा तथा तत्प्रेरित भावना से सबद्ध होकर ही कोई मनुष्य-जाति अपना राष्ट्र-निर्माण कर सकती है। तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रभाषा अनिवार्य है।

आमतौर पर लोग कहा करते है कि हिन्दुस्थान के लिए ब्रिटिश शासन बडा अनिष्टकारी सिद्ध हुआ है। इस कथन मे बहुत कुछ सचाई है। परन्तु ऐसी समझ रखनेवालो को यह भी समझना चाहिए कि एक ऐसी भी दृष्टि है जिससे विचार करने पर इस देश मे अँगरेजो का शासन किसी अश मे आशीर्वाद के समान भी प्रतीत होता है। आज दिन हिन्दुस्थान मे जो यत्किञ्चित् राजनैतिक भावना जाग्रत हो चुकी है, वह विदेशी शासन की बदौलत ही हुई है, इसमे तिलमात्र भी सन्देह नही। हिन्दुस्थान सरीखे दीर्घ-काय देश को एक ही शासन-व्यवस्था मे समेट कर एकाकार और सगठित कर देने मे ब्रिटिश-जाति की प्रतिभा प्रत्यक्ष अकित है। आज हिन्दुस्थान की जोड का ऐसा एक भी देश इस पृथ्वी पर नही है, जो एक ही केन्द्रित-शासनप्रणाली से ऐसी व्यवस्था-पूर्वक शासित होता हो। यह बात जुदी है कि शासको का दृष्टि-कोण हमे मजूर नही। यदि शासन की सिर्फ नीति ही बदल दी जावे, तो वर्त्तमान व्यवस्था हमारी वर्त्तमान परिस्थिति मे कुछ बुरी नही है। इसी व्यवस्था की बदौलत हमे एक ऐसी भाषा मिली है, जो हमारी तो नही है, लेकिन फिर भी जिसके द्वारा इस देश को राजनैतिक प्रगति मे बडा लाभ पहुँचा है। अँगरेजी भाषा की बदौलत आज हिन्दुस्थान के सुदूरवर्त्ती प्रान्त एक दूसरे के बिलकुल निकट पहुँच गये है। आज हिन्दुस्थान

के शिक्षित-समाज मे प्रान्तीय भेद जो बहुत कुछ तिरोहित हो चुका है, वह अँगरेजी शिक्षा की बदौलत ही है। आज पजाब मे किये गये अत्याचार को पढकर मद्रास का हृदय जो क्षुब्ध हो जाता है, वह अँगरेजी समाचार-पत्रो की प्रेरणा का ही परिणाम है। आज सिन्धी और आसामी शिक्षित-समाज अपने को समान रूप से जो भारतीय समझने लगा है, वह अँगरेजी मे किये गये विचार-विनिमय के कारण ही सभव हो सका है। समझ मे नही आता कि अँगरेजी भाषा के अभाव मे हमारी अखिल भारतीय महासभा का जन्म ही किस प्रकार सभव होता ! आज इन पचास वर्षों के अन्दर इस राष्ट्रीय सस्था की सारी कारंवाइयाँ अँगरेजी ही में हुई है। प्रस्ताव भी अँगरेजी मे ही पास किये गये है। अधिक से अधिक सख्या में व्याख्यान भी इसी भाषा मे दिये गये है। इस तरह पाठक देखेंगे कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण करनेवाली राष्ट्रीय महासभा का सारा आत्म-प्रकाशन अभी तक विदेशी भाषा के द्वारा हुआ है। क्या यह कम आश्चर्य की बात है ? पर इससे भी अधिक विस्मय की बात यह है कि इसी अराष्ट्रीय भाषा के द्वारा ही हमारी वर्त्तमान राष्ट्रीय चेतनता जाग्रत हुई है। अतएव यह एक निर्विवाद बात है कि हमारे देश के प्रति अँगरेजो के अपकार भले ही बहुत हो, पर अँगरेजी का उपकार भी कुछ कम नही है। इसमें सन्देह नही कि अँगरेजी हमारी व्यापक राजनैतिक भावना की जननी है।

फिर भी कृतज्ञता-प्रकाश करते हुए हमे इस बात को नही भूलना चाहिए कि हमारी राष्ट्रीय प्रगति मे अँगरेजी भाषा की उपादेयता सीमित है। विदेशी भाषा के द्वारा हमारी राष्ट्र-भावना अकुरित तो जरूर हुई, परन्तु भविष्य में वह पल्लवित नही हो सकती। ऐसा होना प्रत्यक्ष रूप से असम्भव है। जब तक हमारी राष्ट्रीय सभा की इयत्ता शिक्षित-समाज में ही परिमित थी, तब तक अँगरेजी से हमारा काम अच्छी तरह चल निकला। परन्तु ज्यो ज्यो कांग्रेस का विस्तार बढता जायगा और ज्यो-ज्यो वह

जनतात्मक रूप धारण करती जायगी, त्यो त्यो हमे विदेशी भाषा का अवलम्ब छोडना ही पडेगा। इस कठिनाई का अनुभव आज हमे हो रहा है। आज काग्रेस के सामने दो ही मार्ग है, या तो वह अपनी कार्रवाइयो तथा मतव्यो से अँगरेजी का बहिष्कार करे या किसान और मजदूरो को अन्दर न आने दे। दोनो की एक साथ गुजाइश ही नही हो सकती। हिन्दुस्थान का यथार्थ नागरिक देहाती किसान है। अतएव जब तक हमारी राष्ट्रीय महासभा देहाती किसानो की भाषा मे आत्म-प्रदर्शन तथा विचार-प्रचार करने मे सक्षम न हो सकेगी, तब तक उसके लिए सार्वजनिक रूप धारण करना असम्भव है, तब तक वह कुछ अपरिचित लोगो की एक दुर्बोध सस्था के समान पडी रहेगी। जन-साधारण का सम्मिलित योग उसे प्राप्त ही नही हो सकता। ऐसे सार्वजनिक सहयोग के अभाव में वह अपनी लक्ष्य-सिद्धि मे सफलता कदापि नही पा सकती।

बडे आश्चर्य की बात है कि इस प्रत्यक्ष आवश्यकता को समझने मे हमारे राष्ट्र-नेताओ को आवश्यकता से अधिक देर लग गई। काग्रेस की उमर पचास वर्षों की हो चुकी है। इतने दिनो के बाद भी हम ऐसा नही कह सकते कि इस राष्ट्रीय सस्था की कार्रवाई राष्ट्र-भाषा में होती है। अँगरेजी का प्रभाव अभी भी अधिकाश मे विद्यमान है। अपने को राष्ट्र-प्रेमी समझनेवाले भिन्न-भिन्न प्रान्तो के नेता काग्रेस के सभा-मच पर अपना भाषण अँगरेजी मे ही देते है। जब उनसे यह कहा जाता है कि आप अपना भाषण हिन्दी मे करे, तो वे खुलकर यह जवाब दे देते है कि हिन्दी नही आती। कुछ लोग जब हिन्दी ही मे वक्तव्य आरम्भ करते है तो बहुत-से प्रतिनिधि 'अँगरेजी, अँगरेजी' कह कर चिल्लाते है। गाधी जी को ऐसा अनुभव कई बार होता है। गत पन्द्रह वर्षो से प्रान्तीय नेताओ तथा कार्य-कर्त्ताओ से वे लगातार हिन्दी सीखने की प्रेरणा करते

आ रहे है। परन्तु इस महत्त्व-पूर्ण आग्रह पर जैसा लोगो को ध्यान देना चाहिए, वैसा अभी तक नही दिया गया। फिर भी राष्ट्रीय सभा-मच मे अब हिन्दी के भाषण कर्णगोचर होने लगे है। परन्तु प्रस्ताव तो अभी भी अँगरेजी में ही लिखे जाते है। कांग्रेस-सभापति के भाषण अभी भी मौलिक रूप से अँगरेजी मे ही लिखे जाते है, पर अब उसके हिन्दी-अनुवाद भी प्रतिनिधियो के बीच वितरित किये जाते है। जो लोग अपने भाषण मे हिन्दी बोल भी लेते है, उनकी शैली से प्रतीत होता है कि वे अँगरेजी वाक्यो का अनुवाद ही कर रहे है। अँगरेजी भाषण मे एक भी व्याकरण की ग़लती बड़ी गहर्य मानी जाती है। लेकिन हिन्दी बोलते हुए यदि प्रत्येक वाक्य में ऐसी चूक हुई, तो न तो बोलनेवाले उसकी परवाह करते, न सुननेवालो का ही ध्यान ऐसी भूलो की ओर आकृष्ट होता। अँगरेजी की एक भी भूल असम्य है, लज्जाजनक है, पर हिन्दी मे ऐसे सैकड़ो खून भी माफ हो जाते है। हिन्दुस्थानी स्वभाव की इस उपहास-जनक विचित्रता को देखकर दिल में बड़ा तरस आता है। यह एक ऐसी शोचनीय हीनता है, जो गुलामी के साथ आती है और उसी के साथ जाती भी है। वह दासता की सहचरी है।

राष्ट्रीय महासभा के बाहर यदि हम समूचे देश पर दृष्टिपात करें, तो राष्ट्रभाषा के प्रति वही अनास्था दिखाई देती है। हिन्दुस्थान के शिक्षित विद्वान् अधिकाश में अपने अच्छे से अच्छे ग्रंथ अँगरेजी में ही लिखने के अभ्यासी है। कदाचित् वे समझते है कि हिन्दुस्थान की कोई भी भाषा ऊँचे विचारो के लिए बनाई ही नही गई। उनके मतानुसार हिन्दुस्थानी भाषाओं मे हम केवल शाक-भाजी ही खरीद सकते है या अपने घर की स्त्रियों से नमक-तेल और लकडी के विषय में कुछ सम्भाषण कर सकते है। हिन्दुस्थान का शिक्षित आदमी जब कभी लाचारी से अपनी मातृ-भाषा मे बाते भी करता है, तो वह बीच बीच मे अँगरेजी-शब्दो का ऐसा अनावश्यक और परिहास-जनक उपयोग किया करता है कि केवल

हिन्दुस्थानी जाननेवाला उसे नही समझ सकता। प्रतिक्षण जलने और बुझनेवाली बिजली की रोशनी जैसे द्रष्टा की आँखो में चकाचौंध उत्पन्न करती है, ठीक उसी प्रकार अँगरेजीदाँ लोगो की हिन्दी-अँगरेजी मिली हुई, 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली भाषा केवल हिन्दुस्थानी जाननेवालो के प्रज्ञाचक्षु के सामने कभी प्रकाश और कभी अन्धकार का जलवा दिखाकर उनकी बुद्धि को चक्कर में डाल देती है। वह भाषा न तो जमीन की होती है, न आसमान की। ऐसी भाषा बोलनेवाले न तो अच्छी तरह अँगरेज़ी जानते न हिन्दुस्थानी। उनसे यदि यह कहा जाय कि अच्छा साहब, 'आप हिन्दुस्थानी नही जानते, खैर अँगरेजी ही मे बोलिए,' तो भी उन्हे बगलें झाँकनी पडती है। यही हालत हमारे अधिकाश अँगरेज़ी पढे-लिखे लोगो की है।

कुछ थोडे से लोग ही इस विदेशी भाषा मे योग्यता-पूर्वक लिख-बोल सकते है। परन्तु वे अपनी मातृभाषा मे बिलकुल सन्यास ले चुके है। ऐसे ही सुपठित लोगो ने अपने अच्छे अच्छे ग्रथ अँगरेज़ी मे लिखे है। हिन्दुस्थानी शिक्षितो के अभी सैकडो ऐसे ग्रथ अँगरेजी में विद्यमान है, जिनका किसी भी भाषा में अभी तक अनुवाद नही हुआ है। ऐसे ग्रथ रहते हुए भी भारतीय जन-समाज के लिए नही के बराबर है। आश्चर्य की बात तो यह है कि राष्ट्र के जन-समाज को जाग्रत् करने के अभिप्राय से लिखित बहुत-सा राष्ट्रीय साहित्य अँगरेजी ही मे विद्यमान है। ऐसी पुस्तको को लिखते समय लेखको की बुद्धि न जाने कहाँ चम्पत हो गई थी, जो उनकी सूझ में इतनी मोटी बात भी न आई। आज वे ग्रथ जहाँ के तहाँ पड़े हुए है। पुस्तकालयो में उनके पन्ने अभी जुटे हुए पाये जाते है। छापेखानेवालो की यह भूल कई ऐसे ग्रथो मे कदाचित् उनके जीर्ण-शीर्ण होते तक बनी रहेगी। क्यो न रहे, जब ग्रथकार ने ही ऐसी बेढगी भूल पहिले से ही कर डाली है। अँगरेज़ी शिक्षितो मे कई लोग तो विदेशी भाषा के दामन में ऐसी बुरी तरह से उलझे हुए है कि वे लेखो और ग्रथो की तो बात क्या, कविता भी अँगरेज़ी मे किया करते

है, मानो अँगरेजी का ज्ञान उन्हे माता की गोद ही से मिला हो। कोई विचार तो करे कि एक आदमी दूसरे देश की जबान में हृदय की भाषा क्या खाक लिख सकेगा! लेकिन फिर भी ऐसे कवियो को आत्म-गौरव-भावना का अनुभव अँगरेजी तुकबन्दी में ही होता है, किसी हिन्दुस्थानी भाषा में नही। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान प्रचुर प्रतिभा-सम्पन्न कवि तो अपनी मूल कविता मातृभाषा ही मे लिखते है, परन्तु कई साधारण कोटि की रचना करनेवाले अँगरेजी ही मे आत्म-प्रकाशन करना उचित समझते है। हमारे इस पराधीन देश में परतन्त्रता-प्रसूत आत्म-विस्मृति इतनी बढ चुकी है कि किसान और मजदूरो के बीच जाग्रति फैलाने का दम भरनेवाले साम्यवादी नौजवान भी अपने कई समाचार-पत्र अथवा अन्यान्य वक्तव्य अँगरेजी में ही निकालते है। अँगरेजी समाचार-पत्रो की सख्या अँगरेजी समझनेवालो के मान से बहुत कम होनी चाहिए। परन्तु बात बिलकुल उलटी दिखाई देती है, उन्ही की सख्या अनुपात से अधिक है और हिन्दुस्थान की प्रान्तीय भाषाओ में आवश्यकता से बहुत कम पत्र निकलते है। आश्चर्य की बात तो यह है कि 'फ्री प्रेस जर्नल', 'बाम्बे क्रानिकल' तथा 'अमृत बाजार पत्रिका' की प्रतिष्ठा, प्रचार तथा योग्यता का एक भी पत्र हिन्दी मे नही है। प्रचार के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कई प्रान्तो के लोग हिन्दी नही जानते और अँगरेजी पढनेवाले हिन्दुस्तानी सभी प्रान्तो में पाये जाते है। सो तो ठीक ही है, पर इसी परिस्थिति पर ही तो हम खेद-प्रकाश कर रहे है। म्युनिसिपैल्टी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सरीखी स्थानिक स्वराज्य-सस्था की मूर्खता तो यहाँ तक बढी चढी है कि वे सडको के नाम तथा भय-स्थल-सूचक 'काशन' अँगरेजी में ही लिखवाती है। सडको के नाम तो जगह-जगह लिखे हुए है, फिर भी अधिकाश हिन्दुस्थानी गुमराह हो जाते है। क्यो न हो, जब उनके लिखवानेवाले ही गुमराह हो रहे है।

राष्ट्र-भाषा के प्रति देश में जो सार्वजनिक अनास्था दिखाई दे रही

है, उसकी आलोचना करते हुए हम व्यावहारिक कठिनाइयो की ओर दुर्लक्ष करना नही चाहते। हम इस बात को मानते हैं कि जिस देश के प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न भाषायें बोली जाती है, वहाँ किसी एक भाषा का सार्वभौमिक प्रचार होना दस-पाँच वर्षो का काम नही है। उसके लिए समय की जरूरत है। परन्तु यह एक ऐसी दलील है जो हिन्दुस्थान के किसान, मजदूर तथा मध्यमवर्गीय सर्वसाधारण लोगो के सम्बन्ध मे दी जा सकती है। हम तो उन शिक्षित राष्ट्र-सेवको के सम्बन्ध मे कह रहे है, जिन्हे देश के लिए एक राष्ट्र-भाषा की अनिवार्यता का पूरा पूरा ज्ञान है। ऐसे लोग यदि आज हिन्दी सीखने का सकल्प कर लें, तो आज से अधिक से अधिक पाँच वर्षो के बाद काग्रेस के सभा-मच पर से एक भी अँगरेजी का भाषण सुनने मे न आवे और एक भी प्रतिनिधि 'अँगरेजी' कह कर अपने स्थान से न चिल्लावे। ध्यान रहे कि हिन्दुस्थानी पराई भाषा सीखने मे तथा विदेशी भाषाओ का बाकायदा ठीक ठीक उच्चारण करने में बडा दक्ष होता है। यह योग्यता केवल हिन्दुस्थानी आदमी में ही पाई जाती है। अभी अँगरेजी राज्य को इस देश में बहुत दिन नही हुए, फिर भी अँगरेजी मे लिखने और बोलने की तथा शुद्ध उच्चारण करने की अच्छी से अच्छी योग्यता रखनेवाले हिन्दुस्थानी हर जिले मे अनेकानेक मिलेंगे। उनमे से फी सदी पचास तो अँगरेजो के भी दाँत खट्टे कर सकते है। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के समान प्रभावशाली वक्ता तो ब्रिटिश साम्राज्य मे भी दो-चार ही निकलेंगे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान अपने ढग की नई मौलिक और मनोहर अँगरेजी लिखनेवाला तो एक शेक्सपियर ही था, परन्तु इस प्रयत्न में उसने व्याकरण की अवहेलना की थी। स्वामी विवेकानन्द का अँगरेजी भाषण सुनकर अमेरिका के शिक्षितो ने कहा था कि स्वामी जी को अँगरेजी में बोलने का दैवी अधिकार प्राप्त है। महात्मा गाधी जैसी सादी, सुडौल और मुहाविरेदार अँगरेजी लिख सकते है, वह अँगरेजो के लिए भी ईर्ष्याजनक है। इतने तो बड़े लोगो के नाम

हुए, और भी दर्जनों ऐसे नाम गिनाये जा सकते है। सर्वसाधारण लोगो में यदि देखना चाहे, तो मद्रास-प्रान्त में मामूली पढे-लिखे लोग भी अँगरेजी ऐसी चपलतापूर्वक बोल सकते है, मानो भूने हुए चने चबा रहे हो। बगाली भी थोडी-सी गोलाई के साथ बडे मार्के की अँगरेजी बोल जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दुस्थानी आदमी विदेशी भाषा को जिह्वागत करने में स्वभावत बडा कुशल होता है। ऐसी हालत मे कोई क्योकर माने कि एक मद्रासी गुजराती अथवा बगाली को हिन्दी सीखने में अडचन होती है, अथवा होगी। हिन्दी सीखना तो उनसे चलते-फिरते हो सकता है। पर अभी तक ऐसा नहीं हो सका। इसका कारण भिन्न-भिन्न प्रान्त के शिक्षित लोगो की असमर्थता नही, अपितु अनास्था-जनित असावधानी है। महात्मा जी ने काग्रेस के प्रतिनिधियो मे न जाने कितनी बार ऐसे कटाक्ष इस सम्बन्ध में किये है। परन्तु कार्यकर्ताओ के ध्यान मे उनकी चेतावनी अभी तक अच्छी तरह नही चढ पाई।

हमें तो कुछ ऐसा प्रतीत हुआ है कि इस अनास्था के मूल मे प्रान्तीय सकीर्णता भी कुछ अपना काम कर रही है। इस देश में ऐसे राष्ट्र-भक्तो की कमी नही है, जो हिन्दुस्थान से तो प्यार करते है, पर हिन्दुस्थानी भाषा से सर्वथा विरक्त है। कदाचित् वे समझते है कि हिन्दी को अपनाने मे उन्हे अपनी प्रान्तीय भाषा की ओर दुर्लक्ष करना पडेगा। अँगरेजी को स्वीकार करके जितनी अवहेलना उन्होने अपनी प्रान्तीय भाषा के प्रति दिखाई है, उसकी उन्हें कोई शिकायत नही है, परन्तु राष्ट्र-भाषा हिन्दी से उन्हे संकोच है। बगाल के सम्बन्ध में ऐसा ही आक्षेप सुना जाता है। परन्तु हमारी राय में और भी ऐसे प्रान्त है, जो इस सकीर्णता से मुक्त नहीं है। यह स्थानीय सकीर्णता ही तो हमारी राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग में सारे विघ्न पैदा कर रही है। इस अनुदार भावना से मुक्त होना हमारे अच्छे से अच्छे राष्ट्र-नेताओ के लिए कठिन हो

रहा है। कई तो यह भी कहा करते है कि हिन्दुस्थान की अखिल राष्ट्रीय कार्रवाइयाँ पूर्ववत् अँगरेजी ही मे चलती रहे तो कोई हर्ज नही। ऐसे लोगो को समझ पर किसी भी स्वाभिमानी मनुष्य को तरस आवेगा। जब हम अपने नेताओ तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ की राष्ट्र-भाषा-सम्बन्धी इस अनास्था पर विचार करते है, तो एक बार हमारे हृदय में निराशा छा जाती है और हम सोचने लगते है कि हिन्दुस्थान का भविष्य अभी तो तिमिराच्छन्न है।

ऐसे अनुदार राष्ट्र-सेवको को अब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह वे विदेशियो की राजनैतिक प्रभुता से मुक्त होने को प्रयत्नवान् है, उसी तरह उन्हे विदेशी भाषा के मोहपाश से भी छूटना पडेगा। जिस प्रकार वे देश से विदेशी शासन का बहिष्कार करना चाहते है, उसी प्रकार उन्हे अपनी राष्ट्रीयमहासभा से भी विदेशी भाषा का सम्बन्धविच्छेद करना होगा। राष्ट्र-भाषा के बिना राष्ट्र-निर्माण करना चूना और सीमेण्ट के बिना ईंटो की पक्की दीवार खडी करने का प्रयास करना है। सार्वजनिक राष्ट्रभावना का ही दूसरा नाम राष्ट्रीयता है। ऐसी राष्ट्र-भावना राष्ट्रभाषा के बिना किसी भी प्रकार सक्रमणशील नही हो सकती। जब तक हमारे देश में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और अटक से लेकर कटक तक कोई भी एक देशी भाषा सार्वजनिक प्रसगो पर न बोली जावे और जब तक उसके द्वारा हमारे राष्ट्र-साहित्य का निर्माण न हो, तब तक भिन्न-भिन्न प्रान्तो के निवासी अभिन्न-हृदय नही हो सकते। भाषा और भावना के अभाव में भारत का जन-समाज प्रान्तीय सकीर्णता तथा तत्प्रेरित स्वार्थ-बुद्धि से मुक्त नही हो सकता। ऐसी दशा में राष्ट्र-निर्माण करने की आशा करना दोपहरी का स्वप्न देखना है। इस मूलगत और अनिवार्य आवश्यकता का ज्ञान जितनी जल्दी हमें हो जावे, उतना ही अच्छा है।

इस सम्बन्ध में यह बात अब विवाद से बिलकुल बाहर हो चुकी

है कि हिन्दुस्थान की प्रान्तीय भाषाओं में हिन्दी ही एक भाषा है जो हमारे राष्ट्रीय विचारों के आदान-प्रदान तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन हो सकती है। यही एक ऐसी भाषा है जिसे इस देश में अधिकांश लोग बोलते और समझ सकते हैं। लोकमान्य तिलक तथा देशबन्धु दास सरीखे नेताओं ने हिन्दी की राष्ट्रीय उपयोगिता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। आज भी ऐसा कोई प्रमुख नेता नहीं है, जो प्रकट रूप से इस बात का विरोध करे। हिन्दी की उपादेयता एक स्वयं-सिद्ध बात है। हिन्दुस्थान की नैसर्गिक भाषा हिन्दी ही है। इस बात को प्रायः सभी राष्ट्र-नेताओं ने स्वीकार किया है। परन्तु राष्ट्र-भाषा की अनिवार्यता को हृदयंगम करके उसके प्रचार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयत्नवान् होना महात्मा गांधी के हिस्से में ही आया है। शेष सब लोग या तो इस विषय पर उदासीन रहे, या इच्छा रहते हुए भी अकर्मण्य बने रहे। गांधी जी ही हिन्दुस्थान के सर्व-प्रथम राष्ट्रनेता हैं जो अपने नेतृत्व के प्रारम्भ ही से हमारी इस राष्ट्रीय त्रुटि को दूर करने में कटिबद्ध रहे हैं, जब से वे हिन्दुस्थान को दक्षिण-आफ्रिका से लौटे हैं, तभी से उनकी सर्वतोमुखी प्रज्ञा इस दिशा में काम कर रही है। अपनी इस सर्वांगीण और बद्धमूल राष्ट्रीयता का परिचय उन्होंने अपनी वेशभूषा तथा मातृभाषा-प्रेम के द्वारा उस दिन से देना शुरू किया है, जिस दिन वे दक्षिण-आफ्रिका से लौटे और उनके स्वागतार्थ बम्बई के गुजरातियों ने एक सभा निमंत्रित की। गुजरातियों की उस सभा में सभी भाषण अँगरेजी में ही हुए और उस बात की कृत्रिमता किसी को भी बुरी मालूम नहीं हुई। परन्तु जब गांधी जी की बारी आई तो उन्होंने अपना भाषण गुजराती ही में दिया। वे आत्मकथा में लिखते हैं —

"परन्तु जब मेरे बोलने का अवसर आया तब मैंने अपना जवाब गुजराती ही में दिया और गुजराती तथा हिन्दुस्थानी भाषाविषयक अपना पक्षपात मैंने वहाँ थोड़े शब्दों में प्रकट किया। इस प्रकार गुज-

दानियों की सभा में अँगरेजी भाषा के प्रयोग के प्रति मैंने अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया।"

किसी अच्छी बात को तात्कालिक आवेश में कहकर फिर भूल जानेवाले व्यक्ति गाधी जी नहीं है। उस समय उन्हे हिन्दी नहीं आती थी। अतएव उन्होंने हिन्दी सीखना उसी समय से शुरू कर दिया और सब से त्रुटियो की परवाह न करते हुए वे अपना सार्वजनिक भाषण यथासम्भव हिन्दी ही में देने लगे। काग्रेस के अधिवेशनो मे भी उन्होंने यही सिलसिला शुरू किया। जैसे जैसे उनके नेतृत्व की लोक-प्रियता बढती गई, वैसे वैसे उनका राष्ट्र-भाषा-प्रेम भी अधिक प्रभावशाली हो चला। फिर भी हमारे राष्ट्र-प्रेमियो की जडता इतनी प्रबल थी कि वर्षो तक उन्हें काग्रेस के अधिवेशनो मे अनिच्छा-पूर्वक अँगरेजी मे ही भाषण करना पडा। अँगरेजी के लिए विशेष आग्रह की आवाज उन्हे मदरासी प्रतिनिधियो से सुनाई देती थी। इस कठिनाई को उन्होंने अपनी दूरदर्शी दृष्टि से देखा, विचार किया और थोडे ही दिनो के बाद मद्रास-प्रान्त मे हिन्दी-प्रचार की एक योजना बनाई। वह योजना अमल में लाई गई और इतने थोडे समय के अन्दर उनके प्रयत्न का जो सत्परिणाम निकला, उसका सक्षिप्त विवरण उन्होंने इन्दौर-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से अपने भाषण में दिया है। हिन्दी-प्रचार-योजना की बदौलत आज मद्रास-प्रान्त में आठ लाख स्त्री-पुरुष हिंदी सीख रहे हैं। करीब अस्सी हजार लोग परीक्षा मे अब तक उत्तीर्ण हो चुके है। राष्ट्रभाषा की यह सार्वजनिक शिक्षा दो हजार केंद्रो मे दी जा रही है। करीब आठ सौ शिक्षक इस काम मे लगे हुए हैं। करीब आठ सौ कार्य-क्षेत्रो मे यह काम सपादित हो रहा है। बारह सौ आदमियो ने ग्रेजुएट की ऊँची डिग्री भी राष्ट्रभाषा में ले ली है। क़रीब दो सौ हाई स्कूलो में भी हिन्दी पढाई जा रही है। इस काम के लिए एक सौ बीस प्रचारक नियुक्त हैं और इसमें दस लाख रुपये खर्च हो चुके हैं।

मद्रास-प्रान्त का प्रयत्न तो महात्मा जी की बदौलत इस तरह सफलता के पथ पर आरूढ हो चुका है। उपर्युक्त आँकडो को जो देखेगा, उसके हृदय मे ऐसी ही आशा जाग्रत होती है। पर बगाल-प्रान्त में भी ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता है। यद्यपि बगालियो के लिए हिन्दी सीखना अपेक्षाकृत सरल है, तथापि उनकी अनास्था बहुत बडी है। उसका सामना हमारे प्रान्तीयता-मुक्त राष्ट्र-सेवको को कभी न कभी करना ही होगा। इन्दौर-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर जब स्वागत-समिति के अधिकारियो ने सभापति का पद स्वीकार करने के लिए गाधी जी से अनुरोध किया तो उन्होने हिन्दी-प्रचार के लिए दो लाख की माँग पेश की। अन्त में परिस्थिति को देखते हुए एक लाख की प्रतिज्ञा लेकर वे साहित्य-सम्मेलन में सभापति की हैसियत से दूसरी बार उपस्थित हुए। इन्दौर के ही साहित्य-सम्मेलन में वे एक बार और उसी पद को सुशोभित कर चुके थे। क्या ही अच्छा हो, यदि प्रतिज्ञानुसार प्राप्त होनेवाली रकम का उपयोग अब की बार बगाल में हिन्दी-प्रचार करने के प्रयत्न में किया जावे। मद्रास-प्रान्त को अब राष्ट्रभाषा-प्रेम की चाट लग चुकी है। अतएव अब वहाँ के देशभक्तो को चाहिए कि इस सम्बन्ध में वे स्वावलम्बी बनें और हिन्दी-प्रचार के लिए अब वे परमुखापेक्षी न रहे।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कोई बहुत पुरानी सस्था नहीं है। उसके वार्षिक अधिवेशन हुआ करते है। इस सस्था ने साहित्यिक अभिरुचि को सस्कृत एव जाग्रत करने में अच्छा प्रयत्न किया है। उसकी परीक्षा-योजना भी सफल हुई है। परन्तु उससे हिन्दी-भाषा-भाषियो में हिन्दी के द्वारा उच्च शिक्षा का ही प्रचार हुआ है, इतर प्रान्तो में हिन्दी-प्रचार की दिशा मे उससे कोई विशेष सहायता न मिल सकी। मिल भी नही सकती, क्योकि साधारण बोल-चाल की हिन्दी का प्रचार करना बिलकुल भिन्न कार्यक्रम है। सम्मेलन को चाहिए कि वह भी इस कार्य में गाधी जी की यथाशक्ति सहायता करे, अथवा स्वावलम्बन-

शील होकर उसी दिशा मे स्वतत्र रूप से अपना भी प्रयत्न जारी करे। यथार्थ में हिन्दी-प्रचार का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी सम्मेलन ही हो सकता है। वह कोई ऐसी योजना भी बनावे, जिससे मद्रास, बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात तथा आसाम सरीखे प्रान्तो मे हिन्दी के यदि दैनिक नही तो साप्ताहिक और साप्ताहिक नही तो पाक्षिक या मासिक हिन्दी-पत्र प्रकाशित किये जावे और उन पत्रो के अधिकाश लेखक प्रान्त के शिक्षित विद्वान् ही हो। हिन्दी-प्रचार के साथ यदि आत्म-प्रकाशन का यह योग शक्य हो सके, तो सिर्फ २५ वर्षो के अन्दर हिन्दी सर्वमान्य और सर्व-सुलभ राष्ट्रभाषा हो जावेगी, इस बात पर हमे जरा भी सदेह नही है।

गाधी जी अपने भाषणो में 'हिन्दी' के स्थान पर 'हिन्दुस्थानी' शब्द का उपयोग अकसर किया करते है। इस सम्बन्ध मे उनके विचारो का पूरा खुलासा अभी नही हो पाया। कभी-कभी वे तुलसीदास की रामायण का हवाला देकर हिन्दुस्थानी भाषा का आदर्श प्रस्तुत किया करते है। इससे लोगो को और भी भ्रम हो जाता है। आजकल जिस बोली को हम हिन्दुस्थानी कह सकते हैं, उसका प्रयोग रामायण में नही मिलेगा। साधारण उर्दू या फारसी शब्दो से मिली हुई जो बोलचाल की हिन्दी है, उसी को हम हिन्दुस्थानी कह सकते है। ऐसी भाषा का प्रयोग उत्तर-हिन्दुस्थान तथा मध्य-प्रान्त के सर्वसाधारण लोग किया करते हैं। इसमें सदेह नही कि उसका उपयोग सार्वजनिक सभाओ में, सडको तथा बाजारू लेन-देन में अच्छी तरह हो सकता है और आगे चल कर यही भाषा देश भर मे सर्व-सुलभ और बोध-गम्य हो सकेगी। परन्तु ध्यान रहे कि ऐसी हिन्दुस्थानी से हमारे राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण नही हो सकता। किस्से-कहानियो मे तथा साधारण सभाषण मे मामूली शब्दो से काम निकल सकता है; परन्तु जैसे जैसे हमारे विचार सूक्ष्म और गम्भीर होते जाते है, वैसे वैसे हिन्दुस्थानी के शब्द छूटते जाते है और हमें साहित्यिक रचना का आश्रय लेना पडता है। व्यावहारिक

राजनीति की चर्चा हम सम्भवत हिन्दुस्तानी भाषा मे कर सकें, परन्तु जब हमें उसी विषय पर गाम्भीर्य दृष्टि से विचार करना पडेगा तो फिर पारिभाषिक (Technical) शब्दो के लिए संस्कृत की ही शरण लेनी पडेगी। भिन्न-भिन्न विषयो के गहन शास्त्रीय विवेचन मे हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग सम्भव नही। उसके लिए हमें ऊँची साहित्यिक हिन्दी की ही आवश्यकता होगी। ऐसी हिन्दी मे संस्कृत के शब्दो का ही बाहुल्य अनिवार्य होगा। इसी भाषा मे हमारे राष्ट्रीय साहित्य की रचना हो सकती है।

उर्दू और हिन्दी का झगडा व्यर्थ है। उर्दू एक लश्करी भाषा है। जब फौजी छावनियो में रहनेवाले मुग़ल सिपाहियो ने हिन्दी बोलने का प्रयत्न किया, तो उसकी विभक्तियो तथा क्रिया के रूपो के साथ वे स्वभावत फारसी शब्दो का उपयोग करने लगे। इस तरह उर्दू-भाषा बन गई। यही भाषा मुग़लो के शाही दरबारो में भी प्रचलित हुई और आगे चल कर उस जमाने की शाइस्ता ज़बान मानी गई। इस फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी मे कुछ गद्य तथा पद्य भी लिखे गये, परन्तु उसके द्वारा उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण अभी तक न हो सका। जिसे आजकल हम उर्दू कहते है, वह यही भाषा है और अपेक्षाकृत हिन्दी-साहित्य से बहुत हीन है। इसके सरक्षक विशेष कर हिन्दुस्तानी मुसलमान ही है और उनमें शिक्षा-दीक्षा तथा विद्वत्ता की बहुत कमी है। इस कारण मामूली मुहब्बती ग़ज़लो तथा क़िस्से-कहानियो के सिवाय उर्दू में गम्भीर और शास्त्रीय साहित्य की रचना अभी तक नही हो पाई, वर्तमान युग में राजनीति तथा इतर विषयो की शास्त्रीय चर्चा करने के प्रयत्न में हिन्दुस्तानी मुसलमान कठिन और दुर्बोध फ़ारसी शब्दो का उपयोग किया करते है। 'असहयोग' न कहकर वे 'तर्कमवालात' कहा करते है। जहाँ कही उन्हें राजनीति शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो के लिए फ़ारसी में पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते या उनके बनाने में कठिनाइयो की प्रतीति होती है, वहाँ वे ठेठ अँगरेज़ी शब्दो का ही प्रयोग

किया करते है। आजकल के उर्दू-समाचार-पत्रो मे हमारे इस कथन का प्रमाण पाठको को अनायास ही जगह जगह मिल सकेगा।

तात्पर्य यह कि ऊँचे साहित्यिक विचारो के प्रकाशन मे हिन्दुस्थान के मुसलमान लेखक फारसी शब्दो के अभाव मे अँगरेज़ी शब्दो का ही प्रयोग अधिक पसन्द करते है। शुद्ध हिन्दी के शब्द उन्हे मजूर नही। यदि ऐसा है, तो उनके सामने दो ही मार्ग है, या तो वे इधर-उधर के विदेशी शब्दो को बटोर कर अपना साहित्य अलग निर्माण करे। या हिन्दी के ऊँचे तत्सम पारिभाषिक शब्दो को स्वीकार करें। हिन्दुओ के लिए तो यह कभी सम्भव ही नही हो सकता कि वे अपने राजनैतिक साहित्य मे "असहयोग" के लिए "तर्कमवालात", पृथक् निर्वाचन के लिए "जुदागाना इतखाव", धारा-सभा के लिए "पार्लियामेण्ट" का प्रयोग करे। जिस सस्कृत की गोद मे हिन्दी का लालन-पालन तथा विकास हुआ है उसका शब्द-भाण्डार अक्षय है। ऐसा कोई पारिभाषिक शब्द नही, ऐसा कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म और गम्भीर से गम्भीर विचार नही, जो इस देव-वाणी मे अनायास प्रकाशित नही हो सकता। नये जमाने के नये विचारो को प्रदर्शित करने के लिए नये शब्दों के निर्माण करने की भी उसमें अप्रतिम क्षमता है। ऐसी सक्षम और सम्पत्तिशाली भाषा का अवलम्ब हिन्दी को सहज ही प्राप्त है। अतएव इस देश का हिन्दू-समाज अपने भावी साहित्य के निर्माण मे सस्कृत की नैसर्गिक छत्रच्छाया से बाहर नही जा सकता। हिन्दुस्थान का राष्ट्र-साहित्य सस्कृतावलम्बी विशुद्ध हिन्दी के द्वारा ही सभव है। इस देश के मुसलमान या तो इस भाषा को अपनावें या अपने साहित्य का निर्माण वे फारसी-अँगरेज़ी-मिश्रित उर्दू मे अलग करें। तीसरा कोई मार्ग नही है। पर हाँ, इतनी बात मानने लायक है कि आम सडको पर, बाजारो में तथा सार्वजनिक सभा-मचो पर वे ऐसी हिन्दी का प्रयोग कर सकते है, जिससे साधारण तथा प्रचलित और सुबोध फारसी-शब्दो का प्रयोग हो। कदाचित्

इसी भाषा को गाधी जी हिन्दुस्थानी कहते है। इसे हिन्दी कहने मे भी किसी को कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए, क्योकि प्रगतिमान् हिन्दी के रूप मे अभी बहुत कुछ परिवर्तन होना है। भविष्य मे न जाने कितने प्रान्तीय शब्दो का मेल हिन्दी मे होगा, कुछ कह नही सकते। अभी तो बोलचाल की हिन्दी में केवल फारसी के ही शब्द है। आगे चलकर जब भिन्न-भिन्न हिन्दुस्थानी प्रान्तो के लोग हिन्दी में लिखने-बोलने लगेंगे, तो वे अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओ के कई शब्द भेंट करेंगे। राष्ट्र-भाषा होने का दावा करनेवाली हिन्दी को उदारता-पूर्वक उन भेंटो को स्वीकार करना पडेगा और अपनी प्रतिभा की मुहर-छाप लगाकर उन्हे आत्मसात् करना होगा। वह भाषा आज की हिन्दी से कुछ और होगी।

इसमें सदेह नही कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। जिसे पैंतीस करोड भारत-निवासियो की मातृभाषा होने का अधिकार प्राप्त हो, उसका भावी उत्कर्ष बिलकुल निश्चित ही है। हिन्दुस्थानियो के समान सभ्यताभिमानी और बुद्धिबल-सम्पन्न विद्वानो की सेवा से जिसकी काया अलकृत होगी, वह इस पृथ्वी पर सुदूरवर्ती विदेशियो के लिए भी सीखने-समझने योग्य एक प्रभावशालिनी भाषा होगी, इसमें सन्देह ही क्या है। उसका अन्तिम अवलम्ब ही एक ऐसी प्राचीन भाषा पर है, जिसका पुराना साहित्य आज अँगरेजी के समान प्रगतिमान् साहित्य के लिए भी ईर्ष्याजनक है। ऐसी सामर्थ्यवती माता की पुत्री और ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न पुत्रो की माता होकर भावी अन्तर्राष्ट्रीय सभाओ मे स्वतत्र भारत की समृद्धिशालिनी राष्ट्रभाषा हिन्दी ऊँची से ऊँची प्रतिष्ठा का पद प्राप्त करेगी; इस बात पर किसी को कुछ भी सन्देह नही होना चाहिए।

महात्मा जी की सुदूरदर्शी आँखो के सामने हमारी राष्ट्र-भाषा का यह प्रकाशमान भविष्य दिखलाई दे रहा है। वे समझते है कि

जिस तरह सार्वभौमिक राष्ट्रभावना के विना राष्ट्रीयता असम्भव है, उसी तरह देश-व्यापी राष्ट्रभाषा के विना राष्ट्र-भावना भी सम्भव नहीं। वे यह भी समझते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषा का पद हिन्दी को ही प्राप्त हो सकता है। यही धारणा अधिकांश राष्ट्र-नेताओं की भी है। अतएव हिन्दुस्थान के प्रान्तीय विद्वानों को चाहिए कि वे हिन्दी-प्रचार में जी खोलकर सहायक हों। हिन्दी से तथा प्रान्तीय भाषाओं से कोई स्वार्थ-विरोध नहीं है। कुछ दक्षिणी भाषाओं को छोडकर हिन्दी और इतर प्रान्तीय भाषाओं में लिपि के रूप (वैज्ञानिक क्रम नहीं) तथा विभक्तियों और क्रिया के रूपों के सिवाय अन्तर ही क्या है? सभी तो एक ही माता संस्कृत की पुत्रियाँ हैं और सगी बहनें हैं। अपने अपने घरों में वे कुछ प्रान्तीय और तद्भव शब्दों का उपयोग जरूर करती हैं, परन्तु धार्मिक तथा शास्त्रीय चर्चा करने के लिए वे अपनी विचार-सम्पत्ति तथा शाब्दिक सहायता माँगने संस्कृत माता के पास ही दौडी जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक ही गर्भ से निकली हुई और एक ही गोद में पली हुई हिन्दुस्थान की प्रान्तीय भाषाओं में ईर्ष्या और वैमनस्य की गुंजाइश ही नहीं। हिन्दी उन सबकी बडी बहन है और इतर बहनों की अपेक्षा रूप-रंग (लिपि) में अपनी माता से अधिक मिलती-जुलती है।

इसलिए वह औरों से विशेष आदर और प्रतिष्ठा की पात्र है। हिन्दी अपनी प्रान्तीय बहनों से इससे अधिक कुछ भी नहीं चाहती। उसका अधिकार-सम्मत आग्रह है कि इस देश का प्रत्येक मद्रासी, प्रत्येक बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय, आसामी तथा सिंधी हिन्दुस्थानी उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार करे और अपनी प्रान्तीय भाषा के साथ साथ उसे भी सीखे। हिन्दी का यह न्याय-सम्मत तकाजा है कि हिन्दुस्थानी प्रान्तों के विद्वान् अपने राष्ट्र-साहित्य की रचना हिन्दी में ही करें और राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशनों में उसके जन्म-सिद्ध अधिकार से उसे अधिक दिनों तक वंचित न रक्खें। बहुत हो चुका,

अब वे विदेशी भाषा की उपहासजनक और बनावटी परतन्त्रता से अपनी बुद्धि और हृदय को मुक्त करें और ऐसा करते हुए राजनैतिक स्वराज्य के साथ साथ भाषा तथा साहित्य का स्वराज्य भी प्राप्त करें। हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता के मार्ग में अंगरेज़ विरोधी हैं, परन्तु साहित्य-स्वराज्य के पथ पर विरोध पैदा करनेवाली शक्ति स्वय हिन्दुस्थानियो की ही नासमझी है। इसी नासमझी को दूर करने के प्रयत्न मे महात्मा गाधी जी जी-जान से लगे हुए हैं और वे हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हरिश्चन्द्र के शब्दो मे ऊर्ध्व-बाहु होकर उच्च स्वर से मानो कह रहे है कि प्यारे भारतीयो —

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥

यह उपदेश जब तक हमें हृदयगम न होगा, तब तक हमारे हृदय का शूल मिटने का नहीं।

अध्याय १९

हिन्दू और मुसलमान

इस देश की राष्ट्रीय समस्या बहुत ही जटिल है। उसे सुलझाने में न जाने कितने महात्माओ का दिमाग खप जावेगा। सदियो की परतन्त्रता, जातीय स्वाभिमान का अभाव, सार्वजनिक अकर्मण्यता और साम्प्रदायिक विग्रह के सयुक्त दुष्परिणाम से हिन्दुस्थान इतना शिथिल और परावलम्बन-शील हो चुका है कि उसके दुर्दिनो का दूसरा छोर अभी दृष्टिगोचर ही नही होता। इसमे सन्देह नही कि यह देश जितना बडा है, कदाचित् उससे भी बडे बडे उसके सामने प्रश्न है। इस प्रकरण में हमे साम्प्रदायिक विग्रह के स्वरूप पर ही विचार करना है। इतर विषयो पर तो हम अन्यान्य अध्यायो मे कुछ विचार कर ही चुके है।

हिन्दुस्थान के हिन्दू और मुसलमान अपनी साम्प्रदायिक कलह-शीलता के लिए दुनिया में मशहूर है। इस पृथ्वी के और भी कई देशो में मुसलमान रहते है। धार्मिक-कट्टरता उनकी सहज, स्वभाव-सिद्ध जातीय विशेषता है। फिर भी वे इतर देशो मे कुछ उदारता से काम लेने के अभ्यासी हो चुके है और अन्यान्य सम्प्रदाय के लोगो से मिलकर रहना सीख चुके है। टर्की और ईरान सरीखे देशो में जहाँ उन्ही की आबादी है, वे अपने सम्पर्क में रहनेवाले पर-धर्मावलम्बियो का सम्मान करना जानते है। टर्की के मुसलमान तो धर्मांधता के जटिल बन्धन से करीब करीब मुक्त हो चुके है। कुरान-प्रतिपादित धर्म को वे धीरे-धीरे वैज्ञानिक रूप देकर यूरोप की ईसाई-सस्कृति से दीक्षित हो रहे है। जिन लोगो के मध्य उन्हे रहना है, उन्ही की रीति-नीति का अवलम्बन करना उनके लिए अनिवार्य हो रहा है। अतएव कमालपाशा

के नेतृत्व ने टर्की के बाह्यान्तर जीवन में बड़ी काया-पलट कर दी है। अपनी धर्मान्धता की बदौलत इतर देशों के मुसलमान अभी प्रगतिशील ससार से कई सदी पीछे पड़े हुए है। उनके आतङ्क का इतिहास तो केवल निर्जीव पृष्ठो में ही पढने को मिलता है। उनका वर्तमान जीवन बिलकुल प्रगति-शून्य और निराशा-जनक है। फिर भी वे हिन्दुस्थान के मुसलमानो से बेहतर है, जमाने का रुख पहचानते है और समझने लगे है कि ज्ञान और विज्ञान दोनो के सम्मिलित योग से ही उनका उत्थान सम्भव है। राष्ट्रीय भावना भी उनमें जाग्रत है और वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल अपनी विचार-धारा बदलने की आवश्यकता उन्हे प्रतीत हो रही है।

परन्तु हिन्दुस्थान के मुसलमान मुसलमानो में सबसे निकृष्ट और गये बीते है। विद्या-बुद्धि के अभाव और आर्थिक दुरवस्था में पड़कर उनकी कर्त्तव्याकर्त्तव्य-बुद्धि बिलकुल खो गई है। कदाचित् उनके पास वह कभी थी ही नही। यो तो समूचे हिन्दुस्थान में शिक्षा का अभाव ही है, पर मुसलमान अज्ञान की तमिस्रा मे और भी अधिक भटक रहे है। उन्हे अपने धर्म का अभिमान तो है, पर उसी अनुपात मे ज्ञान बहुत कम है। कुछ थोड़े से मौलवी-मुल्लाओ के उपदेश और फतवे ही उनकी धार्मिकता के मूलाधार है। कुरान का पाठ करना प्रत्येक मुसलमान के लिए अनिवार्य है; पर कुरान की भाषा उनकी समझ के बिलकुल परे है। आधे से अधिक मुसलमान तो ठीक ठीक उर्दू भी नहीं बोल सकते, अरबी समझने की बात ही और है। बगाल, मद्रास, गुजरात और सिंध के मुसलमान अपनी प्रान्तीय भाषाओ से ही काम चलाते है। कुरान की विदेशी भाषा और स्वतत्र विचार-शक्ति का अशिक्षा-मूलक अभाव—इन दोनो कठिनाइयो के कारण वे थोड़े से मौलवी तथा मुल्लाओ के प्रभाव से मुक्त हो ही नही सकते। उनकी यह बेकसी उनके साम्प्रदायिक उत्थान में बड़ी बाधक हो रही है। इसी कारण उनका निकटवर्ती भविष्य बहुत उज्ज्वल नही दिखाई देता। हम ईश्वर

से प्रार्थी हूँ कि वह उन्हे सद्बुद्धि देकर राहेरास्त पर बहुत जल्दी लावे।

इस देश के निवासी यदि केवल हिन्दू या केवल मुसलमान ही होते, तो यहाँ अँगरेजो का शासन डेढ सौ वर्षो तक तो क्या, डेढ दिन भी नही टिक सकता। परन्तु परिस्थिति की लाचारी ऐसी है कि पैंतीस करोड हिन्दुस्थानियो पर मुट्ठी भर अँगरेज इतने दिनो तक शासन करते चले आये हैं। इसमें सन्देह नही कि मनुष्य-जाति के इतिहास में यह एक महान् आश्चर्यजनक घटना है। परन्तु फिर भी विस्मय की कोई बात नही। यह सघ-शक्ति का जमाना है। लोगो के पारस्परिक स्नेहाकर्षण में ही परमेश्वर का निवास है।—"सघे शक्ति कलौ युगे" और पूर्ण स्वातन्त्र्य ही परमेश्वर का दूसरा नाम है। अच्छी बटी हुई पतली से पतली रस्सी घास के बडे गट्ठे को बाँध लेती है और वह भी इस मजबूती के साथ कि एक तिनका भी इधर से उधर नही हो सकता। पैंतीस करोड हिन्दुस्थानी घास के ढीलम-ढाले पूले के समान है। और इसी कारण वे थोडे से सुसगठित विदेशियो की शक्ति से सम्बद्ध और शासित हो रहे है। भारतीयो की पराधीनता का प्रधान कारण हिन्दू और मुसलमानो का साम्प्रदायिक विग्रह है। इस विग्रह के मूल में दोनो की सास्कृतिक विषमता तो है ही, पर और भी कुछ ऐसे कारण है जिन्हे हम कृत्रिम अथवा बनावटी कह सकते है। इनकी बदौलत मुसलमानो की मनोवृत्ति बहुत दूषित हो गई है। उनके इस मानसिक दूषण ने ही हमारे राष्ट्रीय उत्थान के मार्ग मे दुर्दमनीय दुर्दैव का रूप धारण कर लिया है।

सबसे पहला कारण तो मुसलमानो की साम्प्रदायिक महत्त्वाकाक्षा है। अपनी वर्तमान सामर्थ्यहीनता से वे दुखी तो नही होते, पर अपने पूर्व वैभव के स्मरण से वे शान पर जरूर चढे रहते है। उनका आत्म-विश्वास कदाचित् उनसे कहता हो कि जिस तरह उन्होंने पिछले जमाने मे हिन्दुस्थान पर राज्य किया है, उसी तरह उनक

आधिपत्य भविष्य मे भी सम्भव है। इस देश में मुस्लिम आधिपत्य की सम्भावना की ओर सकेत करते हुए किसी भले अँगरेज़ ने कहा था कि यदि कुस्तुन्तुनिया से लेकर दिल्ली तक एक सीधी लकीर खीची जावे, तो टर्की से लेकर सहारनपुर तक लगातार मुसलमानो की वस्ती ही नज़र आती है। कदाचित् ऐसा ही कुछ सोच-समझ कर हिन्दुस्थान के मुस्लिम नेता २८ करोड हिन्दुओ के वीच रहकर भी उनसे भाई-चारे का नाता जोडना अनावश्यक समझते है। मुसलमानो की यह अनुचित महत्त्वाकाक्षा हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में वाधक तो है ही, पर स्वय उनके साम्प्रदायिक स्वार्थ का भी जवर्दस्त विरोधी है। है तो सही, लेकिन यह वात अभी उनकी समझ में आने की नही। दूरदर्शिता की दिल्ली अभी उनके लिए वहुत दूर है।

मुसलमानो की यह निर्मूल अहभावना ही हमारे राष्ट्र-निर्माण के पथ में काफी अड़चन पैदा कर सकती थी। लेकिन इस भावना को ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की कूट-नीति से और भी अधिक उत्तेजना मिल रही है। अँगरेज़ लोग इस वात को अच्छी तरह जानते है कि हिन्दुओ का हृदय उनके कब्ज़े से वाहर है। वे यह भी जानते है कि आज तक इस देश में स्वतत्रता के लिए जितना आन्दोलन हुआ है उसके सूत्रधार और सचालक हिन्दू-नेता ही होते आये है। स्वराज्य की वलि-वेदी पर अधिक से अधिक आत्म-समर्पण हिन्दुओ ने ही किया है, क्योकि वे हिन्दुस्थान को अपना देश समझते है। अतएव हिन्दू जन-समाज से उनकी मैत्री असम्भव है। इसके सिवाय वे मुसलमानो की मनोवृत्ति से अच्छी तरह परिचित हो चुके है। अतएव उनकी राष्ट्रीय अनास्था, अशिक्षा-मूलक मानसिक दुरवस्था तथा साम्प्रदायिक महत्त्वाकांक्षा के आधार पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी सारी उम्मीदे वाँध रहे है। लार्ड मिण्टो के ज़माने से उनकी यह कूटनीति प्रकट रूप से अमल में लाई जा रही है। मुसलमान इस नीति की अनिष्टकारी उलझन में दिनो-

दिन फँसते जा रहे हैं। मालूम नहीं, वे कब तक इस अदूरदर्शिता की दलदल में पड़े रहेंगे।

परन्तु उनकी नासमझी का त्रिदोष उपर्युक्त दो कारणो से ही पूरा नही होता। एक तीसरा सबब और भी है और उसके जवाबदार हमारे राष्ट्रीय नेता ही है। मुसलमानो की अनुचित महत्त्वाकाक्षा को ब्रिटिश कूटनीति ने जो उत्तेजना दी है, वह एक ऐसी चाल है जो समझ-बूझ कर चली गई है। परन्तु इस देश के राष्ट्र-नेताओ ने मुसलमानो को ब्रिटिश नीति से विरक्त करने के लिए और अपने पक्ष में लाने के लिए मौके-बेमौके जो प्रलोभन दिया है, उससे मुस्लिम नेताओ की मनोदशा और भी बहुत बिगड गई है। जिस मनुष्य की महभावना स्वभावत. बढी-चढी हो, उसकी अनुचित प्रशसा और खुशामद करनेवाले यदि और लोग भी मिल जावे, तो उस आदमी का नैतिक पतन अवश्यम्भावी है। यही हालत हम लोगो ने मिलकर हिन्दुस्थान के मुसलमानो की कर दी है। स्वय अपने ही स्वभाव की बुराई से वे इतने लक्ष्य-भ्रष्ट न होते। पर एक तरफ ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ उनकी पीठ ठोक रहे है और दूसरी ओर भारत के राष्ट्रीय नेता उनकी खुशामद में लगे हुए है। इस दुतरफा लाड-प्यार का परिणाम मुस्लिम मनोवृत्ति के लिए बडा अनिष्टकारी हुआ है। मूर्ख माता-पिता के अबोध बच्चे जिस तरह लाडले होकर बिगड जाते है, उसी तरह इस देश के मुसलमान भी बिगड चुके है। वे भविष्य में किस तरह सुधर सकेंगे, इसका ठीक ठीक अनुमान करना जरा कठिन मालूम होता है।

इस देश के राष्ट्र-नेता अकसर कहा करते है कि हिन्दू-मुस्लिम-मेल के बिना स्वराज्य कभी सम्भव नही है। यह धारणा बिलकुल गलत है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नही है कि हिन्दू और मुसलमानो का स्नेह-सम्बन्ध उचित और आवश्यक भी है। परन्तु हम इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए मुसलमानो का सहयोग एकदम अनिवार्य है। क्या अट्ठाइस

करोड हिन्दुओ की सम्मिलित शक्ति बिलकुल बेकार जायगी? अट्ठाइस करोड तो क्या अट्ठाइस लाख हिन्दू यदि सगठित होकर स्वतन्त्रता के लिए तैयार हो जावें, तो एक सप्ताह के अन्दर ही स्वराज्य हस्तामलक हो जावेगा। अगर कोई यह कहे कि अट्ठाइस लाख हिन्दुओं का सगठित होना कठिन है, तो हम यह कहेंगे कि हिन्दू और मुसलमानो की साम्प्रदायिक मैत्री होना भी बिलकुल असम्भव है। यथार्थ में मुसलमानों को मित्रता हिन्दुओं को सगठन-शक्ति पर ही अवलम्बित है। हिन्दुओ मे राष्ट्रीय भावना अपेक्षाकृत बहुत जाग्रत हो चुकी है। कांग्रेस के पोषक, समर्थक और जन्मदाता हिन्दू ही है। हमारी यह राष्ट्रीय महासभा हिन्दुओ की ही बनाई हुई सस्था है। जब ऐसा जाग्रत जन-समाज स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक सगठन करने में सक्षम नही है और नहीं हो सकता, तो हमें ऐसा कहने में कुछ भी पसोपेश नहीं है कि हिन्दुस्थान को कभी आजादी मिल ही नही सकती। जो लोग राष्ट्रीय भावना-शून्य मुसलमानो से स्वराज्य-सग्राम में सहायता की आशा करते है, वे हिन्दू जन-समाज को हीनता परोक्ष-रूप मे स्वीकार करते है और इसी के साथ हमारी राष्ट्रीय समस्या को और भी विषम बना रहे हैं। राष्ट्र-भावना कोई ऐसी वैसी चीज नही है जो बात कहते जाग्रत हो जावे। जिन हिन्दुओ को यह धारणा है कि जननी जन्म-भूमि स्वर्ग से भी बढकर प्यारी है और जिनकी सख्या २८ करोड है, वे यदि अपनी जन्म-भूमि की आवश्यक सेवा के लिए कटिबद्ध नही हो सकते, तो उन मुसलमानो से जिनमें देश-प्रेम की बू-बास भी नही और जो अपनी भलाई और सगठन के लिए विदेशी मुसलमानो की ओर मुखातिब होकर खडे हुए है, सहायता की आशा करना निरी नासमझी का काम है। फिर भी हमारे राष्ट्र-नेता इस आशा के बन्धन से मुक्त होना नही चाहते। वे स्वराज्य-साधन के लिए हिन्दू-मुस्लिम-मैत्री को बिलकुल अनिवार्य समझने के आदी हो चुके है। इस समझदारी से मैत्री तो न हो सकी, पर मुसलमानो की महत्त्वाकाक्षा और

साम्प्रदायिक स्वार्थ-परता और भी वढ गई। वढ नही गई वल्कि वढा दी गई। उसका परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था। साम्प्रदायिक वखेडे और भी वढ गये। मुसलमान और भी अधिक खिच गये।

'खीचता है जिस कदर, उतना ही खिचता जाय है'

पाठक हमारी इस सम्मति पर कुछ भी आश्चर्य न करे। जहाँ दोनो पक्षो में मैत्री की हार्दिक सदिच्छा और सद्भावना हो, वहाँ पर मेल की चर्चा से कुछ अच्छा परिणाम निकल सकता है। परन्तु जहाँ दो कलह-शील सम्प्रदायो में किसी एक का भी दृष्टिकोण विकृत हो, वहाँ सन्धि की चर्चा सफल तो होती ही नही, प्रत्युत सुलह की सम्भावना को और भी दूर कर देती है। इन पक्तियो के लेखक ने एक वार लाला जी से कहा था, "लाला जी, गत दस वर्षो के अन्दर इस देश में जो साम्प्रदायिक झगडे इतने अधिक वढ गये हैं, उनका कारण तो मै हिन्दू-मुस्लिम-समझौते की आवश्यकता से अधिक चर्चा और प्रयत्न को ही मानता हूँ, आपकी क्या राय है?" उस दूरदर्शी और चतुर राजनीतिज्ञ ने तुरन्त ही कहा, 'आपका कहना सच है, मेरी भी यही राय है।' यथार्थ में यही वात है। पिछले पन्द्रह वर्षो का इतिहास हमारे इस कथन का प्रमाण है। यो तो हिन्दू और मुसलमानो के वीच प्रेम-भाव की आवश्यकता सभी मानते हैं और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के हिन्दू-सचालक, इस सम्बन्ध में थोडा-वहुत प्रयत्नशील रहते ही आये है। परन्तु महात्मा जी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में जव से हिन्दू-मुस्लिम-मेल को प्रमुख स्थान दिया है और उनकी प्रेरणा के कारण जव से इस मेल की चर्चा देश के सैकडो सभा-मचो पर होने लगी है, तभी से दोनो सम्प्रदायो का विरोध और भी वढ चुका है, मुसलमान और भी खिच गये है। पतनोन्मुख जन-समाज की मनोदशा वडी विपरीत और विचित्र होती है। खयाल करने की वात है कि महात्मा गाधी के समान हिन्दू-मुस्लिम-मेल का उत्साही समर्थक

आज तक इस देश में कोई दूसरा नेता न हुआ। उन्होंने इस दिशा में जितना प्रयत्न किया है, वह सर्वथा अद्वितीय है। उनके समान सरल-हृदय, सतोगुणी और 'ब्लैंक चेक' देनेवाला नेता भी कोई न हुआ। मुसलमानों के खिलाफत और धार्मिक स्वाभिमान के समर्थन में जितना परिश्रम उन्होंने किया, उतना तो किसी मुस्लिम नेता ने भी नही किया। और तो क्या, वे इतने महान् होकर भी मौलाना शौकत-अली के खीसे में समा सकने के लिए छोटे से छोटे हो गये। नम्रता और भलमनसाहत की हद हो गई। फिर भी मुसलमानों के नेतृत्व का उपभोग करनेवाले मौलाना साहब इतने नाकदरे निकले कि उन्होंने गांधी के समान रत्न को अनायास अपने खीसे में पाकर भी बेदरदी के साथ बाहर फेंक दिया। अनादरो की माला बनाकर शौक से पहननेवाले उदारचेता गांधी जी आज भी मौलाना के पाकेट में प्रवेश करने के लिए तैयार हैं, परन्तु मौलाना के पाकेट में जगह ही नही है, अडचन तो यही है। वह तबलीग वो तञ्जीम के चन्दों से लबालब भरा हुआ है।

अनेक राष्ट्रीय नेताओ की उस समय यह राय थी और आज भी है कि मुसलमानो का खिलाफत-सम्बन्धी पक्ष-समर्थन करके महात्मा जी ने अच्छा काम नही किया। इस प्रयत्न से कोई लाभ तो हुआ ही नही, प्रत्युत समर्पित पक्ष की धर्मांधता और भी बढ़ गई। आखिर टर्की के सर्वमान्य नेता कमालपाशा ने स्वय खलीफा को अर्द्धचन्द्र दे दिया और हिन्दुस्थान के मुसलमान देखते ही रह गये, उनसे कुछ करते-धरते न बना। पर महात्मा जी अपने मित्रो की सलाह कब माननेवाले थे। वे तो समझते थे कि मुसलमान लोगो की चिरस्थायी मित्रता-सम्पादन करने का यह अच्छा अवसर है। उनके धर्म-सकट में सहायक होकर हिन्दू मुसलमानो के प्रेम-पात्र बन सकेंगे और इस तरह दोनो का साम्प्रदायिक वैमनस्य हमेशा के लिए शान्त हो जावेगा। परन्तु महात्मा जी के सारे अनुमान निर्मूल निकले। निर्मूल ही नही,

विपरीत निकले। मुसलमानो की मनोवृत्ति पर महात्मा जी के सौहार्द का कुछ भी असर न हुआ। जिन लोगो की बदौलत खिलाफत का मूलोत्पाटन हुआ और जिन्होंने टर्की को यूरोप का मरीज समझकर उसे दरगोर करने का भरसक प्रयत्न किया, उन्हीं के चरणो में हिन्दुस्थान के मुसल्मान अपनी श्रद्धाञ्जलि फिर से चढाने लगे। महात्मा जी की ओर उन्होंने नजर उठाकर देखा भी नही। यदि उनकी कृतघ्नता यहीं समाप्त हो जाती, तो कोई हर्ज नही था। परन्तु उन्होंने हिन्दुओं को उनके उपकारो का वदला खूब दिया। असहयोग-आन्दोलन को मन्द होते देर न लगी, सारे देश मे साम्प्रदायिक सिर-फुटौवल के दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे। भविष्य के इतिहास-लेखको को यह जानकर वड़ा आश्चर्य होगा कि जिस आदमी ने अपनी महान् उदारता के वशवर्ती होकर मुसलमानों का इतना साथ दिया, उसी के नेतृत्व-काल में हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक विग्रह इतने अधिक और इतने भयकर हुए हैं कि वैसे कभी देखने-सुनने मे आये ही न थे। इस परिणाम को देखकर महात्मा जी का हृदय टुकडे टुकडे हो गया। पर वे कर ही क्या सकते थे! किया वही, जो वे ऐसे प्रसङ्गो पर किया करते हैं। मर्मांतक मानसिक वेदना से व्याकुल होकर उन्होंने अपने कृश और जरा-जीर्ण शरीर को तपश्चर्या की भट्ठी में झोंक दिया। मुसलमानो की वस्ती दिल्ली मे बैठकर उन्होंने इक्कीस दिन का करारा उपवास किया। परमात्मा की कृपा से वे सही-सलामत निकले। उनके सहृदयता-मूलक मानसिक सन्ताप और शारीरिक कष्ट को देखकर पत्थर का भी दिल पानी होकर वह गया, पर मुसलमानो की रफ्तार ज्यो की त्यो रही। उसके वाद भी साम्प्रदायिक वखेडे होते रहे। न्यूनाधिक मात्रा में वे अभी भी जारी है। दो-चार-छ महीनो में कही न कहीं से ऐसे समाचार पढने में आ ही जाते हैं। परन्तु महात्मा जी ऐसे प्रसङ्गो पर चुप ही रहते हैं। 'राउण्ड टेवुल कान्फ्रेंस' के समय उन्हें मुसलमानी मनोवृत्ति का विशेष परिचय मिला। हिन्दुओ

को स्वाभाविक उदारता पर विश्वास करके उन्होंने मुस्लिम नेताओं की सारी मनोनीत माँग मंजूर कर लेने का निश्चय भी कर लिया, परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि यदि मुसलमान सन्तुष्ट हो जावें, तो उन्हें इस बात का वचन देना चाहिए कि वे राजनैतिक संग्राम में हिन्दुओं का साथ देवेंगे। इस शर्त पर आगा खाँ के नेतृत्व में मुस्लिम प्रतिनिधियों ने विचार किया और अन्त में उन्हें कहना पड़ा कि ऐसी शर्त मुसलमानों को मंजूर नहीं हो सकती। भला अँगरेजों की सोहबत और आश्रय में रहनेवाले आगा खाँ को ऐसी बातें कब स्वीकार हो सकती थीं। विलायत के अनुदार और कुटिल राजनीतिज्ञों के प्रभाव से मुक्त होना उस आदमी के लिए कम से कम इस जन्म में तो सम्भव नहीं है। ऐसे आदमी के नेतृत्व में भला मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना की सम्भावना क्योंकर हो सकती है? प्रतीत होता है कि उस दिन से गांधी जी का आशावाद इस सम्बन्ध में बिलकुल ठण्डा पड़ गया। उस दिन से आज तक उन्होंने साम्प्रदायिक मेल-मुलाक़ात की चर्चा बिलकुल छोड़ दी। उन्हें कदाचित् विश्वास हो गया कि जो लोग केवल अधिकार के भूखे हैं और अपना कर्त्तव्य-पालन करना नहीं चाहते, उनसे निपटना एक प्रकार से असम्भव है। यदि स्वराज्य मिल जावे, तो मुसलमानों को उचित अनुपात से अधिक अधिकार चाहिए; पर स्वराज्य लेने के लिए जिस कर्त्तव्य-निष्ठा की जरूरत है, उससे उनका कोई सरोकार नहीं। ऐसी मनोवृत्ति दुनिया में अन्यत्र कहीं ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगी।

हिन्दुस्थान की राष्ट्रीय प्रगति में यह मनोवृत्ति बहुत अड़चन पैदा कर रही है। इस मनोदशा को उत्तेजना देनेवाले विदेशी कूटनीतिज्ञ तो हैं ही, पर हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने भी इस सम्बन्ध में कुछ कम नहीं किया है। हमारी तो आन्तरिक धारणा है कि कुछ थोड़े से स्पष्टवादी लोगों को छोड़कर कांग्रेस के अधिकांश नेता स्वयम् मुसलमानों से आतंकित हैं। इस घबराहट का मूल कारण है, उनका निर्मूल विश्वास। और वह विश्वास यह है कि मुसलमानों की सहायता के बिना स्वराज्य

नही मिल सकता। हम तो समझते हैं कि यदि स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त निष्ठा हो, तो सात करोड मुसलमान ही हिन्दुओ की सहायता के बिना हिन्दुस्थान को आजाद कर सकते हैं। फिर मुस्लिम सहयोग के बिना अट्ठाइस करोड़ हिन्दुओ के लिए क्या यह काम असम्भव हो सकता है ? कदापि नही। फिर भी हमारे राजनीतिज्ञ ऐसा ही समझते हैं। मौके बेमौके यही कहते आये है और इस तरह मुसलमानो का महत्त्व जरूरत से ज्यादा बढाकर उनके नैतिक पतन मे सहायक हुए हैं। महात्मा जी बडे नीतिमान् मनुष्य हैं। उनके सम्बन्ध मे आमतौर से लोगो की और इन पंक्तियो के लेखक की भी यह धारणा है कि वे बडे स्पष्टवादी हैं। परन्तु हमारी अन्तरात्मा हमसे कहती है कि मुसलमानो के सम्बन्ध मे महात्मा जी ने अपने स्वभाव-सुलभ स्पष्टवादिता से काम नही लिया है। असत्य-भाषण तो वे कभी करते ही नही, पर मुसलमानो की निस्बत साफ साफ बातें करने मे वे कई प्रसङ्गो पर शकित प्रतीत होते है। ब्रिटिश साम्राज्य से वे नही डरते, पर मुसलमानो की अप्रसन्नता का भय उनके हृदय में अभी विद्यमान है।

यो तो तीव्र आक्षेप करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है, फिर भी उनके कई शब्दो मे प्रच्छन्न कटाक्ष तो रहते ही हैं। जब जब मौके आये, उन्होने ऐसे कटाक्ष हिन्दुओ पर ही किये हैं। अपने जीवन में सिर्फ एक बार ही उन्होने मुसलमानो को 'बुली' कहा है। आमतौर से साम्प्रदायिक बखेडो के अवसरो पर जहाँ वे हिन्दुओ की गलती पाते हैं, वहाँ तो वे मुक्तकण्ठ होकर बातें करते हैं। परन्तु बुराई जहाँ मुसलमानो की ओर होती है, वहाँ वे चुप रहना ही पसन्द करते हैं। उनकी इस चुप्पी का परिणाम यह हुआ है कि अनेक हिन्दू-नेताओ को आज यह विश्वास नही है कि यदि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या महात्मा जी के निर्णय पर छोड दी जावे, तो वे हिन्दुओ के प्रति सोलह आने न्याय कर सकेंगे। ऐसा एक प्रसग 'राउण्ड् टेबल कान्फ्रेंस' के समय आया ही था और ऐसा अविश्वास प्रकट भी किया गया था। मुसलमानो

के प्रति महात्मा जी ने जो अनुचित उदारता समय समय पर प्रकट की है, उसका परिणाम किसी के लिए अच्छा नहीं हुआ। स्वयम् मुसलमानों के लिए तो और भी बुरा हुआ है। उनको प्रसन्न रखने का अनावश्यक प्रयत्न करके महात्मा जी ने उनकी महत्त्वाकांक्षा तो बढा दी, पर उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा न बढा सके। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए। जिस मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा कर्त्तव्य-बुद्धि से आगे बढ जाती है, उसका नैतिक पतन हो जाना अवश्यम्भावी है।

'ब्लैंक चेक' देने की बात महात्मा जी की जबान पर कई बार आ चुकी है। यों तो लेन-देन और सार्वजनिक कोष के सम्बन्ध में गांधी जी पूरे बनिया हैं, बडे हिसाबी हैं और पाई-पाई के लिए सतर्क रहते हैं। परन्तु जब कभी हिन्दू और मुसलमानों के सार्वजनिक अधिकारों का प्रश्न आता है, तब वे हिन्दुओं की ओर से उनका सारा खजाना लुटा देने के लिए मुक्तहस्त दिखाई देते हैं। ऐसे प्रसगों पर वे एक त्यागी ब्राह्मण के समान पेश आते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि समूचा जन-समाज ऐसा त्यागशील नहीं हो सकता। हिन्दुओं ने कुछ कम त्याग नहीं किया है। स्वराज्य-सग्राम की सारी यन्त्रणा उन्हे ही भोगनी पड़ी है। फिर भी वे मुसलमानों को उनके उचित अधिकारों से वंचित रखना नहीं चाहते। क्या इतनी उदारता किसी सभ्य समाज के लिए कम है? 'ब्लैंक चेक' देने की चर्चा यदि देश का कोई दूसरा बड़े से बड़ा नेता भी करता, तो हम तो यही समझते कि इस उत्तेजना में कोई सार नहीं और यह चेक देनेवाले की कोरी चालबाजी है। जिस आदमी के आचरण में चालबाजी की संभावना नहीं, ऐसे आदमी के मुँह से यदि ऐसी बात निकलती, तो हम उसे केवल आलंकारिक भाषा समझते। परन्तु शुद्ध और सरलहृदय महात्मा जी में न तो कोई चालबाजी है, न आलंकारिक भाषा बोलने की आदत ही है। ऐसी हालत मे हम यह सोच कर हैरान है कि क्या समझकर और किस उद्देश्य से महात्मा जी मुसलमानों के लिए हमेशा 'ब्लैंक चेक' लिये फिरा करते

है। हमारी हैरानी तव और भी वढ जाती है जव हम यह सोचते हैं कि इस चेक को मुसलमानो ने पहले ही ठुकरा दिया है। 'राउण्ड टेवल कान्फ्रेंस' के समय ऐसा ही 'चेक' तो दिया गया था। क्या मुस्लिम प्रतिनिधियो ने उसे स्वीकार किया ? फ़िर महात्मा जो इस वात को भी जानते हैं कि जिनकी ओर से यह 'चेक' दिया जाता है, उनकी स्वीकृति मिलना भी सम्भव नही है। जन-समाज के दो-चार इने गिने लोग ही इतने त्यागशील हो सकते है। समूचा सम्प्रदाय इतना त्याग नही कर सकता। आखिर किस नैतिक आधार पर किसी एक सम्प्रदाय को 'ब्लैंक चेक' दिया जा सकता है ? क्या इस प्रश्न का सतोषजनक उत्तर कोई राजनीतिज्ञ दे सकता है ?

विलायत मे 'राउण्ड टेवल कान्फ्रेस' के समय साम्प्रदायिक मेल-सम्पादन में गाघी जी को जो विफलता हुई, उसके वाद उनका दिल विलकुल टूट गया। यो तो वे वडे आशावादी है और निराश होना वे जानते ही नही। फिर भी कुछ दिनो से इस सम्वन्ध में उन्होने जो उदासीनता दिखाई है, उससे प्रतीत होता है कि वे साम्प्रदायिक प्रश्न को वर्त्तमान परिस्थिति में छेडना यदि अनुचित नही तो अप्रासगिक ज़रूर समझते है। अभी हाल में इँगलेंड के सोशलिस्ट पार्टी के नेता लार्ड फरिंगडन से वातचीत करते हुए उन्होने जो राय प्रकट की है, उससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। फरिंगडन साहव ने पूछा "आखिर यह सवाल (साम्प्रदायिक) कैसे हल होगा" ? गाघी जी ने इस पर उत्तर दिया . —

"अभी तो इस प्रश्न का हल करना अशक्य हो गया है। मुझे लगता है कि इसे अव समय ही हल करेगा। अगर मैं मुसलमानो को कोरा चेक दे देने की वात हिन्दुओ को समझा सकूँ तो यह प्रश्न आज हल हो जाय। पर दोनों सम्प्रदायो के वीच आज इतना अविश्वास भर गया है कि निकट भविष्य में इस प्रश्न का हल होना मुझे तो असम्भव ही मालूम होता है।"

('हरिजनसेवक', १९ अप्रैल १९३५, भाग ३ सख्या ९)

इस अवतरण में निराशा के भाव स्पष्ट रूप से अंकित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों सम्प्रदायों के बीच इतना अधिक अविश्वास भर गया है कि निकट भविष्य में साम्प्रदायिक मेल का होना असम्भव हो गया है। परन्तु हम पूछते हैं कि इस अविश्वास का कारण क्या है? क्या हिन्दुओं की अनुदारता? इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दुओं के समान उदार कोई जाति ही नहीं है। उनकी उदारता यहाँ तक बढ़ी-बढ़ी है कि उसने एक महान् दुर्गुण का रूप धारण कर लिया है। विदेशियों के प्रति हिन्दुओं ने जो उदारता दिखाई, उसी का तो यह परिणाम है कि उन्हें आज सिर पीट कर रोना पड़ रहा है। अतएव इस बात को मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं कि हिन्दू अनुदार हैं। हिन्दू-मुसलमानों में मेल की सम्भावना जो निकट भविष्य में नहीं दिखाई देती, उसका मुख्य कारण है, हमारे राष्ट्र-नेताओं की अदूरदर्शिता। इसका प्रमाण उपर्युक्त अवतरण ही में मौजूद है। सार्वजनिक प्रश्नों में न्याय-बुद्धि और स्पष्टवादिता से काम न लेना ही तो अदूरदर्शिता है। मुसलमानों को 'ब्लैंक चेक' दिखाकर गांधी जी अपनी वैयक्तिक उदारता का परिचय जरूर देते हैं। परन्तु, खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस दानशीलता में हमें राजनैतिक समझदारी का उतना परिचय नहीं मिलता। इससे तो माँगनेवाले का प्रलोभन और भी बढ़ जाता है। बढ़ी हुई लालच का ही परिणाम है कि मुसलमान आज अपने सम्प्रदाय की ओर से ऐसी ऐसी माँगें पेश कर रहे हैं कि जो समझदारी और आत्म-सम्मान-बुद्धि दोनों के परे हैं। जिन्ना की चौदह शर्तों से कौन परिचित नहीं है। उन्हें पढ़-सुनकर कोई भी कहेगा कि ऐसी अनुचित माँग पेश करनेवाले की नैतिकता बिलकुल खो गई है। लखनऊ पैक्ट से यह बुराई शुरू हुई और 'ब्लैंक चेक' में अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर गई। फिर भी महात्मा जी के हाथ में वह कोरा चेक अभी भी विद्यमान है। जब हिन्दू ऐसा चेक देने के लिए तैयार ही नहीं है तो बार बार उसकी चर्चा

करने से क्या लाभ हो सकता है ? लाभ तो हुआ ही नही, उलटी हानि हुई है।

हम पहले कह चुके है कि साम्प्रदायिक मामलो मे गाधी जी हिन्दुओ को ही खरी-खोटी सुनाने के आदी है। इस बात का प्रमाण इस अवतरण मे भी मौजूद है। महात्मा जी के इस सम्भाषण को पढकर फारिगडन साहब के समान विदेशी जिज्ञासुओं की यह धारणा हो सकती है कि साम्प्रदायिक सुलह में जो कठिनाइयाँ गाधी जी को हो रही है, उसका उत्तरदायित्व मुसलमानो पर नही, बल्कि हिन्दू-समाज पर है। महात्मा जी के उपर्युक्त कथन का आशय तो सारा ससार यही निकालेगा कि यदि हिन्दू आज राजी हो जावें तो मुसलमानो की ओर से कोई अडचन है ही नहीं। पाठक विचार करे कि बाहरी लोगो की यह धारणा कितनी निर्मूल होगी। फिर भी महात्मा जी के शब्दो से यही धारणा पुष्ट होती है। सत्य का जो अनन्य पुजारी हो, उसके शब्दो से ऐसा आशय निकलना ही नही चाहिए। महात्मा जी के शब्दो की कीमत इस दुनिया मे बहुत है। जो लोग हिन्दुस्थान की राजनीति में दिलचस्पी लेते है, उनमे से अधिकाश महात्मा जी के विचारो को बडे चाव और विश्वास के साथ सुनते है। ऐसे लोग तो यही समझेंगे कि हिन्दू बडे नादान है जो गाधी जी की सलाह नहीं मानते। पर 'ब्लैक चेक' देने की बात न तो न्यायमूलक है, न फिर वह राजनैतिक तथा सार्वजनिक दृष्टि से व्यवहार्य ही है। महात्मा जी के समान सर्वमान्य नेता को कोई ऐसी बात नही करनी चाहिए जो न्याय के आधार पर स्वीकार करने योग्य न हो और जिससे विचार-भ्रान्ति फैलने की सम्भावना हो।

साम्प्रदायिक प्रश्नो पर जब महात्मा जी के समान स्पष्टवादी नेता का यह हाल है, तो इतर राष्ट्र-नेताओ के सम्बन्ध में कहना ही क्या ? हिन्दुओ की आलोचना तो वे बडी मुस्तैदी के साथ कर सकते है और ऐसा करते समय उन्हे मुसलमानो के विरुद्ध कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत

नहीं होती। परन्तु जब कभी दबी जबान मे वे मुसलमानो के विरुद्ध कुछ कहते भी है, तब इस बात की भी बडी सावधानी रखते है कि साथ साथ हिन्दुओ पर भी कुछ कटाक्ष किया जावे, ताकि मुसलमान अप्रसन्न न होने पावें। राष्ट्र-निर्माण करनेवालो को ऐसा आचरण शोभा नही देता। सार्वजनिक मामलो मे 'कोरा चेक' किसी मर्ज की दवा नही है। न्यायपरायणता, स्पष्टवादिता और निर्भयता—इन तीन गुणो के यथोचित मेल में ही नेतृत्व की सच्ची परख होती है। जब जितने गलती हो, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, निर्भय होकर साफ साफ बाते करनी चाहिए। हमारी अन्तरात्मा हमें यह कहने के लिए लाचार करती है कि हमारे कांग्रेस-नेताओ ने इस देश के साम्प्रदायिक प्रश्न में इन गुणो का परिचय अभी तक नही दिया। यही कारण है कि साम्प्रदायिक समस्या दिनो दिन जटिल होती जा रही है और गाधी जी के समान उत्साही और आशावादी नेता को भी निकट भविष्य में हिन्दू-मुस्लिम-मेल की कोई सभावना नही दिखाई देती। इसका कारण हिन्दुओं की अनुदारता नही, बल्कि हमारे नेताओ मे खरापन का अभाव है।

स्पष्टवादिता का यह अभाव हमारे नेताओ तक ही सीमित नही है। उनकी नैतिक शिथिलता का परिणाम हमारी राष्ट्रीय महासभा पर भी बहुत कुछ पड चुका है। यदि मनुष्य कमजोर हुआ तो किसी संस्था का आश्रय लेकर वह बहुत कुछ हिम्मत बांध सकता है। पर यदि सस्था ही अशक्त हुई, तो उसके सदस्यो का क्या कहना है। कांग्रेस के गत बम्बई-अधिवेशन में प्रधान मन्त्री के साम्प्रदायिक निर्णय पर कांग्रेस-प्रतिनिधियो ने जो प्रस्ताव पास किया, उससे सूचित होता है कि हमारे कुछ राष्ट्र-नेताओं की कमजोरी किस तरह हमारी राष्ट्रीय सस्था मे भी व्याप्त हो गई है। साम्प्रदायिक निर्णय पर कार्य-कारिणी समिति ने जो अर्थशून्य प्रस्ताव स्वीकार किया था, उसे कांग्रेस के खुले अधिवेशन ने मंजूर कर लिया अथवा यो कहे कि कांग्रेस के द्वारा मंजूर कर लिया गया।

महर्षि मालवीय जी के विरोध का कोई परिणाम न निकला। प्रस्ताव का रूप बडा विचित्र है। हमारी धारणा है कि अपने जीवन के इतिहास मे हमारी राष्ट्रीय सभा ने आज तक ऐसा निरर्थक और हानिकर प्रस्ताव कभी स्वीकार नही किया। प्रस्ताव का साराश है कि यह सभा 'मैकडानेल्ड' साहब के साम्प्रदायिक निर्णय को न तो स्वीकार करती है, न फिर अस्वीकार ही करती है! पाठक अनायास देख सकते है कि इस वाक्य का यथार्थ मे कुछ भी अर्थ नही हो सकता। अगर हम किसी चीज को मजूर नही कर सकते, न फिर उसे नामजूर ही कर सकते है, तो हमारे लिए सबसे अच्छा रास्ता तो यह है कि हम कुछ भी न बोले, चुप रहे, उदासीन बने रहे। पर जब हमे कुछ बोलना ही है तो ऐसा कुछ कहे कि उसमे समझने लायक कुछ आशय भी निकले।

इसके सिवाय पाठक देखेगे कि आलोचित प्रस्ताव के पूर्वार्द्ध मे कार्य-कारिणी ने यह नियम निर्धारित कर दिया है कि काग्रेस को ऐसा कोई भी साम्प्रदायिक समझौता स्वीकार न होगा जो सर्व-सम्मत न हो। इस सिद्धान्त को सामने रखकर कोई भी मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि महासभा ने मैकडानल्ड साहब के साम्प्रदायिक निर्णय को नामजूर क्यो नही किया? क्या वह सर्व-सम्मत है? हिन्दू और सिक्ख दोनो उस निर्णय का सरे आम विरोध कर रहे है और यह बात सभी को मालूम है। ऐसी हालत में काग्रेस के सामने साम्प्रदायिक निर्णय को नामजूर करने के सिवाय कोई दूसरा चारा ही न था। उसने सिद्धान्त ही ऐसा स्थिर कर लिया है कि उसके अनुसार काग्रेस या तो हाँ कह सकती है या नहीं। 'न हाँ, न नही' कहने की जरा भी गुजाइश नही है। यदि किसी निर्णय को सभी पक्ष के लोग स्वीकार कर लें, तो काग्रेस को भी स्वीकार है। यदि उनमें से एक भी पक्ष उसका समर्थन न करे, तो काग्रेस भी उसे स्वीकार नही कर सकती। यदि यही बात है और यह भी सच है कि प्रधान मन्त्री का साम्प्रदायिक निर्णय हिन्दू और सिक्ख दोनो सम्प्रदायो को नामजूर है, तो काग्रेस उस निर्णय को स्वीकार तो कर ही नही सकती

थी, प्रत्युत उसे स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर देना चाहिए था। फिर भी कांग्रेस ने अपने ही नियम के विरुद्ध काम किया। ऐसा क्यों किया? इसलिए कि मुसलमान अप्रसन्न न होने पावें। उन्हें खुश रखने के लिए हमारी राष्ट्रीय सभा ने अपना सिद्धान्त ही ठुकरा दिया। यह इस संस्था के नैतिक पतन का लक्षण है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा कमजोर प्रस्ताव गांधी जी के नेतृत्व में स्वीकृत हुआ।

इसके सिवाय एक बात और भी है जो राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने योग्य है। कांग्रेस एक सार्वजनिक राष्ट्रीय संस्था है। अपने जन्म-काल से आज तक उसने राष्ट्रीयता की दुहाई दी है। हमेशा से उसका यह भी मत रहा है कि साम्प्रदायिक निर्वाचन के आधार पर राष्ट्र-निर्माण करना असम्भव है। वर्तमान की प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली में साम्प्रदायिकता के लिए जरा भी गुंजाइश नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों में भी कई सम्प्रदाय के लोग एक ही शासन-विधान के अन्तर्गत होकर रहते हैं, पर उनमें साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रथा प्रचलित नहीं है। इसी सर्व-स्वीकृत राष्ट्रीय सिद्धान्त का समर्थन हमारी कांग्रेस भी करती आई थी। परन्तु आलोचित प्रस्ताव से प्रतीत होता है कि उसने अपने चिरपरिचित राष्ट्रीय सिद्धान्त का बलिदान, साम्प्रदायिकता की बलि-वेदी पर बड़ी बेरहमी के साथ कर डाला है। प्रस्ताव से प्रकट है कि कांग्रेस किसी भी सर्वस्वीकृत साम्प्रदायिक समझौते को मंजूर करने के लिए तैयार है। ऐसा क्यों? यदि मुसलमानों की प्रेरणा से समझौता पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन के आधार पर हुआ तो? क्या कांग्रेस उसे स्वीकार कर लेगी? यदि ऐसा हुआ तो फिर कांग्रेस किस मर्ज की दवा होकर रहेगी? साम्प्रदायिकता की व्याधि से जन-समाज को मुक्त करके उसे एक निश्चित राष्ट्रीय दृष्टि-कोण देने के लिए ही तो इस महान् संस्था का जन्म हुआ है और यही उसका चरम उद्देश्य भी है। ऐसी हालत में उसे स्पष्ट शब्दों में घोषित करना चाहिए था कि यह राष्ट्रीय महासभा किसी भी ऐसे समझौते को स्वीकार

नही कर सकती जो पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन के आधार पर किया गया हो। साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता का महान् घातक है। अतएव हमारी राष्ट्रीय सभा को ऐसा कोई भी मन्तव्य मजूर न होना चाहिए, जिसमे साम्प्रदायिकता की जरा भी बू-बास रहे। तभी तो उसके अस्तित्व की सार्थकता है। 'राउण्ड टेवल कान्फ्रेंस' के समय गाधी जी ने स्पष्ट शब्दो में कहा था कि हमारी महासभा जगल जगल मारी मारी फिरेगी, परन्तु उसे ऐसी कोई भी योजना स्वीकार न होगी जिसकी छत्रच्छाया में प्रजासत्तात्मक राष्ट्रीयता का पौधा नही पनप सकता। कितना स्पष्ट और उदार सिद्धान्त है! पर काग्रेस के इस आलोचित प्रस्ताव में यह सिद्धान्त कहाँ है? उसका सर्वथा अभाव है। समझ में नही आता कि स्वय महात्मा जी ने इस प्रस्ताव को कैसे मजूर कर लिया। पर इतनी वात समझ मे आती है कि इस प्रस्ताव मे मुस्लिम मनोवृत्ति की अशुभ छाया पडी है। इस छाया में पडकर हमारे राष्ट्र-नेताओ की वुद्धि भी मलिन हो गई है। अन्यथा वे ऐसा शिथिल और कमज़ोर प्रस्ताव क्यो स्वीकार करते?

विचारशील पाठक हमारी गणना उन लोगो मे न करे जो हिन्दू और मुसलमानो के वीच मेल का होना विलकुल असम्भव समझते है। मेल होगा, ज़रूर होगा और इस प्रश्न को समय ही हल करेगा। परन्तु समय आप ही आप आनेवाला मेहमान नही है। उसे अपने ही प्रयत्नो से लाना पडेगा और वह तभी पदार्पण करेगा, जव हम अपनी वर्तमान त्रुटियो से मुक्त हो सकेंगे। इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए हमें मुसलमानो से निर्भय होकर कहना पडेगा कि साम्प्रदायिक मतभेद का निर्णय सख्त न्याय के आधार पर होगा और किसी भी सम्प्रदाय को न्यायोचित अनुपात से रत्तीभर भी अधिकार नही मिल सकता। अतएव मुसलमानो के लिए खास रियायत की गुजाइश हिन्दुस्थान की राष्ट्रीय राजनीति में ज़रा भी नही है। मुसलमानो से हमें यह भी कहना पड़ेगा कि स्वराज्य का सग्राम तो इस देश में छिड़

गया है, अब वह रुक नही सकता। मुसलमान चाहे साथ दें, चाहे न दें, जिन्हें स्वतन्त्रता की लगन लग चुकी है, वे इस बात की जरा भी परवाह न करेंगे। जो आगे बढेगा, बढ जायगा। पीछे रहनेवालो की खुशामद करने की चिन्ता उन्हें बिलकुल न व्यापेगी। यदि मुसलमान ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो की चालबाजी के शिकार होकर उदासीन बने रहे अथवा हमारे राष्ट्रीय विकास के पथ पर कॉटे भी बिखेरें, तो भी हम आगे बढते ही जावेंगे और इस बात की चिन्ता न करेंगे कि मुसलमान हमारा साथ नही दे रहे हैं। हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम-मेल अनिवार्य नही है। अकेले हिन्दू ही अपने प्रयत्नो से स्वतन्त्र हो सकते हैं। अतएव मुसलमानो को चाहिए कि वे हिन्दुओ से खास रियायत की कोई आशा न करें। हॉ, उनके न्यायोचित अधिकारो की रक्षा जरूर होगी। इससे अधिक की आशा और कम की आशका दोनो निर्मूल है। हमें इस बात का भी खुलासा कर देना होगा कि राष्ट्र-निर्माण के इस पुण्य कार्य मे कोरी साम्प्रदायिकता के लिए तिलमात्र भी गुजाइश न रहेगी। अतएव सारा साम्प्रदायिक निर्णय राष्ट्रीयता के आधार पर ही हो सकेगा, अन्यथा नही। इस देश के प्रत्येक सम्प्रदाय को राष्ट्र की बलि-वेदी पर अपने सकीर्ण साम्प्रदायिक स्वार्थ का बलिदान करना ही पडेगा। इसके सिवाय कोई दूसरा चारा ही नही।

जिस दिन मुसलमानो के हृदय में उपर्युक्त बातें अकित हो जावेंगी, उसी दिन से साम्प्रदायिक सुलह के लिए आवश्यक मनोवृत्ति का जन्म होगा। परन्तु केवल ऐसा कहने से ही काम न चलेगा। इस निर्भय और न्याय-मूलक नीति का हमें अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में पालन भी करना पड़ेगा। हम अपने देश के लिए प्रजातन्त्र स्वराज्य चाहते है। ऐसे शासन के लिए जिन सर्व-स्वीकृत सिद्धान्तो की आवश्यकता मानी गई है और जिनके आधार पर यूरोपीय राष्ट्रो की

रचना हुई है और जिन्हे राष्ट्र-सघ (League of Nations) ने स्वीकार किया है, उन्ही का पालन इस देश मे भी किया जावेगा। अतएव हिन्दुस्थान के मुसलमानो को ऐसी किसी भी रियायत की आशा नही करनी चाहिए जो राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्र-शासन के अनुकूल न हो। इस शर्त पर यदि कोई सम्प्रदाय राजी न हो, तो उसकी नाराजगी के लिए राष्ट्र-नेताओ को विशेष चिन्ता नही होनी चाहिए। स्वतन्त्रता के सिपाही स्वावलम्बनशील होकर आगे बढेंगे, बढते चले जावेगे, चाहे कोई साथ दे या न दे। जो पीछे पडेगा, वह कभी उन्नत-भाल होकर ससार के सामने खडा न रह सकेगा। जिस दिन ये बाते साफ-साफ सुनाई देंगी, उस दिन मुसलमानो के हृदय में एक विचार-क्रांति उत्पन्न हो जावेगी, उस दिन वे समझ सकेंगे कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य में साम्प्रदायिक स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय मर्यादा के बाहर कोई स्थान नही है। मुसलमानो की मनोदशा में इस विचार-क्रांति की नितान्त आवश्यकता है। अभी तो वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के प्रलोभन और काग्रेस-नेताओ की खुशामद तथा लाड-प्यार में पडकर बिलकुल लक्ष्य-भ्रष्ट हो रहे हैं। अभी उनके हृदय में यह मौलिक भावना ही जाग्रत नही हुई है कि हिन्दुस्थान उनका जन्मस्थान है और उन्हे यही जीना और यही मरना है। अभी तो उनकी मति यहाँ तक मारी गई है कि स्वदेशी वस्त्रो का उपयोग करना भी वे अनुचित समझते है। इस देश में करीब साढे चार करोड मुसलमानो की जीविका बुनाई और रँगाई की बदौलत चलती है। ऐसी हालत में यदि मुसलमान केवल अपने साम्प्रदायिक स्वार्थ को ही लक्ष्य-पथ में रखकर काम करना चाहते है, तो भी उन्हे स्वदेशी वस्त्रो का उपयोग करना चाहिए। परन्तु नही, उन्हे स्वय अपना ही स्वार्थ नही सूझता। खादी की तो कोई बात ही नही, देशी 'मिल' के कपडे भी उन्हे पसन्द नही हैं। ईद, बकरीद के अवसरो पर खालिस विलायती कपडे पहनकर वे बाहर निकलते हैं। शायद वे समझते है कि स्वदेशी केवल हिन्दुओ की खपत है और इसी कारण मुसलमानो को

उससे केवल उदासीन ही नही, वल्कि विरुद्ध रहना चाहिए। इस नासमझी का कोई ठिकाना है? देश की आजादी से उनका कोई सरोकार नहीं, लोगो की आर्थिक दुरवस्था की उन्हे कोई चिन्ता नही, फिर भी उन्हे स्वतन्त्र हिन्दुस्थान में शासनाधिकार चाहिए, और वह भी खास रियायत के साथ उचित अनुपात से वहुत ज्यादा। इस कुत्सित मनोदशा का उत्तरदायित्व मुसलमानो पर तो है ही, पर हमारे काग्रेस-कार्यकर्ता भी उसकी जवावदारी से मुक्त नही हो सकते। यदि वे प्रारम्भ ही से खुशामद की नीति अमल में न लाते और मुस्लिम नेताओ से खरी-खरी वातें करने में यथोचित नैतिक वल का प्रयोग करते, तो मुसलमानो का दृष्टिकोण इतना दूषित न होता जितना कि आज हो चुका है।

मुसलमानो से सधि-चर्चा करने में सवसे वडी कठिनाई इस वात की है कि उनमें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं, जिसे हम मुसलमानों का सर्वमान्य नेता कह सकें। प्रत्येक प्रान्त में दो-चार आदमी ऐसे जरूर निकलेंगे जो अपने को मुस्लिम नेता मानते है और जो अपने सम्प्रदाय की ओर से अधिकारपूर्वक वोलने के अभ्यासी हैं। परन्तु इनमें से अधिकाश लोगो का पूर्व और वर्तमान जीवन सत्ताधारियो की वदौलत ही वना हुआ है। त्याग और सेवा-भाव को स्वीकार करनेवाला, केवल राष्ट्रीय पहलू से देश की समस्याओ पर विचार करनेवाला तथा हिन्दू-मुस्लिम-मैत्री का ईमानदारी के साथ समर्थन करनेवाला मुस्लिम-नेता खान अब्दुल गफ्फार खाँ के सिवाय हमें एक भी दूसरा मुस्लिम नजर न आया। समूचे देश भर में दस-पाँच मुसलमान ऐसे भी निकलेंगे जो अपने को काग्रेस-भक्त समझते है। परन्तु इन लोगो की गति-विधि कुछ समझ में नही आती। उनमें भी इतना नैतिक साहस नही है कि वे अपने सम्प्रदाय के लोगो से साफ-साफ वातें करें अथवा उनको भूल सुझावें। वे स्वय इस वात से शकित होते है कि ऐसा करने से कहीं उनका नेतृत्व ही न छिन जावे। जव काग्रेसवादी मुसलमानों की यह हालत है तो मुस्लिम लीगके सदस्यो का कहना ही

क्या है ? 'अंधेनैव नीयमाना यथाधा' वाली कहावत चरितार्थ होती है। यथार्थ में हमारे साम्प्रदायिक मेल के मार्ग मे जो कठिनाई उपस्थित हो रही है वह इन्हीं लीगवालो की वदौलत है। कुछ पढे-लिखे होने के कारण उन्हें कौंसिलो का प्रतिनिधित्व और सरकारी आश्रय ही सूझता है। केवल अपने उत्कर्ष-साधन करने के लिए उनमें से अधिकाश लोग नेता बने हुए हैं और भोले-भाले निरक्षर तथा अन्ध-विश्वासी मुसलमानो पर अपना अधिकार जमाये हुए है। देश के अधिकाश मुसलमान या तो काश्तकार हैं या अन्यान्य उद्योग-धधो मे लगे हुए हैं। उनकी हालत वैसी ही है जैसी हिन्दू-किसानो की तथा इतर श्रमजीवियो की है। उनकी भलाई-बुराई सार्वभौमिक परिस्थिति से सम्बद्ध है। इन बेचारो को न तो सरकारी आश्रय ही उपलब्ध है, न फिर कौंसिल की मेम्बरी ही मुबारक हो सकती है। उनका हित-सम्पादन स्वराज्य ही करेगा। परन्तु इन्हे कौन समझावे ? जो उनके पथ-प्रदर्शक होने का दावा करते हैं, वे स्वय पथ-भ्रष्ट है और बिलकुल विपरीत दिशा में जा रहे हैं।

ऐसे स्वार्थी नेताओ का प्रभाव ही मुस्लिम जन-समाज के नैतिक पतन के लिए काफी था। लेकिन इस प्रभाव के साथ मौलवी और मुल्लाओ का आतक भी शामिल हो गया है। इन लोगो को कुरान-शरीफ का ज्ञान भले ही हो, पर वर्तमान ससार के प्रगतिशील वातावरण से उनका कोई सम्पर्क नही है। वर्तमान परिस्थिति तथा आवश्यकताओ से उनका कुछ भी परिचय नही है। वे लोगो की धार्मिक भावना तथा अध-विश्वास की बदौलत अपना प्रभाव अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए चिन्ताशील प्रतीत होते है। न तो उन्हें हमारी राजनैतिक पराधीनता से किसी तरह का मानसिक सन्ताप है और न उन्हें स्वतत्रता की आकाक्षा ही अधीर बनाती है। मुसलमानो की अध-श्रद्धा पर अपना आधिपत्य कायम रखना और सत्ताधारियो से विनयशील होकर रहना ही उनके जीवन का ध्येय है। इन्ही लोगो की प्रेरणा

तथा नसीहत का परिणाम है कि मुस्लिम जन-समाज को मसजिद के सामने बाजा बरदाश्त नही होता और ईद के अवसरों पर गाय की कुरबानी अनिवार्य प्रतीत होती है। ईरान तथा अफगानिस्तान सरीखे देशो मे मुसलमान स्वय अपनी मसजिदो के सामने बाजा बजाते है, देश के आर्थिक हित की दृष्टि से गोकुशी अनुचित समझी जाती है। इस सम्बन्ध मे अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्ला ने हिन्दुस्थान के मुसलमानो को कुछ वर्षो के पहले खूब खरी-खोटी सुनाई थी और गोकुशी बन्द करने के लिए आग्रह भी किया था। परन्तु इस देश के मुसलमान ससार के अन्यान्य देशवासी सभी मुसलमानो से निराले है, गये बीते है। उनकी मनोदशा का यदि सावधानी के साथ विश्लेषण किया जावे, तो पता चलेगा, कि उनके हृदय में एक भावना बडी उग्र और विशेष है और वह है हिन्दुओ के प्रति तिरस्कार और द्वेष। ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक है।

पाठक हमारे कथन का यह आशय न निकालें कि मुसलमानो के प्रति तिरस्कार का भाव हिन्दुओं के हृदय मे नही हैं। यथार्थ में दोनो सम्प्रदायो के मध्य पारस्परिक मनोमालिन्य विद्यमान हैं। ईरान तथा अफगानिस्तान के मुसलमान यदि इस देश मे आकर हिन्दुओ के बीच रहने लगें, तो सम्भवत वे इतने कट्टर साबित न होगे जितने कि इस देश के मुसलमान प्रतीत होते है। सच पूछा जाय तो इतर देश के मुस्लिमो को यह सुनकर आश्चर्य होता है कि भारत के हिन्दू-मुसलमान विदेशियो के आधीन रह कर भी आपस मे भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित नही करते और हमेशा एक दूसरे से लडा करते है। परन्तु आश्चर्य का कोई कारण नही है। इस देश में मुसलमानो की सृष्टि ऐसी परिस्थिति मे हुई है कि उनके हृदय में हिन्दू-समाज के प्रति तिरस्कार का भाव होना बिलकुल स्वाभाविक है। उसी प्रकार हम यह भी समझ सकते है कि हिन्दू इस देश के मुसलमानो को हिकारत की निगाह से क्यो देखते हैं। यदि कोई इतिहास का मननशील विद्यार्थी

इस बात का पता लगावे कि बाहर से इस देश मे आनेवाले मुसलमानो की कुल सख्या कितनी थी तो उसे विश्वास हो जावेगा कि अधिक से अधिक एक लाख मे ज्यादा मुसलमान हिन्दुस्थान मे नही आये। पर आज उनकी सख्या सात-आठ करोड़ है। यह सख्या कैसे बढी? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट और सरल है। इस देश के हिन्दू ही मुसलमान हुए है। हिन्दू-समाज का आत्म-विरोधी रुधिर ही मुसलमान बना है। प्रत्येक देहधारी को इस बात का ध्यान है कि जब शरीर का रक्त विकृत हो जाता है तो प्राणी को कितना कष्ट होता है। बिगडा हुआ खून सारे अग मे फोड़े-फुसियो के रूप में फूट-फूट कर निकलता है और उनसे बहुत वेदना होती है। यही हालत हिन्दू-समाज की हो रही है। इस समाज के अग-प्रत्यग सडकर विकृत हो गये है। आज दिन ससार मे उत्तम से उत्तम सभ्यता और साहित्य का उत्तराधिकारी यदि कोई है तो वह भारत का हिन्दू-समाज ही है। फिर भी वर्तमान काल में यदि कोई ऐसी जाति है जो अपने आदर्श से बिलकुल भ्रष्ट हो चुकी है और जिसका जन-समाज अस्त-व्यस्त और क्षत-विक्षत हो रहा है तो वह जाति हिन्दुओ की ही है। यथार्थ मे हिन्दुओ के समान विकृत और विमूढ़ जाति इस पृथ्वीतल मे एक भी नही है। मुसलमानो में कम से कम इतना मनुष्यत्व तो जरूर है कि वे अपने धर्म-बन्धुओ को प्रेम और आदर की दृष्टि से देखते है और उनमे साम्प्रदायिक स्नेहाकर्षण विद्यमान है। प्रत्येक मुसलमान इस्लाम के अनुगामियो को भ्रातृभाव से देखता है और वे आपस मे एक दूसरे की सहायता के लिए मर-मिटते है। साराश यह कि साम्प्रदायिक परमार्थ की वेदी पर एक साधारण अशिक्षित मुसलमान भी अपने स्वार्थ की कुरबानी कर सकता है। परन्तु यह विशेषता अच्छे से अच्छे हिन्दुओ में भी नहीं पाई जाती। हिन्दू-समाज में 'आठ कनौजिया और नौ चूल्हा' वाली-कहावत अक्षरश. चरितार्थ होन रही है। उनकी यह वर्तमान सामाजिक दुरवस्था उनके प्राचीन आदर्श से कितनी भिन्न है, इस बात का अनुमान विचारशील पाठक प्राची

आर्यों के निम्नलिखित सकल्प-वाक्य मे लगा सकते है। उनके सामाजिक जीवन का यह आदर्श था —

ॐ सह नाववतु,
सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु,
मा विद्विषावहै।

परन्तु आज उनकी मनोदशा इससे भिन्न ही नही, बिलकुल विपरीत है। आज हिन्दू-स्वभाव इतना कायर और स्वार्थी हो चुका है कि उसका सानी ससार में ढूँढने से भी न मिल सकेगा। मिथ्याभिमान उनके जीवन का मूलाधार है। "मै बडा हूँ; तू छोटा है, मै बीस बिस्वा हूँ और तेरी हैसियत रत्ती भर भी नही है," "मै बडा पवित्र और धर्म-परायण हूँ, तू कर्त्तव्य-विमुख और विधर्मी है" ऐसे ही निर्मूल और दम्भपूर्ण विचारो से आज हिन्दुओ का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन कलुषित हो रहा है। हिन्दू केवल हरिजनो को ही अत्यज नही मानते, वे सबके सब एक दूसरे के लिए अत्यज हो रहे हैं। हिन्दू इस बात को बिलकुल भूल गये हैं कि सबसे पहले वे मनुष्य हैं, फिर उसके बाद वे सब कुछ है। जिस वर्णाश्रम-धर्म की रचना इतनी सुन्दर वैज्ञानिक आधार पर हुई थी, उसका विकृत भग्नावशेष ही अब विद्यमान है। वर्णो के बीच आत्मीयता का जो प्रेम-सूत्र अन्तर्निहित था, वह बिलकुल टूट चुका है और, शृखला-शून्य तथा असम्बद्ध होकर हिन्दू-समाज असख्य जातियो और उपजातियो में इतना छिन्न-भिन्न हो चुका है कि समझ मे नही आता कि आखिर इस अस्त-व्यस्त जन-समुदाय का भला कब और किस प्रकार सम्भव हो सकेगा। ऐसे कुत्सित वातावरण में पला हुआ हिन्दू आज अपने मनुष्यत्व से इतना गिर चुका है कि वह मिथ्याभिमान का वशवर्ती होकर अपने भाई मनुष्य को पशु से भी गया बीता समझता है। ऊँच-नीच का भेद-भाव उसके नस नस में व्याप्त है। भले ही वह नीच

से नीच हो, अपने को ऊँचे से ऊँचा समझता है। सवर्ण हिन्दू तो अपने को बिलकुल दूध से धुले हुए पवित्र मानते हैं। उन्होंने अपने समाज मे पचमवर्ण की भी रचना कर डाली है। उस वर्ण की छाया से भी उन्हें छूत लग जाती है। दृष्टि-दोष भी उन्हें व्यापता है। उनके मन्दिरो में अत्यज कहलानेवाले लोग प्रवेश नही कर पाते। कुओ से पानी नही ले सकते और सार्वजनिक पाठशालाओ मे उनके बच्चे दाखिल होकर पढ नही पाते। उनकी बस्ती देहातो मे अलग होती है, उनका देवालय भी अलग होता है। पर देव वही है। देव के प्रति भक्ति, पर उसके भक्तो के प्रति तिरस्कार की भावना! हिन्दू-हृदय की यह विलक्षण विषमता इतनी घृणास्पद है, इतनी अस्वाभाविक है, इतनी हेय और निन्दनीय है कि बस कुछ कहते नही बनता। अधिक क्या कहे, इस समय सभ्य ससार में जो सबसे कायर और स्वार्थी जाति है, उसी को लोग हिन्दू-समाज के नाम से पुकारते है।

हिन्दुओ की पारस्परिक तिरस्कार-भावना ही इस देश के मुस्लिम सम्प्रदाय की जननी है। जिस जन-समाज मे मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा नही है, वहाँ रहना कौन पसन्द करेगा? हिन्दुओ की इसी कमजोरी पर इस्लाम का आक्रमण हुआ। भेद-भाव से भरे हुए विषाक्त हिन्दू-वातावरण मे लोग घबरा कर बाहर निकलने लगे और इस्लाम का आश्रय पाकर अपने मनुष्य-जीवन को धन्य मानने लगे। सवर्ण हिन्दुओं के दर्प और दुर्व्यवहार से ग्रस्त होकर जो आदमी बाहर निकलेगा, उसके हृदय मे हिन्दू-समाज के प्रति कैसी भावना रह सकती है, इसका अनुमान विचारशील पाठक सहज ही लगा सकते है। यही भावना आज हिन्दू और मुसलमानो के विग्रह मे अपना रग ला रही है और साम्प्रदायिक समस्या को इतना जटिल बना रही है। हिन्दुस्थान के मुसलमान आज हिन्दुओ से जो इतने खिंचे हुए और बेरुख दिखाई देते है, उसका मूलगत ऐतिहासिक कारण यही है। वे हिन्दू-समाज के ही परित्यक्त और तिरस्कृत अग है। अपने

तिरस्कार करनेवाले को प्रेम-पात्र बनाना केवल महात्माओं का ही काम है। साधारण मनुष्य इस मानसिक दशा का अनुमान भी नहीं कर सकता। हिन्दू-समाज ने जो अपने ही अंग-प्रत्यंग को तिरस्कार की दृष्टि से देखा, उस मिथ्याभिमान का प्रायश्चित्त वह आज दे रहा है। आज वह स्वयं अंत्यज हो रहा है। सभ्य संसार उसकी ओर तिरस्कार की उँगली दिखाता है और कहता है कि "हिन्दू जाति, तेरी नादानी तेरी ही विशेषता है, तूने अपने पैरों में आप ही कुल्हाड़ी मार ली है, अगर तू आज त्रस्त है तो इसमें किसी दूसरे का क्या दोष?"

सच है, इसमें किसी का कुछ भी दोष नहीं। दोष हिन्दू-समाज का ही है जिसने अपने ही अवयवों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा और उनका बहिष्कार किया। आज वही बहिष्कृत जन-समुदाय इसे आठ-आठ आँसू रुला रहा है। पर अब रोने से कोई लाभ नहीं, पुराने पापों का प्रायश्चित्त करना ही होगा। साथ ही साथ स्वावलम्बनशील होकर हिन्दुओं को अपने कल्याण-पथ पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ होना पड़ेगा। अपनी बिखरी हुई शक्तियों को समेट कर उन्हें सामाजिक औदार्य धारण करना पड़ेगा। जिन्हें वे अंत्यज और अस्पृश्य समझते हैं, उन्हें मनुष्योचित प्रतिष्ठा देकर अपनाना होगा। ऊँच-नीच का अनुचित भेद-भाव उन्हें अपने हृदय से दूर करना होगा। अपनी सामाजिक रचना में उचित फेर-फार करके प्रत्येक जाति को उसके योग्य पद पर प्रतिष्ठित करना होगा। उपजातियों का पारस्परिक भेद मिटाकर समूचे जन-समाज को प्राचीन वर्णाश्रम धर्म के आधार पर संगठित करना होगा। पुरोहित और पुजारियों के प्रभाव से मुक्त होकर देश और काल का परिचय समयोचित शिक्षा के द्वारा प्राप्त करना होगा। अपने बिछुड़े हुए धर्म-बन्धुओं से मुक्त-बाहु होकर स्नेहालिंगन करना होगा। साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त होकर इतर धर्मावलम्बियों से भाई-चारे का सम्बन्ध करना होगा। जिस दिन हिन्दू-समाज अपनी वर्तमान कमजोरियों का परित्याग करके संगठित रूप में अपने पैरों आप खड़ा होगा, उस दिन अट्ठाईस

करोड जनता का यह विराट् जन-समुदाय देवताओ के लिए भी दर्शनीय होगा। उसकी सास्कृतिक सत्ता पल्लवित होकर देश के कोने-कोने मे फैलती हुई फूलेगी और फलेगी। उसके उदार और वैज्ञानिक तत्त्वज्ञान के प्रसार से इतर सम्प्रदायो के लोग दीक्षित होकर अपने मनुष्यत्व की पहचान करेंगे और उनकी धार्मिक सकीर्णता कर्पूर होकर तिरोहित हो जावेगी।

इन आवश्यक सुधारो के लिए समय की आवश्यकता है। पर उससे भी अधिक ज़रूरत है लगन और दूरदर्शिता की। जो लोग हरिजनो के उत्थान मे बाधक हो रहे है, वे निरे मूर्ख है। उन्हे देश-काल और पात्र का ज्ञान नही। उन्हे मालूम नही कि हिन्दुओ की सास्कृतिक प्रतिभा कितनी गम्भीर और उदार है और किसी युग में उसमें कैसी विलक्षण पाचन-शक्ति थी। ऐसे अज्ञानी और अनुदार लोगो के हाथो से हमारी धार्मिक प्रगति की बागडोर जितनी जल्दी छिन जावे, उतना ही अच्छा होगा। नये जमाने को पहचाननेवाले नये धर्माचार्यों की हमे बडी ज़रूरत है। दकियानूसी विचारो के समर्थक हमारे सामाजिक उत्थान में सहायक तो हो ही नही सकते, बल्कि रुकावट पैदा कर रहे है। यदि वे अपने विचारो का बहिष्कार न कर सकें, तो हमे उन्ही का बहिष्कार करना होगा। इसके सिवाय कोई गत्यन्तर नही है।

कुछ लोग सामाजिक सगठन को सदेह की दृष्टि से देखा करते है। परन्तु हमारी धारणा है कि इस देश के प्रत्येक सम्प्रदाय को सगठित होना चाहिए, ताकि सभी को इस बात का ठीक-ठीक अनुमान हो सके कि किसकी कितनी शक्ति है और किसी को किसी के सम्बन्ध मे गलतफहमी न रहने पावे। एक दूसरे की सगठित सघ-शक्ति का परिचय पाकर ही हिन्दू-मुसलमान तथा इतर सम्प्रदाय के लोग परस्पर आदरभाव से देखना सीख सकेंगे। हाँ, इस कार्य में इतनी सावधानी ज़रूर रखनी चाहिए कि सगठन-कर्त्ता सदाचारी, राष्ट्र-भक्त और विचारशील हो और भिन्न-

भिन्न सम्प्रदायो मे मेल-सपादन की एकान्त कामना से प्रेरित होकर ही वे अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ हो। हुल्लड़बाज स्वार्थी आदमियो के लिए इस पुण्य कार्य मे कोई गुजाइश न रहे। ऐसे ही लोगोंके द्वारा साम्प्रदायिक बखेडे खडे होते है और यथार्थ मे सगठन का काम इन्ही लोगो के नियत्रण से सफल हो सकेगा। इसके सिवाय प्रत्येक मनुष्य को धार्मिक स्वतत्रता दी जावे। हमारा यह भारतवर्ष विचार-स्वातत्र्य का जन्म-स्थान है। यहाँ धर्मांधता के लिए कोई गुजाइश नही है,न कभी थी। अतएव भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियो को इस बात का पूर्ण अधिकार हो कि वे अपने अपने मतो का प्रचार करें और इस काम मे वे केवल साधक-बाधक प्रमाणो से ही शान्तिपूर्वक सहायता लें। गाली-गुफ्तार और लाठी से मनुष्य के अन्त.करण पर अधिकार प्राप्त नही किया जा सकता। आतकित वातावरण में धर्म का पौधा पल्लवित नही हो सकता। विवेक ही उसकी सच्ची कसौटी है। जो मनुष्य विचारपूर्वक किसी धर्म को स्वीकार करता है, वही दीक्षित होने का अधिकारी है। तिरस्कार-भावना, क्रोध तथा प्रलोभन से जो किसी सम्प्रदाय-विशेष का आश्रय लेते है, उनकी उपस्थिति बडी हानिकर होती है। इस देश के मुस्लिम-प्रचारको ने इस सम्बन्ध में बडी भूल की है। अपने धार्मिक उन्माद मे आकर उन्होंने भले-बुरे सभी तरह के उपायो का अवलम्बन किया और इस बात पर कभी भूलकर भी विचार नही किया कि धर-बाँधकर मुसलमान बनाना इस्लाम की प्रतिष्ठा के लिए घातक होगा। हिन्दू-समाज के तिरस्कृत कूड़े-कचरे उन्होने बटोर लिये और सख्या बढा ली। ऐसे ही लोग आज हमारे साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण हो रहे है और किसी के नियत्रण मे रहना पसन्द नही करते। ऐसे उद्दण्ड और कलहशील लोगो को ही सगठन के द्वारा ठीक रास्ते पर लाना है। इसी लिए हम साम्प्रदायिक सगठन को राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे आवश्यक समझते है।

हम इस बात की ओर पहले ही सकेत कर चुके है कि हिन्दू

और मुसलमानो के बीच जो साम्प्रदायिक मनोमालिन्य विद्यमान है उसका मूल कारण सास्कृतिक सघर्ष है। इस सघर्ष का मूलोत्पाटन करना असम्भव है। वह तो चलेगा ही। जब दो भिन्न-भिन्न सभ्यताभिमानी सम्प्रदायो का एक ही देश में सहवास होता है तो सास्कृतिक सघर्ष का होना अवश्यम्भावी है। इसे कोई रोक नही सकता। पर यदि बुद्धिमानी से काम लिया जावे, तो यह सस्कार-सग्राम ठीक रास्ते पर सचालित हो सकता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए हमे हिन्दुस्थान के प्रत्येक प्रान्त मे ऐसी सस्थाओ की आवश्यकता होगी, जहाँ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के लोग एक दूसरे के मजहबो का मनोयोग-पूर्वक अभ्यास करेंगे और इस प्रकार अपनी कमजोरियो और दूसरो की विशेषताओ की पहचान कर सकेंगे। तुलनात्मक दृष्टि से मजहबो का अभ्यास करनेवाले विद्वान् लोगो के हाथो मे समाज-शासन की बागडोर रहेगी और ऐसे लोगो से प्रभावित होकर ही हिन्दुस्थान के कलहशील सम्प्रदाय आपस मे स्नेह और आदर का सम्बन्ध स्थापित कर सकेगे। यहाँ पर हम इतना कह देना आवश्यक समझते है कि इस सम्बन्ध मे हिन्दुस्थान के मुसलमान बडे सकीर्ण है। उनकी धारणा है कि इस्लाम को छोडकर किसी मजहब मे कोई खूबी है ही नही। उनकी यह नासमझी उनकी बेहतरी और विकास के लिए बडी बाधक है। आज इस देश में ऐसे कई हिन्दू मिलेगे जिन्होने इस्लाम का मनोनिवेश-पूर्वक अभ्यास किया है, अरबी पढी है और मूल कुरान को विचार-पूर्वक आदि से अन्त तक कई बार पढा है। परन्तु समूचे देश मे शायद ही कोई ऐसा मुसलमान मिलेगा, जिसने हिन्दुओ के धर्म-ग्रथो को दिलचस्पी के साथ देखा हो और उनके सिद्धान्तो पर निरपेक्ष भाव से विचार किया हो। ऐसी कूपमडूकता किसी के लिए भी लाभदायक नही हो सकती। यह खामी मुसलमानो की खास विशेषता है। उन्हे चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके, वे अपने सम्प्रदाय को इस बौद्धिक सकीर्णता से मुक्त कर डाले और उदारचेता बनकर हिन्दू-धर्म का अभ्यास

करे और ज़रा देखे कि उसमें कौन-कौन-सी खूबियाँ हैं। मुसलमानो को यह समझ लेना चाहिए कि यह दुनिया बहुत बड़ी है और उसमे कई बातें ऐसी है जो उनके जानने योग्य है। उन्हे चाहिए कि वे अपनी समझ की खिड़कियो को खुली रखे ताकि चारो तरफ़ की स्वच्छ वायु प्रवेश करके उनके मस्तिष्क और हृदय को स्वच्छ और सुसस्कृत बनावे।

हिन्दू और मुसलमानो की बढती हुई विषमता को देखकर कई बार हमारे कई राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ताओ को बड़ी निराशा होती है और बहुधा वे यह उद्गार प्रकट करते हुए सुने जाते हैं कि हमारे साम्प्रदायिक झमेले का निपटारा होना एक तरह से असम्भव है। ऐसे निराश लोगों से हम स्नेहपूर्वक आग्रह करते हैं कि वे इस भावना को अपने हृदय में स्थान न दें। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या आज भले ही जटिल प्रतीत हो, परन्तु इन दोनों के सघर्ष मे अन्ततोगत्वा दोनो सम्प्रदायो का कल्याण अन्तर्निहित है। परमात्मा की सृष्टि में कोई घटना निरर्थक नही होती। उसमे कुछ न कुछ ईश्वरीय उद्देश्य होता ही है। विचार करने की बात है कि यदि एक मनुष्य भूल करता हो तो दूसरा मनुष्य उसे सुधार सकता है। परन्तु जब समूचा सम्प्रदाय अपने लक्ष्य-पथ से भ्रष्ट हो जावे तो उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिए सृष्टि-कर्त्ता के पास एक ही उपाय है। वह उस समाज को किसी ऐसी दूसरी जाति के सम्पर्क मे डाल देता है कि जिसका सघर्ष उसके लिए लाभदायक हो। अतएव कोई ऐसा कदापि न समझे कि इस पृथ्वी पर सम्प्रदायो का योग-वियोग बिलकुल निरर्थक होता है। ऐसी सभी घटनाओ मे ईश्वरीय उद्देश्य प्रच्छन्न रहता है। और तो क्या, मनुष्यो पर बीतनेवाली दुर्घटनायें भी सार्थक और स्वास्थ्य-प्रद होती है।

इस व्यापक ईश्वरीय दृष्टि से यदि हम अपनी साम्प्रदायिक उलझनो पर विचार करें, तो हमारे लिए निराशा का कोई भी

कारण दिखाई नही देता। इस देश मे हिन्दू और मुसलमानो का सम्पर्क दोनो के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। अपनी सभ्यता के प्रातःकाल मे मध्याह्न तक हिन्दू-समाज वर्णाश्रम-धर्म का अवलम्ब लेकर सदियो तक प्रगतिमान् रहा। उसने वैभव के अच्छे से अच्छे दिन देखे और ससार की सबसे प्राचीन और उत्कृष्ट सभ्यता को जन्म दिया। परन्तु कालान्तर मे वह अपनी सस्कार-सिद्ध उदारता से पराङ्मुख होकर सकीर्ण हो चला। धार्मिक स्वतत्रता तो उसमे पूर्ववत् बनी रही; परन्तु उसमे सामाजिक सकीर्णता आने लगी। परिणाम यह हुआ कि भिन्न-भिन्न वर्णो के बीच की स्नेह-शृखला टूट गई और इस तरह सारा हिन्दू-समाज असबद्ध होकर बिखर गया। ऊँच-नीच के भेद-भाव ने डेरा जमाया और इस कारण कई जातियो और उपजातियो की सृष्टि हो गई। हिन्दुओ की इस साम्प्रदायिक शिथिलता को दूर करने के लिए ही विधाता ने मुसलमानो को इस देश मे भेजा है। इस्लाम ने एक ऐसे जन-समुदाय की रचना की है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे को भाई की नजर से देखता है और सामाजिक दृष्टि से ऊँच-नीच का भेद नही मानता। अन्यान्य सम्प्रदायो के प्रति मुसलमानो ने हमेशा उद्दडता से काम लिया है, परन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि स्वधर्मावलबियो मे उनका पारस्परिक व्यवहार अभिनदनीय है, अनुकरणीय है। एक आदमी मुसलमान की हैसियत से उन सब सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारो का उपभोग कर सकता है, जो इस समाज के बडे से बडो को प्राप्त है। प्रार्थना करते समय मसजिद मे इस्लाम को माननेवाले सेठ-श्रीमान् और कुली-किसान एक ही पक्ति में अभेद-भाव-पूर्वक खडे हो सकते है। सामाजिक अस्पृश्यता जैसी कोई भावना ही उनमे नही है। उनका सम्प्रदाय मुक्तद्वार है, उदार है और इसी कारण सम्बद्ध भी है।

हिन्दू-समाज की सामाजिक त्रुटियो की चर्चा हम कर चुके है।

उन्हीं कमजोरियों को दूर करने के लिए विश्वविधाता ने हिन्दुओं को मुसलमानों के संघर्ष में डाल दिया है। विचारशील पाठक देखेंगे कि इस संघर्ष में हिन्दू-समाज कभी टोटे में न रहेगा। आज करीब पचास वर्षों के अन्दर हिन्दुओं के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुए हैं, उनसे हमारे इस विश्वास का पोषण होता है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य-समाज की रचना की और हिन्दू-समाज को उसके प्राचीन रूप की झाँकी दिखाई। उस समय अधिकांश हिन्दू कर्तव्य-विमूढ़ता की तमिस्रा में भटक रहे थे और कुछ थोड़े से लोग ही स्वामी जी का आशय समझ पाये। धीरे-धीरे समय ने सिद्ध किया कि आर्यसमाज की सामाजिक उदारता सारे हिन्दुओं के लिए अनुकरणीय है। परिणाम यह हुआ कि जो विचार किसी समय केवल आर्यसमाज ही को मान्य थे, वे आज हिन्दू-महासभा के वृहत् अधिवेशनों में स्वीकृत हो चुके हैं। आज हिन्दुओं का दृष्टिकोण बहुत कुछ सुधर चुका है। जाति और उपजातियों के बीच अभेद-भाव स्थापित करने की तथा अन्त्यजों को मनुष्योचित प्रतिष्ठा देने की आवश्यकता अब प्रत्येक विचारवान् हिन्दू को प्रतीत हो रही है। इस व्यापक मानसिक परिवर्तन का श्रेय किसको देना चाहिए? पाठक चाहे जैसा कुछ सोचे-समझें, हिन्दुओं के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण में जितनी उदारता आज दिखाई देती है, उसका सारा श्रेय इस्लामी सम्पर्क को है। हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो व्यापक संघर्ष हुआ उसने एक प्रचंड ज्वाला प्रज्वलित हुई। वह ज्वाला दयानंद सरस्वती के रूप में प्रकट हुई और प्रकट होकर उसने हिन्दू-समाज के कल्मषों को हमेशा के लिए जला देने का भगीरथप्रयत्न किया।' आग अभी जल ही रही है। समाज-शुद्धि की क्रिया अभी जारी है।

परन्तु जिस तरह हिन्दू-समाज ने मुसलमानों के सम्पर्क से लाभ उठाया, वैसा फायदा मुसलमानों ने हिन्दुओं के संघर्ष से अभी तक

हासिल नहीं किया। यह खेद की बात है। हमारे मुसलमान भाई ऐसा कदापि न समझे कि उन्हें हिन्दुओ से कुछ भी सीखना नही है। उनकी धर्मान्धता उनकी सबसे बडी बुराई है। जब तक वे इस प्रचलित दोष से मुक्त न होगे, तब तक उनका विकास-पथ सर्वथा अवरुद्ध रहेगा। परमात्मा सभी का सुधारक है। मुसलमानो को भी उसने हिन्दुओ के बीच किसी उद्देश्य ही से डाला है। जैसा कि अभी हम कह चुके है, उनके सम्पर्क से हिन्दुओ की सामाजिक सकीर्णता और शिथिलता दूर हो रही है और होगी, पर हिन्दुओं के सघर्ष से इस्लाम की धर्मान्धता भी नष्ट होनी चाहिए। हिन्दू अपने धार्मिक विचारों में उदार है, परन्तु सामाजिक बातो में सकीर्ण है। मुसलमानो का सामाजिक दृष्टिकोण उदार है, पर वे अपने धार्मिक विश्वासो मे सकीर्ण-हृदय है। अतएव परमात्मा की मशा है कि हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के सम्पर्क में आकर अपनी अपनी सकीर्णताओ से मुक्त हो और एक दूसरे की उदारता धारण करे। देश के मुसलमान इस ईश्वरीय अभिप्राय को नही समझ पाये है। शिक्षा के व्यापक अभाव के कारण उनमे जिज्ञासा नही आ पाई है। इस सबब वे अभी समझदारी की दौड में सबसे पीछे पड़े हुए है। जिस दिन उनकी प्रज्ञा की आँखे खुलेंगी, उस दिन उन्हे प्रतीत हो जावेगा कि हिन्दुओ का बाजा इस्लाम का अनादर नही करता, बल्कि इस बात का परीक्षक है कि मुसलमान अपनी प्रार्थना मे कितने तल्लीन और एकाग्रचित्त रह सकते है। उसी दिन वे यह भी समझ सकेंगे कि गाय को माता के समान आदर देने में हिन्दुओ ने अपनी व्यवहार-बुद्धि और आदर्शवाद का जो परिचय दिया है, वह सर्वथा स्तुत्य और अभिनदनीय है। हमारा भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। गाय के दूध से हम पलते है, उसकी खाद से हम अनाज की पैदावारी बढाते हैं और उसकी सतति से हमारे खेत जोते जाते है। जिस जीव-धारी से हमारा इतना उपकार होता है, वह हमारे लिए मातृवत् पूज-नीय है। जिस प्रकार माता हमें जन्म देकर हमारा लालन-पालन

करती है, उसी प्रकार जन-समाज का पालन-पोषण गो-वंश के द्वारा ही होता है। अतएव सम भदार मनुष्य को इतना कृतघ्न नहीं होना चाहिए कि जिस प्राणी के द्वारा उसका इतना उपकार होता है, उसी को वह मारकर खा जावे। संसार के किसी भी अर्थशास्त्री से जाकर मुसलमान पूछे कि हिन्दुस्थान की आर्थिक व्यवस्था में गाय के लिए कौन-सा स्थान है। उन्हें प्रतीत हो जावेगा कि आज जो लोग इस उपकारी जानवर को मारकर खा जाते है, वे परोक्ष रूप से अपने भावी बाल-बच्चों का भक्षण ही कर रहे हैं। वे इस देश के आर्थिक उत्कर्ष की जड़ खोद रहे हैं। ऐसे लोगों से बढकर इस देश का कोई जानी दुश्मन नहीं। खुदा के सामने अपनी खामियों की कुरबानी करो, गाय की नहीं। इस प्रत्यक्ष और स्वयम्-सिद्ध बात को समझने की सद्बुद्धि देश के मुसलमानो मे जल्दी से जल्दी आवे, यही हमारी प्रार्थना है।

यह एक निश्चित बात है कि हिन्दू और मुसलमानों का सांस्कृतिक संघर्ष अभी बहुत दिनों तक चलेगा। वह तब तक चलेगा, जब तक पारस्परिक घर्षण से दोनो की बुराइयाँ दूर न हो जावे, जब तक एक दूसरे की खूबियो को पहचानने की सद्बुद्धि दोनों सम्प्रदायो मे जाग्रत न हो। अपनी धर्मान्धता से मुक्त होकर मुसलमानो को किसी न किसी दिन समझना ही पडेगा कि हिन्दुस्थानियो के लिए गो-हत्या करना आत्महत्या के समान है। इस देश के लिए गोकुशी खुदकुशी से भी बढ़कर है। उन्हें यह भी हर हालत में मंजूर करना होगा कि आम रास्तों पर अपने तरीके से जलूस निकालने का अधिकार सभी को है। तुनकमिजाजी से खुदा खुश नहीं होता। जिस दिन इस देश के मुसलमान रोज नहाना-धोना सीखेंगे, स्वच्छता-पूर्वक रहेंगे, गो-वध से हाथ धो लेंगे और धर्मान्धता से मुक्त होकर उदारचेता और मननशील बनेंगे, उसी दिन हिन्दू-मुसलमानो का सांस्कृतिक संघर्ष समाप्त हो जावेगा। उस दिन ईद में हिन्दू और होली-दिवाली में मुसलमान शरीक हो सकेंगे। कुरान में ऐसी कोई बात नहीं, जो हिन्दू-धर्म के विरुद्ध हो। हिन्दुओं

के धार्मिक विचार इतने उदार हैं कि उनके समाज में आस्तिक और नास्तिक दोनों के लिए स्थान है। उनकी धार्मिक व्यवस्था सर्वांगीण है। उसमें भक्त, ज्ञानी और कर्मयोगी सभी के लिए स्थान है। मिट्टी-पत्थर के पूजनेवाले और आत्म-विश्वास-पूर्वक 'सोऽहं' कहनेवाले दोनों इस धर्म में समा सकते हैं। ध्यान रहे कि हिन्दू-धर्म किसी मजहबविशेष का नाम नहीं है। कई मजहबों के संघ को ही हिन्दू-धर्म कहते हैं। इस धर्म की व्यापक छत्रच्छाया में इस्लाम और ईसाई-मत दोनों का समावेश हो सकता है। हिन्दुओं के मतानुसार जब जब और जहाँ जहाँ धर्म की ग्लानि होती है, ईश्वरीय विभूतियाँ उद्भ्रान्त जन-समाज को कर्त्तव्य-पथ पर लाने के लिए प्रकट हुआ करती हैं। इस दृष्टि से हज़रत मुहम्मद और ईसा दोनों परमात्मा के कल्याणकारी आंशिक अवतार हैं। हिन्दू इस बात को मानने के लिए तैयार है। जिस हिन्दू-धर्म में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गौतम तथा कणाद-सरीखे भिन्न-भिन्न सिद्धान्त-दर्शी महापुरुषों के लिए स्थान है, वहाँ हज़रत मुहम्मद और ईसा के लिए भी पर्याप्त प्रतिष्ठा का स्थान सुलभ हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह कि हिन्दू-धर्म-निर्मित मजहबों के इस विराट् संघ में इस्लाम के लिए भी स्थान है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हिन्दू-मुसलमानों में सांस्कृतिक एकवाक्यता स्थापित हो। हिन्दुस्थान के मुसलमान अरब से अपना मजहब भले ही लें, परन्तु रहन-सहन, सभ्यता और संस्कार उन्हें हिन्दुओं से ही लेनी पड़ेगी। इच्छा से या अनिच्छा से इतना तो उन्हें करना पड़ेगा। यदि वे स्वेच्छापूर्वक न करेंगे, तो समय उनसे इतना करा ही लेगा। अभी भी देहात के मुसलमानों में हिन्दू-संस्कृति की छाप विद्यमान है। क्यों न रहे, आखिर वे हिन्दू माता-पिताओं के वंशधर ही तो हैं। उनके शरीर में अरब-निवासियों का खून नहीं है, हिन्दू-जाति का ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। अतएव हिन्दुस्थान के मुसलमानों को अपने पूर्वजों की पहचान करनी चाहिए। इसी पहचान के द्वारा उन्हें आत्म-परिचय भी

प्राप्त हो जावेगा। अपने आपको जिस दिन वे पहचान सकेंगे, उस दिन वे हिन्दुओ से अश्रुपातपूर्वक ऐसे मिलेंगे जैसे बहुत दिनो के बिछुडे भाई आपस में मिलते हैं। भारतीय राष्ट्र-निर्माण की क्रिया भी उसी दिन पूरी होगी, जिस दिन दोनो सम्प्रदाय आपस में घुल-मिल कर एकाकार हो जावेंगे। उस दिन आज के समान ऊँच-नीच के भेद-भाव से भरे हुए न तो मिथ्याभिमानी हिन्दू रह जावेंगे, न फिर धर्मान्ध मुसलमान ही नज़र आवेंगे। दोनो सम्प्रदाय एक दूसरे से परिष्कृत होकर एक ऐसे नवीन भारतीय जन-समाज की रचना करेंगे जो हिन्दुओ की सामाजिक सकीर्णता और मुसलमानो की धर्मान्धता दोनो से मुक्त रहेगा और उसके द्वारा भारतीय सभ्यता साहित्य तथा तत्त्वज्ञान का प्रसार इस पृथ्वी पर उत्तरोत्तर बढता जावेगा। वह दिन अभी बहुत दूर है। फिर भी हमे उसी शुभ घडी के लिए प्रयत्नशील रहते हुए जीना है। इसी एकान्त कामना से प्रेरित होकर हमारे समझदार हिन्दू और मुस्लिम नेताओ को दूरदर्शिता-पूर्वक परस्पर सहयोग में मनसा, वाचा, कर्मणा सलग्न हो जाना चाहिए। वे प्रयत्नशील बने रहें, समय सत्परिणाम लेकर समय पर उपस्थित होगा।

अतएव महात्मा जी का यह कहना बिलकुल सच है कि समय ही हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को हल करेगा। काल से बढकर बलवान् कोई दूसरा नही। जो काम दस-बीस महापुरुष भी मिलकर नही कर सकते, उसका सपादन वह अनायास कर देता है। काल परमात्मा का रूप है। 'कालाय तस्मै नम।' इसी कारण वह इतना प्रबल होता है।

हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को हल करने में महात्मा जी ने अपनी दृष्टि से बडी सावधानी से काम लिया है। मुसलमानो को प्रसन्न करने में उन्होने कोई भी बात नही उठा रक्खी है। उनकी तुनुकमिज़ाजी का खयाल करके उन्होने अपनी स्वाभाविक स्पष्टवादिता से भी काम नही लिया। फिर भी उन्हें साम्प्रदायिक मेल-सपादन करने में अभी तक कुछ भी सफलता न मिली। भविष्य में मिलने की उन्हें आशा भी

नही है। इसलिए वे कहते है कि निकट भविष्य में इस प्रश्न का हल होना असम्भव-सा प्रतीत होता है। इसी कारण इस सम्बन्ध में अब महात्मा जी विशेष दिलचस्पी नही लेते। साम्प्रदायिक प्रश्नो पर वे अब अपने विचार भी बहुत कम प्रकट करते है। उनके समान आशावादी मनुष्य यदि ऐसी उदासीनता प्रकट करे तो समझना चाहिए कि हमारा साम्प्रदायिक वैमनस्य अत्यन्त निराशाजनक है। इसी कारण विवश होकर कहना पडता है कि इसका निर्णय काल ही करेगा।

फिर भी दूसरी दृष्टि से यदि इस समस्या पर हम विचार करें, तो कहना पडेगा कि गाधी जी ने यरोडा जेल मे आमरण उपवास का सकल्प करके हमारी साम्प्रदायिक मैत्री की बुनियाद काफी गहरी डाल दी है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की कुटिल नीति यदि कारगर हो जाती और हिन्दू-समाज दो हिस्सो में विभक्त हो जाता, तो फिर हिन्दू-मुस्लिम-मेल का असम्भव हो जाना अवश्यम्भावी था। फिर तो इस दुर्दैव-दलित देश को ऐसा भी त्रिदोष लग जाता कि राष्ट्रीयता का जाग्रत होना सम्भव ही न था। परन्तु प्राणो को हथेली पर उछालनेवाले इस वीरात्मा ने हिन्दू-समाज को क्षत-विक्षत होने से बचा लिया। गाधी जी की यह राष्ट्रसेवा बिलकुल लासानी है। विभक्त हिन्दू-समाज मुसलमानो का आदर-भाजन नही हो सकता था। हिन्दुओ का सगठित सामाजिक बल ही इतर सम्प्रदायो पर अपना प्रभाव डाल सकता है। गाधी जी के अमर सकल्प की बदौलत हिन्दुओ की प्रतिष्ठा रह गई। ऐसे प्रतिष्ठित और सगठित जन-समाज से सुलह करने की आवश्यकता मुसलमानो को कभी न कभी प्रतीत होगी, इसमे हमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं।

हरिजनो का उद्धार-कार्य हाथ मे लेकर महात्मा जी ने साम्प्रदायिक समझौते का ही सूत्रपात किया है। अपने को अत्यन्त पवित्र और दूसरो को बिलकुल दूषित समझने की जो मानसिक व्याधि हिन्दुओ को लग गई है और जिसके कारण वे अपने हरिजन-बन्धुओ को तिरस्कार की दृष्टि से देखते है, वह भी हमारे साम्प्रदायिक मैत्री के मार्ग मे [illegible] [illegible] [illegible]

पैदा करनेवाली मानसिक प्रवृत्ति है। जिस दिन यह कुत्सित भावना उनके हृदय से निकल जावेगी उस दिन हिन्दुओं की दृष्टि ही बदल जावेगी। यह परिवर्तित दृष्टिकोण हिन्दू-मुसलमानो के बीच सुलह करने में बड़ा सहायक होगा। इस तरह परोक्ष रूप से हमारे साम्प्रदायिक समझौते की बुनियाद महात्मा जी ने डाल दी है। यदि वे अपने जीवन-काल में दोनो सम्प्रदायो के बीच मैत्री सम्पादन न भी कर सकें तो भी उन्हे अपने शुभ सकल्प से किये गये प्रयत्नो पर सन्तोष ही मानना चाहिए।

अध्याय २०

साम्राज्य-निष्ठा

राजभक्ति अतीत समार की ऐतिहासिक भावना है। प्रजातन्त्र के वर्तमान युग मे जन-समाज का हृदय उससे बहुत कुछ पराङ्मुख हो चुका है। प्राचीन काल मे पैत्रिक शासन (Patriarchal System) की जो प्रणाली प्रचलित थी, उसका मूलाधार शासित कुटुम्ब की श्रद्धा एव भक्ति-भावना ही थी। अपने घर के बडे-बूढो को सभी आदर-भाव मे देखते है। उन दिनो गृहस्थी का बूढा ही कुटुम्ब का शासक होता था और आश्रित जनो पर उसके असीम अधिकार होते थे। अपने प्रभाव का उपयोग वह कुटुम्बियो की श्रद्धा-भक्ति के आधार पर ही किया करता था। कालान्तर में जब कई कुटुम्ब के लोग एक ही स्थान पर बहुत दिनो तक रहते आये, तो समस्त कुटुम्ब-समुदाय का एक ही सर्वोपरि शासक होने लगा। प्रत्येक कुटुम्ब का शासन पहले के समान गृहस्थी के किसी सयाने के द्वारा तो होता ही था, लेकिन कई कुटुम्बो के पारस्परिक विवाद तथा झगडो मे एक ऐसे मनुष्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो उनके बीच न्यायबुद्धि से निर्णय दे सके। इस प्रकार प्रत्येक कुटुम्ब-समुदाय के लिए एक निर्णायक अधिपति की सृष्टि हो गई। गृहस्थी तथा जन-समाज के इन सचालको की यह विशेषता थी कि वे समाज-शासक और धर्म-गुरु दोनो माने जाते थे। धर्म के साथ श्रद्धा और भक्ति का सहवास है। जिस मनुष्य को हम धर्मात्मा समझते है, उसे हम श्रद्धा की दृष्टि से स्वभावत देखते है। फिर धर्म-गुरु आदर का पात्र क्यो न हो? भारत की सभ्यता में उसके लिए सबसे बडी प्रतिष्ठा का स्थान है। सन्त-मत-वाले तो गुरु को परमात्मा ही समझते है। मोक्ष-मार्ग का दिखानेवाला सबसे

बढकर पूजनीय है। स्वयम् ईश्वर की प्रतिष्ठा उसके सामने फीकी पड जाती है। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु '।

एक ही स्थान पर निवास करनेवाले सम्मिलित कुटुम्ब-समुदाय का सरपच ही राजा का प्रारम्भिक रूप था। कालान्तर में उसकी सत्ता का धार्मिक अग (Spiritual authority) उसके हाथों से निकलकर स्वतन्त्र धर्माचार्यों के हाथ चला गया और केवल भौतिक शासन और न्याय (Temporal power) की बागडोर उसके हाथों में रह गई। लेकिन अपनी परम्परागत धर्म-सत्ता को चुकने के बाद भी वह पहले के समान ही श्रद्धा का पात्र बना रहा। लोग उसे ईश्वरीय विभूति मानते ही आये और खासकर इसलिए कि स्वय धर्माचार्य, पुरोहित और पुजारी भी उसी के द्वारा शासित होते थे। यूरोप के कई स्थानो पर समाज-शासक राजाओ और धर्माधिकारी आचार्यों के बीच सघर्ष भी हुआ, पर अन्त में राज-सत्ता की ही जीत हुई।

लोगो की परम्परागत श्रद्धा के आधार पर इन नराधिपो ने यह दावा भी धीरे धीरे पेश किया कि हम ईश्वर-प्रेषित प्रतिनिधि हैं और न्याय-पालन के द्वारा लोक-कल्याण करने के ईश्वरीय अभिप्राय से ससार में भेजे गये हैं। अतएव उनका यह आग्रह था कि प्रजा राजा के शासना-धिकार को ईश्वरदत्त (Divine right) समझे। राजाओ के प्रति जन-समाज की यह धारणा सदियो तक पृथ्वी के प्राय सभी देशो में बनी रही। कहीं-कही पर कुछ नराधिपो ने अपने सदाचरण और न्याय-शासन के द्वारा इस श्रद्धा को पुष्ट भी किया। पर अधिकाश शासको ने इस श्रद्धा का दुरुपयोग ही किया और प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये। अपनी परम्परागत श्रद्धा के वशवर्त्ती होकर लोगो ने कुछ काल तक वे सब अनाचार शान्ति-पूर्वक सह लिये। कालान्तर मे इन शासको की नालायकी यहाँ तक बढ़ गई और लोकमत उनके विरुद्ध इतना उग्र हो चला कि उन्हे अपना राजसिंहासन सुरक्षित रखना असम्भव हो गया। संतप्त प्रजा के सम्मिलित विरोध ने विद्रोह का रूप धारण किया

और गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक राजाओ की प्रतिष्ठा पूर्वी और पश्चिमी दोनो गोलार्द्धों में छिन्न-मूल हो गई। पाश्चात्य राष्ट्रो में जो वरायनाम वादशाह अभी तक मौजूद थे, उन्हे भी वर्त्तमान सदी के प्रारम्भ ही में अर्द्धचन्द्र मिल चुका। आज तो प्रजातन्त्र शासन ही सर्वत्र सर्वमान्य हो रहा है।

जव पृथ्वी के अन्यान्य देशो मे राजा की ऐसी धाक थी, तो धर्मप्राण भारत का कहना ही क्या? यहाँ के नरेश तो धर्मावतार ही माने जाते थे। इस देश के प्राचीन साहित्य मे चक्रवर्त्ती राजाओ की वडी महिमा गाई गई है। फिर भी इसके साथ साथ उनकी जवावदारी भी बहुत वडी मानी गई है। "राजा कालस्य कारण।" राज्य मे यदि किसी प्रकार का सक्रामक रोग फैल जावे या दुभिक्ष पडे, तो उसका उत्तरदायित्व हिन्दू-सिद्धान्त के अनुसार राजा पर ही पडता है। राम-राज्य मे तो लोगो की अकाल मृत्यु होने का कारण भी राजा ही माना जाता था। एक ब्राह्मण का लडका मर गया। उसने अपने मृत पुत्र की लाश को रामचन्द्र जी के दरवार के सामने लाकर डाल दिया और कहा, "महाराज! आपके राज्य मे इतना अनर्थ हो रहा है कि मेरा पुत्र अकाल ही में चल वसा, इसकी जवावदारी आप ही के ऊपर है।" प्रजा-वत्सल राम को इस वात की चिन्ता हो गई। राज-सत्ता की इस पवित्र जिम्मेदारी की ओर गोस्वामी तुलसीदास ने यह लिखकर सकेत किया है कि —

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

राजधर्म-सम्वन्धी इस ऊँची भावना का परिणाम यह हुआ कि नरेशो में कर्तव्य-निष्ठा की शिथिलता आते ही प्राचीन भारत के कई राज्यो मे अन्यान्य प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित हो चली। कई स्थानो मे तो प्रजा-सत्ता (Democracy) का वर्त्तमान रूप भी दृष्टिगोचर होने लगा। हिन्दुओ की प्राचीन शासन-पद्धति के इतिहास में ऐसे प्रजा-सत्तात्मक शासन के उदाहरण मिल सकते है। लिच्छवी नामक जाति के लोगो में शुद्ध प्रजा-सत्ता का उदाहरण मिलता है। इस

विषय की जानकारी के लिए बाबू राजेन्द्रप्रसाद [illegible] का प्रामाणिक ग्रन्थ अपने पास है। जो लोग यह [illegible] करते हैं कि हिन्दुस्तान [illegible] से अंग्रेजों का गुलाम रहा है और उसकी जनता ने इतिहास में प्रजा-सत्ता का परिचय उसे [illegible] यूरोप के [illegible] से मिला है, उन्हें खूब सोच-समझकर बात कहनी चाहिए।

इस देश के विदेशी सत्ताधारियों की दृष्टि में महात्मा गांधी से बढ़कर राजद्रोही शायद ही कोई दिखाई देता हो। परन्तु उनके जन्मगत संस्कार, स्वभाव तथा व्यवहार सभी से इस बात का प्रमाण मिलता है कि असहयोग-आन्दोलन के पहले उनसे बढ़कर शायद ही कोई सच्चा राजनिष्ठ नेता इस देश में रहा हो। उनका जन्म और लालन-पालन भी राजनिष्ठा से ओत-प्रोत वातावरण में हुआ था। उनके पिता कबा गांधी राजकोट के दीवान थे। उनके दादा से लेकर तीन पुश्त तक उनके पूर्वज काठियावाड़ के भिन्न-भिन्न राज्यों में दीवानगिरी करते आये थे। कहने का अभिप्राय यह कि गांधी जी के कुटुम्ब में राज-भक्ति का रुधिर नस नस में प्रवाहित हो रहा था। गांधी जी का शरीर इसी राजनिष्ठ रुधिर से पुष्ट हुआ था। अधिकारियों के प्रति, चाहे वे परिवार के हों या समाज के, उनकी सहज और स्वाभाविक श्रद्धा थी। अपनी राजभक्ति भावना के संबंध में वे स्वयं लिखते हैं—"शुद्ध राजनिष्ठा का अनुभव मैंने जितना अपने अन्दर किया है, उतना शायद ही कहीं किया हो। मैं देखता हूँ कि इस राजनिष्ठा का मूल है मेरा सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठा का अथवा किसी दूसरी चीज का ढोंग मुझसे आज तक न हो सका। नेटाल की जिस किसी सभा में मैं जाता 'गाड सेव्ह दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भी गाना चाहिए।"

दक्षिण-आफ्रिका की उलटी नीति को देखकर भी उन्होंने उसे क्षणिक समझकर अपने मन का समाधान कर लिया। वे लिखते हैं—"इस कारण राजनिष्ठा में मैं अँगरेजों की प्रतिस्पर्धा करने की चेष्टा करता।

वड़े परिश्रम के साथ अँगरेज़ो के राष्ट्र-गीत 'गाड सेह्व दि किंग' की लय सीखी। सभाओ में जब गाया जाता, तब अपना भी सुर मिलाता। और, विना आडम्बर किये वफ़ादारी दिखाने के जितने अवसर आते, सबमें शरीक होता।"

महात्मा जी को जन्म-सिद्ध राजद्रोही माननेवाले को यह समझ लेना चाहिए कि 'राजभक्ति को एक तरह का फ़र्ज़ समझकर हो उन्होने अदा किया हैं।' रानी विक्टोरिया की डायमण्ड जुबिली उत्साहपूर्वक मनानेवाले और अपने परिवार के लोगो को तथा ट्रेनिंग कालेज के छात्रो को भक्ति-भावना-पूर्वक 'गाड सेह्व दी किंग' सिखानेवाले गाधी जी का हृदय राजनिष्ठा से कितना परिपूर्ण था, कल्पनाशील पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

वर्तमान काल में महात्मा जी से बढकर अहिंसा का हामी कोई दूसरा दृष्टिगोचर नही होता। ससार जानता है कि वे इस सिद्धान्त के पालन में कितने सच्चे और सबल हैं। परन्तु हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गाधी जी के पूर्व जीवन मे उनके हृदय पर ब्रिटिश साम्राज्य का जितना अधिकार था, उतना अहिंसा-धर्म का नही था। महान् आश्चर्य की बात है कि जो गाधी जी आज अहिंसा के मूर्तिमान् अवतार माने जाते है, उनका सार्वजनिक आचरण प्रारम्भ ही से हिंसा का परोक्ष-रूप से समर्थन ही करता आया है। यह काम उन्होंने इसलिए नही किया कि अहिंसा उन्हे प्यारी नही थी, वरन् इसलिए कि उससे राजनिष्ठा उन्हे कही अधिक प्रिय थी। राजभक्ति की बलिवेदी पर महात्मा जी ने अपने जीवन के प्रियतम से प्रियतम सिद्धान्त का बलिदान एक बार नही, अनेक बार कर डाला है। यह एक ऐसी बात है, जो गाधी जी को राजद्रोही समझनेवाले और अहिंसा के एकनिष्ठ पुजारी माननेवाले दोनो वर्ग के लोगो के लिए विचार करने योग्य है।

बोअर-युद्ध के सबध में गाधी जी के जो मनोभाव थे, उनका वर्णन आत्मकथा में उन्होंने इस तरह किया है —"जब यह युद्ध छिडा, तब मेरे

मनोभाव बिलकुल बोअरो के पक्ष मे थे, पर मै यह मानता था कि ऐसी बातो में व्यक्तिगत विचारो के अनुसार काम करने का अधिकार अभी मुझे प्राप्त नही हुआ है। इस सबध मे जो मथन मेरे हृदय मे हुआ उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैने दक्षिण-आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास मे किया है। इसलिए यहाँ लिखने की आवश्यकता नही। जिनको जानने की इच्छा हो, वे इस पुस्तक को पढ लें। यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफादारी मुझे इस युद्ध में योग देने के लिए घसीट ले गई।"

ले ही गये घसीट के मुझको परेड पर।
तैयार हो रहा था मैं जन्नत के वास्ते॥ (अकबर)

जुलू-विद्रोह के समय गाधी जी के क्या मनोभाव थे, सो भी सुनिए —
"मुझे जुलू लोगो से कोई दुश्मनी नही थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्थानी को नुकसान नही पहुँचाया था। मुझे खुद बलवे के सबध में भी सन्देह था, परन्तु मै उस समय अँगरेजी सल्तनत को ससार के लिए कल्याणकारी मानता था। मै हृदय से उसका वफादार था। उसका क्षय मै नही चाहता था। इसलिए बल-प्रदर्शन-विषयक नीति-अनीति के विचार मुझे रोक नही सकते थे।"

साराश यह निकला कि उन दिनो गाधी जी के नैतिक जीवन पर जितना ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभाव था, उतना अधिकार अहिंसात्मक विचारो का नही था। राजनिष्ठा के अनुकूल ढाँचे मे उनके नीति-अनीति-विषयक विचार ढले हुए थे। निस्सहाय जुलू लोगो के विरुद्ध ब्रिटिश सत्ता को गाधी जी ने जो सहायता पहुँचाई, उसके कारण उन्हे मनोवेदना भी हुई। वे लिखते है —"बोअर-सग्राम मे युद्ध की भयकरता मुझे इतनी नही मालूम हुई, जितनी इस बार। यह लडाई नही, पर मनुष्य का शिकार था। अकेले मेरा ही नही, बल्कि दूसरे अँगरेजो का भी यही खयाल था। सुबह होते ही हमे उन सैनिको की गोलाबारी की आवाज पटाखे की तरह सुनाई पडती, जो गाँवो मे जाकर गोलियाँ झाडते। इन शब्दो को

सुनना और ऐसी स्थिति में रहना मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। परन्तु मैं इस कड़वी घूंट को पीकर रह गया।"

आखिर गांधी जी ने अपनी अन्तरात्मा को यह समझाकर शान्त किया कि यदि वे जुलू घायलों की सेवा में कदम न बढ़ाये होते, तो दूसरे कोई उस काम के लिए तैयार नहीं होते। हमें तो ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इस विचार-सरणी से उनकी अन्तरात्मा को पूरी पूरी शान्ति मिल गई होगी।

आक्रमणकारी की ओर से युद्ध में जो ऐसी सहायता दी जाती है, उसके संबंध में गांधी जी को कुछ भी भ्रम नहीं था। वे इस बात को समझते थे कि ऐसी सेवा-शुश्रूषा का काम अपने हाथ में लेकर भी युद्धजन्य हिंसा के दोष से मैं नहीं बच सकता। उनके विचार सुनिए —

"जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तब उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।"

उपर्युक्त विचार बिलकुल सही हैं। अतएव कहना पड़ता है कि गांधी जी को अपनी उन सेवाओं के सम्बन्ध में कुछ भी भ्रान्ति नहीं थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि उनका आचरण उनके हृदयगत सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध था। फिर भी उन्होंने अपने विचारों की परवाह नहीं की और ब्रिटिश साम्राज्य की कल्पित प्रतिष्ठा को कायम रखने के प्रयत्न में उनका सर्वथा बलिदान कर डाला। वह भी एक बार नहीं, अनेक बार। राजनिष्ठा अपनी मर्यादा को पार कर गई। इस निष्ठा ने एक सिद्धान्त-प्रेमी महापुरुष के सार्वजनिक जीवन की

ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की नेकनीयती पर उन्हे पूरा पूरा विश्वास था। परन्तु ऐसे कई लोगो के हृदय से यह विश्वास उन दिनो भी उठ चुका था जो कि गाधी जी के समान ही सभ्य और दूरदर्शी थे।

जो हो, इस बार भी राजनिष्ठा ने महात्मा जी के हृदय से अहिसा-धर्म को अर्द्धचन्द्र दे दिया। विरोध की परवाह न करके उन्होंने स्वय-सेवको के लिए उपस्थित भारतीयो से अपील कर ही दी। कुछ नाम आये। लार्ड क्रू के पास सेवा-स्वीकार के लिए बाकायदा अर्जी भेज दी गई। प्रार्थना की सुनाई हो गई और ब्रिटिश अधिकारियो ने इस बात के लिए अहसान माना कि गाधी जी के नेतृत्व मे हिन्दुस्थानियो ने ऐन मौके पर साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाई।

गाधी जी के कई अहिंसा-प्रेमी मित्रो को उनकी यह साम्राज्य-सेवा पसन्द नही आई। दक्षिण-आफ्रिका से मिस्टर पोलक का एक तार आया। उसमे उन्होने प्रश्न किया था, "आपका यह काम अहिंसा-सिद्धान्त के खिलाफ तो नही है?" पोलक साहब इस बात को जानते थे कि गाधी जी ने अपने मनोभाव के विरुद्ध बोअर-सग्राम मे साम्राज्य को सहायता पहुँचाई थी। फिर भी इस बार उनकी यह धारणा थी कि गाधी जी अपने सिद्धान्त पर आरूढ होगे और साम्राज्य के हिसा-काण्ड से कोई सरोकार न रक्खेगे। उन्हे क्या मालूम कि गाधी जी के हृदय मे साम्राज्य-निष्ठा का प्रदीप पूर्ववत् ही प्रज्वलित था। जिस विचार-सरणी का अवलम्ब लेकर बोअर-सग्राम में वे शरीक हुए थे, उसी के अनुसार इस बार भी योग देने के लिए वे कटिबद्ध हो गये। पर यह नही मालूम होता कि पोलक के उस टेढे प्रश्न का महात्मा जी ने क्या उत्तर दिया!

इस युद्ध में योग देने के पक्ष मे उन्होंने कुछ दलीले आत्म-कथा मे दी है। उन सब पर हम असहयोग-प्रकरण मे अपने विचार प्रकट करेंगे। इस अध्याय में तो हम इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि गाधी जी के हृदय मे राजनिष्ठा की जड़ कितनी गहरी घुसी हुई थी।

जो अलौकिक आचरण-बल से सम्पन्न होकर सिद्धान्त-प्रेमी भी हो और जो अपने प्रिय विचारो के अनुसार काम करने में अपने प्राणो की भी परवाह न करता हो, ऐसा मनुष्य यदि राजनिष्ठा से प्रेरित होकर अपने चिरपोषित सिद्धान्त का बलिदान कर दे, तो उसकी निर्विकल्प राजभक्ति के सम्बन्ध में तिलमात्र भी सन्देह की गुजाइश नही हो सकती। साम्राज्य के प्रति महात्मा जी की निष्ठा इसी कोटि की थी। वह उनके जन्मगत कौटुम्बिक सस्कार की विशेषता थी। इसी कारण दक्षिण-आफ्रिका के दूषित और दमन-पूर्ण वातावरण मे भी वह कुठित न हो सकी। अनादर और यत्रणा की भट्ठी में पडकर वह जली तो नही, कदाचित् और भी निर्मल हो गई। बडे लोगो के हृदय की गति विचित्र होती है।

केवल विलायत मे ही खटपट करके महात्मा जी सन्तुष्ट न हुए। हिन्दुस्थान पहुँचकर भी उन्होने रँगरूटो की भरती मे दिलचस्पी ली। वाइसराय की सभा मे वे निमन्त्रित हुए। सभा मे गाधी जी ने जिस प्रस्ताव का समर्थन किया, उसका आशय था कि इस युद्ध में साम्राज्य की सहायता करना प्रत्येक हिन्दुस्थानी का कर्त्तव्य-कर्म है। विशेष मार्के की बात तो यह थी कि वाइसराय ने लोकमान्य सरीखे प्रथम श्रेणी के नेताओ को सभा मे बुलाया ही न था। यह बात महात्मा जी को खटकने-वाली हुई। क्यो न हो, उन दिनो लोकमान्य तिलक हमारे राष्ट्रीय नेताओ के सिरमौर थे। किसी भी ऐसी सभा मे उनका अनुपस्थित रहना किसी भी दृष्टि से वाञ्छनीय नही माना जा सकता था। देश उन्ही के पीछे था। राष्ट्रीय नेताओ के प्रति सरकारी दुर्लक्ष्य की ओर लक्ष्य करते हुए महात्मा जी ने एक पत्र वाइसराय को लिखा। इस पत्र का साराश उन्होने आत्म-कथा में दे दिया है।

पत्र से मालूम होता है कि लोकमान्य, एनी बेसेण्ट तथा अली-बन्धुओ के प्रति सरकारी अवहेलना के कारण गाधी जी की इच्छा सभा मे उपस्थित होने की न थी। परन्तु वाइसराय से मुलाकात करने के बाद

उन्होंने अपना विचार बदल दिया। अपनी राजनिष्ठा के वशवर्ती होकर उन्होंने इस बात की भी परवाह नही की कि प्रथम श्रेणी के अन्यान्य राष्ट्र-नेताओ के सहयोग के बिना मै साम्राज्य की सहायता करने मे सफल हो सकूँगा या नही। उनकी धारणा थी कि हिन्दुस्थान के शिक्षित समुदाय मे युद्ध के प्रति जो उदासीनता प्रत्यक्ष हो रही थी, वह साम्राज्य के आपत्तिकाल में सर्वथा अनुचित थी। समय पर अँगरेजो की सहायता करके उनकी भलमसाहत को जाग्रत करना और उनसे हिन्दुस्थान के लिए देनगी के रूप मे होमरूल लेना उनका उद्देश्य था। ब्रिटिश साम्राज्य के सचालको की नेकनीयती पर उन्हे इतना अधिक विश्वास था कि लोकमान्य सरीखे नेताओ के सहयोग के बिना ही वे रँगरूटो की भरती में सलग्न हो गये। लेकिन जहाँ कही वे गये, लोगो मे उदासीनता ही नजर आई। वे लिखते हैं—"खेडा पहुँचते ही वल्लभभाई वग़ैरह के साथ सलाह की। उनमें से कितनो को तुरन्त घूँट न उतरी। जिन्हे यह बात पसन्द भी पडी, उन्हे कार्य की सफलता के बारे मे सन्देह हुआ। जिस वर्ग में से भरती करनी थी, उस वर्ग को सरकार के प्रति कुछ भी प्रेम नही था। सरकार के अफसरो के द्वारा हुए कड़वे अनुभव अभी ताजे थे।"

इस सार्वजनिक अनास्था का परिणाम भी वही देखने में आया। खेडा की लड़ाई में लोग मुफ्त में गाडियाँ देते थे। एक के स्थान मे कई स्वय-सेवक हाजिर हो जाते थे, मगर इस रँगरूटी मामले मे पैसा देने पर भी गाडियाँ दुर्लभ हो गईं। गाडी न मिलने पर गाधी जी ने पैदल चलने का निश्चय किया। रोज बीस मील चलते। भोजन भी न मिलने का अन्देशा था, इसलिए खाने-पीने की सामग्री साथ रखनी पडी। देहात की सभाओ में लोग किसी तरह एकत्र तो हो जाते, पर ज्योही रँगरूटो के लिए अपील की जाती, लोग खिसकने लगते थे। जो लोग वहाँ टिक जाते, उनमें से कुछ तो झुँझलाकर गाधी जी से यह प्रश्न कर बैठते—"आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार लेने

को क्यों कहते हैं ? सरकार ने हिन्दुस्थान का क्या भला किया है, कि आप उसे मदद देने को कहते हैं ?" गांधी जी के पास इन प्रश्नों का युक्तिपूर्ण और समाधानकारक उत्तर न तो उस समय था, न आज भी है।

इन सब बातों की चर्चा यत्किंचित् विस्तार के साथ हमने यह सिद्ध करने के लिए की है कि महात्मा जी की साम्राज्य-निष्ठा कितनी गहरी थी। वह इतनी प्रबल थी कि लोकमत को हमेशा आदर की दृष्टि से देखनेवाले गांधी जी ने उस समय इस बात की परवाह नहीं की कि लोग उनके व्यवहार को क्या समझेंगे और अन्यान्य राष्ट्र-नेताओं के मत के विरुद्ध एक नये आगन्तुक को इस तरह देश के नाम पर काम करने का क्या अधिकार है। कहने का सारांश यह है कि जिन दिनों राष्ट्र के अन्य गण्यमान नेताओं की श्रद्धा ब्रिटिश साम्राज्य पर से सर्वथा उठ चुकी थी, जिन दिनों खेड़ा के साधारण किसान भी इस बात को समझ चुके थे कि वर्तमान सत्ताधारियों से उनका किसी भी तरह का हित सिद्ध होनेवाला नहीं है उन दिनों भी गांधी जी की राजनिष्ठा निश्चल बनी हुई थी। इससे बढ़कर उनकी राजभक्ति का प्रमाण और क्या दिया जा सकता है ?

गांधी जी की आँखें अब खुल गई हैं। आज उनकी वह पूर्व-परिचित निष्ठा चूर चूर होकर बिखर चुकी है। आज वे कट्टर असहयोगी है। ऐसे राजनिष्ठ मनुष्य का बागी होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ब्रिटिश साम्राज्य की बुराइयाँ अपनी सीमा को पार कर चुकी है।

अध्याय २१

ब्रह्मचर्य

वर्णाश्रम-धर्म की रचना भारतीय सभ्यता की एक ऐसी विशेषता है, जो सर्वथा अद्वितीय है। इस देश के प्राचीन आचार्यों ने हिन्दू-समाज की रचना के लिए मानव-शरीर को ही आदर्श माना था। मनुष्य के शरीर में सिर, हाथ, पेट और पैर—ऐसे चार अवयव होते हैं, जिनके द्वारा उसका जीवन-निर्वाह होता है। मनुष्यों के सम्बद्ध समुदाय को ही समाज कहते हैं। अतएव एक मनुष्य की जितनी आवश्यकतायें होती हैं, उनके अतिरिक्त समाज को और भी किसी बात की जरूरत नहीं होती। इसलिए मानव-समाज-रूपी विराट् पुरुष के निर्माण में सिर के स्थान पर ब्राह्मण, बाहुओं के स्थान पर क्षत्रिय, पेट के स्थान पर वैश्य और पैरों के स्थान पर शूद्र वर्ण की रचना की गई। इस तरह प्राचीन आचार्यों ने हिन्दू-समाज के चार वर्ण-विभाग लोगों के गुण-धर्मानुसार किये। परन्तु इतना कर चुकने के बाद भी उनका काम अधूरा ही रहा। जिस तरह उन्होंने समाज के चार विभाग किये, उसी तरह मनुष्य-जीवन को भी उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, ऐसे चार आश्रमों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-धर्म जोड़कर समूची व्यवस्था का नाम उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म रखा।

प्रस्तुत अध्याय में हमें न तो चार वर्णों से मतलब है, न फिर गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रम पर ही विचार करना है। हम यहाँ पर केवल ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर ही कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं। जीवन का यह सबसे पहला आश्रम है। शरीर और मन-बुद्धि

की परिपक्वता प्राप्त करने के लिए ही इसकी रचना हुई है,। जीवन मे शरीर ही धर्म का आदि साधन है। 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'। शरीर और मन दोनो का आधार-आधेय सम्बन्ध है। अतएव स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन की सम्भावना रह जाती है और स्वस्थ मन मे ही सतोगुणी विचारो का निवास सम्भव है। विचारो की पवित्रता ही धर्माचरण का एकमात्र साधन है। इस तरह पाठक देखेंगे कि स्वस्थ शरीर और शुद्ध मन—दोनो की सम्मिलित सहायता धर्म-पालन के लिए अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इसी कारण यह आश्रम धार्मिकता का प्रधान स्तम्भ माना जाता है।

ब्रह्मचर्य के यथोचित पालन पर ही उत्तर तीनो आश्रमो की सफलता निर्भर रहती है। जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक शरीर-सम्पत्ति का जिसने सचय नही किया और बुद्धि को विद्यार्जन के द्वारा विमल और विचारवान् नही बनाया, वह गृहस्थाश्रम का सफल सचालक कदापि नही हो सकता और जो मनुष्य गृहस्थी मे कामयाब नही हो सकता, उसका वानप्रस्थ और सन्यास-धर्म के पालन में सक्षम होना सम्भव नहीं है। अतएव यह सिद्धान्त बिलकुल स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य पर ही सफल जीवन की स्थायी बुनियाद डाली जा सकती है। इसी कारण इस प्रारम्भिक आश्रम की महिमा हिन्दू-धर्म-शास्त्रो में बहुत गाई गई है। इस देश में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा एक दूसरे कारण से भी बढी हुई है। हिन्दुस्थान ग्रीष्म-प्रधान देश है। उष्ण जलवायु में प्राणी स्वभावत उतने दीर्घजीवी नही हो सकते, जितने कि शीत-प्रधान देशो मे हुआ करते है। अतएव भारतवर्ष सरीखे देश में यदि लोग दीर्घायु होना चाहे, तो उन्हें अपने जीवन के पूर्व-काल में बडी सावधानी से शक्ति-सचय करना चाहिए। तभी प्राचीन आर्यो का आदर्श पूरा हो सकता है। वह आदर्श है—'जीवेम शरद शतम्'।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य को सौ वर्ष जीने की इच्छा ही क्यो करनी चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर

मे हमे इस बात की भी जानकारी हो सकेगी कि समाज-शास्त्र की दृष्टि से ब्रह्मचर्य स्वय एक ध्येय है या सफल जीवन का साधन-मात्र है। फिर यह भी जानना होगा कि सफल जीवन किसे कहते हैं। क्योकि जब तक हम जीवन की सफलता का स्वरूप निश्चित न कर सकेंगे, तब तक हम यह समझ ही न सकेंगे कि सफल जीवन के उपयुक्त साधन क्या है और उसमें ब्रह्मचर्य का कौन-सा स्थान है। अतएव सबसे पहले हम इसी बात पर विचार करे कि जीवन की सफलता किसे कहना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक जीवधारी है। उसका जन्म, लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा सब कुछ समाज के अन्दर ही होता है। अतएव उसकी शारीरिक तथा मानसिक रचना समाज के द्वारा ही सम्पादित होती है। समाज के प्रभाव से शून्य मनुष्य की कल्पना ही नही हो सकती। भेड़ियो के माँद मे पले हुए बालको का वर्णन जिन लोगो ने पढा होगा, उन्हे यह बताने की जरूरत नही कि मनुष्य अपने मनुष्यत्व के लिए जन-समाज का कितना आभारी है। उसकी भाषा, वेष-भूषा, रहन-सहन, विचार-भाण्डार तथा जीवन-लक्ष्य सभी कुछ उसे देनगी के रूप में समाज से ही प्राप्त होते है। इसी लिए कहना पडता है कि मनुष्य जन-समाज का जन्मसिद्ध ऋणी है। इस ऋण से मुक्त होना उसका परम से परम कर्त्तव्य है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रो ने प्रत्येक मनुष्य के लिए तीन प्रकार के ऋणो की व्याख्या की है, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण। हमारे शारीरिक तथा मानसिक सस्कारो की रचना में हमारे आराध्य देवता, आचार्य तथा पूर्वजो का ही योग रहता है। देवता हमें आशीर्वाद देते हैं। ऋषियो और आचार्यो से हमें ज्ञान-साहित्य प्राप्त होता है और हमारे पूर्वज तथा माता-पिता हमें जन्म देकर हमारा लालन-पालन करते हैं। इन तीनो के सयुक्त उपकार से ही हमे मनुष्यत्व प्राप्त होता है। अतएव इन उपकारो के बदले सेवा के रूप में यथा-शक्ति कुछ न कुछ अर्पण करना प्रत्येक कर्तव्य-परायण मनुष्य का सामाजिक धर्म है।

देवताओ ने पूजा-अर्चन तथा यज्ञ-याग-द्वारा, ऋषियो से ज्ञान-प्रसार-द्वारा तथा पितरो से सुयोग्य पुत्र-दान के द्वारा हम उऋण हो सकते हैं। इसी को हम आज-कल की भाषा मे समाज-सेवा तथा सामाजिक ऋण से मुक्त होना कहते हैं।

मनुष्य एक व्यक्ति है सही, परन्तु उसका सारा जीवन तथा आचार-विचार इतने समष्टिगत है कि हमारी समझ में नही आता कि उसका वैयक्तिक जीवन हम किसे कहे। ससार का निकृष्ट से निकृष्ट मनुष्य भी अपने लडके-बच्चे, स्त्री, माता-पिता, बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्ब-परिवार की चिन्ता में इतना सलग्न रहता है कि स्वय अपने लिए सोचने-विचारने की या तो उसे आवश्यकता ही नहीं रह जाती या फिर उसे अवकाश ही नही मिलता। बाल-बच्चो के लालन-पालन तथा कुटुम्ब-परिवार की भलाई में ही स्वय उसकी भलाई सम्मिलित रहती है। उनके सुख मे ही उसे प्रसन्नता होती है और उनके सन्ताप से वह स्वय सन्तप्त हो जाता है। यह तो ससार के सर्व-साधारण लोगों की बात हुई। यदि मनुष्य सुशिक्षित, उदार और उच्च श्रेणी का हुआ, तो अन्तर इतना ही पडता है कि उसकी सेवा का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए समष्टिगत चिन्ता एव सलग्नता और भी बढ जाती है। उसी अनुपात में उसका व्यक्तिगत हित-चिन्तन और भी कम हो जाता है। गाधी जी के समान महापुरुषो का व्यक्तित्व तो समाज-सेवा में विलीन ही हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य चाहे साधारण श्रेणी का ससारी हो या असाधारण कोटि का महात्मा हो, दोनो हालत में उसका व्यक्तिगत जीवन या तो अपने बाल-बच्चो के पालन में या लोक-सेवा में समर्पित रहता है। यही वस्तुस्थिति है और यही मानवोचित धर्म भी है। यथार्थ में मनुष्य अपने लिए नही, वरन् दूसरो के लिए जीता है। इस वाक्य के 'दूसरो' शब्द में अर्थ की जो व्यापकता है, वह भिन्न-भिन्न मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न हुआ करती है। बस इतना ही अन्तर है और कुछ नही।

जन-समाज मे प्रत्येक मनुष्य का जीवन इतना समाविष्ट रहता है कि वह चाहे किसी भी अवस्था मे हो, उसका प्रभाव आस-पास के लोगो पर अवश्य ही पडता है। यदि वह स्वस्थ और प्रसन्न हुआ, तो उसके साथ रहनेवाले भी सुखी रहते है। यदि वह रोगी है, तो उसकी अस्वस्थता का परिणाम दूसरो पर भी पडता है। यदि वह नेक है, तो उसकी सज्जनता औरो के लिए हितकर होती है। यदि वह चोर, जुआडी और दुराचारी है, तो उसका उदाहरण अन्यान्य लोगो के लिए बुरा होता है, क्योकि जन-समाज मे दुर्गुण तो सक्रामक रोग के समान फैलते है। अतएव मनुष्य का ऐसा कोई आचार नही और विचार नही, जिसका प्रभाव दृश्य या अदृश्य रूप से जन-समाज पर न पडता हो। इसी लिए हमारी यह निश्चित धारणा है कि मनुष्य के लिए 'व्यक्तिगत जीवन' नाम की कोई अवस्था ही नही है। उसकी सारी कर्मण्यता या तो परिवारगत रहती है या समाजगत। यदि महात्मा गाधी के समान कोई बहुत बडा आदमी हुआ, तो उसकी क्रियाशीलता समाजगत हो जाती है।

मनुष्य-जीवन को इस सामाजिक परिस्थिति पर विचार करनेवाले को यह सहज ही प्रतीत होगा कि जिस विधाता ने मनुष्य को समाज से इतना सम्बद्ध बनाया है, उसकी मशा भी यही है कि आदमी समाज-सेवा में ही अपनी सारी शक्तियो का सदुपयोग करे। इसके अतिरिक्त उसके लिए धर्म का कोई दूसरा स्वरूप ही नही हो सकता। देवताओ के ऋण से उसे मुक्त होना है, इसलिए वह भजन, कीर्तन एव यज्ञ-याग के द्वारा जन-समाज मे देव-निष्ठा का उदाहरण रक्खे। ऋषियो से उऋण होने के लिए वह स्वय विद्योपार्जन करे और लोगो में ज्ञान का प्रकाश फैलावे। पितरो के ऋण मे मुक्त होने के लिए वह ब्रह्मचर्य के द्वारा उचित समय तक शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो का सचय करे और तत्पश्चात् गृहस्थी मे प्रवेश करके सुयोग्य सन्तान पैदा करे और अपने बाद अपने स्थान पर वश-परम्परा को सुचारु रूप से चलाने

के लिए ऐसा सुयोग्य प्रतिनिधि पुत्र के रूप में छोड़ जावे, जो अपने पूर्वजों के कीर्ति-प्रसार में सहायक हो। जब तक मनुष्य संयम, सदाचार तथा ब्रह्मचर्य के बल पर अपने से योग्य सन्तान को जन्म नहीं दे सकता, तब तक पितरों के ऋण से वह मुक्त नहीं हो सकता। देवताओं और ऋषियों के ऋण से छूट जाना अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु पितरों के कर्ज का बोझ मनुष्य के लिए बहुत भारी होता है। प्रत्येक कर्त्तव्य-निष्ठ मनुष्य के लिए देवोपासना तथा ज्ञान-प्रचार करना बिलकुल शक्य है, परन्तु अपने से योग्य अथवा अपने ही समान पुत्र पैदा करना उतना ही सम्भव और शक्य नहीं हो सकता। उसके लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा धर्म-निष्ठा का अवलम्ब चाहिए।

परमेश्वर स्वयं लोक-संग्रहशील है। वह संसार तथा जन-समाज का अन्त नहीं, विकास चाहता है। सृष्टि की बाल्यावस्था से आज तक का इतिहास प्राणि-समुदाय के विकास का ही इतिहास है। जीवन-विकास को सन्तान-परम्परा का ही आश्रय लेकर जीवात्मा को परमात्मा तक पहुँचना है। अतएव जब तक खनिज-योनि से वनस्पति जीवन बढ़कर न हो और वनस्पति-योनि से प्राणि-जीवन अधिक विकसित न हो प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ न हो और मनुष्य-समाज में पहली पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी अधिक सभ्य, सदाचारी और सुसंस्कृत न हो, तब तक विकास का प्रवाह निर्बाध गति से अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ ही नहीं सकता। अतएव सृष्टि-विकास की इस नैसर्गिक प्रगति में यथाशक्ति योग देना प्रत्येक विचारवान् मनुष्य का कर्त्तव्य-कर्म है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि समाज-शास्त्र और विकासवाद दोनों की दृष्टि से जन-समाज का उत्कर्ष-साधन ही मनुष्य का एकमात्र धर्म है। इस धर्म का यथोचित पालन वह तभी कर सकता है, जब अपने से बढ़कर सभ्य, शिक्षित और सदाचारशील पीढ़ी का निर्माण करे। प्रत्येक पिता के लिए इससे अधिक गौरव की बात और क्या हो सकती

है कि उसका पुत्र उससे भी विशेष सुयोग्य तथा सदाचारशील हो। इसके विपरीत यदि पुत्र पिता से घटिया निकला, तो पितृत्व की निष्फलता जन-समाज के लिए महान् अनर्थकारी सिद्ध होती है। जिस समाज ने हमें जन्म दिया, शिक्षा-दीक्षा दी और सभ्य बनाया, उसे यदि प्रत्युपकार के रूप मे हम एक ऐसा आत्मज नागरिक न दे सके, जो कम से कम हमारे ही समान कर्तव्य-निष्ठ समाज-सेवक हो, तो इससे बढकर परिताप का विषय हमारे लिए कुछ भी नही हो सकता। इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को पूरा करने मे वही मनुष्य समर्थ हो सकता है, जिसने अपना पूर्व जीवन विमल ब्रह्मचर्य मे व्यतीत किया हो। इस दृष्टि से पाठक अनायास समझ सकेंगे कि ब्रह्मचर्य ससार के अधिकाश लोगो के लिए स्वतत्र ध्येय नही हो सकता। वह एक साधन-मात्र है उस सफल गृहस्थी का, जिसके द्वारा हम समाज की सच्ची सेवा कर सकते है।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-जीवन दोनो के योग से ही हमारे मनुष्यत्व का निर्माण होता है। ब्रह्मचर्य से हमे शरीर-सम्पत्ति और विचार-शक्ति प्राप्त होती है, हमारे शरीर और मस्तिष्क परिपक्व होते है। गृहस्थी से हमें सहृदयता मिलती है, हृदय के सस्कार शुद्ध और उदार होते है। यथार्थ मे गृहस्थी हमारे पौरुष की पाठशाला है। अपने बाल-बच्चों के लिए हमारे हृदय में जो स्वाभाविक स्नेह जाग्रत होता है, उसी निष्कपट भावना का अनुभव ही हमे ससार के अन्यान्य बच्चो से प्रेम करना सिखाता है। अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण मे सेवा-भाव की जिस निश्चल निष्ठा का हम अनुभव करते है, उसी के आधार पर ही उसी भावना को अधिक उदार बनाकर हम लोक-सेवा करने योग्य बनते है। सच पूछा जाय तो गृहस्थी मनुष्य के लिए एक छोटा-सा ससार है। प्रत्येक समाज-सेवक को इस आश्रम मे प्रवेश-परीक्षा देनी पडती है। जो मनुष्य अपने कुटम्ब-परिवार की चौकसी तथा देखरेख में अयोग्य सिद्ध होता है, वह लोक-सेवा क्या खाक कर सकेगा?

जिनका हृदय सहज और स्वाभाविक अपत्य-स्नेह से द्रवीभूत नहीं हुआ, उसमें प्राणि-मात्र के लिए प्रेम का आविर्भाव सम्भव ही कैसे हो ? जिसने परिवार के दस-पाँच आदमियों के लिए अपने स्वार्थ का परित्याग करना नहीं सीखा, वह जन-समाज की निःस्वार्थ सेवा के योग्य कैसे बने ? इतना स्वीकार करने के लिए हम तैयार हैं कि दो-चार उदार संस्कार के लोग अपनी पूर्व जन्मार्जित सहृदयता के आधार पर ब्रह्मचर्य में रहकर भी लोक-सेवा कर सकते हैं। परन्तु सर्वसाधारण लोगों के लिए गृहस्थी का जीवन ही समाज-सेवा-सदन का सिंहद्वार है। इसे पार करना ही चाहिए। हृदय की शिक्षा देनेवाली और स्वार्थ-त्याग की दीक्षा देनेवाली गृहस्थी जन-समाज के सर्व-साधारण लोगों के लिए अनिवार्य है, लोक-संग्रह के लिए नितान्त आवश्यक है और सेवा-धर्म में उत्तीर्ण होने के लिए छोटी-सी पाठशाला है। अतएव लोक-संग्रह की दृष्टि से विवाह एक पवित्र और आवश्यक बन्धन है। इस बन्धन को सफलता-सम्पादन करने के लिए ही ब्रह्मचर्य की आवश्यकता मानी गई है।

महात्मा जी ब्रह्मचर्य के अनन्य प्रेमी हैं। परन्तु उन्होंने उसे दो-चार अपने समान महात्माओं की दृष्टि से ही देखा है। इस बात पर उन्होंने युक्ति-पूर्वक विचार नहीं किया कि जन-समाज के सार्वजनिक उत्थान में तथा राष्ट्र-निर्माण में ब्रह्मचर्य का क्या उपयोग होना चाहिए। वे स्त्री-पुरुष के परिणय-बन्धन को दोनों के पतन का लक्षण समझते हैं। यह एक ऐसी बात है जो व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से निर्मूल प्रतीत होती है। पाठक ज़रा देखें, इस सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं—

"अहिंसा के पालन को लें तो उसका सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना अशक्य है। अहिंसा के अर्थ है सर्व-व्यापी प्रेम। पुरुष का एक स्त्री को या स्त्री का एक पुरुष को अपना प्रेम उत्सर्ग कर चुकने पर उसके पास दूसरे को देने के लिए क्या रहा ? इसका तो यह अर्थ हुआ कि

हम दो पहले और दूसरे सब पीछे। पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार होगा। इस प्रकार उनसे सर्व-व्यापी प्रेम का पालन हो ही नही सकता। वह अखिल सृष्टि को अपना कुटुम्ब बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास माना हुआ कुटुम्ब है या तैयार हो रहा है। जितनी उसमें वृद्धि होगी, सर्व-व्यापी प्रेम में उतना ही व्याघात उपस्थित होगा। हम देखते हैं कि सारे जगत् में यही हो रहा है। इसलिए अहिंसा-व्रत का पालन करने-वाला विवाह नहीं कर सकता। विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या ?"

उपर्युक्त अवतरण में गांधी जी ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे यह सहज ही प्रतीत होता है कि वे जन-समाज के लिए नही, वरन् दो-चार अध्यात्मनिष्ठ महात्माओं के लिए ही मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। हमे यह मानने मे कोई आपत्ति दिखाई नही देती कि अहिंसा का अर्थ सर्व-व्यापी प्रेम हो सकता है। परन्तु क्या विश्व-प्रेमी होने के लिए मनुष्य को ब्रह्मचारी होना ही चाहिए ? क्या अपने स्त्री-बच्चों से प्रेम करनेवाला मनुष्य जन-समाज का प्रेमी नहीं हो सकता ? क्या विवाह-सम्बन्ध मनुष्य को परमार्थ-भ्रष्ट कर देता है ? क्या हृदय की प्रेम-भावना भी कोई ऐसी चीज है, जो एक को देने के बाद दूसरो के लिए शेष नहीं रह जाती, चुक जाती है ?

स्वामी रामतीर्थ से एक बार उनकी धर्मपत्नी ने पूछा "महाराज, आप जब परिभ्रमण करते हैं, तब आपको मेरी याद कभी आती है ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया 'नहीं'। पत्नी ने पूछा, क्यों ? आपको मेरी याद क्यों नहीं आती ? इस प्रश्न के उत्तर में उस प्रणय-शील सन्यासी ने हँसकर कहा, प्रियतमे, मैं तुम्हे कभी भूलता ही नही, फिर तुम्हारी याद की सम्भावना कैसी ? मनुष्य याद तो उसी बात की करता है, जिसे वह कभी भूल जाता है। स्वामीजी विश्व-प्रेमी थे। वे 'आत्मानम् सर्वभूतेपु सर्वभूतानि चात्मनि' देखने के अभ्यासी थे।

लेकिन फिर भी उनके हृदय मे उस देवी के लिए स्थान सुरक्षित था, जिसके साथ वे परिणय-बन्धन मे बँध चुके थे । स्वामी विवेकानन्द जिन दिनो परिव्राजक थे, उन्हे खबर मिली कि उनकी माता बीमार है । माता से मिलने के लिए वे बेचैन हो गये। किसी ने उनसे कहा, स्वामी जी, आप तो ससार-विरक्त सन्यासी है, आपको ऐसा अधीर न होना चाहिए। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया "भाई मेरे, जिस सन्यास में स्नेहमयी माता के लिए प्रेम की गुंजाइश नही है, उस सन्यास को मैं गदी नाली मे फेंक देने को तयार हूँ" । इन दोनो महापुरुषो के इन वचनो से यह सिद्ध होता है कि कुटम्ब तथा परिवार का प्रेम विश्व-प्रेम का बाधक नही, साधक होता है। यह दूसरी बात है कि स्वार्थी मनुष्य अपने प्रेम की परिसमाप्ति अपने स्त्री-बच्चो में ही कर डाले । यह तो गृहस्थ-जीवन का प्रत्यक्ष दुरुपयोग है । गृहस्थी का विधान विधाता ने इसलिए नही किया कि मनुष्य स्वार्थी होकर अपने बाल-बच्चों मे ही सारा ससार मान ले और जन-समाज से कोई वास्ता न रखे। गृहस्थ-जीवन तो स्वार्थ-त्याग और प्रेम की प्रारम्भिक दीक्षा देनेवाला एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है । Charity begins at home वाली अँगरेजी कहावत हमारे इसी आशय का समर्थन करती है। दया और प्रेम के भाव पहले-पहल गृहस्थ-जीवन में ही जाग्रत होते है। यही से उनका प्रारम्भ होता है । परन्तु ध्यान इतना रहे कि उन भावो का अन्त भी वही न होना चाहिए । प्रेम का भाव घर में जन्म ले और लेकर गृहस्थी की परिधि के बाहर जन-समाज में व्याप्त होता जावे । प्रेम की वेलि गृहस्थी मे ही लगाई जाती है और पश्चात् पल्लवित होकर वह बाहर फैलती है । मानवी विकास का यही एक राज-मार्ग है । इसके विपरीत गाधी जी की यह धारणा है कि एक दूसरे के लिए अपना प्रेमोत्सर्ग करनेवाले स्त्री-पुरुष विश्व-प्रेमी नही बन सकते । लेकिन विश्व-प्रेमी बनना कोई आसान बात तो है ही नही, न फिर विश्व-प्रेम को अपने हृदय में लेकर कोई जन्म ही लेता है । प्रेम की

सर्व व्यापकता तो मानव-हृदय की उच्चतम अवस्था है। इतनी उदारता तो मनुष्य जन्म-जन्मान्तरो के अविराम प्रयत्न के बाद ही धारण कर सकता है। ससार का साधारण मनुष्य कई छोटे-बडे क्षेत्रो मे अपने प्रेम के बीज बोता हुआ, और उसकी नि स्वार्थता और व्यापकता से शनै शनै अधिकाधिक सुसस्कृत होता हुआ अन्त मे विश्व-प्रेमी होने का अधिकारी हो सकता है। साराश यह कि विश्व-प्रेम का बीज-वपन कुटम्ब-स्नेह में ही होता है, अन्यत्र कही नही। परिवार-प्रेम से अनभिज्ञ कोरा ब्रह्मचारी इस बात का मर्म क्या जाने कि पुत्र को कष्ट से कराहते हुए देखकर पिता के हृदय मे यन्त्रणा का कैसा मर्म-भेदी स्पन्दन होता है। उसे इस बात का अनुभव कैसे हो कि पुत्री के लिए माता-पिता का कैसा निर्मल और नि स्वार्थ प्रेम हो सकता है और जिसे जन्म देकर लाड-प्यार से पाला, उसे किसी दूसरे के हाथ सौपते समय नि स्वार्थ स्नेह की कैसी मर्मान्तिक मनोवेदना होती है। जिसने स्वाभाविक पत्नी-प्रेम का अवलम्ब लेकर आत्मोत्सर्ग करना नही सीखा, वह दूसरो के लिए कितना स्वार्थ-त्याग कर सकेगा? इसी कारण ससार के सर्व-साधारण को व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा देते हुए स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे—'प्यारे, परमात्मा की तलाश मे तुम कही दूर कदापि न जाना, परमेश्वर के दर्शन तुम्हे घर ही मे होगे। देखो, वह तुम्हारी धर्म-पत्नी के दो बडे बडे करुणापूर्ण नेत्रो के जरिये झाँक रहा है। देखो, परमात्मा के स्वरूप को पहचानो, वह तुम्हारे सरल दुध-मुँहे बच्चे के रूप मे किलोलें करता हुआ अँगूठा चूम रहा है।' सच है, यदि मनुष्य को अपने स्त्री-बच्चो में परमात्मा के दर्शन न हुए, तो उसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

कहने का साराश यह है कि विवाह-बन्धन बन्धन नही, मोक्ष का सिंह-द्वार है। विधाता ने गृहस्थी की रचना इसलिए नही की है कि वह मुक्ति का बाधक हो। वह तो ईश्वर-प्राप्ति का सहायक और मानव-प्रेम का उद्गम-स्थान है। अखिल विश्व को अपना कुटम्ब बना लेना

बहुत उत्तम बात है। पर जिस मनुष्य को स्वाभाविक और सीमित कुटुम्ब-प्रेम का अनुभव ही नहीं, वह समूचे जन-समाज मे कुटुम्ब की भावना किस हृदय से आरोपित कर सकता है ? हम इस बात को मानते है कि ससार के अधिकाश लोगो का प्रेम कुटुम्ब-परिवार तक ही परिमित रहता है। परन्तु यह गृहस्थ-जीवन का दोष नही है, दोष है हमारी सकुचित स्नेह-दृष्टि का, जो परिवार के परे जाती ही नहीं। अतएव हमें इस बात की आवश्यकता है कि हम जन-समाज को गृहस्थी का आशय और महत्व समझावे, ताकि विवाह-बन्धन को हेय मानकर लोग उसका तिरस्कार न करें। ऐसे विचारो से जन-समाज मे बुद्धि-भेद एव विचार-भ्राति फैलाने की सम्भावना रहती है। महात्मा जी के ब्रह्मचर्य और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी विचार हमे ऐसे ही प्रतीत होते है।

पाठक देखें कि इस सम्बन्ध मे महात्मा जी के विचार कैसे है —

"मुझसे कहा जाता है कि यह असम्भव आदर्श है और मै पुरुष तथा स्त्री के मध्य स्वाभाविक आकर्षण का कुछ मूल्य नही समझता। मै इस बात मे विश्वास करना अस्वीकार करता हूँ कि उपर्युक्त ऐंद्रिक दाम्पत्य-सम्बन्ध स्वाभाविक कहा जा सकता है। उस दशा में शीघ्र ही इन लोगो पर विपत्ति की बाढ आ जायगी। मनुष्य और स्त्री के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध भाई और बहन, माता और पुत्र अथवा पिता और पुत्री के मध्य आकर्षण है। यह वह स्वाभाविक आकर्षण है जिस पर ससार ठहरा हुआ है।"

महात्मा जी स्त्री और पुरुष के मध्य स्वाभाविक आकर्षण को न माने, पर विधाता की सृष्टि मे यह आकर्षण सूर्य के समान स्वय-सिद्ध और प्रत्यक्ष तो है ही। यह आकर्षण सृष्टि-विकास के साधन में सृष्टि-कर्त्ता का सहायक है। स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य-प्रेम मे इद्रिय-वासना का होना कोई अनिवार्य बात नही है। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् वासना-मुक्त होकर भी स्त्री-पुरुष एक दूसरे को पति-पत्नी-भाव से देख सकते है। पति-पत्नी-भाव हृदय का सम्बन्ध है और वह सामाजिक

जीवन का मूलाधार है। स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण मे ही जन-समाज रूपी इमारत की बुनियाद है। दोनो के बीच यदि आज विकर्षण हो जावे, तो सामाजिक व्यवस्था दो दिन भी न टिक सकेगी। गाधी जी भाई-बहन, पिता-पुत्री तथा माता और पुत्र का सम्बन्ध स्वाभाविक मानते है। परन्तु स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी सम्बन्ध उन्हें बनावटी प्रतीत होता है। यह धारणा हमे बडी विचित्र मालूम होती है। यथार्थ मे स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी-सम्बन्ध तो हमे सर्वोपरि स्वाभाविक मालूम होता है। हिन्दू-धर्म में परमेश्वर के रूप की एक ऐसी भी कल्पना की गई है, जिसमे आधा अग तो पुरुष का और आधा अग स्त्री का है। उसे 'अर्ध-नारी-नटेश्वर' का रूप कहते है। इस मौलिक कल्पना मे स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भाई-बहन का नही है, न फिर पिता-पुत्री का ही है। माता और पुत्र का सम्बन्ध तो उसमे कल्पित है ही नही। ईश्वर प्रजा का उत्पादक और पालक भी है। उसके ये दोनो कार्य स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक पति-पत्नी-भाव की प्रेरणा से ही सम्पादित होते है। इसी कल्पना के आधार पर हिन्दू-धर्म-शास्त्रो मे स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी मानी जाती है।

इसके सिवाय अर्ध-नारी-नटेश्वर की कल्पना मे एक और आशय भी छिपा हुआ है। इस रूप मे यदि हम स्त्री का या पुरुष का अर्धांग निकाल डाले, तो ईश्वर का स्वरूप ही अपूर्ण रह जाता है, याने स्त्रीत्व और पुरुषत्व के समुचित मेल मे ही परमेश्वर के स्वरूप की पूर्णता है। ठीक उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के नैसर्गिक पति-पत्नी-सम्बन्ध मे ही मानवी पूर्णता की सम्भावना है। दोनो एक दूसरे के बिना अपूर्ण रह जाते है। दोनो एक दूसरे से परिणय-बन्धन के द्वारा सबद्ध होकर पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त होते है। अतएव विवाह को पतन समझना भूल है। वह पतन नही, कल्याण का एक-मात्र साधन है। ससार के सर्व-साधारण लोगो का मन चचल और विषयासक्त होता है। ऐसे लोगो को स्थिर-चित्त और कर्तव्य-निष्ठ बनाने का एक-मात्र साधन विवाह-

बन्धन है। ध्यान रहे कि यहाँ पर 'बन्धन' शब्द संयम के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। यदि कर्त्तव्य-निष्ठा और संयम का देनेवाला यह बन्धन न होता, तो न जाने कितने आदमी दुनिया में आवारा हो जाते। ऐसे विवाह-बन्धन से मुक्त लोग जन-समाज की सेवा तो न करते, पर उत्पात जरूर मचाते। कई लापरवाह और नालायक आदमी गृहस्थी के उत्तरदायित्व में पड़कर ठिकाने लग जाते हैं और योग्य नागरिक भी बन जाते हैं। लोक-संग्रहशील विधाता की यह मंशा भी प्रतीत होती है कि स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी-भाव से विधिपूर्वक एक दूसरे को कर्त्तव्य-पालन में सहायक हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने दोनों के बीच स्वाभाविक आकर्षण भी पैदा कर दिया है। यह खिंचाव प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रिय-जन्य और भौतिक होता है, परन्तु शनै शनै वासना-शून्य होता हुआ अन्त में विशुद्ध आध्यात्मिक भी हो जाता है। भौतिक शरीर के धारण करनेवालों के बीच प्रथम आकर्षण का साधन भौतिक ही हो सकता है। आत्मा की पहचान तो कालान्तर में चिरसहवास और सहयोग से ही होती है। महात्मा जी दूसरे स्थान पर इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं —

"विवाह स्त्री-पुरुषों के हृदयों को दूषित वासनाओं से शुद्ध कर देने और उन्हें ईश्वर के अधिक निकट पहुँचाने का साधन है।"

जरूर है, फिर उसे हम पतन का मार्ग क्यों मानें? यदि विवाह-बन्धन स्त्री-पुरुषों के हृदयों को दूषित वासनाओं से शुद्ध करके उन्हें ईश्वर के निकट पहुँचा सकता है, तो फिर वह लोक-सेवा तथा सर्व-व्यापी प्रेम के मार्ग में व्याघात किस तरह पहुँचा सकता है? ध्यान रहे कि इस अध्याय में महात्मा जी के विचारों का जो पहला अवतरण हमने दिया है, उसमें उन्होंने कुटुम्ब-प्रेम को सर्व-व्यापी प्रेम का बाधक बतलाया है। कुटुम्ब की रचना तो विवाह-मूलक ही होती है। इस दृष्टि से कुटुम्ब-सम्बन्ध और विवाह-सम्बन्ध दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

महात्मा जी के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी विचार टाल्स्टाय के सिद्धान्त से

बिलकुल मिलते-जुलते हैं। परन्तु टाल्स्टाय के विचार हमें और भी भ्रमात्मक प्रतीत हुए। पाठक कुछ नमूने देखें —

"विवाह करने के पहले एक बार नहीं बल्कि सैकडो बार सोच लो, तब विवाह की बेड़ी में अपना पैर डालो। मनुष्य तभी मरता है जब किसी उपाय से भी नहीं बच सकता। उसी तरह से मनुष्य को तभी विवाह करना चाहिए जब वह किसी उपाय से भी न बच सके।"

"जो लोग विवाह से बच सकते हैं पर अभाग्य से विवाह कर लेते हैं वे उन लोगों की तरह हैं जो पहले से बिना ठोकर खाये हुए मुह के बल गिर पड़ते हैं।"

"हर एक मनुष्य को अपने भरसक इसी बात की कोशिश करनी चाहिए कि वह विवाह न करे। लेकिन विवाह कर लेने पर उसे चाहिए कि वह अपनी स्त्री के साथ भाई-बहन की तरह रहे।"

(टाल्स्टाय के सिद्धान्त —लेखक जनार्दन भट्ट, एम० ए०, पृष्ठ-सख्या, २५५, पंचम खण्ड)

रशियन महात्मा के उपर्युक्त विचार हमे बिलकुल निर्मूल प्रतीत होते हैं। उनकी राय में विवाह करना सच्चे धर्म के अनुसार एक बडा पाप है और आत्मिक अधःपतन का बडा चिह्न है। महात्मा गाधी के विचार भी इससे भिन्न नहीं हैं। समाज-शास्त्र की सार्वजनिक दृष्टि से वे कितने निर्मूल प्रतीत होते हैं यह अभी अभी हम देख चुके हैं। इस विवाद को अब अधिक बढाने की जरूरत नहीं है।

अभी तक हमने जो विचार प्रकट किये उसका तात्पर्य यह निकला कि ब्रह्मचर्य मानव-जाति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आश्रम है। फिर भी उसकी कोई स्वतत्र सत्ता नहीं है। वह ध्येय नहीं, सफल गृहस्थी का साधन है। जन-समाज मे जन्म लेनेवाले दो-चार इने-गिने महापुरुषों के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य मे रहकर लोक-सेवा करना भले ही उचित हो और सम्भव भी हो, परन्तु समाज की सार्वजनिक दृष्टि से सर्व-साधारण लोगों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना सयमशील और कर्त्तव्य-

निष्ठ गृहस्थी का मूलाधार ही माना जा सकता है। अतएव जो मनुष्य महात्मा के स्वभाव-सिद्ध संस्कारो को लेकर ही जन्म लेता है, वह विवाह-बन्धन में भले ही अपने पतन का अनुभव करे, परन्तु जन-साधारण के लिए गृहस्थ-जीवन विकास का एकमात्र साधन है। विधाता ने स्त्री और पुरुष की रचना इसलिए की है और उनके बीच स्वाभाविक आकर्षण भी इसलिए रक्खा है कि वे दाम्पत्य-भाव से सम्बद्ध होकर प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था को क़ायम रखने मे सहायक हो और अपने छोटे से कुटुम्ब-गत ससार में स्वार्थ-त्याग, नि स्वार्थ-सेवा, एव प्रेम-भाव की प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करें और इस प्रकार समाज तथा ससार के व्यापक क्षेत्र में लोक-सेवा करने की उदार मनोवृत्ति प्राप्त करें।

टाल्स्टाय तथा गाधी जी के ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचार अव्यावहारिक हैं। इन दोनो विचारको ने सामूहिक उत्कर्ष की सामाजिक दृष्टि से इस विषय पर विचार नहीं किया। उनके सिद्धान्त उनके समान दो-चार संस्कार-सिद्ध महापुरुषो के लिए ही ठीक हैं। अनेक धर्म-प्रवर्तकों ने स्त्री-पुरुषो को लोक-सेवार्थ ब्रह्मचर्य मे आजीवन रखने का प्रयत्न किया एव तदर्थ आश्रम भी स्थापित किये। बौद्ध-धर्म ने भिक्षु-सम्प्रदाय की रचना की। ईसाई मजहब के रोमन कैथलिको ने भी बडी सख्या में 'मॉक्स' और 'नन्स' बनाये। जैन धर्म ने भी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियो की सृष्टि की। परन्तु ऐसे सब प्रयत्न बिल्कुल निष्फल हो गये। उन लोगो से लोक-सेवा तो न हो सकी, व्यभिचार की विषैली हवा ही जन-समाज में फैली। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव-सभ्यता का इतिहास ही गाधी जी के आजीवन ब्रह्मचर्य-विषयक विचारो को जन-समाज की दृष्टि से अव्यावहारिक तथा अहितकर भी सिद्ध कर चुका है।

अखड और आजीवन ब्रह्मचर्य का निर्वाह करना कितना कठिन है, इस बात की जानकारी महात्मा जी के वैयक्तिक अनुभव से अनायास

हो सकती है। उन्होने आत्मकथा मे स्वय इस बात को स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य के पालन में उन्हे कितनी कठिनाइयो का अनुभव हुआ और अद्यावधि हो भी रहा है। यह एक ऐसे मनुष्य का तजुर्बा है जिसके जन्म-सिद्ध सस्कार असाधारण, उदात्त और पवित्र है। फिर सर्व-साधारण ससारी लोगो का कहना ही क्या? उनके लिए तो गृहस्थी का पवित्र, उत्तरदायित्वपूर्ण और सयमशील जीवन ही कल्याणकारी है। अतएव महात्मा जी के समान प्रत्येक महोपदेशक को चाहिए कि वह लोगो के सामने ऐसा ही आदर्श रखे, जो सार्वजनिक दृष्टि मे व्यावहारिक हो, शास्त्र-सम्मत हो और जिससे बुद्धि-भेद एव विचार-भ्रान्ति फैलने की सम्भावना ही न रहे।

स्वय गाधी जी को भी लगातार बीस वर्ष की गृहस्थी के बाद ही ब्रह्मचर्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस सम्बन्ध में उनके विचारो का सूत्रपात जुलू बलवा के दिनो मे हुआ। लोक-सेवा की पवित्र प्रेरणा ने ही उनसे यह सकल्प कराया। 'फिनिक्स-सेट्लमेंट' के साथियो से उन्होने इस मन्तव्य की चर्चा की और सभी ने उसे पसन्द किया। पसन्द तो किया, पर मालूम नही, कितनो ने उसका सचाई के साथ पालन किया। पर गाधी जी उन दिनो से ब्रह्मचर्यव्रत पर आरूढ रहने मे प्रयत्नशील हो गये। सन् १९०० से विचार और प्रयत्नो का सिलसिला शुरू हुआ, पर छ वर्षों के अनवरत सकल्प के बाद ही उनके ब्रह्मचर्य ने अखडव्रत का रूप धारण किया। इस निष्ठा में उन्हे जो कठिनाइयाँ पडी, उनका वर्णन उन्होनें आत्मकथा में नि सकोच होकर किया है। काम-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्होने भोजन के प्रयोग बहुत किये, उपवास भी किये, तब कही वे आज तक शारीरिक नियन्त्रण सफलता-पूर्वक कर पाये है। मन और विचार के सम्बन्ध में अभी भी कुछ करना बाकी है। साराश यह कि ब्रह्मचर्य के सबध में जिस आदर्शवाद का समर्थन वे कर रहे है, उसका पालन उनसे भी अभी तक नही हो सका है। आजीवन ब्रह्मचर्य का मार्ग कितना दुर्गम है—यह उन्ही के अनुभव से

सिद्ध होता है। टाल्स्टाय महोदय की ब्रह्मचर्य-निष्ठा तो किसी मसरफ़ की चीज नहीं है। सारी युवावस्था विलासिता में गँवाई और वृद्धावस्था में उन्हें ब्रह्मचर्य की सूझी। बुढ़ापे में ब्रह्मचारी तो सभी होते हैं।

संसार के सभी अच्छे काम दुष्कर होते हैं। चढ़ाव का मार्ग दुर्गम होता ही है। मोक्ष-पथ के ऊर्ध्वगामी पथिक को विषय-वासना का गुरुत्वाकर्षण नीचे की ओर खींचता ही है। फिर भी प्रगतिशील मनुष्य के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं। इस कंटकाकीर्ण पथ से उसे गुजरना ही पड़ता है अनेक यन्त्रणायें सहनी पड़ती है। उनकी पर्वाह न करते हुए जो अप्रतिम सहनशीलता एवं धैर्य धारण कर सकता है, उसी को श्रीचरणों के पास पहुँचने की क्षमता प्राप्त होती है। एक बार उस देव-दुर्लभ मुक्त अवस्था को प्राप्त करके जीवात्मा अपने सारे कष्टों को भूलकर परम शान्ति का अधिकारी हो जाता है।

रेखे सम लेखे नहीं देखे जो दुख गज।
देखे अनदेखे भये, देखे तव पद-कंज।

हिन्दुस्थान के होनहार नौजवानों के लिए व्यावहारिक ब्रह्मचर्य का आदर्श बिल्कुल अनिवार्य है। उनकी शरीर-संपत्ति क्षीण हो चुकी है। सामाजिक कुप्रथाओं के वे शिकार हो रहे हैं। बाल-विवाह-रूपी दुर्दमनीय दानव उनकी जीवन-शक्ति को चूस रहा है। ऐसे क्षीणकाय और इच्छा-शक्ति-शून्य युवकों से भारतीय राष्ट्र का नव निर्माण होना संभव नहीं है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि हम अपनी प्राचीन आश्रम-व्यवस्था का जीर्णोद्धार करें और अपने विद्यार्थी-जीवन में हमारे नौजवान भारतीय एकनिष्ठ ब्रह्मचर्य का पालन करें। शरीर, मन तथा बुद्धि से सम्पन्न हो जाने के बाद वे गृहस्थ-आश्रम में पदार्पण करें और सफल गृहस्थ होकर ऐसे योग्य संतानों को जन्म दें, जिनके सदाचरण साहस और आत्मोत्सर्ग से भारत-माता का मस्तक ऊँचा हो।

अध्याय २२

हरिजन

महात्मा जी ने देश के सामने जो विधायक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है, उनमें अस्पृश्योद्धार का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अछूतो के उद्धारकार्य को हम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए कहते है कि खादी-प्रचार, मद्यपान-निषेध तथा हिन्दू-मुस्लिम-मेल के प्रश्न भी न्यूनाधिक अंश में इसी कार्यक्रम से सम्बद्ध है। खादी का यदि यथेष्ट प्रचार हो, तो उससे हमारे दरिद्र हरिजनो की आर्थिक दुरवस्था मे विशेष सुधार हो सकता है। मद्यपान करने की दूषित प्रवृत्ति भी उन्ही लोगो मे अधिक पाई जाती है। हिन्दू और मुसलमानो के बीच सद्भावना की सम्भावना भी हरिजनो के प्रति सवर्ण हिन्दुओ के परिवर्तित दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। जिन दिनो गाधी जी हरिजनो का उद्धार-कार्य हाथ में लेकर देशव्यापी दौरा कर रहे थे, उन दिनो मुसलमानो की ओर से कई स्थानो पर उनसे यह प्रश्न किया गया था कि "महात्मा जी, आप तो देश भर के सर्वमान्य राष्ट्रनेता है, फिर आपने केवल हिन्दू-समाज से सम्बन्ध रखनेवाला एकाङ्गी काम अपने हाथो में क्यो लिया?" इस प्रश्न के उत्तर में महात्मा जी कहा करते थे कि सवर्ण हिन्दुओ के हृदय से छुआछूत का भाव निकालकर मैं हिन्दू-मुस्लिम-मैत्री की बुनियाद ही डाल रहा हूँ। मालूम नही कि प्रश्न-कर्त्ता मुसलमानो को इस उत्तर से सन्तोष हुआ अथवा नही। पर बात बिलकुल सच है। ऊँच-नीच का भेद-भाव यदि हिन्दू-समाज से निकल जावे, तो इसमें सन्देह नही कि मुसलमान हिन्दुओ के बिलकुल नजदीक पहुँच जावेंगे। क्योकि अधिकाश हिन्दुओ की दृष्टि में मुसलमान भी अछूतो से अधिक आदरणीय नही माने जाते। अतएव यह एक स्वयसिद्ध बात-सी मालूम होती है कि

अछूतोद्धार की बदौलत कम से कम दो लक्ष्य एक साथ सिद्ध होते हैं—हिन्दू-समाज का परिष्कार तथा संगठन और हिन्दू-मुसलमानों की मैत्री। यही दो बातें हमारी राष्ट्रीयता के मूलाधार हैं।

इसी कारण गांधी जी ने हरिजनों के उद्धार-कार्य को इतना अधिक महत्व दिया है कि कुछ दिनों से वे अपना अधिकांश समय इसी में व्यतीत कर रहे हैं। हिन्दू-समाज के दलित वर्ग को पृथक् मताधिकार देकर भारतीय राष्ट्रीयता का मूलोच्छेदन करने का जो विचार ब्रिटिश कूट-नीतिज्ञों ने किया था, वह हमारे राजनैतिक जीवन के विकास में एक मर्मान्तक दुर्घटना थी। यदि यह चाल सफल हो जाती, तो दुर्दैव-ग्रस्त हिन्दुस्थान के लिए सदियों तक गम खाने और आँसू पीने के सिवाय कोई दूसरा चारा ही शेष न रह जाता। भारत-माता अपने बच्चों को त्रिदोष-ग्रस्त देखकर हिन्द-महासागर में डूब जाती। हिन्दू-सभ्यता का भविष्य मलिन पड़ जाता। हिन्दू-मुसलमानों का साम्प्रदायिक मेल असम्भव हो जाता। विभक्त और कमजोर हिन्दुओं से मिलने की परवाह मुसलमान कभी न करते और विदेशियों को हमारी फूट और भेद-भावना पर पनपने का खासा अच्छा अवसर हाथ लग जाता। हमारे राष्ट्रनेताओं के द्वारा किया-कराया सारा काम नष्ट हो जाता। देश का यह भयंकर और निराशाजनक भविष्य महात्मा जी ने अपनी सुदूरदर्शी आँखों से देखा और वह दर्दनाक दृश्य उनके निर्मल हृदय-पट पर अंकित हो गया। उन्होंने अपनी त्यागशील अन्तरात्मा की सारी शक्तियों को समेट कर यह संकल्प किया कि जगद्गुरु भारत-वर्ष को इस अकाल-मृत्यु से बचाने के लिए यदि मैं ही क्या, मेरे समान सैकड़ों गांधी अपने प्राणों की बलि चढ़ा दें, तो भी कोई हर्ज नहीं। महात्मा जी की महती आत्मा अपने प्यारे देश के इस भयावह भविष्य को देखकर अधीर हो बैठी। उसने सोचा कि यदि ऐसे कठिन प्रसंग पर इस शरीर से मरणासन्न भारतीय राष्ट्रीयता की सेवा न बन पड़ी, तो इसका तिरस्कारपूर्वक त्याग कर देना ही उचित

है। ऐसे सामर्थ्यहीन जीवन से मृत्यु हजार दर्जे बढकर है। दलितो के विभक्त होने का यह अनिष्टकारी परिणाम गाधी जी अपनी कल्पना की आँखो से भी न देख सके। सभव है, देश के कुछ और लोगो को भी यह कल्पना असह्य प्रतीत हुई होगी। परन्तु आमरण उपवास के द्वारा जननी जन्मभूमि के चरणो पर प्राणो की श्रद्धाञ्जलि चढाने की प्रवृत्ति किसी महान् आत्मा में ही जाग्रत हो सकती थी, सो हुई। गाधी जी ने 'राऊण्ड टेबल-कान्फ्रेंस' के प्रसग पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को इस बात की सूचना दे दी थी कि यदि दलितवर्ग को पृथक् मताधिकार के द्वारा हिन्दू-समाज से विभक्त करने का प्रयत्न किया जावेगा, तो इसका विरोध मैं अकेले प्राणो की बाजी लगाकर करूँगा। निरर्थक और सार-शून्य शब्दो के बोलनेवाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने महात्मा जी की इस प्रतिज्ञा को कोरी गीदड-भबकी समझ रखा था। पर उन्हे मालूम हुआ कि अध्यात्मवादी भारत का हृदय-सम्राट् अपने वचन का मूल्य आँकने में प्राणो का मोह नही करता और अपनी प्रतिज्ञा की वेदी पर अपने जीवन की आहुति सहर्ष दे सकता है। आमरण उपवास करने का अमर सकल्प अपना काम कर गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की कूटनीति विफल हो गई। त्याग की ड्योढी पर स्वार्थपरता सिर कूटकर मर गई।

इसके बाद जो कुछ हुआ, वह इतिहास का विषय है। उसे सारा सभ्य ससार जानता है। अतएव उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही। फिर भी एक बात ऐसी है, जिसे हम बार बार कहकर भी नही अघाते और वह यह है कि गाधी जी के सेवामय जीवन मे यह सेवा सर्वथा अप्रतिम और अद्वितीय है। जो काम वे जेल के बाहर स्वच्छन्द रहकर न कर सके, उसका सम्पादन उन्होने बन्दी-जीवन की परतन्त्रता में किया। कौन कहता है कि जेल की दीवारें एक सत्यनिष्ठ लोक-सेवक को नरनारायण की सेवा से वचित कर सकती है? आत्मा का जेलर अभी ब्रिटिश साम्राज्य मे पैदा नही हुआ, न भविष्य में कभी हो सकेगा।

महात्मा जी की उपवास-निधि से उनकी विचार-धारा अधिकांश में बदल गई। उस दिन से उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि हिन्दुस्थान के भावी राष्ट्रीय जीवन का सारा दारोमदार हरिजनों के उद्धार पर ही है। इसी कारण वे और सब कार्यों से अपना हाथ बहुत कुछ खींचकर हरिजन-सेवा में मनसा, वाचा, कर्मणा संलग्न हो गये। जेल से बाहर निकलकर कुछ स्वस्थ हो जाने के बाद उन्होंने अपना देश-व्यापी दौरा शुरू कर दिया। अस्पृश्योद्धार-सम्बन्धी उनके सभी विचार पुराने थे, परन्तु अपने आत्मबल की प्रेरणा से गांधी जी ने उनमें नया जोश डाल दिया। लोग नये उत्साह से उनकी बातें सुनने लगे। देश भर में हरिजनोद्धार का कार्य-क्रम सर्वोपरि हो गया। सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रखरता मन्द पड गई। क्यों न पडती, जब उसका सूत्रधार ही उस क्षेत्र में न रहा। महात्मा जी ने कदाचित् सोचा होगा कि यदि हिन्दू-समाज अकाल-मृत्यु से बच गया और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता की बुनियाद सुरक्षित रह गई, तो आवश्यकता पडने पर भविष्य में सैकडों सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किये जा सकते हैं। पर यदि राष्ट्रीय चेतनता का जनक हिन्दू-समाज ही विभक्त होकर बलहीन हो गया, तो फिर आशा के लिए स्थान ही कहाँ रह जायगा ! गांधी जी की इस विचार-सरणी में हमें औचित्य और बुद्धिमत्ता के सिवाय कोई दूसरी बात नजर नहीं आती। जो लोग महात्मा जी के मत्थे सत्याग्रह-आन्दोलन को शिथिल कर देने का दोष मढते हैं, वे जरा सोच-समझकर बातें नहीं करते। परिस्थिति की लाचारी ही ऐसी थी। घटनाचक्र की सत्ता बडी बलवती होती है। समझदार और दूरदर्शी मनुष्य उसकी अवहेलना कदापि नहीं कर सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय राष्ट्र के निर्माण में अस्पृश्योद्धार एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। वह आज की नहीं, बहुत पुरानी है। अधिकाश लोगों की यह धारणा है कि हमारे सामाजिक जीवन के इतिहास में गांधी जी ने अछूतोद्धार का काम पहले-पहल हाथों में लिया है। परन्तु यह धारणा बिलकुल निर्मूल है। वर्तमान काल में जो लोग शूद्र, अन्त्यज

अथवा अस्पृश्य माने जाते है, वे अधिकाश मे प्राचीन अनार्यो के ही वशधर है। यहाँ पर 'अनार्य' शब्द का उपयोग हम किसी तिरस्कार-भाव से नही करना चाहते। मध्य एशिया से जब आर्यो की टोलियाँ इस देश मे आई, तो यहाँ पर मूल-निवासियो की यत्र-तत्र बिखरी हुई अनेक बस्तियाँ थी। वे घास-पात की झोपडियाँ बनाकर जगलो मे ही रहते थे। न तो उनकी कोई शासन-व्यवस्था थी, न फिर उनकी सभ्यता ही थी। वे अत्यन्त बर्बर अवस्था मे थे। आगन्तुक आर्यों मे और इन मूल-निवासियो मे सभ्यता की दृष्टि से आकाश-पाताल का-सा अन्तर था। आर्य लोग सन्नद्ध और सगठित थे। अनार्यो का कोई व्यवस्थित सामाजिक जीवन ही न था। यदि आर्य लोग आक्रमणकारी और हिंसक होते, तो इन मूल-निवासियो का मूलोत्पाटन हो जाना अवश्यम्भावी था। परन्तु सदियो तक आर्यजाति के सम्पर्क मे रहते हुए प्राचीन अनार्यों के वशधर सुरक्षित रहे और आर्य-सस्कृति से धीरे धीरे दीक्षित होते रहे। आर्यो के स्थान पर यदि वर्तमान की कोई भी पश्चिमी जाति होती, तो आज हिन्दुस्थान के प्राचीन अनार्यों की रूपरेखा भी दृष्टिगत न होती। उनकी वही हालत हो जाती, जो अमेरिका के 'रेड इडियन' तथा हब्शी लोगो की हुई है। प्राचीन आर्यो के लिए तथा उनके वर्त्तमान वशधर सवर्ण हिन्दुओ के लिए यह बड़े गौरव की बात है, कि उन्होने अनार्यो के प्रति ऐसा कोई भी दुर्व्यवहार नही किया। सदियो के सहवास के बाद जब आर्यों ने वर्णाश्रम धर्म के आधार पर अपने समाज को गुण-धर्मानुसार वर्णो में विभक्त किया, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के सिवाय उन्होने एक चौथे शूद्र वर्ण की भी रचना की और इस चौथे वर्ण मे उन्होने अनार्यो को समेट कर उन्हे अपनी सामाजिक व्यवस्था में हमेशा के लिए स्थान दे दिया। इस पर कोई यह आपत्ति न करे कि अपनी सामाजिक व्यवस्था मे आर्यो ने अनार्यों को सबसे निकृष्ट स्थान क्यो दिया। इसके सिवाय कोई दूसरा उपाय ही न था। कोई भी सभ्य जाति अपने से असभ्य जन-समाज मे घुल-मिल जाना पसन्द

नहीं करनी और ऐसा रखना भी नहीं चाहिए। समाज-व्यवस्थापक आचार्यों की यह इच्छा थी कि भारत के समाज में सारे आर्य लोग अपनी स्वाभाविकता वर्ण ... पूरा करके आर्य-संस्कृति से दीक्षित हों और इस प्रकार वे आपस में अधिकाधिक सम्बद्ध होते जायें। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही उन्होंने भारतीय वर्ण-व्यवस्था में यहाँ के मूल-निवासियों का स्थान दिया। अपने समाज में आत्मसात करने के लिए उन्होंने अनार्यों के अनेक देवी-देवताओं को स्वीकार कर लिया और स्वयम् उनकी पूजा करने लगे। कोई भी सभ्य से सभ्य समाज किसी दूसरी जाति के प्रति इससे अधिक उदारता और क्या दिखा सकता है?

सभ्य और असभ्य जातियों का ऐसा पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध मानव-जाति के इतिहास में ढूंढ़ने से भी न मिलेगा। इस देश के मूल-निवासी अनार्य लोग जब से आर्यों की वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित होकर समाज के भीतर दाखिल हो गये, तब से उन्हें आर्य-संस्कृति की दीक्षा मिलने लगी। सभ्यता के सम्पर्क में वे अपनी बर्बरता से धीरे धीरे मुक्त होने लगे। अपनी पुरानी रहन-सहन तथा पाशविक प्रवृत्तियों का वे परित्याग करने लगे। कालान्तर में वे प्रगतिशील होकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गये। अयोध्या-पति रामचन्द्र जी ने दक्षिण की वानर नामक अनार्य-जाति में जो मैत्री सम्पादन की, उसे कौन नहीं जानता? हनुमान् जी अनार्य-जाति के ही वंशधर थे, परन्तु स्वामिभक्ति-परायणता से मुग्ध होकर आर्यों ने उन्हें जो प्रतिष्ठा का स्थान दिया, यह एक स्वयंसिद्ध बात है। आज सारे भारतवर्ष में हनुमान् जी के सैकड़ों मंदिर मिलेंगे, जहां सवर्ण हिन्दू अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाते हैं। महावीर की प्रतिष्ठा पाकर वे आज हिंदुओं के आराध्य देव हो रहे हैं। अनार्यों के बीच दक्षिण-प्रान्त में कई सन्त-महात्मा भी हुए, जो समस्त हिंदू-समाज के श्रद्धा-भाजन हो गये। शक्ति के रूप में नर-मुण्ड-माला-धारिणी काली की आराधना जो आज-कल प्रचलित है, वह भी अनार्यों की ही कल्पना का परिणाम है।

भारतवर्ष के ग्रामीण जीवन में 'दुल्हा देव', 'वरम देव' तथा भूत-प्रेतादिकों की जितनी पूजा प्रचलित है, वह सब अनार्यों की ही देनगी है। अघोरपंथी, वाममार्गी तथा घण्टाकर्ण-सम्प्रदाय की आराधनाविधि भी हिंदू-समाज को अनार्यों से ही न्यूनाधिक अंश में प्राप्त हुई। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि सवर्ण हिंदुओं ने प्राचीन अनार्यों के वंशधर शूद्रों को अपनी सामाजिक व्यवस्था के भीतर स्वीकार करके उन्हें आत्मसात् करने का जो उदार प्रयत्न किया, उसका साक्षी इतिहास है। हिंदू-समाज के आराध्य देव और अवतारी पुरुष रामचन्द्र जी ने जिस सहृदयता के साथ शूद्र निषाद को स्नेहालिंगन दिया और अनार्यकुलोद्भवा भीलनी शबरी के जूठे बेर खाये, वह घटना आर्य-जाति की सभ्यता के इतिहास में अमर है। व्यास, विदुर, वशिष्ठ तथा इतर कई ऋषियों और महर्षियों की उत्पत्ति अनार्य महिलाओं के दाम्पत्य-सम्बन्ध से ही हुई है। अनार्य-कुमारी मत्स्यगंधा से प्रेम-सम्बन्ध शान्तनु के समान प्रतिष्ठित नरेन्द्र ने किया था। भीम-पुत्र घटोत्कच की उत्पत्ति अनार्य महिला से ही हुई थी। इस तरह महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा इतर पुराणों की छानबीन करनेवालों को अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जिनसे इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि आर्यों ने अपने सहवास तथा सम्पर्क से अनार्यों को आत्मसात् करने में यथोचित प्रयत्न किया। और तो क्या, आर्यों ने अपने वेद में कई शूद्रों को मंत्रकार की भी प्रतिष्ठा दे डाली। संस्कार-भेद के कारण दोनों जातियों में भिन्नता का होना बिलकुल स्वाभाविक था। फिर भी संस्कार-गत भिन्नता को दूर करने का जैसा विलक्षण प्रयत्न भारतीय आर्यों ने किया, वह मानव-सभ्यता के इतिहास में अद्वितीय है। सर राधाकृष्णन के समान गम्भीर, विद्वान् अपने 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' नामक ग्रन्थ में इस बात को मानते हैं कि आर्यों के सम्पर्क से इस देश के आदिम निवासी अनार्य दीक्षित होकर बहुत कुछ संस्कृत हो गये। अपने धर्म-ग्रन्थों में प्राचीन आचार्यों ने ऐसे-ऐसे विचार तथा भाव भी अंकित किये जिनसे आर्यों और अनार्यों

के बीच संस्कार-गत भेद-बुद्धि नष्ट हो जावे। 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन।' आर्य और अनार्य, एवम् ब्राह्मण और शूद्र के मध्य समदर्शितापूर्वक व्यवहार करना ही आर्यत्व का लक्षण माना गया। इस आध्यात्मिकता-मूलक व्यवहार-योजना में तिरस्कार-भावना तथा अस्पृश्यता के लिए गुंजाइश ही कहाँ है?

आज हिन्दू-समाज में ऐसा विरला ही आदमी होगा, जो राम-नाम का जाप न करता हो। रामायण अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पढी जाती है। शैव तथा शाक्त लोग भी रामचन्द्र जी को अवतारी पुरुष मानते है। परन्तु उनके जीवन का राष्ट्रीय महत्त्व अभी अधिकाश लोगों की समझ में नहीं आया। रामचन्द्र जी को हम 'राष्ट्रपति राम' कहना ही अधिक पसन्द करते है। आज उनके जीवन के इस अद्यावधि अलक्षित पहलू को समझने-समझाने की नितान्त आवश्यकता है। वे ससार की इतर मानव-विभूतियो के समान अवतारी पुरुष तो थे ही, पर हमारी भारतीय राष्ट्रीनता के आदि पिता भी थे। उनके त्यागी और कर्मशील जीवन का अधिकाश आर्यों और अनार्यों के बीच प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने में ही व्यतीत हुआ। निषाद, शबरी, कोल, किरात तथा वानरो से अपने प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सद्व्यवहारो के द्वारा उन्होने इस बात को सिद्ध करके दिखलाया कि आर्यो और अनार्यों के इस स्नेह-सम्बन्ध मे अस्पृश्यता के लिए कही स्थान ही नहीं है।

रामचन्द्र जी के पूर्वजो के युग मे आर्य-जाति की बस्तियाँ उत्तर-हिन्दुस्थान में ही सीमित थीं। समूचा दक्षिणी-प्रान्त अरण्य-वेष्ठित था। इन्ही जगलो में अनार्यों की टोलियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं। इनमें कुछ तो शान्त प्रकृति के लोग थे और कुछ बडे उत्पाती और उद्दण्ड भी थे। उत्तर-हिन्दुस्थान की आर्य-सभ्यता-निर्मित नगरो के कोलाहल से हटकर एकात निवास की इच्छा से मनन-शील और विद्वान् ब्राह्मण इन्ही दक्षिण के जगलो में आकर आश्रम तथा कुटियो में अध्ययन-अध्यापन का काम किया करते थे। कुछ कृषि और कुछ जगलो

कन्द-मूल तथा शाक-पात का अवलम्ब लेकर वे अपनी भौतिक आवश्यकतायें पूरी कर लिया करते थे। इन चिन्तनशील ऋषियो को उद्दण्ड अनार्यों से बड़ा कष्ट हुआ करता था और इस बात की रिपोर्ट उत्तर-भारत-स्थित सूर्यवंशी राजाओ के दरबार तक पहुँचा करती थी। सिपाही उनकी सहायता के लिए भेजे जाते थे, पर आततायी अनार्य अपना उत्पात मचा कर तथा ऋषि-मुनियो का यज्ञ-याग विध्वंस करके चम्पत हो जाते थे। गहन अरण्य में उन्हे कौन कहाँ तक ढूंढे? ताड़िका नामक अनार्य स्त्री से त्रस्त होकर विश्वामित्र स्वयम् दशरथ जी के दरबार में राजकुमारो के लेने के लिए आये थे। कहने का सारांश यह कि रामचन्द्र जी के पूर्ववर्ती सूर्यवंशी राजाओ के लिए दक्षिणारण्य के अनार्यों का उत्पात तथा अरण्य-वासी ब्राह्मणो का त्रास पीढ़ी दर पीढ़ी बड़ी चिन्ता का विषय हो रहा था। उनकी धारणा थी कि जब तक समूचा दक्षिणी-प्रान्त आर्यो के शासन-विधान के अन्दर न आ जावे, तब तक आर्यत्व और अनार्यत्व का संघर्ष मिटने का नही। परन्तु इतने गहन अरण्य का आधिपत्य किस प्रकार प्राप्त हो। इतना कण्टकाकीर्ण और कठिन दौरा राजमहलो के आनन्द और ऐश्वर्योपभोग को छोड़कर कौन करे? समूचे दक्षिण पर अपने शासन तथा आतंक का प्रभाव स्थापित करने के लिए वर्षों तक गहन वन में कष्ट भोगते कौन फिरे? दक्षिण को कर-तल-गत करने मे ये सब कठिनाइयाँ थी। इसी कारण रामचन्द्र जी के सूर्य-वंशी पूर्वज विचार तो करते आये, परन्तु कार्य इतना दुष्कर था कि दक्षिणारण्य के अनार्यो में शासन-व्यवस्था स्थापित करने की लालसा उनके हृदय ही मे रह जाती थी और जीवन के अन्त तक वे अपने मन्तव्य मे सफल न हो पाते थे। विश्व-विधाता ने यह काम प्रात स्मरणीय रामचन्द्र जी के लिए रख छोड़ा था। राष्ट्र-पति का सेहरा उन्ही के सिर पर बाँधना दैव को मंजूर था।

विधि-विधान को कौन मिटा सकता है? सृष्टि-कर्त्ता के पास अपनी मंशा पूरी करने के लिए उपायो की कोई कमी नही रहती।

दशरथ के वरदान, कैकेयी की पुत्र-वत्सलता और मथरा की कुटिल नीति —इन तीनो का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि रामचन्द्र जी को चौदह वर्षो तक वनवास करना पडा। युगो की लालसा के पश्चात् सूर्य-वश तथा भारतवर्ष के लिए वह सौभाग्य का दिन आया। कन्या-कुमारी तक समूचे त्रिभुजाकार प्रान्त को आर्य-सभ्यता से दीक्षित करने की परम्परागत योजना कार्य-रूप में परिणत हुई। आर्यावर्त की सीमा को लाँघ कर, अनार्यो का प्रेम-सम्पादन करते हुए, आर्यो को सच्ची आत्म-प्रतिष्ठा का पाठ पढाते हुए, अछूत निषाद से प्रेमालिंगन करते हुए, भीलनी शवरी के जूठे बेर खाते हुए,वानरो से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हुए, मानवी संस्कृति के विरोधी राक्षसो का सहार करते हुए—राष्ट्रपति राम आगे बढे। जिस दिन इस अवतारी महापुरुष ने रामेश्वर में शिव-मूर्ति का स्थापन किया, उस दिन आर्यावर्त अपने सम्पूर्ण भौगोलिक विस्तार को प्राप्त करके कुछ काल के बाद भरतखण्ड हो गया। वही भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म-दिन था और उसके जनक थे राष्ट्रपति राम। यही विजयादशमी का राष्ट्रीय रहस्य है।

लोकनायक रामचन्द्र जी के जीवन-चरित्र को इस राष्ट्रीय दृष्टि से समझने-समझाने की आवश्यकता है। वर्तमान काल में भारतीय जन-समाज के लिए राष्ट्रवाद ही युग-धर्म है। इस धर्म का पालन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य-कर्म है, क्योकि इसके बिना हम अपनी सस्कृति और आदर्श की रक्षा नही कर सकते। इस राष्ट्र-धर्म में हीन से हीन भारतीय के प्रति तिरस्कार-भावना के लिए कुछ भी स्थान नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि आये दिन हमारा हिन्दू-समाज सवर्ण हिन्दुओ के मिथ्याभिमान तथा अनुचित व्यवहारो के कारण क्षत-विक्षत हो रहा है। जिन्हें हम अन्त्यज और अछूत मानते हैं उनमें मनुष्योचित अधिकार प्राप्त करने का सकल्प जाग्रत हो चुका है। वे हिन्दू-समाज में प्रेम और प्रतिष्ठा का स्थान चाहते है। उनकी यह माँग सर्वथा उचित है। परन्तु खेद की बात है कि आज हम लोगो में ऐसे

नासमझ और मिथ्याभिमानी सनातनी विद्यमान हैं, जो इस प्रेम-भिक्षा के विरोधी हो रहे हैं। साक्षात् रामचन्द्र जी ने निषाद से प्रेमालिंगन किया और अन्त्यज शबरी के जूठे बेर खाये। परन्तु आज अपने को उन्हीं रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त कहनेवाले लोग उनकी मूर्त्ति के सामने निषाद और शबरी के वंशधरों को दर्शनार्थ जाने की अनुमति देने में बड़ा अनर्थ मानते हैं। कैसी उलटी समझ है!! सम्भव है, किसी अंश में यही भाव उन दिनों की आर्य-जनता में रहा हो और रामचन्द्र जी ने इसी दुर्भावना का मूलोच्छेदन करने के लिए ऐसा प्रेम-व्यवहार अनार्यों के प्रति प्रकट किया हो। जो हो, इस अवतारी महापुरुष की लोकोत्तर मानव-लीला का एक महत्त्वपूर्ण अंग निषाद, शबरी तथा वानरों के मैत्री-सम्पादन में प्रत्यक्ष अंकित है।

इस तरह विचारशील पाठक देखेंगे कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के आदि काल से आर्य नेताओं का व्यवहार अनार्यों के प्रति सहानुभूति-पूर्ण था। सनातन-धर्म के संचालकों का प्रयत्न हमेशा अनार्य शूद्रों के उत्थान की ओर रहा। उन्होंने उन्हें दबाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित हो जाने के बाद उनकी मानसिक तथा बौद्धिक प्रगति भी होती गई। उनके बीच कई संत, महात्मा तथा साधु पुरुष हुए, जिन्हें सवर्ण हिन्दुओं ने यथोचित मान भी दिया। हिन्दू-समाज की गुण-ग्राहकता का प्रमाण इससे अधिक और क्या दिया जा सकता है।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर हमने यह धारणा बना ली है कि शूद्र वर्ग के लिए 'दलित' (Suppressed) शब्द का उपयोग करना बड़ा भ्रान्तिमूलक है। इससे यह आशय निकलता है कि वर्तमान अन्त्यजों के तथा चतुर्थ वर्णस्थ लोगों के पूर्वज किसी समय अपनी सभ्यता और सामर्थ्य में बहुत चढ़े-बढ़े थे, पर सवर्ण हिन्दुओं ने उन्हें दबाकर बहुत नीचा कर दिया। 'दलित' शब्द का अर्थ होता है ऊपर उठे हुए या उठते हुए को नीचे दबाना। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनार्य-

जाति बिलकुल असभ्य थी। आर्यों के सम्पर्क में ही वह उत्तरोत्तर सभ्य होती गई। अतएव उसकी इस विकास-क्रिया में 'दलित' शब्द की उपयुक्तता कहीं भी दिखाई नहीं देती। सैकड़ों वर्षों के बाद जब हिन्दू-समाज की वर्णाश्रम-व्यवस्था वर्ण और आश्रम धर्म के सम्बन्ध-विच्छेद होने के कारण शिथिल हो गई, तो हिन्दू-समाज में मिथ्याभिमान सचरित हो गया। ऊँच-नीच का भेद-भाव भी उसमें समा गया। ब्राह्मण ही सबसे पहले गिरे। हिन्दू-समाज का मस्तिष्क विकृत हो गया। तभी से उसके मूर्च्छा-काल का प्रारम्भ हुआ। समूचे समाज की प्रगति रुक गई। प्राचीन अनार्यों के वंशधर शूद्र भी हिन्दुओं के इस दुर्भाग्य के साझीदार बने। सवर्ण हिन्दुओं के साथ साथ वे भी गिरे। उनके सुधारक ही स्वयम् जब लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये, तो उनकी हालत का पूछना ही क्या था। वे भी पतनशील और मिथ्याभिमानी हो गये। उनका चतुर्थ-वर्ण भी भेद-भावों से व्याप्त हो गया। वे भी आपस में एक दूसरे को ऊँच-नीच समझने लगे। उच्च वर्ण का दोष निम्न वर्ण में भी व्याप्त हो गया। यही एक घटना इस बात को सिद्ध करती है कि सवर्ण हिन्दुओं से—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों से—शूद्र लोग किस तरह सम्बद्ध हो चुके थे। ऐसी सम्बद्धता तिरस्कार-भावना तथा अस्पृश्यता के अभाव में ही सम्भव हो सकती है।

जब से हिन्दू-समाज का मूर्च्छा-काल शुरू हुआ, तब से सभी वर्णों की प्रगति रुक गई। रुक ही नहीं गई, प्रत्यक्ष पतन भी हो चला, क्योंकि इस ससार में ऐसी कोई अवस्था ही नहीं, जिसे हम स्थिर कह सकें। विकास के रुकते ही पतन का प्रारम्भ हो जाता है। इस पतनशीलता के साझीदार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी हुए, क्योंकि वे एक ही व्यवस्था में शामिल-शरीक थे। ऐसी दशा में कौन किसको दोष दे? कौन किससे कहे कि तुमने मुझे दबाया या गिराया? जन-समाज को ऊपर चढानेवाला ब्राह्मण-समाज जब स्वयम् ही गिरने लगा, तो उसके आश्रित इतर वर्ण तो गिरने ही वाले थे। अतएव क्षत्रिय और

वैश्य के साथ शूद्र भी गिरे। हिन्दू-समाज के पतन का यही संक्षिप्त रूप है। अपनी इसी पतनशील अवस्था में ही सवर्ण हिन्दुओं ने शूद्रों का पहले-पहल तिरस्कार किया। इस समय हिन्दू-समाज की सांस्कृतिक प्रतिभा प्रसुप्त हो गई थी। परन्तु वह नष्ट न हुई। सवर्ण हिन्दुओं की आत्म-विस्मृति के इसी काल में ही बड़े बड़े वैष्णव आचार्य उत्पन्न हुए। रामानन्द, रामानुज, वल्लभ, सूर, तुलसी, तुकाराम, रामदास इत्यादिक अनेकानेक वैष्णव-भक्त इसी युग में आये। भक्ति-मार्ग की कल्पना तो बहुत प्राचीन है। परन्तु हिन्दू-समाज का उत्कर्ष-काल विशेष कर ज्ञान-प्रधान युग है। जब मनुष्य अपने पौरुष और सामर्थ्य का अनुभव करता है, तो वह स्वभावत ज्ञान-मार्ग पर आरूढ होता है। उसके अन्त करण से 'सोऽहं' के स्वाभाविक उद्गार प्रकट होते हैं। वह स्वयम् अपने को ईश्वर समझता है। परन्तु जिस समय वह अपनी कमजोरियों का अनुभव करता है, तो वह स्वभावत भक्ति-मार्ग पर आरूढ हो जाता है, क्योंकि ऐसी हालत में उसे किसी सर्वशक्तिमान् की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है। तब वह विनम्र होकर 'दासोऽहं' कहने लगता है। साराश यह है कि ज्ञान और भक्ति मानव-हृदय की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के परिचायक है। यही कारण है कि अपने पतन-युग में हिन्दू-समाज की अन्तरात्मा अपनी कमजोरियों का अनुभव करके भक्ति-पथ पर आरूढ हो गई और वह बड़े बड़े वैष्णव-भक्तों के रूप में प्रकट हुई। इन आचार्यों का सिद्धान्त था—"जाति पाँति पूछे नहि कोई। हरि को भजै सो हरि के होई॥" इन भक्तों ने जिन सम्प्रदायों की रचना की उनमें वर्ण-भेद की गुंजाइश ही नहीं थी। सभी वर्ण के लोग एक ही गुरु से दीक्षित होकर आपस में गुरु-भाई होकर ही रहा करते थे। हिन्दुओं के गये-गुजरे दिनों में जाति-पाँति, छुआ-छूत तथा ऊँच-नीच का जो भेद-भाव जन-समाज में व्याप्त हो गया था, उसका इन वैष्णव सम्प्रदायों के द्वारा मानो आर्य-जाति की अमर प्रतिभा प्राण-पण से विरोध कर रही थी। अपनी छिन्न-भिन्न,

शिथिल और असम्बद्ध अवस्था में भी सवर्ण हिन्दुओं के इन कुशल कर्णधारों ने शूद्रों को अपने सम्पर्क में लाकर हरिजन बनाने का ही प्रयत्न किया। इतिहास इस बात का साक्षी है।

अतएव हमारी यह निश्चित धारणा है कि हिन्दू-समाज की हीन जातियों के लिए 'दलित' शब्द का उपयोग सर्वथा अनुचित है। पर महात्मा जी खास तौर से इसी शब्द का उपयोग करते हैं। मालूम नहीं कि हिन्दी या गुजराती में वे किस शब्द को पसन्द करते हैं, परन्तु अँगरेजी में वे 'Suppressed' (दलित) शब्द का हमेशा उपयोग किया करते हैं। अन्यान्य लेखक 'Depressed classes' (पतित वर्ग) लिखने के अभ्यासी हैं और यही शब्द ठीक भी है। महात्मा जी का 'दलित' विशेषण हिन्दू-समाज पर अनुचित आक्षेप करता है। इतिहास इस आक्षेप का विरोधी है। गांधी जी के दिये हुए विशेषण (दलित) को पढ़कर विदेशी लोग जो धारणा बनावेंगे, वह सर्वथा निर्मूल होगी। वे समझेंगे कि सवर्ण हिन्दू अपने बीच में रहनेवाली हीन जातियों को हमेशा से दलते आये। परन्तु बात ऐसी नहीं है। सवर्ण हिन्दुओं की सांस्कृतिक प्रतिभा तो शूद्रों को अपनाने में ही खर्च हुई है, दबाने में नहीं।

इस समय महात्मा जी जो हरिजनों का उद्धार-कार्य कर रहे हैं, वह हिन्दू-सभ्यता का प्राचीन कार्य-क्रम है। यही काम तो हिन्दुओं के पतन-युग में वैष्णव आचार्यों ने भी किया था। गांधी जी वैष्णव-सम्प्रदाय में पैदा हुए हैं। वे भी वही काम कर रहे हैं, जो उनके पूर्व-कालीन आचार्य करते आये। जो सनातनी हिन्दू महात्मा जी के इस कार्य-क्रम से झिझकते हैं और उसे हिन्दू सभ्यता के इतिहास में बिलकुल नई योजना समझते हैं, वे निरी नासमझी से ग्रस्त हैं। उन्हें विचार-पूर्वक अपना इतिहास एक बार फिर देखना चाहिए। अनार्यों को आर्यत्व से दीक्षित करने का कार्यक्रम बड़ा पुराना है, चलता आया है और भविष्य में सदियों तक चलता रहेगा। यह समस्या शीघ्र हल होने की

नही। इस कार्य के लिए हिन्दू-समाज की अन्तरात्मा ने कई बार भक्त तथा आचार्यों के शरीर मे जन्म धारण किया है। आज भी वह महात्मा जी के जीवन मे आविर्भूत है और भविष्य मे कई और सन्तो तथा महात्माओ के रूप मे जन्म धारण करेगी। वह हरिजनो को आत्मसात् करने पर तुली हुई है। उसकी यह क्रिया जारी रहेगी।

हरिजनो के सम्बन्ध में महात्मा जी के कई लेख तथा व्याख्यान हमने पढे हैं, पर जहाँ तक हमे मालूम है, उन्होने इस विषय को जन-साधारण के सामने इस रूप मे कभी नही रक्खा। वे इतना तो कई बार कह चुके है कि हिन्दू-धर्म-शास्त्रो मे अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नही है, पर सवर्ण हिन्दुओ की ओर से उनके आचार्यों-द्वारा हरिजनो के उद्धार के लिए समय समय पर जो प्रयत्न हुए, उनकी चर्चा हमें महात्मा जी के प्रवचनों में नही मिली। इसी कारण उनके व्याख्यानो से अशिक्षित जन-समाज के हृदय मे यह धारणा हो जाती है कि अछूतोद्धार की योजना बिलकुल नई है और महात्मा जी ही उसके प्रवर्तक हैं। यदि जन-साधारण को यह बात अच्छी तरह समझा दी जावे कि अस्पृश्योद्धार हिन्दू-सभ्यता का परम्परागत कार्यक्रम है और इस काम को हिन्दुओ के प्राय बडे बडे आचार्यों ने अपने हाथो मे लिया था, तो उद्भ्रान्त सनातनी पडितो का विरोध बहुत कुछ ठण्डा पड जावेगा। लेकिन प्रस्तुत विषय को इस तरह से पेश करने मे 'दलित' शब्द की सार्थकता नही रह जाती।

हमारे कहने का कोई यह अर्थ न निकाले कि वर्तमान काल में हरिजनो के प्रति सवर्ण हिन्दुओ का व्यवहार निंद्य नही है। जरूर है, परन्तु छूआ-छूत, ऊँच-नीच का भेद-भाव तो इस समय सारे जन-समाज मे व्याप्त है। स्वय सवर्ण हिन्दू ही आपस में एक दूसरे को नीच समझते हैं। एक ही वर्ण के लोग भी छोटे-छोटे फिर्के बाँधकर एक दूसरे को ऐसा ही समझते हैं। स्वय शूद्र लोगो में भी यह मानसिक व्याधि समा गई है। महार चमार के लिए अछूत है और चमार महार के लिए।

जिन्हे हम अन्त्यज कहते हैं, उनमें भी सैकडो फिर्के है और वे भी एक दूसरे को तिरस्कार-भावना से देखते है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऊँच-नीच का भेद-भाव इस समय सारे हिन्दू-समाज में व्याप्त है। अस्पृश्यता इस भेद-भावना की आत्मजा है। ऐसी हालत में यह क्योंकर कहा जा सकता है कि सवर्ण हिन्दू इतर हीन जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यदि वे आपस में समानता का व्यवहार करते, ऊँच-नीच की भेद-बुद्धि न रखते और सम्मिलित रूप से केवल अन्त्यजो को ही घृणा की दृष्टि से देखते, तो अलबत्ता ऐसा कहने की गुञ्जाइश थी, जैसा कि महात्मा जी कहा करते हैं। जब सारा समाज का समाज इस मानसिक व्याधि से ग्रस्त है, जब ऊँच-नीच सभी एक दूसरे को नीच समझते है, तो इस दुरवस्था के दोषी सवर्ण हिन्दू और अन्त्यज दोनो हैं। हमारी इस सम्मति पर सम्भवतः कोई यह दलील पेश करेगा कि सवर्ण हिन्दू आपस में कम से कम मनुष्यत्व का आचरण तो करते हैं और यह व्यवहार अछूतो के लिए नही है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में यदि सवर्ण हिन्दू दोष-मुक्त नही हो सकते, तो अन्त्यज भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। उनके आचार-विचार इतने गिरे हुए है, रहन-सहन मे इतनी गन्दगी है कि भेद-भाव से व्याप्त सवर्ण हिन्दुओ मे उनके प्रति तिरस्कार-भाव का होना बिलकुल स्वाभाविक है। फिर भी हम उसे उचित कहने के लिए तैयार नही है। यदि अन्त्यजो की शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जावे और वे साफ-सुथरे रहकर सभ्यता का जीवन व्यतीत करें, तो कम से कम वे अस्पृश्य तो हरगिज़ न रह जावेंगे। आज भी यदि कोई महार ग्रेजुएट हमारे घर आ जावे, तो उसे बाहर खडे रखने की इच्छा हमारी न होगी। योग्यता की धाक ही ऐसी होती है। गो-मांस खाना, पेशे के रूप मे दूसरो का मल-मूत्र उठाना, मुर्दो के मैले परित्यक्त कपड़े उठाकर घर में ले आना, दूसरो का जूठन खाना, इत्यादि ये सब कर्म निश्चय ही निन्दनीय और घृणास्पद है। ऐसे कर्मो का करनेवाला यदि

अस्पृश्य माना जावे, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? फिर भी इस युग का कोई भी समझदार आदमी अस्पृश्यता का समर्थक नही हो सकता। पर इसका अर्थ यह भी नही होना चाहिए कि इस प्रश्न को केवल एकागी दृष्टि से देखकर हम केवल सवर्ण हिन्दुओ के ही मत्थे दोषारोपण करे।

गत वर्ष विहार मे भूकम्प-जनित दुर्दैवी उत्पात को देखकर गाधी जी ने कहा था कि यह सब अन्त्यजो के प्रति किये गये सवर्ण हिन्दुओ के कर्मो का ही दुष्परिणाम है। इस सम्मति पर देश के समाचार-पत्रो में कुछ चर्चा भी हुई थी। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ने भी इस विचार का विरोध किया था। परन्तु हमारी तो यह धारणा है कि सवर्ण हिन्दुओ में जो ऊँच-नीच का भेद-भाव समाया हुआ है, उसका दुष्परिणाम उनको दैव से बिलकुल उसी रूप में मिल रहा है। विहार के भूकम्प से तो सवर्ण हिन्दुओं के साथ अन्त्यज और अछूत भी मरे होगे। लेकिन विदेशो में आज कुलीन हिन्दुस्थानी अन्त्यजो की हालत में अपनी जिन्दगी काट रहे है। महात्मा जी तो अपने दक्षिण-आफ्रिका के जीवन में विदेशियो के इस व्यवहार से अच्छी तरह परिचित हो चुके है। फिर विहार के भूकम्प में इस पाप के विवादग्रस्त परिणाम को ढूंढने की क्या जरूरत रह गई? पाप-कर्म का फल तो विधाता कर्म के अनुरूप ही देता है; जिससे समझदार मनुष्यो को इस बात का सकेत मिल जावे कि अमुक कर्म का अमुक परिणाम है। यदि सवर्ण हिन्दू हरिजनो का तिरस्कार करते है, तो परमात्मा ने उन्हे ऐसी जाति के सम्पर्क और सघर्ष में डाल दिया है, जो सवर्ण हिन्दुओ को ही अछूत समझती है। परिणाम तो इस रूप में बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है। उसे हम विहार के भूकम्प में क्यो ढूंढे?

जो हो, पर इसमें तो कुछ सन्देह नही कि इस देश के राष्ट्रीय जीवन में हरिजन-सुधार तथा अस्पृश्यता-निवारण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है और इसे अपने हाथ मे लेकर गाधी जी ने अपनी

महत्ता के अनुरूप काम किया है। इस प्रश्न का प्रकट रूप तो साम्प्रदायिक प्रतीत होता है और इसी कारण कुछ मुसलमानो ने महात्मा जी पर परोक्ष रूप से आक्षेप भी किये है। परन्तु यथार्थ में यह एक ऐसा राष्ट्रीय प्रश्न है कि इसने हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा ईसाई सभी का सम्बन्ध है। इस देश का अधिकांश जन-समाज हिन्दू है। राष्ट्र का बनना-बिगडना उन्हीं की मनोदशा पर अवलम्बित है। हिन्दुओ की वर्तमान असम्बद्धता हमारे राष्ट्रीय विकास के मार्ग में बडी जबरदस्त अडचन पैदा कर रही है। हिन्दुओ की आत्म-विस्मृति तथा शिथिलता का यह भी परिणाम हुआ है कि इस देश के मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी गुमराह हो रहे है। उनकी भी मनोवृत्ति दूषित हो रही है। साम्प्रदायिकता की गन्दगी से देश का वातावरण व्याप्त हो रहा है। इस दूषित वातावरण मे परतन्त्रता खूब फूल-फल रही है। अतएव हरिजन-समस्या इस देश के लिए वस्तुत एक राष्ट्रीय प्रश्न है। प्रश्न के इसी सर्वोपरि महत्त्व पर विचार करके ही दूरदर्शी महात्मा जी ने यरवदा जेल मे अपने प्राणो की बाजी लगाई थी।

परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है। आमतौर पर लोगो की यह धारणा है कि दलित जाति की संख्या हिन्दुओ में ही पाई जाती है। परन्तु यदि विचार-पूर्वक देखा जावे तो दलितो की सख्या मुसलमानो में अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। शिक्षा-दीक्षा तथा मनुष्यत्व से शून्य और आर्थिक दुरवस्था से ग्रस्त जन-समाज की संख्या मुसलमानो मे बहुत अधिक है। सिवाय इसके व्यापक दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि दलितोद्धार एक पार्थिव समस्या है। इस पृथिवी पर शायद ही ऐसा कोई देश हो, जहाँ दलितो की संख्या न्यूनाधिक अश मे न हो। पाश्चात्य राष्ट्रो के बेकार श्रमजीवियो की गणना इसी वर्ग में की जा सकती है। बडी व्यवस्थापिका सभा मे एक बार लाला जी व्याख्यान दे रहे थे। बोलते हुए उन्होने हिन्दुओ की प्रशसा में दो-चार शब्द कहे। इसी बीच मे सरकारी सदस्यो की ओर से एक अँगरेज

सज्जन ने निर्भर्त्सना-सूचक शब्दो में यह कहा—"Who created the depressed classes" ? यानी दलित जातियों की सृष्टि किसने की ? प्रत्युत्पन्नमति और विद्वान् लाला जी ने इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न ही से दिया। उन्होने फौरन उस महाशय से पूछा "Who created the Negroes ?" नीग्रो जाति की सृष्टि किसने की ? प्रश्नकर्ता महोदय ओठ चबाते रह गये, प्रत्युत्तर कुछ भी न सूझा। सूझता क्या, बात तो बिलकुल सच थी। अस्पृश्यता का दृश्य देखना हो, तो कोई अमेरिका जाकर देखे। वहाँ नीग्रो लोगो की बस्तियाँ अलग है, उनके क्लब, भोजनालय तथा नाटक-घर सभी अलग है। वे बेचारे गोरे लोगो की सस्थाओ मे शामिल नही हो सकते। उनके लिए न्याय का दरवाजा भी बन्द है। किसी गोरे के विरुद्ध यदि किसी हब्शी ने अपराध किया, तो वह पुलिस के हाथो से छीना जाकर झाड़ से जीवित अवस्था ही मे उलटा लटका दिया जाता है और उसके लटकते हुए सिर के नीचे आग जला दी जाती है। दुर्दैवी नीग्रो का मास जल जल कर नीचे गिरता है और रोमाचकारी यन्त्रणा के साथ धीरे धीरे उसके प्राण निकलते है। सभ्य अमेरिका के सभ्य गोरे अपने छोटे छोटे बच्चो को कन्धो पर चढाकर वह दृश्य दिखाया करते है ! निष्ठुरता की हद हो गई ! !

लेकिन अमेरिका से हमें कोई मतलब नही। हमें तो अपने ही प्रश्न पर विचार करना है। यदि हमने अपनी समस्या हल कर ली, तो ससार के सामने अपनी उदारता का उदाहरण हम रख सकेगे। गाधी जी भारतीय जन-समाज को इसी दोष से मुक्त करने के लिए प्राण-पण से प्रयत्नशील है। पराधीन भारत अपनी इसी कमजोरी का परिणाम भोग रहा है। उसे अब सावधान होकर अपने पथ-प्रदर्शक महापुरुष के पीछे चलना चाहिए। सनातनी पडितो का विरोध उनकी भयकर नासमझी का परिणाम है, अतएव वह सर्वथा दुर्लक्ष्य करने योग्य है।

——

अध्याय २३

असहयोग

'योग' सम्बन्ध-वाचक शब्द है। दो चीजो के मेल को योग कहते हैं। इसका विपरीत अर्थ देनेवाला शब्द है 'विच्छेद।' समूचा विश्व-प्रपच योग और विच्छेद ऐसी दो क्रियाओ से सचालित हो रहा है। हमारी यह पृथ्वी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु-परमाणुओ के योग से बनी है। सारा भौतिक प्रसार ही उनका सम्बद्ध रूप है। जब उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है। ब्रह्माण्ड की रचना और सहार इन्ही अणु-परमाणुओ के योग और विच्छेद से सम्पादित होते है। योग में सृष्टि है और विच्छेद में उसका संहार है।

इस ससृति के मूल मे एक ही अमर तत्त्व है। समूचा विश्व-प्रपच उसी का रूपान्तर है। वह मूल-स्थित ब्रह्मतत्त्व एक से अनेक होकर—एकोऽह बहु स्याम—जगत् का रूप धारण करता है। उस परमात्म-तत्त्व से अनेक आत्माये निसृत होकर भिन्न-भिन्न भौतिक अवस्थाओ से होती हुई अपने मौलिक अस्तित्व की ओर अग्रसर होती है। जीवन का यही क्रम है। मूल परमात्मा से आत्मा वियुक्त होती है और अन्ततोगत्वा युक्त भी हो जाती है। पहली विच्छेद की क्रिया है दूसरी योग की अवस्था है। 'विच्छेद' अवरोहण (Involution) है, और 'योग' आरोहण (Evolution) है। इन्ही दो क्रियाओ से सृष्टि-परम्परा सचालित हो रही है।

जीवन में योग से विकास (आरोहण) है और विच्छेद से पतन (अवरोहण) है। जिस प्रकार मूल ब्रह्म एक से अनेक होकर नीचे गिरता है, उसी प्रकार जीव-दशा मे भी हम एक से अनेक अथवा परस्पर

सम्बद्ध होकर पतित हो जाते हैं। इसके विपरीत आरोहण क्रिया का अवलम्ब लेकर जब जीवात्मा अनेकत्व से एकत्व की ओर अग्रसर होती है, तो वह योग (विकास) मार्ग पर आरूढ हो जाती है। इसी कारण परमात्म-निष्ठ जीवात्मा को योगी कहते हैं। अवरोहण में वियोग (विच्छेद) और आरोहण में योग है। योग और वियोग अस्तित्व की दो अवस्थायें हैं।

इस संक्षिप्त तात्त्विक विवेचन से पाठक समझ सकेंगे कि संसार तथा जन-समाज को विकासशील एवं प्रगतिमान् बनाने के लिए हमें योग-मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। जगत् के प्राणियो में भिन्नता (विच्छेद) के स्थान पर एकवाक्यता (योग) स्थापित करके ही हम संसार को विकास-पथ पर ला सकते हैं। पारस्परिक सहयोग ही प्रगतिमान् जगत् का मूल मन्त्र है। यदि सहयोग का नैसर्गिक आदर्श देखना हो, तो कोई हमारे सौर्यजगत् को देखे। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मंगल तथा इतर ग्रह-उपग्रहों के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण में ही प्राणि-समुदाय का अस्तित्व है। अपनी सभ्यता के प्रात काल में मनुष्य स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी था। ऐसी अवस्था में वह नितान्त बर्बर भी था। लेकिन धीरे धीरे वह कुटुम्ब, परिवार, समाज तथा राष्ट्र से सम्बद्ध होकर सहयोग पूर्वक रहने लगा। अतएव मानवी सभ्यता का इतिहास मनुष्य-जाति के सहयोग का ही इतिहास है। भिन्नता तथा भेद के द्वन्द्व और तज्जनित विकारों से वेष्टित जन-समुदाय को प्रेम और कर्त्तव्य-निष्ठा के सूत्र में बाँधकर मनुष्य और मनुष्य के बीच जो आन्तरिक एकवाक्यता विद्यमान है, उसकी भावना को जाग्रत करना ही हमारी सारी कर्मण्यता का अन्तिम उद्देश्य है। पारस्परिक सहयोग से हम एक दूसरे के उत्थान में सहायक होते हैं। अतएव सहयोग विश्वमोक्ष का साधन है और जन-समाज के सामूहिक जीवन का मूल मन्त्र है। स्त्री-पुरुष के सहयोग से कुटुम्ब, कुटुम्बों के सहयोग से परिवार, परिवारों के सहयोग से सम्प्रदाय, सम्प्रदायों के सहयोग से राष्ट्र और राष्ट्रों के सहयोग से समूचा जन-समाज सचालित

होता है। साराश यह कि समस्त ससार योगमय है और योग-मूलक भी है।

परन्तु इस जीवन में ऐसा कोई नियम नहीं, जिसका अपवाद नहीं। जन-समाज का पारस्परिक सहयोग नीतिमत्ता के आधार पर ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है। जिन चिरन्तन नैतिक नियमों से प्रेरित होकर नीतिमान् विधाता की नीतिमत्ता-मूलक सृष्टि अपने कल्याण-पथ पर आरूढ रह सकती है, उन्हीं के आधार पर सहयोग भी श्रेयस्कर होता है। एक ही गिरोह से सम्बन्ध रखनेवाले लुटेरे और डाकू भी परस्पर बड़े सहयोगी होते हैं। परन्तु ऐसे अनय-पथ का सहयोग किसी के लिए भी हितकर नहीं होता। नीतिमत्तामूलक होकर ही सहयोग श्रेय-सम्पादक हो सकता है। उसी अवस्था में वह धर्म का रूप धारण करता है। अन्यथा नीति के मार्ग से भ्रष्ट होकर वह वैयक्तिक और सामूहिक पतन का कारण हो जाता है। ऐसे प्रसगो पर ऐसे सहयोग से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने के सिवाय नीतिमान् मनुष्य के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। इसी को असहयोग कहते हैं।

असहयोग मानवी सस्कार का बिलकुल स्वाभाविक गुण-धर्म है। जिस आदमी के आचार-विचार हमें पसन्द नही होते, उससे हम किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना नही चाहते। जिस विषय की चर्चा हमें रुचिकर नही होती, उसमें हम कुछ भी भाग नही लेते। आपस में मनोमालिन्य हो जाने पर हम एक दूसरे की ओर नजर उठाकर भी नही देखते। जिस कार्य की उपयोगिता में हमें विश्वास नही है, उसे पूर्ण करने में हम कुछ भी योग नही देते। परन्तु जीवन के ऐसे अनेक प्रसगो पर हम अपने मनोधर्म तथा भले-बुरे सस्कारो से प्रेरित होकर असहयोग किया करते हैं। नीति-अनीति का ध्यान हमेशा नही रहता। ऐसे स्वभाव-प्रेरित असहयोग के उदाहरण हमें जीवन मे नित्यप्रति दिखाई देते है। ससार के सर्व-साधारण लोग अपने गुण-धर्म के अनुसार किसी से सहयोग और किसी से असहयोग किया ही करते हैं। गृहस्थी मे जब स्त्रियाँ

रूठ जाती हैं, तो वे भी गृहस्वामी से असहयोग कर बैठती है। सम्मिलित कुटुम्ब में जब पिता और पुत्र या भाई और भाई आपस मे लड बैठते हैं और उनकी भेद-बुद्धि बढ जाती है, तो वे एक दूसरे से अलग होकर असहयोग कर बैठते है। वर्षो तक आपस का आना-जाना, खाना-पीना और बोलना बन्द हो जाता है। इस तरह पाठक देखेंगे कि सर्व-साधारण लोगो के वैयक्तिक, कौटुम्बिक तथा पारिवारिक जीवन में असहयोग के उदाहरण अनेकानेक दृष्टिगोचर होते है।

जन-समाज मे विग्रह के दो ही रूप दिखाई देते है। असहयोग और सग्राम। जब दो मनुष्यो मे पारस्परिक मनोमालिन्य बढ जाता है, तो पहले वे एक दूसरे से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। तत्पश्चात् कभी वे यही तक रुक जाते है और कभी कभी वे आपस में लड बैठते है। एक दूसरे का सिर फोड देता है। मामला सरकारी अदालत तक चला जाता है। अतएव दो लडनेवालो मे—सग्राम में—असहयोग का होना अनिवार्य है, परन्तु दो असहयोगियो के बीच सग्राम का होना कोई अवश्यम्भावी बात नही है। असहयोग की क्रिया अहिंसात्मक होती है। दो वस्तुओ को एक दूसरे से अलग करने में सघर्ष की कोई आवश्यकता नही—न फिर वह सभव ही है। सघर्ष तो सघटन यानी मुठभेड से होता है। इस दृष्टि से हमे 'असहयोग' सज्ञा के पहले 'अहिंसात्मक' विशेषण अनावश्यक प्रतीत होता है। असहयोग ज्यो ही हिंसात्मक हुआ, त्यो ही वह सग्राम का रूप धारण कर लेता है।

लेकिन पाठको को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल क्रिया (Process) की दृष्टि से ही असहयोग में अहिंसात्मकता रह सकती है। उद्देश्य (Motive) और परिणाम (Result) की दृष्टि से वह हिंसात्मक भी हो सकता है। नीतिमान् असहयोगी का उद्देश्य सम्भवत अहिंसात्मक हो सकता है, पर उसका परिणाम भी वैसा ही होना चाहिए यह कोई आवश्यक बात नही है। न्याय-मूलक असहयोग अपने परिणाम मे अनेक बार हिंसात्मक हो जाता है। हमारा कोई आश्रित

मनुष्य हमारी सहायता का दुरुपयोग करे और यदि हम उसे असहयोग-पूर्वक अपनी छत्रच्छाया से निकाल दें, तो हमारा यह आचरण नीति से समर्थित हो सकता है; परन्तु हमारे इस व्यवहार का परिणाम यह भी सम्भव है कि निकाला हुआ मनुष्य घर-घाट कहीं का न होकर अनेक प्रकार का कष्ट सहता हुआ कहीं अकाल-कवलित भी हो जावे। पर नीति-मान् असहयोगी इस हत्या का जिम्मेदार नहीं हो सकता।

साराश यह कि असहयोग केवल क्रिया की दृष्टि से ही सर्वथा अहिंसात्मक होता है, पर उद्देश्य और परिणाम की दृष्टि से वह हिंसात्मक भी हो सकता है।

विग्रह का दूसरा रूप जो संग्राम है, वह हमेशा हिंसाकारी होता है। न सही दोनो पक्षो से, पर किसी न किसी पक्ष से हिंसा होती ही है। अतएव परिणाम और क्रिया के रूप में सग्राम हमेशा हिंसक होता है। अहिंसक युद्ध की सम्भावना ही नहीं। परन्तु कर्ता की बुद्धि यानी उद्देश्य की दृष्टि से सग्राम का अहिंसात्मक होना बिलकुल सभव है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कौरवो की हिंसा करने के अभिप्राय से अर्जुन शस्त्र-सन्नद्ध नहीं हुए थे। वे अपना अधिकार चाहते थे। हिंसा की इच्छा न रहते हुए भी केवल कर्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर अर्जुन को वह लडाई लडनी पडी थी। अतएव हिंसा की कोई जिम्मेदारी उन पर नहीं थी। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम अहिंसा-प्रकरण में करेंगे। यहाँ तो हमें विग्रह के दो रूपों—असहयोग और सग्राम—का अहिंसा की दृष्टि से खुलासा करना ही अभीष्ट है।

हम यह देख चुके है कि व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य अनेक प्रसगो पर अपने विरोधियो से स्वभावत असहयोग किया करता है। इसके सिवाय सामूहिक असहयोग के उदाहरण भी मिलेंगे। आजकल के राष्ट्र भी अपने विरोधी राष्ट्रो से 'डिप्लोमेटिक रिलेशस' तोड डालते है। यह जातीय असहयोग का उदाहरण हो सकता है। दो सम्प्रदाय भी आपस में असहयोग किया करते है। हिन्दुस्थान और पैलेस्टाइन सरीखे

स्थानों में जहाँ साम्प्रदायिक झगड़े होते रहते हैं, ऐसे सामूहिक असहयोग के उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु किसी प्रजावर्ग ने अपने शासक से असहयोग किया हो, ऐसा कोई प्रामाणिक उदाहरण अतीत के इतिहास में नहीं मिलता। ऐसा व्यापक प्रयत्न पहले-पहल महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तान ही में किया है। उसके परिणाम के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कुछ चर्चा देश में और बाहर भी हो चुकी है। हम भी इसी प्रकरण में आगे चलकर अपने विचार प्रकट करना चाहते हैं।

'साम्राज्य-निष्ठा' शीर्षक प्रकरण में हम यह देख चुके हैं कि महात्मा जी की राजभक्ति गत यूरोपीय युद्ध के अन्त तक कैसी बढ़ी-चढ़ी थी। लोकमत की तथा अन्यान्य राष्ट्रनेताओं की परवाह न करते हुए उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को सहायता पहुँचाई। उन्हें पूरी पूरी आशा थी कि इस सेवा का खयाल करके ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण बदल देंगे। इस शुभ परिणाम की ओर यह कह कर उन लोगों ने सकेत भी किया था कि हम पृथ्वी को प्रजा-सत्ता के लिए सुरक्षित करना चाहते हैं। महात्मा जी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने शर्त की तौर पर तो नहीं, पर आशा तथा विश्वास के रूप में यह प्रकट किया था कि युद्ध-समाप्ति के बाद ब्रिटेन हिन्दुस्थान के अधिकारों पर विचार करेगी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ बड़े चुस्त व चालाक थे। उन्होंने अपनी ओर से कोई ऐसी निश्चयात्मक घोषणा हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में नहीं की। पर गोलमाल और अन्त-सार-शून्य शब्दों में वे कुछ उम्मीद तो जरूर दिलाते रहे। इस आश्वासन पर लोकमान्य तिलक सरीखे दूरदर्शी और चतुर राष्ट्रनेताओं का कुछ भी विश्वास नहीं था, क्योंकि अब तक वे इस बात का निश्चय कर चुके थे कि भारत का उद्धार ब्रिटेन की राज़ी-खुशी से होने का नहीं है। परन्तु महात्मा जी बड़े विश्वासी आदमी हैं। उन्हें एक बार उनके मित्र पारसी रुस्तम जी ने 'भोले भंडारी' कहा था, सो ठीक ही कहा था। गांधी जी को मनुष्य की सलमनसाहत पर बड़ा विलक्षण विश्वास है। सच पूछा जाय

तो भलेमानस संसार में बहुत कम होते हैं और इसी कारण चतुर लोग एकाएक किसी पर विश्वास नहीं करते। जाँच-पड़ताल के बाद ही वे किसी को विश्वसनीय मानते हैं। परन्तु गांधी जी इस कोटि के लोगों में नहीं हैं। अनेक बार धोखा खाकर भी वे किसी पर विश्वास कर सकते हैं। उनके स्वभाव की यह अप्रतिम सरलता उन्हें कई बार दगा दे चुकी है। फिर भी वह तो उनका स्वभाव ही है।

इस बार भी उन्होंने धोखा खाया और ऐसा भी खाया कि उनकी आँखें ब्रिटिश नीति के सम्बन्ध में हमेशा के लिए खुल गई। युद्ध-समाप्ति के बाद होमरूल तो न मिला पर रौलट ऐक्ट और पंजाब का हत्याकाण्ड दोनों एक साथ नजर आये। साम्राज्य-सेवा के बदले ब्रिटिश सत्ताधिकारियों ने हिन्दुस्थान को जो भेंट दी, वह देनेवाले और लेनेवाले दोनों के लिए अपमानजनक थी। गांधी जी अपने जीवन में 'कड़वी घूंट' पीने के बहुत आदी हो गये हैं। परन्तु इस बार की घूंट वे गले के नीचे न उतार सके। उन्हें विश्वास हो गया कि विश्वास देकर उसका घात करना ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए असाधारण बात नहीं है। गांधी जी का सहयोगी हृदय इस व्यवहार से टुकड़े-टुकड़े हो गया। लोकमत के विरुद्ध उन्होंने साम्राज्य को जो सहायता पहुँचाई थी, उसका प्रायश्चित्त उन्हें करना पड़ा। प्रायश्चित्त का रूप था असहयोग।

असहयोगी का बाना धारण कर चुकने के बाद महात्मा जी ने आत्मकथा लिखी है। ऐसी हालत में हम सरीखे साधारण आदमी इस बात की आशा कर सकते थे कि गांधी जी को अपने साम्राज्य-सहयोग पर कुछ पश्चात्ताप हुआ होगा। किन्तु नहीं; वे लिखते हैं —

"मैंने अपना धर्म समझकर युद्ध में योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणी में मुझे दोष दिखाई नहीं पड़ता। ब्रिटिश साम्राज्य के संबंध में उस समय जो विचार मेरे थे

उनके अनुसार ही मैं युद्ध मे शरीक हुआ था और इसलिए मुझे इसका कुछ भी पश्चात्ताप नही है।"

किसी भी बीती हुई बात पर पश्चात्ताप न करने की मानसिक प्रवृत्ति निराली है और वह कदाचित् महापुरुषो में ही पाई जा सकती है। परन्तु ससार के सर्व-साधारण ही नही, अच्छे से अच्छे विचारवान् आदमी भी जब कभी कोई भूल कर बैठते है और उन्हे उस बात का ज्ञान हो जाता है, तो वे अपनी गलती के लिए पश्चात्ताप तो करते ही है। पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त का सच्चा रूप है ? भूल के पश्चात् यदि मनस्ताप न हो, तो फिर से भूल होने की सम्भावना ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसके सिवाय कोई भी समझदार आदमी जान-बूझकर तो भूल नही करता। परिणाम में गलती भले ही नजर आवे, परन्तु वह तो कोई न कोई अच्छी विचार-सरणी के आधार पर ही काम किया करता है। ऐसी हालत में किसी भी आदमी को अपनी चूक के लिए पश्चात्ताप करने की आवश्यकता अथवा औचित्य ही नही रह जाता। अतएव हमारी जडताक्रान्त समझ में यह बात नही आती कि किस तर्क के आधार पर गाधी जी को अपने पूर्व-कृत साम्राज्य-सहयोग पर पश्चात्ताप नही होता। क्योकि वे स्वयम् दूसरे स्थान पर इसी सम्बन्ध में लिखते है —

"मैं ठीक ठीक देख रहा था कि युद्ध में शरीक होना अहिंसा के सिद्धान्त के अनुकूल नही है। परन्तु बात यह है कि कर्त्तव्य का भान मनुष्य को हमेशा दिन की तरह स्पष्ट नही दिखाई देता। सत्य के पुजारी को बहुत बार इस तरह गोते खाने पडते है।"

इस अवतरण मे परोक्ष रूप से महात्मा जी ने इस बात को स्वीकार किया है कि जिस समय मैंने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध युद्ध मे शरीक होने का निश्चय किया, उस समय कर्त्तव्य का भान मुझे दिन की तरह स्पष्ट नही दिखाई देता था। यह बात तो बिलकुल सच है कि अच्छे से अच्छे मनुष्य को भी अपना कर्त्तव्य-पथ हमेशा साफ-साफ नही दिखाई देता। यह दुनिया ही एक धोखे की टट्टी है। यहाँ तो सत्य और असत्य

दोनो के पुजारियो को गोते खाने पडते है। परन्तु गोता खा चुकने के बाद अपनी भूल समझ आने पर पश्चात्ताप का होना तो बिलकुल स्वाभाविक और उचित भी है।

महात्मा जी की निम्नलिखित विचार-सरणी भी विचारणीय है —

"जो मनुष्य समाज में रहता है वह अनिच्छा से ही क्यो न हो, मनुष्य-समाज की हिंसा का हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशा मे जब दो राष्ट्रो मे युद्ध हो तो अहिंसा के अनुयायी व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस युद्ध को रुकवावे। परन्तु जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसे विरोध करने का सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्य में शामिल हो सकता है, और ऐसा करते हुए भी उसमें से अपने को, अपने देश को, और ससार को निकालने की हार्दिक कोशिश करता है।"

"युद्ध में शरीक होते समय मुझे कर्त्तव्य का भान नही था, और इस कारण गोता खाना पडा"—इस बात को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हुए भी गाधी जी ने उपर्युक्त दलील अपने साम्राज्य-सहयोग के पक्ष में दी है। इस विचार-सरणी से सूचित होता है कि युद्ध के समय अहिंसा के पुजारी के लिए दो ही मार्ग खुले रहते है। या तो वह युद्ध को रुकवावे या उसमे शामिल होकर अपने को, अपने देश को और ससार को निकालने की हार्दिक कोशिश करे।

अहिंसा के पुजारी के लिए ऐसी हालत में क्या कोई तीसरा उपाय नही है? यदि वह युद्ध को रोक नहीं सकता और उसमे शामिल भी नहीं हो सकता, तो क्या वह युद्ध से असहयोग नही कर सकता? असहयोग का रुख तो ऐसी लाचारी अवस्था मे ही वाञ्छनीय है। मालूम नहीं, असहयोग के आचार्य गाधी जी ने इस नैतिक उपाय को अपनी उपर्युक्त दलील मे क्यो स्थान नहीं दिया। माना कि युद्ध के समय उन्हे सम्भवत असहयोग की कल्पना भी न रही हो। परन्तु आत्म-कथा लिखते समय तो वे असहयोग-मार्ग के प्रदर्शक हो चुके थे। इसके

सिवाय उपर्युक्त दलील में एक बात और है, जो समझ में बिलकुल नहीं आती। जो अहिंसा-प्रेमी युद्ध को रोकने की इच्छा करता है, वह उसमें शामिल ही कैसे हो सकता है? और यदि शरीक भी हुआ, तो वह शरीक होकर भी अपने को हिंसा से कैसे निकाल सकता है? और जो युद्ध ही नहीं निकल सकता, वह देश को और ससार को किस बुनियाद पर अहिंसा से मुक्त कर सकता है? ये बाते गाधी जी की समझ मे आती हों, पर हमारी मन्द बुद्धि को ये बिलकुल नही पटती।

अपने हृदय का खुलासा करते हुए वे आगे चल कर इसी सम्बन्ध में लिखते है :—

"विरोध की शक्ति मेरे अन्दर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्ध मे शरीक होने का एक रास्ता ही मेरे लिए खुला था।"

क्रियात्मक विरोध की शक्ति न सही, निष्क्रिय विरोध की शक्ति तो प्रत्येक नीतिमान् के लिए व्यक्तिगत रूप मे हमेशा उपलब्ध रहती है। इसी को असहयोग कहते हैं। वह निष्क्रिय सत्याग्रह का एक रूप है। हम तो समझते है कि गाधी जी यदि अहिंसा-सिद्धान्त के समर्थक थे, तो उनके लिए कम से कम वैयक्तिक रूप मे असहयोग का मार्ग तो अवरुद्ध नही था। यथार्थ में यह मार्ग तो हमेशा खुला रहता है। फिर भी मालूम नहीं, गाधी जी ने उसका अनुसरण क्यो नही किया, और यदि नहीं किया तो अपनी उपर्युक्त तर्क-सरणी में इस तीसरे सुलभ और स्वय प्रतिपादित साधन का जिक्र तक क्यो नही किया। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा जी मे भूल-स्वीकार करने की अलौकिक क्षमता है। पर यह मानसिक प्रवृत्ति हमें उपर्युक्त दलील में दृष्टि-गोचर नही होती।

जो हो, युद्ध-समाप्ति के बाद ब्रिटिश नीति का रुख देखकर महात्मा जी ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया। वे अब कट्टर से कट्टर असहयोगी हो गये। एक विश्वासी, सरल हृदय और सतोगुणी महापुरुष को असहयोगी होने के लिए यदि इतने अधिक और कटु अनुभवो की आवश्यकता हुई तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। अब वे रौलेट ऐक्ट और पजाब का अनुभव

अपने वक्तव्यो और व्याख्यानो मे असहयोग की रूप-रेखा बाँधने (मद्रास-प्रान्त से उन्होंने इस कार्यक्रम का सूत्रपात किया। लोग के विचारो को कौतूहल-पूर्वक सुनने लगे। हमारे राष्ट्रीय प्रयत्न के इतिहास में एक नई अश्रुतपूर्व बात सुनाई देने लगी। पहले-पहल इस कार्यक्रम की सफलता पर किसी को विश्वास हुआ, किसी को नहीं हुआ और कई लोग इसका उपहास भी करने लगे। शिक्षित समुदाय में इस कार्यक्रम के सम्बन्ध में विशेष अनास्था दृष्टिगोचर हुई। असहयोग की सफलता का दारोमदार भी उन्ही पर था। गाधी जी दक्षिण-आफ्रिका से काफी कीर्ति कमा कर लौटे थे। चंपारनवाले मामले में उन्होंने यह दिखा दिया था कि सत्य का आधार लेकर अधिकारियो का मुकाबिला किस तरह करना चाहिए। अतएव हिन्दुस्थान मे ऐसे लोगो की सख्या बहुत पर्याप्त थी, जो गाधी जी के शब्दो को श्रद्धा-पूर्वक सुनते थे और उन्हें अमल में लाने के लिए प्रयत्नशील भी रहते थे। अपनी दृढ़ निष्ठा और निर्भयता की बदौलत वे जन-समाज के हृदय पर बहुत कुछ अधिकार प्राप्त कर चुके थे। उसी का अवलम्ब लेकर वे लोगो को असहयोग का सन्देश सुनाने लगे।

असहयोग के कार्यक्रम में पाँच बातें प्रधान थीं। कौंसिलों का बहिष्कार, अदालतो का बहिष्कार, स्कूल-कालेजो का परित्याग, सरकारी उपाधियो का परित्याग और विदेशी चीजो का बॉयकाट। इन पाँच बातो पर विचार करने से प्रतीत होता है कि असहयोग का कार्यक्रम विशेषकर शिक्षित जन-समाज के लिए ही सोचा गया था। जनता से उसका विशेष सरोकार नहीं था। अलबत्ता कौंसिलो के बहिष्कार मे जन-समाज का सम्बन्ध जरूर आता है। पर यह मानने में हमें कोई आपत्ति दिखाई नही देती कि असहयोग का कार्यक्रम विशेषकर शिक्षित समाज की कर्मण्यता का परीक्षक था। यथार्थ मे ऐसा होना आवश्यक और उचित भी था। हिन्दुस्थान को शिक्षित लोगो के द्वारा ही राष्ट्रीय चेतनता मिली थी। अभी तक जितना वैधानिक (Constitutional) आन्दोलन हुआ था,

उसके कर्त्ता-धर्त्ता और सूत्रधार शिक्षित लोग ही हुआ करते थे। लोगो के प्रतिनिधि होकर कौसिलो मे वे ही जाया करते थे। इसके सिवाय राजनीति तथा कानून-कायदो का ज्ञान भी उन्ही को था। कहने का अभिप्राय यह कि वे जनता के स्वाभाविक सरक्षक (Natural guardians) थे। अभी तक राष्ट्रीय सग्राम में सेनानी और पथ-प्रदर्शक का काम उन्ही लोगो ने किया था। अतएव यह आवश्यक और उचित भी था कि वे ही लोग सामने आकर त्याग और साहस का कुछ परिचय देते और लोगो में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करते।

असहयोग के कार्यक्रम में एक बड़ी विशेषता थी और वह यह थी। प्रारम्भ ही से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन कानून-कायदो के भीतर ही सीमित था। नरम और गरम दोनो दलो के लोग इसी वैध प्रणाली से लोकमत प्रकट किया करते थे। सत्ताधारियो की ओर से इस बात पर खास तौर से जोर दिया जाता था और अभी भी दिया जाता है कि प्रजा के आन्दोलन का तरीका हमेशा कानून-कायदो के अनुसार ही होना चाहिए। हिन्दुस्थान का शिक्षित समुदाय भी वैध आन्दोलन का ही पक्षपाती था। गाधी जी का दिया हुआ असहयोग यदि एकदम अवैध होता, तो राष्ट्रीय महासभा में उसका स्वीकृत होना भी मुश्किल था। परन्तु उस कार्यक्रम की विशेषता यह थी कि वह किसी भी विचार-दृष्टि से देखने पर बिलकुल वैध, तर्कपूर्ण और कारगर भी प्रतीत होता था। वैध वह इस कारण था कि कौसिलो में न जाना, वकीलो का वकालत छोड देना, तथा पदवीधारियो के द्वारा सरकारी उपाधियो को लौटा देना किसी भी सरकारी कानून के विरुद्ध नही माना जा सकता था। तर्कपूर्ण वह इसलिए था कि हिन्दुस्थान के विदेशी सत्ताधारी इस देश के शासन का सचालन हिन्दुस्थानियो के द्वारा ही कर रहे है। यदि यथार्थ मे इस शासन से हिन्दुस्थानी असन्तुष्ट है, तो वे देश के शिक्षित सहयोगियो से आग्रह-पूर्वक कहे कि आप इस त्रास-दायक शासन से अलग हो जाइए। कितनी स्वाभाविक बात है! वैध और

विचारपूर्ण होते हुए असहयोग का कार्यक्रम यदि ठीक ठीक अमल में लाया जावे, तो बडा कारगर भी हो सकता है। अपने सहयोग के द्वारा ही प्रजा शासित होती है। यदि वह योग न दे, तो उसी क्षण शासन का अन्त हो सकता है। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त है कि राज्य-शासन की सत्ता प्रजा की ही देनगी है। अतएव जब चाहे तब वह अपनी चीज वापस ले सकती है। गांधी जी का असहयोग इस राजनैतिक सिद्धान्त की सत्यता पर ही स्थापित है। इसी कारण वह अकाट्य भी है।

अपनी इन्हीं विशेषताओ के कारण असहयोग का कार्यक्रम सन् १९२० के कलकत्ता और नागपुर के अधिवेशनो में कांग्रेस के द्वारा स्वीकृत हो गया। मि० जिन्ना, मालवीय जी, चितरजनदास, बाबू विपिनचन्द्रपाल इत्यादिक नेताओं ने उसका विरोध किया था। देशबन्धु चितरजनदास बंगाल के प्रतिनिधियों को लेकर विरोध करने की इच्छा से ही नागपुर-महासभा मे उपस्थित हुए थे। परन्तु महात्मा जी की तर्कशील दलीलों का लोहा उन्हे मानना पडा। असहयोग का औचित्य उनके गले उतर गया। कहाँ तो वे विरोध करने पर तुले हुए थे और कहाँ उन्हें प्रस्ताव का ही भरी सभा में समर्थन करना पडा। देशबन्धु बुद्धिमान् थे, वीर थे और सबसे बढकर त्यागी थे। इधर असहयोग-प्रस्ताव का समर्थन किया और उधर दूसरे दिन उन्होने करीब ६ लाख सालियाना आमदनी की वकालत को तिलाञ्जलि दे दी। इस अधिवेशन ने गाधी जी को चार बडे बडे राष्ट्र-भक्त, त्यागी, वीर और बुद्धिमान् सहायक दिये। युक्त-प्रान्त से पडित मोतीलाल नेहरू, बगाल से देशबन्धु चितरजनदास, मद्रास से श्रीयुत राजगोपालाचार्य और बिहार से बाबू राजेन्द्रप्रसाद मिले। इन चार दिक्पालो की सहायता पाकर गाधी जी का नेतृत्व खिल उठा। अब वे जन-समाज के सर्वेसर्वा हो चले। अधिवेशन के बाद महात्मा जी का देशव्यापी दौरा शुरू हुआ। हिन्दुस्थान का वातावरण असहयोग की चर्चा से गूंजने लगा। जहाँ जहाँ गाधी जी पहुँचे, उनके नये कार्य-क्रम को सुनने के उत्सुक लोग हजारो की सख्या में उपस्थित होने लगे।

हवा में एक हलचल पैदा हो गई। जन-समाज का हृदय क्षुब्ध होने लगा। देश के सैकडो सभा-मञ्चो से शासन की बुराइयो का नग्न रूप खीचा जाने लगा। उस उत्तेजनापूर्ण वातावरण मे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता ऐसे निर्भय होकर अपने दिलो का खुलासा करने लगे, जैसा कि वे कभी न कर पाये थे। अधिकारीवर्ग इस हलचल को चुपचाप ताकता रहा।

असहयोग के दो पहलू थे। पहला विघातक और दूसरा विधायक। कौंसिल-बहिष्कार और उपाधि-त्याग के विघातक कार्यक्रम देश की उस परिस्थिति में शक्य और सभव नही थे। अलबत्ता अदालतो का बहिष्कार करनेवाले अपने मामलो को पचो के सुपुर्द करने लगे, और स्कूल तथा कालेज से निकले हुए लडके राष्ट्रीय स्कूलो मे तथा विद्यापीठो में भरती होने लगे। नौजवान विद्यार्थियो में बडी खलबली मच गई। सरकारी स्कूलो में उनकी सख्या घटने लगी। इन सस्थाओ का नाम 'गुलामखाना' पड गया। जो विद्यार्थी स्कूल कालेजो के बहिष्कार से उदासीन रहकर पहले के समान आने-जाने लगे, उन्हे रोकने के लिए असहयोगी विद्यार्थियो ने जगह-जगह कालेज-द्वार के सामने धरना देना शुरू किया। बगाल में देशबन्धु के त्याग ने विशेष उत्तेजना दी। खासकर नौजवान विद्यार्थियों के नाम उन्होने बडी मार्मिक अपील निकाली। उसका आशय था —

"प्यारे नौजवानो! यह हमारे राष्ट्र का सकट-काल है। परतन्त्रता से हमें मुक्त होना है। इस समय हमे अपने राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण करना है। ऐसे समय में क्या तुम्हे यह शोभा देता है कि देश का इतिहास बनाना छोडकर लिखित इतिहास के निर्जीव पृष्ठो को स्कूल-कालेजो की चहारदीवारी के भीतर पढते बैठो! इससे बढकर तुम्हारे लिए लज्जा की बात और क्या हो सकती है?"

देशबन्धु की राष्ट्र-भावना बडी पवित्र और सक्रामक थी। उसने नौजवानो पर जादू का असर डाला। बगाल का भावना-पूर्ण वातावरण एक भावुक और भव्य नेता को पाकर सत्ताधारियो के लिए भयावह हो गया। गिरफ्तारियाँ शुरू हो गई।

यही समय माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड के शासन-विधान का प्रारम्भिक काल था। सन् १९२१ में इस विधान के अनुसार चुनाई हुई। कौंसिल-बहिष्कार के पक्षपाती काग्रेस-नेता इस चुनाई से अलग रहे। अधिकाश मतदाता भी उदासीन रहे। पर हिन्दुस्थान एक ऐसा देश है, जहाँ देशद्रोही और पतित लोगो की सख्या बहुत अधिक है। विशेषकर इस देश के शिक्षित लोगो में स्वार्थपरता खूब समाई हुई है। वे बड़े महत्वा-काक्षी है। पर जिस देश में विदेशी सत्ता स्थापित हो, जहाँ सुयोग्य विद्वानो के लिए दासत्व के सिवाय कोई दूसरा चारा ही न हो, वहाँ महत्वाकाक्षा के लिए गुजाइश ही क्या हो सकती है। पराधीन जाति के लिए ऐसी मानवोचित आकाक्षा का मार्ग बन्द रहता है। फिर भी इन देश में बनावटी और मिथ्या महत्त्व के पीछे दौडनेवाले लोगो की सख्या कम नही है। ऐसे सभी लोग कौंसिल-बहिष्कार का फ़ायदा उठाकर लोकमत के विरुद्ध कौंसिलो में केवल दो ही वोटो की बदौलत दाखिल हो गये। उन्हें इस बात की चिन्ता न हुई कि लोग उन्हें क्या समझेंगे। स्वार्थी की आँखें ही नही होती, उसका हृदय शुष्क और मस्तिष्क मन्द रहता है। ऐसे मन्द बुद्धि के स्वार्थी लोग कौंसिलो में जाकर भर गये। सत्ताधा-रियो को उनकी उपस्थिति से किसी तरह सन्तोष हो गया। नया विधान इन नये रँगरूटो की बदौलत किसी कदर चालू हो गया।

पदवीधारियो के लिए सरकारी उपाधि से मुक्त होना मुश्किल काम था। बिना पराक्रम के रायबहादुर कहानेवाले लोगो में ऐसी स्वाभिमान-भावना का जाग्रत होना असंभव था। चापलूसी और शिकायत की बदौलत प्रतिष्ठित होनेवाले लोग मनुष्यत्व का जामा पहले ही उतार देते है। फिर उनके हृदय में सद्भावना के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ? सारांश यह कि सरकारी उपाधियाँ सरकार को बहुत कम संख्या में वापस हुईं। वकालत छोड़नेवाले वकील दो-चार की संख्या में तो अधिकाश ज़िलो में निकले, परन्तु अधिकाश वकील-सम्प्रदाय अदालतो के बहिष्कार से उदासीन ही रहा। अपने धधे की वर्दी पहने हुए वे

अदालतों में अड़े ही रहे और बाहरी आन्दोलन की धूमधाम अपने अपने दफ्तरों से चुपचाप देखते रहे। महात्मा जी को इस वाचाल और बहुश्रुत सम्प्रदाय से बड़ी निराशा हुई। गांधी की चलाई हुई आंधी से प्रायः देश की अपढ़ जनता ही क्षुब्ध हो गई, परन्तु इन पढ़े-लिखे मूर्खों का हृदय पाषाणवत् निश्चल और निष्क्रिय ही बना रहा। उनके आचार-विचार में विशेष परिवर्तन कुछ भी न हुआ। कुछ लोग कॉलर और टाई का परित्याग करके, कुछ देशी मिलों के कपड़े ही पहन कर और कुछ खद्दर की सिर्फ टोपी लगा कर अपनी राष्ट्रीय भावना को मन ही मन सराहना करने लगे। लेकिन अदालतों में उनकी पैरवी यथाविधि पूर्ववत् ही जारी रही। हां, ऐसे लोग अलबत्ता गांधी जी के कार्यक्रम पर टीकाटिप्पणी जरूर करने लगे। जहां कर्मण्यता काफूर हो जाती है, वहां जिह्वा की चपलता चौगुनी बढ़ जाती है।

विद्वानों में अक्सर इस बात पर विवाद हुआ करता है कि असहयोग-आन्दोलन सफल हुआ या निष्फल। यह प्रश्न जरा टेढ़ा है, इसलिए इसका उत्तर बहुत सोच-समझ कर देना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर देनेवाले की मानसिक अवस्था पर अवलम्बित है। जिन लोगो ने इस आन्दोलन में योग देकर थोड़ा बहुत त्याग किया है, वे ऐसा नहीं समझते कि असहयोग विफल हो गया। परन्तु ऐसे लोग कि जो बिलकुल तटस्थ रहकर तमाशा देखते रहे, अक्सर कहते हुए सुने जाते है कि आन्दोलन व्यर्थ गया। परन्तु इन दोनो मानसिक अवस्थाओ से बचकर पक्षपात-रहित दृष्टि से हमें यहाँ पर विचार करना है।

आन्दोलन के प्रारम्भ-काल ही में जिन लोगो ने यह धारणा बना ली होगी कि कांग्रेस का फरमान निकलते ही वकील वकालत छोड देंगे, कौंसिलें बिल्कुल खाली रह जावेंगी, कालेजो के द्वार बन्द हो जावेंगे और देश म एक भी रायबहादुर न रह जायगा और इन सबके परिणाम म सरकारी शासन स्तम्भित हो जावेगा, वे लोग यदि असहयोग को विफल समझें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विस्मय तो उनके उस

भोले और विश्वासी हृदय पर होता है, जिसने हिन्दुस्थानी शिक्षितो के सम्बन्ध में ऐसी ऊँची आशा बाँध ली थी। इस देश में जितने पढ़े-लिखे आदमी है, उनमे से बहुत-से लोग सरकारी नौकरियो के द्वारा अपना पेट पाल रहे है। इस नोकर-समाज से हमें कभी कुछ भी आशा नही करनी चाहिए। इस समाज ने अपना मनुष्यत्व छोडकर शासन-मशीन के कल-पुरजो का रूप धारण कर लिया है। न तो वे हिन्दुस्थानी रहे न मनुष्य ही, वे सिर्फ सरकारी नौकर हैं। उनकी जाति बिलकुल अलग है। इनके सिवाय जो स्वतत्र पेशेवाले पढे-लिखे लोग है, उन्ही में से राष्ट्र-सेवक मिलते आये है। परन्तु ऐसे सेवको की सख्या बहुत कम रही है। अधिकाश वकील और डाक्टर जो स्वतत्र शिक्षितो में अग्र-गण्य है, अपने स्वार्थ-साधन ही में तल्लीन रहते आये है। दूषित शिक्षा-प्रणाली और पराधीनता के वातावरण में पलने के कारण उनके पुरुषत्व की कमर टूट गई है। न तो वे सीधे खड़े हो सकते है, न तन कर विचार ही कर सकते है। विदेशी सत्ता को सहायता पहुँचाने की गरज से ही उनका मानसिक निर्माण हुआ है। वही काम वे कर भी रहे हैं। भला जो लोग बचपन से ही सहयोग के साँचे में ढाले गये हैं, वे बात की बात में असहयोगी कैसे हो सकते थे? असम्भव, बिलकुल असम्भव। इन पक्तियो के लेखक को शिक्षित समुदाय की नालायकी का पूरा पूरा ज्ञान था और खास कर इस कारण कि वह स्वयम् एक शिक्षित व्यक्ति है। अतएव उसे इस बात की कभी आशा न थी कि देश-प्रेम की प्रेरणा से भारतीय शिक्षित-समाज कभी ऐसा त्याग कर सकेगा। स्वयम् महात्मा जी को ऐसा विश्वास हुआ होगा—ऐसा विश्वास हमें नही होता। वे तो मनुष्य-स्वभाव से और विशेषकर हिन्दुस्थानी मनोवृत्ति से बहुत अधिक परिचित हैं।

फिर भी उन्होंने इस आन्दोलन का सूत्रपात क्यो किया? इस प्रश्न का यही उत्तर हो सकता है कि कभी न कभी हिन्दुस्थान के जन-समाज को स्वावलम्बन की शिक्षा देनी ही थी। उसे इस बात

की जानकारी चाहिए थी कि देश का सारा शासन उन्ही की बदौलत चल रहा है और यदि वे चाहे और कुछ त्याग करने का सकल्प करे, तो वर्तमान शासन मे आवश्यक सुधार करना बिलकुल सम्भव और शक्य है। यह भी प्रत्यक्ष रूप से दिखाना था कि खोई हुई स्वतत्रता केवल विनय-शील प्रार्थना के बल पर नही मिल सकती। उसके लिए स्वाभिमान, स्वावलम्बन और सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इसके सिवाय हमे अपनी कमजोरियो का ज्ञान भी होना था। जब तक हमारे सामने परीक्षा की कसौटी नही थी, तब तक हम अपनी तथा एक दूसरे की नैतिक योग्यता की पहचान भी नही कर सकते थे। देश को इस बात का ज्ञान होना जरूरी था कि केवल शिक्षित लोगो के भरोसे जन-समाज का उद्धार होना शक्य नही है, जाग्रत जनता का शुभ सकल्प चाहिए और चाहिए देश-व्यापी असन्तोष तथा कष्ट-सहन करने की दुर्दमनीय क्षमता। साराश यह कि सोते हुए जन-समाज को एक जोर का धक्का देकर जगाना था।

मान लिया कि असहयोग-आन्दोलन से वर्तमान शासन में न तो कुछ सुधार हुआ और न फिर उसका अन्त ही हुआ। केवल इसी दृष्टि से कई लोगो ने ऐसी धारणा बना ली है कि आन्दोलन बिलकुल विफल हो गया। पर ऐसा समझनेवाले यह नही समझते कि एक स्थापित शासन-सत्ता का डिगाना बहुत कठिन है और सदियो के पराधीन रहनेवाले जन-समाज मे स्वराज के लिए आवश्यक मनोबल पैदा करना उससे और भी बहुत कठिन काम है। उन्हें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि स्वराज सहसा एक ही आन्दोलन की बदौलत हरगिज नही मिल सकता। न जाने कितनी बार कई छोटे-बडे आन्दोलनो का क्षोभ देश को समय-समय पर सहना पडेगा। जिस अन्तिम आन्दोलन की बदौलत स्वतत्रता मिलेगी, उसी मे राष्ट्र-भावना का पूरा-पूरा मनोबल दृष्टिगत होगा। यथार्थ मे स्वराज हमारी आन्तरिक प्रेरणा का परिणाम होगा। यह स्वराज-निष्ठा आज देश के जन-समाज मे

विद्यमान नही है। ऐसी प्रेरणा-शक्ति हमें बैठे बिठाये नही मिल सकती।उसे प्राप्त करने के लिए एक नही, अनक आन्दोलनों की आवश्यकता होगी।

इस दृष्टि से यदि कोई देखे, तो अनायास प्रतीत होगा कि असहयोग का परिणाम वही हुआ जो हो सकता था और होना चाहिए था। शासन का अन्त न हुआ, लेकिन उसकी नैतिक प्रतिष्ठा लोगो की नज़र में गिर गई। देश का सार्वजनिक असन्तोष बहुत बढ गया। कई हिन्दुस्यानी स्वावलम्बी होना सीख गये। नकली देशभक्तो की असलियत खुल गई। राष्ट्रसेवा के क्षेत्र मे बनावटीपन और धोखेबाज़ी की गुंजाइश बहुत कम रह गई। सार्वजनिक जीवन का वातावरण बहुत कुछ शुद्ध हो गया। जो लोग सन्तोष और आत्मगौरव के साथ विदेशी शासन से सहयोग करते आये थे, उन्हे अपने आचरण से सकोच होने लगा। लोगो की नज़र से वे गिर गये। जन-समाज के हाथ में मनुष्यत्व का जो मानदण्ड था, वह बिलकुल बदल गया। स्वराज-समर्थक क़ैदी पराधीनता-पोषक मैजिस्ट्रेट से अधिक श्रद्धास्पद हो गया। असहयोग की बढती हुई भावना ने लोगो को पश्चिमी वेष-भूषा से पराङ्मुख कर दिया। स्वदेशी आचार-विचार अधिक पसन्द आने लगे। भारतीयो को अपनी भारतीयता पर नाज़ होने लगा। असहयोग के एक ही झटके से इतनी विचार-क्रान्ति केवल दो-तीन वर्षो के अन्दर ही उत्पन्न हो गई। जितनी आत्म-चेतनता इस देश में इन तीन वर्षों में आई, उतनी कदाचित् गत पचास वर्षों में भी नही आसकी थी। जितना मनोबल भारत के जन-समाज ने इस आन्दोलन के द्वारा प्राप्त किया, उसका अर्धांश भी उसके पास पहले मौजूद नही था। आत्मकल्याण का जो मार्ग असहयोग ने दिखाया, उसकी दिशा का ज्ञान तक पहले लोगो को नही था। फिर भी कुछ विचार-शून्य आलोचक ऐसा कहा करते है कि महात्मा जी का कार्यक्रम बिलकुल विफल हो गया। ऐसी समझ को नासमझी के सिवाय और क्या कह सकते है?

जो लोग सच्ची जिज्ञासा से प्रेरित होकर असहयोग-आन्दोलन के परिणाम की माप-तौल करना चाहते हैं वे ज़रा सन् १९३० के सत्याग्रह की उग्रता और व्यापकता पर विचार करें। यदि सन् २०–२१ का पहला झटका हिन्दुस्थानियो को न मिला होता, तो सन् १९३० का सत्याग्रह इतना तेज न होता कि लॉर्ड इर्विन को समझौते की आवश्यकता हुई होती। असहयोग का प्रवाह आया और निकल गया; परन्तु लोगो के हृदय मे जातीय स्वाभिमान की एक अमर भावना छोड़ गया। यह भावना ही जन-समाज की स्थावर सम्पत्ति है। इसी के आधार पर ही हिन्दुस्थान स्वाधीन होगा। इस दृष्टि से यदि विचार करें, तो मानना होगा कि असहयोग ही क्या, दुनिया में कोई भी आन्दोलन विफल नही होता। अनेक आन्दोलनों के सम्मिलित प्रभाव से ही जन-समाज में विचार-क्रान्ति उत्पन्न होती है और जैसे-जैसे यह क्रान्ति अधिक व्यापक और गम्भीर होती जाती है, वैसे वैसे जन-समाज का मनोनीत आदर्श निकटवर्त्ती होता जाता है।

हिन्दुस्थान इतना बडा देश है और यहाँ के निवासियो में इतनी भेदबुद्धि और साम्प्रदायिकता विद्यमान है कि उनमे राष्ट्रीय भावना के आधार पर एकवाक्यता स्थापित करना कठिन से भी कठिन काम है। केवल मौखिक प्रवचनो के द्वारा यह काम पूरा होने का नही। 'नाय-मात्मा प्रवचनेन लभ्य'। हमे तो अपनी खोई हुई आत्मा को फिर से प्राप्त करना है। उसकी प्राप्ति पौरुष के बिना सम्भव नही। स्वाव-लम्बन ही पौरुष का दूसरा नाम है। परावलम्बी होने की मानसिक प्रवृत्ति हमारे देशवासियों में पहले आई और राजनैतिक पराधीनता बहुत पीछे। यदि हमे स्वराज प्राप्त करना है, तो हममें उसी क्रम से स्वावलम्बन-शीलता पहले चाहिए और चाहिए अपनी परतन्त्रता से व्यापक विराग। जिस दिन देश में यह सामूहिक मनोवृत्ति तैयार होगी, उसी दिन शाम तक हमें स्वराज भी मिल जावेगा। लेकिन हमारे राष्ट्र की मानसिक तैयारी अनायास होनेवाली बात नही है। इसके लिए कई

प्रसगो पर कई तरह के आन्दोलनो की आवश्यकता होगी। उन सबका जो सम्मिलित परिणाम होगा वही हमारे राष्ट्रीय ध्येय को पूरा करेगा। एकआध आन्दोलन की बदौलत स्वराज प्राप्त करने की इच्छा करना और यदि वह सिद्ध न हुआ, तो आन्दोलन को विफल समझना नासमझी के सिवाय कुछ भी नही है।

यथार्थ में यह हमारी समझ की भूल है, जो हम समझते है कि विदेशी हम पर राज्य कर रहे हैं। परतंत्र जाति पर जो शासन होता है, वह विदेशियो का नही, स्वयम् उसकी कमजोरियो का ही शासन होता है। हिन्दुस्थान के लोग अपने ही मोह-पाश में बँधे हुए हैं। यदि हमारी लालच की मुट्ठी खुल जावे, तो इसी क्षण हम स्वतत्र हैं। बदर फँसानेवाले तग मुँह के घडे में कुछ चने डाल कर उसे जमीन में गडा देते है। बदर आता है और घडे में अपना हाथ डाल कर चने से अपनी मुट्ठी भर लेता है। तत्पश्चात् वह अपनी भरी हुई मुट्ठी को घडे के तग मुँह से निकालने का प्रयत्न करता है पर मुट्ठी निकलती नही। यदि वह चने का मोह छोड़कर मुट्ठी खोल दे, तो घड़े से उसका हाथ निकल आवे और वह कभी गिरफ्तार न हो। परन्तु बदर न तो चने छोडता है, न फिर उसकी मुट्ठी ही घडे से बाहर होती। अन्त में वह मदारी के हाथ लग जाता है। हम मनुष्य है और बदरो से अधिक सभ्य और समझदार होने का दावा करते है। परन्तु इस दृष्टि से यदि विचार करें, तो प्रतीत होगा कि हम अपनी मर्कटी मनोवृत्ति के कारण ही गुलामी में गिरफ्तार है। चने का मोह हमें मुट्ठी नही खोलने देता और बँधी हुई मुट्ठी घड़े से निकलती नही। यही हालत हमारी हो रही है। महात्मा जी ने असहयोग-आन्दोलन के द्वारा हमे मुट्ठी खोलने का ही उपदेश दिया। परन्तु चने की लालच मे हिन्दुस्थान के मानव-रूपी मर्कट अपनी स्वतत्रता खो चुके है। आजादी के पके हुए फल उन्हें मजूर नही। मदारी के बिखेरे हुए चने उन्हे अधिक पसन्द है।

✓ असहयोग का सिद्धान्त इस वानरी प्रलोभन से जन-समाज को

मुक्त करने का एक ही उपाय है। वह सिखाता है कि मनुष्य की बेडियाँ यथार्थ मे लकडी-लोहे की नहीं; मोह और स्वार्थ की बनी रहती हैं। उन्हे खोलने की कुंजी किसी दूसरे के पास नही, स्वयम् बन्दी के हाथ में रहती है। सच पूछा जाय तो मनुष्य स्वयम् अपना ही जेलर है। स्वतन्त्र होने के पहले अपने स्वभाव और परिस्थिति की इस विचित्रता का उसे ज्ञान होना चाहिए। जब तक वह अपनी परतन्त्रता का जिम्मेदार दूसरो को मानेगा, तब तक उसकी उद्भ्रान्ति उसे स्वतन्त्र होने की क्षमता बिलकुल न देगी। जिस दिन वह समझ लेगा कि स्वराज मनुष्य के हृदय ही मे विद्यमान है और उसके द्वार खोलने की कुंजी पुरुषार्थ है, उसी दिन उसे अपना कल्याण-मार्ग स्पष्ट रूप से दिखाई दे सकेगा।

दुराचार से असहयोग करना प्रत्येक नीतिमान् मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यदि आदमी अपने आचरण का जिम्मेदार है, तो उसे इस बात के निर्णय का भी अधिकार है कि वह किससे सहयोग और किससे असहयोग करे। मनुष्य के इस नीतिमत्ता-मूलक, ईश्वरदत्त अधिकार पर हस्तक्षेप करने का न तो समाज को अधिकार है, न शासकों को। यथार्थ मे समाज तथा शासन की व्यवस्था सदाचरण और न्याय के आधार पर ही स्थापित हो सकती है। मनुष्यों में यदि सदाचार का एकदम अभाव हो जावे, तो सामाजिक व्यवस्था पल भर में नष्ट हो सकती है। अतएव लोगो का सामाजिक जीवन न्याय-मूलक सहयोग पर ही अवलम्बित है। राजा और प्रजा का भी पारस्परिक सम्बन्ध दोनो की कर्त्तव्य-परायणता की बदौलत ही स्थायी हो सकता है। अतएव शासन-व्यवस्था और सहयोग का मूलाधार सदाचार ही है। ऐसी हालत मे जो मनुष्य सदाचार-पथ से भ्रष्ट होकर स्वेच्छाचारी हो जाता है, वह स्वयं सहयोग के निर्दिष्ट मार्ग का परित्याग कर देता है। अतएव कोई भी समझदार आदमी इस बात को स्वीकार करेगा कि नीति-मार्ग पर आरूढ रहनेवाला मनुष्य असहयोगी नहीं है। असहयोग

तो वही करता है, जो न्याय और सदाचार के पूर्व-निश्चित पथ का अनुसरण करना छोड़ देता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर पाठको को अनायास प्रतीत होगा कि सन् २०-२१ के आन्दोलन में वास्तविक असहयोगी कौन था। न्याय और कर्त्तव्य-पथ से पराङ्मुख कौन हुआ था? निहत्थे जन-समाज पर अनावश्यक और अनुचित आक्रमण किसने किया था? जो सत्ता ऐसे दुराचारो का समर्थन करती थी, वह सहयोग के निर्दिष्ट पथ को स्वय छोड चुकी थी। असहयोग का बाना पहले उसी ने धारण किया था। न्याय-पथ पर आरूढ़ रहनेवाला मनुष्य ही सच्चा सहयोगी है। अतएव सर्व-साधारण की स्थूल दृष्टि में महात्मा गाधी तथा काग्रेस के समर्थक असहयोगी भले ही प्रतीत हो, परन्तु नीति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र की आँखो में असहयोग-पथ के अनुसरण करनेवाले इस देश के शासक और सत्ताधारी थे, जो न्यायानुमोदित सहयोग-मार्ग से पहले ही पराङ्मुख हो चुके थे। असहयोग-आन्दोलन के जमाने में महात्मा जी ने अँगरेजो के नाम पर जो खुली चिट्ठी लिखी थी और वाइसराय के वक्तव्य पर जो उत्तर दिया था, उनमें इस बात की ओर उन्होने प्रत्यक्ष रूप से सकेत किया था कि भारतीयो की स्वाभिमान-रक्षा का मार्ग ही न्यायानुमोदित माना जा सकता है। इस मार्ग पर महात्मा जी सहयोग करने के लिए तैयार थे। केवल तैयार ही न थे, ऐसे न्यायानुमोदित सहयोग के लिए उनके हृदय में मर्मान्तिक वेदना हो रही थी। क्यो न होती? जिस मनुष्य ने अपने सार्वजनिक जीवन के ३० वर्ष अँगरेजो के साथ सहयोग करने में बिताये और जिसने साम्राज्य-निष्ठा के अतिरेक से प्रेरित होकर सिद्धान्त-प्रेमी होते हुए भी अपने सिद्धान्तो की ओर दुर्लक्ष्य कर दिया, उस मनुष्य को किस लाचारी में असहयोगी होना पडा होगा, इस बात का अनुमान कल्पनाशील पाठक सहज ही कर सकते है।

इस जमाने में असहयोग की रूप-रेखा बाँधनेवाले सबसे पहले

टॉल्स्टॉय ही हुए। सरकार तथा सरकारी नीति से उन्हे बडी घृणा थी। इसके सिवाय वे अहिंसा के भी समर्थक थे। इस कारण उन्होंने दुखी प्रजा को सरकारी दमन से मुक्त करने का जो उपाय बतलाया है, वह अहिंसात्मक असहयोग ही है। पाठक देखें कि वे जन-समाज को सत्ताधारियों के दुराचारों से मुक्त होने के लिए कैसी सलाह देते हैं—

"हर मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि सरकारें न सिर्फ बेक़ायदा ही हैं बल्कि लोगों के जानोमाल और चरित्र को बहुत ही नुक़सान पहुँचानेवाली हैं। कोई ईमानदार और सच्चा आदमी न तो सरकार के कामों में शरीक हो सकता है और न उसे शरीक होना चाहिए। हर एक ईमानदार और सच्चा आदमी कभी न चाहेगा कि हम सरकार के द्वारा कोई फायदा उठावें और न उसे कभी ऐसी इच्छा करनी चाहिए। ज्यों ही लोगो की समझ में यह बात आने लगेगी, त्योंही वे सरकार के साथ असहयोग करना प्रारम्भ कर देंगे। जब अधिकतर लोग सरकार से असहयोग कर देंगे, तभी सरकार की धोखेबाज़ी का ख़ातमा हो जावेगा और तभी लोग सरकार की गुलामी से छुटकारा पा जावेंगे। बस यही एक उपाय गुलामी से छूटने का है।"

(जनार्दनभट्टलिखित 'टॉल्स्टॉय के सिद्धान्त' पृष्ठ ९६)

विषम परिस्थिति में पड जाने पर बडे बडे विचारकों के भी विचार कितने असयत और विषम (ill-balanced) हो जाते हैं, उसी का उदाहरण पाठकों को इस अवतरण में मिलेगा। टॉल्स्टॉय ने जिस समय सरकार-सम्बन्धी उपर्युक्त विचार लिखे, उस समय उनकी आँखों के सामने ज़ार की नादिरशाही झूल रही थी। अतएव यदि पाठक सरकार और शासन के सम्बन्ध मे टॉल्स्टॉय की विचार-भ्रान्ति से बचना चाहें, तो उन्हे चाहिए कि इस अवतरण में जहाँ-जहाँ सरकार शब्द का उपयोग हुआ है, वहाँ वहाँ ज़ार की सरकार या किसी दूसरी अत्याचारी विदेशी सरकार की कल्पना कर ले। सभी सरकारें बुरी नहीं होती, न फिर उनके अभाव में जन-समाज का कल्याण ही

सम्भव है। प्रजा-सत्तात्मक सुव्यवस्थित सरकार तो मानव-सभ्यता की सुन्दर से सुन्दर रचना है।

जो हो, दुराचारी शासन से असहयोग करने का अहिंसात्मक उपाय पहले टॉल्स्टॉय ने ही सुझाया। पर व्यापक रूप मे इस उपाय को अमल में लानेवाले महात्मा गाधी ही हैं। असहयोग का जो परिणाम तर्क से सिद्ध हो सकता है, वह प्रत्यक्ष देखने मे नही आया। फिर भी जैसा कि हम कह चुके है, यह समझना भूल है कि उसका परिणाम बुरा हुआ या कुछ भी न हुआ। जन-समाज में कोई भी आन्दोलन व्यर्थ नही जाता। महात्मा जी का असहयोग भी अपना काम बखूबी कर गया है। उसका प्रवाह तो निकल गया, पर भारतीय जन-समाज के हृदय पर स्वावलम्बनशील स्वराज का एक खासा और अमिट चित्र हमेशा के लिए अकित हो गया। यह ऐसा चित्र है, जो न तो धोने से धुलेगा, न मिटाने से मिटेगा।

अध्याय २४

सत्याग्रह का स्वरूप

ससार में कुछ बाते ऐसी है, जो है तो बहुत पुरानी, परन्तु उनकी चर्चा हमेशा नई प्रतीत होती है। उनके सम्बन्ध मे बार-बार कहने-सुनने पर भी जिज्ञासु लोगो का जी नही ऊबता। सत्य, धर्म तथा अहिंसा ऐसे ही विषय है। मानव-सभ्यता की बाल्यावस्था से आज तक न जाने कितने विद्वान् धर्मोपदेशक तथा महापुरुषो ने इन विषयो की चर्चा से जन-समाज को पवित्र एव उदात्त बनाने का प्रयत्न किया है। ससार के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे सख्यातीत ग्रन्थ आज भी विद्यमान है, जिनमें इन विषयो की गवेषणा-पूर्ण मीमासा पाई जाती है। कोई ऐसा धर्म नही जो अपनी प्रतिष्ठा, सत्य तथा न्याय की बुनियाद पर स्थापित करने का दावा न करता हो और आज तक कोई ऐसा महापुरुष भी न हुआ जिसने जन-समाज को उन्नत और प्रगतिशील बनाने के प्रयत्न में सत्य की दुहाई न दी हो। सदियो तक किये गये इतने प्रयत्नो के बाद भी एक विचारवान् मनुष्य को ऐसा कहने मे कुछ सकोच ही होगा कि लोग सत्य के वास्तविक स्वरूप को समझ चुके है और अब अधिक समझाने की जरूरत भी नही है। यथार्थ में सत्य की चर्चा एक ऐसी चीज है जो कभी सीठी नही लगती और जिस पर विचार, वाद-विवाद तथा मनन करने की आवश्यकता लोगो को हमेशा प्रतीत होती रहेगी। आज भी हमारे सामने राष्ट्रीय जीवन के प्रस्तुत वातावरण मे वही प्राचीन विषय नई आन-बान और अपूर्व सजधज के साथ उपस्थित हुआ है। अभी तक सत्य-शोधक लोग वे ही हुआ करते थे जो ससार मे विरक्त होकर एक मुमुक्षु की हैसियत से पारमार्थिक क्षेत्र में सत्य का अनुसन्धान किया करते थे। परन्तु आज हमारे सामने सत्यानुसन्धान

की वह पुरानी प्रवृत्ति सासारिक जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में प्रकट हो रही हैं। आज हम ससार के ऊबे हुए आध्यात्मिक, मोक्षार्थी की हैसियत से नही, परन्तु जन-समाज में रहनेवाले माता-पिता, पुत्र, पति तथा पत्नी के नाते राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ को सुलझाने की एकान्त कामना से जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में सत्य-शोधन की प्रवृत्ति प्रकट कर रहे हैं। जन-समाज में इस उदार और अनूठी मनोवृत्ति को इतने व्यापक रूप में जाग्रत करने का श्रेय वर्तमान युग में महात्मा गाधी के सिवाय किसी दूसरे मनुष्य को नही मिल सकता। आज तक न जाने कितने व्याख्यानो, सभाषणो तथा लेखो के द्वारा उन्होने सत्य और अहिसा की स्पष्ट से स्पष्ट शब्दो में चर्चा की है। फिर भी पटने से उन्होने अपना जो वक्तव्य निकाला था, उसमें सत्याग्रह को स्थगित करते हुए उन्हे यह कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी कि लोग अभी सत्याग्रह का यथार्थ आशय और स्वरूप नही समझ पाये है। उन्होने उसी वक्तव्य में यह भी कहा था कि सत्याग्रह एक शुद्ध आध्यात्मिक शस्त्र है। और जब तक मनुष्य आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत न हो जावे, तब तक इसके दुरुपयोग होने की ही सम्भावना अधिक है और गत सत्याग्रह-आन्दोलन में इस सत्याग्रह-रूपी आध्यात्मिक शस्त्र का ऐसा ही दुरुपयोग हुआ है। महात्मा जी की राय में इसी कारण से हिन्दुस्थान के गत सत्याग्रह-आन्दोलन को वह सफलता प्राप्त न हुई जो होनी चाहिए थी। महात्मा जी की यह सम्मति उनके कई अनुयायियो को पसन्द नही आई। जिन लोगो ने उनके दिखाये हुए सत्याग्रह-पथ का सच्ची लगन के साथ अनुसरण किया और जिन्होने इस प्रयत्न में अपना तन, मन, धन और जन सभी कुछ अर्पण कर दिया उन्ही लोगो से उनके सब कुछ खो जाने के बाद यदि कोई यह कहे कि तुम्हे अभी इस मार्ग का रहस्य मालूम नही हुआ और तुमने अपनी भूलो से इस पथ के वाछित सत्परिणाम को दुर्लभ बना दिया, तो उनमें से ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसे अपने आचरण और बलिदान की ऐसी आलोचना

सुनकर क्षोभ और सन्ताप न होगा? ठीक ऐसा ही हुआ। इसी प्रसंग की प्रेरणा ने हमें सत्याग्रह के अन्तःस्वरूप पर विचार करने के लिए उत्तेजित किया है। अतएव हम पाठकों के सामने इस विषय पर सर्वांगीण दृष्टि से और करने भी तथा सत्याग्रही महात्मा जी के विचारों की वैज्ञानिक रूप से समीक्षा करने की ढिठाई करते हैं। पाठक क्षमा करें।

सत्य पर आग्रह करनेवाले को सबसे पहले उसके यथार्थ और व्यापक रूप का परिज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। अन्यथा कई प्रसंगों पर सत्याग्रही के बदले दुराग्रही हो जाने की अप्रिय और अश्रेयस्कर सम्भावना हमेशा बनी रहती है। सचमुच सत्य एक ऐसी 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' भावना है जो बुद्धि की चगुल में अनायास नहीं आती। फिर भी किसी वैज्ञानिक विचार-सरणी के आधार पर यह विषय अधिकांश में बुद्धिगम्य हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अधिकांश तत्त्वज्ञानियों की यह सम्मिलित राय है कि यह समूचा विश्व-प्रपंच किसी आधार पर अवलम्बित है। सृष्टि की यह बुनियाद इतनी पुरानी है कि इसके आदि-अन्त का कोई पता नहीं। यह अनादि और अनन्त भी हो सकता है, क्योंकि इसमें परिवर्तनशीलता बिलकुल नहीं है। सृष्टि बनती है, बिगड़ती है और फिर बनती है। उसमें नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं, पर विश्व-जीवन के इस चिरन्तन मूल में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह ज्यों का त्यों बना रहता है। कहने का आशय यह कि इस परिवर्तनशील सृष्टि-प्रपच के मूल में एक ऐसा तत्त्व है जो अक्षय है। यह अमरतत्त्व ही ससार का पोषक है। इसी अविनाशी तत्त्व को ही अध्यात्म-शास्त्र में सत्य कहते हैं। इसी सत्य तत्त्व की ओर उपनिषदों ने 'ब्रह्म' के नाम से सकेत किया है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या,' ब्रह्म सत्य है, शेष सब मिथ्या है। ब्रह्म सत्य इसलिए है कि वह निर्बाध है। परिवर्तनशील ससार में वह सदा एक रस, शुद्ध, सनातन तत्त्व है। इसी तत्त्व की उपासना निराकार तथा साकार भावना

से लोग किया करते है और इस कारण उसके अनेक नाम हैं। आध्यात्मिक दृष्टि ने सत्य का यही निर्बाध स्वरूप है।

परन्तु सत्य का एक दूसरा भी रूप है जिसे हम सापेक्षिक कह सकते हैं। जब निर्बाध सत्य यानी ब्रह्म विश्व-प्रपंच के रूप में अवतरित होकर आधिभौतिक जगत् में आविर्भूत होता है, तो वह अपना निर्बाध और निर्गुण बाना छोड़कर सापेक्षिक और साकार हो जाता है। समूची दृश्य तथा अदृश्य सृष्टि उसी मूलतत्त्व (ब्रह्म) का परिवर्तित-रूपान्तर ही है। ऐसी हालत में यह मानना होगा कि जहाँ तक विश्व का विस्तार है, वहाँ तक हमें सत्य के दर्शन उसके सापेक्षिक तथा सीमित रूप में ही होते हैं। भगवद्गीता में योगेश्वर कृष्ण ने ब्रह्म की इस अवतरण क्रिया (Involution) की तुलना एक ऐसे वट-वृक्ष से की है जिसका मूल तो ऊपर है और शाखायें नीची हैं। 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं।' ऊपर का मूल एकमेवाद्वितीय अथवा निर्बाध सत्य है, क्योंकि वह एक ही है और देशकाल से अमर्यादित है। उसकी अधोगामिनी शाखायें अनेक है, अतएव सीमित और सापेक्षिक हैं। कहने का साराश यह कि समूचा ससार निर्बाध सत्य तत्त्व का सापेक्षिक रूप है, दूसरा कुछ भी नही।

इस विश्व-प्रपंच में व्याप्त होकर रहनेवाले मूल तत्त्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सदैव सम रहता है। यही साम्यावस्था उसके अमरत्व की जननी है। परन्तु उससे आविर्भूत होनेवाला यह ससार विषम है, क्योकि यह नाना प्रकार के द्वन्द्वो से आन्दोलित रहता है। किसी अंश तक यह विषमता, सृष्टि-परम्परा को चलाने के लिए आवश्यक भी है। परन्तु ज्यो ही उसकी मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ जाती है, त्यो ही जीव-सृष्टि क्षुब्ध और सन्तप्त होकर 'त्राहि माम्' कहने लगती है। अतएव इस विषम और आन्दोलित ससार में रहनेवाले जन-समाज में भी, आवश्यक साम्यावस्था को स्थायी बना रखने के लिए कुछ ऐसे नैतिक नियमो की रचना मानव-समाज ने की है, जिनका पालन करना

प्रत्येक समझदार प्राणी के लिए आवश्यक है। जिसे हम नीति-शास्त्र कहते है, उसमे ऐसे ही आचरणीय नियमो की विवेचना मिलती है, जिनके पालन से जन-समाज मे यथोचित समता बनी रहे। इसी साम्यावस्था को अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ नैतिक गुणो की सृष्टि भी हो चुकी है। इन्हीं गुणो की प्रेरणा से मनुष्य अपने आचरण को ऐसा परिष्कृत तथा मर्यादित बना सकता है कि वह अपने तथा जन-समाज दोनो के श्रेय-साधन में सक्षम हो सकता है। इन नैतिक गुणो के द्योतक यो तो कई शब्द मनुष्य के भाषा-साहित्य मे विद्यमान है, परन्तु उनके मुख्य और मौलिक रूप दो ही है, न्याय और प्रेम। आन्दोलित ससार तथा जन-समाज को साम्यावस्था मे स्थापित रखनेवाले ये दोनो आधार-स्तम्भ है। न्याय और प्रेम समाजरूपी रथ के दो पहिये है। इन्ही की बदौलत ससार प्रगतिशील होकर अपने लक्ष्य-पथ पर आरूढ रह सकता है। इन दोनो के सयोग से ही शान्ति की उत्पत्ति होती है। अतएव यह अनायास प्रतीत होता है कि सृष्टि की मूलस्थिति मे जो शान्ति और समता है, उसे विषम विश्व-प्रपच के अन्दर यथोचित मात्रा में सुरक्षित और स्थायी बनानेवाले, उपरोक्त दोनो नैतिक गुण (प्रेम और न्याय) निर्बाध-सत्य के सापेक्षिक रूप ही है। कहने की आवश्यकता नही कि जन-समाज को शान्त, समृद्धिशाली और सुखी बनानेवाले प्रेम और न्याय ही दो मूलाधार गुण है। नीतिशास्त्र का निचोड ही इन दोनो शब्दो मे रखा हुआ है। कुछ काल से 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग महात्माओ के प्रभाव से बहुत बढ गया है। परन्तु यथार्थ मे यह शब्द नकारात्मक होने के कारण उपदेशक का स्पष्ट आशय तो प्रकट करता ही नही, प्रत्युत अनावश्यक भ्रम भी लोगो के मन में उत्पन्न कर देता है। प्रेम और न्याय के अभाव में ही हिंसा की सम्भावना रहती है। इसके सिवाय प्रेम अथवा न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर हमे कई प्रसगो पर ऐसे व्यवहार प्रकट करने पडते है जिनकी नैतिक योग्यता के सम्बन्ध में विचारवान् मनुष्य को कुछ भी सन्देह नही हो सकता, परन्तु फिर भी ऐसे आचरणो का बाह्य रूप

हिंसात्मक होता है। न्यायाधीश जब किसी अपराधी को प्राणदण्ड देता है तो उसकी आज्ञा प्रकट रूप से हिंसात्मक प्रतीत होती है, फिर भी हम उसके व्यवहार को हिंसा नही कह सकते। स्वयं महात्मा गाधी के सामने एक बार ऐसा प्रसग आ पड़ा कि एक मरणासन्न बछडे को विष देने की आवश्यकता उन्हे प्रतीत हुई। एक समय अहमदाबाद के किसी मिल के कपाउंड में रहनेवाले कुछ कुत्ते पागल हो गये और लोग उनमे त्रस्त रहने लगे। मिल के अधिकारी वैष्णव थे। अतएव उन्हे लोगो की प्राणरक्षा का कोई उपयुक्त अहिंसात्मक उपाय न सूझ पडा। उन्होने महात्मा जी की सलाह ली और उनकी सम्मति से करीब चालीस पागल कुत्ते मरवा डाले गये। ये दोनो घटनायें कुछ अभूतपूर्व नही थी। मनुष्य के सामूहिक जीवन में ऐसे प्रसग कई बार आया करते है और ऐसे अवसरो पर हिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय उचित प्रतीत नही होता। ऐसी हिंसा को धर्मशास्त्र से समर्थन भी मिल सकता है। फिर भी जिन साधारण लोगो के हृदय में अहिंसा का उपदेश अपना घर बना लेता है, वे ऐसी घटनाओ को देखकर बडी भ्रांति में पड जाते है। यह लोगो की नासमझी का दोष तो है ही, पर किसी अश में 'अहिंसा' शब्द का उपयोग भी इस मानसिक संदिग्धता तथा बुद्धि-भेद का जिम्मेदार है। यही कारण है कि स्वय महात्मा जी को उपर्युक्त दोनो घटनाओ के लिए बडी लम्बी चौडी कैफियत देनी पडी थी। क्योकि अहिंसा के मर्म को न समझनेवाला वैष्णव सम्प्रदाय महात्मा जी के इस आचरण से बडा उद्विग्न और अप्रसन्न हो गया। बात तो यह थी कि जब चालीस की सख्या में पागल कुत्ते लोगो को काटकर उनके प्राणो को सकट में डालने लगे और उनसे बचने का कोई दूसरा उपाय न रहा, तो नीतिशास्त्र-प्रतिपादित न्याय-बुद्धि तो यही कहती है कि वे सबके सब मार डाले जायें। ठीक इसी प्रकार मरणासन्न बछडे का सताप महात्मा जी का प्रेमाभिभूत हृदय सहन न कर सका। उसकी रक्षा का कोई उपाय भी न था। फिर व्यर्थ की यन्त्रणा बढ़ाने से

शम ? महात्मा जी को उसे विष दे देना ही उचित और नीति-शास्त्र-सम्मत प्रतीत हुआ। परन्तु लोगो की दृष्टि मे उनका यह आचरण हिंसा के रूप में ही प्रकट हुआ। इसी लिए हमारी यह निश्चित धारणा है, कि अहिंसा शब्द का उपयोग जन-साधारण के लिए बहुत भ्रमोत्पादक है। अतएव उसका सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए। उपयुक्त शब्द है, प्रेम और न्याय। इनमें भ्रान्ति की कोई गुंजाइश नही।

प्रेम और न्याय मूलत. एक ही नैतिक गुण—सत्य—के दो रूप है। फिर भी दोनो के भाव भिन्न होते है। एक मनुष्य अपने भाई दूसरे मनुष्य से जो प्रेम कर सकता है या करता है उसका तात्विक कारण क्या है? यही कि वे जीव दृष्टि मे भिन्न होने हुए भी आत्मिकता के नाते वस्तुत एक है। दोनो एक ही परमात्म-तत्त्व के अश है। साख्य सिद्धान्त के अनुसार यदि आत्माये एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हो और अन्ततोगत्वा किसी एक ही मूलतत्त्व में उनके पर्यवसान होने की निश्चयात्मक सम्भावना न रहे, तो दो व्यक्तियो में प्रेम हो ही नही सकता। यदि हो भी तो आखिर किस बुनियाद पर ? प्रेम इस बात को सिद्ध करता है कि दो प्रेमी मूलत एक है। सक्षेप में यही प्रेम की फिलासफी है।

न्याय, प्रेम की सार्वजनिकता का परिणाम है। जब तक हमारे प्रेम का क्षेत्र सीमित अथवा एकदेशीय होकर रहता है, तब तक वह न्याय का अवरोधक सिद्ध होता है। फिर भी उसका रूप अक्षुण्ण रहता है। परन्तु जब प्रेम का विस्तार विश्वव्यापी हो जाता है तो अपनी समता स्थापित रखने के लिए उसे न्याय का आश्रय लेना पड़ता है, अथवा यो कहें कि प्रेम ही न्याय के रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य के नाते न्यायाधीश की दृष्टि में देवदत्त और रामदत्त दोनो प्रेम-पात्र है। परन्तु जब पहला दूसरे के विरुद्ध सच्ची फरियाद लेकर उपस्थित होता है, तो न्यायाधीश का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपना निर्णय देकर रामदत्त को दड दे। इस न्याय-बुद्धि में दो मनोवृत्तियाँ हमेशा विद्यमान रहती है, मनुष्य तथा उसके अधिकारो के प्रति प्रेम तथा सद्भावना और उन पर अनावश्यक

अथवा स्वार्थ-वश आघात करनेवाले के प्रति तिरस्कार-भावना । यह तिरस्कार-भावना प्रकट रूप से मानसिक हिंसा है, फिर भी वह प्रेम-मूलक और न्याय-सम्मत है।

प्रेम और न्याय के इस पारस्परिक सम्बन्ध को यदि हम अच्छी तरह हृदयगम कर ले, तो यह बात अनायास समझ में आ सकती है, कि दोनो के अन्तर्गत ऐसे भी आचरणो का नीति-शास्त्र-सम्मत समावेश हो सकता है, जिसे हम हिंसा कहते है। अतएव केवल अहिंसा के उपदेश से मनुष्य को नैतिक मार्ग का स्पष्ट रूप तो दिखाई देता ही नहीं, प्रत्युत कई प्रसगो पर भ्रम हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। जन-साधारण को सत्य बहुधा अप्रिय मालूम होता है। अतएव सत्य-भाषण तथा आचरण से कई प्रसगो पर लोगो के हृदय में ठेस पहुँचती है। प्रेम-प्रेरित-व्यवहार भी कई प्रसगो पर हिंसात्मक हो जाता है। न्याय करनेवाले को तो न जाने कितनी हिंसा करनी पडती है। कहने का साराश यह कि सत्य, प्रेम और न्याय के मार्ग पर मनोयोगपूर्वक चलनेवाले को हिंसात्मक व्यवहार प्रकट करने की नौबत अक्सर आया ही करती है। परन्तु ऐसे सभी प्रसगो पर हिंसा शास्त्र-सम्मत मानी गई है। ऐसी हालत में जन-समाज को केवल अहिंसा का उपदेश देने से ही काम नहीं चल सकता। यह नकारात्मक शिक्षा भ्रान्ति फैलाती है और लोगो के नैतिक पथ पर यथोचित प्रकाश नही डालती। 'अहिंसा परमो धर्म.' गौतम बुद्ध का महा-वाक्य है, और ससार मे प्रसिद्ध भी है। परन्तु इस वाक्य में हमें नीति-विज्ञान की वह स्पष्टता नही दिखाई देती जिसकी आवश्यकता साधारण जन-समाज को हमेशा रहती है। अभ्रान्त नैतिक उपदेश तो, सत्य, प्रेम और न्याय के आधार पर ही दिया जा सकता है।

उपर्युक्त विचारो से पाठक अनायास देख सकेंगे कि नीति-शास्त्र का वैज्ञानिक निचोड अहिंसा नही हो सकती। नीति-सम्मत आचरणीय नैतिक गुण तो सत्य, प्रेम और न्याय ही हो सकते है। प्रेम सत्य-मूलक होता है और न्याय प्रेम-प्रेरित है। इस तरह न्याय की नीव सत्य और

प्रेम दोनो पर डाली गई है। अतएव न्याय ही नीति-शास्त्र का अन्तिम सिद्धान्त है। उसी के आधार पर जन-समाज सम्बद्ध रूप से प्रगतिशील हो सकता है। यदि मनुष्य और मनुष्य के मध्य न्याय की व्यवस्था न हो, तो सार्वजनिक असन्तोष के कारण मानव-समाज क्षुब्ध होकर देखते ही देखते छिन्नमूल हो जावे, इसमे सन्देह ही क्या हो सकता है।

अध्यात्म-शास्त्र और नीति-शास्त्र दोनो मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है, जिसे न भूलना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि नैतिक नियमो की रचना आध्यात्मिक सिद्धान्तो के आधार पर हुई है। फिर भी हमारे सभी आध्यात्मिक सिद्धान्त मानव-समाज की वर्त्तमान सभ्यता मे आचरणीय नही हो सकते । उदाहरण के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से ससार के सभी प्राणी तथा सभी राष्ट्र मूलत एक है। परन्तु जन-समाज का आध्यात्मिक अनुभव इतना ऊँचा नही कि वे आपस मे अभिन्न-हृदय होकर व्यवहार प्रकट कर सकें। विश्व-बन्धुत्व के नाम पर इतनी दुहाई देने के बाद भी ससार की यह दशा है कि एक राष्ट्र दूसरे को अपना जानी दुश्मन समझता है। जहाँ बन्धुत्व का प्रश्न ही टेढा हो रहा है, वहाँ आध्यात्मिक एकता के भाव किस प्रकार जाग्रत हो ? नि सन्देह अभी जन-समाज के लिए अभिन्नता की दिल्ली बहुत दूर है। ऐसी हालत में हम अध्यात्म-शास्त्र के जितने अश का पालन कर सकते है, उन्ही के आधार पर हम अपने नीति-शास्त्र के नियम बना लेते है। एक उदाहरण लीजिए। गोपाल, गोवर्धन के अधिकारो पर हस्तक्षेप करता है। गोवर्द्धन उसका यथोचित हिंसात्मक प्रतिकार करता है। उसका यह आचरण नीति-सम्मत है। कानून भी उसे ऐसा अधिकार देता है। परन्तु फिर भी उसका व्यवहार अध्यात्म-सम्मत नही होता, क्योकि उस दृष्टि से न तो कोई अधिकारी है न कोई अधिकार छीननेवाला है, एक ब्रह्म के सिवाय सब मिथ्या है। सारा विश्व-प्रपञ्च केवल अज्ञानतामूलक आभास के सिवाय कुछ भी नही है। स्वामी रामतीर्थ चोर को—'प्यारे चोर' (Robber, dear) कहकर सम्बोधन करते थे। जहाँ

सभी प्यारे हैं, वहाँ कौन किसको मारे? सभव नही। परन्तु एकना-मूलक यह विश्व-प्रेममयी दृष्टि समूचे जन-समाज की नहीं हो सक्ती। अतएव इस आध्यात्मिक ऊँचाई से कुछ नीचे हटकर नीति-शास्त्र ने समाज में प्रत्येक व्यक्ति को और संसार मे प्रत्येक समाज तथा राष्ट्र को आत्म-रक्षा के लिए हिंसा का अधिकार दे दिया है। प्रत्येक प्राणी को जीवन और विकास दोनो का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यदि कोई इस सर्वव्यापी नियम की अवहेलना करे, और उस प्रयत्न में यदि वह नष्ट कर दिया जावे, तो कोई हर्ज नहीं। यह मानव-जाति का सामूहिक निर्णय है; इसलिए कि सामाजिक व्यवस्था को अराजकता से सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।

कहने का साराश यह कि हमारे नीति-शास्त्र को प्रेम और न्याय के आधार पर सापेक्षिक सत्य का सामना करना पड़ता है। निर्बाध सत्य अध्यात्म-शास्त्र का विषय है और वह एक ही है। इनके विपरीत सापेक्षिक सत्य नीति-शास्त्र का विषय है, और ऐसे सत्य कई रूपो में प्रकट होते हैं। दो मनुष्यों के बीच में सापेक्षिक सत्य (न्याय) उसी के पक्ष मे रहता है, जिसके अधिकार दुराचरण से छीन लिये गये हो। ऐसे सापेक्षिक सत्यों की चर्चा करना ही नीति-शास्त्र (Ethics) का उद्देश्य होता है। इस शास्त्र का व्यवहार-बुद्धि से बहुत सम्बन्ध है। उसमें देश, काल और पात्र का विचार किया जाता है। मानवी मनो-विकारो के कारण जन-समाज में वैयक्तिक तथा सामूहिक सघर्ष होने की जो सम्भावना हमेशा बनी रहती है, उससे संग्राम करते रहना तथा समाज को दुरवस्था से बचाना नीति-शास्त्र का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य है। अतएव उसी रूप में वह आध्यात्मिक सिद्धान्तो का पालन कर सकता है जिस रूप में वे व्यवहार्य हैं।

महात्मा गाधी ने भारतीय जन-समाज के सामने प्रह्लाद का उदाहरण कई बार रखा है। उनकी धारणा है कि दुष्ट पिता के आततायीपन को

अहिंसात्मक भावना से झेलनेवाला और अपने सिद्धान्त से विचलित न होनेवाला वह निर्भय और सत्यसध वालक आदर्श सत्याग्रही था। हम भी ऐसा ही समझते है। परन्तु हमारी यह भी धारणा है कि प्रह्लाद का आदर्श हमारे लिए उपयुक्त नही है। उसके सामने जो प्रश्न था, वह विशुद्ध आध्यात्मिक-क्षेत्र से सम्बन्ध रखता था। वह परमार्थतत्त्व यानी निर्वाध सत्य का माननेवाला था। हिरण्यकश्यप की बुद्धि को यह वात नही पटती थी। दोनो के वीच में प्रश्न था केवल आध्यात्मिक, ईश्वर है अथवा नही ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका केवल बुद्धि तथा अनुभव से सम्बन्ध है। ऐसे प्रश्नो को हल करने के लिए हिंसात्मक व्यवहार किसी मर्ज की दवा नही है। हम किसी को केवल शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पहुँचाकर आस्तिक नही वना सकते, न फिर ऐसे उपायो से आस्तिक ही नास्तिक हो सकता है। ईश्वर का अस्तित्व तो एक बुद्धि तथा अनुभव-गम्य विषय है, और बुद्धि तथा आचरण के द्वारा ही उसका समर्थन हो सकता है। कहने का आशय यह कि सत्याग्रही प्रह्लाद के सामने जो प्रश्न था वह निर्वाध सत्य से सम्वन्ध रखता था, इसलिए उसमें हिंसा की कोई गुजाइश ही नही थी। परन्तु जव दो मनुष्य अपने भौतिक अधिकारो के लिए आपस में लडते है, तो उनके सामने जो प्रश्न उपस्थित होता है उसका रूप आध्यात्मिक नही, नैतिक होता है। वहाँ दो मनुष्यो के वीच न्याय की आवश्यकता होती है। न्याय सापेक्षिक सत्य है, क्योकि उसके लिए दो झगडनेवाले तथा तुलनात्मक दृष्टि की जरूरत होती है। आजकल परावीन जातियो के सामने जो समस्या है उसका भी यही नैतिक रूप है। प्रह्लाद के सामने जैसा था, वैसा आध्यात्मिक नही। भारतीय आन्दोलन मे सत्याग्रही प्रह्लाद को आदर्श माननेवालो को चाहिए कि वे इस महत्त्वपूर्ण अन्तर को ध्यान में रखे। इसलिए हमारी वुद्धि महात्मा जी की इस राय को स्वीकार नही कर सकती कि सत्याग्रह हमारे लिए एक आध्यात्मिक शस्त्र है। आध्यात्मिक तो प्रश्न ही हमारे सामने नही है! हमारी समस्या है

तिक। अतएव हमारे हाथों में सत्याग्रह एक नैतिक शस्त्र के रूप में ही व्यवहार्य हो सकता है।

ऐसी दशा में कहना न होगा कि हमारे सामने जो मानवोचित अधिकारों का प्रश्न है, वह नैतिक तथा सापेक्षिक सत्याग्रह का विषय हो सकता है। इसी कारण वह न्याय-बुद्धि से सञ्चालित होगा। उसके मूल में होगा मानव-प्रेम और मानवी अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न। हमारा सत्याग्रह राजनैतिक क्षेत्र में न्याय-मूलक ही हो सकता है। सोलह आने अहिंसात्मक तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र में ही रह सकता है। नैतिक सत्याग्रही के लिए अहिंसा कोई बिल्कुल अनिवार्य सिद्धान्त नहीं है। जिस समय जन-समाज और पागल कुत्तों के बीच न्याय का प्रश्न उपस्थित हुआ था, तो महात्मा जी ने निर्णय देकर कुत्ते मरवा डाले। क्या वे अपने इस आचरण में सत्याग्रही-पद से विचलित हो चुके थे? बिलकुल नहीं। पागल कुत्ते और मनुष्य-जाति दोनों के बीच में न्याय का प्रश्न था। इसी तरह जहाँ कहीं दो मनुष्यों या मनुष्य-जातियों के बीच में अधिकारों का प्रश्न उपस्थित हो, तो वहाँ सत्याग्रह का रूप नैतिक ही हो सकता है। रामचन्द्र जी नैतिक सत्याग्रही थे। उनके सामने वही मानवी अधिकार का प्रश्न था। कृष्ण भी नैतिक सत्याग्रही थे। इसी लिए इन दोनों महापुरुषों ने शान्ति-पूर्ण उपायों के विफल हो जाने के बाद हिंसात्मक सत्याग्रह करने का जो निश्चय किया, वह नीति-शास्त्र के सर्वथा अनुकूल ही था, क्योंकि नैतिक सत्याग्रह में आवश्यक हिंसा वर्जित नहीं है। सापेक्षिक सत्य के निर्णय तथा पालन में कई प्रसंगों पर हिंसा उचित और अनिवार्य भी हो जाती है। परन्तु प्रह्लाद के समान आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्बाध सत्य पर आग्रह करनेवाले के लिए हिंसा की कोई गुंजाइश नहीं। यदि भूल से उसका उपयोग किया भी जाय तो लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है।

गौतम बुद्ध के बाद 'अहिंसा परमो धर्मः' की आवाज़ को बुलन्द करनेवाले दूसरे महापुरुष महात्मा गांधी ही हैं। बुद्ध-देव वैदिक कर्म-काण्ड के उस

पतनशील युग मे हुए थे, जब कि यज्ञ के नाम पर पशु-हिंसा स्वर्ग की सोपान-परम्परा समझी जाने लगी थी। उस अनुचित और अत्यधिक जीव-हिंसा का समाज से मूलोत्पाटन करने के लिए बुद्ध को अहिंसा पर इतना जोर देना पडा। उन्होंने यह उपदेश धार्मिक मच से विषय-विरक्त मोक्षार्थियों को ही दिया था।

महात्मा जी का युग भी पश्चिम के हिंसात्मक राष्ट्र-पशुओ के आततायीपन से ऊबा हुआ एक जमाना है। स्वय गाधी जी अपनी आंखो से तीन युद्ध देख चुके हैं और उन्होंने उनकी भयकरता तथा दानवी क्रूरता का अपने विशाल हृदय से अनुभव भी किया है। जिस वैष्णव-सम्प्रदाय मे उनका लालन-पालन हुआ है, वह भी अहिंसामूलक विश्व-प्रेम का पाठ सिखाता है। अतएव जन्मगत सस्कार और जीवन के अनुभव दोनों ने मिलकर उन्हे अहिंसा की आचार्य पदवी पर सहज ही बिठा दिया है। इस उच्चासन से उन्होंने अपने हृदय का खुलासा कई बार कर दिया है और अपने सम्बन्ध मे गलत-फहमी की कोई गुजाइश नही रख छोडी है। महात्मा जी ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि "मै मुमुक्षु हूँ, अपना मोक्ष चाहता हूँ और मैं जन-सेवा केवल इसी लिए कर रहा हूँ कि वह मुझे मोक्ष का सबसे अच्छा साधन प्रतीत होती है।" इसके विपरीत स्वामी विवेकानन्द के विचार सुनिए। उन्होंने कहा था कि "मुझे अपना मोक्ष नही चाहिए, मै तो जिस किश्ती पर बैठा हूँ, उसमें बैठनेवाले लोगो के साथ ही पार लगूँगा, अन्यथा उनके साथ डूब जाना मुझे अधिक पसन्द है।" पाठक इन दोनो दृष्टि-कोणो पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें।

महात्मा जी की दृष्टि में अपना व्यक्तिगत मोक्ष प्रधान है। जन-सेवा तथा सामूहिक मुक्ति गौण है। स्वामी-जी के अनुसार सामाजिक मोक्ष में ही वैयक्तिक मुक्ति की पूर्णता है। अतएव केवल व्यक्ति का मोक्ष इतना श्रेयस्कर नही है कि उसे लोक-सेवा से अधिक प्रधानता दी जावे। महात्मा जी के उपर्युक्त विचार मे उनकी आध्यात्मिकता का अन्त स्वरूप

स्पष्टरूप से अंकित है। व्यक्तिगत मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाने के कारण उनके अन्तःकरण में आध्यात्मिकता का रंग बहुत गहरा चढ़ा हुआ है। इसी कारण कई नैतिक प्रश्नों को भी वे विशुद्ध अध्यात्म-दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए सत्य उन्हें स्वराज से अधिक प्रिय है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द के समान जिस मनुष्य की दृष्टि में समाज-सेवा तथा स्वराज प्रधान लक्ष्य होगा, उसके लिए हमारे सामूहिक आचरण की नैतिक योग्यता ही सब कुछ है। अतएव यह बात अनायास समझ में आ सकती है कि महात्मा जी सत्याग्रह को विशुद्ध आध्यात्मिक अस्त्र क्यों मानते हैं।

गौतम बुद्ध के समान सत्याग्रह और अहिंसा का विशुद्ध आध्यात्मिक उपदेश महात्मा जी यदि धर्म-मंच से परमार्थ-तत्त्व के चिन्तकों को देते तो उनके इस व्यवहार में किसी प्रकार आपत्ति की कोई गुंजाइश नहीं थी। लेकिन ऐहिलौकिक वैभव तथा स्वराज के पक्षपाती जन-साधारण को सत्याग्रह तथा अहिंसा का नैतिक रूप ही ग्राह्य और कल्याणकारी हो सकता है। महात्मा जी तथा भारतीय शिक्षित समाज इन दोनों के मध्य दृष्टि-भेद की जो विषमता प्रतीत होती है, उसका कारण केवल इतना ही है कि गांधी जी स्वराज सरीखे एक सापेक्षिक सत्य को राम-कृष्ण की नैतिक दृष्टि से न देखकर निर्बाध सत्य पर आग्रह करनेवाले प्रह्लाद के पारमार्थिक पहलू से देखा करते हैं। परमार्थ, अध्यात्म-शास्त्र का विषय है और राजनैतिक स्वराज की आकांक्षा करनेवाला हमारा राष्ट्रीय स्वार्थ केवल नीति-शास्त्र का विषय हो सकता है और उसी के आचरणीय नियमों के अनुसार वह साध्य भी हो सकता है, अन्यथा नहीं। इन दोनों शास्त्रों के बीच जो महत्त्वपूर्ण अन्तर है उसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। कहने का सारांश यहाँ पर इतना ही है कि गांधी जी के सत्याग्रह-सिद्धान्त को समझने तथा समझाने में भारतीय जन-समाज को जो कठिनाई हो रही है उसका मूल कारण यही उपर्युक्त दृष्टि-भेद है; दूसरा कुछ नहीं।

हम इस लेख के पूर्वार्द्ध में कह आये हैं कि सत्य के दो रूप होते हैं, निर्बाध और सापेक्षिक। हम यह भी लिख चुके हैं कि उसका

पहला रूप अध्यात्म-शास्त्र का विषय है और दूसरा नीति-शास्त्र का। सत्य के इन दो रूपो के अनुसार सत्याग्रह के भी दो रूप स्वय हो जाते हैं, निर्बाध सत्याग्रह और सापेक्षिक सत्याग्रह । पहले का उपयोग आध्यात्मिक नियमो के अनुसार होता है और दूसरे का सचालन व्यावहारिक नीति-शास्त्र के अनुकूल ही हो सकता है। प्रह्लाद मोक्षार्थी थे, उनके सामने सत्य के निर्बाध रूप का प्रश्न था। अतएव उनके सामने जैसा कि हम पहले कह चुके है, हिंसा का कोई प्रश्न ही नही था।

महात्मा जी का अहिंसा-सम्बन्धी आदर्शवाद, वैज्ञानिक-तर्क की तौल में ठीक नही उतरता। उनका विश्वास है कि सघर्षण-शील, जन-समाज की सभी कठिनाइयाँ सत्याग्रह से हल हो सकती है। यदि सत्याग्रह शब्द के व्यापक अर्थ को हम स्वीकार कर ले तो इस धारणा में कोई त्रुटि नही दिखाई देती। परन्तु महात्मा जी सत्याग्रह का उपयोग सकुचित अर्थ में किया करते है। उनकी राय मे सत्य की रक्षा करनेवाले के लिए हिंसा हानिकर है, अतएव उसके लिए सत्याग्रही के कार्य-क्रम में कोई स्थान ही नही है। हम पहले कह चुके है कि यह धारणा केवल आध्यात्मिक सत्य पर आग्रह करनेवाले के सम्बन्ध मे तर्क-सिद्ध मानी जा सकती है। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में मनुष्यो के कर्त्तव्य और अधिकार का निर्णय नैतिक नियमो के अनुसार ही हो सकता है और नीति-शास्त्र कई प्रसगो पर हिंसा को आवश्यक और उचित भी मानता है। महात्मा जी केवल अहिंसात्मक सत्याग्रह को ही सत्याग्रह मानते है, शेष उनकी दृष्टि में दुराग्रहमात्र है। परन्तु हमारी धारणा है कि जो मनुष्य अपने स्वदेश, समाज तथा स्वाभिमान के लिए शस्त्र-सन्नद्ध होकर समरागण की ओर अग्रसर होता है और अपने मानवी अधिकारो की रक्षा मे या तो मारता है या मर मिटता है, वह भी पूर्ण सत्याग्रही है। योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को सत्याग्रह के इसी रूप का उपदेश दिया था, क्योकि वहाँ अर्जुन के सामने नैतिक अधिकार का प्रश्न था। प्रह्लाद के समान उन्हे कौरवो से 'अस्ति-नास्ति' का निपटारा करना नही था।

यदि सचमुच यही प्रश्न होता तो रण से पराङ्मुख करनेवाली जिस ज्ञानगुदडी का प्रदर्शन अर्जुन ने पहले किया था वह ठीक ही होता और कृष्ण जी भी सहज ही कह देते "अच्छा, अर्जुन, तुम जाओ, तपश्चर्या के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करो और कौरवो के हृदय में उसके अस्तित्व पर प्रेम-पूर्वक विश्वास पैदा करो।" ऐसी हालत मे आपस मे लडने की ज़रूरत ही क्या थी ? परन्तु नही, वहाँ प्रश्न था सापेक्षिक सत्य का, पाण्डवो के अधिकार का। उसका अन्तिम निर्णय सशस्त्र सत्याग्रह से ही हो सका। अहिसात्मक उपायो का भी अवलम्बन किया गया, पर वे सब बेकार हुए। यथार्थ मे हिंसा एक ऐसे कर्म का नाम है, जिससे अहिंसात्मक सत्याग्रही भी नही बच सकता। किसी दुरात्मा के सामने 'क्षमा करो प्रिय जान' कहते हुए नत-मस्तक होकर अपना सिर कटानेवाला, क्या आत्म-हिंसा के दोष से बच सकता है ? कहते है कि आत्म-हत्या से बढकर कोई पाप नही। यथार्थ मे हिंसा-कर्म स्वय बुरा है न भला है। उसको प्रेरणा देनेवाली मानसिक भावना ही उसे अच्छे और बुरे का रूप देती है। यदि ऐसा न होता तो सर्जन और न्यायाधीश से बढकर कोई पापी न होता। स्वय महात्मा जी के मत्थे चालीस कुत्ते और एक बछडे की हत्या का पातक-भार लद जाता। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। हृदय और बुद्धि की नैतिक योग्यता केवल हिंसा ही को नही, सभी प्रकार के कर्मो को भला-बुरा बना देती है। ऐसी हालत मे अहिंसा को हमेशा पुण्य समझना और हिंसा को सदैव दुष्कर्म मानना भ्रान्ति-मूलक है। इसके सिवाय हम यह भी देखते है कि दया, करुणा, सहानुभूति, प्रेम, न्याय तथा जनसेवा इत्यादि जितने आचरणीय नैतिक गुण है, उन सभी के मार्ग मे हमें कुछ प्रसगो पर कार्यरूप में हिंसा करनी ही पडती है। ऐसे अवसरो पर हम हिंसा कर्म को जान-बूझकर सोच-समझकर किया करते है और उसे शास्त्र और समाज-सम्मत भी पाते है। अनजान मे तथा भौतिक जीवन के पालन-पोषण में जो हिंसा हमारे लिए अनिवार्य है

उसके सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नही है। ऐसी हालत में यह प्रश्न अनायास ही उठता है कि मानव-जीवन के नैतिक क्षेत्र का सिंहद्वार हम अहिंसा को क्यो मानें? मनुष्य के नैतिक जीवन का यदि हम साराश निकालें और उसे कुछ नाम देना चाहे तो उसे प्रेम कहेंगे, अहिंसा नही कह सकते। प्रेम हृदय का एक ऐसा प्रत्यक्ष (Positive virtue) गुण है, जो अहिंसा के मूल मे रहता है और कई प्रसगो पर वह हिंसा-कर्म का भी आधार हो जाता है। अहिंसा यदि प्रेम-मूलक न हो, असमर्थता-प्रेरित हो, तो उसकी नैतिक योग्यता कुछ भी नही रह जाती। इसी तरह प्रेम-मूलक हिंसा भी हिंसा नही मानी जाती। तब हम यह सहज ही में देख सकते है कि अहिंसा और हिंसा दोनो की नैतिक योग्यता हृदय की उस भावना पर अवलम्बित है जिसे हम प्रेम कहते है। इसलिए हमारे नैतिक जीवन का राज-मार्ग प्रेम है,—अहिंसा नहीं। इस नकारात्म नैतिक उपदेश का आचरण हम किसी निर्बाध नियम के आधार पर नहीं कर सकते। उसके सहस्रों अपवाद है। अतएव नीति-धर्म को केवल अहिंसा के पहलू से देखना या दिखाना हमारी नम्र सम्मति में भ्रमोत्पादक प्रतीत होता है। नीति-शास्त्र का मूल-मन्त्र प्रेम है, अहिंसा नही।

√ हम अपने उपर्युक्त वक्तव्य का यदि साराश निकाले तो कहना पडेगा कि मानवोचित अधिकारो के समान सापेक्षिक सत्य का नैतिक सत्याग्रह, न्याय-मूलक ही हो सकता है। उसे प्रेम-मूलक भी कहे तो कोई हानि नही; क्योकि जैसे हम पहले कह चुके है कि न्याय के मूल में प्रेम रहता है, विश्व-प्रेम की प्रेरणा से ही हम दो व्यक्तियो के बीच न्याय चाहते है। ऐसे नैतिक सत्याग्रही के लिए केवल दो गुणो की जरूरत है, न्याय-बुद्धि और उस पर आग्रह करने की क्षमता। यह दूसरा गुण क्षमता सभी में समान रूप तथा मात्रा में नही पाया जाता। न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर बातें करनेवाले लोग काफी सख्या में पाये जाते है, पर उस पर अपने प्राणो की बलि चढानेवाले बहुत कम हुआ करते है। न्याय की बलि-वेदी पर इस प्रकार आहुति देनेवाला सत्याग्रही है, इसमें सन्देह नही।

पर जो मनुष्य अपनी सीमित शक्ति के अनुसार उसी भावना को दूसरे क्षेत्र में और दूसरे रूप में प्रकट करता है वह भी सत्याग्रही है। सत्य भले ही एक हो, पर आग्रह-क्रिया के रूप कई हो सकते हैं।

न्याय-बुद्धि ने किसी सिद्धान्त को स्थिर कर लेने के बाद उसके आचरण में हम मनसा, वाचा, कर्मणा जितनी शक्ति लगा सकते हैं, उसी से हमारी सत्याग्रह-शक्ति की परीक्षा और पहचान होती है। परन्तु प्रत्येक सत्याग्रही के लिए जो अनिवार्य सिद्धान्त है वह सत्य का पक्षपात है। इस दृष्टि से जो मनुष्य यह कहता है कि स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और जो इस अधिकार के समर्थन में किसी भी प्रकार की सच्ची लगन और क्रिया-शीलता का परिचय दे सकता है, उसे सत्याग्रही मानने में सैद्धान्तिक आक्षेप कुछ भी नहीं हो सकता। आग्रह करने की क्रिया देश, काल तथा पात्र की योग्यता एवं मानसिक प्रवृत्ति पर अवलम्बित रहती है। एक मनुष्य अपने अधिकारों के लिए नम्रता-पूर्वक प्रार्थना ही कर सकता है और दूसरा बलि-वेदी पर अपने प्राणों की आहुति भी सहर्ष दे देता है। यद्यपि इन दोनों मनुष्यों की आग्रह-शक्ति में अन्तर है, फिर भी सत्याग्रही तो हमें दोनों को मानना ही पड़ेगा।

इस तरह सत्याग्रह के कई रूप हो सकते हैं। फिर यदि हम उसके प्रकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना चाहें, तो कहना होगा कि सत्याग्रह के दो मुख्य रूप होते हैं; निष्क्रिय और सक्रिय। किसी दुरात्मा की दुष्टा-चार-योजना तथा मन्तव्यों में योग न देकर न्यायबुद्धि की प्रेरणा से अलग हो जाना सत्याग्रह का निष्क्रिय रूप है। मनुष्य और मनुष्य के बीच में न्याय चाहनेवाली यह प्रवृत्ति जब क्रियाशील होकर दुराचारी का विरोध करने लगती है, तब सक्रिय सत्याग्रह का रूप धारण कर लेती है। सक्रिय सत्याग्रह आगे चलकर दो रूपों में विभक्त हो जाता है, हिंसात्मक और अहिंसात्मक। किसी नैतिकता-शून्य क़ानून की ओर क्रियात्मक अवज्ञा दिखाना और उसके परिणामों को शान्ति-पूर्वक सहन कर लेना सक्रिय सत्याग्रह का अहिंसात्मक रूप है। इसका आधुनिक

नाम भद्र अवज्ञा (Civil disobedience) है। सत्याग्रह की यह क्रियाशील भावना जब शस्त्रोपयोगपूर्वक न्याय का समर्थन करना चाहती है तो वह हिंसात्मक हो जाती है। मनुष्य-जाति ने अपनी सभ्यता के प्रातःकाल से आज तक सत्याग्रह के इसी हिंसात्मक रूप का उपयोग किया है और सफलतापूर्वक किया है। उसके अन्यान्य रूपो का अवलम्बन व्यक्तिगत रूप से लोगो ने समय समय पर किया हो, परन्तु इसमे तो सन्देह नही कि उनका उपयोग मनुष्य-समाज ने सामूहिक रूप से आज तक कभी नही किया। हिन्दुस्थान में ही पहले-पहल महात्मा गाधी की प्रेरणा से उनका अवलम्बन हो रहा है। सत्याग्रह के उन सौम्य और अहिंसात्मक रूपो को सफलता प्राप्त होने के लिए अभी सहस्रो युगो की आवश्यकता है। मानवी स्वभाव का विकास अभी इतना पर्याप्त नही है कि हम अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वार्थो के सघर्ष को प्रेम-पूर्ण सद्भावना के द्वारा दूर कर सकें। अभी दिल्ली बहुत दूर है।

जिस प्रकार सत्याग्रह का सक्रिय रूप हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक होता है, उसी प्रकार निष्क्रिय सत्याग्रह के भी परिणाम की दृष्टि से वही दो रूप हो सकते है। अधिकाश लोगो की धारणा है कि सत्याग्रह का निष्क्रिय रूप सदैव अहिंसात्मक ही रहता है। परन्तु ऐसा नही है। असहयोग का परिणाम यह भी हो सकता है कि आततायी का सर्वथा नाश हो जावे और बहुधा ऐसा ही होता है। जब दुराचारी का अस्तित्व मेरे सहयोग पर निर्भर है तो उसके अत्याचार से मुक्त होने के लिए यदि मै अपना सारा योग वापस ले लूँ, तो निश्चय ही आततायी का भौतिक अस्तित्व मिट जावेगा। मिट जाने की यह क्रिया मिटनेवाले के लिए सम्भवत इतनी कष्टदायक हो सकती है, जितनी कि हिंसा भी नही हो सकती। अतएव असहयोग अथवा निष्क्रिय प्रतिरोध को विशुद्ध अहिंसात्मक समझना भूल है। किसी सदुद्देश्य को सिद्ध करने के लिए उपवास (Fasting) करना निष्क्रिय सत्याग्रह का परम रूप है। परन्तु वह आत्म-हिंसात्मक है। अतएव सत्याग्रह का यह रूप भी हिंसा से सर्वथा शून्य नही माना जा

जाता। फिर भी लोग इस हिंसा न मानकर आत्म-विश्वास करते हैं। सारांश यह कि सत्य और धर्म के नाम पर जो हिंसा की जाती है, वह नीति-शास्त्र से सर्वथा समर्थित है।

महात्मा गांधी तथा शिक्षित भारतीय समाज के बीच सत्याग्रह-सम्बन्धी जो दृष्टि-भेद है, उसका समाधान करना ही इस लेख का उद्देश्य है। इस बात को कोई भी समझदार मनुष्य स्वीकार करेगा कि संसार की वर्तमान परिस्थिति हिंसात्मक भावनाओं से प्रेरित है और इसलिए जन-समाज को अहिंसा-पूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसी परिस्थिति का यह भी तकाजा है कि हम अपने राष्ट्रीय उत्थान में अहिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करें। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से सत्याग्रह के असल स्वरूप के सम्बन्ध में किसी तरह की भ्रान्ति का रहना एक ऐसी बात है जो कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती। अतएव इस प्रसङ्ग में हमने उसी भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया है।

सत्य का परम रूप विशुद्ध आध्यात्मिकता है। इस रूप की उपासना करनेवाले के लिए सत्याग्रह निस्संदेह एक आध्यात्मिक शस्त्र है। परन्तु जब यही सत्य अपनी निर्वाण अवस्था से अवतीर्ण होकर संघर्ष-शील संसार में सापेक्षिक रूप धारण कर लेता है, तो उसका निर्णय नीति-शास्त्र के अनुसार होना चाहिए। परिस्थितिविशेष में मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस बात पर विचार करना ही नीति-शास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इसी लिए उसे आचरण-शास्त्र भी कहते हैं। इसी शास्त्र के आधार पर शासन-सम्बन्धी कानूनों की रचना होती है। इन कानूनों के अनुसार आत्म-रक्षा के प्रयत्न में हिंसा का निषेध नहीं है, क्योंकि नीति-शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

आचरण-शास्त्र मनुष्य और मनुष्य के बीच न्याय चाहता है। इस नैतिक नियम का कोई अपवाद नहीं है। न्याय-पालन में दंड अथवा हिंसा अनिवार्य है अतएव नीति-शास्त्र का निचोड़ न्याय है, अहिंसा नहीं हो सकती।

हमें अपने प्रतिदिन के आचरण में विशेष कर मानवोचित अधिकारो के रक्षा-सपादन मे सापेक्षिक सत्यो का सामना करना पडता है। सत्य के इन रूपो की रक्षा हम नीति-शास्त्र के नियमानुसार ही कर सकते है। अतएव व्यवहार-क्षेत्र में सत्याग्रह का रूप नैतिक ही हो सकता है; विशुद्ध आध्यात्मिक नही।

नैतिक सत्याग्रह के निष्क्रिय और सक्रिय दोनो रूपो में हिंसा की सभावना रहती है। इसी लिए कहना पडता है कि जीवन-सग्राम के सत्याग्रही के लिए कई प्रसगो पर हिंसा अनिवार्य और उचित भी प्रतीत होती है। इसी औचित्य की बदौलत उसे नीति-शास्त्र तथा कानून का समर्थन भी सुलभ है। आत्म-रक्षा नैसर्गिक तथा नैतिक जीव-धर्म है। इस धर्म के पालन मे किसी भी आवश्यक उपाय का अवलबन करना मनुष्य के लिए सर्वथा उचित है।

अध्याय २५

भद्र अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध

हम इस बात का संक्षिप्त वर्णन कर चुके हैं कि सत्याग्रह के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इस प्रकरण के प्रारम्भ में सत्याग्रह के वैज्ञानिक विभागों का थोड़ा-सा परिचय देकर हम भद्र अवज्ञा (Civil disobedience) के औचित्यानौचित्य पर विचार करना चाहते हैं।
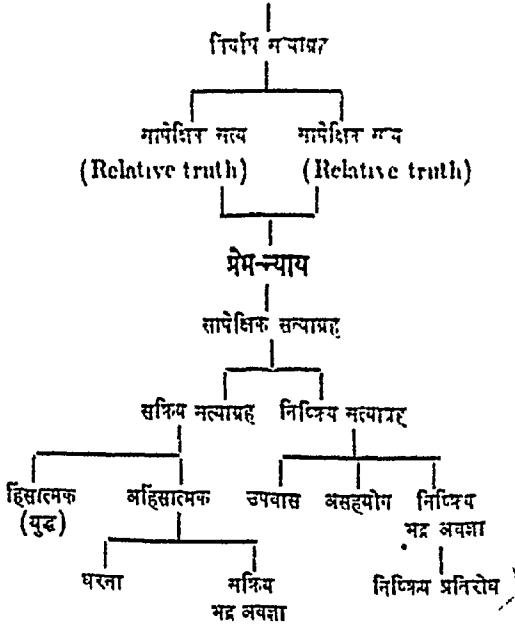
सत्य-ब्रह्म का आदि रूप निर्बाध है। सत्य का यह परम रूप बुद्धि के द्वारा प्रतिपादित तो हो सकता है, परन्तु उसका दर्शन अंतःकरण में आत्मनिष्ठ मनुष्य को ही शक्य हो सकता है। संसार के अधिकांश लोग स्वभाव-सिद्ध संस्कारो के कारण ही सत्य-ब्रह्म के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। ऐसे लोगो को अन्ध-विश्वासी कहना उपयुक्त होगा। इन बहु-संख्यक मनुष्यो के सिवाय कुछ थोडे से तर्कशील विद्वान् ऐसे भी होते हैं जिन्हे सत्य-ब्रह्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार तो नही हुआ है, परन्तु जो अपनी प्रज्ञा के नेत्रो से परोक्ष रूप से उसे देख सकते है। पढ़े-लिखे तथा बहु-श्रुत लोगो में भी ऐसे आदमियो की संख्या बहुत कम होती है। अधिकांश उदासीन (Agnostic) रहते है। ऐसे लोगो में बहुत थोडे से लोग ही नास्तिक (Atheist) होते हैं। जो आदमी आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व को निश्चय-पूर्वक अस्वीकार करता है, उसी को नास्तिक कहते है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकश्यप ऐसा ही एक कट्टर नास्तिक था। उसने अपने पुत्र के हृदय और बुद्धि पर अपनी नास्तिकता का प्रभाव डालना चाहा। परन्तु पुत्र प्रह्लाद अपनी आस्तिक-भावना पर निश्चल रहा। हिरण्यकश्यप ने अनेक भयंकर प्रयत्न किये, परन्तु प्रह्लाद ने ईश्वर का नाम लेना नही छोडा और सत्य-ब्रह्म के अस्तित्व एवं सर्वव्यापकता पर आग्रह करता ही रहा। तात्पर्य यह कि उसने सत्याग्रह किया। प्रह्लाद ने सत्य के निर्बाध स्वरूप पर आग्रह किया था, इसलिए उसके व्यवहार को निर्बाध सत्याग्रह कहना किसी प्रकार ठीक होगा। इस सामासिक शब्द-योजना को समझने में ध्यान इतना ही रहे कि निर्बाध शब्द का संबंध 'सत्य' से है 'आग्रह' से नही।

निर्बाध सत्याग्रह की पहली विशेषता यह है कि उसका रूप निष्क्रिय कभी नहीं हो सकता। सत्य-ब्रह्म पर आग्रह करनेवाले को खुले और प्रत्यक्ष-आचरण के द्वारा ही अपना सिद्धांत घोषित करना पडता है। अपने आंतरिक विश्वास को हृदय ही में छिपाकर चुपचाप बैठने-

वाले को हम सत्याग्रही नहीं कह सकते । उसकी दूसरी विशेषता यह है कि उसका रूप हमेशा अहिंसात्मक रहता है, क्योंकि जिस सत्य का संबंध बुद्धिगत विश्वास से है, उसे यदि हम किसी दूसरे से स्वीकार कराना चाहें तो तर्क, विवेक तथा तदनुरूप अहिंसात्मक आचरण के द्वारा ही वह संभव है । ठोंक-पीट कर कोई नास्तिक आस्तिक नहीं बनाया जा सकता । उसका परिणाम विपरीत ही होता है । ऐसे अविश्वासी को मानसिक वेदना पहुँचा कर भी हम अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकते । सारांश यह कि निर्दोष सत्याग्रह का रूप हमेशा क्रियात्मक और अहिंसात्मक रहता है; उसमें न तो निष्क्रियता की गुंजाइश है, न हिंसा की ।

मानव-सभ्यता के इतिहास में सम्भवतः ऐसे कई प्रसंग आये होंगे जब कि विशुद्ध आस्तिकता को कट्टर नास्तिकता का सामना करना पडा होगा । ऐतिहासिक धर्म-ग्रन्थों में भी इस बात के प्रमाण यत्र-तत्र पढने में आते हैं । प्रह्लाद का उदाहरण तो प्रख्यात ही है और उसकी पर्याप्त चर्चा भी हम कर चुके हैं । ऐसे सत्याग्रह का दूसरा उदाहरण हमें महात्मा ईसा के जीवन-चरित्र में भी मिलता है । उन्होंने अपने आत्म-विश्वास के आधार पर लोगो को सत्य-धर्म एवं सदाचरण का ही उपदेश दिया । परन्तु उनके कतिपय विचार तत्कालीन प्रचलित धारणा के विरुद्ध थे । इसलिए रोमन सत्ता-धारियों की दृष्टि में वे अपराधी प्रतीत हुए । नव-युवकों के हृदय और मस्तिष्क को भ्रष्ट और विधर्मी बनाने का अभियोग उन पर लगाया गया और अत में उन्हे अपने सिद्धात के लिए प्राणदड भोगना पडा । परमात्मा का वह लाडला क्रॉस पर लटका दिया गया । अपने ऊर्ध्वगामी प्राणो को छोडते हुए उसने अपने विरोधियों की नासमझी के लिए परमेश्वर से यह कहकर क्षमा मांगी कि "परम-पिता, तू इनके अपराधो को क्षमा कर; क्योंकि ये बेचारे नही जानते कि वे क्या कर रहे हैं ।" महात्मा ईसा के औदार्य एव बडप्पन का इससे अधिक प्रभावशाली प्रमाण और क्या दिया जा सकता है ?

मसूर भी इसी श्रेणी के सत्याग्रही थे। मुस्लिम-ससार मे वेदात की सैद्धातिक प्रतिच्छाया जाकर पडी और उसने सूफी सप्रदाय को जन्म दिया। मसूर एक अनुभवसिद्ध सूफी थे और 'अनलहक' (सोऽह) के नारे लगाया करते थे। अपने धार्मिक विश्वास तथा उपदेशो के कारण वे भी दोषी ठहराये गये और सूली पर चढा दिये गये। गैलिलियो के जमाने में लोगो की प्रचलित धारणा थी कि सूर्य पृथ्वी के इर्द-गिर्द घूमता है। परन्तु इस आदमी ने लोगो को यह समझाने का प्रयत्न किया कि उनकी समझ उलटी है और पृथ्वी ही सूर्य के चारो ओर घूमती है, सूर्य स्थिर है। इस वैज्ञानिक सत्य पर आग्रह करने के लिए गैलिलियो को प्राणदड भोगना पडा। जिन दिनो यूरोप मे प्रोटेस्टेंट सप्रदाय का जन्म हुआ और उसके विचारो का जन-समाज में जोरो से प्रचार होने लगा, रोमन कैथोलिक सत्ताधारियो की ओर से वडा भयकर विचार-दमन शुरू हुआ। हजारो की तादाद मे लोग मारे गये, जला दिये गये, और अनेक प्रकार से त्रस्त किये गये। इस दमन-काण्ड का इतिहास आदि से अन्त तक रक्त-रजित और रोमाञ्चकारी है। अपने धार्मिक विश्वास के लिए शहीद होनेवाले प्रोटेस्टेट लोगो मे कई आदमियो ने अपने नैतिक सामर्थ्य के विलक्षण परिचय दिये। उपर्युक्त लोगो की गणना हम सत्याग्रही प्रह्लाद की श्रेणी मे कर सकते है, क्योकि उन्होने सत्य-धर्म-सम्बन्धी अपने आन्तरिक विश्वास के कारण ही कष्ट सहन किये।

सापेक्षिक सत्याग्रह के उदाहरणो से मनुष्य-जाति का इतिहास भरा पडा है। स्वत्व और न्याय के लिए जितने झगडे और युद्ध हुए है, वे सब ऐसे ही सत्याग्रह के उदाहरण है। दो फिरको तथा राष्ट्रो के बीच जितने सग्राम हुए, वे सब अधिकार और स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए ही हुए है। ऐसे विग्रहो में सत्य के जिस रूप का प्रश्न उपस्थित होता है, उसे सापेक्षिक इसलिए कहते हैं कि हमे उसका निर्णय तुलनात्मक दृष्टि से करना पडता है और यह विचार करना पडता है कि दो विरोधियो में अपेक्षाकृत किसका पक्ष न्याय-सम्मत है। महाभारत-वर्णित कौरवो और पाण्डवो

का युद्ध ऐसे ही सत्याग्रह का उदाहरण है। इसमें न्याय पाण्डवो के पक्ष में था और वे ही सत्याग्रही थे। कौरवो का पक्ष दुराग्रह-पूर्ण था। वर्त्तमान काल मे चीन और जापान के बीच जो विग्रह है, उसमें चीन सत्याग्रही और जापान दुराग्रही है। हिन्दुस्थान और ब्रिटेन के बीच जो सघर्ष चल रहा है, उसमें हिन्दुस्थान सत्याग्रही है। इटली और अबीसीनिया के प्रस्तुत विरोध मे अबीसीनिया सत्याग्रही है, क्योकि न्यायानुमोदित पक्ष उसी का है। तात्पर्य यह कि जो लोग अपने जन्मसिद्ध अधिकारो के लिए आत्मरक्षा या आक्रमण करते है, वे सब सापेक्षिक सत्याग्रहियो की श्रेणी मे रखे जा सकते है। ऐसे सत्याग्रह अभी तक हिंसात्मक ही हुए है। हिन्दुस्थान ही में पहले-पहल गाधी जी के नेतृत्व में उसके अहिंसात्मक रूप का प्रयोग हो रहा है।

इस तरह पाठक देखेंगे कि सापेक्षिक सत्याग्रह के दो रूप हो सकते है, सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय सत्याग्रह के दो विभाग है, पहला हिंसात्मक जो इतिहास-प्रसिद्ध उपाय है और दूसरा अहिंसात्मक, जिसका प्रयोग व्यक्तिगत रूप से लोग हमेशा करते आये है। हिंसात्मक सत्याग्रह की चर्चा हम कर चुके है। सक्रिय अहिंसात्मक सत्याग्रह के भी दो रूप अभी तक अमल में लाये गये है। पहला है सक्रिय भद्र अवज्ञा, (Active civil disobedience) और दूसरा है धरना (Picketing)। सक्रिय भद्र अवज्ञा की विशेपता यह है कि वह सक्रिय और अहिंसात्मक होता है। उदाहरण के लिए, मैजिस्ट्रेट ने १४४ धारा के अनुसार रामगोपाल को इस बात की आज्ञा दी कि तुम्हारे व्याख्यानो से शान्ति-भग होने की आशका है, अतएव इस हुक्म के जरिए तुम्हारी जबानवन्दी की गई। रामगोपाल इस आज्ञा की भद्रता-पूर्वक अवज्ञा करता है और आम सभा मे उपस्थित होकर व्याख्यान देता है। यह हुई सक्रिय अहिंसात्मक भद्र अवज्ञा। जब यह सक्रिय अवज्ञा हिंसात्मक हो जाती है तो अहिंसा-प्रेमियो की दृष्टि में अपनी भद्रता खो देती है और मार-काट का नगा रूप धारण कर लेती है। इसे सशस्त्र सत्याग्रह भी इसलिए कहते है

कि इसमे एक पक्ष न्याय समर्थित रहता है। इसके लिए प्रचलित शब्द हैं युद्ध, संग्राम या समर।

सक्रिय अहिंसात्मक सत्याग्रह का दूसरा रूप 'धरना' (Picketing) है। वम्बई की स्वयसेविकाओ ने विदेशी वस्त्रो के वहिष्कार मे तथा मद्य-पान-निषेध मे इस रूप का प्रयोग वडी सफलता-पूर्वक किया था। उसे हम सक्रिय इसलिए कहते हैं कि धरना देनेवाले को अपने घर से वाहर निकलकर स्थल-विशेष मे जाना पडता है और वहाँ वैठकर या घूम-फिर कर लोगो को समझाना-बुझाना पडता है कि वे शराब न पीवे या विदेशी वस्त्र न खरीदे। समझाने की इस क्रिया मे कटु वाक्य वोलने की तथा मारपीट की गुंजाइश नही, इसलिए उसे अहिंसा-त्मक कहते हैं। कभी कभी धरना देने का रूप अन्न-जल त्याग के रूप में परिणत हो जाता है। ऐसी दशा मे उसका आधा हिस्सा निष्क्रिय हो जाता है। ऐसे सत्याग्रह का विलकुल ताजा उदाहरण पं० रामचन्द्र शर्मा ने कलकत्ते के काली-मन्दिर के सामने पेश किया है। किसी के दरवाजे जाकर वैठ जाना और घोषित सकल्प के पूर्ण होने तक अन्न-जल ग्रहण न करना और यदि नौवत आई तो वही पर भूख-प्यास से तड़प-कर प्राण दे देना, यही इस अर्द्ध-सक्रिय, अर्द्ध-निष्क्रिय, अहिंसात्मक सत्याग्रह की शैली है। इसे हम क्रियात्मक ही कहेगे क्योकि ऐसे सत्याग्रही को कम से कम अपने निवास-स्थान से उठकर स्थलविशेष पर जाना ही पडता है। किसी सदुद्देश्य को पूरा कराने के लिए अपने शरीर को कष्ट में डालकर व्यक्तिविशेष या जन-समाज की सद्बुद्धि को जाग्रत करना ही ऐसे सत्याग्रही का मनोगत अभिप्राय हुआ करता है। सत्याग्रह के इस ढग को वही सफलता मिल सकती है, जहाँ सहानुभूति की भावना को जाग्रत करने की सभावना रहती है। घोर शत्रु के सामने उसकी सफलता असाध्य है। जिसे सत्याग्रही की प्राण-हानि से प्रसन्नता ही होगी, उसके सामने अन्न-जल-त्याग-पूर्वक धरना देना निष्फल प्रयास है।

निष्क्रिय सत्याग्रह के भी तीन रूप होते है, असहयोग, उपवास और

निष्क्रिय भद्र अवज्ञा। किसी काम की साझेदारी में से अपनी सहायता वापस ले लेना और अलग होकर चुप बैठना या स्वतंत्र रूप से दूसरा काम करना असहयोग कहलाता है। सहयोग न करना ही असहयोग है, अतएव यह एक निष्क्रियता-द्योतक व्यवहार है। इस कारण वह स्वभावत. हिंसात्मक हो ही नही सकता। किसी को सहायता न देने की क्रिया में हिंसा-कर्म की कहीं गुंजाइश ही नही। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके है कि असहयोग का परिणाम हिंसात्मक हो सकता है। इस विषय की चर्चा हम 'असहयोगशीर्षक' एक स्वतंत्र अध्याय में विस्तारपूर्वक कर चुके है।

निष्क्रिय सत्याग्रह का दूसरा रूप 'उपवास' है। धरना के रूप में अन्न-जल का जो त्याग किया जाता है, उसमे और इसमें अन्तर है। धरना देनेवाला अपना निवास-स्थान छोडकर किसी दूसरी जगह जाकर उपवास करता है। परन्तु सत्याग्रह के इस रूप में अन्न-जल छोड़ने के लिए स्व-स्थान परित्याग की आवश्यकता नहीं होती। अपना उद्देश्य घोषित करके सत्याग्रही अपने तत्कालीन निवास-स्थल मे अन्न-जल स्वीकार करना बंद कर देता है और तब तक अपने संकल्प पर अड़ा रहता है जब तक उसका पूर्व-घोषित अभिप्राय सिद्ध नही होता। ऐसे सत्याग्रह का सबसे प्रसिद्ध और प्रशंसनीय उदाहरण महात्मा जी ने यरोडा जेल मे दलितवर्ग के पृथक् मताधिकार को रोकने के लिए प्रस्तुत किया था। उसका जो सत्परिणाम निकला, वह सभी को मालूम है। दूसरा उदाहरण जतीन बाबू का है जिन्होने अपने संकल्प पर प्राणो की पूरी आहुति दे डाली। उनको यह नौबत इसलिए आई कि उन्होंने अपने आमरण उपवास का संकल्प ऐसे सत्ताधारियो के विरोध में किया था, जिनके हृदय में सद्‌भावना की बू-बास भी नहीं थी। हम पहले ही कह चुके है कि जो मनुष्य अपना जानी दुश्मन है और जिसे हमारी मृत्यु और यंत्रणा से कोई सहानुभूति नही, उसके सामने सत्याग्रह का यह रूप कारगर नहीं हो सकता। जो हमारा प्रेमी है, पर अपनी नासमझी से

न्याय-पथ से भटक गया है, उसी को ऐसे सत्याग्रह से सन्मार्ग पर लाना संभव है। हमारी स्वय-स्वीकृत यत्रणा ऐसे मनुष्य के हृदय की प्रसुप्त प्रेम-भावना को जागृत करती है और उसके दिल को खीचकर हमारी बात को स्वीकार करने के लिए लाचार करती है। यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक बल का प्रयोग है, और यदि इसका प्रयोग करनेवाला सत्पात्र हुआ तो बड़ा विलक्षण परिणाम पैदा करता है। परन्तु ऐसे सत्याग्रह के यथार्थ अधिकारी बहुत कम हुआ करते है। अधिकाश लोगो से इसका दुरुपयोग अथवा उपहास-जनक उपयोग ही होता है।

निष्क्रिय सत्याग्रह का जो तीसरा रूप है उसे हमने निष्क्रिय भद्र अवज्ञा इसलिए कहा है कि उसमे अवज्ञा निष्क्रिय रूप मे प्रकट होती है। रामगोपाल ने मैजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध व्याख्यान देकर अपनी अवज्ञा क्रियात्मक ढग से प्रकट की थी। परन्तु एक ऐसा उदाहरण लीजिए कि जिसमे मैजिस्ट्रेट रामगोपाल को यह आदेश देता है कि चौबीस घटो के भीतर तुम बम्बई छोडकर बाहर चले जाओ। रामगोपाल इस आज्ञा की भद्रतापूर्वक अवज्ञा करता है और बम्बई छोडकर बाहर नही जाता। ध्यान रहे कि अवज्ञा का यह रूप बिलकुल निष्क्रिय है और सभामच पर खडे होकर व्याख्यान करनेवाली अवज्ञा से भिन्न है। अतएव यह हुई निष्क्रिय भद्र अवज्ञा। ऐसी अवज्ञा भी स्वभावत अहिंसात्मक ही होती है। इस क्रिया मे भी हिंसा की जरा भी गुजाइश नही है। अब मान ले कि चौबीस घटो के बाद यह सुनकर कि रामगोपाल ने बम्बई नही छोडी; डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने अपने चार चपरासियो को अथवा कानिस्टबिलो को यह हुक्म दिया कि रामगोपाल को पकडकर कलकत्ते-वाली गाडी में जबरन् बिठा कर बाहर कर दो। पुलिसवाले आते है और रामगोपाल का माल-असबाब टाँगे पर लादकर उसे भी बैठने के लिए कहते है। रामगोपाल अपने स्थान पर बैठा ही रहता है, उठकर टाँगे पर नही बैठता। आखिर कानिस्टबिल उसे लादकर जबरदस्ती ले चलते है और उसके माल-असबाब के साथ उसे भी रेल के डब्बे के

भीतर उनकी मंशा के विरुद्ध डाल देते हैं। सत्याग्रह के इस रूप को निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) कहते हैं। इसमें और निष्क्रिय भद्र अवज्ञा में जो अन्तर है उसे पाठक अनायास देख सकते हैं। बम्बई के मैजिस्ट्रेट की आज्ञा को न मानकर शहर न छोड़ना केवल निष्क्रिय अवज्ञा का काम था। परन्तु जब आज्ञा के अनुसार जबरदस्ती आचरण कराया गया तो शरीर को जड़वत् निश्चल बना लेना निष्क्रिय प्रतिरोध हुआ। दूसरा उदाहरण और लें। मैजिस्ट्रेट की आज्ञा हुई कि हरिसन रोड से शहीदी विद्रोहियों के सम्मानार्थ जुलूस निकालना मना है। कांग्रेस के पचास स्वयंसेवक इस हुक्म को न मानकर जुलूस निकालते हैं। यह सक्रिय भद्र अवज्ञा हुई। जब स्वयंसेवक हरिसन रोड के किसी स्थान विशेष पर पहुँचते हैं तो पुलिस के आदमी उनका रास्ता रोककर उन्हें वापस लौट जाने का आदेश देते हैं। वापस न लौटकर स्वयंसेवक राष्ट्रीय गीत गाते हुए सड़क पर ही बैठ जाते हैं। यह हुआ निष्क्रिय प्रतिरोध। इन उदाहरणों से पाठक समझ सकेंगे कि निष्क्रिय रूप से शरीर के द्वारा विरोध प्रकट करना ही निष्क्रिय प्रतिरोध कहलाता है। इसे हम निष्क्रिय सत्याग्रह का चौथा अंग मान लेते; परन्तु यह हमेशा अवज्ञा के बाद ही उपयोग में लाया जाता है। इसलिए हमने निष्क्रिय प्रतिरोध को निष्क्रिय भद्र अवज्ञा का ही अंग माना है।

सत्याग्रह के इन रूपों की संक्षिप्त चर्चा के बाद हम अब इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि किसी राज्य के अन्दर एक नागरिक के लिए ऐसे विरोधात्मक आचरण करना उचित है अथवा नहीं और यदि है तो किस हालत में। यही इस अध्याय का मुख्य विचारणीय विषय है।

हम पहले कह आये हैं कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसका जीवन सामाजिक प्रगति और उत्कर्ष से बिलकुल संबद्ध है। अपने वैयक्तिक तथा सार्वजनिक आचरण में उसे हमेशा इस बात का ध्यान

होना चाहिए कि उससे कोई ऐसा काम न होने पावे जिससे सामाजिक शान्ति मे किसी प्रकार बाधा पहुँचे। अपने इस सामाजिक उत्तरदायित्व का खयाल कम लोगो को रहा करता है। नाना तरह के स्वार्थ-विरोधजन्य विकारो के आवेश मे आकर कलहशील लोग सार्वजनिक शान्ति का भग किया करते हैं। जन-समाज के इस अनुभव ने शासन-व्यवस्था की रचना की और सार्वजनिक मन्तव्य के द्वारा सत्ताधारी शासकों को यह आदेश दिया गया कि जन-समाज मे शान्ति भग करनेवाला मनुष्य अपराधी करार दिया जावे तथा दड का भागी हो। इसके साथ साथ यह निश्चय भी किया गया कि राज्य-शासन के अन्दर अधिकाश लोगो के अधिक सुख के साधनो का निर्णय प्रतिनिधि सस्थाओं के द्वारा बहुमत मे ही किया जावे। इसका आशय यह निकला कि जो लोग बहुमत-निर्णीत किसी कार्रवाई से सहमत न हो, उन्हे अपने विचार प्रकट करने की स्वतत्रता तो है, पर उसके अनुसार बहुमत के विरुद्ध आचरण करने का अधिकार बिलकुल नही है। क्योंकि भिन्न-भिन्न मतवाले अल्पसंख्यक लोगो के विरुद्ध आचरण-सम्बन्धी ऐसी मर्यादा यदि न बाँधी जावे तो कोई भी प्रतिनिधि-सस्था दो दिन भी नही टिक सकेगी। मतभेद होना तो प्राय सभी विषयो में सम्भव है। यदि बहुमत-प्रतिपादित किसी भी कार्रवाई मे मतभेद रखनेवालो को अपने विचारानुसार आचरण करने की स्वतत्रता रहे तो जन-समाज में विचार-भ्रान्ति एव तज्जनित अव्यवस्था फैलने मे कुछ भी देर न लगेगी और समाज-शासन का उद्देश्य ही विफल हो जावेगा। ऐसी दशा में बहुमत-निर्णीत क़ानून तथा कार्रवाई के अनुकूल आचरण करना प्रत्येक नागरिक का परम मे परम कर्त्तव्य माना गया है। इसके विपरीत आचरण करने-वाले लोग समाज-शासको की दृष्टि में बडे से बडे अपराधी करार दिये जाते हैं।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी हालत में अल्प-सख्यक भिन्न मतवालों के लिए अपने विचारानुसार काम करने या कराने

के लिए कौन-सा साधन शेष रह जाता है। क्या वे अपने विचारों को अपने हृदयो मे दवाकर चुप बैठ जावें? ऐसा तो माना ही नही जा सकता कि बहुमत का निर्णय हमेशा ठीक ही रहता है और उसके अनुसार आचरण करने का परिणाम जन-समाज के लिए हमेशा श्रेयस्कर ही होता है। इतिहास इस वात का साक्षी है कि कई प्रसगो पर अधिकाश लोग ही भ्रान्त रहते है और कुछ थोडे से दूरदर्शी विचारवान् लोग बिलकुल ठीक सलाह देते है और उनकी सम्मति की अवहेलना करके सारा जन-समाज बहुमत-निर्णीत आचरण का दुष्परिणाम भोगता है। यह एक ऐसी सम्भावना है जो हमारे सामूहिक जीवन मे हमेशा बनी रहती है। अतएव अल्पसख्यक भिन्न मतावलम्बियो के आचरणो का दमन भले ही हो, परन्तु उनके विचार-स्वातन्त्र्य के मार्ग मे काँटे बिछाना बुद्धिमानी का काम नही है। क्योकि सम्भावना इस वात की है कि कदाचित् उन्ही के विचार जन-समाज के लिए अधिक कल्याणकारी सिद्ध हो और वहुमत-समर्थित कार्रवाई हानिकारक हो। इसलिए प्रत्येक प्रतिनिधि-शासन-व्यवस्था (Democracy) के अन्दर विचार-स्वातन्त्र्य की आवश्यकता उचित और अनिवार्य भी है। बहुमत यानी शासन-सत्ता के विरुद्ध विचार रखनेवालो को आचरण की स्वतत्रता न रहे, परन्तु साधक प्रमाण तथा तर्क के द्वारा जन-समाज में अपने मत-प्रचार करने की पूरी स्वतत्रता होनी चाहिए। क्योकि यदि ऐसी सुविधा न हो तो मतभेद रखनेवाले अल्पसख्यक लोगो के हाथ मे बहुमत तैयार करने का कोई साधन ही नही रह जाता। उनके विचार हृदय ही मे रह जावें और यदि न रह सकें तो उनका प्रचार गुप्त रीति से हो। मनुष्य-समाज का अनुभव तो यह कहता है कि जिस तरह हम हवा अथवा पानी को दवा नही सकते और यदि दबावें तो वे रुकावट को तोड-फोड़कर गलत रास्ते मे बाहर फूट पडते है, उसी प्रकार लोगो के मनोनीत विचार भी दबाये नही जा सकते। ऐसे प्रयत्नो के उदाहरण इतिहास में मौजूद है और उनके दुष्परिणामो का परिचय भी हमें अच्छी

तरह मिल चुका है। कई प्रसगो पर अनियन्त्रित सत्ताधारियो ने कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया और उसके परिणाम मे उन्हे रक्त-रजित क्रान्ति का सामना करना पडा। ऐसी क्रान्तियो से जन-समाज को अनेक तरह के कष्ट भोगने पडे है। अतएव वर्तमान शासको के लिए अतीत का इतिहास यह तात्पर्य निकालता है कि विचारो का दमन अन्ततोगत्वा महान् अनर्थकारी सिद्ध होता है। शासन-व्यवस्था ऐसी हो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना मतभेद प्रकट करने की स्वतत्रता रहे और बहुमत निश्चित कार्रवाई अथवा कानून की अमलदारी पर किसी तरह का व्याघात न पहुँचाते हुए अपने विचारो के प्रचार मे उसे उचित सुविधा भी दी जावे। इसे हम शासन-व्यवस्था का 'सेफ्टीह्वाल्व' कह सकते है। इसके बिना मानव-जाति का सामाजिक जीवन अधिक दिनो तक नही टिक सकता। इस सुविधा के अभाव मे प्रच्छन्न रूप से विद्रोही विचारो का प्रचार होने लगता है, षड्यत्र रचे जाते है और एक नौबत ऐसी भी आती है कि वर्षों के सचित और प्रच्छन्न विचार भीतर ही भीतर सुलग कर एक दिन ज्वालामुखी की भयकरता से जन-समाज में फूट पडते है।

इन विचारो से दो सिद्धान्त निकलते है । शासन-व्यवस्था के निर्माताओ तथा सचालको के लिए नसीहत यह है कि वे अपनी योजना तथा शासन में व्यक्तिगत विचार-स्वातत्र्य के लिए यथोचित सुविधा बनाये रक्खें, ताकि उसके द्वारा समय समय पर परिवर्तित होनेवाली जन-समाज की सम्मति प्रकट होती रहे और तदनुसार बहुमत हो जाने पर शासन-व्यवस्था में जन-समाजानुमोदित परिवर्तन होते रहें । प्रत्येक शासन-व्यवस्था के विधान में ही लोकमत के लिए ऐसी सुविधा अवश्य चाहिए। ऐसे व्यवस्था-विहित साधन को ही राजनीति की भाषा मे वैधानिक उपाय (Constitutional means) कहते है।

उपर्युक्त विचारो से शासित जन-समाज तथा नागरिको के लिए जो शिक्षा मिलती है वह यह है कि वैध उपायो के द्वारा वे अपने विचार प्रकट कर सकते है और व्यवस्था-विहित मर्यादा के भीतर तदनुसार जन-

समाज में बहुमत तैयार करने के लिए आन्दोलन भी कर सकते हैं; परन्तु बहुमत अथवा शासन-सत्ता-निर्णीत मन्तव्य, कारंवाई तथा कानून का आचरण-द्वारा उल्लंघन करना उनके लिए उचित नहीं है। जब तक उनके विचारों को अधिकांश लोगों का समर्थन प्राप्त न हो और जब तक उनके अनुसार प्रतिनिधि-संस्था में बहुमत से [illegible] कानून न बन जावे, तब तक मतभेद रखते हुए भी शासन-सत्ता की आज्ञा तथा मन्तव्य को शिरोधार्य मानना प्रत्येक नागरिक का पहला कर्त्तव्य है। योग्य नागरिक का यह लक्षण जिस मनुष्य के आचरण में प्रगट न हो, उसे विद्रोही (Out-law) समझने में जरा भी अनौचित्य नहीं है। इस तरह पाठक देखेंगे कि किसी सुव्यवस्थित प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था की छत्रच्छाया में रहने-वाले लोगों के लिए 'डाइरेक्ट एक्शन' की स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं है। कानून तथा सरकारी हुक्म की अवज्ञा अथवा उल्लंघन चाहे भद्रतापूर्वक भी किया जावे, अभद्र ही माना जावेगा; क्योंकि उसका परिणाम सार्वजनिक मनोवृत्ति पर बुरा ही होता है। इस दृष्टि से सापेक्षिय सत्याग्रह के जितने रूप-रूपान्तर हैं वे सब अवैध सिद्ध होते हैं। ऐसा सत्याग्रह चाहे निष्क्रिय हो या क्रियात्मक, चाहे वह असहयोग का रूप धारण करे चाहे भद्र अवज्ञा का, हर हालत में वह अवैध है और सत्ताधारियों के द्वारा औचित्य-पूर्वक दण्डनीय माना जा सकता है। प्रजा-निर्मित सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली में सत्य अथवा जिसे हम सत्य समझते हों, उस पर आग्रह करने का एक ही तरीका है और उसी को वैध-उपाय कहते हैं। इतर सभी साधन अवैध और दण्डनीय हैं।

ध्यान रहे कि अभी तक 'डाइरेक्ट एक्शन' अथवा असहयोग एवं भद्र अवज्ञा पर हमने प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली की दृष्टि से ही विचार किया है। हमारे पूर्व-कथित वक्तव्य का निष्कर्ष यह निकलता है कि सरकारी हुक्म की अवज्ञा उसी हालत में अनुचित मानी जा सकती है जब कि शासन-व्यवस्था में अल्पमत को बहुमत में विकसित होने की यथोचित सुविधा हो और बहुमत के अनुसार कार्रवाई करने में किसी

तरह की रुकावट न हो। राज्य-शासन की व्यवस्था यदि ऐसी मुलायम और लचीली न हो तथा लोकमत के ऊपर जकडी हुई बैठी हो, यानी बहुमत के अनुसार कार्रवाई करने का मार्ग बिलकुल अवरुद्ध हो, तो फिर जन-समाज के सामूहिक कल्याण के लिए 'डाइरेक्ट एक्शन' के सिवाय कोई गत्यन्तर ही नहीं रह जाता। बहुमत की ओर सर्वथा दुर्लक्ष्य करनेवाली एक या अनेक लोगों की अनियन्त्रित शासन-सत्ता एक ऐसी अनिष्टकारी चीज है जो पल भर के लिए भी स्वीकार करने योग्य नही है। ऐसी व्यवस्था को मिटा देने के लिए अथवा उसमे उचित परिवर्तन करने के लिए असहयोग अथवा अवज्ञा का अवलम्बन करना ही पडेगा। इस उपाय को हम नैतिक दृष्टि से भी उचित कह सकते है, क्योकि वह मनुष्यो के नैसर्गिक विचार-स्वातन्त्र्य तथा आत्म-निर्णय (Self-determination) के अधिकार का सरक्षक है। मनुष्य ने जिस दिन राज्य (State) का निर्माण किया, उस दिन उसने इच्छानुकूल आचरण करने की स्वतन्त्रता दे डाली, परन्तु अपना विचार-स्वातन्त्र्य तथा मत-प्रचार की आजादी अपने लिए रख छोडी। शासन-व्यवस्था का जन्मदाता और स्वामी मनुष्य ही है; इसलिए शासन-सचालको का धर्म है कि वे अपनी सीमा के भीतर ही अपना कर्तव्य-पालन करें और नौकर होकर उलटे मालिक के ही स्वत्वो का अपहरण न करें। अतएव जो सरकार प्रजा के विचार-स्वातन्त्र्य में बाधा पहुँचाती है, उसकी हालत उस पतित चाकर के समान है जो चौकसी की आड में मालिक की चोरी करता है। ऐसा नौकर बिला नोटिस बरखास्त करने लायक है, इसमें जरा भी शक नही।

जिस शासन-विधान में बहुमत के अनुसार अमलदारी नही लाई जा सकती, उसको मिटा देने के लिए दो ही साधन सम्भव है; सक्रिय और निष्क्रिय। 'डाइरेक्ट एक्शन' के यही दो रूप हो सकते है। असहयोग और निष्क्रिय भद्र अवज्ञा बाहरी रूप से क्रिया-शून्य प्रतीत होते हुए भी वे बड़ी गहरी मार करते है। अतएव वे भी 'डाइरेक्ट एक्शन' के ही

रूप-रूपान्तर हैं। लेकिन मनुष्य-जाति के इतिहास में अनियन्त्रित सत्ता को नष्ट करने में ऐसे निष्क्रिय साधन अमल में नहीं लाये गये। ऐसे साधनों के अवलम्बन में कठिनाई उस बात की है कि अनियन्त्रित सत्ताधारी हमेशा अपनी सेना के हिंसात्मक पशु-बल का ही प्रयोग अपनी दमन-नीति में किया करते है। यह सरकारी हिंसा विद्रोहियों में प्रतिहिंसा के भाव सहज ही जाग्रत कर देती है। यही कारण है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में अहिंसात्मक विद्रोह का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है। इसी कारण मनुष्य-जाति की राजनैतिक स्वतन्त्रता का इतिहास सभ्यता के प्रातःकाल से आज तक सक्रिय और हिंसात्मक सत्याग्रह का ही इतिहास है। राजसत्ता के विरुद्ध सामूहिक रूप से अहिंसात्मक विद्रोह खड़ा करने का प्रयास पहले-पहल गांधी जी के नेतृत्व में बीसवीं शताब्दी के हिन्दुस्थान में ही किया गया है।

नैतिक दृष्टि से यदि हम विचार करें तो अनियन्त्रित सत्ता को मिटा देने के लिए हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों साधन समान रूप से अपनी अपनी परिस्थिति में उचित हैं। ध्यान रहे कि राजसत्ता में आवश्यक उलट-फेर करने के ये दोनों साधन आपद्धर्म के रूप में ही स्वीकार किये जा सकते हैं। यथार्थ और सामान्य धर्म तो वैध ही हो सकता है। वैध उपायों के द्वारा जहाँ परिवर्तन करना शक्य न हो, वहाँ पर ही 'डायरेक्ट एक्शन' के रूप-रूपान्तरों का अवलम्बन लाचारी के साथ किया जाता है। जब लाचारी ही रही तो यही विवशता आगे चलकर परिस्थिति विशेष में औचित्य-पूर्वक हिंसात्मक रूप भी धारण कर सकती है। आपद्धर्म का यह अन्तिम रूप है और इसके पालन में जन-समाज को अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। फिर भी मौका पड़ जाने पर उन्हें इस हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन करना ही पड़ता है और इसलिए करना पड़ता है कि अनियन्त्रित सत्ता की जो बुराइयाँ जन-समाज को झेलनी पड़ती हैं, वे हिंसात्मक विद्रोह की बुराइयों से कहीं बहुत बढ़-चढ़कर बुरी होती हैं। अनियन्त्रित सत्ता तो मनुष्य के ठेठ मनुष्यत्व

पर ही आघात पहुँचाती है। उसके शिकजे मे पडकर मनुष्य गुलाम हो जाता है, उसकी स्वाभिमान-भावना नष्ट हो जाती है और कुछ काल के वाद ऐसे मनुष्य और पशु मे केवल आकार का ही अन्तर रह जाता है। ऐसी सत्ता के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह खडा करने से जन-हानि होती है, कष्ट भी जन-समाज को भोगने पडते है, कुछ काल के लिए अव्यवस्था भी फैल जाती है, परन्तु मनुष्यत्व सुरक्षित हो जाता है। फिर भी यदि मनुष्यत्व-सरक्षक वहुमत-सत्तात्मक शासन-व्यवस्था अहिंसात्मक साधनो से प्राप्त हो सके तो इसमे वढकर कोई वात ही नही। न सांप मरे न लाठी टूटे।

ऐसा अहिंसात्मक विद्रोह यदि शक्य हो तो सर्व-प्रथम इसी साधन को अमल मे लाना उचित है, क्योकि ऐसे आन्दोलन की कुछ ऐसी विशेषतायें है जो सशस्त्र विद्रोह मे नही पाई जाती। पहली विशेषता तो यह है कि इसमें जन-हानि कम से कम होती है, क्योकि हिंसा एक ही ओर रहती है और इसलिए विशेष वढ़ने नही पाती। दूसरी वात यह है कि ऐसे अहिंसात्मक आन्दोलन से समाज-व्यवस्था वहुत कम विगडती है, जन-समाज को अस्त-व्यस्त होने का वहुत कम भय रहता है। तीसरी और सवसे उत्तम वात ऐसे विद्रोह में यह होती है कि सभी अवस्था तथा श्रेणी के लोग ऐसे आन्दोलन में योग दे सकते है। हिंसात्मक विद्रोह में केवल सशक्त और शस्त्रधारी सिपाही काम आ सकते है, परन्तु उसके अहिंसात्मक रूप में नैतिक वल की ही आवश्यकता विशेष होती है। ऐसी दशा में स्त्री-वच्चे और वूढे भी अपना सामर्थ्य दिखा सकते है। इसी कारण ऐसा आन्दोलन व्यापक रूप से समूचे जन-समाज में विस्तार पा सकता है। चौथी विशेषता यह है कि जो राष्ट्र परतन्त्रता के पाश में पूर्णतया आवद्ध होकर निर्वल और निहत्था हो चुका है और जिसके हाथ से शस्त्र छिन गये है, उसके लिए ऐसा अहिंसात्मक साधन ही स्वातन्त्र्य-सम्पादन तथा सरक्षण के लिए आवश्यक नैतिक वल प्रदान कर सकता है। पांचवी विशेषता यह है कि अहिंसात्मक विरोध

संचालकों के द्वारा इच्छानुसार सहज ही रोका जा सकता है। इसके विपरीत हिंसा एक बार शुरू होकर रुकना जानती नहीं और उसका कहाँ पर किस रूप में कितने दिनों के बाद अन्त होगा, कोई नहीं कह सकता।

इस समय हिन्दुस्थान में जो विदेशी सत्ता शासन कर रही है, वह लोकमत की रचना नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह लोगो पर उनकी इच्छा के विरुद्ध लादी गई है। प्रस्तुत शासन-विधान के अन्दर प्रतिनिधि-सस्थायें विद्यमान तो है, परन्तु उनमें प्रतिनिधियों के बहुमत का आदर बिलकुल नही है। कुछ थोड़े से अधिकारी ही अपनी मनमानी कार्रवाई किया करते है और ऐसी कार्रवाइयो में प्रजा के हिताहित का विचार नही किया जाता।

आज से प्राय बीस वर्ष पहले तक इस देश का राजनैतिक आन्दोलन वैध उपायो का ही अवलम्बन करता आया था। हमारे नेताओ ने धारा-सभाओ में खूब विरोध प्रकट किया, बड़े प्रभावशाली और लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये, बहुमत से सरकारी मन्तव्यो को अस्वीकार किया, लोकहितकारी प्रस्ताव पास किये, पर उन सब वैध प्रयत्नो का कुछ भी परिणाम न निकला। नौकरशाही की अनियमित सत्ता ज्यों की त्यों पूर्ववत् बनी रही। तात्पर्य यह कि वर्तमान शासन-विधान में बहुमत की कोई कदर ही नहीं है, उसके बल पर साधारण अड़चनें भी दूर नही की जा सकती। यह हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो के प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमें मतभेद की ज़रा भी गुंजाइश नहीं। ऐसी हालत में यदि वैध मार्ग पर लोगो का आन्दोलन सदियो तक भी चलता रहे तो भी कोई सत्परिणाम नही निकल सकता। हिन्दुस्थान के शासन-विधान की यह नौकरशाही रचना बड़ी विचित्र है। इसका ऊपरी ढाँचा बिलकुल लोक-सत्तात्मक है। देखनेवाले को प्रजातंत्र के सभी बाहरी लक्षण इस योजना मे दृष्टिगत होते है। परन्तु इस मायावी रूप में छिपकर अनियन्त्रित सत्ता अपना काम कर रही है। लोकमत से वह किसी तरह प्रभावित ही नही होती।

ऐसी परिस्थिति मे प्रस्तुत शासन-विधान में यथोचित परिवर्तन करने का क्या उपाय है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यक्ष ही है। धारा-सभाओ में बिलख बिलख कर बोलनेवाले, वैधमार्गावलम्बी नरमदल के राजनीतिज्ञ असहयोग तथा भद्र-अवज्ञा का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोडते हैं और घबराहट के साथ कहा करते है, अरे यह तो अवैध (Unconstitutional) तरीका है। है तो सही, पर इसके सिवाय उपाय ही क्या है ? कुछ भी नही। युगधर्म के अनुसार भारतीय लोक-मत का प्रवाह प्रजातत्र की ओर वह रहा है। उसके अनुसार शासन-विधान में आवश्यक फेरफार होना ही चाहिए। यदि ऐसा अभिलषित परि-वर्तन कौंसिलो के द्वारा हो सके और इस तरह वर्तमान योजना का विकास (Evolution) सम्भव हो, तो इससे वढकर कोई उचित उपाय ही नही। लेकिन लोकमत का प्रवाह यदि अवरुद्ध हो जावे और धारा-सभाओ के द्वारा प्रजासत्ता स्थापित न हो सके तो क्रान्ति (Revolution) का होना अवश्यम्भावी है। नदी के वढते हुए प्रवाह को यदि हम किसी स्थान पर रोक दें तो वह समुद्र बनकर सहस्र धाराओ से इधर-उधर फूट पडती है। वाढ की रुकावट ही तो क्रान्ति पैदा करती है। इसका जिम्मेदार कौन हो सकता है, प्रवाह या उसे रोकनेवाला बांध ? प्रकृति की तो यही मशा है कि जगत् की प्रत्येक चीज अपनी तरक्की पर रहे। विकास ही जीवन का मूलाधार है। इस नैसर्गिक नियम की प्रेरणा से लोकमत भी अपने कल्याण-पथ पर प्रवाहित होता रहता है। इस प्रवाह को जो रोकता है वह आदमी विचार-क्रान्ति के लिए सारी परिस्थिति पैदा कर देता है। इस दृष्टि से यदि हम अपनी प्रस्तुत अवस्था पर विचार करे तो कहना पडेगा कि हिन्दुस्थान में इस समय विचार-क्रान्ति के जन्म-दाता यथार्थ में वे लोग है जो लोकमत की स्वाभाविक प्रगति के मार्ग में अनियन्त्रित सत्ता की अधी दीवार खडी किये बैठे है और समझते है कि इस तरह भारतीय राष्ट्रीयता की वाढ रुक जावेगी। यह आशा दुराशा-मात्र है, इसमें ज़रा भी सन्देह नही।

इसलिए हमारी यह निश्चित धारणा है कि जो प्रार्थनाशील, शान्तिवादी, राजनीतिज्ञ गांधी जी को वर्तमान परिस्थिति के लिए दोष देते हैं वे या तो नासमझ हैं या फिर सही बात कहने में उन्हें भय मालूम होता है। वर्तमान की विषमता तो अनियन्त्रित सत्ता के कारण ही उत्पन्न हुई है। मानव-जाति के इतिहास में लोकमत का प्रवाह जब जब और जहाँ जहाँ स्वेच्छाचारी शासकों के द्वारा अवरुद्ध हुआ है, तब तब और वहाँ वहाँ हिंसात्मक क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी है और उसके भयंकर दुष्परिणाम शासक और शासित दोनों को भोगने पड़े हैं। इस देश में भी कुछ वैसे ही लक्षणों का सूत्रपात हो रहा था। परन्तु हमारे सौभाग्य से देश का नेतृत्व एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के हाथों में आया, जिसने हिंसात्मक क्रान्ति की उठती हुई लहर तथा सार्वजनिक उद्वेग को अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढाँचे में ढाल दिया। भूगर्भ में प्रच्छन्न रूप से बहनेवाली क्रान्तिकारी हिंसात्मक विचारधारा न जाने किधर बहकर कैसे कैसे उपद्रव मचाती! गांधी जी ने उसे खोल दिया और उसे बाहर निकालकर प्रकट रूप से उसे अहिंसात्मक असहयोग और भद्र अवज्ञा के रूप में परिणत कर दिया। अतएव नरम दलवाले हिन्दुस्थानी राजनीतिज्ञ गांधी जी के वर्तमान आन्दोलन को अवैध भले ही मानें, परन्तु साथ साथ उन्हें यह भी मानना चाहिए कि अनिवार्य रूप से होनेवाली हमारी राष्ट्रीय विचार-क्रान्ति को सचालित करने का मानवोचित तरीका वही है, जिसे महात्मा जी ने स्वीकार किया है। उनके समान सुदूरदर्शी राजनैतिक नेता मनुष्य-जाति के इतिहास में शायद ही कहीं हुआ हो।

अपने नैसर्गिक अधिकारों के बिना मनुष्य अपने मनुष्यत्व का विकास नहीं कर सकता। कदाचित् वह मनुष्य ही नहीं रह जाता। जिस सामाजिक अथवा राजनैतिक परिस्थिति में लोगों को अपनी इन्सानियत से हाथ धो लेने की नौबत आ जावे, मनुष्यत्व का गला घुटने लगे, उस परिस्थिति में किसी भी तरह अपना उद्धार करना

जन-समाज के लिए बिलकुल स्वाभाविक है, उचित भी है। शरीर के छूट जाने पर मनुष्य नही मरता। उसकी वास्तविक मृत्यु तभी होती है, जब वह अपने मनुष्यत्व से गिर जाता है। स्वाभिमान से शून्य होना ही यथार्थ संज्ञा-शून्यता है। मनुष्य के समान जीवित रहने की इच्छा का लोप होना ही जन-समाज की सच्ची मृत्यु है। ऐसी मौत का मारा ऐसा भी मरता है कि फिर उसके लिए कोई आशा ही नही रह जाती। इस दुरवस्था से जन-समाज की रक्षा करने के लिए परिस्थिति के अनुरूप ऐसा कोई भी उपाय नही है जिसे हम अनुचित कह सकें। शासन-विधान जब तक स्वय विधि-पूर्वक सचालित होता है, तब तक वैधानिक प्रयत्न कारगर हो सकते हैं। परन्तु जब कोई सत्ता अनियत्रित होकर शासनोचित विधि से स्वय पराङ्मुख हो जाती है, तब उसके लिए वैध उपाय किसी मर्ज की दवा नही रह जाता। ऐसी दशा मे अपने न्यायानुमोदित अधिकार-रूपी सत्य पर आग्रह करने के लिए शान्तिपूर्ण असहयोग एव भद्रता-पूर्ण अवज्ञा से बढकर कोई मनुष्योचित उपाय ही नही है। महात्मा गाधी इसी पथ के प्रदर्शक है। उनका सिद्धान्त विमल और तर्क-सिद्ध है। आत्मबल के सिपाही को उसमे कवायद भी अच्छी होती है। भौतिक परतन्त्रता से बद्ध होकर भी इस मार्ग पर चलते हुए वह मनुष्योचित स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान का अनुभव करने लगता है। शरीर जेल की दीवारो के अन्दर परतत्र भले ही रहे, पर मनुष्यत्व खुली हवा मे विचरने लगता है। और जिसकी आत्मा मुक्त हो, उसे कैदी बनाकर बन्द कर रखना यथार्थ मे अपनी बुद्धि को ही नासमझी की कैद मे डालना है। अतएव असहयोग और भद्र अवज्ञा से भौतिक स्वराज्य अभी भले ही प्राप्त न हुआ हो, परन्तु इसमें तो अणुमात्र भी सन्देह नही कि भारत की अन्तरात्मा गाधी जी के नेतृत्व मे इन पन्द्रह वर्षों के अन्दर बहुत कुछ मुक्त हो चुकी है। उनकी बदौलत आज सहस्रो भारतीय नर-नारी आन्तरिक स्वतत्रता और नैतिक स्वराज्य का अनुभव कर रहे हैं। दासता के बन्धन से मनुष्यत्व के मुक्त हो जाने पर भौतिक पाश को टूटते देर नही

लगती। जो लोग इस बात को नही समझते और न समझकर वर्तमान भारत के स्वराज्य-सम्पादक नव-प्राप्त नैतिक बल को नही देख सकते, ऐसे सज्ञा-शून्य लोग ही कहा करते है कि गाधी जी का अहिसात्मक सत्याग्रह विफल हो गया। उनकी नासमझी सर्वथा दयनीय है। यदि स्वतत्रता हमे कल प्राप्त होगी तो आज की प्राप्त की हुई शक्ति ही कल हमारे काम आवेगी। जो लोग इतनी-सी बात नही समझ सकते, उन्हे कोई किस तरह समझावे, यही सोचकर हम भी इस प्रकरण को यही समाप्त कर देते है।

अध्याय २६

अहिंसा-धर्म

यदि कोई नजर उठाकर देखे तो प्राणि-ससार के सिंह-द्वार पर उसे एक सिद्धान्त-वाक्य दृष्टि-गोचर होगा। वह वाक्य है – 'जीवो जीवस्य जीवनम्' जीव ही जीव का जीवन है। यह जगत् अथ से इति तक जीवनमय है। जहाँ हमारी स्थूल इन्द्रियो को उसके प्रमाण मिलते है, वहाँ हम चेतनता का आरोप करते है, और जहाँ नही मिलते, वहाँ हम अज्ञान-वश जडता जड दिया करते है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच करने पर प्रतीत होता है कि खनिज पदार्थो के समान जडता-क्रान्त वस्तुओ में भी प्राणो का अस्तित्व है। जीवित प्राणियो के समान उनमें भी विकास और ह्रास के लक्षण दिखाई देते है। यह समूचा सृष्टि-प्रपच यथार्थ मे एक ही चेतन-सत्ता का रुपान्तर है। यह ब्रह्माण्ड-व्यापी सत्ता जगत् के प्रत्येक अणु-परिमाणु में समाई हुई है। कही पर वह प्रकट है, कही प्रच्छन्न है। जगत् मे जीवन की इस व्यापकता को एक वार अच्छी तरह हृदयगम कर लेने के वाद हम अनायास समझ सकेगे कि जीव-सृष्टि के उपर्युक्त सिद्धान्त-वाक्य का आशय अक्षरश सत्य है।

मनुष्य के लिए यह जानना वहुत कठिन है कि विश्व-व्यापिनी जीवन-शृङ्खला कितनी कडियो से वनी हुई है और हमारी जीव-सृष्टि कितने वर्गों में विभक्त है। फिर भी अपनी सीमित समझ के अनुसार मनुष्य उसके तीन वर्ग-विभाग वनाता है, खनिज, वनस्पति और प्राणि-ससार। प्रत्येक वर्ग में अगणित प्रकार के जीवधारी विद्यमान है। खनिज पदार्थो की अपेक्षा वनस्पतियो में प्राणो का विकास अधिक है और वनस्पतियो की वनिस्वत चलने-फिरनेवाले प्राणियो मे चेतनता की जाग्रति और भी अधिक है। मनुष्य जगम जीवधारियो में सवसे श्रेष्ठ

है। साकल्य-दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि उपर्युक्त तीनो प्रकार के प्राणी अपने निम्नवर्ती वर्गो पर अवलम्बित रहकर अपना भरण-पोषण किया करते है। खनिज पदार्थो का खाद्य बनाकर वनस्पति प्राणी पल्लवित होते है और वनस्पतियो का आहार करके जगम प्राणी जीवित रहते हैं। इसके सिवाय प्रत्येक वर्ग के अन्दर यह भी देखने मे आता है कि वडे और सवल प्राणी अपने से छोटे और निर्बल प्राणियो का भोजन किया करते है। यह वात जगम जीवधारियो मे विशेष रूप से दृष्टि-गोचर होती है। पानी की छोटी-छोटी मछलियो को वडी-वडी मछलियाँ खा जाती है। जगल के कई शाकाहारी जानवरो को हिंसक पशु खा जाते है और पृथ्वी के छोटे-छोटे कीडो को वडे-वड़े पक्षी मारकर निगल जाते है। सवसे चालाक और चेतन होने के कारण मनुष्य-प्राणी इतर प्रकार के कई जीव-धारियो को भूज-पकाकर खा जाता है। स्थावर और जगम दोनो प्रकार के प्राणी उसके लिए खाद्य का काम देते है। इस प्रकार सृष्टि मे सवल जीवधारी अपने से निर्वल प्राणियो का कलेवा किया करते है। यही नियम प्राणि-ससार मे यत्र-तत्र और सर्वत्र प्रचलित है। इस नियम की सर्व-व्यापकता से प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वान्वेषी फ्रेडरिक निट्शे इतना प्रभावित हुआ था कि उसने मानवी सभ्यता की मीमासा और जन-समाज के भावी उत्कर्ष की कल्पना जीव-हिंसा के आधार पर ही कर डाली है। उसके मतानुसार अशक्त प्राणियो की सृष्टि इसी लिए हुई है कि वे अपने से प्रवल जीव-धारियो का खाद्य वने और आत्म-समपर्ण के द्वारा जीवन-विकास में सहायक हो। मनुष्येतर जीवधारियो की तो कोई वात ही नही, कमजोर मनुष्यो से भी फ्रेडरिक निट्शे ने जीने का अधिकार छीन लिया है। उसका कहना है कि अशक्त मनुष्य जन-समाज में भार-रूप है। उनका उपयोग केवल इतना ही है कि वे अपने को मिटाकर कुछ थोडे से सशक्त और सामर्थ्यवान् मनुष्यो को 'सुपर मैन' की प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे सहायक हो। समर-क्षेत्र की परीक्षा में जो राष्ट्र उत्तीर्ण हो, उसी को जीने का अधिकार है। अतएव मानव-

समाज का उत्कर्ष-साधन युद्ध के बिना सम्भव नही है। शक्तिमान् होने का सकल्प (Will to Power) ही निट्शे के मतानुसार जीवन का मूलमत्र है।

इस जर्मन विद्वान् के विचारो की मीमासा हमे यहाँ पर अभीष्ट नही है। फिर भी यह मानने मे किसी को कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए, कि यह जीवन अथ से इति तक हिंसामय है। प्रकृति के विस्तृत साम्राज्य मे सभी स्थानो पर शिकारी प्रवृत्ति ही काम करती हुई दिखाई देती है। यह ससार क्या है, एक आखेटगाह है। पशुओ को तो हम छोड ही दे, क्योकि वे अज्ञानी है। सभ्य मनुष्य-समाज मे भी अपने से अशक्तो को दबाकर सशक्त और प्रभावशाली लोग अपने उत्कर्प-साधन के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते है। जहाँ देखो वही बलवानो का बोलबाला है। शरीर-शक्ति से सम्पन्न लोग सिपाही बनकर और श्री-शक्ति से समर्थित आदमी शासक होकर निर्बल जन-साधारण पर अपनी प्रभुता का आतक जमाये हुए उच्चासन पर आसीन है। अधिकारी वे है, जो धन-जन-शक्ति से सम्पन्न है और अधिकृत वे है जो अशक्त और साधन-हीन है। 'विल टु पावर' का प्रत्यक्ष प्रमाण सभ्य जन-समाज मे भी दृष्टिगत होता है। अपने भौतिक जीवन-निर्वाह के लिए भी मनुष्य हिंसात्माक आचरण किया करता है। यदि एक बार वह अपने जीवन को पूर्णतया अहिंसात्मक बनाने का निश्चय भी कर ले, तो भी उसकी परिस्थिति उसे हिंसा के लिए लाचार कर देती है। अपने प्रत्येक श्वास के साथ लाखो कीटाणु हम अपने फेफडो के अन्दर ले जाते है। पानी की प्रत्येक घूँट मे हम अगणित जीवो को उदरस्थ किया करते है। पृथ्वी पर चलते-फिरते ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे हम सैकडो प्राणियो के प्राण लिया करते है। साराश यह कि सहृदय और सावधान मनुष्य के लिए भी सर्वथा अहिंसात्मक जीवन असम्भव है। इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए गाधी जी आत्मकथा में लिखते है —

"अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी है

जो हिंसा की होली मे फँसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नही है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते तमाम क्रियाओ में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावना में अनुकंपा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरतर सयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरतर बढती रहेगी, परन्तु इसमे सदेह नही कि कोई भी जीव-धारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नही हो सकता।"

—(आत्मकथा भाग २ पृष्ठसख्या, २१२)

ससार की जिस परिस्थिति मे हमे अपना जीवन-निर्वाह करना पडता है उससे यदि ईश्वरीय मन्तव्य के सम्बन्ध में हम कुछ तात्पर्य निकाल सकें, तो कहना पडेगा कि उस सृष्टि-विधाता को भी किसी मर्यादा तक हिंसा मान्य है। हवा, पानी तथा शाक-पात के बिना हम नहीं जी सकते और इनके उपयोग मे हिंसा बिलकुल अनिवार्य है। पृथ्वी पर चलना-फिरना छोड देना भी हमारे लिए सम्भव नही। अतएव जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति में जो जीव-हिंसा हमें करनी पडती है, उसके लिए धर्म-शास्त्र हमे दोषी नही ठहराता। आत्म-रक्षा के लिए जो हिंसा आवश्यक है वह उचित भी है, यदि हम ऐसा कहे तो अनुचित न होगा। यदि सृष्टि-कर्त्ता की मशा ऐसी हिंसा के विरुद्ध होती, तो वह हमारे भरण-पोषण के अनिवार्य साधनो मे जीवन की सृष्टि ही न करता। हवा और पानी में जीते-जागते कीटाणुओ का अस्तित्व ही न होता। यही बात मनुष्येतर प्राणियो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

फिर भी मनुष्य-शरीर की रचना को देखकर हम कह सकते है कि प्रकृति की यह मशा नहीं है कि मनुष्य इतर प्राणियो का शिकार

करके अपना उदर-पोषण करे। न तो उसके दाँत ही इतने तीक्ष्ण होते हैं, न फिर उसके नाखून ही ऐसे लम्बे और नुकीले होते हैं कि जिनसे वह पशुओ का शिकार कर सके। सिंह, व्याघ्र तथा चीते की शरीर-रचना को देखकर हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि उनके रचयिता ने उन्हें शिकार ही के द्वारा जीवन-निर्वाह करने के योग्य बनाया है। परन्तु गाय, बैल, घोड़ा, बन्दर तथा बकरे की शरीर-रचना मे उनके ईश्वरोद्दिष्ट अहिंसात्मक जीवन की सूचना प्रत्यक्ष ही मिलती है। फिर भी ध्यान रहे कि पूर्णतया अहिंसात्मक जीवन उनका भी नही हो सकता, क्योंकि घास-पात के समान प्राणियो की हिंसा तो उन्हे करनी ही पडती है। परन्तु ईश्वर-सम्मत हिंसा की मर्यादा का उल्लघन वे नही करते। ऐसे जीवधारियो मे मनुष्य सर्व-श्रेष्ठ प्राणी है, लेकिन खेद की बात है कि मनुष्य ही ईश्वर-निर्दिष्ट सीमा का उल्लघन करता है। तेज दाँत और नुकीले नखो के अभाव की पूर्ति अपने बनाये हुए शस्त्रो से करके वह इतर प्राणियो का अनावश्यक वध किया करता है। मानव-जाति का यह अपराध अक्षम्य है।

लेकिन मनुष्य एक विचित्र प्राणी है। अपनी पतित और असभ्य अवस्था मे जहाँ वह पशुओं से भी गया बीता है, वहाँ अपनी सभ्य और उन्नत दशा में वह ईश्वर का बिलकुल निकटवर्ती भी हो जाता है। अपनी उदार सस्कृति और परमेश्वर-सान्निध्य की बदौलत उसे मानव-धर्म की पहचान् हो चुकी है और वह इस बात को कम से कम समझने लगा है कि हिंसामयी जीव-सृष्टि मे अहिंसा परम से परम धर्म है। इसमे सन्देह नही कि अहिंसा-धर्म मानव-सभ्यता का सबसे ऊँचा शिखर ह। जिस दिन मनुष्य को इस धर्म की पहचान हुई, उस दिन वह विचार-दृष्टि से कृतार्थ हो गया। अहिंसा मानव-धर्म का साराश है। धर्म के अनेक रग और रूप हैं। उसकी सीढियाँ और रूढियाँ भी अनेक हैं। लेकिन उन सबका यदि साराश निकाले, तो वह अहिंसा के रूप में ही निकल सकता है। जो मनुष्य इसका पूरा पूरा पालन कर सकता

है, वह परमात्मा के ही समान शुद्ध और बुद्ध है, इसमे अणु-मात्र भी सन्देह नही।

अहिंसा से उच्चतर आदर्श धर्म की कल्पना भी असम्भव है। अतएव इस धर्म का तात्त्विक रहस्य क्या है, इसे अच्छी तरह समझ लेना जरूरी है। जब तक मनुष्य अपने व्यक्ति-गत जीवन को सर्वोपरि समझता है और उसके हृदय मे "मै-तू" की भेद-भावना विद्यमान रहती है, तब तक वह स्वार्थ और परार्थ के बीच गहरी खाई खोद कर रख छोडता है। जब तक वह यह समझता है कि मुझे दूसरो के सुख-दुख से मतलब नही, मुझे अपना ही स्वार्थ-सिद्ध करना है और इसी में मेरी भलाई है, तब तक वह दूसरो के स्वार्थ-घात करने मे कुछ भी सकोच नही करता। लेकिन जिस दिन उसे पूर्व-कृत स्वार्थ-सम्पादक कर्मों के अनुभव से इस बात की प्रतीति हो जाती है कि मै दूसरो को कष्ट पहुँचाकर स्थायी और यथार्थ सुख का अधिकारी नही हो सकता तथा मेरे और इतर प्राणियो के हितो मे कोई स्वार्थ-विरोध नही है, उसी दिन उसके हृदयाकाश मे अहिंसा-धर्म का सूर्योदय होता है। वही दिन उसके अमर जीवन का प्रातःकाल है। इस प्रभात-काल के प्रकाश मे मनुष्य को इस बात का अनुभव होता है कि समूचे ससार मे एक ही परमात्मतत्त्व व्यापक है, भिन्न-भिन्न प्राणियो में एक ही परमात्मा का निवास है और इस कारण उन सबका स्वार्थ भी एक ही है। प्राणि-ससार के एकीकृत स्वार्थ को ही परमार्थ कहते है। अतएव परमार्थ ही वास्तविक स्वार्थ है, और प्राणि-ससार का श्रेय स्वार्थ की इस व्यापक और उदार कल्पना एव तत्प्रेरित आचरण से ही सिद्ध हो सकता है। इस आत्मोपम्य-बुद्धि के प्रखर प्रकाश मे मनुष्य यह समझने लगता है कि इतर प्राणियों को आघात पहुँचाकर मैं स्वय अपना ही घात कर रहा हूँ। अहिंसा-धर्म के मूल में यही तात्त्विक धारणा विद्यमान रहती है। यही उसका वैज्ञानिक रहस्य भी है। इसे समझनेवाला किसी भी दूसरे प्राणी को ज्ञात रूप से किसी भी तरह

का कष्ट नही पहुँचा सकता। उसके लिए अहिंसा परम धर्म हो जाती है।

भारतीय आर्यों की संस्कृति सबसे प्राचीन है और अहिंसा-धर्म के आविष्कार का श्रेय भी इसी सभ्यता को दिया जा सकता है। वेदो में अहिंसा के मौलिक रूप के दर्शन होते हैं। वैदिक मत्रो मे यत्र, तत्र सन्निहित अन्तर्दर्शी सिद्धान्तो के आधार पर ही आगे चलकर उपनिषदो ने अद्वैत-धर्म का प्रतिपादन किया। वेदान्त-कृत ब्रह्म-निरूपण के दिव्य प्रकाश में अहिंसा-धर्म की प्रखरता ऐसी बढ गई जैसी कि खान से निकाले हुए सोने की चमक और निर्मलता आग में तपाने के बाद बढ जाती है। उपनिषदो के अद्वैत-वाद ने 'वैदिकी हिंसा' को भी हेय सिद्ध कर दिया। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर विचारवान् लोगो के हृदय में धर्म के नाम पर होनेवाले वैदिक यज्ञ-याग-सम्बन्धी पशु-वध से अनास्था होने लगी और उत्तरोत्तर बढती हुई वह जैनाचार्य महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध के उपदेश-वचनो में परिणत हो गई। इन दोनो सम्प्रदायो की रचना वेदान्त-प्रेरित थी और वह विकृत वैदिकी हिंसा के विरोध में ही की गई थी। आर्य-धर्म के अन्तर्गत इन्ही दोनो सम्प्रदायो की सयुक्त प्रेरणा से अहिंसा-धर्म को पहले से भी अधिक प्रतिष्ठा का स्थान मिल गया।

इस सक्षिप्त भूमिका के बाद अब हम इस बात पर विचार करना चाहते है कि अहिंसा-धर्म का वास्तविक रूप क्या है। परन्तु अहिंसा-सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के पहले हम यह निश्चय कर ले, कि धर्म किसे कहते हैं। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना हुआ है और 'धार्यते अस्मिन्निति धर्म' ऐसी उसकी शाब्दिक व्याख्या की जाती है। जिन सिद्धान्तो के आधार पर इस समूचे विश्व-प्रपच का धारण तथा भरण-पोषण होता है, उन्ही के समुच्चय को धर्म कहते है। 'धर्म' की इस शाब्दिक व्युत्पत्ति से उसके चरम लक्ष्य और निश्चित रूप का ज्ञान नही होता। अतएव उसका विशेष स्पष्टीकरण आचार्यो ने यह कह कर

किया है कि 'यतो अभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्मः'। जिन नियमों के सम्यक् पालन से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो, उसे धर्म समझना चाहिए। जन-समाज के ऐहिक उत्कर्ष को अभ्युदय और पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक कल्याण को निश्रेयस कहते हैं। इस दृष्टि से धर्म उसे कहना चाहिए जिसके अनुसार आचरण करनेवालों का आधिभौतिक अभ्युदय और आध्यात्मिक श्रेय दोनों एक साथ सिद्ध हों। धर्म की इस परिभाषा में यह बात बड़े मार्के की है और इसे कभी न भूलना चाहिए। सर्व-साधारण लोगों की न जाने क्यों ऐसी धारणा बन गई है कि इहलोक और परलोक दोनों में स्वार्थ-विरोध है, अतएव जब तक मनुष्य सामाजिक, पारिवारिक तथा कौटुम्बिक जीवन से उदासीन न हो जावे, तब तक वह आध्यात्मिक मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। हमें तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन सांख्य-योग के समर्थक कर्म-सन्यासी ज्ञानियों की बदौलत ही यह भ्रान्त धारणा जन-समाज में फैल गई है। जो हो, धर्म की इस पूर्ण, संक्षिप्त और वैज्ञानिक परिभाषा को अच्छी तरह सोच-समझकर इस बात को हमें सदैव के लिए हृदयंगम कर लेना चाहिए कि धर्म का वही रूप यथार्थ है जिसके पालन से हम समष्टिगत उत्कर्ष और व्यक्तिगत मोक्ष दोनों एकसाथ सिद्धकर सकतेहैं।

उपर्युक्त पारिभाषिक लक्षण से प्रतीत होता है कि मानव-धर्म का पूरा-पूरा पालन वही मनुष्य कर सकता है जो अपने कुटुम्ब, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के अभ्युदय में यथाशक्ति योग देते हुए इस योग के द्वारा अपना वैयक्तिक मोक्ष-सम्पादन करता है। क्योंकि धर्म का पूर्ण रूप तो वही है जिसके द्वारा सामाजिक अभ्युदय और पारलौकिक निश्रेयस दोनों एक साथ सम्पादित हों। इनमें से यदि एक भी छूटा तो धर्म का रूप खण्डित और अपूर्ण हो जाता है। ऐसे अपूर्ण धर्म का पालन न तो अभ्युदय दे सकता है न फिर मनुष्य को निश्रेयस का अधिकारी ही बना सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतीत तथा वर्तमान जन-समाज की संचित विचार-सम्पत्ति के द्वारा ही वह अपना मनुष्यत्त्व

प्राप्त करता है। भेडियो की माँद में पले हुए मानवी बच्चो का वर्णन जिन लोगो ने पढा होगा, उन्हे यह अनायास प्रतीत हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने मनुष्यत्व के लिए जन-समाज का कितना आभारी है। इस समाज-ऋण से मनुष्य तभी मुक्त हो सकता है जब वह समाज से प्राप्त की हुई अपनी शिक्षा-दीक्षा का उपयोग समाज-सेवा मे ही करता है। 'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'। इसके सिवाय यदि हम मनुष्य की व्यक्तिगत अध्यात्म-दृष्टि से भी विचार करें तो प्रतीत होता है कि मोक्ष-पद के लिए अनिवार्य दैवी सम्पत्ति का अर्जन लोक-सेवा के द्वारा ही साध्य और सम्भव हो सकता है। निर्गुण एवम् निर्बाध परमात्म-तत्त्व का अनुभव मुमुक्षु को सहसा नही हो सकता। उसके पहले उसे परमात्मा के सापेक्षिक और सगुण रूपो की अनन्य निष्ठा से आराधना करनी पडती है। इसी को प्रचलित शब्दो में लोक-सेवा कहते है। ससार के मनुष्य, पशु, पक्षी तथा इतर प्राणी परमात्मा के सापेक्षिक रूप ही है। जिस मनुष्य को इन सगुण रूपो की पहचान तथा उनसे प्रेम नही, वह निर्गुण ब्रह्म-रूपी निर्बाध सत्य का साक्षात्कार कर ही कैसे सकता है? तात्पर्य यह कि भूत-दया तथा तत्प्रेरित लोक-सेवा के द्वारा ही मनुष्य उन दैवी गुणो का अर्जन कर सकता है जिनके द्वारा वह आत्म-शुद्धि करता हुआ अन्ततोगत्वा ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है। अतएव आत्मा का उत्कर्ष-साधन सामाजिक क्षेत्र में ही सम्भव है। हाँ, इतनी बात मान्य हो सकती है कि लोक-सेवा के द्वारा यथोचित आत्म-शुद्धि के पश्चात् कोई ऐसा समय मनुष्य के लिए आसकता है, जब उसे जन-समाज से अलग होकर आत्म-चिन्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हो। कर्म-योग-मार्ग के प्रतिपादको को तो इतना भी ससार-त्याग स्वीकार नही है। उनका मत है कि निष्काम-भावना से लोक-सग्रह करना मनुष्य कभी छोडे ही नही। अन्त तक कर्म-शील रहकर उसे लोक-सेवा करनी ही चाहिए। यही भगवद्गीता-प्रतिपादित कर्म-योग-मार्ग है। इसे अनासक्ति-योग भी कह सकते है।

प्रस्तुत प्रसग पर सांख्य-योग और कर्म-योग-सम्बन्धी परम्परागत प्राचीन विवाद को छेड़ना हमे अभीष्ट नही है। हम तो यहाँ पर दोनों की उपादेयता स्वीकार कर लेते है। जिस सिद्धान्त के आधार पर भारतीय आर्यो ने वर्णाश्रम-धर्म की रचना की है उसे दोनो मार्ग मान्य है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन का अधिकांश समय गृहस्थी के कर्म-योग में व्यतीत करके अन्त में कर्म-सन्यास के लिए भी कटिबद्ध होना पडता है। जीवन के इस आश्रम-विभाग के अनुसार धर्म का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। जिस धर्म का पालन हमें गृहस्थ-जीवन में करना पडता है उसे व्यावहारिक धर्म अथवा नीति-धर्म भी कहते हैं और जिसका अनुसरण करना हमें सन्यासी-जीवन में उचित है, उसे आदर्श धर्म अथवा आध्यात्मिक धर्म भी कह सकते है। इस तरह आर्य-सभ्यता के अनुसार मानव-धर्म के दो रूप होते है। पहला व्यावहारिक दूसरा आदर्श। जिस समय एक गृहस्थ की हैसियत से हम जन-समाज के बीच रहते हैं। उस समय हमारे ऊपर कई प्रकार की कौटुम्बिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ रहती है। उनका यथोचित निर्वाह करना प्रत्येक गृहस्थ का परम से परम कर्त्तव्य है। यथार्थ में गृहस्थ-जीवन की सफलता पर ही सच्चे सन्यास की नीव डाली जा सकती है। सफल कर्म-योगी ही सच्चा कर्म-सन्यासी हो सकता है। जो मनुष्य नीति-धर्म के पालन में सक्षम नही है, उसे आदर्श धर्म कभी ग्राह्य नही हो सकता। अतएव जिसके हृदय में सच्ची धर्म-जिज्ञासा जाग्रत हो चुकी है, उसे चाहिए कि वह मानव-धर्म के इन दो स्वरूपों के अन्तर्गत महत्त्व को अच्छी तरह समझ ले; अन्यथा धर्म-भ्रान्ति हो जाने के कारण मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

जिसे हम नीति-धर्म अथवा व्यावहारिक धर्म भी कहते हैं और जिसकी योजना ससार में रहनेवाले कर्म-योगी गृहस्थो के लिए की गई है, उसकी बुनियाद मानव-धर्म के चिरतन सिद्धान्तो पर ही डाली गई है। उसके पालन में देश, काल और पात्र का विचार करना पडता है।

अतएव आदर्श धर्म का मर्यादित रूप ही नीति-धर्म कहलाता है। इसे व्यावहारिक धर्म इसलिए कहते हैं कि जन-समाज में रहनेवाले सज्जनो और दुर्जनो के बीच इसी धर्म का पालन हो सकता है। पिता-पुत्र, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र, समाज-सुधारक, सेनानी तथा राष्ट्र-सेवक की भिन्न-भिन्न हैसियतो मे हमें कई प्रसगो पर कई प्रकार के कर्त्तव्यो का निर्वाह करना पडता है। ऐसे भी अवसर आते हैं जब दो प्रकार के कर्मों के बीच हमे यह निर्णय करना पडता है कि इनमें से कौन-सा कर्त्तव्य है और कौन-सा अकर्त्तव्य है। ससार के कर्म-क्षेत्र में हमारे समर्थक और विरोधी दोनो हुआ करते हैं। अपने आचरण में हमें केवल अपना ही नही, जन-समाज के हिताहित का भी विचार करना पडता है। यथार्थ में लोकहित की सर्वोपरि भावना से ही हमें इस क्षेत्र मे काम करना चाहिए। यद्यपि समाजगत व्यावहारिक धर्म का पालन हमारे व्यक्तिगत आध्यात्मिक मोक्ष का साधन ही है, तथापि व्यवहारवादी कर्मयोगी के लिए जन-समाज के समष्टिगत सुधार का प्रयत्न अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। इस व्यवहार-धर्म के पालन में लोक-हित की भावना को सर्वोपरि रखते हुए हमें आदर्श धर्म को देशकाल तथा पात्र के विचार से मर्यादित करना पडता है अथवा यो कहे कि उसे व्यावहारिक रूप देना पडता है। उदाहरण के लिए, आदर्श धर्म कहता है कि मनुष्य को सच बोलना चाहिए। परन्तु नीति अथवा व्यवहार-धर्म के अनुसार हम अपने विरोधियो से अपने दिल का हाल नही कह सकते। लोक-सग्रह की भावना से बनाये हुए मन्तव्य विरोधी दुरा-चारियो के सामने प्रकट हो जाने के कारण कई प्रसगो पर विफल हो जाते हैं। अतएव व्यवहार-धर्म के अनुसार दिल की बात कहने के पहले इस बात पर हमें विचार करना पडता है कि हम किस स्थान (देश) पर किस समय (काल) और किससे (पात्र) बातें कर रहे है और क्या कहने का परिणाम क्या हो सकता है। परन्तु जिस समय हम कर्मों का सन्यास करके ससार से अलग हो जाते हैं, उस समय हमारा कोई विरोधी

नही रह जाता, क्योंकि हम सघर्ष, षड्यन्त्र और विरोध के सामाजिक क्षेत्र से ही बाहर निकल जाते है। हमारे कन्धो पर सामाजिक जिम्मेदारियाँ भी नही रह जाती। कर्म-सन्यासी का जीवन व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन है। इसी अवस्था में हमे आदर्श धर्म का पालन करना चाहिए, कर भी सकते है। ऐसे त्याग-शील मनुष्य के विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन मे देश, काल और पात्र पर विचार करने की आवश्यकता ही नही रह जाती। उसकी दृष्टि में सभी मित्र प्रतीत होते है। 'निर्वैर सर्वभूतानाम्'। जब सभी मित्र है तो किसी से दिल छुपाने की जरूरत! अतएव सत्य-वादिता के आदर्श धर्म का पालन समाज-विरक्त कर्म-सन्यासी ही कर सकता है। इन सब बातो का साराश यह निकला कि सदैव सत्य-भाषण करना आदर्श धर्म है और यह कर्म-सन्यासियो के लिए ही आवश्यक, उचित और व्यवहार्य है। परन्तु देश, काल और पात्र का विचार न करते हुए हमेशा अपने हृदय की बात कह देने से अर्थात् सच बोलने से कर्मयोगी समाज-सेवक को कई प्रसगो पर सच कहकर ही कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जाना पडता है। उदाहरण के लिए, मै कुछ स्त्री-बच्चो को साथ लेकर यात्रा कर रहा हूँ। मुझे रास्ते में डाकुओ के आक्रमण की सूचना मिलती है। मै स्त्री-बच्चो को किसी झाडी में छिपा देता हूँ। डाकू आते है और पूछते है कि तुम्हारे साथ और कौन-कौन है और कितना सामान है। मै उत्तर देता हूँ कि मै अकेला ही हूँ और मेरे पास कुछ भी सामान नहीं है। सुनकर डाकू चले जाते है। प्रश्न उठता है कि झूठ बोलना यहाँ पर मेरे लिए धर्म्म हुआ या अधर्म्म? नीति-शास्त्र उत्तर देगा कि ऐसे प्रसगो पर सच बोलने से बढकर कोई पाप नही, झूठ बोलना ही धर्म है। कर्म-सन्यासी के लिए ऐसा मौका ही नही आ सकता। न तो उसके सरक्षण में स्त्री-बच्चे ही रहते है न उसके पास कोई माल-असबाब ही रहता है। एकआध वस्त्र या कमण्डल पास में रहा भी, तो उन्हे लूटने की परवाह न तो डाकू ही करेंगे, न फिर दे डालने की चिन्ता सन्यासी महोदय को ही हो सकती है। बहुत सम्भव है कि

साधु की वेष-भूषा देखकर डाकू प्रणाम-पूर्वक चलते बनें। लेकिन यदि इन्ही सन्यासी महोदय को किसी मौके पर अपने सरक्षण मे स्त्री-बच्चो को लेकर चलने की नौबत आ जावे, तो उन्हे भी उसी नीति-धर्म का पालन करना पडेगा और असत्य-भाषण भी करना होगा। इस तरह कई उदाहरण सासारिक जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो से दिये जा सकते है। समाज-सेवक तथा राष्ट्र-नेता की हैसियत से हमे कई लोगो के विरोध का सामना करना पडता है, उनके अनेको षड्यत्रो और गुप्त योजनाओ से वचना और जन-समाज को वचाना पडता है। इसी कारण समाज-सरक्षको के लिए राजनीति की रचना हुई है। यह नीति सार्वजनिक शान्ति, प्रगति तथा भौतिक उत्कर्ष की दृष्टि से निर्धारित हुई है। इस नीति के अनुसार सत्यासत्य का निर्णय सार्वजनिक हित की दृष्टि से ही करना पडता है। अतएव एक राजनैतिक नेता के लिए सच वोलना कोई ऐसा नियम नही है जो विलकुल निरपवाद हो। ऐसे मनुष्य का सर्वोपरि धर्म लोक-हित है। उसके लिए वही सत्य है। कर्मयोगी जीवन के नीति-धर्म का साराश देते हुए नारद जी कहते है —

'सत्यस्य वचन श्रेय सत्यादपि हित वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्त एतत्सत्य मत मम'॥

मौखिक सत्य सत्य नही, लोक-हित ही यथार्थ सत्य है। यदि लोकहित का कार्य-क्षेत्र छोडकर मनुष्य सन्यासी हो जावे, तो उसके लिए ऐसे अपवाद के प्रसग ही नही आते। ऐसे ही आदमी के लिए सच वोलना निरपवाद आदर्श धर्म हो सकता है।

धर्म के दूसरे रूप 'अस्तेय' का उदाहरण लीजिए। आदर्श मानव-धर्म का आदेश है कि कोई किसी की चोरी या छीना-झपटी न करे। 'मा गृध कस्यस्विद्धनम्'। परन्तु समाज-सेवक कर्म-योगी के लिए नीति-धर्म कई प्रसगो पर कुछ और ही आदेश देता है। मान लीजिए कि नगर में दुर्भिक्ष पडा हुआ है और सैकडो की तादाद में लोग क्षुधा से मरते जा रहे है। वस्ती में दस-बीस श्रीमान् ऐसे है जिनके पास

लाखों मन अनाज तथा इतर आवश्यक सामग्री संचित हैं, परन्तु उनमें इतनी उदारता नहीं है कि वे क्षुधार्त जन-समाज की रक्षा में उसका उचित उपयोग करें। ऐसी दशा में समाज के सदाचारी का क्या कर्तव्य होना चाहिए? लोगों को यों ही मरने दें और उधर लाखों मन अनाज संचित होकर सड़ता रहे? कदापि नहीं। ऐसे कठिन प्रसंग परलोक-हित की दृष्टि से श्रीमानों के पास से उनकी सम्पत्ति छीन कर गरीबों की रक्षा करना ही परम कर्तव्य है। यदि ऐसे मौके पर कोई सदाचार-प्रिय मनुष्य 'अस्तेय' के सिद्धान्त पर अड़ा रहे, तो समझना होगा कि उसे धर्म की शाब्दिक काया ही दिखाई देती है, धर्म की आत्मा उसकी आंखों से ओझल है। उसका मर्म वह समझता ही नहीं।

धर्म-सन्यासी समाज-संरक्षण के उत्तरदायित्व से अछूता रहता है। इस कारण वह अस्तेय-धर्म का अक्षरशः पालन कर सकता है। यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है कि एक सन्यासी भी ऐसे विस्तृत रूप में जन-नाश को उदासीन भाव से देख सकता है या नहीं। फिर भी यदि उसकी दृष्टि में जन-समाज में होनेवाली जन्म, मरण तथा रचना और सहार की क्रियायें बराबर हो गई हैं और इन सब घटनाओं को वह माया का खेल समझता है, तो वह औचित्य-पूर्वक उदासीन भाव से श्रीमानों के भोग-विलास तथा दरिद्रों के करुण-क्रन्दन—दोनों को नगण्य मानकर समान दृष्टि से देख सकता है। परन्तु एक लोक-सेवक और गृहस्थ कर्म-योगी ऐसा नहीं कर सकता। उसे नीति-शास्त्र प्रतिपादित व्यवहार-धर्म का पालन करना होगा। अन्यथा वह धर्मोपदेश के शाब्दिक पालन के फेर में पड़कर धर्म-भ्रष्ट हो जाता है।

दानशीलता भी धर्माचरण का एक महत्त्व-पूर्ण अंग है। दरिद्र और असमर्थ लोगों को भोजन-वस्त्र दान करना बड़े पुण्य का काम माना जाता है। श्रीमानों के द्रव्य की सार्थकता इसी बात पर मानी गई है कि वह ग़रीबों के काम आवे। लेकिन फिर भी नीति-शास्त्र की दृष्टि से ऐसा नहीं कह सकते कि इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। जन-समाज

में कई दरिद्र और अकर्मण्य लोग ऐसे भी होते हैं जो श्रीमानो की दानशीलता का दुरुपयोग किया करते है। अतएव विना विचारे हर किसी को दान देने का परिणाम बुरा होता है । समाज के निकम्मे और निठल्ले आदमियो मे अकर्मण्यता फैलती है। इस कारण प्रत्येक दान-वीर का यह धर्म है कि किसी को कुछ देने के पहले देश, काल और पात्र का विचार करे। 'देशे काले च पात्रे च यद्दान सात्विक विदु,न' योगेश्वर कृष्ण के मतानुसार विवेक-शून्य दान-शीलता धर्म-सगत नही हो सकती। कोई दानी यह कह कर आत्म-तोष नही मान सकता कि मैंने अमुक आदमी को दान देकर अपना कर्तव्य-पालन ही किया है, मुझे क्या गरज़ पडी है जो मैं इस वात की चिन्ता करूँ कि वह आदमी मेरे दिये हुए द्रव्य का क्या उपयोग करता है। किसी सशक्त और जवान आदमी को व्यर्थ ही द्रव्य देने की अपेक्षा वेहतर है कि उससे काम लेकर मज़दूरी के रूप में उसे कुछ दिया जावे। द्रव्य का उपयोग इस रूप में करने से वह व्यर्थ भी नही जाता और पानेवाले के मनुष्यत्व पर किसी तरह का आघात भी नही पहुँचता। कर्म-योगी के लिए दान-सम्वन्धी, यही नीति-धर्म है। कर्म-सन्यासी के सामने द्रव्य-दान का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

भूत-दया और क्षमा-शीलता भी सदाचार के महत्त्वपूर्ण अग है। समस्त प्राणियो को 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' समझकर उनके प्रति दया और क्षमा का व्यवहार करना सिद्धावस्था का लक्षण माना गया है। यह भी कहा जाता है कि समाज के अधिकारी और सामर्थ्यवान् पुरुषो को दयालु और क्षमाशील होना चाहिए। लेकिन इस नियम के भी अनेक अपवाद हो सकते है। यदि कोई व्यक्ति क्षणिक आवेश में आकर प्रमाद-वश कोई भूल या अपराध कर वैठे और उसके लिए जीवन में वह पहला ही प्रसग हो, तो ऐसे मनुष्य के प्रति क्षमाशील होने का परिणाम सभवत अच्छा हो सकता है। परन्तु जिस मनुष्य के हृदय में कुत्सित भावना भरी हुई है और जो दुर्वृत्ति से प्रेरित होकर अपने दुष्कर्म के

परिणाम को जानते-समझते हुए भी स्वार्थवश कोई अपराध करता है तो उसके प्रति क्षमाशील होना एक ऐसा आचरण है जो समाज-धर्म के विरुद्ध माना जावेगा। ऐसे मनुष्य को अदण्डित छोड़ देने का दुष्परिणाम यह होगा कि केवल उस अपराधी को ही नहीं, बल्कि उसके समान दुष्ट प्रकृति के अनेक लोगों को बुरी और समाज-घातक प्रवृत्तियों में उत्तेजना मिलेगी और इस प्रकार शासकों की क्षमा-शीलता का बुरा परिणाम समूचे जन-समाज को भविष्य में भोगना पड़ेगा। अतएव दुर्जन के प्रति दया दिखाने से बढ़कर नीति-शास्त्र की दृष्टि में कोई अपराध ही नहीं। इस व्यावहारिक धर्म की दृष्टि से अनुचित क्षमा-शीलता दण्डनीय दोषी के दोष से कई दर्जे बढ़कर दोष माना जावेगा। दोषी तो एक ही दोष का जिम्मेदार है, परन्तु क्षमा-शीलता का अनुचित उपयोग करनेवाला कई अपराधों का उत्तेजक सिद्ध होता है। अतएव दुर्जन के प्रति दया दिखाना एक सामाजिक अपराध है।

उपर्युक्त उदाहरणों से विवेकशील पाठकों को विदित हो गया होगा कि आदर्श धर्म का व्यावहारिक रूप देश, काल और पात्रापात्र के विचारों से मर्यादित होकर कुछ और ही हो जाता है। धर्म तथा सदाचार का ऐसा कोई सिद्धान्त या नियम नहीं, जिसका व्यावहारिक रूप बिलकुल निरपवाद हो। अहिंसा-धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात और भी अधिक औचित्य के साथ कही जा सकती है। यथार्थ में भूत-दया के दूसरे पहलू का ही नाम अहिंसा-धर्म है। इस धर्म के व्यावहारिक रूप अथवा उसके अपवादों पर विचार करने के पहले अहिंसा का यथार्थ आशय समझ लेना उचित होगा।

'अहिंसा' एक नकारात्मक शब्द है। उसका शाब्दिक अर्थ है, हिंसा का अभाव। 'हिंसा' शब्द संस्कृत के 'हिंस' धातु से बना हुआ है और उसका अर्थ होता है, किसी जीवधारी के प्राण लेना। परन्तु व्यापक अर्थ में किसी को किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट पहुँचाना भी हिंसा का काम माना जाता है। अहिंसा का तात्त्विक निरूपण

इस इस अध्याय के प्रारम्भ ही में कर चुके है। इस प्रसग पर हमे उसके व्यावहारिक रूप पर ही विचार करना है। इतना तो हम पहले स्पष्ट कर चुके है कि इस हिंसामयी सृष्टि मे अहिंसा-धर्म का आविष्कार करनेवाला मनुष्य है, क्योकि इसी योनि में जीवात्मा को इस मौलिक रहस्य का ज्ञान और अनुभव भी होता है कि जड-चेतन जगत् के अन्तर्गत एक ही परमात्म-तत्त्व भिन्न भिन्न नाम-रूपो मे विद्यमान है। सृष्टि के इस अन्त -स्वरूप को पहचाननेवाला ज्ञानी मनुष्य किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नही पहुँचाता, क्योकि वह समझता है कि अपने और पराये मे वस्तुत कुछ भी अन्तर नही है हम यह भी बता चुके है कि इतना सब कुछ समझते हुए भी मनुष्य जगत् की जिस परिस्थिति मे अपने को पाता है, उसमें वह हिंसा-कर्म से सर्वथा वचित नही रह सकता। हवा और पानी तथा शाक पात के समान जीवन की आवश्यक वस्तुओ के उपयोग में उसे जो हिंसा करनी पडती है, वह सर्वथा अनिवार्य है। इसका सैद्धान्तिक निष्कर्ष यही निकल सकता है कि आत्म-रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से जो जीव-हिंसा हमे करनी पडती है, वह सर्वथा उचित है। परिस्थिति की लाचारी के कारण मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए ऐसी हिंसा करनी ही पडती है। जो लोग ससार से विरक्त होकर अरण्य मे आत्म-चिन्तन-पूर्वक अपना जीवन बिताते है, वे कन्द, मूल तथा वृक्ष से गिरे हुए सूखे फलो से अपनी शरीर-रक्षा करते हुए आदर्श अहिंसा-धर्म के पालन मे प्रयत्नशील रहते है।

इसी तरह हिंसा से बचने के लिए कुछ विचित्र प्रयोग करते हुए जैन-सम्प्रदाय के साधुओ को पाठको ने सम्भवत देखा होगा। लेकिन चाहे कोई कैसा भी प्रयत्न करे, जगत् की परिस्थिति ऐसी है कि सर्वथा अहिंसात्मक होना मनुष्य के लिए असम्भव है। अन्ततोगत्वा हवा और पानी के बिना तो अहिंसा-व्रती मुमुक्षुओ की भी शरीर-यात्रा नही हो सकती। यदि आदर्श धर्म की उमग में आकर इन अनिवार्य वस्तुओ का भी परित्याग कोई कर दे, तो इधर आत्म-हिंसा का पातक-भार मनुष्य के ऊपर लद जाता है। उधर धर्मशास्त्र का आदश है कि —'कुर्वन्नेवेह

क्योंकि 'जिजीविषेच्छतं समाः'। अतः इस संसार में [illegible] हुआ ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। प्रति समाज की प्राकृतिक [illegible] प्रेरणा भी ऐसी आत्मरक्षा में [illegible] है। [illegible] विचार की सत्ता पर भी यदि विचार करें तो [illegible] और [illegible] की [illegible] बिल्कुल नहीं घट सकती कि जीव हिंसा से सर्वथा [illegible] रहने के लिए मनुष्य जगत् की इस [illegible] परिस्थितियों से [illegible] हो न रहें। ऐसी दशा में जीवन का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त यही निकलता है कि आत्म-रक्षा मनुष्य तथा प्राणिमात्र का धर्म [illegible] है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ पर 'धर्म' शब्द अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स्वभाव और कर्तव्य दोनों यहाँ पर [illegible] है। जिन जीव-जन्तुओं को धर्माधर्म-कर्तव्य का ज्ञान नहीं, वे स्वभाव की प्रेरणा से ही अपनी रक्षा करते हैं। मनुष्य के समान समझदार प्राणी इसी भाव को स्वाभाविक प्रेरणा के अतिरिक्त कर्तव्य-बुद्धि से भी करता है। इस तरह पाठक अनायास समझ जाते हैं कि जीवहिंसा पाप तो है; परन्तु आत्म-हिंसा उससे भी बढ़कर पाप है। इसी बात को दूसरे प्रकार की भाषा में ऐसा भी कह सकते हैं कि आत्मरक्षा के प्रसंग में आवश्यक जीवहिंसा सर्वथा उचित है। अहिंसा-धर्म का यही व्यावहारिक रूप है। मानव-धर्म-शास्त्र ने इसी रूप को स्वीकार किया है।

जो मनुष्य जन-समाज में रहता हुआ कर्मयोगी या सेवा-मग्न जीवन व्यतीत करता है, उसके सामने ऐसे कई प्रसंग आते हैं जब कि हिंसा-कर्म उसके लिए बिलकुल अनिवार्य और उचित भी हो जाता है। सत्य-भाषण की नीति-शास्त्र-समर्थित मीमासा करते हुए हमने कहा था कि जिस मनुष्य के संरक्षण में कई स्त्रियाँ तथा बच्चे हों और जिसे डाकुओं के आक्रमण की अग्रसूचना मिल जावे, वह स्त्री-बच्चों को किसी सुरक्षित स्थान में छिपाकर डाकुओं से झूठ बोल सकता है और ऐसा करना ही उसका धर्म होगा। अब कल्पना कीजिए कि उसके सामने लुटेरों का समुदाय सहसा प्रकट हो गया और उसे अपने संरक्षण में रहनेवाले लोगों को

छिपा रखने को अवकाश ही न मिला। ऐसी हालत में उसका क्या धर्म होगा ? हिंसा के भय से वह डाकुओ के सामने आत्म-समर्पण कर दे, अथवा शस्त्र का उपयोग करके अपनी तथा बाल-बच्चो की रक्षा करे ? यदि वह अकेला होता तो उस पर अपने ही जानमाल का उत्तरदायित्व होता। ऐसी हालत में अहिंसा-व्रत का वशवर्त्ती होकर अपने प्राणो की परवाह न करते हुए वह अपना सभी कुछ डाकुओ के समक्ष समर्पण कर सकता था। परन्तु उस पर जवाबदारी है दूसरो की और ऐसे लोगो की, जो आत्म-रक्षा करने मे नितान्त अक्षम है। ऐसी परिस्थिति मे धर्म-शास्त्र कर्त्तव्य के जिस रुप का प्रतिपादन करता है वह इस प्रकार है —

गुरु वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ।। (मनु)

चाहे कोई गुरु हो, या ब्राह्मण हो, बालक हो या वृद्ध हो, लेकिन यदि वह आततायी है और अपने दुष्ट स्वभाव से प्रेरित होकर किसी पर आक्रमण करता है तो उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किये विना ही मार डालना उचित है। नीति-धर्म के इसी आदेश से प्रेरित होकर राम-चन्द्र जी ने रावण तथा अनेक राक्षसो का वध किया था। शान्तिपूर्ण साधन जब विफल हो गये, तब कृष्ण ने भी पाण्डवो को आततायी दुर्योधन से युद्ध छेडने की सलाह दी थी और उनकी सम्मति धर्म-शास्त्र से अनु-मोदित थी। अर्जुन अपने युग का प्रख्यात वीर था। उसके शूर चित स्वभाव मे कायरता की यत्किंचित् गन्ध भी नही थी। मरने से वह डरता भी नही था। फिर भी अपने ही स्वजनो को अपने सामने मरने-मारने के लिए कटिवद्ध देखकर उसके हृदय में अहिंसा का भाव जाग्रत हुआ और अपने सलाहकार मित्र कृष्ण के सामने उसने कहा —

अहो बत महत्पाप कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तु स्वजनमुद्यता ।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्र शस्त्रपाणय ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतर भवेत् ।।

'हे कृष्ण! देखो तो सही, हम लोग कितना बड़ा पाप करने के लिए आज उद्यत हैं, कि राज्य-सुख के लोभ से अपने ही स्वजनों को मारने के लिए तैयार हैं। मेरी धर्म-बुद्धि तो मुझसे कहती है कि अर्जुन, धृतराष्ट्र के इन शस्त्र-सन्नद्ध पुत्रों के सामने अपना हथियार डाल दे और प्रतिकार की कुछ भी इच्छा न करते हुए, हिंसात्मक भावों का सर्वथा परित्याग करते हुए मरने के लिए तैयार हो जा, इसी में तेरा वास्तविक कल्याण है। इस प्रसंग पर तेरे लिए मारने से मरना ही अच्छा है।' ध्यान रहे कि अर्जुन की यह धारणा भयमूलक बिलकुल नहीं थी, उसने तो स्वजन-प्रेम तथा भूत-दया से प्रेरित होकर ही ऐसा कहा था। उसके भाव की अहिंसात्मकता में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। युद्ध के जो दुष्परिणाम होते हैं, उनका सजीव चित्र भी उसने कृष्ण के सामने खींचा और इस प्रकार दूरदर्शिता का परिचय देते हुए उसने जाति-धर्म और कुल-धर्म की रक्षा करने की एकान्त सद्भावना से प्रेरित होकर कहा —

> दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
> उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुल-धर्माश्च शाश्वताः॥

ऐसा कहते हुए वह पूर्ण अहिंसात्मक भावना से धनुष और बाणों को अपने हाथों से छोड़कर रथ के पृष्ठ-भाग पर जा बैठा।

इष्ट-मित्र, परिजन-परिवार तथा बन्धु-बान्धवों के बीच रहनेवाले कर्मयोगी गृहस्थ के हृदय में कर्म-सन्यास की भावना बेमौके जाग्रत हुई। यदि अर्जुन ने पहले से ही विचार-पूर्वक सन्यास ले लिया होता तो कदाचित् उसके लिए ऐसी नौबत ही न आती। परन्तु वह तो एक गृहस्थ क्षत्रिय की हैसियत से नीति-शास्त्रानुमोदित समाज-धर्म का पालन करने के लिए ही उपस्थित हुआ था। अतएव वह प्रसंग सन्यास लेने का नहीं था। उस समय तो उसे मनुप्रतिपादित 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' वाले नीति-धर्म का ही पालन करना उचित था, क्योंकि उस समय उसके ऊपर अनेक स्त्री-बच्चों की तथा दुर्योधन-त्रस्त

इतर निस्सहाय लोगों की जिम्मेदारी थी। ऐसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व के कर्तव्यभार को वह सच्चे सन्यास की आड मे भी नही टाल सकता था। ऐसा करना उसके लिए अधर्म का ही काम था। क्षात्र-धर्म के तो वह विपरीत आचरण होता। मनु इत्यादिक धर्माधिकारी आचार्यों का ऐसा उपदेश भी नही था। इसी कारण वडे मर्म-भेदी कटाक्ष के साथ योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन से कहा —

कुतस्त्वा कश्मलमिद विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैव्य मा स्म गम पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्र हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप ॥

आगे चलकर कृष्ण ने फिर भी उसी गभीर कटाक्ष के साथ कहा —

अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिता ॥

इस तरह योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन की अनुचित अहिंसा-भावना का तिरस्कार करते हुए कटाक्ष किया, निर्भर्त्सना की, क्षात्र-धर्म का स्मरण दिलाया, अपकीर्ति का भय दिखाया और अन्ततोगत्वा उसकी धर्म-भीरुता को हृदय से दूर करने के लिए तत्त्व-ज्ञान की वडी लम्बी-चौडी वातें भी की। साराश यह कि उन्होने हर तरह से युद्ध का ही समर्थन किया। वात वात पर 'तस्मात् युद्धस्व भारत,' 'मामनुस्मर युध्य च' और 'तस्मादुत्तिष्ठ कौतेय युद्धाय कृतनिश्चय' की झडी लगा दी। उनकी तो यही मशा थी कि किसी भी तरह अर्जुन सग्रामविरत न होने पावे और कुरुक्षेत्र के मैदान मे आततायी दुर्योधन और उसके समर्थक मारे जावें।

युद्ध के लिए दी हुई इस उत्तेजना का यह आशय कोई कदापि न निकाले कि कृष्ण हिंसा के समर्थक थे। जो व्यक्ति इस वात का दावा करे कि मै इस पृथ्वी पर वार वार 'धर्मसस्थापनार्थाय' ही जन्म धारण करता हूँ, उससे किसी तरह अधर्माचरण की सभावना ही नही हो सकती। इस विषम ससार मे कठिनाई इस वात की होती है कि जन-समाज के

सरक्षण में धर्माधर्म का निर्णय देश, काल और पात्र को विचार कर ही करना पडता है। योगेश्वर कृष्ण का दृष्टि-कोण पूर्णतया अहिंसात्मक ही था। इसी कारण दुर्योधन के हिंसात्मक अत्याचारा को वे सहन नहीं कर सकते थे। जो मनुष्य भरी सभा में अपने भाइयो की निस्सहाय धर्मपत्नी को ही वस्त्र-हीन करके अपमानित करने का प्रयत्न करें, उसकी मनोवृत्ति की नीचता की कोई सीमा हो सकती है ? ऐसा भयकर दुर्व्यवहार तो आज इस घोर कलियुग मे भी दुर्जन से दुर्जन मनुष्य भी न करेगा। फिर ऐसे आततायी, दभमूढ और अनर्थकारी दुर्योधन से निस्सहाय प्रजा को कितना कष्ट रहा होगा, इस बात की कल्पना सहृदय पाठक सहज ही कर सकते हैं। उसके इस दुराचरण से सिद्ध तो यही होता है कि दुर्योधन हिंसा का पूर्ण अवतार था। वह मानव-रूप में एक हिंसक पशु ही था। कृष्ण ने उससे सधि-चर्चा करते हुए बहुत अनुनय-विनय की, समझाया, फुसलाया, धर्म और कर्त्तव्य की दुहाई दी। परन्तु उस दुरात्मा के हृदय पर उन सब प्रयत्नो का कुछ भी सत्परिणाम न हुआ। अन्ततोगत्वा उसने अपनी स्वभाव-सिद्ध हिंसात्मक भावना से प्रेरित होकर यही कहा कि —'सूच्यग्र न दातव्य विना युद्धेन केशव'।

ऐसी लाचार परिस्थिति में पूर्ण अहिंसात्मक होते हुए भी कृष्ण और पाण्डव क्या करते ? क्या अधिकार के स्थान पर बैठे हुए ऐसे भयकर दुराचारी को दुराचरण करने के लिए स्वच्छन्द छोड देते ? जन-समाज मे शान्ति और अहिंसा स्थापित करने की एकान्त इच्छा से ही उन्हें कुरुक्षेत्र में हिंसा-काण्ड की रचना करनी पडी। व्यास जी ने इसी कारण भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक के प्रथम वाक्य में ही कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र का विशेषण दिया है। कुरुक्षेत्र का युद्ध 'धर्मसस्थापनार्थाय' ही छेडा गया था। इसी कारण वह धर्म-युद्ध था। ध्यान रहे कि महाभारत के इस युद्ध में अधर्माचरण के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। दुर्योधन के जितने प्रमुख सेनापति थे, वे प्राय सभी अधर्म से मारे गये। भीष्मपितामह को अर्जुन ने

शिखडी की आड मे छिप कर मारा। बेचारे कर्ण पर ऐसी हालत में उसने शर-सधान किया, जिस समय वह पृथ्वी मे धँसे हुए अपने रथ के पहिये को निकालने के लिए झुका हुआ था। युधिष्ठिर के समान सत्यवादी पुरुष ने 'नरो वा कुजरो वा' कहते हुए जान-बूझ कर द्रोणाचार्य को धोखा दिया और वह भी ऐसी दशा में जब कि द्रोणाचार्य ने किसी अन्य आदमी पर विश्वास न करते हुए सत्यवादी समझकर युधिष्ठिर से ही वैसा प्रश्न किया था। कृष्ण के समान धर्मावतार ने सलाह तो उसे यह दी थी कि वह साफ-साफ यह कहकर झूठ बोल दे कि अश्वत्थामा नाम का वीर ही मारा गया। लेकिन धर्म-भीरु युधिष्ठिर की वैसी हिम्मत न हुई, उसने सदिग्ध शब्दो में कुछ गोल-माल उत्तर दे दिया। फिर भी सत्य की रक्षा न हो सकी। जहाँ पर किसी मनुष्य को कोई बात निश्चित रूप से मालूम हो, वहाँ गोलमाल शब्दो मे उत्तर देना मिथ्याचार ही माना जा सकता है। इसी तरह भीम ने दुर्योधन पर अन्याय-पूर्वक क्षात्र-धर्म के विरुद्ध कमर के नीचे गदा-प्रहार किया, जिससे उसकी कमर टूट गई और मर्मान्तिक यत्रणा के बाद उसे मरना पडा। और कहाँ तक कहे, स्वय, योगेश्वर कृष्ण ने ही अपनी योग-शक्ति का ऐसा अन्याय-पूर्वक दुरुपयोग किया कि दिन रहते हुए भी सूर्य को छिपाकर सध्या का दृश्य उपस्थित कर दिया और इस तरह जयद्रथ से छल किया। महाभारत के युद्ध में ढूँढनेवाले को पाण्डवो के द्वारा किये गये अधर्माचरण के और भी अनेक उदाहरण मिल सकेंगे। सदाचार की दृष्टि से यदि इन व्यवहारो की स्वतत्र आलोचना करे, तो कहना पडेगा कि वे न्यायानुमोदित नही थे। परन्तु ऐसा करना भ्रमोत्पादक होगा, अनुचित भी होगा। हमें इन बातो की मीमासा कर्त्ता की बुद्धि के आधार पर करनी होगी। यह देखना होगा कि इन सब व्यवहारो के अन्तर्गत कृष्ण का उद्देश्य क्या था। यदि अन्तिम अभिप्राय धर्म-सगत था, यदि अन्त करण में कोई बुराई नही थी, यदि कुरुक्षेत्र का युद्ध अहिंसा-धर्म

तथा सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से छेडा गया था, तो ऊपरी तौर पर हिंसात्मक तथा असत्य प्रतीत होनेवाले पाण्डवों के सारे व्यवहार धर्मानुमोदित ही थे। इसी कारण कहा गया है —'धर्मस्य गहना गति'। धर्माधर्म का निर्णय करना कोई मामूली बात नही है। सदाचार के जितने नियम हैं, वे यदि बिलकुल निरपवाद होते तो किसी पथ-प्रदर्शक आचार्य की आवश्यकता ही न होती। धर्मशास्त्रों ने तो ऐसे नियम निर्धारित ही कर दिये है। 'सत्य बोलो, चोरी न करो, हिंसा से बचो' इत्यादिक उपदेश-वचनो को कौन नहीं जानता ? लेकिन कठिनाई इस बात की है कि जगत् के व्यवहार में इन नियमो के अनेक अपवाद हुआ करते है और उन पर प्रत्येक कर्मयोगी सद्गृहस्थ को देश-काल की दृष्टि से विचार करना ही पडता है। अतएव यदि कोई उपदेशक लोगो को जीवन के सभी प्रसगो पर विवेक की आँखें बन्द करके सच बोलने का अथवा अहिंसात्मक रहने का उपदेश दे, तो समझना चाहिए कि वह धर्म का यथार्थ रहस्य नहीं समझता और ऐसा कुछ कहता है कि जिसका पालन करके मनुष्य कई प्रसगो पर कर्मयोग-प्रतिपादित समाज-धर्म से भ्रष्ट हो जावेगा।

भगवद्गीता आचरण-शास्त्र का एक ऐसा वैज्ञानिक ग्रन्थ है कि जिसकी जोड की नीति-विषयक दूसरी रचना ससार के साहित्य में है ही नही। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि योगेश्वर कृष्ण ने गीता-प्रतिपादित कर्मयोग का उपदेश युद्धस्थल ही में दिया था और वह भी एक ऐसे आदमी को जो वीर तो था, लेकिन जो अपने स्वजनो की हिंसा से घबरा कर हाथ खींच रहा था। होनेवाली खून-खराबी की कल्पना से भयभीत होकर अर्जुन कर्त्तव्यमूढ हो चुका था और धर्मशास्त्रानुमोदित क्षात्र-धर्म से पराङ्मुख हो रहा था। उसे युद्ध का केवल तात्कालिक परिणाम ही दृष्टिगत होता था। जिस व्यापक दृष्टि एव आन्तरिक प्रेरणा से कृष्ण ने पाण्डवो को युद्ध छेडने की सलाह दी थी, वह अर्जुन की आँखो से ओझल थी। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार

प्रत्येक क्षत्रिय का यह परम से परम कर्त्तव्य है कि वह आततायियो से जन-समाज की रक्षा करे। 'यद्भूतहितमत्यन्त एतत्सत्य मत मम।' नारद की इस सूक्ति मे नीति-धर्म का निचोड है। इसी धर्म को लक्ष्य-पथ में रखकर वर्ण-व्यवस्था की रचना हुई है। अर्जुन कौरवो के रक्त-पात से भय खाकर 'भूतहितमत्यन्तम्' से विमुख हो रहा था। कुरुक्षेत्र का युद्ध हिंसात्मक तो था, पर साथ ही साथ धर्म-मूलक भी था। ऐसे समर मे केवल उसकी भयकरता अथवा खून-खराबी को देखकर विरत होना अर्जुन के समान शूरवीर और धर्मनिष्ठ क्षत्रिय के लिए लज्जाजनक बात होती। इसी लिए तो धर्माधिकारी कृष्ण ने पहले ही उससे कहा —

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।
यदृच्छया चोपपन्नम् स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिन क्षत्रिया पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।'

अर्जुन, तू कौरवो के रक्त-स्राव से इतना घबराता क्या है? क्या तू भूल गया कि तू क्षत्रिय है और प्रस्तुत युद्धधर्म की रक्षा के लिए ही रचा गया है? अरे! तेरे समान कर्त्तव्यनिष्ठ क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढकर कर्मक्षेत्र और क्या हो सकता है? यह तो तेरे लिए खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। तू अपने सौभाग्य की प्रशसा कर कि ऐसा दुर्लभ अवसर तेरे हाथ लगा है। तू समझता है कि इस रक्त-पात से तुझे पाप लगेगा। परन्तु तेरी समझ उलटी है। प्रस्तुत रण-क्षेत्र मे पराङ्मुख होने का क्या परिणाम होगा, इस बात पर तूने कुछ विचार किया है? सुन ले —

अथ चेत्वमिम धर्म्यं सग्राम न करिष्यसि।
तत स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

तदनन्तर कृष्ण ने कहा —

'पार्थ, मैं तो इस युद्ध को लोक-सग्रह की दृष्टि से आवश्यक और सर्वथा धर्म-सगत समझता हूँ। परन्तु प्रतीत होता है कि तेरी दृष्टि

इतनी व्यापक और गम्भीर नहीं है। यदि तू केवल अपनी ही स्वार्थ-दृष्टि से विचार करे, तो भी इस युद्ध से तेरा बिगड़ता ही क्या है? इसमें तो दोनों तरह से तेरी भलाई है :—

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय.॥

मारे गये, तो स्वर्ग का द्वार खुला है, विजय हुई, तो पृथ्वी का राज्योपभोग मिलता है, और क्षात्र-धर्म के पालन का श्रेय दोनो अवस्थाओं में व्याजरूप में मिलता ही है। इसलिए कुन्ती के प्यारे सपूत! युद्ध का पूर्ण संकल्प करके उठ खड़ा हो। क्या कायर के समान रथ के पीछे शस्त्र छोड़कर आ बैठा है?

अर्जुन, यदि तू इस युद्ध में मारा भी जाय तो मुझे कुछ भी दुःख न होगा। क्योंकि इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिए गौरव की कोई बात ही नहीं हो सकती। लेकिन प्रस्तुत क्षात्र-धर्म से विमुख होकर यदि तू जीता भी रहा, तो तेरा कर्तव्य-शून्य जीवन मृत्यु से भी बढ़कर होगा और तुझे उस जीवन्मृत अवस्था में देखकर मुझे महान् अन्तर्वेदना होगी। विचार तो कर, तेरी कितनी अपकीर्ति होगी :—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथा।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिता।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

कृष्ण और अर्जुन के बीच उपर्युक्त सभाषण को पढ़-सुन कर कोई भी मनुष्य निरपेक्ष भाव से इस बात को स्वीकार करेगा कि भौतिक युद्ध और क्षात्र-धर्म के आधार पर ही गीता-प्रतिपादित नीति-धर्म की रचना हुई है। यदि भगवद्गीता सदाचरण-शास्त्र मानी जावे—मानना ही चाहिए—तो भौतिक संसार में होनवाले भौतिक आचरण-विषयक

ग्रथ के लिए भौतिक आधार भी जरूर चाहिए। विवेकशील पाठको को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यदि अर्जुन खशी से सग्राम-रत हो जाता, तो कृष्ण को गीता-ज्ञान सुनाने की आवश्यकता ही न होती। लेकिन कौतेय को कर्त्तव्य-भ्राति हो गई। वह प्रमादवश समझने लगा कि कौरवो की हत्या से उसे पाप लगेगा। धर्म-युद्ध में पाप की सम्भावना कैसी? परन्तु फिर भी जब अर्जुन के सिर में पाप का वहम घुस ही गया तो उससे बचने का उपाय भी कृष्ण को बताना पडा। अतएव गीता मे जितनी अध्यात्म-चर्चा है, वह अर्जुन की धर्म-भ्राति की प्रेरणा का परिणाम है। सिवाय इसके युद्ध के पहले यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता था कि पाण्डवो की हार होगी या जीत। विजयी होने पर अर्जुन को कुलक्षय से घबराहट थी। हारने पर पराभव की चिन्ता थी। ऐसी दशा में उसके उद्भ्रात हृदय को कर्त्तव्य-निष्ठा-प्रेरित बुद्धि-साम्य में ही आश्रय मिल सकता था। अतएव भौतिक परिस्थिति की चिन्ता से अर्जुन को मुक्त करने के लिए ही जीवन-मरण और धर्म-अधर्म की गुत्थी कृष्ण को सुलझानी पडी।

गाधी जी का मत इसके विपरीत है। वे अपने गीतानुवाद की भूमिका में लिखते है।

''सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ, तभी मेरे मन में यह बात आई कि यह ऐतिहासिक ग्रथ नही है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओ की रचना हृदय-गत युद्ध को रोचक बनाने के लिए एक कल्पना के रूप में है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने पर पक्की हो गई। महाभारत पढने के बाद उपरोक्त विचार और भी दृढ हो गया। महाभारत ग्रथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नही मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदि पर्व मे ही हैं। पात्रो की अमानुषी और अति-

मानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान् ने राजा-प्रजा के इतिहास को भी बहाया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक हो सकते हैं, परन्तु महाभारत में तो व्यास भगवान् ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है। महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ बाक़ी नहीं रखा।'

"इस महाग्रंथ में गीता शिरोमणिरूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ है कि स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षण में ही है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता सरीखी पुस्तक का होना सम्भव नहीं है।'

इन अवतरणों में गांधी जी के गीता-सम्बन्धी विचारों का सारांश आ जाता है, और उसी पर हमें भी संक्षेप में विचार करना है।

सबसे पहले तो हमारी समझ में यह बात नहीं आई कि उपर्युक्त वक्तव्य में पहले दो वाक्यों का यथार्थ आशय क्या है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि क्या महाभारत में वर्णित सभी पात्र सर्वथा काल्पनिक हैं? यदि हैं, तो कल्पना के इस निर्माण में क्या कृष्ण भी सम्मिलित हैं? इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर गांधी जी नहीं देते। फिर भी वे ऐसा भी नहीं कह सकते कि महाभारत के पात्र सर्वथा काल्पनिक हैं। वे इस बात को कुछ संकोच के साथ स्वीकार करते हैं कि 'उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक हो सकते हैं।'

उन्हीं के कथनानुसार यदि महाभारत के पात्र ऐतिहासिक हो सकते हैं तो उन पात्रों के महाभारतवर्णित जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के सम्बन्ध में हम क्या निश्चय करें? कृष्ण, दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, शकुनी, शल्य, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर तथा द्रौपदी

इत्यादिक प्रमुख पात्र यदि मूल मे ऐतिहासिक है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा ऐसी घटनायें जिनमे इन व्यक्तियो का महत्त्वपूर्ण योग ह, कल्पित हो ही नही सकती। उदाहरण के लिए हम ऐसा तो नही कह सकते कि द्रौपदी और दुर्योधन ऐतिहासिक पात्र तो है, परन्तु व्यास जी ने दुर्योधन के द्वारा द्रौपदी को भरी सभा मे कोरी कल्पना के आधार पर वस्त्र-हीन कराया है, यथार्थ मे ऐसी कोई घटना ही नही हुई। ऐसा समझने से तो दुर्योधन दोष-मुक्त हो जाता है और उसका अपराध हमें व्यास जी की विकृत कल्पना-शक्ति के मत्थे मढना होगा। यदि पाँचो पाण्डव और धृतराष्ट्र के लडके ऐतिहासिक व्यक्ति है तो क्या उनकी नातेदारी तथा दुर्योधन की स्वार्थपरता बिलकुल काल्पनिक है ? यदि कौरवो और पाण्डवो की ऐतिहासिकता हमे मान्य है, तो दोनो के विरोध को कपोल-कल्पित मानने का हमें कोई कारण नही दिखाई देता। राज-परिवार में भाई-भाई के बीच विग्रह का होना बिलकुल स्वाभाविक और इतिहास-प्रसिद्ध बात है। ऐसे उदाहरण प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थो में भी पाये जाते हैं। यदि कौरव और पाण्डवो का पारिवारिक विरोध ऐतिहासिक सभावना के बाहर की बात नही है, तो फिर शकुनी के द्वारा द्यूत का षड्यन्त्र रचा जाना, पाण्डवों का हारना, लाक्षाभवन में पाण्डवो को बसाकर आग लगा देना, पाण्डवो का अज्ञातवास में रहना, कृष्ण का सवि-चर्चा करना तथा अन्त में दोनो विरोधी दलो का शस्त्र-सन्नद्ध होकर कुरुक्षेत्र में एक दूसरे के रक्तपात के लिए भिड जाना, सभी मुख्य-मुख्य बातें ऐतिहासिक दृष्टि से मान्य हो सकती है। इस तरह पाठक देखेंगे कि हमारे सामने केवल दो ही मार्ग हैं। या तो हम महाभारत के पात्रो को सर्वथा कल्पित मानें और तत्-वर्णित घटनाओ को भी हम व्यास भगवान् के मस्तिष्क की रचना मान लें, या महाभारतवर्णित पात्रो की ऐतिहासिकता स्वीकार करके उनके जीवन-सम्बन्धी घात-प्रतिघात तथा प्रमुख घटनाओ को भी सच मानें। ऐसा तो कोई भी समझदार मनुष्य नही मान सकता कि व्यास जी ने पात्र तो ऐतिहासिक लिये हैं, परन्तु

उनके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की रचना उन्होंने कोरी कल्पना के आधार पर की है। हाँ, कुछ गौण बातों और पात्रों की चर्चा में तथा सच्ची घटनाओं में कुछ कमी-बेशी कल्पना के आधार पर हो सकती है। परन्तु कौरवों और पाण्डवों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य-मुख्य बातें कल्पित नहीं हो सकतीं। और इस बात को कौन अस्वीकार करेगा कि समूचे महाभारत में कुरुक्षेत्र का युद्ध सबसे प्रमुख घटना है।

ऐसी हालत में हमें यह मानना ही पड़ेगा कि कुरुक्षेत्र का भौतिक युद्ध एक ऐतिहासिक घटना है। इस नाम का स्थान आज भी प्राचीन हस्तिनापुर और आधुनिक दिल्ली के पास विद्यमान है। उपर्युक्त विचार-सरणी के अनुसार यदि कौरवों और पाण्डवों के बीच कुरुक्षेत्र के मैदान में ऐतिहासिक युद्ध हुआ और उसका मूल कारण पारिवारिक स्वार्थ-विरोध ही था तो स्वजनों की खून-खराबी मे अर्जुन का झिझकना बिलकुल स्वाभाविक था। फिर क्षत्रियोचित कर्त्तव्य-परायणता के अभाव में योगेश्वर कृष्ण-प्रतिपादित कर्मयोग बिलकुल उचित ही जँचता है। तब हम ऐसा क्यों समझें कि गीता में भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है। महात्मा जी के इस मत को हम उसी हालत में स्वीकार कर सकते जब वे यह भी कहते कि कुरुक्षेत्र का संग्राम हुआ ही नही और व्यास जी ने ऐसे युद्ध की कल्पना करके केवल मानसिक द्वद्व का चित्र खींचा है। लेकिन जब ऐसा सग्राम यथार्थ में हुआ और उस संग्राम पर अर्जुन की बुद्धि में कर्त्तव्य-मूढ़ता आई, तो फिर हम ऐसा नहीं कह सकते कि उस युद्ध के बहाने से गीता-प्रतिपादित कर्मयोग का उपदेश दिया गया है। हमें कहना होगा कि उस युद्ध के भौतिक आधार पर गीता की सृष्टि हुई है, और गीता-ज्ञान की प्रेरणा से अर्जुन 'स्थितोऽस्मि गतसन्देह. करिष्ये वचन तव' कहकर समर-क्षेत्र में कूद पड़ा।

गाधी जी कुरुक्षेत्र के युद्ध की ऐतिहासिकता को मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यह बात उपर्युक्त अवतरण के अन्तिम वाक्यों से प्रकट

होती है। विजेता से रुदन कराना और पश्चात्ताप कराना यदि युद्ध का औचित्य नही, तो ऐतिहासिकता तो जरूर सिद्ध करता है।

अब रही औचित्य-अनौचित्य की बात, सो इस प्रश्न का निपटारा एक ही प्रश्न के द्वारा हो सकता है। यदि लोकहित की दृष्टि से आततायी, विषैले और पागल कुत्तो को मरवा डालने मे औचित्य है, तो दुराचारी दुर्योधन और उसके समर्थको से युद्ध छेडने मे अनौचित्य कहाँ पर और क्यों कर हो सकता है? कौरवो का दुराचार तो जन-समाज मे इतना बढ चुका था कि वे पागल कुत्तो से भी गये-बीते हो रहे थे। एक सभावित कुल-वधू के प्रति जैसा अत्याचार दुर्योधन ने किया, वैसा तो पागल कुत्ते भी नही कर सकते। पागल कुत्तो को तो पकडवा कर गाधी जी निर्जन वन में छुडवा सकते थे। उन निस्सहाय बेचारो की हिंसा अनावश्यक थी, टाली जा सकती थी। नगर में उत्पात मचानेवाले बन्दरो को कई म्युनिसिपल्टियाँ अभी भी रेल के डिब्बो मे भरकर जगलो में छोड आती है। परन्तु दुर्योधन एक ऐसा पागल कुत्ता था जो जान-बूझकर लोगो को काटा करता था और जो अधिकार-सम्पन्न होने के कारण जगल में भी नही छोडा जा सकता था। ऐसे आततायी से अथवा उसके पतित समर्थको से युद्ध छेडने में अनौचित्य ही कहाँ है? गाधीजी के मतानुसार महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की निरर्थकता भले ही सिद्ध की हो, परन्तु भगवद्गीता मे कर्मयोग-प्रवर्तक योगेश्वर कृष्ण ने ऐसे युद्ध की सार्थकता, आवश्यकता तथा अनिवार्यता का ही अथ से इति तक प्रतिपादन किया है। युद्ध धर्म-सगत हो या न हो, उसका तात्कालिक परिणाम भयावह ही होता है। अतएव युद्ध मे मरनेवाले वीरो की विधवाये रोती ही है। एक बार विजेता को भी रक्तपात के स्मरण से पश्चात्ताप हो आता है। इन बातो का वर्णन यदि कोई इतिहासकार या उपन्यास-लेखक करे तो उसका अर्थ यह नही हो सकता कि ग्रथकार युद्ध की निरर्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से ही उन बातो की चर्चा कर रहा है। ऐसी बाते युद्ध-समाप्ति के पश्चात् होती ही है। अतएव यथार्थवादी लेखक ऐसी स्वाभाविक घटनाओ

की चर्चा करते ही है। काव्यालकार के ग्रथो मे उन्हे स्वभावोक्ति कहते है। ऐसी उक्तियो का कोई आन्तरिक उद्देश्य नही हुआ करता। उनका वर्णन केवल उनकी स्वाभाविकता के कारण ही किया जाता है। महात्मा जी अपने गीतानुवाद की भूमिका मे फिर लिखते है—

"इस महाग्रथ (महाभारत) में गीता शिरोमणिरूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ है कि स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नही होता, यह बात उसके लक्षण मे ही है। साधारण पारिवारिक झगडो मे औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीतासरीखी पुस्तक का होना समव नही है।"

हम पहले लिख चुके है कि अर्जुन के मन में इस बात का भ्रम हो गया था कि कुरुक्षेत्र के मैदान में स्वजनो की हत्या का पातक-भार उसे वहन करना पडेगा। कृष्ण ने स्पष्ट शब्दो में उससे कहा कि यह तेरे लिए धर्मयुद्ध है और मानो स्वर्ग का खुला हुआ द्वार ही है। परन्तु उसे सन्तोष न हुआ। ऐसी हालत मे योगेश्वर कृष्ण को यह युक्ति बतानी पड़ी—

सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि॥

हे अर्जुन, यदि तेरी यही धारणा हो कि इस युद्ध मे योग देने से तुझे पाप लगेगा, तो मैं तुझे एक ऐसी युक्ति बतलाता हूँ जिससे कौरवो को मार कर भी तू पाप-मुक्त रहेगा। सुख-दु ख, लाभ-हानि, जीत और हार मे अलिप्त रहकर अथवा अपनी बुद्धि को सम करके तू लड़ने के लिए तैयार हो जा। ऐसा करने से तुझे पाप न लगेगा।

जिसकी बुद्धि ससार के सुख-दुख, अथवा हानि-लाभ से उद्विग्न नही होती, उसी को स्थितप्रज्ञ कहते है। ऐसी स्थितप्रज्ञता की अवस्था में रहकर ही कर्म करने का उपदेश गीता मे दिया गया है। देखिए आगे चलकर कृष्ण जी क्या कहते हैं—

योगस्थ. कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥

हे पार्थ, तू योगस्थ (स्थितप्रज्ञ) होकर, फलासक्ति छोडकर तथा कार्य की सिद्धि और असिद्धि दोनो मे अपनी बुद्धि को सम करके ससार के सभी शास्त्र–विहित कर्मो को करता जा। बुद्धि के इस समत्व को ही कर्मयोग कहते है।

स्थितप्रज्ञ किसे कहते है, यह बात तो योगेश्वर ने बतला दी। उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जो मनुष्य हानि-लाभ, जय-अजय और सुख-दुख मे समान रहता है और जिसकी बुद्धि हर्ष-विषाद-शून्य रहकर कर्त्तव्य-रत रहती है उसी को स्थितप्रज्ञ कहते है। परन्तु अर्जुन को इतने से सतोष नही हुआ। महापुरुषो के जीवन-सम्बन्धी छोटी छोटी बातो को जानने की इच्छा जिस तरह सर्व-साधारण को हुआ करती है, उसी तरह का कौतूहल अर्जुन के मन मे भी उत्पन्न हुआ और उसने पूछा, भला केशव, बतलाइए तो सही—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी कि प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

जिस स्थितप्रज्ञता की अवस्था मे रहकर आप सासारिक कर्मो को करने की सलाह देते है, उस मन स्थिति मे रहनेवाले मनुष्य की भाषा कैसी होती है, वह किस तरह बातचीत करता है, कैसा चलता-फिरता है, इत्यादि इत्यादि। अर्जुन के इस कौतूहल का निवारण करने के लिए ही कृष्ण ने अठारह श्लोको मे सिद्धावस्था के व्यवहारो का सक्षिप्त परिचय दिया है। साराश मे विचारो का सिलसिला इस तरह शुरु हुआ—

कुरुक्षेत्र के मैदान मे एक स्वाभिमानी क्षत्रिय की हैसियत से शस्त्र-सन्नद्ध होकर अर्जुन उपस्थित हुआ। उपस्थित तो हुआ, लेकिन जब उसने देखा कि दुर्योधन के पक्ष में उसके सारे स्वजन तथा परिवार के लोग पाण्डवो के विरुद्ध मरने-मारने के लिए तत्पर है, तब कुछ मोह-वश कुछ हिंसा-जन्य कल्पित पाप के भय से उसका दिल कमजोर हो गया। इस

मानसिक दुरवस्था मे पड़कर वह धर्मयोनित कर्म से पराङ्मुख होता हुआ मिथ्या ज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें करने लगा। कृष्ण जी ने उसे समझाकर कहा कि इस युद्ध मे शामिल होने मे तुझे हत्या का पाप नहीं लग सकता, क्योंकि यह तो धर्म-युद्ध है और तेरे लिए स्वर्ग का खुला हुआ द्वार ही है। परन्तु कर्तव्य-मूढ अर्जुन को इतने मे सतोष नही हुआ। तब कृष्ण को ऐसी युक्ति बतानी पडी कि जिनसे युद्ध में शामिल होते हुए भी, कौरवों की हत्या करते हुए भी वह कर्मबन्धन से मुक्त रह सकेगा। इस तरह कर्मयोग का उपदेश प्रारम्भ हुआ। कर्मयोग में सम बुद्धि की अनिवार्यता बतलाई गई और यह भी कहा गया कि ऐसी निश्चल और अनुद्विग्न बुद्धि से कर्म करनेवाले को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया कि जिस कर्म-शील स्थितप्रज्ञ की आप चर्चा कर रहे हैं, उसके व्यवहार जन-समाज मे किस तरह के होते है तो कुछ श्लोकों में योगेश्वर को इस कौतूहल का भी निवारण करना पड़ा। इन सब बातों का साराश यह निकला कि "अर्जुन, प्रस्तुत युद्ध मे तुझे शामिल तो होना ही पड़ेगा, क्योंकि तेरा क्षात्र-धर्म तुझे आदेश देता है कि तू इन आततायियों का पृथ्वी पर से मूलोत्पाटन कर दे। ऐसे धर्म-कार्य में मोह को गुंजाइश नही और पाप की आशंका निर्मूल है। यदि तुझे इतने पर भी समाधान नहीं होता और पाप की आशंका तेरे मन से नही निकलती तो मैं तुझे एक उपाय बतलाता हूँ जिसमे तू इस युद्ध मे किये हुए कर्मों के भले-बुरे सभी बन्धनो से मुक्त रहेगा और तुझे किसी भी तरह का पाप न लगेगा। तू इस युद्ध के सुख-दु:ख, हानि-लाभ तथा जीत-हार के द्वन्द्व भावनाओ से अपनी बुद्धि को मुक्त करके परिणामों की परवाह न करके यानी स्थितप्रज्ञ की अवस्था मे रहकर इस युद्ध मे शामिल हो।"

इस विचार-सरणी से विवेकशील पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि कुरुक्षेत्र के भौतिक युद्ध और अर्जुन की स्थितप्रज्ञता से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। यथार्थ में सारे उपदेश का साराश ही यही है कि स्थितप्रज्ञ होकर अर्जुन कौरवों से युद्ध करे। भौतिक युद्ध-व्यवहार करने के लिए ही

कृष्ण ने अर्जुन को स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाये हैं। अतएव कृष्ण-प्रतिपादित स्थितप्रज्ञता का ऐहिक युद्ध से ही सम्बन्ध है। स्थितप्रज्ञ के कृष्ण-कथित लक्षणो में ऐसी कोई बात नही है जो शास्त्र-विहित कर्मों के विरुद्ध हो। शास्त्रानुमोदित कर्मों को करते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त रहने के लिए स्थितप्रज्ञता की आवश्यकता बताई गई है। धर्म युद्ध मे योग देकर दुराचारियों का वध करना क्षत्रिय के लिए शास्त्रोक्त कर्म ही था।

"साधारण पारिवारिक झगडो के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीतासरीखी पुस्तक का होना सम्भव नही है" ऐसा कहना सदाचरण शास्त्र की दृष्टि से गीता के महत्त्व को कम करना है। त्याग-शील कर्म-सन्यासी मुमुक्षुओ के लिए तो उपनिषदो का सन्यास-प्रधान ज्ञान-भाण्डार पडा हुआ है। गीता की आवश्यकता और उसका महत्त्व इसी एक बात पर है कि वह ससार मे रहनवाले कर्मशील सर्व-साधारण लोगो को इस बात की शिक्षा देती है कि समाज के कर्मक्षेत्र में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-चाकर तथा सिपाही की हैसियत से दैनिक जीवन में मनुष्य को किस प्रकार वरतना चाहिए। योगेश्वर के मतानुसार मोक्षकामी मनुष्य को इस बात की आवश्यकता नही है कि वह अपनी स्त्री तथा पुत्र अथवा इतर परिवार के लोगो से सम्बन्ध-विच्छेद करके निर्जन वन मे चला जावे। वह घर ही मे समाज और परिवार के बीच कर्त्तव्य-शील होकर रहे और वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार यदि वह ब्राह्मण है तो अध्ययन-अध्यापन मे अनासक्त बुद्धि से सलग्न रहे, यदि क्षत्रिय है तो उसी प्रकार जीत-हार मे अनुद्विग्न रहकर धर्म-युद्ध में शामिल हो और दुराचारियो का वध करे, यदि वैश्य है तो फलाशा-त्याग-पूर्वक वाणिज्य-व्यवसाय करे और शूद्र हो तो उसी भावना से सेवा करे। यही गीता-प्रतिपादित कर्मयोग का साराश है। इसके सिवाय गीता यह भी सिखाती है कि यदि कोई मनुष्य जीवन्मुक्त भी हो तो भी वह शास्त्र-विहित सामाजिक कर्मों को करता ही रहे, क्योंकि ऐसे महापुरुषो के अकर्मा रहकर बैठ जाने से जन-समाज में बुद्धि-भेद अथवा भ्रम फैलने का भय है।

इस तरह पाठक देखेंगे कि गीता परिवार के बीच रहकर धर्म करने का ही उपदेश देती है। परिवार के बीच रहनेवालों को पारिवारिक तथा सामाजिक विग्रहों में भाग लेना ही पड़ता है। ऐसे छोटे-बड़े सभी प्रसंगों का निपटारा तथा उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किस प्रकार किया जावे, इसी बात की शिक्षा गीता देती है और इसी विशेषता में इस ग्रन्थ का महत्त्व है। इसी कारण उसे आचरण-शास्त्र या नीति-धर्म या व्यवहार-धर्म भी कहते हैं। गीता-प्रशंसित कर्मयोगी के लिए सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की सभी बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं।

इसके सिवाय कौरवों और पाण्डवों के बीच कुरुक्षेत्र में जो युद्ध हुआ, उसे साधारण पारिवारिक झगड़ा समझना ठीक नहीं। इस युद्ध में सिद्धान्त और धर्म का प्रश्न था। भारत के सभी छोटे-बड़े राजे-महाराजे इसमें किसी न किसी पक्ष से सम्मिलित थे। दुर्योधन एक प्रख्यात आततायी था, साथ ही प्रभावशाली भी था। उसका प्रभाव इतना बढ़ा-चढ़ा था कि उसने भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, कृपाचार्य तथा शल्य सरीखे धीर-वीर और बुद्धिमानों को भी पतित बना डाला था। भरी सभा में उसने द्रौपदी के प्रति भयंकर अत्याचार किया। दुर्योधन के दरबार में उस समय बड़े बड़े ज्ञानी, ध्यानी, पण्डित, ऋषि तथा आचार्य उपस्थित थे। परन्तु उनमें से किसी एक भी भले आदमी की इतनी हिम्मत न हुई कि वह दुर्योधन की खुली शैतानियत का विरोध करता। हम यह नहीं मान सकते कि द्रौपदी की जो दुरवस्था उस सभा में हुई, उस दृश्य को देखना सभासदों को पसन्द था। दुर्योधन, दुःशासन तथा दो-चार दुराचारियों को छोड़कर शेष सभी लोगों को उस समय हार्दिक यन्त्रणा हो रही होगी। परन्तु एक विदुर को छोड़कर किसी की इतनी-सी हिम्मत भी न हुई कि कम से कम वह सभा से तो उठ जाता। भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के समान वीर दुर्योधन के भय से नामर्दों के समान उस दर्दनाक दृश्य को देखते बैठे रहे। जब कोई दुरात्मा

अधिकारी के स्थान पर आसीन होता है तो वह सारे जन-समाज को भी पतित वना देता है। दुर्योधन के प्रभाव से उस समय सारा भारतीय जन-समाज त्रस्त और पतित हो रहा था। यह इसी एक वात से सिद्ध है कि पल्ले दरजे का दुराग्रही और दुष्ट होते हुए भी कुरुक्षेत्र के युद्ध मे दुर्योधन को ही भारतीय नरेशो से अधिक सहायता मिली। यदि कृष्ण के समान पाण्डवो का कोई चतुर सहायक न होता, तो वे वेचारे दुर्योधन के इतने वडे जन-वल के सामने कही के न होते। साराश यह कि दुर्योधन एक अत्याचारी शासक था और उसने अपने आतक से समूचे भारतीय समाज को त्रस्त, पतित और नामर्द वना रक्खा था। ऐसे मनुष्य का नाश करना तथा उसके सहायको का मूलोच्छेदन करना एक वडा महत्त्वपूर्ण, धर्म-सगत और राष्ट्रीय काम था। इसी दृष्टि से व्यास जी ने कुरुक्षेत्र को धर्म-क्षेत्र कहा है। इसी विचार से योगेश्वर कृष्ण ने इस युद्ध को धर्मयुद्ध कहा है। अतएव इसे महज पारिवारिक झगडा समझना हमारी नम्र सम्मति मे भूल है। ऐसे महत्त्वशाली राष्ट्रीय शुद्धि के प्रसग पर औचित्य-अनौचित्य के निर्णय के लिए यदि गीता-प्रतिपादित कर्मयोग की आवश्यकता न होती तो फिर कव हो सकती थी?

सन् १९२५ के अक्टूवर या नवम्वर महीने मे महात्मा जी ने 'गीता का आशय' (The meaning of the Gita) शीर्षक एक लेख अपने पत्र मे लिखा था। वह लेख तो इस समय हमारे सामने नही है, परन्तु १३ दिसम्वर सन् १९२५ के 'मराठा' में इन पक्तियो के लेखक ने जो विचार उस लेख के सम्वन्ध मे प्रकट किये थे, उसकी प्रति सामने मौजूद है। उक्त लेख मे महात्मा जी ने कहा था कि गीता अहिंसा-धर्म का प्रतिपादन करती है, और हिंसा का समर्थन वह किसी भी रूप मे नही करती। गाधी जी ने यह भी लिखा था कि कोई भी हिंसा का कर्म मनसा हिंसात्मक हुए विना सम्पादित नही हो सकता और यदि यह वात सच हो कि अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान में शर-सन्धान किये थे तो मैं कल्पना की आँखो से देख सकता हूँ कि वह क्रोधावेश मे प्रत्यचा

को कानो तक ताने हुए खडा है। इस विचार के प्रतिवाद में उस समय हमने जो कुछ लिखा था उसी का साराश यहाँ पर दूसरे ढग से दिया जाता है।

इस बात को हम स्वीकार करते है कि गीता हिंसा का प्रतिपादन नहीं करती। परन्तु हम इस बात को मानने के लिए तैयार नही है कि वह हिंसा का समर्थन किसी भी रूप में नहीं करती। यथार्थ मे योगेश्वर ने अपने गीता-ज्ञान में न तो हिंसा का प्रतिपादन किया है, न अहिंसा का ही। उन्होंने तो केवल एक बात का ही उपदेश जन-समाज को दिया है कि मनुष्य इस जगत् में अन्त तक शास्त्र-विहित कर्मों को करता हुआ लोक-सग्रह में वाचा और कर्मणा सलग्न रहे तथा सुख-दुख, हानि-लाभ एव जीत-हार में मनसा अनुद्विग्न और अनासक्त बना रहे। इस तरह कर्म करने से इहलोक और परलोक दोनों एक साथ सध जाते है, ससार भी चलता है और मोक्ष भी मिलता है। यही गीता-ज्ञान का सारांश है और इसमें हिंसा अथवा अहिंसा के औचित्य तथा अनौचित्य का प्रश्न ही नही उठता। फिर भी यदि परोक्ष रूप से इस सम्बन्ध में भी हम योगेश्वर-कथित उपदेश का आशय निकालना चाहें तो हम कह सकते है कि लक्ष्य-रूप मे गीता को हिंसा मान्य नही है, पर साधन के रूप मे जरूर है। जो ग्रन्थ चारो वर्णो को शास्त्र-विहित एव वर्णाश्रम धर्म-प्रतिपादित कर्म करने का आदेश देता है, वह क्षत्रिय को धर्म-युद्ध करने से कैसे रोक सकता है? उसकी दृष्टि में तो धर्म-युद्ध क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का खुला हुआ द्वार ही है। धर्म-युद्ध में हिंसा ध्येय नही होती, उसका लक्ष्य धर्म-पालन ही होता है। कई प्रसगो पर जब शान्तिपूर्ण उपाय विफल हो जाते है, तब लाचार होकर हिंसा का आश्रय लेना ही पडता है। कृष्ण को भी कौरवो के प्रति ऐसे ही हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। शान्तिपूर्ण प्रयत्नो का जब कोई सत्परिणाम न निकले, तो फिर दूसरा साधन ही क्या शेष रह जाता है? योगेश्वर कृष्ण ने अपने योगबल से जिस विराट् रूप का दर्शन अर्जुन को कराया,

उनका रहस्य गया है? कौरवों की हिंसा से अर्जुन को घबराहट हुई और उसने अस्त्र-शस्त्र सब जमीन पर डाल दिये। तब कृष्ण ने कहा अर्जुन, तू कौरवों को मारने मे घबराता क्यो है? अरे, इन्हें तू मरा ही समझ। ये सब आततायी मरने ही वाले हैं। उनके पाप का घड़ा भर चुका है, अतएव मैंने तो इन्हे पहले ही मार डाला है; तुझे केवल निमित्त-मात्र ही होना है। तू ऐसा न समझ कि उनका मारनेवाला तू होगा। ऐसा कहकर योगेश्वर ने अपना विराट् रूप दिखलाया। वह रूप महान् भयकर और हिंसात्मक ही था। यों तो ईश्वर के सौम्य-रूपो का भी वर्णन कई ग्रन्थों में किया गया है। परन्तु कृष्ण ने अर्जुन को जिस रूप का दर्शन दिया, उसमें 'शुक्लाम्बरधर विष्णु शशिवर्ण चतुर्भुजम्' वाली सौम्यता की रूप-रेखा भी नही थी। गीता-वर्णित विराट् रूप को पाठक देखें, परन्तु ध्यान रहे कि देखते समय हृदय की धड़कन न बढने पावे।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र पश्यामि त्वा सर्वतो नन्तरूपम्।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्॥ (१६)
द्यावापृथिव्योरिदमतर हि व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा।
दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्र तवेद लोकत्रय प्रव्यथित महात्मन्॥ (२०)
रूप महत्ते बहुवक्त्रनेत्र महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदर बहुदष्ट्राकराल दृष्ट्वा लोका प्रव्यथितास्तथाहम्॥ (२३)
दष्ट्रा करालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ (२५)
अमी च त्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रा सर्वे सहैवावनिपालसघै।
भीष्मो द्रोण सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्य॥ (२६)
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै॥ (२७)

इस भयानक दृश्य को देखकर वीर अर्जुन के भी छक्के छूट गये और उसने घबराकर पूछा कि देव आप कौन हैं? विराट् रूप ने उत्तर दिया —

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधा ॥ (३२)

इस हिंसात्मक और संहार-सूचक उत्तर को सुनकर अर्जुन ने गिडगिडाकर वहुत-सी प्रार्थना की और अन्त में कहा —

किरीटिन गदिन चक्रहस्तऽमि इच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रवाहो भवविश्वमूर्ते ॥

भगवन् ! इन सहस्र भुजाओ को, इन कटकटाते हुए कराल दाँतो को, इस लपकती हुई सहस्रों योजन की जिह्वा को और ज्वालामुखी के समान प्रचण्ड और प्रलयकारी ज्वाला उगलनेवाले मुख और नेत्रो को छोडिए, और चतुर्भुजी रूप धारण करके प्रसन्न वदन लेकर 'शान्त शिवम् सुन्दरम्' वन जाइए। मेरी तवीअत वहुत घवरा गई है।

क्यों अर्जुन, सीधे से नही मानते थे ? शान्ति-पूर्ण उपाय तुम्हारे सामने भी विफल गये ! सीधी तरह समझाया, वुझाया, लोक-लाज की निन्दा दिखाई, शास्त्र-धर्म का पाठ पढाया, कर्मयोग का गूढ रहस्य समझाया, लेकिन उन सव सौम्य उपायो का तेरे हिंसा-भीत कायर हृदय पर कुछ भी परिणाम न हुआ। अच्छा तो देख, मेरे कराल हिंसा-मय रूप को। यही विराट्-दर्शन का मुख्य अभिप्राय था।

इसका परिणाम भी वही हुआ जो अभिप्रेत था। सौम्य शब्दो से जो बात सिद्ध न हुई, वह उग्र रूप के प्रदर्शन से अनायास तय हो गई। ससार में वहुधा ऐसा ही होता है। विना उग्र रूप दिखलाये काम नहीं चलता। शान्त प्रकृति का सीधा आदमी दुष्ट-जन-समाज में वहुधा रौंदा जाता है। कोई उसकी परवाह नहीं करता। परन्तु यदि आप सामर्थ्यवान् है तो उग्र रूप लेकर, लाल आँखें करके, त्यौरी वदल कर खडे हो जाइए, सव ठीक-ठीक निपट जाता है, गुर्रानेवाले विनय-शील होकर घिघियाने लगते है।

अव हम पूछते हैं कि जो लोग गीता को अहिंसा का प्रतिपादक समझते है वे इस विराट् हिंसात्मक रूप का क्या आशय निकालते है ?

सच पूछा जाय तो परमेश्वर पल्ले दरजे का हिंसाकारी है। रचना के साथ साथ उसकी सहारक क्रियायें हमेशा जारी रहती है। क्वेटा तथा विहार के भूकम्प तथा भयकर जन-नाश को देखकर तो साधारण मनुष्य का त्रस्त हृदय बेलाग होकर कह बैठता है कि ससार का सर्वोपरि शासक कोई दयालु ईश्वर नही; वह तो कोई हृदयहीन हिंसक पशु या शैतान है।

विराट्-दर्शन कुरुक्षेत्र के समरांगण में बिलकुल प्रसगानुकूल था। यदि उद्देश्य उचित हो और शान्ति-पूर्ण प्रयत्न विफल हो जावें, तो हिंसा से डरना नही, यही बात योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को सिखाई। "अहिंसा परम धर्म है" क्योकि परमात्मा का अन्तिम रूप शान्त है, शिव है और सुन्दर है। जब वह एक ही है, दो नही; तो सघर्षण की सम्भावना कैसी? और जहाँ सघर्षण नही, वहाँ हिंसा की उपादेयता भी नही। पर ज्यो ही द्वद्वज सृष्टि का सूत्रपात हुआ, एकता से अनेकता हुई कि विग्रह और सग्राम होने लगे। विग्रह का दूसरा नाम ही तो ससार है। ऐसे ससार में सौम्य उपायो से हमेशा काम नही चलता। ऐसे ससार को चलाने के लिए स्वय ईश्वर को भी उग्र और हिंसात्मक रूप धारण करके आततायियो के विनाश के लिए 'कालोऽस्मि लोकक्षय-कृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त' कहना पडता है। परन्तु इतना सब करते हुए ईश्वर हृदय से क्षुब्ध नही होता। उसका बाह्य रूप भयकर और प्रलयकारी है, परन्तु उसका महान् हृदय प्रशान्त महासागर से हजार गुणा बढकर शान्त और गम्भीर रहता है। उसका मूल स्वरूप भी वही है। ठीक इसी प्रकार जो लोग ईश्वर-प्रतिनिधि समाज-सचालक होते है, उन्हें भी शान्त हृदय से समबुद्धि से हर्ष-विषाद-शून्य रहते हुए समाज में शान्ति और धर्म-स्थापन करने के अन्तिम उद्देश्य से कई प्रसगो पर उग्र रूप धारण करके हिंसा-कार्य में प्रवृत्त भी होना पडता है। ईश्वर के तथा ईश्वर-प्रतिनिधि राष्ट्र-नेताओ के कर्तव्य-कर्म अनुपात और व्यापकता की दृष्टि से छोटे बडे हो, परन्तु दोनो एक ही नीति और

एक ही सिद्धान्त में समाविष्ट होते हैं। इस बात को न भूलना चाहिए।

कहने का अभिप्राय यह कि जिस प्रकार स्वभाव, अहिंसात्मक मनोवृत्ति और विकार-रहित समबुद्धि का आश्रय लेकर ईश्वर स्वधर्मानुसार संसार-संचालन करता है; और इस शासन-क्रिया में कई प्रसंगों पर 'धर्मसंस्थापनार्थाय' और 'विनाशाय च दुष्कृताम्' उग्र हिंसात्मक रूप धारण किया करता है, ठीक उसी प्रकार योगेश्वर कृष्ण ने समबुद्धि से—अहिंसात्मक मनोवृत्ति से—दुराचारी कौरवों के विनाश-सम्पादन के लिए अर्जुन को उत्तेजित किया। शब्दों से काम चलता हुआ प्रतीत न हुआ तो प्रत्यक्ष अपना भयंकर हिंसात्मक रूप दिखाकर अर्जुन को प्रतीत कराया कि देख मैं स्वयं ऐसा करता हूँ, सो तू भी कर। इन सब बातों का यदि हम सारांश निकालें तो कहना होगा कि गीता-धर्म के अनुसार मनसा अहिंसात्मक रहना एक आचार-रीति निर्णीत सिद्धान्त है। समबुद्धि को ही अहिंसात्मक बुद्धि कहते हैं। ऐसी बुद्धि संसार के प्रत्येक काम में होनी ही चाहिए। परन्तु वाचा और कर्मणा हमेशा अहिंसात्मक रहना योगेश्वर कृष्ण के मतानुसार कोई सैद्धान्तिक बात नहीं है। यह एक ऐसी बात है जो देश, काल और पात्र के अनुसार नीति (policy) के रूप में परिवर्तित होती रहती है। समाज-संचालकों का उद्देश्य संसार में प्रगतिशील शान्ति को कायम रखना है। इसलिए वे स्वयम् हिंसात्मक होकर शान्ति का भंग नहीं कर सकते। लेकिन जब जन-समाज में शान्ति-भंग करनेवाले दुराचारियों की शक्ति बढ़ जाती है और शान्ति-पूर्ण उपायों से वे सन्मार्ग पर नहीं लाये जा सकते, तब धर्म और शान्ति के धुरन्धर सत्पुरुषों को शस्त्रहस्त होकर हिंसा करनी ही पड़ती है। क्या शान्तिपूर्ण उपायों से और प्रेम से दुर्जन वश में आ सकते हैं? बीसवीं सदी में हिन्दुस्थान का एक महापुरुष तो ऐसा ही समझता है। समझने दीजिए, पर संसार का संचित अनुभव अधिक प्रामाणिक है। यह बात इतिहास-सिद्ध है कि

दुर्जन कई मरतबे प्रेम से नहीं जीते जाते। योगेश्वर कृष्ण में प्रेम की जितनी शक्ति थी, उतनी कदाचित् किसी भी दूसरे महात्मा में न थी, न रहेगी। परन्तु दुर्योधन ऐसे अवतारी महापुरुष की प्रेम-शक्ति से भी न जीता गया। उसने बेलाग होकर कह दिया कि कृष्ण, बस चुप रहो, बिना युद्ध के पाण्डव पाँच गाँव तो क्या, सुई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं पा सकते। योगेश्वर का प्रेम-बल धरा रह गया, बिलकुल बेकार गया। ऐसे दुरात्मा से कोई कैसे निपटे? हिंसा ही एक उपाय है। अतएव वाचा और कर्मणा अहिंसात्मक रहना कर्मयोगी मनुष्य के लिए कोई सिद्धान्त की बात नहीं है। नियम जरूर है, पर उसके अनेक अपवाद भी होते हैं। ऐसे अपवाद के प्रसंगों पर अहिंसात्मक बने रहना कर्तव्य से भ्रष्ट होना है। गीता-प्रतिपादित अहिंसा का यही वैज्ञानिक रूप है।

ऐसे ही एक प्रसंग पर अर्जुन क्षात्र-धर्म से विमुख हो रहा था। इसलिए कृष्ण ने उसे कर्मण्यता का सच्चा रहस्य सुझाया। निर्विकार और सम (अहिंसात्मक) बुद्धि से कौरवों को कुरुक्षेत्र के मैदान में मारने का ही उपदेश उन्होंने दिया। यथार्थ में गीता-प्रतिपादित अनासक्ति-योग की यही तो विशेषता है कि वह कर्मशील मनुष्य को अहिंसात्मक और निर्विकार बुद्धि देती है। हमें विश्वास है कि महात्मा जी को गीता का यह अभिप्राय मान्य है। फिर भी आश्चर्य की बात है, वे ऐसा क्यों कहते हैं कि धनुष की प्रत्यंचा क्रोध अथवा मानसिक विकार (Mental Violence) के बिना तानी नहीं जा सकती। ऐसा कहना गीता-प्रतिपादित कर्मयोग पर हरताल फेरने के समान है।

क्या यह सच है कि मानसिक हिंसा के बिना बाहरी हिंसा नहीं हो सकती? यदि ऐसा है तो फिर कृष्ण जी का सारा ज्ञान व्यर्थ है, उसके अनुसार आचरण करना असम्भव है। कौरवों को मारते समय अर्जुन की मानसिक अवस्था कैसी थी, इस प्रश्न का निश्चयपूर्वक उत्तर देना कठिन है। परन्तु कृष्ण जी का आशय तो बिलकुल स्पष्ट है। उन्होंने अहिंसात्मक मनोवृत्ति से ही हिंसा-कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश अर्जुन

को दिया था और अर्जुन ने अन्त में कहा भी था कि महाराज, अब मेरे मन के सारी शंकाएँ दूर हो गईं, आपका आशय मैं समझ गया और उसी के अनुसार आचरण करूँगा—'करिष्ये वचनं तव'। फिर ऐसा समझने का कारण ही क्या हो सकता है कि अर्जुन उपदेश के विरुद्ध हिंसात्मक भावना से ही हिंसा-कर्म में प्रवृत्त हुआ होगा। यदि हिंसात्मक भावना के बिना बाहरी हिंसा असम्भव होती तो कृष्ण के समान अन्तर्दर्शी महापुरुष ऐसा उपदेश ही क्यों देते ?

उनके समान अवतारी पुरुष की बात जाने दीजिए। हम जैसे साधारण संसारी आदमी का भी अनुभव इस बात को स्वीकार कर सकता है कि हिंसात्मक भाव के बिना बाहरी हिंसा सर्वथा सम्भव है। यदि किसी को शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट पहुँचाना हिंसात्मक कर्म है तो हम कह सकते हैं कि उसके लिए मानसिक हिंसा-वृत्ति अनिवार्य नहीं है। गृहस्थ-जीवन में पिता अपने पुत्र को न जाने कितनी बार शारीरिक दण्ड देकर अथवा जली-कटी बातों के द्वारा मानसिक सन्ताप पहुँचा कर उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। यह सर्व-साधारण के अनुभव की बात है। फिर भी पिता के मन में किसी भी प्रकार की हिंसा-वृत्ति उस समय नहीं रहती। हम यह मानते हैं कि ताड़ना देते समय उसके हृदय में क्रोध का भाव जाग्रत होता है। परन्तु यह क्रोध प्रेम-मूलक होता है, हिंसात्मक नहीं। उसे अहिंसात्मक क्रोध भी कह सकते हैं। सर्जन का उदाहरण हमारे कथन को और भी स्पष्ट कर देता है। वह रोगी को कई प्रसंगों पर इतना अधिक शारीरिक कष्ट पहुँचाता है कि कुछ समय तक वह कष्ट-भोगी को शत्रुवत् प्रतीत होता है। फिर भी उसके हृदय में हिंसा की बू-बास भी नहीं रहती, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह बड़े प्रेम के साथ अपना नश्तर चलाता है। अभियुक्तों को प्रति-दिन सजा देनेवाले न्यायाधीशों की मनोवृत्ति भी सर्वथा अहिंसात्मक रहती है। उदासीन भाव से वे एक कर्मयोगी के समान अपराधियों को दण्ड दिया करते हैं। इस तरह पाठक देखेंगे कि जीवन के अनेक प्रसंगों

पर हमारे बाहरी आचरण और मानसिक अवस्था में बड़ा अन्तर रहा करता है। अहिंसात्मक भावना से हिंसा-कर्म कई प्रसगों पर साधारण ससारी लोग भी किया करते हैं। फिर ऐसा क्य। माने कि अर्जुन के लिए कौरवों का वध करना मानसिक हिंसा के बिना असम्भव था। उसकी सम्भावना तो जन-साधारण का अनुभव ही सिद्ध कर देता है। फिर अर्जुन कोई मामूली आदमी नही था। वह धीर, वीर और गम्भीर विचारक भी था। उसके सौभाग्य से उसे उपदेश देनेवाला भी उच्चातिउच्च कोटि का अवतारी महापुरुष मिला था। विराट् रूप के दर्शन से वह कृतकृत्य भी हो चुका था। फिर ऐसा कोई क्या माने कि उसने उपदेश के विरुद्ध काम किया? हमारी नम्र सम्मति में ऐसा समझने के लिए कोई कारण नही है। ध्यान रहे कि गाधी जी ने अर्जुन तथा कुरुक्षेत्र के भौतिक युद्ध की ऐतिहासिकता को क्षण भर के लिए मान कर ही ऐसा कहा है। हम तो उसकी ऐतिहासिक सत्यता को मानते ही हैं और यह भी मानते हैं कि अर्जुन ने ठीक वैसा ही किया जैसा कि उसे उपदेश दिया गया। तात्पर्य यह कि मन-बुद्धि की अहिंसात्मक अवस्था के साथ साथ वाचिक या शारीरिक हिंसा सर्वथा शक्य और सम्भव है। गीता इस बात का स्पष्टतया उपदेश भी देती है कि एक कर्तव्यनिष्ठ क्षत्रिय को अहिंसात्मक भावना से, समबुद्धि से स्थितप्रज्ञता की अवस्था में रहकर धर्म-मूलक भौतिक युद्ध में शामिल होना ही चाहिए, दुर्योधन के समान दुराचारियों का सहार करना ही चाहिए, अन्यथा धर्म-भ्रष्ट होना पड़ेगा। तात्पर्य यह निकला कि मन-बुद्धि की अहिंसात्मक अवस्था गीता को अटल सिद्धान्त के रूप में मान्य है। परन्तु वाचिक और कायिक अहिंसा कोई सिद्धान्त की बात नही है। वाणी और कर्म से हमें धर्म-पालन में कई प्रसगों पर हिंसात्मक होना पड़ता है, होना भी चाहिए। अर्जुन को भी धर्मावतार कृष्ण के उपदेश से ऐसा ही करना पड़ा था। ईश्वर को भी सृष्टि के शासन में यही काम करना पड़ता है। जो ईश्वरीय धर्म है—जिस काम को वह बहुत बड़े पैमाने पर करता है, उसी प्रकार

का कार्य उसके प्रतिनिधियों को भी छोटे दायरे मे करना पड़ता है। अन्यथा वे ईश्वरीय मन्तव्य में सहायक ही कैसे हो सकते हैं? स्वय गाधी जी ने प्रेमपूर्ण हृदय से एक बछड़े की हत्या की है और न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर पागल कुत्ता को जहर दिलवाया है। हिंसा के दोनों काम उन्होंने पूर्ण अहिंसात्मक बुद्धि से ही किये। स्वय गाधी जी ने उन कार्यों का समर्थन ऐसा ही कहकर किया था। फिर जो बात उनके लिए सम्भव है, वह अर्जुन के लिए क्यों नहीं?

(२)

अहिंसा गाधी जी के जीवन का सबसे प्रियतम सिद्धान्त है। उसकी विवेचना के बिना उनके गुण, धर्म और स्वभाव की कोई भी मीमासा पूरी नहीं हो सकती। अपने सार्वजनिक जीवन मे उन्हें इस विषय पर विचार प्रकट करने के अनेक प्रसग आये है। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागो में रहने-वाले सैकडो स्त्री-पुरुषो ने उनसे इस सम्बन्ध में कई तरह के प्रश्न भी किये हैं। अपने स्वभाव तथा सस्कार के अनुसार गाधी जी ने ऐसे सभी प्रश्नो के उत्तर योग्यता-पूर्वक दिये हैं। परन्तु प्रतीत होता है कि अहिंसा का वैज्ञानिक स्वरूप यथोचित स्पष्टतापूर्वक लोगों की समझ में अभी तक नही आया। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह है कि 'अहिंसा' शब्द की रचना नकारात्मक होने के कारण उसका आशय अनेक अपवादो से इतना खडित हो जाता है कि उसे नैतिक नियम का रूप देने में बडी कठिनाई प्रतीत होती है। दूसरा कारण यह है कि इस विषय पर स्वय गाधी जी के विचार भी गत पन्द्रह वर्षों के अन्दर बहुत धीरे धीरे स्पष्ट हुए हैं। जन्म-गत वैष्णव सस्कारो से ओत-प्रोत होने के कारण उनका हृदय अहिंसात्मक भावना से परिपूर्ण है। परन्तु इस ससार में हृदय की केवल भावना से ही काम नहीं चल सकता। अहिंसा के तथ्य पर यदि किसी को किसी तरह विश्वास हो चुका है तो ऐसा विश्वास उस मनुष्य के लिए लाभदायक भले ही हो, लेकिन उससे वैसी ही श्रद्धा अन्यान्य लोगो के हृदय में जाग्रत नही हो सकती। पहले तो तर्क और विवेक के

आधार पर लोगो को यह समझाना पडेगा कि अहिंसा को मानव-धर्म क्यो मानना चाहिए। (तर्क-सिद्ध विचार ही श्रद्धा का सच्चा और स्थायी आधार हो सकता है।) हमारे कहने का यह आशय नही है कि गाधी जी ने अहिंसा-सिद्धान्त को समझाने में कोई कसर—कमी रख छोडी है। प्रसगानुसार उसकी विवेचना उन्होने योग्यतापूर्वक ही की है। परन्तु एक अडचन ऐसी भी है जो हमेशा उनके सामने पडी रहती है। इसी कठिनाई का स्पष्टीकरण हम पहले करना चाहते है।

महात्मा जी की दृष्टि में अहिंसा एक त्रिकालावाधित आध्यात्मिक सिद्धान्त है। व्यक्तिगत मोक्ष को अपनी लोक-सेवा का लक्ष्य वनाकर वे सत्य और अहिंसा दोनो को अध्यात्म-दृष्टि से ही देखने के अभ्यासी है। अतएव जव जव वे अहिंसा की विवेचना स्वतन्त्र रूप से करते है, तव तव वे इसी दृष्टि से अपने विचार प्रकट किया करते है। वे कहा करते है कि मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा सदैव अहिंसात्मक रहना चाहिए। मारना सहज है, पाप भी है, परन्तु मरना कठिन है और मारने की अपेक्षा मर जाना मनुष्य के लिए अधिक श्रेयस्कर है। मनुष्य का आत्मोत्कर्ष मारने से कदापि सिद्ध नहीं होता, अपने कर्त्तव्य-पथ पर मर मिटने में ही उसकी सच्ची सफलता है। यदि महात्मा जी से कोई यह प्रश्न करे कि आप अपने सरक्षण में छोडी हुई एक नि सहाय अवला की रक्षा किसी आततायी से किस प्रकार करेंगे, तो वे अपनी दृष्टि से सभवत यह कहें कि "मैं उस दुराचारी को अनुनय-विनय से शान्ति-पूर्वक समझाने का प्रयत्न करूँगा, फिर यदि मेरे वचनो से उसमें आत्म-जाग्रति न हुई तो मैं अपने अहिंसात्मक प्रतिरोध से उस दुष्ट का सामना करूँगा। यदि मेरी अहिंसात्मक भावना सच्ची और सामर्थ्यवती होगी तो मैं उसे अपने प्रेम-पूर्ण व्यवहारो से जीत लूँगा। यदि नही तो मैं उस अवला और दुराचारी के बीच अपने शरीर और प्राणो को डालकर होम दूँगा। इतना सब करने को मैं तैयार हूँ, परन्तु अपने हाथो से उस आततायी पर प्रहार न करूँगा।" इस तरह के अहिंसात्मक विचार उन्होने कई वार प्रकट

किये हैं। अध्यात्म-दृष्टि से प्रतिपादित किया हुआ अहिंसा का यह सिद्धान्त महात्मा जी की राय में ऐसा त्रिकालाबाधित नियम है कि उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। उनकी ऐसी स्वतन्त्र विवेचनाओं को पढ़-सुन कर लोगों की भी यही धारणा हो गई है कि हिंसा हर हालत में वर्जित है और अहिंसा एक त्रिकालाबाधित धार्मिक सिद्धान्त है।

लेकिन जब गांधी जी के सामने सामाजिक जीवन में आनेवाली कोई व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित होती है या प्रश्न-द्वारा प्रस्तुत की जाती है तो उलझन में पड़कर उन्हें ऐसी भी सलाह देनी पड़ती है।—

'प्रिय मित्र,

"आपकी वर्णन की हुई यह स्थिति बड़ी सोचनीय है। लोग अगर अपने मुसलमान भाइयों से डरते हैं तो उन्हें शारीरिक बल का प्रयोग करके अपनी रक्षा करने का पूरा अधिकार है। ऐसा न करना कायरता का काम समझा जायगा। कायरता किसी भी तरह अहिंसा नहीं कही जा सकती। कायरता तो खुली हुई और सशस्त्र हिंसा से भी बुरे प्रकार की हिंसा है।

["हरिजन सेवक' २६ जुलाई सन् १९३५]

इसी तरह कुछ वर्षों के पहले एक बार जब अहमदाबाद के किसी मिल-कम्पाउण्ड में कुछ कुत्ते पागल होकर काटने लगे थे तो उन्होंने उन जानवरों को जहर देकर मरवा डालने की सलाह दी थी। अपने ही आश्रम में स्वयं उन्हें एक बार मरणासन्न परन्तु जीवित बछड़े को इञ्जेक्शन देकर मरवा डालना पड़ा था। ऐसे दोनों प्रसंगों पर अहिंसा के भावुक भक्त बड़े उद्विग्न हुए थे और महात्मा जी को वैज्ञानिक तर्क-सरणी का आधार लेकर उन सबका समाधान करना पड़ा था। मालूम नहीं कि उनकी विवेचना से लोगों को आन्तरिक सन्तोष हुआ या नहीं। हमें तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि अहिंसा-प्रेमियों की विचार-भ्रान्ति कुछ और बढ़ गई होगी।

ऊपर हमने 'मद्रास मेल' में प्रकाशित जिस पत्र को उद्धृत किया है, वह यद्यपि महात्मा जी के शब्दों में नहीं है फिर भी उन्हीं के कथनानुसार उसमें उनके विचारों का सारांश आ गया है। उस पत्र को पढ़कर किसी अंग्रेज आदमी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए उनसे कहा है कि आप यह क्या कह रहे हैं, यह तो आपके पूर्व-प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है। एक लम्बे पत्र में उत्तर अभी हाल ही में गांधी जी को उस अंग्रेज पत्र-प्रेषक का शंका-समाधान करना पड़ा है। ऐसे और भी कुछ प्रसंग उनके सामने सम्मुख आये हैं, पर इस समय उनका स्मरण नहीं है। फिर भी इतने उदाहरण हमारी सैद्धान्तिक चर्चा के लिए प्रसंग में भी अधिक हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण लगातार पन्द्रह या बीस वर्षों के प्रयत्न के बाद भी महात्मा जी का अहिंसा सिद्धान्त लोगों की समझ में ठीक ठीक नहीं आ सका। अभी भी ऐसे हजारों लोग हैं जो अपने शंका-निवारण के लिए गांधी जी से पत्र-व्यवहार तो नहीं करते, लेकिन आपस में उनके अहिंसा-सम्बन्धी विचारों की टीका-टिप्पणी, विवेचना तथा मीमांसा बड़ी लगन से किया करते हैं। ऐसे लोगों की संख्या कदाचित् अधिक है जो बहुधा आक्षेप और कटाक्ष भी करते हैं। महात्मा जी के राजनैतिक अनुगामियों में भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जो उनके अहिंसा-सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं; भले ही उसे कामचलाऊ नीति के रूप में लाचारी से स्वीकार करते हों। ऐसे लोगों के सामने जब व्यावहारिक अड़चनें आती हैं तो गांधी जी उन्हें अपने शरीर और स्वाभिमान की रक्षा के लिए हिंसक हो जाने का उपदेश देते हैं। फिर भी जब कभी वे अपनी दृष्टि से अहिंसा की स्वतन्त्र मीमांसा करते हैं तो धर्माचारी मनुष्य के मार्ग में हिंसा के लिए जरा भी गुंजाइश नहीं रख छोड़ते। लोग पहली दृष्टि का दूसरी से मिलान करते हैं और उन्हें दोनों के बीच विचार-वैमनस्य प्रतीत होता है। पहली नैतिक दृष्टि है, दूसरी आध्यात्मिक-दृष्टि। इन दोनों दृष्टियों के बीच कुछ

ऐसी उलझन आ पडी है और उसके कारण लोगों में अहिंसा-सम्बन्धी कुछ ऐसी विचार-भ्रान्ति फैली हुई है कि गाधी जी के लिए अभी भी इस बात की जरूरत है कि वे अपने सिद्धान्त का खुलासा और भी अधिक स्पष्ट शब्दो में करें। हम भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न प्रस्तुत प्रकरण में करना चाहते हैं।

मानव-जीवन के दो पहलू होते है, वैयक्तिक और सामाजिक। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध उससे और परमात्मा से है। समाज मुझसे उसी बात की कैफियत तलब कर सकता है कि जो कुछ मै लोगो के सम्बन्ध में करता हूँ। अपने सार्वजनिक अथवा सामाजिक व्यवहार के लिए मैं जन-समाज के सामने जिम्मेदार हूँ। लेकिन अपने हृदय की भावनाओ तथा बुद्धि के विचारो के लिए और ऐसे आचरणो के लिए कि जिसका सम्बन्ध केवल मुझ ही से है, मैं लोगो के सामने नही, अपने परमात्मा के सामने जिम्मेदार हूँ। इस प्रकार मनुष्य को हमेशा दो दृष्टियो से अपना जीवन-सचालन करना पडता है। मनुष्य और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध अध्यात्म-दृष्टि से देखा जाता है और मनुष्य और मनुष्य के बीच का सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से। इस पर से कोई यह न समझे कि इन दोनो दृष्टियो में कोई महत्त्वपूर्ण और सैद्धान्तिक वैमनस्य है। नीति-धर्म की बुनियाद अध्यात्म-दृष्टि पर ही डाली गई है। लेकिन फिर भी व्यवहार में दोनो के बीच अन्तर पड़ जाता है। ऐसा अन्तर क्यो और किस तरह पड जाता है इसकी चर्चा हम आगे चल कर करेंगे। अभी अहिंसा-सिद्धान्त को हम अध्यात्म-दृष्टि से देखना चाहते हैं।

सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि हिंसा-कर्म द्वैत का व्यापार है। उसके लिए मारनेवाला, मरनेवाला और मारने की क्रिया—इन तीन उपादानो की आवश्यकता होती है। मरनेवाले और मारनेवाले के बीच व्यक्तित्व-भेद का होना अथवा माना जाना हिंसा के लिए बिलकुल अनिवार्य है। जिसे हम अपने से भिन्न एक अनिष्टकारी वस्तु समझते है उसका नाश कर डालते है। उसी प्रकार जिसे हम अपना सहारक शत्रु समझते है,

उसे हर तरह से मिटा देने को प्रयत्नशील हो जाते हैं। इस तरह द्वैत का भाव द्वेष उत्पन्न करता है और द्वेष उत्पन्न होकर द्वैत की भावना को और भी सुदृढ बना देता है। इसी भावना की बदौलत ससार में उथल-पुथल, खून-खराबी और आड-छेड, हमेशा बनी रहती है। इस द्वैत की दुनिया में हर आदमी अपने को दूसरे से भिन्न समझता है। प्रेम इस भेद-भाव को कम करता है और द्वेष उसे बढाता है। लेकिन जो मनुष्य प्रेम-पथ का पथिक होकर अपने हृदय को द्वेष से मुक्त कर लेता है, वह अपने और दूसरो के बीच द्वैत-भावना को निकाल देता है। अन्त में वह अद्वैतवादी होकर जगत् में और उसके बाहर भी एक ही सत्य-ब्रह्म का दर्शन करने लगता है। अपनी अद्वैत-भावना से प्रेरित होकर वह सृष्टि को ईश्वरमय देखता है। 'सीय राममय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।' यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास की इस रचना में पूर्ण अद्वैत-भावना नही है, तो भी इतना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जो मनुष्य ससार के प्राणियो को अपने इष्टदेव के रूप में देखता है, वह किसी को किसी तरह की क्षति पहुँचा ही नहीं सकता। ऐसे प्रेम-पथी के लिए हिंसा एक असभव मानसिक अवस्था है। प्रेम में उसकी गुजाइश ही नही। यदि भक्त के लिए हिंसा असभव है तो कहना होगा वह एक पूर्ण अद्वैती ज्ञानी के लिए उपहासास्पद कर्म है। उसकी दृष्टि में किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना अपने पैरो आप ही कुल्हाडी मारने के समान है। जो कुछ इस जगत् में है सो उसकी नजर में एक ही तो है, कौन किसको मारे और क्यो मारे? यदि कोई अज्ञानी मनुष्य द्वैत-मूलक द्वेष-भावना में पडकर मुझ पर आक्रमण करता है तो उसकी हिंसा का उत्तर अपनी हिंसा के द्वारा क्यो दूँ। मैं तो अपने ही ज्ञान के आधार पर आचरण करूँगा। अहिंसा का यही विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। इसका अवलम्बन औचित्य और सार्थकता के साथ वही मनुष्य कर सकता है, जो पूर्ण ज्ञानी है और जिसके आचरण का सम्बन्ध आक्रमणकारी और परमेश्वर के सिवाय किसी तीसरे व्यक्ति से नही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस आध्यात्मिक दृष्टि का उपयोग मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में ही कर सकता है। इस समाज का सार्वजनिक जीवन इस अद्वैत-मूलक विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से सञ्चालित नहीं हो सकता। इसी कारण सर्वसाधारण के लिए नीति-धर्म की रचना की गई है। यह सार्वजनिक-धर्म अध्यात्म-मूलक है सही, लेकिन वहीं तक जहाँ तक वह व्यवहार्य और उचित है।

ध्यान रहे कि नीतिधर्म की रचना अध्यात्मदर्शी आचार्यों के द्वारा ही हुई है। सत्यरूपी अद्वैत तत्व का अन्तर्दर्शन करते हुए भी उन्होंने द्वैत-प्रसार की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया। इसी कारण उन्होंने प्राणिमात्र को प्रेम-दृष्टि से देखने का उपदेश तो दिया, लेकिन यह भी कहा कि आततायियों की हिंसा का उत्तर प्रतिहिंसा के रूप में देना सर्वथा नीति-सम्मत है। इसी कारण उन्होंने लोगों को शान्तिपूर्वक रहने का उपदेश तो दिया, पर यह भी कहा कि सामाजिक जीवन की शान्ति का भंग करनेवाले आततायियों के विनाश-साधन के लिए यदि संग्राम करना पड़े तो यह भी मनुष्य का धर्म है। इस तरह नीति के आचार्यों ने समाजधर्म की रचना उसकी द्वैती परिस्थिति के अनुकूल की है। लोगों के सामुदायिक जीवन में 'मैं और तू' का जो सर्वगत द्वैतभाव समाया हुआ है और जिस भावना के आधार पर ही यह संसार चलायमान है, उसकी अवहेलना कोई कर ही कैसे सकता है? इसी कारण उन्होंने अध्यात्म-सम्मत वैयक्तिक अहिंसा-धर्म को लोगों के सार्वजनिक जीवन के लिए अव्यवहार्य और अनुचित भी माना। नीति-धर्म ही समाज-धर्म माना गया। इस धर्म का लक्ष्य सार्वजनिक हित है और उसके आधार-स्तंभ प्रेम और न्याय हैं। मैं रामदत्त और देवदत्त दोनों का प्रेमी हूँ। ऐसी हालत में उन दोनों के मध्य यदि स्वार्थ-विरोध उत्पन्न हो, तो मैं किसी का भी पक्षपात नहीं कर सकता, उन दोनों के बीच मुझे न्याय के अनुसार ही निर्णय करना पड़ेगा। अतएव न्याय का निदान प्रेम-मूलक होता है और उसका परिणाम दंड है। अपराधी को दंड देने में हिंसा अनिवार्य है। इस तरह पाठक देखेंगे कि नीतिधर्म में

आवश्यक और उचित हिंसा सर्वथा समर्थित है। 'मद्रासमेल' में प्रकाशित जिस पत्र को हमने उद्धृत किया है, उसमें महात्मा जी ने आन्ध्र-देश के कांग्रेस-कार्यकर्ता को इसी नीति-धर्म का ही उपदेश दिया है। लेकिन वे इस व्यवहारोचित नैतिक धर्म का उपदेश हमेशा नहीं देते, प्रसंग आने पर व्यावहारिक अड़चनों से परास्त होकर ही उन्हें ऐसा कहना पड़ता है। अक्सर तो वे विशुद्ध अध्यात्म-दृष्टि से ही लोगों को अहिंसा का उपदेश दिया करते हैं। इसी कारण उनके विचारों में सर्व-साधारण को विषमता दिखाई देती है और भ्रम फैलता है।

महात्मा जी के विचार यों तो बड़े स्पष्ट होते हैं। उनकी भाषा भी परिमार्जित और साफ-सुथरी रहती है। लेकिन एक मीमांसक की हैसियत से अत्यन्त नम्रतापूर्वक इतना कह देना हम आवश्यक समझते हैं कि उनके अहिंसा-सम्बन्धी लेखों में विचार-भ्रान्ति की काफी गुंजाइश रहा करती है। इसी कारण लोग उन्हें अनेक तरह के प्रश्नों से हैरान करते हैं और उन्हें उसी विषय पर बार बार कई तरह से लोगों का समाधान करना पड़ता है। दूर जाने की जरूरत नहीं, अँगरेज प्रश्नकर्त्ता को गांधी जी ने जो उत्तर दिया है वह २६ जुलाई, सन् १९३५ के 'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित है। इस लेख का शीर्षक है "अहिंसा का अर्थ"। यद्यपि महात्मा जी ने उसे अपने अहिंसा-सम्बन्धी विचारों के स्पष्टीकरण के लिए ही लिखा है, तथापि पाठक देखेंगे कि उसमें भी कई वाक्य ऐसे हैं कि जिनसे पढ़नेवाले के मन से भ्रम दूर होने के बजाय और भी बद्धमूल हो जाता है। यहाँ पर उस लेख के कुछ अवतरण देकर हम अपना आशय प्रकट करना चाहते हैं। गांधी जी लिखते हैं,—

"जो आदमी मरने से डरता है और जिसमें सामना करने की ताकत नहीं है, उसे अहिंसा का पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता।"

जन-समाज में दो तरह के आदमी होते हैं। एक तो वे हैं जो मरने से डरते हैं—हर हालत में डरते हैं; क्या खाट पर पड़े-पड़े, क्या रण-भूमि में एक वीर सिपाही की तरह। मृत्यु से भय खानेवाले ऐसे

लोगों की संख्या संसार में नगण्य प्रतिशत पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे लोग अहिंसा से लाखों कोस दूर हैं। महात्मा जी के मतानुसार ये अहिंसा सिद्धान्त के सर्वथा अनधिकारी हैं। अब जो फी सदी दस आदमी रह गये, उनमें से नौ आदमी ऐसे निकलेंगे जो मरना तो नहीं चाहते और जिन्हें अपनी जान प्यारी तो है, लेकिन जिन्हें स्वाभिमान अधिक प्यारा है। ऐसे लोगों के सामने जब दो ही मार्ग रह जाते हैं—या तो वे अनादृत जीवन व्यतीत करें या स्वाभिमान के साथ मर जायें—तो वे अपमानित जीवन की अपेक्षा स्वाभिमानी मृत्यु अधिक पसन्द करते हैं। इन पाँचे से लोगों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे कायर हैं और मरने से डरते हैं। परन्तु व्यर्थ की मृत्यु उन्हें भी पसन्द नहीं। यदि उनके लिए व्यर्थ ही मरने की नौबत आई, तो वे भय-स्थान से जरूर भाग जायेंगे। यदि पास की दीवार गिरनेवाली हो तो उसके नजदीक आसन मारकर बैठनेवाले को हम बहादुर या मर्द नहीं कहेंगे, वह मनुष्य पागल या मूर्ख ही कहलायगा। जिस मृत्यु से कोई नैतिक लाभ नहीं होता, उससे डरना वीरों के लिए भी बिलकुल स्वाभाविक और उचित भी है। उचित हम इसलिए कहते हैं कि ऐसी मृत्यु का आलिंगन करना आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

इस तरह पाठक देखेंगे कि फी सदी निन्नानवे आदमी मरने से किसी न किसी कारण से डरते ही हैं। जो नब्बे सैकड़ा आदमी मृत्यु-मात्र से डरते हैं—फिर चाहे वह किसी रूप में, किसी भी कारण और किसी भी प्रसंग पर आवे—वे तो महात्मा जी की सम्मति में अहिंसा-धर्म के अधिकारी हो ही नहीं सकते। हम भी ऐसा ही सोचते हैं। लेकिन अब प्रश्न है, उन नौ फी सदी आदमियों का जो मृत्यु से डरते तो नहीं, पर दीवार से दबकर व्यर्थ मरना नहीं चाहते याने ऐसी मृत्यु से जो डरते भी हैं। क्या ऐसे लोग अहिंसा धर्म के अधिकारी हो सकते हैं? ध्यान रहे कि जो आदमी गिरनेवाली दीवार के सामने मरने के

लिए तनकर खडा हो जाता है उसमे, और जो अपने ऊपर टूट पडने-वाले हथियारबन्द आक्रमणकारी के सामने निहत्था छाती अडाकर खडा हो जाता है, उसमे वस्तुत कोई भेद नही है। दोनो एक समान मूर्ख हैं।

इसी सिलसिले में हम जरा यह भी विचार कर लें कि 'मृत्यु से डरना' किसे कहते हैं और ऐसी निर्भयता में कौन-सा नैतिक गुण है। हम गाधी जी के ही समान एक ऐसे आदमी का उदाहरण लेते हैं जो जीवन और मरण के रहस्य को समझता है और जो यह भी समझता है कि यह शरीर आत्म-विकास का साधन है। 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' ऐसे ज्ञानी मनुष्य की दृष्टि में भी सशक्त और स्वस्थ शरीर धर्म-पालन का अच्छा साधन होने के कारण प्रियंकर होगा, इसमे कुछ भी सन्देह नही हो सकता। ऐसे शरीर को व्यर्थ ही छोड देना अथवा भय-स्थल में ले जाना एक ज्ञानी भी पसन्द न करेगा। कहने का अभिप्राय यह कि उसे भी ऐसी मृत्यु को आलिंगन करने की अनिच्छा रहेगी। ऐसी व्यर्थ की मृत्यु को परिस्थिति-विशेष में आती हुई देखकर यदि वह उस स्थान का परित्याग कर दे तो हम समझते हैं कि उस ज्ञानवान् मनुष्य के मत्थे कायरता का दोष नही मढा जा सकता। व्यर्थ की मौत से पिण्ड छुडाने की इच्छा रखनेवाला ज्ञानी सन्देह-स्थल से चाहे धीरे-धीरे चला आवे या अवकाश कम रहने के कारण जल्दी जल्दी चला आवे—भाग आवे—एक ही बात होगी। चाल की तेजी-मन्दी से उसकी नैतिकता मे कोई अन्तर नही पड सकता। क्या ऐसे आदमी के सम्बन्ध में हम यह नही कह सकते कि वह व्यर्थ की मृत्यु से डरता है? जिसे हम भय कहते हैं वह क्या अनिच्छामूलक नही होता? जो पदार्थ हमारे लिए अनिष्ट है, उससे किसी न किसी अश में भय तो रहता ही है।

ऐसे ज्ञानी के सम्बन्ध में एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। शरीर को जो आदमी कर्त्तव्य-पालन का साधन समझता है उसकी दृष्टि मे यह जीवन प्यारा तो होगा, पर उसकी नजरो मे प्राणो से

कर्त्तव्य अपेक्षाकृत अधिक प्यारा प्रतीत होगा। इसलिए कर्तव्य की वेदी पर वह अपने प्यारे प्राणो की भी आहुति दे डालेगा। वह ऐसा इसलिए नही करेगा कि जीवन उसे प्यारा नही, लेकिन इसलिए कि उसे कर्त्तव्य अधिक प्यारा है। मृत्यु का आलिंगन वह सहर्ष करेगा, लेकिन इसलिए नही कि वह मृत्यु से नही डरता, लेकिन इसलिए कि वह कर्त्तव्य-भ्रष्ट होने के दुष्परिणामो से अधिक डरता है। यदि ऐसे आत्म-समर्पण-शील आदमी के सामने से कर्त्तव्य का प्रश्न सहसा उठा लिया जावे तो उसके लिए मृत्यु-मुख से भाग निकलना सर्वथा उचित हो सकता है, क्योकि जिस मृत्यु पर धर्म की दाँव न लगी हो, उसके आलिंगन मे मजा ही क्या रह गया, उसमें नैतिकता ही क्या रह गई। ऐसी मृत्यु एक ज्ञानी के लिए भी अनिश्चित और भयावह दुर्घटना हो सकती है। कहने का साराश यह है कि 'मरने से न डरना' स्वयम् कोई नैतिक गुण नही है। परिस्थिति विशेष मे ही, जहाँ कर्त्तव्य-पालन का प्रश्न हो, वह ऐसा रूप धारण कर सकता है। 'व्यर्थ की मृत्यु से डरना, सर्वथा स्वाभाविक और उचित भी है। एक ज्ञानवान् मनुष्य के लिए तो उसका औचित्य और भी बढ जाता है, क्योकि वह जीवन का मूल्य समझता है।

बहुत सम्भव है गाधी जी के उद्धृत वाक्य में 'जो आदमी' के पहले या बाद 'कर्त्तव्य-पालन में' शब्द प्रच्छन्न है और पूरा वाक्य है 'जो आदमी कर्त्तव्य-पालन में मरने से डरता है'। यदि ऐसा भी है तो भी कर्त्तव्य-सम्बन्धी प्रश्न के अभाव में मरने से डरनेवाला आदमी निन्दनीय नही ठहर सकता। वह उनकी दृष्टि में अहिंसा का अधिकारी हो सकता है। महात्मा जी के उपर्युक्त वाक्य को चाहे जैसा पढिए, इतना निष्कर्ष तो निकलता ही है कि मृत्यु से हर हालत में न डरना कोई माननीय सिद्धान्त नही हो सकता। मृत्यु की परवाह उसी वक्त नही होनी चाहिए, जिस वक्त कर्त्तव्य का प्रश्न सामने हो। शेष प्रसगो पर मृत्यु वाछनीय नही हो सकती। ऐसी मृत्यु की इच्छा करनेवाला चाहे जो कुछ हो, लेकिन एक समझ-

दार मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह आत्म-रक्षा के समान महान् मानव-धर्म की अवहेलना करता है।

कोई भी धर्मात्मा इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि आत्म-रक्षा प्राणि-मात्र का धर्म है। उष्णता अग्नि का धर्म है—इस स्वभाव-द्योतक अर्थ में तो वह धर्म है ही पर—मनुष्य को करना चाहिए, इस कर्त्तव्य-सूचक अर्थ में भी वह धर्म है। आत्म-रक्षा ही एक ऐसा धर्म है जिसका समर्थन प्राणियों की स्वाभाविक प्रकृति भी करती है। यों तो साधारण मनुष्य का स्वार्थी स्वभाव अनेक पुण्य कार्यों में विघ्न पहुँचाता है। परन्तु आत्म-रक्षा ही एक ऐसा कर्त्तव्य कर्म है जिसका सहायक प्राणि-स्वभाव भी होता है। यह आत्म-रक्षा-धर्म के महत्त्व का सूचक है। इस धर्म का महत्त्व इसलिए बढा-चढा है कि उसी के आधार पर ही हमारे सारे धार्मिक जीवन का दारोमदार है। जन-समाज में अपना कर्त्तव्य-पालन करते हुए हम जीवित रहें, इसी लिए हमें हमेशा अपने शरीर और मन को सन्देह-स्थलों में अथवा हानिकारक आचरणों से सुरक्षित रखना चाहिए। आत्म-रक्षा सब धर्मों का मूलाधार है। इसी लिए मनुष्य का वह पहला धर्म है। जो इस धर्म के पालन में भूल करता है, उससे अन्यान्य कर्त्तव्यों का पालन हो ही नहीं सकता। जो प्राणी इस मौलिक धर्म पर आघात करता है, वह जन-समाज का बडे से बडा अपराधी है। जिस तरह हम व्यर्थ ही दूसरे पर आघात करके उसके आत्म-रक्षा-धर्म पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार आत्म-हत्या करके भी हम अपने आत्म-रक्षा-धर्म के उल्लंघनकारी हो जाते हैं। अतएव जिस प्रकार दूसरे का अनावश्यक वध करना जीव-हिंसा है, उसी प्रकार अपने प्राणों को व्यर्थ ही मृत्यु-मुख में डालना या और किसी तरह आत्म-हत्या कर लेना भी जीव-हिंसा है। प्राण मेरे हैं, इसलिए मैं हिंसा के दोष से मुक्त नहीं हो सकता।

ध्यान रहे कि अपनी रक्षा का यह धर्मानुमोदित अधिकार जन-समाज में सभी आदमियों को एक समान प्राप्त है। यदि आत्मरक्षा का

पूरा मतलब लें, तो इसमें शरीर, सम्पत्ति और स्वाभिमान—इन तीनो चीज़ो का समावेश हो जाता है; क्योकि मनुष्योचित जीवन के लिए इन तीनो की आवश्यकता अनिवार्य है। यदि कोई आततायी इन तीनो में से किसी एक पर भी आक्रमण करे, तो मेरा धर्म है कि मैं शारीरिक तथा मानसिक बल-प्रयोग के द्वारा उसकी रक्षा करूँ। अपने सद्व्यवहार तथा प्रेम से विरोधी को अपने वश में लाना या शान्ति-पूर्वक समझौते की बात करना, अथवा दो राष्ट्रो के बीच सन्धि की चर्चा चलाना, ये मानसिक शक्ति-प्रयोग के उदाहरण है। इन प्रयोगो का अवलम्बन शूर और सज्जन लोग पहले किया करते हैं। क्योंकि यदि इन उपायो से सफलता मिल गई तो दोनो पक्षो की आत्म-रक्षा सध जाती है। यदि मानसिक प्रयोग विफल हो गये, तो शारीरिक बल-प्रयोग की बारी आती है और वही धर्म शेष रह जाता है। ऐसी हालत मे यदि हम आमने-सामने खडे हुए आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनो व्यक्तियों के परस्परविरोधी पक्षो का जन-समाज की सामुदायिक दृष्टि से निरूपण करें तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि दोनो में से किस व्यक्ति की उपस्थिति समाज के लिए लाभदायक है और किसका अस्तित्व अनिष्टकर है। जन-समाज का निर्णय होगा कि जो मनुष्य अपना जीवन शान्ति-पूर्वक सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुए बिताता है और जो स्वत्व-रक्षा में दक्ष है, वही योग्य नागरिक और सभ्य है। परन्तु जो दूसरे के सामाजिक और नैसर्गिक अधिकारो पर आक्रमण करता है वह समाज का शत्रु है; उसका अस्तित्व समाज के लिए चलता-फिरता सजीव सन्देह-स्थल है और इसी कारण वह अधिक भयकर है। जो भय स्थावर है उससे बचना बहुत आसान है। परन्तु जो खतरा चेतन, चलायमान और चालाक है, उससे बचना बहुत कठिन है। इसी कारण जन-समाज का यह सर्व-स्वीकृत आदेश है कि आत्म-रक्षा-धर्म के पालन में ऐसे अत्याचारी का नाश कर देना सर्वथा उचित है। जन-समाज नही चाहता कि ऐसा मनुष्य अत्याचार करता हुआ उन्मत्त हाथी के समान फिरा

करे। अतएव स्वत्व-रक्षा के प्रयत्न में आक्रमणकारी का वध कर डालना सर्वथा नीतिसम्मत है, लोकमत से अनुमोदित है, कानून के मुताबिक जायज़ है और शूरोचित मनुष्योचित धर्म भी है। आततायी के सामने विनयावनत होकर सिर झुका देना और इस तरह समाज की इच्छा, कानून की मशा और मनुष्य-धर्म की अवहेलना करना न तो शूरोचित कार्य है, न उसे हम किसी तरह धर्म का रूप ही दे सकते हैं। वह आत्म-हत्या है, गिरती हुई दीवार से दब कर जान-बूझकर मर जाना है। स्वार्थ-मूलक आवेश में अंधा होकर जो मनुष्य दूसरो पर आक्रमण करता है, वह एक हिंसक पशु से किस अर्थ मे बेहतर है ? क्या अपने ऊपर आक्रमण करने-वाले पशु के सामने केवल मरने के लिए ही तैयार होकर खडे हो जाना और बल-प्रयोग-पूर्वक आत्म-रक्षा के लिए प्रयत्नवान् न होना किसी भी धर्मज्ञ मनुष्य को शोभा दे सकता है ? सामना करने की ताकत किसे कहते हैं ? केवल मरने की तैयारी से ही हिंसक शत्रु का सामना नही किया जा सकता। सामना करने मे पूर्ण सामर्थ्यवान् तो वही हो सकता है जिसने मारने और मरने दोनो की तैयारी कर ली हो। आक्रमणकारी शत्रु को यदि मारना पाप है तो उसके चरणो में व्यर्थ ही अपने प्राणो की बलि चढा देना और इस तरह आत्म-हत्या के द्वारा अपने निर्दोष पक्ष के प्रति अन्याय करना उससे भी बढकर अधर्म है। हाँ, इतना हम मान सकते है कि जो मनुष्य कमजोर है और जो आक्रमणकारी पर सफलतापूर्वक आघात नही कर सकता और जिसके बचने का कोई उपाय भी नही, उसके लिए निर्भयता के साथ मर जाने के सिवाय गत्यतर नही रह जाता। ऐसी हालत में मरने से न डरना ही मनुष्य के लिए अवशिष्ट धर्म रह जाता है।

महात्मा जी फिर लिखते हैं—

"असहाय चूहे को अहिंसक नही कह सकते क्योंकि वह तो हमेशा ही बिल्ली के मुँह का ग्रास बना रहता है। उसमें अगर ताकत होती तो वह उस हत्यारी बिल्ली को खुशी से खा जाता। पर वह तो बिल्ली को देखकर

बिल में छिपने को भागता है। हम उसे कायर नहीं कहते क्योंकि प्रकृति ने उसका स्वभाव ही ऐसा बनाया है। मगर जो मनुष्य खतरा देखकर चूहे के ऐसा बर्ताव करता है उसे अगर कायर या नामर्द कहें तो ठीक ही है। उसके दिल में हिंसा और द्वेष भरा हुआ है और खुद मार खाये बिना अगर वह शत्रु को मार सके तो उसे मारना भी चाहता है। ऐसा मनुष्य अहिंसा से लाखों कोस दूर है। उसे अहिंसा का उपदेश देना बिल्कुल अकारथ है। वीरता का लेश भी उसके स्वभाव में नहीं होता।"

इस लेखांश में महात्मा जी ने कई बातें ऐसी लिख दी हैं जो विचारणीय हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि मर्दानगी अथवा पौरुष किसे कहते हैं? पौरुष की व्याख्या इतनी सहज नहीं है कि जितना महात्मा जी समझते हैं। उनके कथनानुसार जो मनुष्य खतरा देखकर चूहे के समान बर्ताव करता है, वह कायर है। कायरता की यह मीमांसा भ्रमोत्पादक है। जो मनुष्य शेर को देखकर अथवा उसकी आशंका से पास के वृक्ष पर चढ़ जाता है वह कदाचित् गांधी जी के मतानुसार कायर होगा। लेकिन हम ऐसा नहीं समझते। नीति-शास्त्र की सम्मति भी ऐसी नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार "तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।" जब तक खतरा सामने नहीं है, तब तक उससे डरना ही चाहिए। लेकिन जब उससे बचने का दूसरा उपाय न रह जावे, तब उसका यथाशक्ति सामना करना चाहिए। "आगत तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्याद्यथोचितम्"। प्रसंग विशेष पर किसी मनुष्य ने पौरुष-प्रदर्शन किया या कायरता का व्यवहार किया—इस बात का निर्णय कई बातों का खयाल करके ही करना पड़ेगा। केवल इतना ही जानकर कि अमुक आदमी खतरा देखकर भाग गया, हम ऐसा निर्णय नहीं कर सकते कि वह कायर है। हमें सबसे पहले यह सोचना पड़ेगा कि खतरा किस तरह का था। यदि नगर में प्लेग का प्रकोप है और डाक्टर ने घर छोड़ देने की सलाह दी और सलाह मानकर यदि पंडित बलीराम जी बाहर चले गये, तो हम उन्हें कायर न कहकर बुद्धिमान् कहेंगे और जो डाक्टर की अवहेलना करके

घर ही मे बने रहे और इस तरह खतरे का सामना करके प्लेग के शिकार हो गये, उन्हें हम साहसी न कहकर हठधर्मी या मूर्ख कहेंगे। यदि किसी एकाकी या निहत्थे वीर को सूचना मिली कि वह सशस्त्र शत्रुओ के समुदाय से घिर चुका है तो उसके लिए उस समय शत्रुओ का निहत्था सामना न करके किसी तरह लुक-छिप कर अपने दल की तैयारी के लिए भाग आना कायरता का काम न होगा। औरगजेब की कैद से मिठाई की टोकरी मे दबकर निकल आना शिवाजी के लिए नामर्दी का काम नही था, बल्कि उनके उस व्यवहार मे ऐसी मनुष्योचित चतुराई थी जो इतिहास में प्रसिद्ध हो चुकी है। कैदी की हालत मे शिवाजी के लिए पौरुष-प्रदर्शन की गुजाइश ही कहाँ थी। कैद मे सडकर मर जाना या औरगजेब की प्यासी तलवार का शिकार हो जाना उनके लिए निश्चित था। ऐसी विषम और प्राणान्तक परिस्थिति मे अपने को निस्सहाय समझ कर डाल रखने मे शिवाजी के लिए कौन-सी बहादुरी की बात होती? वह तो उस वीर सेनानी के अदम्य और महान् पौरुष का परिचायक है कि वह ऐसी आशातीत परिस्थिति से युक्ति-पूर्वक बाहर निकल आया! पुरुषोचित सामर्थ्य का ऐसा विलक्षण उदाहरण वीरो के इतिहास में भी बहुत ढूँढने से मिलेगा।

'पौरुष' की यदि हम तर्क-सिद्ध मीमासा करें तो मालूम होगा कि विवेक-शून्य कोरे साहस को ही हम मर्दानगी नही कह सकते। वीर को विवेकी भी होना चाहिए। जब उसे ऐसा प्रतीत हो कि खतरे की ताकत उसके सामर्थ्य से बहुत बढ कर है और प्रसग विशेष में उसका सामना करने से जन-समाज को नैतिक या भौतिक लाभ कुछ भी नही है तथा उसकी हार निश्चित है, तो ऐसे अवसर का सामना न करना ही मनुष्योचित व्यवहार होगा। खतरे की ताकत और अपनी तैयारी के सम्बन्ध में हमने शिवाजी का उदाहरण देकर अपना आशय प्रकट कर दिया है। इन दो बातो के सिवाय विवेकी वीर को तीसरी बात पर भी विचार करना पडता है और वह है—परिस्थिति-विशेष। इस पर

विचार किये बिना हम किसी मनुष्य को न तो कायर कह सकते हैं, न मर्द। हम पहले कह चुके हैं कि सशस्त्र शत्रुओं के समुदाय का सामना न करके किसी एकाकी और निहत्थे वीर का युक्ति-पूर्वक निकल आना सर्वथा उचित है। इस परिस्थिति में उसे ऐसा ही करना चाहिए। लेकिन मान लें कि उसकी रक्षा में कई स्त्रियाँ तथा बच्चे ऐसे हैं जिनको तत्काल ही भय-स्थान से हटा लेना असम्भव है। ऐसी हालत में वह निहत्था वीर क्या करे? क्या स्त्री-बच्चों को असहाय छोड़कर इस विचार से वह स्वयम् भाग जावे कि उसकी हार निश्चित है, शत्रु बहुत संख्या में हैं और सशस्त्र भी हैं? कदापि नहीं। ऐसी परिस्थिति में उसे चाहिए कि अपनी मृत्यु निश्चित मानकर भी वह अशक्तों की रक्षा में आक्रमणकारियों का सशस्त्र सामना करे। जिस मृत्यु में किसी सिद्धान्त का प्रश्न हो, वह हर हालत में स्वीकार करने योग्य है। जहाँ ऐसा सवाल नहीं है, वहाँ मृत्यु-मुख से भाग निकलना ही पौरुष और बुद्धिमत्ता का कार्य है। इस तरह पाठक देखेंगे कि बिल्ली से चूहे का भाग जाना उचित है और यह औचित्य इसलिए नहीं है कि बिल्ली से भागना चूहे का स्वभाव है, वरन् इसलिए कि बिल्ली का सामना करने का प्रयत्न करना चूहे के लिए मूर्खता का व्यवहार होगा। चूहे में बिल्ली से डरने का जो स्वभाव है वह बुद्धिमता-मूलक है और इसी कारण विधाता ने इस भय को उस प्राणी के हृदय में पहले से ही स्थान दे दिया है। इसी नैसर्गिक प्रेरणा के अनुसार मनुष्य भी सिंह से भयभीत होकर भाग जाता है। यदि हम चूहे को कायर नहीं कह सकते, क्योंकि वह उसका स्वभाव है तो हम उस मनुष्य को भी नामर्द नहीं कह सकते जो शेर या प्लेग से डरता है। स्वभाव तो दोनों के समान हैं और दोनों असमर्थता-मूलक हैं। लेकिन फिर भी चूहे और मनुष्य के व्यवहारों में परिस्थिति-विशेष में अन्तर भी होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य एक विवेकी प्राणी है। चूहा कदाचित् अपने बच्चों को बिल्ली का ग्रास बनाकर आप भाग जायगा। परन्तु ऐसा करनेवाला मनुष्य

कायर और स्वार्थी समझा जायगा। लेकिन फिर भी कई प्रसगो पर मनुष्य और चूहे के स्वभाव-प्रेरित व्यवहार दोनो एक समान हो सकते है और दोनो उचित हो सकते है; जैसे चूहे का बिल्ली से भाग जाना और मनुष्य का सिंह से भाग जाना। तात्पर्य यह है कि खतरे से भाग जाना हर हालत मे कायरता का काम नही हो सकता। कुछ प्रसगो पर वह उचित है और कुछ प्रसगो पर अनुचित। अहिंसा-सिद्धान्त को हृदयङ्गम करने के लिए पौरुष के इस यथार्थ स्वरूप को समझ लेना बहुत आवश्यक है।

ऊपर उद्धृत किये हुए लेखाश मे एक बात और भी है जो विचार करने योग्य है। इतना तो हम समझ सकते है कि जिस मनुष्य के हृदय में हिंसा और द्वेष भरा हुआ है, वह अहिंसा का अधिकारी नही हो सकता। लेकिन भयस्थान से कौशल-पूर्वक भाग निकलने के कारण ही मनुष्य अहिंसा-धर्म का अनधिकारी नही हो सकता। जिस कमरे मे मै सो रहा हूँ, वहाँ यदि साँप घुस पडे, तो मेरे लिए दो ही उपाय रह जाते है। या तो मै पास मे रखी हुई मेज पर खडा होकर उसे लाठी से या किसी वजनदार चीज से कुचल कर मार डालूँ या स्वय भाग निकलकर उसे बाहर निकालने का प्रयत्न करूँ। अहिंसा-प्रेमी होने के कारण मै पहले उपाय का अवलम्बन नही करता और द्वेष तथा हिंसा-भाव को अपने हृदय में स्थान न देकर कमरे से भाग निकलता हूँ। ध्यान रहे कि यहाँ पर मेरा व्यवहार चूहे के समान ही है, क्योंकि मै खतरे को देखकर भाग जाता हूँ। फिर भी मानना होगा कि इस व्यवहार से मेरी मर्दानगी पर कोई भी लाछन नही लग सकता और हिंसा-भाव से मुक्त होने के कारण मै अहिंसा-धर्म का अधिकारी भी हूँ। साराश यह कि भय-स्थल से केवल भाग निकलने के कारण ही मनुष्य इस धर्म से वचित नही हो सकता और यह भी नही कह सकते कि वीरता का लेश भी उसमे नही है। जिसे हम वीरता कहते है वह मूर्खता हठधर्मी अथवा विवेक-शून्य साहस का पर्यायवाची नही है। उसमे युक्ति और कौशल के लिए भी काफी गुजाइश रहती है

और प्रसग-विशेष पर भयस्थान से भाग जाना उसे लाछित नही कर सकता।

अपने विचारो का साराश देते हुए महात्मा जी लिखते हैं —

"अहिंसा समझ सकने के पहले उस मनुष्य को यह सीखना होगा कि आक्रमण करनेवाले पहाड जैसे मनुष्य के सामने भी छाती खोलकर खडा हो जाना चाहिए और उसके आक्रमण से अपनी रक्षा करते हुए जान भी चली जाय तो कोई परवाह नही। इससे अन्यथा करते है तो उसकी कायरता और भी दृढ हो जायगी और अहिंसा से वह और भी दूर जा पडेगा ।"

पाठक देखेंगे कि महात्मा जी ने अहिंसात्मक शौर्य का जो आदर्श रखा है उसमें शत्रु की प्रबलता, अपनी तात्कालिक असमर्थता, परिस्थिति-विशेष तथा सैद्धान्तिक प्रश्न के भावाभाव-सम्बन्धी बातो पर विचार करने के लिए कोई स्थान ही नही है। 'पहाड जैसे मनुष्य' के स्थान पर यदि हम 'पहाड जैसा हिंसक पशु' रख दें तो क्या महात्मा जी अपना उपर्युक्त सिद्धान्तवाक्य बदल देंगे ? यदि नही, तो कहना होगा कि उनका अहिंसात्मक शौर्य कई प्रसगो पर हठधर्मी आत्म-हत्या का रूप धारण कर सकता है। लेकिन 'उसके आक्रमण से अपनी रक्षा करते हुए' वाक्याश से यह सूचित होता है कि महात्मा जी आत्म-रक्षा को मनुष्योचित धर्म समझते हैं। ऐसा समझते तो है पर आत्म-रक्षा करने का जो ढग वे बतलाते हैं वह बिलकुल सीमित, विचित्र और विफलता-पूर्ण है। हमारी राय में 'पहाड जैसा मनुष्य' के सामने छाती खोलकर खडे हो जाने में उचित अथवा अनुचित साहस का परिचय तो जरूर मिलता है, पर आत्मरक्षा करने का कुछ भी प्रयत्न दिखाई नही देता। आत्म-रक्षा करने का इच्छुक मनुष्य आक्रमणकारी का मुकाबिला चाहे किसी भी हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक ढग से करे, परन्तु अपनी सुरक्षित छाती को खोलकर शत्रु के पहले ही वार को अपने लिए प्राणान्तक न बनायेगा। छाती खोलने मे अनुचित अथवा उचित साहस का प्रदर्शन जरूर

है, पर आत्म-रक्षा का कुछ भी प्रयत्न नही। वह तो एक तरह की आत्महत्या ही है। बात यह है, जो मनुष्य 'पहाड जैसे' आक्रमणकारी का मुकाबिला गाधी जी के बतलाये हुए अहिंसात्मक ढग से करता है और जिसके लिए शारीरिक प्रतिक्रिया वर्जित है, उसके सामने आत्म-रक्षा का कोई उपाय ही नही है, उसके लिए मृत्यु निश्चित है। फिर महात्मा जी ऐसा क्यो लिखें कि "उसके आक्रमण से अपनी रक्षा करते हुए जान भी चली जाय तो परवाह नही।" जान जाने की परवाह तो हमेशा होनी ही चाहिए, स्वभावत रहती भी है। हाँ, मनुष्य के लिए इस नियम के कुछ अपवाद जरूर हैं। जहाँ किसी सिद्धान्त का प्रश्न हो, वहाँ इस परवाह को दिल से दूर कर देना चाहिए। जहाँ ऐसा कोई सवाल न हो, वहाँ 'पहाड जैसे' निश्चित मृत्यु के सामने छाती खोलकर खडे होने मे और बल अथवा युक्ति के प्रयोग न करने में और इस प्रकार चुपचाप एक हिंसक पशु (पशुवत् मनुष्य) के हाथ अकारण और व्यर्थ अपने प्राणो को सौंप देने में अहिंसा का व्यवहार जरूर है, पर वह मनुष्य-धर्म नही है। अहिंसा को इस बात का दावा नही हो सकता कि वह हर हालत मे धर्मसगत है। अहिंसात्मक आचरण के ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिन्हें शूरोचित कहना तो असम्भव ही है, साधारण मनुष्योचित कहना भी कठिन होगा। 'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्।' धार्मिक आचरण का ऐसा कोई नियम नही, जिसके अपवाद न हो। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

यदि महात्मा जी ऐसा समझते है कि आक्रमणकारी से अपनी रक्षा करना धर्म है तो वे इस धर्म के पालन मे शारीरिक प्रतिक्रिया को क्यो स्थान नही देते? क्या आत्म-रक्षा का धार्मिक प्रयत्न केवल इसी से कलुषित हो जावेगा कि उसमें आक्रमणकारी के शरीर से दो-चार बून्दें लहू की मेरी प्रतिक्रिया के कारण निकल आती है? यदि ऐसे द्वन्द्व में प्राणो का भी प्रश्न हो तो सृष्टि-विधाता और समाज दोनो की दृष्टि से किसका नाश उचित और वांछनीय है? धर्म की आवाज़ है कि ऐसी

हालत में एक आततायी आक्रमणकारी का जन-समाज से उठ जाना ही ठीक है। उसकी अनुपस्थिति सार्वजनिक शान्ति को सहायक होगी। समाज को उस आदमी की आवश्यकता है जिसे आत्म-हत्या पसन्द नहीं है और जो अपनी रक्षा आप करने में सामर्थ्यवान् है, क्योंकि ऐसा आदमी समाज अथवा राष्ट्र के सकटकाल में सहायक हो सकता है।

हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि मनुष्य के जीवन में केवल दो तरह के प्रश्न ही बारी-बारी से आया करते हैं। पहला प्रश्न है जानामाल की रक्षा, दूसरा है सिद्धान्त-रक्षा। जहाँ आक्रमणकारी से केवल शरीर और सम्पत्ति की रक्षा करने का प्रश्न है, वहाँ शारीरिक प्रतिक्रिया सर्वथा उचित है। वहाँ तो सिद्धान्त की बात यही है कि दुराचारी का दुराचार न बढने पावे। जहाँ प्राणों का प्रश्न है, वहाँ आक्रमणकर्ता अत्याचारी के प्राणो की उतनी कीमत नहीं हो सकती जितनी कि उस शान्तिप्रिय आक्रान्त की हो सकती है। जहाँ सिद्धान्त-रक्षा का प्रश्न है, वहाँ भी शरीर-रक्षा का प्रश्न बिलकुल त्याज्य नहीं हो सकता। जहाँ सिद्धान्तरक्षा के लिए अपने प्राणो को होम देने के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता, वहाँ शरीर-रक्षा सर्वथा त्याज्य है। परन्तु जहाँ सिद्धान्त और शरीर दोनो की रक्षा सम्भव है, वहाँ दोनो को बचा लेना श्रेयस्कर है। मनुष्य के प्राण इतने व्यर्थ नहीं होते कि वे आक्रमणकारी के हाथों मे छाती खोलकर सौंप दिये जायें। न तो यह प्राणि-धर्म है, न मनुष्य-धर्म, न फिर यह सामाजिक और आध्यात्मिक धर्म भी हो सकता है।

महात्मा जी फिर लिखते है —

"यह सही है कि मै किसी को प्रत्याघात करने मे मदद नही दूँगा, पर इस तरह की अहिंसा की ओट में अगर कोई अपनी कायरता को छिपाता है तो मै उसे यह नही करने दूँगा।"

हमारी नम्र सम्मति में यह कहना बिलकुल सही नहीं है कि गांधी जी किसी को प्रत्याघात करने में मदद नही देते। दूसरे वाक्य में

उन्होंने जो कुछ लिखा है उसी से प्रकट होता है कि वे अहिंसा की ओट में कायरता छिपानेवाले लोगो को ऐसा न करके प्रत्याघात करने की सलाह दे रहे है! सलाह देना भी मदद देने का एक ढंग ही तो है। फिर महात्मा जी की सलाह! उनका तो सकेत मात्र ही लोगो के हृदय मे स्फूर्ति उत्पन्न करता है। ससार जानता है कि अपनी नेक सलाह से उन्होने हिन्दुस्थानी जन-समाज को कितनी मदद पहुँचाई है। साराश यह कि महात्मा जी प्रत्याघात न करने की सलाह केवल उन्ही को देते है जिनके हृदय में अत्याचार सहते समय भी अत्याचारी के प्रति प्रेम सरसता है और द्वेप, क्रोध, आत्म-ग्लानि तथा हिंसात्मक भावो की यत्किंचित् छाया भी नही पडने पाती। शेष सभी लोगो को हिंसात्मक प्रतिकार का अधिकार है और वह कायरता की अपेक्षा हजार दरजे बढकर मानवोचित धर्म है। अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि जन-समाज मे गाधी जी के अहिंसा-सिद्धान्त के यथार्थ अधिकारी कितने रह जाते है। लोगो की ओर जब हम आँख उठाकर देखते है तो आक्रमणकारी से प्यार करनेवाला आदमी कही नजर नही आता। ऐसा आदमी तो सदियो में एकाध ही नजर आता है। जब तक विश्वात्मा से मनुष्य तदाकार नही हो जाता, तब तक वह स्वामी राम के समान 'रॉबर डियर' प्यारे चोर कहकर कैसे सम्बोधित करे? साराश इतना ही निकलता है कि ऐसा अहिंसा-धर्म इतना कठिन होने के कारण और सदियो मे दो-चार मनुष्यो में ही सीमित होने के कारण समाज-धर्म नही हो सकता, कुछ मुमुक्षु व्यक्तियो का आदर्श वह भले ही बना रहे। ऐसी अहिंसा नितान्त अव्यवहार्य है। ऐसे धर्म का उपदेश जन-समाज को नही, कुछ इने-गिने अधिकारी व्यक्तियो को ही देना चाहिए। अन्यथा सर्व-साधारण लोग अनधिकारी होने के कारण अहिंसा की ओट मे अपनी कायरता छिपाने का प्रयत्न करेंगे। अतएव सर्व-साधारण को अहिंसा का ऐसा उपदेश पथ्यकर नही हो सकता। महात्मा जी का तजुर्बा कदाचित् इससे भिन्न नही है। यही अनुभव इतर आचार्यो का भी है। इसी लिए उन्होने जन-समाज के लिए अध्यात्म-सम्मत

नीति-धर्म की रचना की है और इस धर्म में हिंसा कई प्रसगो पर सर्वथा उचित मानी गई है।

महात्मा जी फिर लिखते हैं —

"सहार कोई मानव-धर्म नही है। मनुष्य अपने भाई को मार कर नहीं, बल्कि जरूरत हो तो उसके हाथ से मर जाने को तैयार रहकर ही स्वतन्त्रता मे जीवित रहता है। हत्या या अन्य प्रकार की हिंसा, फिर चाहे वह किसी भी कारण मे की गई हो, मानव-जाति के विरुद्ध एक अपराध है।'

संहार यदि मानव-धर्म न होता तो महात्मा जी बछडे को विष देने में और पागल कुत्तो को मरवाने में सहायक कदापि न होते। इन उदाहरणो से तो यही प्रतीत होता है कि कई प्रसगो पर सहार का काम धर्म-संगत हो जाता है। विश्वविधाता रचना और सहार—इन दो क्रियाओ के तारतम्य मे सृष्टि-सचालन करता है। जो लोग उसके प्रतिनिधि होकर समाज-शासन का काम अपने जिम्मे लेते हैं उन्हे भी सामाजिक मर्यादा के अन्दर किसी अंश में यही दोनो काम करने पडते है। यदि किसी हद तक मनुष्य के ऊपर रचनात्मक काम करने की जिम्मेदारी आ सकती है तो उसी हद तक उसे सहार करने का भी अधिकार जरूर चाहिए। स्वय गाधी जी ने इस देश को जो रचनात्मक कार्यक्रम दिया है उसी के साथ साथ सहार की योजना भी नत्थी है। उनका असहयोग पल्ले दरजे का विघातक कार्य है। विदेशी वस्त्रो का बहिष्कार भी एक ओर हिन्दुस्थान के लिए रचनात्मक है और दूसरी ओर मैंचेस्टर के लिए बडा सहारक सिद्ध हुआ है। उसके कारण न जाने कितने विलायती मजदूर बेकार हो गये हैं और भूख की ज्वाला से उनके बच्चो के प्राण तडप रहे हैं। क्या इसे जन-सहार नहीं कह सकते ? गर्दन काटने से लहू तो जरूर निकलता है, परन्तु उसकी वेदना कदाचित् उतनी तीव्र नही होती जितनी कि आर्थिक बहिष्कार के द्वारा किसी के पेट काटने से बेकार मनुष्य की हो सकती है। खून गिराना या भूखो मारकर खून सुखाना, दोनो वस्तुत:

एक ही समान हिंसात्मक क्रियायें है। फिर भी गांधी जी इसका उत्तर यह कहकर देते है कि अपने देश के गरीब किसानो की प्राण-रक्षा के प्रयत्न मे यदि मुझे विलायती मज़दूरो को भूखो मारना भी पडे तो मै इसका जिम्मेदार नही हूँ, क्योकि हिन्दुस्थान पर लादा हुआ विलायती वस्त्र-व्यवसाय न्याय-सम्मत नही है। साराश यह कि अन्यायी की हिंसा सर्वथा धर्म-सम्मत है। आत्म-रक्षा के प्रयत्न में यदि आक्रमणकारी की हिंसा हो जावे तो उसके लिए आत्म-रक्षक उत्तरदायी नही माना जा सकता। आश्चर्य है कि फिर भी गाधी जी एक व्यापक और अपवाद-रहित नियम का रूप देकर ऐसा भी कहते है कि 'हत्या या अन्य प्रकार की हिंसा, फिर चाहे वह किसी भी कारण से की गई हो, मानव-जाति के विरुद्ध एक अपराध है।' क्षण भर के लिए हम यह मान भी लें कि द्वेष के कारण की गई हिंसा प्राणि-वर्ग के विरुद्ध अपराध है। हम यह भी मान लेते है कि अपनी रक्षा के प्रयत्न में भी किसी की हत्या करना पाप है। पर यदि मै प्रेम के आवेग मे आकर किसी की हिंसा करूँ तो भी क्या वह अधर्म होगा? पाठक पूछेंगे कि क्या हिंसा प्रेम-मूलक भी हो सकती है? हाँ, हो सकती है। रोगी वछडे को प्रेम के वशीभूत होकर ही गाधी जी ने विप दिया था और अपने हिंसा-कार्य का समर्थन उस समय उन्होंने यही कह कर किया था कि विप का इन्जेक्शन दिलाते समय मेरे हृदय में भूत-दया का ही भाव विद्यमान था, अतएव मै उसे हिंसा-कार्य नही समझता। ऐसी हालत मे यह कहना सही नही माना जा सकता कि किसी भी कारण से हिंसा की गई हो, वह अपराध ही है। क्या अपराधी को सजा देनेवाला न्यायाधीश हिंसा के पाप का भागी हो सकता है? यदि हो सकता है तो कहना होगा कि न्यायानुसार दण्ड देनेवाला स्वय एक वडे से वडा अपराधी है। क्या निस्सहाय अवला की सतीत्व-रक्षा मे दुराचारी का रक्तपात करनेवाला मानव-जाति के विरुद्ध अपराधी माना जा सकता है? जिन लोगो को महात्मा जी

कायरता की ओट में द्वेष का भाव न छिपाकर प्रत्याघात करने की सलाह देते हैं, क्या वे उन्हे मानव-जाति के विरुद्ध अपराध करने का आदेश दे रहे हैं ?

महात्मा जी लिखते हैं —

"अपने जान-माल की रक्षा के लिए प्रहार करने की अपेक्षा यह बेहतर है कि वीरता के साथ अत्याचार बर्दाश्त कर लिया जाय और लूट-मार होती है तो होने दे। यह तो सचमुच विजय की पराकाष्ठा कही जायगी।"

इस वक्तव्य में लोगो ने जान-माल की रक्षा का अधिकार छीनकर गाधी जी ने अपने अहिंसा-धर्म को बिलकुल उपहास-जनक बना डाला है। क्या मनुष्य को आत्म-रक्षा का नैसर्गिक और धर्म-सम्मत अधिकार नही है ? लूट-मार होती हो तो होने देने में और अत्याचार बर्दाश्त कर लेने में वीरता कहाँ है और किस रूप मे है ? शौर्य की सृष्टि तो विधाता ने इसी लिए की है कि उसके द्वारा अत्याचार का प्रतिकार किया जावे। अन्यायी का ठिकाने लगाना यदि वीरता का धर्म नही है तो फिर वह किसका कर्तव्य होगा ? जो लोग कायरता की ओट मे द्वेष का भाव छिपाते है, वे अपनी प्रच्छन्न और विफलतापूर्ण हिंसा के लिए कदाचित् उतने जिम्मेदार नही है जितने कि वे लोग हो सकते हैं जो सर्व-साधारण लोगो की मनोवृत्ति से परिचित होते हुए भी उन्हें अत्याचार बर्दाश्त करने की, तथा लूट-मार होने देने का निष्फल और नीति-विरुद्ध उपदेश दिया करते हैं। ऐसे उपदेशो से जन-समाज में विचार-भ्रांति का फैलना अवश्यम्भावी है। महात्मा जी विदेशियो के विरुद्ध अकसर यह आक्षेप किया करते है कि उनके द्वारा इस देश में अत्याचार और लूट-मार होती है। सो होने दें और उन्हें हिन्दुस्थान के लोग वीरता के साथ धैर्य-धारण-पूर्वक बर्दाश्त करते रहे ! गाधी जी की सारी खटपट आखिर है किस लिए ? वीरता के साथ अत्याचार बर्दाश्त नही किया जाता, उसका प्रतिकार किया जाता है। अत्याचार

वर्दाश्त कर लेने मे वीरता नही, विवशता रहती है । आज तक किसी भी धर्माचार्य ने जन-समाज का ऐसा उपदेश नही दिया !

अपने लेख मे स्वयम् महात्मा जी ने कुछ ऐसे भी वाक्य लिखे है जिनमे हमारे अहिंसा-सिद्धान्त का साराश आ जाता है। वे कहते है —

"किन्तु मै यह बिलकुल स्पष्ट देखता हूँ कि अहिंसा-विषयक यह सत्य दुर्बल असहाय मनुष्यो का नही समझाया जा सकता। उन्हें तो आत्म-रक्षा करने की ही वात समझनी चाहिए।"

"जहाँ शरीर होम देने की तत्परता न हो, वहाँ आत्मरक्षा का मार्ग ही एक-मात्र प्रतिष्ठित मार्ग है।"

"जब तक यह शक्ति (अत्याचार वर्दाश्त करने की) नही आई, तब तक अपने शारीरिक वल से अत्याचारी का विरोध करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

"अपनी स्त्रियो के सतीत्व की रक्षा करने के लिए तो वे जरूर ही अपने शरीर-वल का प्रयोग करेंगे । अहिंसा का सिद्धान्त कमजोर और नामर्द आदमी के लिए नही है।"

इन अवतरणो को पाठक ध्यान से पढें और देखे कि गाधी जी के इन वाक्यो को पढनेवाले के मन पर क्या परिणाम हो सकता है। जिन लोगो को वे दुर्वल और निस्सहाय समझते है उनकी सख्या जन-समाज मे यदि अधिक नही तो नब्बे फी सदी जरूर है। उनकी दृष्टि मे दुर्वल और असहाय वे है जो अत्याचार सहने की और लूट-मार होने देने की ताकत नही रखते। धर्म-शास्त्र और जन-समाज की सम्मिलित सम्मति तो आज तक यही कहती आई है कि जो लोग दुर्वल और असहाय होते हैं, वे ही सब तरह के अत्याचार सह लेते है और सामर्थ्यवान् आदमी उनका प्रतिकार करते है। जन-समाज मे दुराचारियो की सख्या जब वढ जाती है और अत्याचार-ग्रस्त लोगो मे आततायियो का सामना करने की शक्ति जब नही रह जाती, तब योगेश्वर कृष्ण कहते है कि मैं "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" इस पृथ्वी पर जन्म लेता हूँ। इस श्लोकार्ध में ईश्वरावतार

के दो उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते है, साधुओ का परित्राण और दुष्टों का विनाश। जन-समाज में रहनेवाले धर्मात्मा तथा सीधे-सादे लोग दुराचारियो के अत्याचार सह लेते हैं। यदि ऐसी सहनशीलता उनके आत्म-सामर्थ्य तथा विजय का सूचक होती तो विष्णु भगवान् को अवतार धारण करने की आवश्यकता ही प्रतीत नही होती। उद्धृत श्लोकार्द्ध मे 'परित्राणाय' शब्द ही इस बात का द्योतक है कि भगवान् जिन्हे साधु अथवा महात्मा समझते हैं, वे दुष्टो के दुराचार से त्रस्त और दुखी रहते हैं। उनको इस मानसिक दुरवस्था से मुक्त करने के लिए ही ईश्वर का अवतार होता है। यदि वे स्वयम् दुष्टा का सहार करके मानसिक त्रास से मुक्त हो सकते तो ईश्वर अवतार ही क्या लेते? साराश यह है कि दुराचारियों का वध करना सर्वथा उचित कार्य है। शारीरिक शक्ति, सगठन-बल तथा पर्याप्त सख्या के अभाव में जन-समाज की साधु-मण्डली अपने प्रति किये गये अत्याचार का विरोध सफलतापूर्वक नही कर सकती। अतएव वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से प्रार्थना करती है कि किसी सामर्थ्यवान् अवतारी पुरुष के द्वारा दुष्टो का विनाश हो और धर्म जाग्रति मे किसी प्रकार का विघ्न न होने पावे। हिन्दुओ के धर्म-ग्रन्थो में ऐसे कई प्रसगो के उदाहरण मिलेंगे जब कि सत-महात्माओ ने सम्मिलित रूप से विष्णु भगवान् से इस बात की प्रार्थना की है कि वे अवतार लेकर दुष्टो का सहार करें। स्वयम् सहार करना अथवा साधनो के अभाव में ईश्वर से सहार करने के लिए प्रार्थना करना वस्तुत एक ही बात है। जो मनुष्य दुष्टो के विनाश के लिए प्रार्थना करता है, उसके हृदय मे दुराचारियों के प्रति हिंसा तथा क्रोध के भावो का होना प्रत्यक्ष ही है। फिर भी ऐसे लोगो को कृष्ण भगवान् साधु-महात्मा ही समझते हैं और अवतार लेकर उनके सहायक होते आये है। परन्तु गाधी जी की दृष्टि में दुष्टो का विनाश करने-वाले अथवा साधनो के अभाव में उनके विनाश के लिए प्रार्थना करने-वाले दोनो तरह के लोग कायर और नामर्द होते हैं क्योंकि विनाश के विचार में हिंसा और द्वेष का भाव तो रहता ही है। जो हो, इतनी बात

तो बिलकुल निश्चित ही है कि ससार मे दुराचारी से प्रेम करनेवाले तथा अत्याचार को विना द्वेष, दु ख तथा प्रतिकार-भावना के सहनेवाले लोग होते ही नही। वडे से वडे सत, महात्मा तथा आचार्य और अवतारी पुरुष भी अत्याचार का प्रतिकार करते अथवा कराते आये है। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने स्वयम् सीता-हरण का वदला धनुष की प्रत्यचा तान कर ही लिया था। पाडवा के अधिकार छिन जाने पर स्वयम् योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को कौरवा से लडाई छेडने की सलाह दी थी और स्वयम् सारथी बनकर उन्हे धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में शत्रुओं के रक्तपात करने में सहायता पहुँचाई थी।

महात्मा जी इस वात को अच्छी तरह जानते है कि ससार मे ऐसे ही लोगो की सख्या अधिक मे अधिक है जो दुराचारी से प्रेम नही कर सकते। फिर वे अपने अहिसा-सिद्धान्त को दर किनार रख कर आत्मरक्षा का उपदेश लोगो को क्या नही देते फिरते? यह जानते हुए कि लोगो मे शरीर होम देने की तत्परता नही है और अत्याचार वर्दाश्त कर लेनेवाली विचित्र वीरता लोगो की समझ में नही आ सकती, वे हमेशा सभामचो से तथा अपने पत्रो के द्वारा लोगो को निरपवाद अहिसाधर्म का ही उपदेश दिया करते है। आत्मरक्षा की वात तो वे कभी कभी अडचन मे फँसकर ही किया करते है। जब उन्हें किसी प्रसग पर यह प्रतीत होता है कि मेरी अहिसा-सम्बन्धी शिक्षा लोगो को सहायक नही हो सकती अथवा उसकी निष्फलता के कारण जन-समाज में प्रतिक्रियात्मक भावना प्रवल होने की सभावना है, तभी वे लाचार होकर कहा करते है कि अच्छा यदि तुम चुपचाप मर नही सकते, अत्याचार वर्दाश्त नही कर सकते, लूटमार होती हो तो होने नही दे सकते, यदि तुम इतने दुर्बल और असहाय हो, यदि तुममें इतनी वीरता नही, यदि तुम इतने कायर और नामर्द हो, तो तुम्हारे लिए आत्मरक्षा का मार्ग खुला हुआ है! गाधी जी लिखते है कि जहाँ शरीर होम देने का नैतिक सामर्थ्य नही है, वहाँ आत्मरक्षा का एकमात्र प्रतिष्ठित मार्ग रह जाता है। लेकिन जो मनुष्य उनकी नैतिक भावना से

इस वाक्य को पढ़ेगा उसे 'प्रतिष्ठित' विशेषण विशेष प्रतिष्ठा-सूचक नहीं मालूम होगा।

जहाँ तक हम महात्मा जी का आशय समझ पाये हैं, हमारी धारणा है कि वे मानवी आचरण के तीन श्रेणी-विभाग करते हैं, अहिंसात्मक सहनशीलता, हिंसात्मक प्रतिकार और कायरता। उनकी दृष्टि में ऊँचे से ऊँचा शूरवीर वह होता है जो दूसरों पर हाथ न उठाकर उनके हाथ से स्वयम् मर जाता है। अहिंसा का यह मार्ग उत्तम है। कायरता का निकृष्ट मार्ग वह है जिस पर आरूढ होनेवाला मनुष्य खतरे को देखकर भाग जाता है। अब रहा प्रतिकार-मार्ग, जिस पर चलनेवाला आदमी दुराचार का प्रतिरोध शरीर-बल से करता है। महात्मा जी को उत्तम मार्ग अहिंसा सबसे अधिक पसन्द है। हिंसात्मक प्रतिकार उन्हें नापसन्द है। फिर भी यह मार्ग उन्हें कायरता से बेहतर मालूम होता है। उनके मतानुसार मनुष्य का कायर तो किसी हालत में भी नहीं होना चाहिए। कायरता से हिंसात्मक प्रतिकार ही अच्छा।

गांधी जी के इस वर्ग-विभाग को हम किसी अंश में स्वीकार कर सकते हैं। पर तीनों के गुण, धर्म, स्वभाव के अनुसार हम उन्हें निश्चित स्थान देना भी उचित समझते हैं। अत्याचारी के हाथ प्रेमपूर्वक मर जानेवाले को यदि हम देवता या महात्मा कहें तो खतरा देखकर भाग जानेवाले कायर आदमी को हम नामर्द कहेंगे। ऐसी हालत में साहसपूर्वक हिंसात्मक प्रतिकार करनेवाले को हमें वीर मनुष्य ही कहना पड़ेगा। इसी मनुष्योचित, नीतिशास्त्र-सम्मत और क़ानूनन जायज़ धर्म का उपदेश जन-समाज को देना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई बात कही जावे तो उससे लोगों को कोई लाभ तो होगा ही नहीं, प्रत्युत हानि होने की संभावना है, हुई भी है। हज़ारों आदमी आज हिन्दुस्थान में बाहरी अहिंसा की ओट में आन्तरिक हिंसा का भाव छिपाये बैठे हैं। लाखों हिन्दुस्थानी अत्याचारी के प्रति द्वेष तथा हिंसा के भाव धारण करते हुए भी बाहर से अहिंसा का आडम्बर रचने के अभ्यासी हो रहे हैं और समझते हैं कि

वे महात्मा जी के पक्के अनुयायी और छोटे-मोटे महात्मा भी हैं। यह सार्वजनिक विचारभ्रांति, सदाचार-हीनता, और बाहरी अहिंसा की ओट में छिपी हुई मानसिक कायरता हमारे राष्ट्र-निर्माण के मार्ग में बड़ी खतरनाक अवस्था है। ऐसे लोग महात्मा तो हो ही नहीं सकते, अपने मनुष्यत्व से भी हाथ धो बैठते हैं। कोरी पाशविक कायरता रह जाती है। अनुचित उपदेश का यही परिणाम होता है।

महात्मा जी इस सदी के सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष माने जाते हैं और लोगों की यह धारणा निर्मूल नहीं है। फिर भी उन्हीं के कथनानुसार यह प्रकट होता है कि अहिंसाधर्म का पूरा पूरा पालन वे अभीतक नहीं कर सके हैं। वे कहते हैं कि अभी सांप-बिच्छू इत्यादिक विषैले प्राणियों से मुझे भय तो होता ही है। कई प्रसंगों पर वे अत्याचारियों को अपनी अहिंसात्मक भावना से जीत नहीं सके हैं। इसका कारण भी वे यह कहकर समझाते हैं कि अभी मेरी तपस्या पूरी नहीं हुई, और प्रेम से जीतने की अहिंसात्मक शक्ति मुझे प्राप्त नहीं हुई है। अतएव उन्हीं के कथनानुसार वे अहिंसा-धर्म का पूरा पूरा पालन नहीं कर सकते। फिर वे क्योंकर ऐसा समझते हैं कि संसार के जन-साधारण उस धर्म का पालन कर सकेंगे? इस धर्म का पालन तो वही कर सकता है कि जिसके हृदय में अत्याचारी से ज़रा भी भय न हो, द्वेष भी न हो और बदला लेने की तिलमात्र भी हिंसात्मक भावना न आवे। यदि हिंसा की यत्किंचित् छाया भी पड़ी, तो अहिंसा-धर्म दूषित हो गया। यदि गांधी जी के लिए यह धर्म इतना कठिन है कि अहर्निश, उठते-बैठते, चलते-फिरते, प्रयत्नशील रहते हुए भी वे इसका पूरा पालन नहीं कर पाये, तो जन-समाज के लिए उसे असंभव, अशक्य, अव्यवहार्य, और इसलिए अनुचित भी समझें तो इसमें कौन-सा अनौचित्य है। कठिनाई तो इस अहिंसा-धर्म की यह है कि या तो उसका पालन पूरा हो या बिलकुल नहीं, अधूरा पालन तो हो ही नहीं सकता। अहिंसात्मक भावना तो निर्मल दूध के समान है, हिंसा-द्वेष तथा भय का ज़रा-सा भी छींटा उसे खटाई के समान फाड़कर विकृत बना देता है। ऐसी नाजुक

परीक्षा मे स्वयम् महात्मा जी भी खरे नही उतरते और ऐसा समझने के लिए उन्ही के शब्द प्रमाण है। फिर सर्वसाधारण से क्या आशा की जा सकती है और किस उम्मीद पर गाधी जी अपने अँगरेज मित्र को आश्वासन देते हुए यह लिखते है —

"अहिंसा आचरण-द्वारा ही सिखाई जा सकती है। जब उसकी शक्ति और क्षमता का अचूक प्रदर्शन होगा तब दुर्बल तो अपनी दुर्बलता छोड देंगे और बलवानो को अपने बल की निरर्थकता का उसी क्षण पता चल जायगा और वे नम्र बनकर अहिंसा की सर्वोत्कृष्टता स्वीकार कर लेंगे। सामूहिक प्रवृत्ति में भी हम इस ध्येय को प्राप्त कर सकते है; यह बताने का मेरा नम्र प्रयत्न है। इस अँगरेज मित्र जैसे आलोचक से मेरी प्रार्थना है कि वे जरा धैर्य रक्खें।"

जरा नही, बहुत-बहुत धैर्य की आवश्यकता है। फिर भी सदेह ही है कि इतने धैर्य के बाद भी वैसा 'अचूक प्रदर्शन' हो या न हो। महात्मा जी समझते है कि वे अभी तक ऐसा प्रदर्शन नही कर पाये और हम समझते है उनके और हमारे शेष जीवन में भी ऐसा प्रदर्शन सभव न हो सकेगा। और फिर ऐसा 'अचूक प्रदर्शन' जन-समाज की सामुदायिक प्रवृत्ति में? सर्वथा असभव।

महात्मा जी को बहुत ढूँढने के बाद एक ही उदाहरण प्रह्लाद का मिलता है और वे उसकी अहिंसा-भावना का आदर्श जन-समाज के सामने बार-बार रखा करते है। हम 'सत्याग्रह' वाले प्रकरण में यह बता चुके है कि भौतिक उत्कर्ष की इच्छा रखनेवालो के सामने निष्प्रेमी प्रह्लाद का आध्यात्मिक आदर्श प्रस्तुत करना ठीक नही है। हम यह भी बता चुके है कि प्रह्लाद के सामने निर्बाध सत्य तथा आस्तिकता का प्रश्न था और यदि वह भौतिक शक्ति से सम्पन्न भी होता तो हिंसात्मक साधनो से अपने पिता हिरण्यकश्यप को आस्तिक नही बना सकता था, क्योकि ठोक-पीट-कर आस्तिक बनाना सभव ही नही। उसी प्रकार हिरण्यकश्यप भी इतना कष्ट देने पर प्रह्लाद को नास्तिक न बना सका। जहाँ हिंसा की

गुजाइश ही नही, जहाँ वह सर्वथा निरर्थक है, वहाँ कोई क्यो उसमे प्रवृत्त हो। परन्तु यदि मैं अपनी चीज़ किसी दूसरे से छीनना चाहूँ तो ऐसे प्रसगो पर हिंसा ज़रूर कारगर होती है और उचित भी है। अस्तु। यह तो हमने पूर्व-कथित विचारो को प्रसग-वश दुहरा दिया, सिर्फ इसी लिए कि गाधी जी दो राष्ट्रो के बीच भौतिक सघर्ष मे ऐसा शुद्ध आध्यात्मिक और अनुपयुक्त उदाहरण हमेशा पेश किया करते है। अतएव अपने पूर्व-कथित विचार को यहाँ फिर से दुहराकर हमने उन्ही का अनुकरण-मात्र किया है।

लेकिन प्रस्तुत विचार-धारा के सिलसिले में हम पूछते है कि क्या प्रह्लाद का अहिंसात्मक प्रदर्शन कुछ कम 'अचूक' था। आग में डालने पर भी वह न मरा। पहाड से गिरा देने पर भी वह ज्यो का त्यो खडा हो गया। हिरण्यकश्यप को इस चमत्कार से आश्चर्य भी हुआ होगा, भय भी हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही। पर क्या हिरण्यकश्यप अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति से बाज़ आया? बाज़ तो नही आया, बल्कि उसकी हिंसात्मक प्रवृत्ति और भी बहुत बढ गई; यहाँ तक कि स्वयम् ईश्वर को यह बताना पडा कि ऐसे दुष्ट लोग अहिंसात्मक उपायो से बाज़ नही आते। कितना खूँख्वार था वह नरसिंह का रूप! उसी रूप ने—हिंसा के पूर्णावतार ने ही—अहिंसात्मक प्रह्लाद को त्राण दिया। अतएव इस कथन में हमें विशेष तथ्य दिखाई नही देता कि जब अहिंसा का अचूक प्रदर्शन होगा तो "बलवानो को अपने बल की निरर्थकता का उसी क्षण पता चल जायगा।" बलवानो को अपने बल की निरर्थकता का पता तो उसी क्षण चलता है जब उन्हें अपने से अधिक सबल का सामना करना पडता है। हिरण्यकश्यप को भी इसी तरह पता चला। इतर दुरात्मा बलवानो के भी होश इसी तरह ठिकाने पर आते है। तात्पर्य यह कि प्रह्लाद ही का उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि ससार में दुष्टो की हिंसा-वृत्ति हिंसा से ही काटी जा सकती है, अन्यथा नही।

गाधी जी के मतानुसार शूरवीर के क्या लक्षण है सो भी सुनिए—"जो ऊँचे से ऊँचा शूरवीर होता है वह दूसरो पर हाथ न उठाकर उनके

हाथ से मरता है। वह किसी की जान लेने या किसी को चोट पहुँचाने से अपने को जो दूर रखता है उसका यही कारण है कि वह यह जानता है कि चोट पहुँचाना अनुचित है।"

हमें यह मानने में कोई आपत्ति नही है कि किसी को कष्ट पहुँचाना मनुष्य-धर्म के विरुद्ध है। फिर भी यह बात अपवाद-रहित नियम के रूप में नही कही जा सकती। जीवन में मनुष्य के सामने अनेक प्रसग ऐसे भी आते है कि उसे चोट पहुँचाना ही पड़ता है। जगत् में काम करने के दो ही दृष्टिकोण हो सकते है; स्वार्थ और परमार्थ। स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट पहुँचाना निन्दनीय है। इस नियम का केवल एक ही अपवाद हो सकता है और वह है आत्मरक्षा। अपनी रक्षा के लिए प्रत्याघात करने की सलाह तो महात्मा जी भी देते है। इसके सिवाय पारमार्थिक दृष्टि से कई अवसरो पर चोट पहुँचाना कर्त्तव्य-कर्म हो जाता है। सर्जन हर रोज अपने नश्तर से लोगों को चोट पहुँचाता है। न्यायाधीश किसी न किसी अपराधी को प्रतिदिन दण्ड देता ही है। शिक्षक तथा माता-पिता बालको को उनकी बेहतरी के लिए दो-चार शब्द सुनाते ही है और कई बार उन्हें ताडना भी देते है। राष्ट्र-नेता तथा समाजसुधारक कई बार कई तरह से कुछ लोगो को कष्ट पहुँचाते ही है। हमारी धारणा है कि स्वयम् गांधी जी ने अपने जीवन में बहुत अधिक सख्या में बहुत लोगो को चोट पहुँचाई है। सत्याग्रह तथा भद्र अवज्ञा करने की प्रेरणा देकर उन्होंने हजारो की तादाद में लोगो को जेल में सड़ाया है, सैकडो की झोपडियाँ उन्हीं की बदौलत फूटी है और बाबू गेनू के समान कई स्वय-सेवको की जानें भी गई है। मैंचेस्टर के मज़दूर तो गाधी जी की चोट से कदाचित् अभी भी कराहते ही होगे। लेकिन जहाँ तक हमें मालूम है महात्मा जी को उपर्युक्त घटनाओ से कभी खेद नही हुआ, प्रत्युत प्रसन्नता ही हुई है। मिल के कुत्तो का और आश्रम के बछडे का उदाहरण हम पहले दे ही चुके है। क्या गाधी जी इन कष्टो के कर्त्ता होने के कारण दोषी माने जा सकते है? धर्म-शास्त्र कहता है 'नहीं'। नैतिक दृष्टि से देखने-

वाला कोई भी समझदार आदमी इन कष्टो के लिए गाधी जी को गुनह-गार नही ठहरा सकता, क्योंकि उन्होंने यह सारा बखेडा पारमार्थिक दृष्टि से प्रेरित होकर ही खडा किया है। इन कष्टो के लिए वे अपराधी तो हो ही नही सकते, प्रत्युत प्रशसा के पात्र है। वाचा तथा कर्मणा किसी को कष्ट देना यदि अपराध हो सकता है तो वह कर्त्ता की स्वार्थ-बुद्धि से। कायिक और वाचिक हिंसा स्वय न तो भली है न बुरी। कर्त्ता की परमार्थ-बुद्धि ऐसी हिंसा को भली बना देती है और स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर वह बुरी भी हो जाती है। किसी भी कर्म की नैतिक योग्यता कर्त्ता की बुद्धि पर ही अवलम्बित रहती है। नीति-शास्त्र-द्वारा निर्धारित की हुई कर्म, अकर्म और विकर्म की परीक्षा के लिए यही एक-मात्र कसौटी है। इसे कभी न भूलना चाहिए।

(३)

इस अध्याय के पिछले दो खडो में हमने जो विचार प्रकट किये हैं, उनका साराश निकालना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नही कि महात्मा जी जन-समाज को जिस अहिंसा-धर्म का उपदेश दे रहे हैं, वह विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा निर्दोष है। मानवी सभ्यता का वह अन्तिम वाक्य है। परन्तु अहिंसा के इस चरम रूप का उपदेश धर्म-मच पर से ससार-विरक्त, कर्म-सन्यासी मुमुक्षुओ को ही दिया जा सकता है और उन्ही लोगो को वह ग्राह्य भी हो सकता है। जो मनुष्य आत्मनिष्ठ होकर आत्मौपम्यदृष्टि से संसार के सारे प्राणियो में एक ही परमात्म-तत्त्व का अनुभव करता है और जिसके ऊपर किसी भी प्रकार का लौकिक उत्तरदायित्व नही है, वही अहिंसा के इस विशुद्ध आध्यात्मिक रूप का अधिकारी हो सकता है। लेकिन 'मैं-तू' का भेद माननेवाले जन-समाज के सर्व-साधारण लोग उसे स्वीकार नही कर सकते। उनकी दृष्टि मे महात्मा जी की अहिंसा सर्वथा अव्यवहार्य है। ऐसे लोग यदि इतना ही समझ लें कि किसी भी प्राणी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कष्ट पहुँचाना बुरा है, तो ही गनीमत है। ससार में आज भी ऐसे लोगो की

सख्या अधिक से अधिक है जो केवल अपने स्वार्थ और स्वाद-लिप्सा से प्रेरित होकर लाखो मूक और नि सहाय पशुओ का वध किया करते हैं और इतना भी नही विचारते कि जीव-सृष्टि में सभी जीवो को अपनी पूर्ण अवधि तक जीवित रहने का समान अधिकार है। ऐसे स्वार्थ-रत हिंसक-प्रवृत्ति के लोगो को अहिंसा के उस चरम रूप का उपदेश देना; जिसके अनुसार व्यर्थ आघात पहुँचाना तो क्या, आक्रमणकारी के व्यर्थ आघात को भी बरदाश्त करना लाज़िमी हो, एक ऐसा प्रयास है जिसका निष्फल होना बिलकुल निश्चित है, क्योकि इस प्रयत्न में सर्व-गत मानव-स्वभाव की पूर्ण अवहेलना है।

यह तो एक ऐसी दलील है जो वर्त्तमान मनुष्य-स्वभाव की हिंसा-वृत्ति एव तत्प्रेरित असमर्थता के आधार पर दी जा सकती है। परन्तु इसके सिवाय एक दूसरी दृष्टि और है जिसके अनुसार अहिंसा का विशुद्ध आध्यात्मिक रूप अव्यवहार्य होने के अतिरिक्त अनुचित और अनैतिक भी माना जा सकता है। आत्म-रक्षा प्रत्येक जीवधारी का जन्म-सिद्ध नैतिक अधिकार है। केवल अधिकार ही नहीं, अपनी जान और माल की रक्षा करना नीतिशास्त्र-निर्धारित कर्त्तव्य भी है। लोग ग़लतफहमी से ऐसा समझते हैं कि मेरे प्राणो पर मेरे सिवाय किसी भी दूसरे का हक नही है, परन्तु धर्म-शास्त्र की सम्मति ऐसी नहीं है। मेरी जान मेरी भले ही हो, परन्तु उस पर जन-समाज का भी अधिकार है। अतएव अपनी जान का मनमाना उपयोग अथवा दुरुपयोग करने का अनियन्त्रित अधिकार किसी भी मनुष्य को नहीं है। यदि ऐसा होता तो आत्म-हत्या करनेवाला धर्मशास्त्र की दृष्टि से पातकी और सामाजिक दृष्टि से दोषी नही ठहराया जाता। सभ्य राष्ट्रो की दण्ड-व्यवस्था में आत्म-हत्या करने का प्रयत्न करना दण्डनीय अपराध माना जाता है। ऐसा अपराधी यदि न्यायाधीश के सामने यह कहे कि साहब, जान मेरी है, मैं चाहे इसे रखूँ या नष्ट कर दूँ, आप इस मामले में दस्तंदाज़ी करनेवाले कौन होते है, तो न्यायाधीश कहेगा

कि तुम्हारी जान केवल तुम्हारी ही चीज नही है, उस पर 'स्टेट' का भी अधिकार है; अतएव आत्म-हिंसा कानून की रु से जुर्म, समाज की दृष्टि से अनधिकार चेष्टा और धर्म-शास्त्र की दृष्टि से निन्दनीय पापकर्म है। इसी बात को यदि दूसरे शब्दो मे प्रकट करना चाहें तो कहना होगा कि आत्म-रक्षा करना स्टेट की दृष्टि से प्रत्येक नागरिक का जन्म-सिद्ध अधिकार और नीतिशास्त्र के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का प्रथम मानवोचित कर्त्तव्य है। तात्पर्य यह कि अपनी रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्रत्येक मनुष्य को अधिकार और कर्त्तव्य दोनो के रूप में मिला है। आत्म-रक्षा करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, इसलिए किसी दूसरे को आघात पहुँचाना कानून की नजर में जुर्म है। आत्म-रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है, इसलिए आत्म-हत्या करना नैतिक दृष्टि से अपराध है।

जो लोग हत्या अथवा हिंसा के तात्त्विक रूप को नही समझते, वे प्रत्यक्ष हिंसा से बचने के लिए उसी काम को परोक्ष रूप से किया करते है। आमतौर पर देखा जाता है कि वैष्णव सम्प्रदाय के लोग तथा अहिंसा-धर्म के अन्यान्य माननेवाले खटमलो को अपने हाथो से नही मारते, परन्तु खटमलग्रस्त खाट को धूप मे डाल देने में उन्हें कोई बुराई नही प्रतीत होती। मच्छडो और मक्खियो को हाथ से मारने में उन्हें अधर्म का भय होता है। परन्तु दीवारो में ऐसे चपचपे कागज़ लगा देना जिसमें वे बेचारे अज्ञानी जीव चिपक कर मर जावें, उनकी दृष्टि मे कोई पाप-कर्म नही प्रतीत होता। परन्तु वास्तविक दृष्टि से किसी जीव को अपने हाथो से मारना या ऐसी परिस्थिति पैदा कर देना कि जिसमें वे मर जावें, दोना समान रूप से हिंसा-कर्म हैं। यह तो हुई परहिंसा की बात। आत्म-हिंसा के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। वह भी पर-हिंसा के समान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्पादित हो सकती है। अपने गले में अपने ही हाथो से छुरी मारकर मर जाना, विष लेकर सो जाना, अथवा कुएँ में कूद कर प्राण दे देना आत्महिंसा

के प्रत्यक्ष रूप है। रेल की पटरी पर कुचल कर मर जाने की मशा से पड जाना, मरते तक अन्नजल ग्रहण न करना, अथवा जहाँ पर प्राणो को निश्चित भय हो वहाँ, अपने जीवन की परवाह न करते हुए टिक रहना तथा प्रबल आक्रमणकारी और हिंसक पशु या मनुष्य के सामने मारे जाने की परवाह न करते हुए छाती खोलकर खडे हो जाना—ये सब आत्म-हत्या के परोक्ष रूप है। आत्महिंसा के इन दोनो रूपो में वस्तुत कोई भेद नही है।

पहले हमने इस बात पर विचार किया कि पर-हिंसा और आत्म-हिंसा दोना नीतिधर्म से वर्जित है और कानून की दृष्टि से नाजायज हैं, जुर्म है। उसके बाद हमने दोना प्रकार की हिंसाओ के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपो का कुछ सक्षिप्त परिचय दिया। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इस नैतिक नियम का कोई अपवाद है या नही। यदि है, तो क्या है और अहिंसा के अपवादात्मक रूपो का निर्णय किसकी दृष्टि से होना चाहिए, मरनेवाले की दृष्टि से या मारनेवाले की दृष्टि से अथवा तटस्थ जन-समाज के सर्व-स्वीकृत मन्तव्य के अनुसार।

यह तो हम पहले ही बतला चुके है कि नीति-धर्म के अनुसार अहिंसा के अनेक अपवाद होते है। अतएव उस विषय पर चर्चा करने की यहाँ पर कोई जरूरत नही है। यहाँ हमें इस बात पर विशेष करके विचार करना है कि ऐसे अपवाद ही क्या है और इन अपवादो का निर्माण किसकी दृष्टि से हुआ है। यहाँ पर केवल इतना ही कह देने से काम नही चल सकता कि आत्म-रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। प्रश्न यह उठता है कि यह अधिकार किसने दिया और क्यो दिया। हम पहले कह चुके है कि समाज के प्रत्येक सदस्य की जान एक सार्वजनिक चीज है। उसे व्यर्थ ही नष्ट कर देने का अधिकार स्वय उस मनुष्य को भी नही है जिसके शरीर में वह विद्यमान है। सभ्य समाज की सारी व्यवस्था यथार्थ में अहिंसा-मूलक ही रहती है। नीति-शास्त्र भी अहिंसा को सदाचरण का एक अनिवार्य आधार

मानता है। परन्तु समाज तथा नीति-शास्त्र की रचना केवल एक ही मनुष्य के लिए है नही, इसलिए उसकी दृष्टि हमेशा वैयक्तिक न होकर सामुदायिक हुआ करती है। यदि लोग एक दूसरे का पूर्णतया अहिंसात्मक दृष्टि से देखने लगें, तो न तो शासन-व्यवस्था की आवश्यकता रहे, न फिर नीति-शास्त्र की। अहिंसाधर्म की अवहेलना अथवा उल्लघन समाज के कई लोग कई प्रसगो पर किया करते है और ऐसा करते हुए सार्वजनिक शान्ति पर व्याघात पहुँचाते हैं। यदि रामदास व्यर्थ ही गोपाल को मारने दौडे, तो घटना का यह आशय कदापि नही कि वह एक ही व्यक्ति पर आक्रमण कर रहा है। ऐसा दुराचरण सारे जन-समाज के हृदय में भय-कप उत्पन्न करता है। अतएव प्रत्यक्ष रूप से रामदास चाहे एक ही व्यक्ति पर आक्रमग करता हो, लेकिन लोगो की सार्वजनिक दृष्टि में वह समाज के विरुद्ध अपराधी माना जाता है। ऐसा मानने के लिए मुख्य कारग यह है कि रामदास गोपाल की हिंसा करके एक सार्वजनिक चीज पर ही आघात कर रहा है। किसी की चीज यदि हम लूट लें, तो लुट जानेवाला उसे अपने प्रति किया गया आक्रमण ही समझता है। इसी तरह लोगो की सामुदायिक धारणा भी यही कहती है कि रामदास ने गोपाल की जान लेकर समाज के प्रति आक्रमण किया। एक व्यक्ति को जिस तरह अपनी रक्षा करने का अधिकार है, उसी प्रकार समाज भी आत्म-रक्षा करने का अधिकारी है। इस कारण समाज भी अपनी रक्षा के प्रयत्न में रामदास के समान आक्रमणकारी हिंसको के प्रति हिंसा का व्यवहार करता है। कतल के मामला में स्टेट की ओर से जो मुकदमा चलाया जाता है उसका समाजशास्त्र की दृष्टि से यही रहस्य है। अतएव इस बात को हम अच्छी तरह समझ लें कि व्यक्तिगत हिंसा का प्रत्येक व्यवहार वास्तव में समाज के विरुद्ध किया गया अपराध है। इसलिए समाज का यह आदेश है कि आक्रान्त मनुष्य न केवल अपनी ही व्यक्तिगत दृष्टि से, वरन् जन-समाज की दृष्टि से यह समझते हुए कि—मेरी जान एक सार्वजनिक चीज है—अपनी रक्षा करे। तात्पर्य यह कि

आत्म-रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक पवित्र सामाजिक कर्तव्य है और उसकी नैतिक योग्यता अथवा औचित्य का निर्णय जन-समाज की सार्वजनिक दृष्टि से ही करना चाहिए।

उपर्युक्त वक्तव्य का यह अभिप्राय बिलकुल स्पष्ट है कि जो मनुष्य अपनी रक्षा न करते हुए अपनी जान व माल को आक्रमणकारी के सामने सौंप देता है; वह भी समाज की दृष्टि से अपराधी है, क्योंकि वह एक सामाजिक कर्तव्य की ओर दुर्लक्ष करता है। ऐसा आदमी दूसरी तरह से आत्म-हत्या ही करता है। जब दो व्यक्तियों के बीच किसी एक की हिंसा होना अवश्यम्भावी है तो ऐसी स्थिति में समाज उसी की हिंसा पसन्द करता है जो किसी दूसरे पर व्यर्थ ही आक्रमण करता है। समाज के इस मनोनीत मन्तव्य के अनुसार आत्म-रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य-कर्म है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्म-रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई भी समझदार और न्याय-परायण मनुष्य कहेगा कि आक्रमण के स्वरूप और तरीक़े पर ही आत्म-रक्षा का ढंग निश्चित करना चाहिए। किसी को अप-शब्द कहना भी हिंसा का व्यवहार माना जाता है। ऐसी हालत में यदि कोई मनुष्य गाली के जवाब में पिस्तौल चला दे तो कहना होगा कि वह आत्म-रक्षा की मर्यादा का उल्लंघन कर गया। ऐसा आदमी कानून की दृष्टि से अभियुक्त और लोकमत से दोषी ठहराया जावेगा। गाली के प्रत्युत्तर में समझदार मनुष्य के लिए चुप रह जाना ही अच्छा माना गया है, क्योंकि अपशब्दों को सुनकर जो मानसिक उद्वेग होता है उसे प्रकट करने पर झगड़े का स्वरूप अधिक उग्र हो जाता है। परन्तु जो मनुष्य आस्तीन चढ़ाकर शरीर पर आक्रमण करे, अथवा लकड़ी लेकर खोपड़ी पर आघात करना चाहे, उसे ऐसा करने के पहले ही कलाई पकड़ कर ज़मीन पर पछाड़ देना सर्वथा उचित होगा। यदि आक्रान्त मनुष्य के साथ कुछ निर्बल आदमी भी हों, तो आत्म-रक्षा का उत्तरदायित्व

और भी अधिक बढ जाता है। ऐसी दशा मे आक्रमणकारी को कुछ काल के लिए इतना निर्बल कर देना भी उचित होगा कि वह उठकर फिर से आघात न करने पावे। कहने का तात्पर्य यह है कि आक्रमण के अनुपात में ही आत्म-रक्षार्थी आघात पहुँचावे, उससे अधिक नही। ऐसे उदाहरणो के सिवाय कुछ प्रसग ऐसे भी आते है जब पहले से ही आक्रमण कर देना आत्मरक्षा का सबसे अच्छा तरीका माना जाता है। उदाहरण के लिए जिस समय ये पक्तियां लिखी जा रही है इटली का टर्राशाह मुसोलिनी अबीसीनिया पर व्यर्थ ही आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है। जिन शब्दो मे वह अपने सिपाहियो को उत्तेजित कर रहा है उनसे प्रतीत होता है कि साम्राज्य-लिप्सा का भूत उसके सिर पर सवार है और बोल भी रहा है। हजारो की तादाद में वह अबीसीनिया के सीमान्त पर अपनी फौज एकत्रित कर चुका है। कुछ तो पूरी तैयारी न होने के कारण और कुछ वर्षा की कठिनाइयो से वह आक्रमण करने से रुका हुआ है। पर अपनी मशा के सम्बन्ध में उसने कोई बात छिपाकर नही रखी है। विचारवान् लोग भी ऐसा कहते हैं कि अनुकूल असवर पाते ही वह अबीसीनिया पर धावा बोल देगा। ऐसी स्थिति मे आक्रान्त देश का क्या कर्त्तव्य है? वह आत्मरक्षा किस तरह करे? अबीसीनिया स्वय इस समय युद्ध के लिए पूरा पूरा तैयार न हो, यह दूसरी बात है। परन्तु यदि वह सामर्थ्यवान् हो तो उसे चाहिए कि आत्मरक्षा के प्रयत्न में वह पहले ही इटली की फौज पर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दे। उसके लिए अपनी जान-माल और स्वाभिमान की रक्षा का इससे अच्छा साधन कोई दूसरा नही हो सकता। परन्तु इसके लिए चाहिए आवश्यक सेनाबल और सामर्थ्य, जो सभवत अबीसीनिया के पास नही है। इस प्रसग पर अबीसीनिया को इटली से किस तरह पेश आना चाहिए, ऐसा प्रश्न यदि कोई गाधी जी से करे तो मालूम नही कि वे 'लूटमार होती हो तो होने दे और अत्याचार बर्दाश्त कर ले' ऐसा अहिंसा-त्मक उपदेश देने का साहस करेंगे या नही। ऐसे प्रसगो पर हिंसात्मक

आत्मरक्षा के सिवाय कोई गत्यन्त रही नही। वही परम से परम प्राणि-धर्म भी है। आततायियो के सामने अहिंसात्मक भावनायें दरिद्रो के मनोरथ के समान हृदय में उत्पन्न होकर हृदय ही में विलीन हो जाती है। भौतिक ससार मे उनके अनुसार आचरण करना अशक्य, असभव और अधर्म भी हो जाता है। जन-समाज को अहिंसा-धर्म का उपदेश देते समय ऐसे प्रसगो की ओर दुर्लक्ष्य नही करना चाहिए।

गाधी जी का जन्म ऐसे युग मे हुआ है जो पश्चिमी आततायी राष्ट्रो के हिंसात्मक व्यवहारो से बिलकुल त्रस्त है। अपने जीवन में उन्होंने अनेक युद्धो की भीषणतायें देखी हैं और उनसे उनके कोमल हृदय को बडी ठेस पहुँची है। इसी कारण उनके अहिंसा-सिद्धान्त ने भी प्रति-क्रियात्मक रूप (Reactionary) धारण कर लिया है। हिंसा से उन्हें इतनी घृणा हो गई है कि किसी भी प्रसग पर किसी भी रूप में वे उसे अमल मे नही लाना चाहते, यहाँ तक कि उन्होंने अपने सिद्धान्त को एकदम अव्यवहार्य बना डाला है। परन्तु जिस देश का उद्धार-कार्य उन्होंने अपने हाथो में लिया है, उसकी परिस्थिति कुछ ऐसी विचित्र है कि उसके लिए उनका अहिंसाधर्म अव्यवहार्य होते हुए भी हिंसात्मक प्रतिकार से अधिक व्यवहार्य है। देश के अधिकाश नेताओ को तथा जन-समाज को उनका पहलेदरजे का प्रतिक्रियात्मक अहिंसा-सिद्धान्त मान्य नही है। परन्तु वे यह भी समझते है कि देश की प्रस्तुत परिस्थिति में ऐसा ही आचरण सभव है। इस कारण हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा ने गाधी जी के अहिंसात्मक साधनो को वर्तमान नीति अथवा आपद्धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया है। निरपेक्ष भाव से विचार करनेवाले को प्रतीत होगा कि यदि केवल देशकालोचित नीति के रूप मे देखी जावे, तो महात्मा जी के वर्तमान कार्यक्रम की अहिंसा-त्मकता सर्वथा उचित, उपादेय और दूरदर्शितासूचक है। जो राष्ट्र शरीर और मन दोनो से कमजोर है, जिसके पास न तो शस्त्र है न सगठन-बल ही है, उसके लिए मनोबल सचय करना सबसे पहले उचित है।

ऐसे दुर्बल राष्ट्र को अपनी मानसिकहीनता से पहले मुक्त होना चाहिए। जो मनसा अशक्त है, वे शस्त्रो का भी उपयोग नही कर सकते। अतएव हिन्दुस्थान सरीखे पराधीन और दलित देश को सबसे पहले अपने स्वाभिमान और स्वत्व की रक्षा में प्राणो का मोह छोडने का प्रयत्न करना चाहिए। मृत्यु का भय सारी मानवी कमजोरियो का मूल है। जो मनुष्य अपने प्राणो को हथेली पर लिये फिरता है और जो किसी सदुद्देश्य की पूर्ति मे अपने शरीर को एक तिनके के समान त्याग देने के लिए तैयार है, वह त्रैलोक्य मे किसी से भी भय नही खाता, वह मृत्युजय है। अतएव इसमें सन्देह नही कि मरना बहुत कठिन है और मारना बहुत सरल है। जो मनुष्य आत्म-प्रतिष्ठा की रक्षा में सहर्ष मरने के लिए तैयार है, उसके लिए मारने की अलग शिक्षा देने की आवश्यकता नही रह जाती। हाथ उठा कर मार दना या पिस्तौल चला देना ऐसा काम है जिसे कमजोर से कमजोर आदमी भी कर सकता है। परन्तु अनिवार्य परिस्थिति में हँसते हँसते मर जाना एक देव-दुर्लभ गुण है। निहत्थे और लाचार हिन्दुस्थान को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस दिन वह मृत्यु-भय से मुक्त हो जावेगा, उस दिन बात की बात में उसकी परिस्थिति बदल जावेगी। मरने का डर छूटते ही मनुष्य का मनुष्यत्व बहुत ऊँचा उठ जाता है। इस मानसिक उत्कर्ष में वह स्वार्थी नही रह जाता। उसकी दृष्टि प्रधानत पारमार्थिक अथवा सार्वजनिक हो जाती है। सार्वजनिक दृष्टि ही राष्ट्रीयता की जननी है। इसी कारण हमने कहा कि हिन्दुस्थानी हृदय से मृत्युभय के तिरोहित होते होते उसकी परिस्थिति ही कुछ और हो जावेगी। सभवत विदेशी आक्रमणकारियो के प्रति उसे एक ककर फेंकने की भी आवश्यकता न पडे। इसी वस्तुस्थिति की प्रतीक्षा में महात्मा जी जीवित है और उसे उत्पन्न करने में वे प्राणपण से प्रयत्न-वान् हो रहे है। परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह देशोद्धार के साथ साथ गाधी जी के आदर्श अहिसा-धर्म की भी रक्षा करे। मानवी

सभ्यता का ऐसा कौन स्वाभिमानी है जो अहिंसात्मक साधनों की अवहेलना की दृष्टि से देखेगा ? परन्तु ध्यान रहे कि इन विचारों से नीति-शास्त्र-सम्मत हिंसा के उस औचित्य पर कुछ भी व्याघात नहीं पहुँचता जिसका प्रतिपादन हम पिछले दो खंडों में कर चुके हैं। नीति-शास्त्र व्यवहार-शास्त्र है। दो या दो से अधिक मनुष्यों के बीच किस परिस्थिति पर कैसा व्यवहार होना चाहिए, यही निर्धारित करना उसका विषय है। अतएव हिन्दुस्थान की वर्त्तमान अहिंसात्मकता सर्वथा नैतिक मानी जा सकती है, क्योंकि वर्त्तमान देश, काल तथा पात्र के विचारों से ऐसा ही आचरण अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार्य है। धर्म का एकमात्र लक्ष्य 'भूतहित-मत्यन्तम्' सम्पादन करना है। धर्माचरण का यह उद्देश्य त्रिकालाबाधित है, परन्तु उसका बाहरी रूप परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हुआ करता है। स्पार्टन लोगों के जमाने में कमजोर और निकम्मे बच्चों को हिंसक पशु के हवाले कर देना सर्वथा उचित माना जाता था, क्योंकि जहाँ समाज के लिए खाद्य-सामग्री कम हो और जहाँ लोगों को छोटी छोटी टुकडियों में घाटियों के बीच आक्रमणकारी पशुओं से हमेशा चौकन्ना और शस्त्रसन्नद्ध रहना पडे, वहाँ कमजोर आदमी समाज के लिए भार-रूप नहीं तो क्या होंगे? ऐसे लोग समाज की बहुत-सी खाद्य-सामग्री तो समाप्त कर जावेंगे, परन्तु जिस समय समाज-रक्षा का प्रश्न उपस्थित होगा, निहायत निकम्मे साबित होंगे। अतएव अधिकांश लोगों के अधिक से अधिक सुभीते और सुख के लिए ऐसे लोगों का न होना ही अच्छा था। परन्तु आज जिन राष्ट्रों की परिस्थिति स्पार्टन लोगों की अवस्था से भिन्न है, उनके लिए अन्धे, लूले और लँगडे लोगों की रक्षा करना तथा सार्वजनिक सहायता से उन्हें सुखी बनाना ही मनुष्योचित धर्म है। इस तरह पाठक देखेंगे कि धार्मिक आचरण का बाह्य रूप परिवर्तित हो जाता है; परन्तु नारद जी का पूर्व परिचित 'सर्वभूतहितमत्यन्तम्' वाला सिद्धान्त ज्यों का त्यों अक्षुण्ण रहता है। तात्पर्य यह कि गान्धी जी का प्रस्तुत अहिंसात्मक कार्यक्रम हमारी वर्त्तमान परिस्थिति में अधिक व्यवहार्य है।

अधिकाश लोगो के लिए अधिक सुविधाजनक है, और अधिक सुख का साधक भी है, अतएव उसका आचरण हमारी वर्त्तमान साधन-शून्य परस्थिति मे सर्वथा नीति-सम्मत है।

अपनी प्रस्तुत परिस्थिति में गान्धी जी के अहिंसात्मक कार्यक्रम की उपादेयता को स्वीकार करते हुए भी हमें कहना पडेगा कि नि शस्त्र और निर्बल हिन्दुस्थान अहिंसाधर्म का अधिकारी नही है। पुंस्त्व-शून्य मनुष्य को ब्रह्मचर्य का उपदेश जिस तरह व्यर्थ है, उपहासास्पद है, उसी तरह निर्बल और निस्सहाय मनुष्य को अहिंसा-धर्म का उपदेश देना भी निष्फल है। इस समय इस व्रत के अधिकारी वे राष्ट्र है जो जन-बल-समन्वित, सशस्त्र और सामर्थ्यवान् है और जिनमें हिंसा करने की क्षमता और प्रवृत्ति भी है। अहिंसा के मूल में क्षमा की भावना विद्यमान रहती है। क्षमा-दान वह मनुष्य नही दे सकता जो कमज़ोर और दुर्बल है। जिसमें प्रतिकार करने की शक्ति ही नही, वह आक्रमण-कारी को माफ नही कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसे मिथ्या-चारी ही समझना चाहिए। आक्रान्त और असहाय चीन, जापान को माफी देगा! भेद-भाव से भरा हुआ असमर्थ हिन्दुस्थान ब्रिटेन के सामने किस मुँह से कहेगा कि तुम्हारे अनुचित व्यवहारो का प्रतिकार करना मुझे मजूर नही है? मजूर हो या न हो, उसके लिए कोई गत्यन्तर ही नही है। अतएव हमारी यह निश्चित धारणा है कि हिन्दुस्थान की अहिंसा अधिकाश मे मिथ्याचार ही है, उसमे वास्तविक तथ्य कुछ भी नही। सभवत महात्मा जी इस बात को जानते है। पर परिस्थिति की लाचारी ही ऐसी है, इसमें किसी का वश नही।

इसके सिवाय एक बात और भी है, जो ध्यान देने योग्य है। यद्यपि अहिंसा-धर्म का तात्त्विक एव वैज्ञानिक सिद्धान्त भारतीय दर्शन-साहित्य का ही मौलिक आविष्कार है, तथापि जिस रूप मे गान्धी जी उसे जन-समाज के सामने प्रस्तुत कर रहे है वह ईसाई-मत के सम्पर्क से विकृत हो गया है। बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेकर ईसा ने यूरोप के बर्बरताग्रस्त और खूँख्वार

जन-समाज को यह उपदेश दिया कि अगर कोई तुम्हारे दाँये गाल पर थप्पड़ मारे तो उसका प्रतिकार मत करो, बल्कि अपना बायाँ गाल भी आक्रमणकारी की ओर फेर दो। इस उपदेश का असर यूरोपीय मानव-समाज पर कुछ भी न हुआ, वे आज तक अपने पूर्वजों के समान ही बर्बर बने हुए हैं। हजरत ईसा ने तो उनसे [illegible] कहा था कि तुम बुराई का प्रतिकार मत करो (Resist not evil) परन्तु ईसाई-मत के वर्तमान अनुयायी स्वयं 'बुराई' (evil) का रूप धारण करके सारी पृथ्वी पर छाये जा रहे हैं। उन्होंने अपने कुत्सित स्वार्थों की प्रेरणा से 'बुराई से अवरोध' वाले ईसा-प्रतिपादित सिद्धान्त को ठुकरा कर गंदी नाली में फेंक दिया। गांधी जी उसे उठा कर यहाँ ले आये हैं। यथार्थ में बुराई से विरोध का विचार न करना, अथवा हिंसा के भय से उसे निष्क्रिय रूप से बर्दाश्त कर लेना कोई पुरुषोचित सिद्धान्त नहीं है, न भारतीय सभ्यता को अहिंसा का यह विकृत हुआ रूप कभी मान्य ही था। हमारे धर्मशास्त्र के अनुसार तो बुराई का हर तरह से विरोध करना धर्म-परायण पुरुष का कर्तव्य माना गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि निष्क्रिय प्रतिरोध से बुराई आज तक कभी पराजित नहीं हुई। हिन्दुओं के धर्म-साहित्य में भी ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जो इस बात को सिद्ध करे कि चुपचाप बर्दाश्त कर लेने से मनुष्य-कृत बुराइयाँ जीती जा सकती हैं। बालक प्रह्लाद ने ही अपनी विवशता के कारण ऐसे आचरण का एक उदाहरण छोड़ दिया है पर जैसा कि हम कह चुके हैं वह भी इस बात का प्रमाण है कि निष्क्रिय प्रतिरोध से दुरात्मा पराभव को प्राप्त नहीं हो सकता। केवल नरसिंह के तीक्ष्ण नख-प्रहार से ही वह ठिकाने लग सकता है, अन्यथा नहीं।

हम पहले कह आये हैं कि धर्म-शास्त्र के अनुसार किसी भी कर्म की नैतिक योग्यता कर्त्ता की बुद्धि से ही आँकी जा सकती है। यथार्थ में अधर्म का स्थान मन ही है, कर्म नहीं। आचरण तो हमारी मानसिक अवस्था

के अनुवाद-मात्र होते है। अतएव मन की हिंसा ही यथार्थ हिंसा है। 'मनसैव कृत पाप न शरीरकृत कृतम्।' धम्मपद भी यही कहता है —

मनोपुब्बङ्गमा मनो सेठ्ठा मनोमया, मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।

ततो न दु खनमन्वेति चक्कनु वहतो पदम्॥

कुन्ती ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए 'मनस्ते महदस्तु' कहकर धर्माचरण का साराश ही बतलाया। मनुष्य के सारे पाप मन ही में उत्पन्न होते है। इसी लिए "मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो" कहकर किसी धर्मशास्त्री ने मन ही को धर्माधर्म का उद्‌गमस्थान माना है। अतएव केवल वाणी और कर्म की हिंसा को देखकर यदि हम यह निश्चय कर लें कि कर्ता का आचरण धर्म के विरुद्ध है तो अनेक प्रसगो पर हमारी धारणा नीति-शास्त्र की दृष्टि से निर्मूल सिद्ध होगी। इसी लिए योगेश्वर कृष्ण ने भी अर्जुन को बुद्धि-साम्य का उपदेश देकर सग्राम-रत होने को उत्तेजित किया। शुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ बुद्धि की प्रेरणा से की हुई हिंसा इसी कारण धर्मशास्त्र से समर्थित भी है। यदि इस बात को हम अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लें तो हिंसा के औचित्य और अनौचित्य के निर्णय में भूल होने की सभावना नही रह जाती।

अहिंसा धर्म का तात्त्विक निरूपण करते हुए बगाल के प्रख्यात साहित्य-मर्मज्ञ और विचारक स्वर्गीय बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय अपने 'कृष्णचरित्र' में लिखते है —

"'अहिंसा परम धर्म है।' इसमें पहली आपत्ति यह हो सकती है कि सब ठौर अहिंसा धर्म नही है। दूसरी यह कि स्वयम् कृष्ण ने गीता में जो उपदेश दे अर्जुन को युद्ध में लगाया था वह इसके विपरीत है।"

"जो अहिंसा का यथार्थ मर्म नही समझता है वही ऐसी आपत्तियाँ करता है। अहिंसा परम धर्म है, कहने से यह नही समझा जाता कि कभी किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए, ऐसा करना अधर्म है। प्राणियो की हिंसा किये बिना हम एक घडी नही जी सकते है। यह

ऐहिक नियम है। जो जल हम पीते हैं उसमें इतने छोटे छोटे कीड़े भरे हैं कि जिन्हें अणु-वीक्षण यंत्र बिना और किसी तरह नहीं देख सकते हैं। हम ऐसे हजारों कीड़े रोज़ जल के साथ पी जाते हैं। साँस लेने में हम हजारों कीड़े सूँघ जाते हैं। चलने में हजारों कीड़े कुचल जाते हैं। साग-भाजियों में हजारों कीड़े पकाकर खा जाते हैं। अगर कहो कि यह अनजानी हिंसा है, इसमें पाप नहीं है तो मैं कहूँगा कि जान-बूझ कर प्राणियों की हिंसा किये बिना भी हम नहीं जी सकते हैं। जो साँप-बिच्छू हमारे घर में या चारपाई के नीचे आ बैठा है उसे हम न मारें तो वह हमें काट खायगा। जो बाघ हम पर झपटना चाहता है उसे हम न मारें तो वह हमें खा जायगा। जो हमें मारने के लिए तलवार उठा चुका है उसे हम न मारें तो वह हमें मार डालेगा। जो चोर आधी रात को हमारे घर में घुसकर हमारा सर्वस्व ले रहा है उसे मार डालने के सिवाय और कुछ उपाय अपने बचाव का न हो तो उसे मार डालना ही धर्म की आज्ञा है। यदि हत्यारे का अपराध प्रमाणित हो जाय और राज-नियम के अनुसार फाँसी का दण्ड पाने योग्य वह ठहरे तो विचारक उसे फाँसी की सजा देने के लिए लाचार है क्योंकि यह उसका धर्म है।"

× × × ×

"अहिंसा परम धर्म का यथार्थ तात्पर्य यही है कि धर्म-संगत आवश्यकता के बिना हिंसा न करना परम धर्म है। हिंसा रोकने के लिए हिंसा करना अधर्म नहीं है बल्कि परम धर्म है।" (कृष्ण-चरित्र, पृष्ठ ४४७)

चट्टोपाध्याय महोदय के विचारों का भी सारांश वही निकलता है जो हम पहले बतला चुके हैं। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने भी अपने गीता-रहस्य में अहिंसा-धर्म की ऐसी ही मीमांसा की है। कई उदाहरण और साधक प्रमाण देकर वे लिखते हैं —

"सारांश यह है कि "अहिंसा परमो धर्मः" के समान नीति के सामान्य नियमों से ही सदा काम नहीं चलता, नीति-शास्त्र के प्रधान नियम अहिंसा

मे भी कर्तव्य अकर्त्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पडता है।" [गीता-रहस्य पृ० ३१ (कर्म-जिज्ञासा)]

मास खाने की वेदान्तिक दृष्टि पर विचार प्रकट करते हुए जीवन्मुक्त स्वामी रामतीर्थ कहते है —

"यदि न्याय, धर्म, सत्य और अधिकार के लिए तुम्हारा शरीर लाखो और करोडो का सहार भी कर दे तो भी तुम शुद्ध, अविकल और निष्कलक होते हो।"

"वह वेदान्त था जिसने नर-सहार करने में, बल्कि अर्जुन के अपने बहुत नगीची और प्रियतम सबन्धियो का नाश करने में कोई आगा-पीछा नही किया। जो अपने गुरु, चचा, भाई-बन्धु थे उन सबका अर्जुन को वध करना था। वेदान्त कहता है कि इनके वध करने से अर्जुन दूषित नही हुआ। तो फिर बकरो या भेडो, बैलो या कोई भी पशुओ को मारने मे वेदान्त कैसे सकोच कर सकता है। पर फिर भी वेदान्त तुमसे मास से परहेज़ करने को कहता है पर बिलकुल अन्य कारणो से।"

"अपने स्वार्थी जायको की तृप्ति के लिए जब तुम मास खाते हो, तब मास खाना पाप हो जाता है। किन्तु यदि तुम उसे दवा की तरह व्यवहार करते हो, यदि तुम केवल उपयोगी कार्य करने और अपने शरीर को मानव-जाति के हित करने की योग्यतम अवस्था मे रखने के लिए उसे ग्रहण करते हो तो मास-भक्षण कुछ भी पाप नही है।" (रामतीर्थ ग्रथावली, खड तीसरा, भाग १६, रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ)

इन अवतरणो से पाठको को विदित होगा कि स्वामी जी के मतानुसार कायिक हिंसा अधर्म का रूप तभी धारण करती है जब उसे प्रेरित करने-वाली बुद्धि स्वार्थी और मलिन हो। न्याय, धर्म और अधिकार के लिए जो हिंसा की जाती है, वह व्यावहारिक वेदान्त की दृष्टि से सर्वथा उचित है।

हमने इस अध्याय में जिस वैज्ञानिक तर्क-सरणी का आधार लिया है, उसके समर्थन में इन तीन विचारक विद्वानो के मत पर्याप्त है।

अतएव इस विषय को अब अधिक बढ़ाना हम अभीष्ट नहीं है। बहुत हो चुका।

परन्तु अन्त में इस बात पर विचार करना मीमांसा की दृष्टि से हमें बिल्कुल अनिवार्य प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में यदि हम अपना मनोगत भाव को स्पष्ट रीति से प्रकट न करेंगे, तो न तो हमें आत्मिक सन्तोष ही होगा, न फिर गांधी जी के मतानुसार इस प्रसंग पर हम सत्य-पालन में समर्थ ही हो सकते।

महात्मा जी के महात्म्य की विशेषता यह है कि उनके मन, वचन और कर्म में बड़ा विलक्षण सामञ्जस्य है। जमाने में महात्माओं का लक्षण भी यही माना गया है कि वे जैसा सोचते हैं वैसा ही बोलते हैं, और जो कुछ बोलते हैं उसका आचरण भी करते हैं। महात्माओं के इस लक्षण को दृष्टि-पथ में रखते हुए हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि गांधी जी अहिंसा-धर्म के पालन में कहाँ तक सफल सिद्ध हुए हैं। यों तो पागल कुत्तों को और आश्रम के बीमार बछड़े को विष दिलवाकर उन्होंने हिंसा-कर्म किये ही हैं। परन्तु ऐसी हिंसा को नीति-शास्त्र-सम्मत समझ कर हम हिंसा ही नहीं मानते। यहाँ पर हमारा अभिप्राय उन हिंसा-कर्म से है जो सर्वथा [illegible] हैं और जिनके समर्थन में कोई भी तर्क-सिद्ध दलील नहीं दी जा सकती।

इसमें सन्देह नहीं कि गांधी जी का व्यक्तिगत जीवन अहिंसा-धर्म से ही अद्यावधि सञ्चालित हुआ है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक अपमान सहे, कई दुरात्माओं का सामना उन्हें करना पड़ा, परन्तु वे हमेशा क्षमाशील और अहिंसात्मक ही रहे। इस सम्बन्ध में उन्होंने हजरत ईसा के उपदेश-वचन का अक्षरशः पालन ही किया है। एक गाल पर आघात सहकर दूसरा गाल उन्होंने आक्रमणकर्ता की ओर विलक्षण सहन-शीलता के साथ फेरा है। उनकी इस क्षमा-शीलता पर संसार मुग्ध है। हम भी इसी कारण महात्मा जी के व्यक्तित्व के पुजारी हैं। इस सम्बन्ध में हमारी श्रद्धालुता का दावा किसी से भी कम नहीं है।

परन्तु जिस समय हम गाधी जी के सार्वजनिक जीवन की ओर एक आलोचक की दृष्टि से देखते है तो हमे अपने हृदय में विशेष गौरव-भावना का अनुभव नही होता। लोकमान्य नेताओ के लिए सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र ही प्रधान होता है। अतएव भावी इतिहास-लेखक उनके सर्वगत जीवन के आधार पर ही अपना मत निश्चित किया करते है। महात्मा जी के समान लोक-सेवक के लिए तो सार्वजनिक जीवन ही यथार्थ जीवन है। इस दृष्टि से यदि विचार करें तो हमें कहना पडेगा कि महात्मा जी अहिंसा-धर्म के पालन में बुरी तरह चूके हैं। हम नही समझ सकते कि इतने बडे महापुरुष के पीछे ऐसा कौन-सा दुर्दैव पडा हुआ था कि जिसकी प्रेरणा ने साम्राज्य-निष्ठा की कल्पित कर्त्तव्य-भावना से उत्तेजित करके एक बार नही, दो बार नही, परन्तु तीन तीन बार एक से एक बडे महत्त्व-पूर्ण सार्वजनिक प्रसगो पर गाधी जी को महान् अत्याचारपूर्ण, निष्ठुर और भयकर हिंसा-काण्ड का हामी बना डाला। दुर्दैव, तेरा बुरा हो! तूने महात्मा जी के समान साधु और सरल-हृदय पुरुष का भी पीछा नही छोडा!!

पाठक यह सुनकर चौंके नही। इस बात की ओर हम 'साम्राज्य-निष्ठा' शीर्षक अध्याय में कुछ सकेत कर चुके हैं। प्रसगवश यहाँ पर हम उसका विशेष खुलासा कर देना आवश्यक समझते है, गाधी जी जन्म से ही शान्ति के प्रेमी और अहिंसा के पुजारी हैं। परन्तु हिन्दुस्थान के दूषित वातावरण में और विशेषकर हिन्दुस्थानी रियासत के दीवान घराने में जन्म लेने के कारण राज-निष्ठा उनके रक्त के साथ प्रवाहित हो रही थी। यही निष्ठा आगे चलकर साम्राज्यवादियो के अनाचार-पूर्ण स्वार्थ-वाद के सामने समर्पित हो गई। आज अपने जीवन के उत्तरकाल में गाधी जी इस बात पर विश्वास करने लगे हैं कि हिन्दुस्थान का राष्ट्रीय उत्कर्ष पूर्ण स्वतत्रता के बिना सभव नही है। परन्तु इस बात को समझने में उन्हें बहुत देर लगी। अपने जीवन का अधिकाश समय उन्होने साम्राज्य-समाराधन ही में व्यतीत किया

है। गत यूरोपीय महायुद्ध के अन्त तक उनके हृदय में 'इनफीरियारिटी कॉम्प्लेक्स' ही काम कर रहा था और उसकी प्रेरणा से वे समझते थे कि ब्रिटेन की छत्रछाया में ही रह कर हिन्दुस्तान सुखी रह सकता है। अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में उन्होंने साम्राज्यवादियों के एक से एक बढ़कर अत्याचार देखे, बर्दाश्त भी किये, परन्तु उनकी साम्राज्य-निष्ठा निश्चल बनी रही। इस ओछी भावना के वशवर्ती होकर उन्होंने अपने प्रियतम अहिंसा-सिद्धान्त का अनेक बार बलिदान कर डाला। सबसे पहले उन्होंने बोअर लोगों के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्य का साथ दिया। वे स्वयम् इस बात को अपनी आत्म-कथा में स्वीकार करते हैं कि साम्राज्य की सहायता करते समय उनके मनोभाव बोअरों के विरुद्ध नहीं थे। वे इस बात को भी अच्छी तरह जानते थे कि ऐसे युद्ध में योग देना अहिंसा-धर्म के विरुद्ध था। यह सब समझते हुए भी उन्होंने हिंसाकारियों को सहायता देना अपना कर्त्तव्य माना।

दूसरा प्रसग जूलू-बलवा के समय उपस्थित हुआ। बोअर-युद्ध के सम्बन्ध में तो कम से कम इतना कहा जा सकता है कि वह करीब बराबरी का युद्ध था। बोअर लोग स्वयम् अच्छे सिपाही थे और उन्होंने अँगरेजों का बडी दिलेरी से सामना किया। परन्तु बेचारे जूलू तो बिलकुल अशक्त और निस्सहाय थे। गाधी जी स्वयम् लिखते हैं कि उन्होंने सगठित रूप से कोई बगावत ही नहीं की थी। फिर भी ऐसे निहत्थे लोगों पर ब्रिटिश साम्राज्य के हृदयहीन अधिकारियों ने आक्रमण किया। अपने स्त्री-बच्चों के साथ छिपे हुए शान्ति-प्रिय और निर्दोष जूलुओं को अँगरेज सिपाहियों ने उनकी बस्ती में घुस-घुस कर गोलियों से मारा। हिंसक बन्दूकों की आवाज गाधी जी के कानों में प्रार्थना के समय प्रातःकाल ही से सुनाई देती थी; और उनके हृदय के टुकडे टुकडे करती थी। ऐसे हिंसाकारी, दर्दनाक और नीचातिनीच दुष्कर्म को उन्होंने अपनी आँखों से देखा और विरोध प्रकट करने की बात तो दूर रही, परोक्ष रूप से उन्होंने उस क्रूर काण्ड का समर्थन ही किया। इस सम्बन्ध में एक अहिंसा-

प्रेमी का जो नैतिक उत्तरदायित्व था, उससे महात्मा जी पराङ्मुख हो गये।

इस प्रकार अहिंसा-धर्म के पालन में दो महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर महात्मा जी विचलित हो चुके। परन्तु फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनका सार्वजनिक जीवन उस समय तक विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नही हुआ था और न उनमें इतना नैतिक सामर्थ्य ही था कि उन अत्याचारो का किसी तरह विरोध कर सके। परन्तु गत यूरोपीय महासमर में उन्होने जो कुछ किया उसके पक्ष मे ऐसी कोई भी वात नही कही जा सकती। उस समय तक वे अपने आत्म-बल का काफी परिचय दे चुके थे। सार्वजनिक नेता की हैसियत से वे प्रख्यात भी हो चुके थे। उनकी दी हुई अहिंसा-धर्म की दुहाई भी दूर दूर तक सुनी जा चुकी थी। इस वार वे दक्षिण-आफ्रिका के दूपित और परावलम्वी वातावरण से मुक्त भी थे। फिर भी उनकी साम्राज्य-निष्ठा सामने आई और उसने कान पकड कर सिद्धान्त-प्रियता को उनके हृदय से वाहर कर दिया। भारतीय लोकमत के विरुद्ध प्रतिष्ठित राष्ट्र-नेताओ की परवाह न करते हुए उन्होने ब्रिटिश सरकार की ओर से अवैतनिक रिक्रूटिंग एजेन्ट का काम किया। साधारण से साधारण लोगो ने उन्हे चेतावनी दी, उन्ही से सुने हुए अहिंसा-धर्म की उन्हें याद दिलाई, पर इस वार भी लोगो ने उनकी धर्म-वुद्धि के द्वार पर साम्राज्य-निष्ठा का ताला लगा हुआ ही पाया। इस तरह जो गाधी जी आज भारतीय जन-समाज को 'लूट-मार होती हो तो होने दें' कहकर अहिंसा की ऐसी आदर्शवादी अव्यावहारिक और अनैतिक शिक्षा दे रहे हैं, वे अपने सार्वजनिक जीवन के सभी महत्त्व-पूर्ण प्रसंगो पर लूट-मार करनेवालो का ही साथ देते आये। गाधी जी के एक विवेकी भक्त की हैसियत से जव हम इस वात पर इस दृष्टि से विचार करते है तो हमारे कठोर हृदय को भी एक ऐसी कडी ठेस पहुँचती है कि उसके आघात से आँखो के सामने कुछ अँधेरा-सा छा जाता है। उस अँधेरे में हमें गाधी जी का देदीप्यमान वडप्पन कुछ धुंधला-सा और

मलिन दिखाई देता है। सम्भव है, यह हमारे ही कलुषित नेत्रो का दोष हो।

आजकल महात्मा जी अहिंसा-धर्म के इतने अटल समर्थक है कि वे न्यायोचित हिंसा भी वर्दाश्त नही कर सकते। बल-प्रयोग-पूर्वक आत्म-रक्षा करने का अधिकार देने में भी उन्हे कुछ सकोच होता है। ऐसी हालत में यदि वे किसी हिंसा-कर्म में न्याय-पक्ष की ओर से भी सहायक होते, तो भी उन्हे आलोचको की दृष्टि में कटाक्ष का पात्र होना पडता। परन्तु जिन हिंसाकाण्डो का समर्थन गाधी जी ने अपने जीवन में किया है वे न्याय-मूलक भी नही थे। उन काण्डो की रचना सर्वथा अधर्म के आधार पर की गई थी, और साम्राज्यवाद के स्वार्थी प्रवर्तको के द्वारा प्रेरित हुई थी। गत यूरोपीय युद्ध में रैमज़े मेकडानल्ड के समान साधारण कोटि के लोगो ने सरे आम खुल कर युद्ध का विरोध करते हुए अहिंसा-भाव एवम् शान्ति-प्रियता का परिचय दिया और उसके परिणाम में साहस के साथ बन्दी-जीवन के कष्ट भी सहे। परन्तु गाधी जी के समान धर्म-निष्ठ महापुरुष और अहिंसा के अनन्य पुजारी ने उस व्यापक जन-हत्या का विरोध तो किया ही नहीं, वरन् कडी मिहनत के साथ एक सिपाही का वोरिया-बदना बाँधकर फिरते हुए लोगो को हिंसा-कर्म में प्रवृत्त होने के लिए उत्साहित किया। 'अहो, किमाश्चर्यमतः परम्।' सचमुच यह एक बडे आश्चर्य की बात है। देहातो के मुँहफट किसान उनके मुँह पर कहा करते थे कि आप अपनी ही शिक्षा के विरुद्ध यह कैसा उलटा काम कर रहे है। सार्थक उत्तर के अभाव में गाधी जी इस प्रश्न को सुनकर चुप्पी साध लिया करते थे, पर अपनी साम्राज्य-सेवा से विचलित न हुए। हमारे पूर्व-कथित विस्मय का बाँध उस समय बिलकुल ही टूट जाता है जिस समय गाधी जी को हम यह भी कहते हुए सुनते हैं कि मुझे अपनी उन सग्राम-समर्थक कार्रवाइयो के लिए कुछ भी पश्चात्ताप नही है। ऐसा कहते हुए वे कुछ साधक दलीलें भी पेश करते हैं जिनकी चर्चा हम असहयोग-प्रकरण

में अच्छी तरह कर चुके है। वे ऐसा करें, परन्तु हमारा यह तर्क-सिद्ध विश्वास है कि गाधी जी के जीवन-सिद्धान्त तथा सार्वजनिक कार्य-क्रम के भावी मीमासको तथा इतिहासकारो को उनकी दलीलें न पट सकेंगी और आनेवाली जन-सतति के सामने उन बातो की कैफियत देने में उन्हे वडी कठिनाई पडेगी। स्वयम् महात्मा जी की यह इच्छा है कि 'अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज कभी छोटा न बने।'

अध्याय २७

साम्यवाद

हमारी यह सृष्टि अत्यन्त विषम है। यथार्थ में विषमता का ही नाम ससार है। समता में तो उसका लय है। सत, रज और तम के तारतम्य से प्रसार पाया हुआ यह ससार एक क्षुब्ध महासागर के समान है। इसमें त्रिगुणात्मक वासनाओ की आँधियाँ अहर्निश चलती रहती है। जल का महासागर तो कई बार शान्त भी दिखाई देता है, परन्तु विषयो का यह भव-सागर सदैव क्षुब्ध और अशान्त रहता है। इस विश्वव्यापी क्षोभ मे, विषय-वीचियो के आन्दोलन में शान्ति-स्थापन करना ही मानवी प्रयत्नो का ध्येय हुआ करता है। ससार के महापुरुष सदैव मे यही काम करते आये है। हमेशा से वे यही कहते आये है कि साम्य ही सच्ची अवस्था है। विषमता केवल बाहरी मायावी रूप है। प्राणी साम्यावस्था में ही अपने जीवन के परम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। सृष्टि की परिस्थिति विषम है, परन्तु उसका ध्येय समत्व है। विषमता में सघर्षण, कलह और अशान्ति है, समता में सुविधा, सुख और शान्ति है। समता स्नेह की लता है। वह जन-समाज में फैलकर लोगो को एक दूसरे से सम्बद्ध बना देती है। प्राणियो के हृदय-बन्धन में परमात्मा का रूप प्रतिबिम्बित होता है। तात्पर्य यह कि हृदयो का सगठन समता ही कर सकती है। समत्व में ही सृष्टि का योग है। 'समत्व योग उच्यते।' इस योग से जन-समाज के योग और क्षेम दोनो सम्पादित होते है।

जन-समाज में समता स्थापित करने का प्रयत्न बिलकुल नया नही, बहुत प्राचीन है। मनुष्य की सभ्यता ने समत्व का आदर्श बहुत पहले से निश्चित कर दिया है। लेकिन फिर भी समस्या मौजूद है, क्योंकि

जन-समाज मे विषमता अब तक बनी हुई है, दिनोदिन बढती जा रही है। हम सरीखे मनुष्यो के लिए यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इस पृथ्वी पर समता का यह चिर-चिन्तित आदर्श कब और किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा। लेकिन फिर भी मानवी सभ्यता इसी एक बात के लिए प्रयत्नशील रहती आई है। वैदिक काल से लेकर आज तक इस पृथ्वी पर जितने महापुरुष हुए, उन सभी ने मानवधर्म के आधार पर जन-समाज में समत्व स्थापित करने का ही भगीरथप्रयत्न किया है। परन्तु समता की जाह्नवी अभी तक इस भूलोक पर नही उतरी।

आधुनिक साम्यवाद के औचित्य अथवा अनौचित्य को ठीक-ठीक समझने के बहुत पहले हमें यह अच्छी तरह हृदयगम कर लेना चाहिए कि मनुष्य-समाज के सम्बन्ध में जब हम 'समत्व' शब्द का उपयोग करते है तो उसका यथार्थ आशय क्या होना चाहिए। इतना तो हम समझ चुके है कि समता के विकृत रूप का ही नाम ससार है। यह सारी सृष्टि ही विषम है। अतएव समता का अभाव जन-समाज मे भी पाया जाता है। क्योकि मनुष्य भी सृष्टि के अन्तर्गत रहनेवाला प्राणी है। लोगो के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न हुआ करते है। कोई मूर्ख है, कोई पडित है। कोई श्रीमान् है, कोई दरिद्र है। कोई सबल और स्वस्थ है, कोई रोगी है। कोई दुखी है, कोई सुखी है। कोई सरल है, कोई कुटिल है। इस तरह जन-समाज मे अनेकानेक अवस्था, आचार तथा विचार के लोग पाये जाते है। मानव-स्थिति और स्वभाव की यह अनेकता प्राणियो के विकास का नैसर्गिक परिणाम है। ससार में कई प्रकार के लोग हमेशा से रहते आये है। प्रगति-मान् सभी है, पर आगे-पीछे चलते है। पूर्ण विकास (मोक्ष) की तीर्थ-यात्रा के पथिक सभी मजिलो मे पाये जाते है। कोई पहुँचने पर है, कोई मध्य मे है और कोई मुश्किल से अभी पहली मजिल ही पहुँच पाया है। ऐसे सभी तरह के लोगो को एक ही जन-समाज मे रहना है। जहाँ मूर्ख और पडित, सबल और निर्बल, श्रीमान् और दरिद्र, सरल और कुटिल, ऐसे सभी प्रकार के लोगो को एक ही समाज तथा राष्ट्र के अन्तर्गत

संगठित और सुव्यवस्थित अवस्था में रखना है, वहाँ शासन-व्यवस्था का क्या रूप हो, यही हमें पहले निश्चय कर लेना चाहिए।

यह बात तो बिलकुल प्रत्यक्ष है कि मनुष्यो की बाहरी और भीतरी असमता मिटाई नहीं जा सकती। जब तक सृष्टि रहेगी, भिन्नता बनी रहेगी। यदि यह सभव होता, तो सीधा रास्ता यही था कि जन-समाज में सभी आदमी एक समान समझदार, श्रीमान् और शक्तिमान् बना दिये जाते। पर अभी तक ऐसी कोई जादू की छडी किसी भी महापुरुष के हाथ नही लगी। ऐसी दशा में सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक ही उपाय रह जाता है। सबसे पहले भिन्न-भिन्न गुण-धर्म के लोगो का स्थूल वर्गीकरण कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक वर्ग की सम्मिलित शक्ति को समाज-सेवा के उस क्षेत्र मे डाल देनी चाहिए जो उसके गुणकर्म-स्वभाव के अनुकूल हो। इसके सिवाय जन-समुदाय में सामाजिक सम्वद्धता स्थापित करने का दूसरा उपाय हो नही हो सकता। भारत के प्राचीन आर्यों ने हिन्दू-समाज की रचना इसी नैसर्गिक आधार पर की थी। असमता में हम समता नही ला सकते, सामञ्जस्य ही स्थापित कर सकते है। यह काम भी वडी कठिनाई से होता है। प्राचीन आर्यों ने वर्णाश्रम-धर्म के द्वारा मानवी विपमता के वीच ऐसा ही समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया था। वर्णाश्रमधर्म के माननेवाले उसके अनुशासन से वाहर होकर, लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये, इसमें सन्देह नही। परन्तु इस दुर्घटना से व्यवस्था की प्रणाली तथा उसके मूलगत सिद्धान्त पर कुछ भी आघात नही पहुँचता। वह विलकुल अक्षुण्ण है। वह सर्वथा स्वाभाविक और सच्ची व्यवस्था है। उसका उद्देश्य समता नहीं, समन्वय है।

पर एक वात यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य है। सामाजिक समन्वय के लिए यदि समता सभव नही, तो समता की भावना तो जरूर ही चाहिए। यह भावना जन-समाज के लिए अभी तक बड़ी दुर्लभ सिद्ध हुई है। इसी भावना का प्रचार करना ही समाज-सुधारको का परम

उद्देश्य हुआ करता है। इस भावना के जाग्रत होते ही लोग सहसा सम नही हो जाते, उनमे उनकी विषमता पूर्ववत् बनी ही रहती है। परिणाम इतना ही होता है कि मनुष्यत्व के नाते एक दूसरे को समभाव से देखकर लोग परस्पर कर्त्तव्यशील हो जाते है। पारस्परिक कर्त्तव्य-शीलता के द्वारा जन-समाज का वैयक्तिक और सामूहिक विकास सम्पादित होता है। यही जीवन का ध्येय भी है। जो समाज इस लक्ष्य-सिद्धि का सहायक नही हो सकता, वह सर्वथा त्याज्य है।

ससार में सम-भावना के प्रचार करनेवाले सिद्धान्त को ही साम्य-वाद कहना चाहिए। भिन्न-भिन्न गुणधर्मानुसार भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे काम करते हुए भी मनुष्यत्व के मच पर सभी समान हैं, अतएव वे एक दूसरे के लिए आदरणीय है। जो सिद्धान्त लोगो को ऐसी सद्भावना के आधार पर आचरण करने का आदेश देता है उसी को साम्यवाद कह सकते है। यही इस वाद का शुद्ध, सरल और व्यापक आशय है।

पश्चिमी दुनिया से साम्यवाद की जो ध्वनि-प्रतिध्वनि अभी कुछ वर्षो मे सुनाई दे रही है, उसका रूप-रग ही कुछ और है। वह इस नये जमाने की नई आवाज है और कदाचित् आवाज उठानेवाले स्वय यह नही जानते कि वे क्या चाहते है और उनका अभिप्राय कहाँ तक शक्य है। पश्चिम का साम्यवाद बुभुक्षित प्राणियो के पेट से निकला हुआ नाद है। वह दरिद्रता की पुकार है, क्षुधा और बेकारी का पेश किया हुआ दावा है। उसे हम केवल 'साम्यवाद' नही 'आर्थिक साम्यवाद' कह सकते है। अँगरेज़ी के सोशयलिज्म' शब्द के अन्तर्गत जो आशय है, उसका पर्यायवाची 'साम्यवाद' नही हो सकता, इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। पाश्चात्य साम्यवाद का आन्दोलन जन-समाज में आर्थिक समता (Economic Democracy) स्थापित करने के लिए है। अतएव उसे 'आर्थिक साम्यवाद' कहना उपयुक्त होगा। इस तरह साम्यवादी आन्दोलन के कई पहलू हो सकते है। महात्मा जी

के द्वारा प्रगति पाया हुआ हरिजन-आन्दोलन भी साम्यवाद का एक रूप है। हिन्दू-समाज के अन्तर्गत रहनेवाली अछूत जातियाँ समाज के अन्दर समानता का अधिकार चाहती हैं। मन्दिर, घाट तथा शालाओ मे वे समानाधिकार से सवर्ण हिन्दुओ के साथ रहने के अभिलाषी है। यह भी एक साम्यवादी आन्दोलन है। इसे 'सामाजिक साम्यवाद' कहना उचित होगा। मुहम्मद, गौतमबुद्ध तथा वैष्णव आचार्यों ने धर्म के क्षेत्र में समता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। अपने अपने सम्प्रदायो में उन्होने सभी प्रकार तथा वर्ण के स्त्री-पुरुषो को समानाधिकार दे रखा था। 'वैष्णव-सम्प्रदाय' मे ब्राह्मण और शूद्र एक ही पक्ति मे बैठ सकते थे। 'जात-पाँत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' तुलसीदास जी के इस पद में वैष्णव-सम्प्रदाय के 'धार्मिक साम्यवाद' का चित्र अकित है। कहने का आशय यह है कि जन-समाज में आवश्यकतानुसार समता स्थापित करने का प्रयत्न जीवन के कई क्षेत्रो में हो सकता है। अभी तक उसका आन्दोलन चार प्रमुख क्षेत्रो में हुआ है, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साम्पत्तिक। धार्मिक 'साम्यवाद' के दिन गये। विज्ञान के इस कलियुग में धर्म के प्रति सार्वजनिक अनास्था दिखाई देती है। इसलिए धर्म का क्षेत्र बहुत कुछ खाली पड़ा हुआ है। वहाँ जो थोडे से लोग आसन मार चुके है, वे जनता की बची-खुची धर्म-श्रद्धा की बदौलत अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। वे प्रतियोगिता के बाहर है।

वर्तमान युग में साम्यवाद के केवल दो रूप दिखाई देते है। उसका सामाजिक रूप हमें भूपृष्ठ-व्यापी हरिजन-आन्दोलन मे दृष्टिगत होता है। पाठक जानते ही है कि दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता-निवारण के प्रश्न केवल हिन्दुस्थान के हिन्दुओ में ही सीमित नही है। वह समस्या मुसलमानो के सामने भी है। पश्चिम का ईसाई-समाज भी इससे बचा नही है। साराश यह कि हीन और दलितवर्ग की सख्या ससार में सभी जगह पाई जाती है। इस वर्ग का आन्दोलन हिन्दुस्थान में दलित

और अछूतो के द्वारा तथा अमेरिका और आफ्रिका में काले हब्शियो तथा इतर जातियो के द्वारा प्रकट हो रहा है। इस तरह साम्यवादी आन्दोलन का यह सामाजिक रूप हमारे सामने दृष्टिगत होता है। इस पृथ्वी के जन-समाज मे यह सर्व-व्यापी हरिजन-आन्दोलन एक ओर चल रहा है। गाधी जी इस आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार है। इसी के साथ-साथ दूसरी ओर एक दूसरा 'साम्यवादी आन्दोलन दुनिया के अर्थ-क्षेत्र मे चल रहा है। ग़रीब मजदूर और किसान इस बात का दावा पेश कर रहे है कि देश या समाज के पास जितनी सम्पत्ति है, उसका सबको समान हिस्सा मिलना चाहिए। थोडे से लोग ही उसका अनावश्यक उपभोग क्यो करें, शेष भूखो क्यो मरें? देश की सम्पत्ति एक सार्वजनिक चीज़ है, उसका उपभोग सबको कम से कम आवश्यकतानुसार क्यो न मिले? इस आर्थिक साम्यवाद के सिद्धान्त को वर्तमान जन-समाज मे प्रस्तुत करनेवाला कार्लमार्क्स था। वह एक जर्मन यहूदी था। यहूदी होने के कारण वह राष्ट्रीयता की कैद से बाहर था। अतएव उसने गरीब लोगो की अर्थ-समस्या को अन्तर्जातीय दृष्टि से देखा और आर्थिक समता स्थापित करने का मार्ग दिखाया। इस पथ पर सामुदायिक रूप में आरूढ़ होनेवाला रशिया के सिवाय अभी कोई भी दूसरा राष्ट्र नही है। कार्लमार्क्स के बतलाये हुए मार्ग का यथासम्भव पालन करनेवाला दूसरा आदमी लेनिन हुआ, जिसने आर्थिक समता की बुनियाद पर ही समाज-रचना करने का प्रयत्न किया। साराश यह कि साम्यवाद के इस आर्थिक सिद्धान्त का जन्मदाता कार्लमार्क्स है और उसका प्रवर्तक लेनिन। साम्यवाद के इस आर्थिक रूप को 'सोशलिज्म' तथा 'कम्यूनिज्म' भी कहते है। यह योरप मे क्यो और किस तरह पैदा हुआ, इसका सारा इतिहास है। आज इस प्रकरण में हमें खास कर यह देखना है कि आर्थिक विषमता को दूर करने की—'आर्थिक साम्यवाद' स्थापित करने की सच्ची कुञ्जी किसके हाथ लगी। फिर भी पश्चिमी साम्यवाद के

यथार्थ आशय को समझने के लिए कुछ थोड़ा-सा ऐतिहासिक दिग्दर्शन बहुत आवश्यक है।

मानव-समाज का इतिहास लोगो के वैयक्तिक तथा सामूहिक स्वार्थों के सघर्ष का इतिहास है। अपनी सभ्यता के प्रातःकाल में मनुष्य-जाति छोटी-छोटी टोलियाँ बांधकर रहा करती थी। इस दशा में उसके स्वार्थ और परमार्थ के विचार टोलियो में ही सीमित रहा करते थे। शताब्दियो के बाद एक ही भूमिखण्ड और जल-वायु मे रहते रहते इन छोटे छोटे परिवारो ने मिल कर एक बड़े जन-समाज की रचना की। कुटुम्ब के किसी वयोवृद्ध मुखिया के आधीन होकर रहने की आदत मनुष्य की बहुत प्राचीन है। इसी को पैत्रिक शासन-प्रणाली (Patriarchal System) भी कहते हैं। जिस समय कई कुटुम्ब-परिवार के लोगो ने मिलकर एक बृहत्-समाज की रचना की, मनुष्य के इसी प्राचीन संस्कार ने राजाओ को जन्म दिया। एक ही व्यक्ति की एकछत्र-शासन की प्रणाली पृथ्वी पर सदियो तक जारी रही। राजाओ की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी, यहाँ तक कि वे ईश्वर के भेजे हुए प्रतिनिधि माने जाने लगे। लोगो के इस मनोभाव के आधार पर पीछे-पीछे इन राजाओ के उत्तराधिकारियो ने स्वयं इस बात का दावा करना शुरू कर दिया कि वे साधारण मनुष्य नहीं, प्रत्युत पृथ्वी पर भेजे हुए ईश्वर के दूत है, और उनके शासनाधिकार लोगो के दिये हुए नही, प्रत्युत ईश्वर-दत्त (Divine Right) हैं। राजाओ-महाराजाओं की इस धारणा ने उन्हें धीरे-धीरे निरंकुश बना दिया। परिणाम यह हुआ कि वे अपने आचार-विचार में उच्छृ-ङ्खल और स्वछन्द होकर लोकमत से लापरवाह हो गये। राजाओ की इस आत्म-विस्मृति तथा तज्जनित दुराचारो ने जन-समाज में व्यापक और गम्भीर असन्तोष फैला दिया। यही सार्वजनिक असन्तोष आगे चलकर आधुनिक डेमोक्रेसी (Democracy) का जन्मदाता सिद्ध हुआ।

प्रजा ने सम्मिलित रूप मे राजा का विरोध किया। प्रजा-सत्ता के हामी सिपाहियो ने जब राजमहलो पर आक्रमण किया, तो राज-सत्ता उनके हाथ आ गई। राजा या तो कैद कर लिया गया या मार डाला गया। उसकी सत्ता किसी भी एक मनुष्य के हाथ नही लग सकती थी, क्योकि एकच्छत्र शासन के विरुद्ध ही तो वह आन्दोलन खडा किया गया था। इसलिए 'डेमोक्रेसी' के समर्थक सिपाहियो ने राज-सत्ता की बराबर बराबर बोटियाँ काट-काट कर आपस मे बाँट ली। एक बोटी एक आदमी के हाथ आई। इसी को आजकल की भाषा मे 'व्होट' कहते है। व्होट यथार्थ मे राज-सत्ता की एक बोटी है। उस बोटी की बदौलत उस जमाने का हर एक आदमी शान से मचलता फिरता है। वह समझता है कि शासन की बागडोर मेरे हाथो में है। इस तरह राज-सत्ता बोटियो मे कट कर 'व्होट' हुई और सरे आम लुट गई। परिणामस्वरूप प्रजा-सत्ता (Democracy) का जन्म हुआ।

इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के कारण पाठक ऐसा न समझें कि प्रजा-सत्ता का सूर्योदय एकदम पूरा हो गया। राजा के सिंहासनच्युत होने के बाद उसकी सत्ता तो लुट गई, लेकिन ऐसी लूटो मे जैसा कि हुआ करता है, सबल और शक्तिमान् ही सबसे अधिक माल ले गये। राज-सत्ता एक आदमी के हाथ से छूट कर कुछ थोडे से बडे आदमियों के हाथ आ गई। शेष जन-समाज हाथ मलता रह गया। इन थोडे से आदमियो ने राजा के स्थान पर अपनी सत्ता (Oligarchy) स्थापित की। कई देशो मे तो इन थोडे से लोगो ने राजा को अपने प्रभाव में लाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया और दाम, दण्ड और भेद इन तीनो शस्त्रो का प्रयोग करके जन-साधारण को सदियो तक त्रास दिया। इस तरह बहुत धीरे-धीरे राज-सत्ता लोगो के हाथ लगती आई है। अभी भी ऐसा नही कह सकते कि 'डेमोक्रेसी' का पूर्ण विकास पृथ्वी पर हो चुका है। प्रजा-सत्ता-रूपी सूर्य-मण्डल का बहुत-सा

वह अभी भी क्षितिज में छिपा हुआ है। आज हमारे सामने 'साम्यवाद' का जो प्रश्न छिड़ा हुआ है वह इस बात का प्रमाण है। वह इस बात को घोषित करता है कि केवल एक वोट की बदौलत ही मनुष्य स्वतन्त्र आत्मशासक नहीं हो जाता। समाज में जो पूँजीवाले आदमी हैं, वे अपने पैसे के प्रभाव से गरीब लोगों के वोट खरीद लेते हैं और इस तरह शासन का सूत्र अपने हाथों में लेकर अपना ही मनमाना स्वार्थ सिद्ध करते हैं; जन-साधारण की चिन्ता उन्हें नहीं होती। अतएव जब तक समाज में सम्पत्ति-विभाग की यह वर्तमान विषमता बनी रहेगी तब तक सर्व-साधारण लोग अपने वोट स्वतन्त्र रूप से देने में सफल न हो सकेंगे। उन्हें ज्ञान और सम्पत्ति दोनों की ज़रूरत है। इसलिए इस अर्थविषमता का मूलोच्छेदन सबसे पहले होना चाहिए। तब कहीं यथार्थ प्रजा-सत्ता का जन्म होगा। इसके पहले सच्ची प्रजा-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का स्थापन असम्भव है। यही वर्तमान 'सोशि-लिज्म' का सैद्धान्तिक रूप है। वह एक ऐसा आर्थिक आन्दोलन है जिसे पृथ्वी के मजदूर सम्प्रदायों ने खड़ा किया है। इस आन्दोलन का जन्म यूरोप में इसलिए हुआ कि वहाँ बड़ी भयंकर अर्थ-विषमता विद्यमान है। यह विषमता क्यों और कैसे आई, इस प्रश्न का उत्तर इस युग का भौतिक विज्ञान देगा।

यूरोप एक ऐसा महाद्वीप है जिसकी अधिकांश भूमि बर्फ और पानी की मार से अपनी उत्पादक शक्ति खो चुकी है। जैसे जैसे इस महाद्वीप की जन-संख्या बढ़ती गई वैसे वैसे लोगों के सामने जीविका का प्रश्न उग्र रूप धारण करता गया। यूरोपीय राष्ट्रों के लिए अपनी ज़मीन की पैदावारी पर सर्वथा आश्रित होकर रहना असम्भव हो गया। इँग्लैंड सरीखे देश में जहाँ करीब साढ़े चार करोड़ की आबादी है, मुश्किल से दस लाख आदमी काश्त कर सकते हैं। ऐसी दशा में शेष जन-समाज अपना जीवन-निर्वाह कैसे करे? आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। अतएव परिस्थिति की प्रेरणा ने लोगों को उद्यम-शील बना दिया।

कला और विज्ञान की ओर यूरोपीय राष्ट्रो की मानसिक प्रगति हो चली। होते होते एक समय ऐसा आया कि वहाँ के वैज्ञानिक इस वात की चिन्ता में लग गये कि कच्चे माल से थोडे समय मे अधिक से अधिक चीजें किस तरह तैयार की जावे। इस उद्देश्य से जिस समय यूरोप के वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियो को छानवीन मे लगे हुए थे, उसके वहुत पहले से ही काश्तकारो का आन्दोलन उठ खडा हुआ था। उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ।

सच पूछा जाय तो यूरोप मे आर्थिक असमानता जागीरदारी शासन-प्रणाली (Feudalism) से शुरू हुई। वहाँ मध्यकाल में ईसा की पाँच शताव्दी से लेकर १५ वी शताब्दी तक राजाओ का शासन था। राज्य की सारी भूमि उन्ही की मानी जाती थी। राजा लोग सभी ज़मीन का उपयोग अपने लिए नही कर सकते थे। इस कारण वे जितनी चाहे उतनी ज़मीन जागीरदारो को दे दिया करते थे। जव इन जागीरदारो के हाथ मे ज़मीन आती थी तो वे उसके छोटे छोटे टुकडे वहुत-से लोगो को काश्त पर दे दिया करते थे और इस तरह उनसे अपना लगान वसूल किया करते थे। उसमें से कुछ हिस्सा राजा को देकर शेष अपने उपयोग मे लाते थे। इस प्रथा से राजा और जागीरदार तो मजे में रहे, पर छोटे छोटे किसानो की हालत खराव होती गई। उनके लगान वहुत और वडी सख्ती से वसूल किये जाते थे। इसके सिवाय उन्हे जागीरदारो की अन्यान्य सेवायें भी करनी पडती थी। कालान्तर में किसानो तथा खेत पर काम करनेवाले मजदूरो की और भी खराव हालत हो चली। इसलिए मज़दूरो ने अधिक मज़दूरी माँगी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि काश्तकारो ने लगान कम करने के लिए आन्दोलन किया। इस आन्दोलन की जड काटने के लिए चौदहवी शताव्दी के मध्यकाल में जागीरदारो ने ऐसे कानून राजा से वनवाये कि जिससे मजदूरो का अधिक मज़दूरी माँगना नाजायज़ हो गया। चारो ओर से सकट में पडकर किसानो और मज़दूरो ने मिलकर वलवा किया जो 'कृषक-विद्रोह'

(Peasant Revolt) के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी के मजदूरों और किसानों की भी हालत बहुत बुरी हो गई। उन लोगों ने भी आन्दोलन खड़ा किया और अपनी बारह मांगें (The Twelve Articles of Peasants) पेश की। ध्यान रहे कि जिस समय आर्थिक असन्तोष इस तरह फैल रहा था, उसी समय कई ऐसे लोग भी उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने विचारों के द्वारा जन-साधारण के सामने समता का आदर्श प्रस्तुत किया। सर थॉमस मूर ने 'यूटोपिया' (आदर्श जीवन) का कल्पित चित्र खींचा। लूथर ने धर्म-मंच से लोगों में स्वाभिमान और प्रतिवाद की मानसिक प्रवृत्ति पैदा की। वाल्टेयर और रूसो सरीखे विद्वानों ने धर्म तथा राज-सत्ता की जड़ें हिला दीं। रूसो के 'सोशियल कॉन्ट्रैक्ट' ने फ्रांस में व्यापक विचार-क्रांति उत्पन्न कर दी। फ्रांस की राज्य-क्रांति ने आगे चलकर समता और स्वतन्त्रता के भाव सारे यूरोप में फैला दिये। इस तरह जागीरदारी प्रथा के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक विषमता तथा अशान्ति के साथ इन विचारकों और विद्वानों के द्वारा लाई हुई विचार-क्रांति का सम्पर्क हो गया। ग़रीब किसान अब इस बात को समझने लगे कि सब मनुष्य समान हैं और सभी को जीवन में समान सुविधा चाहिए। लेकिन परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी।

इन्हीं दिनों चिन्तन-शील वैज्ञानिकों ने भी अपने विचार के जौहर दिखाये। जेम्स वॉट ने खौलते हुए पानी के भाप की शक्ति से ढक्कन को ऊपर उठते हुए देखा और प्रकृति का एक रहस्य चुरा लिया। वाष्प-शक्ति का पता संसार को लग गया। इस शक्ति को काम में लाने के लिए वैज्ञानिकों ने कल-पुरजे बनाये और इस तरह यन्त्रों और कारखानों की सृष्टि हो चली। कई काम यन्त्रों से होने लगे। जहाँ केवल हाथ के करघों से झोपड़ियों में वस्त्र बुने जाते थे, वहाँ अब मशीनों के द्वारा शहरों के बड़े बड़े पुतलीघरों में वस्त्र तैयार होने लगे। इन यन्त्रों को चलाने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत हुई। झोपड़ियों के बुननेवाले

अब घर छोड कर पुतलीघरो में आकर मज़दूरी करने लगे। इन बडे-बडे यत्रो को उन लोगो ने खरीदा अथवा तैयार कराया जिनके पास पैसे थे। इस तरह कुछ थोडे से लोग इन उत्पादक यत्रो (Instruments of Production) के स्वामी बन बैठे। लाखो आदमियो को इन्होने मज़दूरी में लगाकर खूब माल तैयार किया और उन्हे यत्र-तत्र, सर्वत्र फैलाने के लिए बाजारो की तलाश की। पृथ्वी के दूरवर्ती विभागो मे पहुँचने के लिए उन्होने उसी वाष्प-शक्ति का उपयोग करके जहाजे चलाई। नहर, रेल, तार तथा डाक के मुहकमे खुले। आवागमन तथा विचार-विनिमय के भी साधन बढ गये। इन सबका फायदा सबसे अधिक उन्ही लोगो ने उठाया, जो यत्रो के स्वामी पूंजीपति मिल-मालिक थे। देश-विदेशो मे उन लोगो ने बहुत-सा पैसा कमाया और देखते ही देखते वे मालामाल हो गये। इस तरह वाष्प-शक्ति तथा यत्रो के आविष्कार से जो औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) यूरोप में हुई, उससे अधिक से अधिक लाभ श्रीमानो ने उठाया।

लेकिन इसी के साथ मज़दूरो की हालत खराब होती गई। स्वार्थी मिल-मालिक मुनाफे का बहुत थोडा अश मज़दूरो मे बाँटकर शेष अधिकाश आप ही हडपने लगे। दरिद्रता के दावानल में पडकर मज़दूरो का अन्तरात्मा झुलसने लगी। दरिद्रता से आदमी कदाचित् उतना दुखी नही होता जितना कि उसका नैतिक पतन हो जाता है। इधर खाने-पीने से वे ऐसे लाचार हुए कि जो उन्हे मिल का मालिक दे दे, उतना वे ले ले, नहीं तो भूखो मरे। छोटे-छोटे तग कमरो मे रात को सो रहना और दिन भर पुतलीघरो मे काम करना, इसके बाद थकावट मिटाने के लिए शराब पी लेना, तत्पश्चात् पशुओ के समान व्यवहार करना इनका दैनिक जीवन हो गया। अस्तु, दरिद्र और दलित मज़दूरो का जन-समाज यूरोप के सभी औद्योगिक केन्द्रो में जगह-जगह लाखो की तादाद में जमा हो गया। इन लोगो ने कडी मेहनत करके खूब माल तैयार किया, विदेशो से खूब पैसा लाया, लेकिन वे ज्यो के त्यो मज़दूर ही बने

काम करने पर भी खाने को न तो यथेष्ट भोजन मिलता था, न पहनने को कपडे ही नसीब होते थे। एक ओर लक्ष्मी का विलास था, दूसरी ओर दरिद्रता का नगा नाच था। एक तरफ हर्ष और हुलास की हुल्लडबाजी थी, तो दूसरी तरफ क्षुधा और क्षोभ का अन्तर्नाद था। इस तरह समाज दो विषम हिस्सो मे विभक्त हो गया। एक हिस्से में कुछ थोडे से पूंजीवाले जमींदार और मिल तथा कल-कारखानो के मालिक रह गये और दूसरे हिस्से में दरिद्र किसान तथा मजदूरो का वहुसख्यक जन-समाज रह गया। एक तरफ वे लोग हुए जिनके पास सव कुछ था और दूसरी ओर वे लोग रहे जिनके पास कुछ भी न था। आज खाने को मिला तो कल का कोई निश्चय नही। ऐसे दो दलो का सघर्षण होना और उससे चिनगारियो का निकलना अवश्यम्भावी था, सो हुआ।

जन-समाज मे द्रव्य-विभाग की इस विषमता ने एक विचार-क्राति पैदा की। कुछ सद्भावनापूर्ण विद्वान् अपने चारो तरफ दरिद्र मजदूरो के व्यापक कष्टो को देखकर द्रवीभूत हुए और उनकी मुक्ति का उपाय सोचने लगे। ऐसे लोगो में सवसे पहला आदमी रिकार्डो था जिसने इस आर्थिक समस्या को सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा और यह निश्चय किया कि सारी सम्पत्ति श्रममूलक है। परन्तु इस आर्थिक सिद्धान्त की वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाला तथा किसी अश में उसे अमल में लाने-वाला दूसरा आदमी आधी सदी के वाद हुआ। उसका नाम कार्लमार्क्स था और वह जर्मन यहूदी था। राष्ट्रीयता की सीमित भावना से मुक्त होने के कारण उसने दरिद्रता के प्रश्न को साकल्य दृष्टि से देखा। उसका दृष्टिकोण नितान्त भौतिक था। विशुद्ध अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से ही उसने समाज की अर्थ-समस्या पर विचार किया और 'दास कैंपिटल' नामक एक वृहत् और विचारपूर्ण ग्रथ में उसने अपने तर्क-सिद्ध सिद्धान्तो को जन-समाज के सामने प्रकाशित किया। अपने विचारो के समर्थन मे उसने मनुष्य-सभ्यता के समूचे इतिहास का विशुद्ध भौतिक दृष्टि से

एक नया भाष्य लिखा जाय। हाँ, चारों की तह में संसार की सारी खटपट अर्थमूलक होती है। इतिहास की कोई ऐसी घटना नहीं, जिसकी मीमांसा आर्थिक दृष्टि से नहीं की जा सकती। बड़े-बड़े युद्ध अर्थ-लोलुपता से ही सचालित होते हैं। बड़ी-बड़ी सन्धियाँ भी उसी अर्थ-लाभ की दृष्टि से की जाती हैं। प्लेग तथा दुर्भिक्ष के समान व्यापक व्याधियाँ भी अर्थ-शून्यता से ही उत्पन्न होती हैं। मतलब यह कि मनुष्य के सारे झगड़ों के मूल में उसकी आर्थिक दरिद्रता है और उसकी सारी खटपट अर्थ-लाभ के लिए ही हुआ करती है। कुरुक्षेत्र के मैदान में छिड़ा हुआ धर्म-युद्ध भी अर्थ-मूलक था। यदि आधा राज्य दुर्योधन सिर्फ पाँच ही गाँव पाण्डवों के हिस्से में दे देता तो इतना बड़ा महायुद्ध न होता। राम का रावण-वध भी साम्राज्य-विस्तार का एक सफल प्रयत्न ही था, यद्यपि उसमें एक नैतिक दृष्टिकोण भी था। इस तरह मनुष्य-जीवन के इतिहास की किसी भी घटना को हम आर्थिक दृष्टि से देख सकते हैं और इसी दृष्टि से उसके मूलगत कारणों तथा मानवी भावनाओं का हम यथार्थ मनोदर्शन कर सकते हैं। कार्ल मार्क्स ने मानवी इतिहास को समझने-समझाने के लिए जिस भौतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है उसका यही सारांश है। इस भौतिक दृष्टि से इतिहास की मीमांसा करते हुए उसने आधुनिक 'साम्यवाद' को जन-समाज के सामने पेश किया। साम्यवाद के जनक का सेहरा उसी के मस्तक पर बाँधा गया।

कार्ल मार्क्स के दिनों से इन पचास वर्षों में साम्यवाद के कई समर्थक भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों में उत्पन्न हुए। सेन्ट साइमन रॉबर्ट ओव्हिन, कार्ल मार्लो, फर्डिनेण्ड लेस्ली तथा हेनरी जॉर्ज के नाम उल्लेखनीय हैं। पूँजीवाद को नष्ट कर देने में उन सबका एक मत है। परन्तु जब रचनात्मक प्रश्न उठाया जाता है, जब उनसे यह पूछा जाता है कि फिर सम्पत्ति का बँटवारा कैसे हो और किस तरह किया जाय तो फिर साम्यवादियों में मत-भेद होने लगते हैं। अराजक साम्यवादी कहता है कि प्रत्येक आदमी का अधिकार समाज

की सम्पत्ति पर समान है और उसे किसी का शासन नहीं चाहिए, न मनुष्य का, न ईश्वर का। इसके उत्तर में 'स्टेट सोश्यलिज्म' का समर्थक कहता है कि आर्थिक समता वाछनीय है सही, पर यह काम सामूहिक शासन (State) से ही सिद्ध हो सकेगा। प्रत्येक मनुष्य आत्म-शासक नहीं हो सकता। उसके कई कार्यों में शासकों के हस्तक्षेप की आवश्यकता हुआ करती है। सत्ता प्रजातंत्र हो, पर वह एक सत्ता के समान सत्ता के साथ काम भी करे। यदि वह शक्तिमान् हुई, तो जन-समाज के सभी सुभीतों का ख्याल कर सकती है। इसलिए जन-समाज में शासन की जरूरत है। अराजकता में लोगों का अकल्याण है। इतने में ईसाई साम्यवादी सामने होकर कहता है कि साम्यवाद का सच्चा प्रचार तो तभी होगा, जब हम ईसा के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करें, लोग एक दूसरे के प्रति कर्तव्यशील होकर प्रेम का व्यवहार करें। मसीहा के दरबार में हम सब ईसाई समान होंगे, इससे बढ़कर साम्यवाद का दूसरा आदर्श और क्या हो सकता है?

अराजक साम्यवादियों में रशिया के 'निहिलिस्ट' प्रमुख हैं। उनमें और राज्य-समर्थक साम्यवादियों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर दोनों के साधनों का है। जिस काम को शासन-विरोधी साम्यवादी सहसा क्रांति के द्वारा किसी भी तरह से कर डालना चाहता है, उसे शासन का पक्षपाती दूसरा साम्यवादी वैध उपायों के द्वारा शान्तिपूर्वक निपटाना चाहता है। अराजकों की संख्या प्रबल नहीं है। इस समय अधिकांश विचारवान् लोग शासन-समर्थक साम्यवाद के समर्थक हो रहे हैं। साम्यवाद के सच्चे और समझदार नेता यही 'स्टेट सोश्यलिस्ट' लोग ही माने जाते हैं। उनका यह भी कहना है कि समाज की पूँजी स्टेट के हाथों में रहे, कल-कारखाने सभी सरकारी देख-रेख में चलें और सरकार के द्वारा ही नफे का समुचित वितरण हो। सब जमीन सरकारी हो। कोई श्रीमान् और कोई दरिद्र न रहने पावे। ऐसी साम्यावस्था का सम्पादन राज्य की सहायता से अधिक सुकर और स्थायी हो सकता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के साम्यवादी दलों में ईसाई साम्यवादी विशेष कर्मशील नहीं दिखाई देते। वे केवल गिर्जाघरों में तथा अपने समाचार-पत्रों में धर्म के नाम पर जन-समाज में सम-भावना का प्रचार कर दिया करते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। अनियारी तथा राज्य-विद्रोही साम्य-वादी यत्र-तत्र छोटी छोटी टुकड़ियों में विद्यमान हैं और कभी कभी यहाँ-वहाँ कुछ खून-खराबी कर दिया करते हैं। जन-समाज पर इनका कोई प्रभाव नहीं। कुछ बिगड़ेदिल नौजवानों का बिगड़ा हुआ असम्बद्ध समुदाय ही अराजक साम्यवादी दल कहलाता है। समाज का रुख अभी उनकी ओर नहीं है। अभी लोग समष्टिवादी स्टेट सोश्यलिस्टों के साथ चले जा रहे हैं। उन्हें क्रान्ति नहीं चाहिए, चाहिए शान्तिपूर्ण विकास। इस दल के समर्थक अधिकांश में वे लोग हैं, जो न तो बहुत अमीर पैदा हुए हैं न बहुत गरीब। जो न तो किसी मिल-मालिक के या जमींदार के वंशधर हैं न किसी मजदूर के बेटे। साधारण स्थिति में उनका जन्म हुआ है, विद्या बुद्धि की बदौलत कमाते-खाते हैं। स्टेट-समर्थक साम्यवादियों के अधिकांश नेता इसी मध्यम श्रेणी के लोग हैं।

इस तरह पाठक अनायास देख सकते हैं कि साम्यवाद का भविष्य इस समय न तो ईसाई साम्यवादियों के हाथ दिखाई देता है, न फिर अराजक साम्यवादियों के। अभी तो वैध सुधार चाहनेवाले शासन-समर्थक साम्यवादी ही अधिक प्रतिष्ठित माने जाते हैं। मजदूर और किसानों के वोट अधिकांश में इन्हीं लोगों को अभी तक मिलते आये हैं। उनकी ओर से वे देश के पार्लमेंट में दाखिल होते हैं और गरीबों की बेहतरी के लिए कुछ खटपट किया करते हैं। परन्तु इनकी संख्या अभी यूरोप में रशिया को छोड़कर सभी जगह कम है। जर्मनी में साम्यवाद का प्रभाव पहले बहुत था, लेकिन हिटलरशाही के आतंक ने उसे उड़ा दिया। स्वीडन और नारवे मे साम्यवादियों का बहुत जोर नहीं है। क्योंकि वहाँ अर्थ-विषमता कम है। फ्रांस में भी साम्यवादी कम हैं, पर उग्र कोटि के हैं। ब्रिटेन में भी उनकी संख्या पर्याप्त है।

ब्रिटिश मजदूर-दल के प्रतिनिधि यदि साम्यवादी माने जावे, तो कह सकते है कि इंग्लैड मे उनका जोर कुछ कम नही है। अभी कुछ वर्षो के पहले तो वहाँ मजदूर-दल की इतनी प्रवलता हो गई थी कि उसके प्रमुख नेता रेमजे मेकडानेल्ड को प्रधान मत्री का पद स्वीकार करना पडा था। परन्तु पूंजीवाद के समर्थक अनुदार दलवालो ने राष्ट्रीयता की ऐसी हवा उडाई कि उनके षड्यत्र मे मेकडानेल्ड साहव फँसकर मजदूर-दल से वहिष्कृत हो गये। नेता की कमर टूट जाने से ब्रिटेन का मज़दूर-दल इस समय शिथिल है, फिर भी मौकातलव है। सम्भवतः आगामी चुनाई में किसी ईमानदार नेता को लेकर वह फिर अग्रसर हो।

जो हो, इस समय राज्य-निष्ठ साम्यवादियो की सख्या यूरोप में वढ रही है, फिर भी वे विशेष प्रभावशाली कही नही है। अभी शासन की वागडोर पूँजीवालो के हाथो मे है। अभी मन्त्रिमण्डल में उन्ही की सलाह कारगर होती है। छापेखानो मे भी उन्ही का प्रच्छन्न प्रभाव काम कर रहा है। मध्यम श्रेणी के हज़ारो आदमी अभी उन्ही के गुलाम है। पूँजी एक वडी प्रवल शक्ति है। ससार के कठिन से कठिन काम धन की सहायता से सध जाते है। नेक से नेक आदमी उसके प्रलोभन मे पडकर अपने आजन्म सिद्धान्तो का वलिदान कर डालते है। पूँजी के पाश मे पडकर निकलना मुश्किल है। उसकी आकर्षण-शक्ति मर्त्य मनुष्य और अमर देवता दोनो को एक समान खीच लेती है। जिसे नारायण की शक्ति प्राप्त हो, वही लक्ष्मी के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। शेष सव अवोध वच्चो के समान उसके अचल में उलझे हुए है। लक्ष्मी की यह दुर्दमनीय सत्ता जिनके हाथो मे है, उन्ही के इशारे ससार नाच रहा है। मध्यम वर्ग के मजदूर-नेता या तो मेकडानल्ड के समान उनकी शरण आ गये है या फिर उनके दाँव-पेंच में पडकर अभी वाहर ही वाहर चक्कर काट रहे है। शासन-सत्ता का छोर भी अभी वे अपने हाथो से नही छू पाये। सारे पश्चिमी ससार में रशिया को छोडकर अभी पूँजीपतियो का ही वोलवाला है। अन्तर्जातीय सम्वन्ध अभी उन्ही की भलाई-वुराई के ख्याल से टूटते-जुडते

सिला अपने लाखो देश-भाइयो को मजदूर बनाकर करते है, वे भले आदमी विदेशियो के प्रति क्या उदारता दिखा सकते है ? अपना उल्लू सीधा करने मे वे देश और विदेश के आदमियो के बीच कोई अन्तर नही मानते। उनकी शोषण-क्रिया के लिए सब समान है। जब ये व्यवसायी पूँजी-वाले देश और विदेश के मजदूरो मे कोई अन्तर नही मानते, तो मूर्ख मजदूर ही आपस मे ऐसा अन्तर्जातीय भेद क्यो माने ? जिस तरह पूँजीवाद एक व्यापक अनिष्टकारी सत्ता है, उसी तरह उसका मुकाबिला करने के लिए मजदूरो का व्यापक और सुसम्बद्ध सामना भी चाहिए। *साराश यह कि साम्यवाद एक अन्तर्जातीय और सर्व-गत* समस्या है। उसे हमेशा इसी व्यापक दृष्टि से देखना चाहिए। जो सच्चा साम्यवादी होगा, वह वर्तमान युग की अर्थविषमता को केवल राष्ट्रीयता की सकीर्ण दृष्टि से हरगिज न देखेगा। विशेष कर वर्तमान सदी के राष्ट्र वैज्ञानिक आविष्कारो की बदौलत एक दूसरे के इतने नजदीक हो गये है और उनके आर्थिक सम्बन्ध इतने उलझे हुए है कि एक देश की बेकारी दूसरे देश पर भी अपना असर डालती है। गरीब मजदूर और बेकार बुभुक्षित इस समय ससार मे सभी जगह पाये जाते है। दरिद्रता इस युग की एक सर्व-गत समस्या है। इसी कारण साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विषय भी है। राष्ट्रीयता के पक मे पडकर तो वह बिल्कुल शिथिल होकर निर्जीव हो जाता है।

यूरोपीय राष्ट्रो के अधिकाश साम्यवादी ऐसे ही निर्जीव साम्यवाद को हाथ मे लिये बैठे है। अभी उनमें यह भावना नही आई कि मजदूर मजदूर है, न तो वह काला है, न गोरा। वह एक गरीब आदमी है। दरिद्रता से उसे छुडाना जरूरी है। क्या इंग्लैंड का मजदूर अपनी जीविका के लिए भारत के मजदूरो का रक्त-शोषण करना पसन्द करेगा ? क्या उसे ऐसा करना चाहिए ? मैंचेस्टर के मजदूरो ने गाधी जी की उपस्थिति मे ही मानो इस बात का क्षणिक अनुभव कर लिया था कि यह भी गरीबो का आदमी है। हिन्दुस्थान के अर्द्ध-नग्न दरिद्रो को यदि

हृदय की अन्तर्हित सद्भावना अपना काम कर गई। परिणाम यह हुआ कि वे अपना दु ख कुछ काल के लिए भूल गये। महात्मा जी की सक्रामक उदार भावना उनमें भी व्याप्त हो गई। खिन्नता के स्थान पर कृतज्ञता जाग्रत हुई और इस तरह गाधी जी बात की बात मे मैंचेस्टर के मजदूर-समाज में प्रेम और आदर के पात्र हो गये। सरकारी निगरानी की जरूरत फिर उनके लिए ज़रा भी न रह गई।

मजदूरो की दरिद्रता के प्रश्न को पूर्वकालीन साम्यवादियो ने इसी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा था। परन्तु पूंजीवाद की चलाई हुई आर्थिक राष्ट्रीयता (Economic Nationalism) की हवा ने उसे भिन्न-भिन्न कर दिया। थोडे ही दिनो के बाद यूरोप के साम्यवादी नेता अपनी अपनी राष्ट्रीयता के पिंजरे में बन्द होकर पूंजी-पतियो के पालतू पक्षी हो गये। कालान्तर मे वे वैसा ही बोलने भी लगे, जैसा कि उन्हे उनके स्वामी सिखाते थे। आजकल साम्यवाद का यह व्यापक आदर्श शायद ही किसी साम्यवादी नेता के सामने स्थिरता-पूर्वक स्थापित हो। आजकल तो ब्रिटिश सोश्यलिस्ट, जर्मन सोश्यलिस्ट और फ्रेंच सोश्यलिस्ट इत्यादिक राष्ट्रीय साम्यवादी ही यत्र-तत्र और सर्वत्र दिखाई देते है। रशिया में कुछ ऐसे आदर्शवादी 'कम्यूनिस्ट' ज़रूर है जो मजदूरो की अर्थ-समस्या को अन्तर्जातीय दृष्टि से देखते है। फिर भी यूरोप का वातावरण आर्थिक राष्ट्रीयता से परिपूर्ण है। अभी तो यूरोप के मजदूर-नेता अपने अपने राष्ट्र के मजदूरो का कल्याण अलग अलग सोच रहे है। इस प्रयत्न मे यदि उन्हे अन्यान्य देशो के ग़रीबो का पेट मारना भी पडे तो उन्हे मजूर है। अभी मैकडानेल्ड साहब को यदि कोई चिन्ता है तो केवल इसी बात की कि ब्रिटिश मजदूरो को चार पैसे किस तरह मिलें। ये पैसे यदि हिन्दुस्थान के भूखे कुली-किसानो से भी मिल जावें तो कोई हर्ज नही। लेकिन ध्यान रहे कि गरीब गरीब का पेट मार कर सुखी नही हो सकता। पृथ्वी भर के दीनो में जब तक बधुत्व-भाव न होगा, तब तक उन्हे दीनबन्धु का आशीर्वाद

न मिलेगा और उनकी दीनता दूर न होगी। यूरोप के साम्यवादी नेताओ को (विचारको को नहो) इतनी-सी बात समझनी चाहिए। उनके साम्यवाद की कमर उनकी आर्थिक राष्ट्रीयता ने तोड डाली है। इसी लिए वे पगु है और उनका साम्यवाद भी लँगडा है। उनमे चलने की ताकत ही नही।

कहने की आवश्यकता नही कि इस समय पृथ्वी पर गाधी जी के सिवाय कोई भी दूसरा जन-समाज का नेता नहो है जो अन्तर्जातीय साम्यवाद का सच्चा प्रवर्तक हो। दो राष्ट्रो के बीच उन्हे वही व्यवसाय-सम्बन्ध मान्य है जो दोनो के लिए हितकर हो। रामदत्त की चोरी करके देवदत्त का ऋण चुकाना उन्हे पसन्द नहीं है। पार्लमेन्ट के सदस्यो की एक सभा मे किसी भले अँगरेज ने महात्मा जी से कुछ ऐसा ही सवाल किया था। उसने पूछा 'आप तो विलायती वस्त्रो का बहिष्कार करते है अगर इसका बदला लेने के लिए हम हिन्दुस्थान का मन न खरीदे तो कैसा हो ?' महात्मा जी ने फौरन उत्तर दिया 'बहुत अच्छा हो, मै तो हिन्दुस्थान की कोई भी चीज इँग्लेंड या किसी भी देश पर लादना नही चाहता और वही स्वतत्रता मै अपने देश के लिए भी चाहता हूँ।' गाधी जी के इस उत्तर मे सच्चे साम्यवाद का साराश रखा हुआ है। कोई भी भला राष्ट्र अपने पडोसी राष्ट्र से अनुचित व्यवसाय-सम्बन्ध करने का प्रयत्न न करे। मेरे यहाँ यदि अफीम की पैदायश बहुत होती है तो यह कोई कारण नही कि मै दूसरे को जहर खाने का आदी बनाऊँ, ताकि मुझे चार पैसे मिले। विष के अनुचित विक्रय का पैसा विष से भी अधिक विषाक्त होता है। उसकी मार भी गहरी बैठती है। वह शरीर का नही, आत्मा का विष होता है। अर्थ की प्राप्ति धर्म-मूलक ही होनी चाहिए। लोग सच कहते है कि अधर्म का पैसा पुरता नही। 'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते।' लूट और फरेबी से आर्थिक समता भी कैसे स्थापित हो सकती है ? साम्यवाद सामाजिक विषमता को दूर करनेवाला सिद्धान्त है। वह लोगो के सामूहिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे मनुष्य और मनुष्य के बीच समता स्थापित करने का अभिलाषी है।

आर्थिक दरिद्रता की समस्या उसका एक प्रधान अंग है। वर्तमान व्यापक दरिद्रता के प्रश्न को उसी आध्यात्मिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। मनुष्य के हित-अहित की ऐसी कोई भी बात नहीं, जो उसकी आत्मा की दृष्टि से नही देखी जा सकती। अतएव जो मनुष्य साम्यवाद के इस व्यापक प्रश्न को आध्यात्मिक दृष्टि से देखेगा, वही उसके अन्तर्जातीय आकार-प्रकार का दिग्दर्शन कर सकेगा। वही सच्चा साम्यवादी होगा। इस समय हमें साम्यवाद को इस सार्थक दृष्टि से देखनेवाला गाधी जी के सिवाय कोई दूसरा नेता दृष्टिगोचर नही होता। अन्तर्जातीय मजदूर-सभा को चाहिए कि वह ऐसे ही सच्चे साम्यवाद का समर्थक हो।

अभी तक हमने पश्चिमी साम्यवाद के दृष्टिकोण की सकीर्णता पर ही विचार किया है। परन्तु इसके सिवाय जैसा कि हम पहले कह चुके हैं उसकी दूसरी कमज़ोरी एक और है। यदि पश्चिमी साम्यवाद पूँजीवाद को मिटाना चाहता है तो हमें कहना होगा कि उसे अभी अपनी लक्ष्य-सिद्धि का मार्ग ही नही सूझ रहा है। वह बिलकुल अधा है। न तो उसे अन्तर्दर्शन है, न फिर उसे बाहर ही कुछ दिखाई देता है वह क्योंकर अग्रसर हो?

किसी भी चतुर वैद्य से जाकर आप पूछिए, वह कहेगा कि रोग: निदान मे उसके मूल कारण को पहले ढूँढना पडता है। यदि पूँजीवाद वर्तमान जन-समाज का एक रोग है, और है भी, तो उसका मूल कारण क्या है? समाज मे अर्थ-विषमता क्योंकर आई? ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण कुछ थोडे से लोग तो विपुल सम्पत्ति के स्वामी हो गये और अधिकाश जनता दरिद्र हो गई? इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर है और वह है केन्द्रित व्यवसाय-प्रणाली। जिस युग में लोग अपने अपने घरो में अपने अपने तकुओ से सूत निकाल कर अपना कपडा अपने पडोस मे ही बुनवा लेते थे, उन दिनो मे किसी के हानि-लाभ का प्रश्न ही वर्तमान रूप मे नही उठ सकता था। जो जितना परिश्रम करता था, उतनी सामग्री उसे मिल जाती थी। परिश्रम-फल भी न्यूनाधिक अश मे सभी

को बराबर मुल्य था। न कोई मालिक होता था न कोई नौकर। प्रत्येक मनुष्य अपने तकुए का मालिक था और वही मजदूर भी था। मजदूर ही यदि अपनी मजदूरी का मालिक हुआ तो वह अपनी मेहनत इच्छानुसार अथवा आवश्यकतानुसार कर सकता है। जब जी चाहे, वह उस काम को छोड कर अपना समय अन्यान्य कामों में लगा सकता है। अपनी मजदूरी की यह स्वतन्त्रता मजदूर के मनुष्यत्व की रक्षा करती है। इस तरह प्राचीन जन-समाज में लोग अपनी आवश्यक चीजें अपने घरों में अथवा आस-पास ही या तो तैयार कर लेते थे या किसी के द्वारा करा लेते थे और सभी को अपने परिश्रम का मूल्य मिल जाता था। इसके सिवाय उसे ऐसा अतिरिक्त परिश्रम भी नहीं करना पडता था जिसका मूल्य उसे कुछ भी न मिले।

परन्तु जमाने ने पल्टा खाया। भौतिक विज्ञान के द्वारा लोग प्राकृतिक रहस्यों को समझने का प्रयत्न करने लगे। सबसे पहले उन्हें बाष्प-शक्ति का पता लगा। इस शक्ति का उपयोग उन्होंने चर्खे का चक्र घुमाने में किया। जो तकुआ पहले मनुष्य के हाथ से घूमता था, वह अब भाफ की ताकत से घूमने लगा, और इस तेजी से कि वह पहले से कई गुना लम्बा सूत उतने ही समय में कातने लगा। इसी तरह बुनाई की भी हालत हुई। यन्त्र-युग का आविर्भाव हुआ। केवल वस्त्र ही नहीं कई और भी चीजें बाष्प-शक्ति से बनने लगीं। इन बाष्प-शक्ति-संचालित यन्त्रों के बनते ही पूँजीवालों ने उन्हें खरीदा और एक ही स्थान में भाफ की ताकत से वे लाखों तकुए एक साथ चलाने लगे। उत्पादक यन्त्रों के स्वामियों ने थोडे ही समय में बहुत-सा माल तैयार करके उसे बाजार उनका ढेर लगा दिया और सस्ते दाम पर बेचने लगे। परिणाम सीधा यही हुआ कि घर का कता और बुना हुआ वस्त्र यंत्र-निर्मित वस्त्रों से महँगा पडा। महँगी चीजों से लोगों को अनास्था हो ही जाती है, सो हो गई। अब हालत ऐसी हो गई कि घर में किये हुए उद्यम का मूल्य बहुत घट गया। तकुओं का स्वामित्व उनसे छिन गया। अब

उसके स्वामी वे हो गये जो लाखो तकुए एक जगह और एक साथ चला रहे थे। अपने घर ही मे उद्यम करनेवालो के हाथ अब केवल मजदूरी रह गई और वह भी ऐसी कि जिसकी कोई कीमत नही। उन्होने देखा कि कल-कारखानो की मजदूरी से किसी तरह जीवन-निर्वाह तो हो ही जाता है, पर घर बैठे उद्यम करने से तो बिलकुल भूखा ही रहना पडता है। क्या करने, घर छोडकर मिल-मालिक के पास गये और बोले 'हुजूर हम भूखे है, हमे अपने कारखाने मे कुछ काम दीजिए।' मरता क्या न करता! जितनी मजदूरी मिल-मालिक ने उन्हे दी, उतनी लेकर वे किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करने लगे।

कारखाने के मालिक ने मजदूरी का हिसाब अपने स्वार्थ की दृष्टि से लगाया। इसके लिए उसे दोष देना भी मुश्किल मालूम होता है। क्योकि जितनी लागत हो यदि उतनी ही आमदनी हुई, तो ऐसी खटपट कौन करेगा। मुनाफा (Profit) होना ही चाहिए। ऐसी हालत मे मिल के मालिक ने सोचा कि यह आदमी दस घटा काम करके जितनी कीमत की चीज बना सकता है उससे आधी और बल्कि इससे भी कम मजदूरी इसे देनी चाहिए। मिल-मालिक की इस योजना के अनुसार प्रत्येक मजदूर को अपने लिए आवश्यक परिश्रम के अतिरिक्त और भी करीब करीब उतना ही परिश्रम अधिक करना पडता है। इस अतिरिक्त परिश्रम का सारा मूल्य मिल के स्वामी को मिलता है। इस प्रकार जो मजदूर परिश्रम करता है उसकी आमदनी सिर्फ इतनी ही होती है कि जितने से वह जीवित रहकर उतना ही परिश्रम कर सके। खा-पीकर वह हमेशा साफ रहता है। उसके लिए पूंजी नाम की कोई चीज ही नही। दरिद्रता से बढकर मनुष्यत्व को गिरानेवाली कोई अवस्था ही नही है। इस तरह मजदूरो की इसानियत गिर गई और वे पशुवत् आचरण करने लगे।

जिस समय दरिद्रता से श्रमजीवियो की नैतिकता इस तरह गिरती जा रही थी, उसी समय दूसरी तरफ और दूसरी ही तरह से मुनाफा

कि उत्पादक यन्त्रो का स्वामित्व राजसत्ता को सौंप दिया जावे और वह सत्ता उपार्जित सम्पत्ति का समुचित वितरण करे। परन्तु उन यन्त्रो से काम जरूर लिया जावे और लोगो को वैसी ही मजदूरी करनी पडे। न सही दस घटे, आठ या सात घटे उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए काम करना ही होगा। फिर साम्यवादियो का सिद्धान्त यह है कि जो मनुष्य जितना शारीरिक परिश्रम करता है उतने ही भोजन का वह हकदार हो सकता है। जो मनुष्य शारीरिक श्रम नही करता, उसे भोजन का अधिकारी नही समझना चाहिए। कार्लमार्क्स यो तो विद्वान् आदमी था, लेकिन शारीरिक परिश्रम का महत्त्व उसने मर्यादा से बाहर बढा दिया था। वह समझता था कि किसी भी पदार्थ का सारा मूल्य उसको उत्पन्न करने मे किये गये शारीरिक परिश्रम का परिणाम है। इसका आशय यह हुआ कि शारीरिक श्रम ही एक मूल्यवान् चीज है, मानसिक तथा बौद्धिक सहायता की कोई कीमत नहीं। वह कहता है कि जो मनुष्य जितना काम करेगा, उतना उसे समाज मे मिल सकेगा। ऐसे काम करने-वालो को सार्टीफिकेट मिला करेगा जिसमे उसके काम का हिसाब रहेगा। उतना ही भोजन उसे मिला करेगा। कार्लमार्क्स के आदर्श समाज में शारीरिक और बौद्धिक श्रम का अन्तर मिट जावेगा। इतना ही नही, वह किसी भी चीज की तैयारी मे भौतिक विज्ञान के आविष्कारको को, विशेषज्ञो को तथा प्रबन्ध करनेवालो को उत्पत्ति का सहायक नही मानता। पूंजी लगानेवालो को तो वह किसी तरह सहायक मानता ही नही। किसी भवन के निर्माण मे क्या कुली और कारीगर ही सहायक होते हैं? जिस मनुष्य ने मकान का नक्शा बनाया या जिस ठेकेदार ने कुली-कारीगरो को जुटाया या जिसने मकान बनाने मे पैसा लगाया, क्या उनके योग का कोई मूल्य ही नहीं? यह कैसा अर्थ-विज्ञान है; इसे मार्क्स ही समझे। यह अर्थ-विज्ञान नही है, मजदूरी की अन्धी पूजा है। बजाय इसके कि कोई मनुष्य केवल मजदूर ही न रह जाय, कार्लमार्क्स ने एक ऐसे कम्यूनिस्ट समाज की कल्पना की है जिसमे मालिक तो राज-

सत्ता हो और सभी आदमी मजदूर की हैसियत से काम करें और बिना मजदूरी किसी को खाने को ही न मिले। यह परिश्रमवाद का बड़ा विकृत रूप है। वर्तमान काल के आरामतलब मुनाफाखोर पूंजीवाद के विरुद्ध खड़ा किया गया यह प्रतिक्रियात्मक मजदूरीवाद है। जन-समाज के सम्यक् विकास के लिए दोनों एक दूसरे से बढ़कर अनर्थकारी हैं। जहाँ बौद्धिक श्रम का कोई मूल्य नहीं, वहाँ ज्ञान की कोई प्रतिष्ठा नहीं। जहाँ ज्ञान का समुचित आदर नहीं, वहाँ मानवी सभ्यता की अन्त्येष्टि-क्रिया करना ही शेष रह जाता है।

कार्ल मार्क्स ने समाज-गत अर्थ-विषमता पर मनोनिवेशपूर्वक विचार किया। उसने पूंजी, श्रम, मजदूरी, अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्य की अर्थशास्त्री की हैसियत से विद्वत्ता-पूर्वक व्याख्या की। लेकिन कहना होगा कि पूंजीवाद के अन्त करने का कोई सच्चा उपाय उसे न सूझ पड़ा। इसके विपरीत उसने एक ऐसे ऊटपटांग समाज की रचना कर डाली है, जहाँ मजदूरी ही सर्व-श्रेष्ठ जीविका है, और मजदूर ही आदर्श नागरिक है। आदर्श समाज तो वही हो सकता है जहाँ प्रत्येक मनुष्य मालिक है और वही इच्छानुसार मजदूर भी है। जबर्दस्ती की लादी हुई मजदूरी, चाहे उसका लादनेवाला पूंजीपति हो, राजसत्ता हो या सामाजिक व्यवस्था हो,—पशुओं के बोझा ढोने के समान है। उसे हम कोई मनुष्योचित कार्य नहीं समझ सकते।

कार्ल मार्क्स ने जिस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति से काम लिया जावेगा, और हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार भोजन तथा वस्त्र दिये जावेंगे। समाज के द्वारा प्रतिदिन काम करने का समय भी निश्चित कर दिया जावेगा। ऐसी सामाजिक परिस्थिति में कवि, कलाकार, विद्वान् तथा वैज्ञानिकों के लिए प्रतिष्ठा का स्थान तो रहेगा ही नहीं, बल्कि उन्हें भरपेट खाने को भी न मिलेगा। समाज का प्रत्येक सभ्य मजदूर होगा और मजदूरी ही एक मात्र जीविका होगी। इस प्रकार कार्ल मार्क्स समूचे जन-समाज को

सहकारिता-मूलक श्रमजीवी सघ मे परिणत कर देना चाहता था। उसकी धारणा थी कि जन-समाज मे भिन्न-भिन्न वर्गो का अस्तित्व भौतिक उत्पत्ति के साधनो पर अवलम्बित रहता है। यह भी एक भ्रान्ति-मूलक विचार है। भौतिक उत्पत्ति के साधन ही वर्ग-कलह के कारण नही होते। मनुष्य एक विचारवान् प्राणी है। उसके शरीर मे केवल पेट ही नही, मस्तिष्क और हृदय भी है। गरीबी और अमीरी के कारण वर्गो की भिन्नता कदाचित् उतनी नही होती, जितनी कि सस्कार, आचार, विचार तथा धार्मिक मत-भेदो के कारण हुआ करती है। अतएव वर्गो के अस्तित्व का सम्बन्ध लोगो की केवल आर्थिक अवस्था से ही नही, बल्कि उनके बौद्धिक दृष्टिकोण से भी है। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त निकाला था, वह हमारी राय मे कोई गभीर और व्यापक दृष्टि का परिणाम नही था। उसने यूरोपीय जन-समाज का ही स्थूल रूप से निरीक्षण किया था और तत्कालीन अर्थ-विषमता से खिन्न और प्रभावित होकर वह मजदूरो का इतना हिमायती हो चुका था कि श्रमजीवियो के सहकारी सघ को ही वह आदर्श समाज का स्वरूप मान बैठा था।

कार्ल मार्क्स का दूसरा सिद्धान्त यह भी था कि वर्ग-कलह का अन्तिम परिणाम मजदूरो का शासन होगा। लेकिन उसे श्रमजीवियो के एकाधिपत्य पर भी विश्वास नही था, क्योकि वह श्रमजीवी-शासन को समाज का अन्तिम ध्येय नही मानता। वह उसे समानाधिकार-सम्पन्न समाज की सृष्टि होने के लिए बीच की सीढी मानता था। यदि इस बात को हम मान भी ले कि वर्ग-कलह का अन्तिम परिणाम मजदूरो का शासन होगा, फिर भी इस बात का क्या निश्चय है कि इस शासन के द्वारा अन्त मे आदर्श समाज की रचना सम्पादित हो सकेगी? कौन कह सकता है कि मजदूर लोग अपनी सत्ता का दुरुपयोग न करेंगे और सबको समान अधिकार देने की शुभ चिन्ता करते रहेंगे। शासन-सत्ता तो ऐसी चीज है कि आज तक वह जिसके हाथ रही, उसने उसका अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग ही किया है। विद्वान् और सुसस्कृत-हृदय शासक भी

इस सत्ता के प्रलोभनो में पड़कर पथ-भ्रष्ट हो गये, फिर मजदूरों की नेकनीयती पर कोई क्या विश्वास करे, और खासकर जब समूचे जन-समाज के लिए यह उनका आदर्श हो कि जो जितना शारीरिक परिश्रम करेगा उसे उतना ही भोजन समाज मे मिला करेगा। तब तो कहना पडेगा कि उनके राज्य में मानसिक परिश्रम करनेवाले बिना मारे ही मर जावेगे। मनुष्य को मजदूर बनाने के सब साधन तो उनके जमाने में सुलभ रहेंगे, लेकिन उसे गौरव-प्रदान करनेवाला मनुष्यत्व किस प्रकार प्राप्त होगा? पेट के लिए परिश्रम करना तो मनुष्य के लिए सबसे हलका और प्रारम्भिक कार्य है, वह अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। मजदूरी तो मनुष्यत्व का छोटा-सा अग है। सिवाय इसके इस बात की क्या जरूरत है कि हर आदमी मजदूरी करके ही अपना जीवन-निर्वाह करे? यदि वह अपने बौद्धिक परिश्रम के द्वारा समाज के लिए विचार-साहित्य का निर्माण कर सकता है तो उसके शरीर-पोषण के लिए समाज की ओर से व्यवस्था क्यो नहीं होनी चाहिए? मजदूरी करने के लिए ऐसा प्रतिभाशाली मनुष्य क्यो लाचार किया जावे? क्या समाज को सिर्फ भोजन की ही आवश्यकता है, विचार और आचार की नही? यदि है तो भोजन के अतिरिक्त समाज की अन्यान्य मानसिक आवश्यकताओ को पूरी करनेवालो को अपनी बौद्धिक सेवा की बदौलत खाने-पीने का अधिकार क्यो नहीं? इतना तो हम मान सकते है कि जो मनुष्य किसी न किसी रूप मे समाज की सेवा नही करता, उसे सार्वजनिक सम्पत्ति से लाभ उठाने का कोई अधिकार नही है। फिर भी बच्चो के लिए तथा रोगी, पगु अथवा अन्यान्य प्रकार के अशक्त अथवा असमर्थ लोगो की सुविधा के लिए इस नियम का अपवाद तो बनाना ही पडेगा। यदि नही, तो फिर स्पार्टन लोगो का अनुकरण करते हुए ऐसे लोगो को हिंसक पशुओ के सुपुर्द करना पडेगा या श्रमजीवी-सघ को खुद ही उनका कलेवा करना पडेगा।

यथार्थ में समाज की आदर्श रचना तथा व्यवस्था की बुनियाद केवल

शारीरिक परिश्रम पर नही डाली जा सकती। उसके आधार-स्तभ तीन हैं, न्याय, विवेक और सहानुभूति। न्याय-बुद्धि का अवलम्ब लेकर हमे यह समझना पडेगा कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार जीवित रहने का अधिकार है। विवेक के प्रकाश मे हमे यह समझना होगा कि समाज केवल रोटी से ही जीवित और सुरक्षित नही रह सकता, उसका बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास उसके लिए खाद्य-सामग्री से भी अधिक महत्त्वशाली है। जैसे रोटी का एक टुकडा शरीर के लिए भोजन है, वैसे ही सत्साहित्य भी उसकी आत्मा की खुराक है। मानव-जीवन का आदर्श तो यह है कि चाहे मनुष्य भूखा मर जावे, पर चरित्र-भ्रष्ट न हो। इस आदर्श की पूर्ति तो तभी हो सकती है जब कि लोगो के सामने आचरण को बढानेवाला ज्ञान-साहित्य प्रस्तुत किया जावे। यह काम वे ही लोग कर सकते हैं जो ज्ञानी, बहुश्रुत, विद्वान्, कवि, कोविद तथा कलाकार है। इसी विवेक के प्रकाश में हमे यह भी देखना होगा कि लोग जन्म ही से अपनी स्वाभाविक अभिरुचि तथा योग्यता का परिचय दिया करते है। मनुष्य सब एक समान नही होते, उनके गुण-धर्म तथा स्वभाव-सस्कार भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। ऐसी दशा मे सभी को सिर्फ मजदूरी के गज से न नापकर समाज की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग तराजू से तौलना होगा। अच्छी से अच्छी सामाजिक व्यवस्था मे रहकर भी जो मनुष्य केवल शरीर से समर्थ है और हृदय एव बुद्धि से हीन है, उसके लिए मजदूरी के सिवाय गत्यन्तर ही नही। ऐसे आदमी के लिए शारीरिक परिश्रम के सिवाय कोई दूसरी जीविका नही हो सकती। परन्तु शारीरिक सामर्थ्य के साथ साथ जिस मनुष्य के हृदय मे साहस भी है, प्राणो का मोह नही और जो राष्ट्र तथा समाज के लिए लडने और मर-मिटने के लिए तैयार है, ऐसे हृदयशील बहादुर आदमी के हाथ में खुरपी नही, तलवार चाहिए। इसी तरह जिस मनुष्य के पास अच्छी शरीर-सम्पत्ति नही, जो तलवार भी नही पकड सकता, लेकिन नाजुक लेखनी के

द्वारा जन-समाज के लिए कल्याणकारी साहित्य का निर्माण कर सकता है अथवा अपनी सुकुमार तूलिका से मनोहर और आनन्द-दायिनी कला का निर्माण कर सकता है, उसके हाथों से लेखनी और तूलिका छुड़ाकर फावड़ा क्यों दिया जावे? हमारी तो धारणा है कि मार्क्स की 'फावड़ाशाही' अथवा 'बुर्जोवाद' समाज के किसी भी मर्ज की दवा नहीं है।

समाज के दो आधार-भूत स्तम्भों की—न्याय और विवेक की—चर्चा हम संक्षेप में कर चुके। तीसरी आवश्यकता को 'सहानुभूति' कहते हैं। सहानुभूति के अभाव में न्याय और विवेक दोनों कर्कश और कठोर हो जाते हैं। सहानुभूति आत्मिक वस्तु है और उससे मानव-हृदयों की एकवाक्यता सम्पादित होती है। यदि हमारे हृदय एक न हों, यदि हम एक दूसरे की तकलीफों को न पहचानें और समवेदना का अनुभव हमें न हो तो सामाजिक सभ्यता सम्भव ही नहीं। समाज में लोग सामूहिक रूप से केवल इसी लिए एकत्रित नहीं होते कि उन्हें खाने-पीने को मिले, बल्कि इसलिए भी कि उनके मन, प्राण और जीवन-लक्ष्य एक हो जावें। मनुष्यों के लिए यह दूसरा उद्देश्य पहले से भी अधिक महत्व-पूर्ण है, क्योंकि मनुष्य का यथार्थ जीवन भौतिक स्तर पर नहीं, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक ऊँचाई पर ही सुशोभित और सफल होता है। मनुष्य इसलिए नहीं जीता कि खा-पीकर वह मोटा बना रहे, बल्कि इसलिए कि भोजन के द्वारा वह शरीर को स्वस्थ बना रक्खे और ऐसे स्वस्थ शरीर को आत्मोन्नति तथा समाज-सेवा का साधन बनावे। ऐसे आत्मोत्कर्ष-साधक आचार-विचारों का आदान-प्रदान सहृदयता के बिना सम्भव नहीं और विचार-विनिमय के अभाव में मनुष्य-समाज का मनोविकास क्योंकर हो? कहने का सारांश यह है कि आदर्श समाज की आदर्श व्यवस्था वही हो सकती है जो शरीर और मन दोनों का उत्कर्ष-साधक हो और जो प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी पूर्वार्जित प्रतिभा के अनुसार जीने का अधिकार दे। ऐसी व्यवस्था की नींव लोगों के गुण, धर्म और स्वभाव पर ही डाली जा सकती है।

कार्ल मार्क्स ने मानवी सभ्यता की जो भौतिक मीमासा की है, वह यदि अतीत काल के लिए सच भी मान ली जावे तो भी इसका यह आशय तो कदापि नही हो सकता कि अपने भविष्य मे भी मनुष्य भौतिक सम्पत्ति तथा साधनो के भाव-अभाव तथा परिवर्तनो से ही बनता-बिगडता रहेगा। अभी तक तो उसके कलहशील अतीत का इतिहास ऐसा ही रहा है कि वह अपने अथवा कुटुम्बगत स्वार्थ के लिए दूसरो पर आक्रमण करता आया है। परन्तु क्या मनुष्य हमेशा ऐसा ही बना रहेगा? क्या उसके लिए इससे अच्छे भविष्य की आशा नही है? क्या वह भौतिक परिस्थिति के परे कभी उठ न सकेगा? परमार्थ की झाँकी उसे न मिल सकेगी? क्या वह स्वार्थी मजदूर के जीवन से मुक्त होकर अक्षय ऐश्वर्य का स्वामी कभी न होगा? यदि नही, तो यह जीवन और जगत् दोनो निरर्थक है।

विश्वसत्ता पर यदि हम गभीर और व्यापक दृष्टि से विचार करे तो प्रतीत होता है कि सृष्टि एक विकासशील रचना है। प्राणी वनस्पति से पशु और पशु से मनुष्य हुआ और मनुष्य से उसे देव और देव से उसे ईश्वर होना है। यद्यपि आज तक उसका इतिहास, उसकी सारी खटपट भौतिकता-मूलक रही आई और वह अद्यावधि अपनी पार्थिव परिस्थिति का शिकार रहा, तथापि भविष्य की निसवत हम आशा और विश्वास के साथ कह सकते है कि कभी वह जीवन के भौतिक आधारो से ऊपर उठेगा और भौतिक स्वार्थ का परित्याग करके परमार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर वह अपना इतिहास निर्माण कर सकेगा। ऐसी आशा जिसे नही है, उसे स्वयम् अपने ही से पूछना चाहिए कि वह क्यो जीता है। यदि हम कार्ल मार्क्स की यह सम्मति मान भी ले कि मनुष्य आज तक अपने इतिहास मे उत्पादक शक्तियो के भाव-अभाव तथा परिवर्तन से बनता-बिगडता हुआ केवल उदर-पोषण पर ही अपने जीवन का अवलम्ब लेता आया है, तो भी हमे यह मानने की कोई जरूरत नही कि वह पेट की मजदूरी छोडकर प्रेम की मजदूरी कभी न कर सकेगा अथवा ऐसा

करना उनका जीवन-लक्ष्य नहीं होना चाहिए। पेट की मजदूरी से देह चलती है, परन्तु प्रेम की मजदूरी से आत्म-तृप्ति होती है। आत्मतोष ही मानव-जीवन का ध्येय है।

वर्तमान साम्यवादियो के सम्बन्ध में गांधी जी ने यत्र-तत्र अपने संक्षिप्त विचार तो जरूर प्रकट किये है, परन्तु साम्यवाद पर उन्होंने अपनी दृष्टि से कोई वैज्ञानिक मीमांसा लेख अथवा व्याख्यान के द्वारा की है, ऐसा स्मरण हमें नही आता। संभव है, की हो। पर उनके संक्षिप्त विचारो के आधार पर ही हम कह सकते है कि साम्यवाद का कार्ल मार्क्स-द्वारा प्रतिपादित आदर्श उन्हे मान्य नहीं है। साम्यवाद स्थापित करने के लिए मार्क्स-प्रतिपादित हिंसात्मक साधनो के समर्थक तो वे हो ही नहीं सकते। मार्क्स अपने को 'मजदूरो के एकाधिपत्य' (Revolutionary Dictatorship of the Proletariat.) के सिद्धान्त का जन्मदाता समझता था। वह पूंजीवालो की सत्ता के स्थान पर मजदूरो का अखण्ड शासन (Dictatorship) चाहता था और वह भी यदि आवश्यकता हो तो मार-काट और खून-खराबी से भी। उसने श्रमजीवियो को सशस्त्र और संगठित रहने की सलाह दी है। अपनी सेना और सेनानी अलग तैयार रखने को उत्तेजित किया है। 'डिक्टेटरशिप' और वह भी 'रिव्होल्यूशनेरी'! और वह भी मूर्ख मजदूरो की! गांधी जी को न तो हिंसात्मक क्रान्ति मान्य है न फिर किसी एक आदमी अथवा सम्प्रदाय की अनियन्त्रित सत्ता ही पसन्द है। वे श्रम-विभाग के सिद्धान्त को समाज के लिए श्रेयस्कर मानते है। इसी दृष्टि से वे वर्णाश्रम धर्म के समर्थक है और इसी कारण वे अपने को 'सनातनी हिन्दू' भी घोषित करते हैं। विभिन्न कार्य-क्षेत्रो मे मनुष्यो को रखते हुए भी वे लोगो में प्रेम और आदर की भावना जाग्रत रखना चाहते है। दो मनुष्य केवल आत्मा के मंच पर ही समान हो सकते है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार मे वे एक दूसरे से भिन्न हो जाते है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था वही हो सकती है जो मनुष्यो की विभिन्न विशेषताओ

के अनुसार उन्हे अलग-अलग कार्य-क्षेत्र देवे और उनकी स्वाभाविक शक्ति को एक ऐसे मार्ग में प्रवाहित कर दे जिससे उनका और जन-समाज दोनो का भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेय सिद्ध हो। गाधीजी के समान गुण-धर्म के आधार पर व्यवस्था चाहनेवालो की आदर्श समाज-रचना इससे भिन्न नही हो सकती। परन्तु यह व्यवस्था कार्ल मार्क्स की सृष्टि से बिलकुल भिन्न होगी।

हम पहले ही कह चुके है कि श्रमजीवियो की अनियत्रित सत्ता (Dictatorship of the Proletariat) को कार्ल मार्क्स आदर्श समाज-व्यवस्था नही मानता, वह श्रमजीवी-शासन को ऐसी व्यवस्था लाने का साधन-मात्र समझता है। हम यह भी क्षण भर के लिए मान लेते है कि जिस आदर्श समाज-रचना की कल्पना गाधी जी करते है, वह मार्क्स-कल्पित व्यवस्था से भिन्न न होगी। यदि इन दोनो विचारको का अन्तिम ध्येय एक ही मान लिया जावे, तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी आदर्श व्यवस्था कार्ल मार्क्स के श्रमजीवी-शासन से लाई जा सकती है या गाधी जी की श्रम-विभाग-युक्त समाज-रचना के द्वारा। यदि मार्क्स-कल्पित आदर्श सामाजिक जीवन में कोई अनियन्त्रित सत्ताधारी न रहेगा और शासक तथा शासित का भेद मिट जावेगा,—यदि समाज-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य यही हो कि उसमें किसी की डिक्टेटरशिप की गुजाइश न रहे, तो सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी डिक्टेटरशिप-शून्य व्यवस्था श्रमजीवियो के डिक्टेटरशिप के जरिये किस तरह लाई जा सकेगी ? आखिर उस आदर्श व्यवस्था के योग्य परिस्थिति का लानेवाला तथा निर्णायक कौन होगा ? मार्क्स-वादी इन प्रश्नो के उत्तर में कहेंगे कि इन बातो के निश्चय करने-वाले श्रमजीवी शासक ही होगे।

लेकिन इस उत्तर में एक बडी भूल है। अभी श्रमजीवियो की यह शिकायत है कि समाज में कुछ थोडे से पूँजीवाले प्रबल होकर शासन की सारी सत्ता अपने हाथो में लिये बैठे है और उससे अपना स्वार्थ-

साधन ही कर रहे है। प्रजा-सत्ता का बाहरी आडम्बर फैलाकर वे यथार्थ मे श्रीमानो का डिक्टेटरशिप ही चला रहे है। यह आक्षेप बिलकुल सच है। परन्तु ऐसी शिकायत करनेवालो को यह भी समझना चाहिए कि डिक्टेटरशिप स्वय एक बुरी प्रणाली है। बुराई तो मनुष्य मे है ही, यदि पूँजीपतियो मे एक तरह की बुराई है तो श्रमजीवियो मे दूसरी तरह की। जन-समाज का कोई भी सम्प्रदाय अपने को सर्वथा दोष-मुक्त नही मान सकता। ऐसी हालत में अनियन्त्रित सत्ता जिसके हाथ जावेगी, वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। इतिहास का अनुभव तो यही कहता है कि शासन-सत्ता का किसी एक वर्ग के अधिकार मे होना दूसरे वर्गो के लिए घातक सिद्ध हुआ है। अतएव डिक्टेटरशिप न तो पूँजीवालो की अच्छी, न श्रमजीवियो की। हमे तो इस बात की कल्पना ही नहीं हो सकती कि एक बार अपनी डिक्टेटरशिप स्थापित करके श्रमजीवी-समुदाय कभी भी ऐसा कहेगा कि आज समाज में ऐसी योग्य परिस्थिति आगई कि हमारे शासन की जरूरत नही है। सिवाय इसके ऐसी आदर्श सामाजिक परिस्थिति लाने के लिए सदियो के प्रयत्न की आवश्यकता होगी। क्या इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि अपनी सत्ता का अन्त करने के लिए श्रमजीवी इस तरह सदियो तक प्रयत्नशील रहेंगे? हमें तो ऐसी अनन्य श्रद्धा न तो पूँजीवालो की नेकनीयती पर है, न फिर मजदूरो की ही सद्भावना पर। ऐसी शासनहीन आदर्श व्यवस्था किसी भी वर्ग के अनियन्त्रित शासन के द्वारा नहीं लाई जा सकती। उसे लानेवाली संक्रमणकालिक व्यवस्था भी ऐसी चाहिए जिसमें किसी भी एक वर्ग का अनियन्त्रित शासनाधिकार न हो—जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने अपने क्षेत्र से अपने प्रतिनिधियो के द्वारा स्वय शासित हो। स्वय शासित होने की आदत ही उन्हें एक दिन शासन-रहित आदर्श सामाजिक व्यवस्था के योग्य बना सकेगी।

इस यहूदी अर्थशास्त्री कार्ल मार्क्स के हृदय से यदि उत्पादक यन्त्रो का मोह छूट जाता तो कदाचित् उसकी सामाजिक व्यवस्था कुछ और ही होती।

यहाँ पर 'यहूदी' शब्द का उपयोग हमने जानबूझ कर इसलिए किया है कि संसार में सभी जगह यहूदी लोग पूंजीपतियों के आसन पर आसीन हैं। उनके संस्कार रोजगारी और संग्रहशील होते हैं। अतएव व्यवसायी प्रकृति से मुक्त न होने के कारण कार्ल मार्क्स उत्पादक यंत्रों का मोह न छोड़ सका। महात्मा जी के समान वह यह नहीं कह सका कि इन यंत्रों को नष्ट कर डालो और करोड़ों की लागत का माल मिटा डालो। गांधी जी ने यंत्रों की उपयोगिता को यथार्थ से मनुष्योचित दृष्टि से ही देखा है। यंत्र मनुष्य के लिए उसी हद तक उपयोगी हो सकता है जिस हद तक वह वश्य होकर रहता है। लेकिन यंत्रों के सामूहिक उपयोग करने की एक केन्द्रित व्यवस्था ऐसी भी बन चुकी है कि जिसके अन्दर रह कर मनुष्य अपने ही बनाये हुए यंत्रों का स्वयं एक औजार-मात्र हो जाता है। अपने ऊपर अपने ही बनाये हुए यंत्रों का अधिकार किस मनुष्य को पसन्द हो सकता है? अतएव समझना होगा कि महात्मा जी मशीन के विरोधी नहीं, विरोधी हैं यंत्र-शासन के, ऐसी व्यवस्था के कि जिसमें लाखों तकुए मिलकर मनुष्य को भी तकुए के समान दिनरात घुमाया करते हैं। चर्खा भी एक यंत्र ही है, फिर भी वह मनुष्य के आधीन रहकर काम करता है। परन्तु पुतलीघरों में जहाँ हजारों चर्खे एक ही साथ एक ही शक्ति से संचालित होते हैं, मनुष्य उनका मालिक नहीं रह जाता, वह मजदूर की हैसियत से मशीन के समान ही जड़ हो जाता है। आजकल व्यवसाय के केन्द्रों में काम करनेवाले श्रमजीवियों की आर्थिक दरिद्रता उतनी शोचनीय नहीं है जितना कि उनका नैतिक पतन है। केन्द्रित व्यवसाय की वर्तमान प्रणाली वाष्प-संचालित यंत्रों की बदौलत ही प्रचलित हुई है। इसी प्रणाली ने पूंजीपतियों को जन्म दिया है और इसी ने लाखों मनुष्यों को मजदूर बनाकर जड़ताक्रान्त भी कर दिया है। ऐसी हालत में यंत्रों का विरोध करना प्रत्येक स्वाभिमानी और समझदार आदमी का कर्त्तव्य हो जाता है। विरोध की यह आवाज वर्तमान सदी के अधिकांश सभ्यों को उपहासास्पद प्रतीत होती है। परन्तु जो मनुष्य

यत्रो के दुरुपयोग-जनित दुष्परिणाम की और आँखें खोलकर निरपेक्ष भाव से देखेगा, उसे यह समझने में देर न लगेगी कि मशीन मनुष्यत्व की हर तरह मे घातक सिद्ध हुई है। मिल-मालिको को द्रव्य की विपुलता से और मजदूरो को एकान्त दरिद्रता से उसने मनुष्य से पशु बना डाला है। इसी सामाजिक दुरवस्था को देखकर हमारी भी यह निश्चित धारणा हो गई है, कि यदि आज व्यवसाय के केन्द्र उजाड दिये जावे और सारी मशीनें नष्ट कर दी जावे, तो जन-समाज का हर तरह से आर्थिक और नैतिक कल्याण ही होगा। जब तक इन यत्रो के मोह-पाश मे पडकर हम ऐसा न कर सकेंगे, जब तक उनके द्वारा स्थापित 'केन्द्रित व्यवसाय (Centralised Industry) की प्रचलित प्रणाली बनी रहेगी, तब तक सैकडो कार्ल मार्क्स के सम्मिलित प्रयत्न से भी इस पृथ्वी पर साम्यवाद का सफल होना असम्भव है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि जीवन के किसी भी क्षेत्र मे मनुष्य और मनुष्य के बीच समता स्थापित होना इस दृष्टि से असम्भव है कि सब मनुष्य समान नही हो सकते। कोई धनी, कोई निर्धन, कोई बुद्धिमान्, कोई मूर्ख, कोई अशक्त, कोई शक्तिमान् रहेगा ही। शिक्षा-दीक्षा तथा सुव्यवस्था के द्वारा हम निम्न श्रेणी के मनुष्यो को कुछ ऊपर जरूर उठा सकते हैं; लेकिन उसी अनुपात से जन-समाज के सुयोग्य और सामर्थ्यवान् आदमी और भी ऊपर उठ जावेंगे। कहने का अर्थ यह है कि दोनो श्रेणियो का अन्तर अधिकाश में बना ही रहेगा। ऐसी दशा मे हमारे लिए एक ही उपाय रह जाता है। उच्च और निम्न श्रेणियो के बीच सामञ्जस्य ही स्थापित हो सकता है। यह समन्वय मनुष्यत्व के मच पर ही सधेगा, अन्यत्र नही। अतएव ससार को जिस सामाजिक व्यवस्था की जरूरत है, उसे साम्यवाद न कहकर समन्वयवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा।

साम्यवाद पर यदि हम केवल आर्थिक दृष्टि से ही विचार करे तो भी कहना पडता है कि सब मनुष्य समान नही हो सकते। जिसके पास

जैसी अर्थकरी युक्ति होगी वैसा ही वह द्रव्योपार्जन करेगा। पूर्व-कालीन साम्यवादियो की धारणा थी कि समाज में सम्पत्ति का हिस्सा सबको बराबर (Equal) मिलना चाहिए। कुछ दिनो के बाद उन्हे अपने सिद्धान्त का अनौचित्य जँचने लगा और वे कहने लगे कि सम्पत्ति का बँटवारा आवश्यकतानुसार (Equitable) होना चाहिए। फिर भी आवश्यकतानुसार सम्पत्ति-विभाग की योजना भी आक्षेप से बरी नही हो सकती। यदि समाज के प्रत्येक मनुष्य को इस बात का निश्चय हो जावे कि मुझे जितनी ज़रूरत है, उतनी ही सम्पत्ति अथवा खाद्य-सामग्री समाज से मिल सकेगी, उससे अधिक नही; तो उसके हृदय मे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा उत्कर्ष-साधन के लिए कोई उत्साह ही नहीं रह जाता। उसका जीवन यन्त्रारूढ-सा होकर शिथिल और उत्तेजनाशून्य हो जावेगा। मनोविज्ञान तथा कर्म-रहस्य के समझने-वाले साम्यवादी इस कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं और वे किसी ऐसी आर्थिक व्यवस्था के चिन्तन में लगे हुए हैं जिसके अन्दर पूँजीपतियो का प्रादुर्भाव न होने पावे और साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य की महत्त्वा-कांक्षा तथा आर्थिक उत्कर्ष के लिए गुंजाइश भी बनी रहे। सारांश यह कि पाश्चात्य साम्यवादी अभी अपनी आदर्श सामाजिक व्यवस्था का अन्दाज़ भी नही कर पाये हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके है यथार्थ में स्वयं उन्हे ही इस बात का ज्ञान नहीं है कि वे क्या चाहते हैं।

लेकिन फिर भी हमारी राय मे यह प्रश्न कठिन होते हुए भी इतना दुस्साध्य नही है जितना पाश्चात्य साम्यवादियो को प्रतीत होता है। यदि एक बार दिल को कडा करके हम उस व्यावसायिक व्यवस्था को मिटा डालें कि जिसके कारण अर्थ-विषमता फैली है और पूँजी कुछ थोडे से लोगो के हाथ में संचित हो रही है और उसी के साथ-साथ घरेलू उद्योग-धंधो (Cottage Industry) को प्रोत्साहन दे, तो साम्यवादियो का आर्थिक आदर्श सहज ही सिद्ध हो जाता है। इस व्यवस्था के अन्दर प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता,

अभिरुचि तथा महत्त्वाकांक्षा के अनुसार उद्यमशील रहेगा और योग्यतानुसार अर्थोपार्जन भी कर सकेगा। यदि अपने सामर्थ्य के द्वारा वह आवश्यकता से अधिक द्रव्य सञ्चय कर सका तो उसका सदुपयोग भी वह अपने औदार्य की प्रेरणा से कर सकता है। उसका दुरुपयोग भी वह कर सकता है और ऐसा कर सकने का अधिकार भी प्रत्येक मनुष्य को जरूर चाहिए। जिस मनुष्य को समाज की ओर से आवश्यकतानुसार खाना-कपडा मिल जाता है, उसके लिए यह समझना कठिन होगा कि वह उदार है या अनुदार, त्यागी है या संग्रहशील। इस संसार में सम्पत्ति एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा परोपकार के बहुत-से काम हो सकते है। अतएव जिसके पास खाने-पीने के बाद कुछ शेष रह ही नहीं जाता, उसके लिए करुणा, सहानुभूति, दया, त्याग तथा दान-शीलता के समान मनुष्योचित गुणो के सम्यक विकास के लिए कोई साधन ही नहीं रह जाता। इसके उत्तर में हमारे साम्यवादी मित्र कदाचित् यह कहें कि जिस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना वे कर रहे है उसमें ऐसा कोई मनुष्य ही नहीं रह जाता जो इतना दरिद्री हो कि उसे किसी की दया का पात्र होना पडे। उनका यह कहना बिलकुल ठीक है। फिर भी हम यह कहेंगे कि जब किसी मनुष्य को केवल आवश्यकतानुसार ही खाना-कपडा मिले और उससे अधिक कुछ भी नही तो भौतिक भोग की इच्छा उसकी किस तरह पूरी हो? वह किसी बगीचे के बीच ऊँची अट्टालिका बनाकर रहना चाहता हो तो यह कैसे सम्भव हो? हम तो यह समझते है कि प्रत्येक मनुष्य के पास जरूरत से यदि बहुत नही तो कुछ ज्यादा इतना पैसा भी होना चाहिए कि यदि वह चाहे तो उसका किसी मर्यादा के भीतर दुरुपयोग भी कर सके। जिसे हम भूल करने का अधिकार (Right to err) कहते है, उसकी आवश्यकता न केवल राजनीति में वरन् जीवन के सभी क्षेत्रो में मानी जानी चाहिए। क्या शरीर-शक्ति से, क्या धन-सम्पत्ति से और क्या राजनैतिक स्वतंत्रता से हमें बनने या बिगड़ जाने का अधिकार हमेशा चाहिए। अन्यथा

हमें स्वय अपनी पहचान कैसे हो? मनुष्य को इस बात का ज्ञान कैसे हो कि उसमें कौन-कौन सी कमज़ोरियाँ हैं, और उसकी कौन-सी वासना प्रबल है? इसके सिवाय यह भी अनुभव करने का सुयोग कैसे मिले कि वासनाओ के फेर मे पड़कर अन्ततोगत्वा मनुष्य दुखी होता है और उनका सारा सुख क्षणस्थायी है, अतएव वे सर्वथा त्याज्य हैं? मनुष्य का सच्चा और स्थायी चरित्र-निर्माण तो ऐसे ही कटु अनुभवो के बाद होता है। केवल उपदेशो की बदौलत मनुष्य अपने उत्कर्ष के मार्ग पर आरूढ नहीं हो सकता। (कोई ठोक-पीट कर महात्मा नही बनाया जा सकता। अपने किये हुए दुर्व्यवहारो के कड़वे फलो को चखने के बाद ही मनुष्य सच्चा सदाचारी हो सकता है।) अतएव निसर्ग ने हमे जो वासनायें दी हैं, वे परोक्षरूप से हमारी आत्मोन्नति के साधन ही हैं। इनकी प्रेरणा से हम अनात्मवान् और भोगी होकर कालान्तर मे आत्म-निष्ठ और योगी हो जाते हैं। इस दृष्टि से भौतिक भोग आध्यात्मिक योग के साधक हैं। अपने जीवन-रूपी ग्रन्थ में भोगो की भूमिका बाँधकर ही मनुष्य ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रकरण प्रारम्भ करता है। विकास का यही नैसर्गिक क्रम भी है। इसे साम्यवाद ही क्या, ससार का कोई भी वाद नही रोक सकता। हाँ, अपनी बनावटी और अप्राकृत समाज-व्यवस्था के द्वारा स्वाभाविक विकास की इस क्रिया को हम कुंठित ज़रूर कर सकते है। पर इसमें मनुष्यो का ही नुकसान है, क्योकि उनकी स्वाभाविक मनः-प्रवृत्तियो को खुल कर खेलने की स्वतन्त्रता नही रह जाती और इतर साधनो के अभाव में उसका विकासक्रम ही रुक जाता है। अतएव सामाजिक व्यवस्था ऐसी चाहिए कि जिसके अन्दर न तो कोई बहुत श्रीमान् हो, न कोई अत्यन्त दरिद्र हो और प्रत्येक मनुष्य अपनी मज़दूरी का आप ही मालिक हो, ताकि वह अपनी इच्छा अथवा आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा कमा सके। उसकी आवश्यकता कितनी है, इस बात का भी निर्णायक वही हो। कार्ल मार्क्स की समाज-व्यवस्था मे स्टेट मालिक है, शेष सब मज़दूर हैं; जो जितनी मज़दूरी

करेगा—चाहे वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही क्यो न हो—उतना ही उसे खाने को मिलेगा। कोरी मजदूरी की इस मरुभूमि मे हमें मानव-सभ्यता की समाधि वनानी होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नही।

महात्मा जी का साम्यवाद कार्ल मार्क्स से भिन्न हैं। वह समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान दोनो से समर्थित है। गाधी जी की साम्यवादी समाज-रचना में श्रम-विभाग (Division of labour) के आधार पर एक ऐसी व्यवस्था होगी कि जिसके अनुसार एक लेखक तथा कलाकार से जवरदस्ती मजदूरी न ली जावेगी और मजदूरी न कर सकने के कारण उसे मोहताज होना न पडेगा। प्रत्येक श्रम-विभाग सामाजिक उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहता हुआ एक दूसरे से कर्त्तव्य और प्रेम की शृखला में वँवा रहेगा। ऐसी व्यवस्था मे समूचे समाज के लिए सोचने-विचारने तथा मार्ग-प्रदर्शन करने का काम वे लोग करेंगे जो गुण, धर्म और स्वभाव से दूरदर्शी वहुश्रुत और ज्ञानी होंगे। उनकी विद्या-बुद्धि से समाज का श्रमजीवी भी लाभ उठावेगा और इस वात की स्पर्धा न करेगा कि वे भी उसके साथ मजदूरी करे। इसी तरह सग्रहशील और व्यवसायी प्रवृत्ति के लोगो को इस वात की स्वतत्रता रहेगी कि वाणिज्य और उद्यम को प्रोत्साहन देकर द्रव्योपार्जन इसलिए करें कि सामाजिक सम्पत्ति की वृद्धि होती रहे। मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज के लिए चार वातो की आवश्यकता हैं, आत्म-रक्षा, श्रम, सम्पत्ति और विचार। पहली से वह आक्रमणकारी शत्रुओ से अपनी रक्षा करता है। दूसरी से वह सम्पत्ति का उत्पादन करता है। सम्पत्ति से उसमे भौतिक निश्चिन्तता आती है। अपने मन की इस निश्चिन्त अवस्था में वह सत्साहित्य का निर्माण करता है। विचार-साहित्य से प्रथम तीनो—आत्म-रक्षा, श्रम और सम्पत्ति—को सहायता मिलती है। इस प्रकार मानव-जीवन में उपर्युक्त चारो विषय अन्योन्यावलम्वी भाव से सम्वद्ध है। मनुष्य-जीवन के इस स्वाभाविक विभाग के

आधार पर ही हम प्रगतिशील, प्राकृत और सजीव समाज की रचना कर सकते हैं, अन्यथा नही।

कार्ल मार्क्स एक अनात्मवादी विचारक था। उसने डारविन के भौतिक विकासवाद को स्वीकार किया है और यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस जीवन में प्राणियो की प्रगति केवल भौतिक परिस्थितियो के आधीन है। इसमें सन्देह नही कि खनिज पदार्थ से लेकर पशु-योनि तक और अधिकाश में मनुष्य-जीवन तक भी प्राणियो के विकास-पथ में उन्हे भौतिक परिस्थितियो से ही प्रेरणा मिलती है। परन्तु मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपनी परिस्थितियो के बहुत कुछ आधीन रहते हुए भी उनसे मुक्त होने को प्रयत्नशील रहता है। यदि मनुष्य सोलह आने अपनी भौतिक स्थिति का गुलाम रहे, तो उसका विकास किसी प्रकार भी सम्भव नही। क्योकि परिस्थिति तो इस क्रम से बदलती ही नही कि उसके परिवर्तनो के द्वारा मनुष्य का विकास सम्पादन होता जावे। स्वय मार्क्स ने जिस आदर्श समाज-व्यवस्था की कल्पना की है उसका अस्तित्व आज नही है, क्योकि आज की भौतिक परिस्थिति ही ऐसी है कि जब तक वह परिवर्तित न हो, तब तक मार्क्स का ध्येय पूरा नही हो सकता। इसी लिए वह एक स्थान पर कहता है कि इतर तत्त्व-ज्ञानियो ने ससार के रहस्य को केवल समझने-समझाने का ही प्रयत्न किया है, परन्तु साम्यवादी वर्तमान ससार को ही बदल देना चाहता है। कहने का अभिप्राय यह कि साम्यवादी अपनी वर्तमान परिस्थितियो का गुलाम होकर रहना नही चाहता; उसे अपनी भौतिक स्थिति का स्वामी होकर रहना अधिक पसन्द है। इस पर कदाचित् कोई यह उत्तर दे कि मार्क्स का यह विचार भी परिस्थिति-प्रेरित है। अपने चारो ओर फैली हुई व्यापक दरिद्रता और अर्थ-विषमता को देखकर वह असन्तुष्ट हुआ और असन्तोष के इसी भाव ने उसे एक नई व्यवस्था की कल्पना दी। बिलकुल सच है, पर हम पूछते हैं कि पूंजीपतियो की प्रभुता तथा उनके अनाचार से

तो सभी मजदूर असन्तुष्ट है, मार्क्स के जमाने मे और उसके पहले भी थे। लेकिन इस दुरवस्था से मुक्त होने का उपाय उन मजदूरो में से किसी ने भी न सोचा। साम्यवाद का प्रचार करने-वाले तथा उसके अनुसार एक आदर्श जन-समाज की कल्पना करने-वाले तो वे लोग ही हुए, जिन्होने अपने जीवन मे कभी मजदूरी नही की। साम्यवादियो में कई लोग तो ऐसे भी है कि जिनका जन्म और लालन-पालन अर्थ-विपुलता के बीच हुआ है। इसका कारण क्या हो सकता है? कारण इतना ही है कि मजदूर-समाज का आत्म-विकास अभी इतना नही हो पाया कि वह स्वय अपनी परिस्थिति बदलने की बात सोच भी सके। अपनी भौतिक अवस्था तथा तज्जनित सुख-दुख पर विजय प्राप्त करने की इच्छा अभी मनुष्य में भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे है। वह जन-समाज के अधिकाश लोगो मे नही पाई जाती। कुछ इने-गिने लोग ही ऐसे मिलेंगे जो अपनी चेतनता, आत्म-विश्वास और कर्मण्यता के बल पर अपनी भौतिक परिस्थितियो के स्वामी होने का सकल्प कर सकते है। ऐसे ही लोग जन-समाज के कर्णधार भी होते है। अतएव अधिकाश मजदूरो की विवशतापूर्ण सहनशीलता इस बात का सबूत है कि प्राणी अपने विकास-मार्ग में अद्यावधि अपनी परिस्थितियो के आधीन रहता आया है। परन्तु मार्क्स के समान थोडे से कर्मशील ज्ञानियो का अस्तित्व इस बात का भी प्रमाण है कि अब मनुष्य में कुछ ऐसी विलक्षण चेतनता जागृत हो रही है कि उसका भावी विकासक्रम परिस्थितियो से सर्वथा सचालित नही हो सकता, अब उसे अपनी प्रगति का इतिहास एक नये ढग से लिखना है। अभी तक वह अपनी स्थूल इन्द्रियो, भौतिक अवस्थाओ तथा तत्प्रेरित प्रवृत्तियो के अनुसार चलता आया है, लेकिन उसे अब भविष्य में विचारपूर्वक, सोच-समझकर किसी पूर्ण निश्चित आदर्श की ओर जाना है। जिस परिस्थिति से उसे अपनी लक्ष्य-सिद्धि में सहायता मिलेगी, उसे वह विचारपूर्वक स्वीकार करेगा और जो बाधक सिद्ध होगी, उसे निर्मूल कर देने के लिए

वह कटिबद्ध भी रहेगा। अपनी बाहरी रुकावटो को पार करने का तथा भौतिक परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करने का यह शुभ सकल्प किसका है? यह उसी का हो सकता है कि जिसकी मन प्रवृत्ति भौतिक परिस्थिति की लाचारी से मुक्त होना चाहती है। इसी चेतन तत्त्व को दर्शनशास्त्री आत्मा के नाम से पुकारते हैं और उसी को जर्मन तत्त्वान्वेषी फ्रेडरिक निट्शे भौतिकवादी होते हुए भी 'विल टु पावर' यानी 'सामर्थ्यवान् स्वामी होने की इच्छा' कहा करता था। बात एक ही है, नाम कुछ भी दे। कार्ल मार्क्स में भी अपनी भौतिक परिस्थिति को बदल देने का तथा उसका स्वामित्व प्राप्त करने का जो सकल्प उदय हुआ, वह उसी अभौतिक तत्त्व की प्रेरणा का परिणाम था। अतएव उसका अनात्मवादी, भौतिक-विकासवाद उसी के विचारो से खडित हो जाता है।

महात्मा जी का साम्यवाद पूर्णतया आत्मवादी है। वे जीवन के विकास-क्रम को केवल भौतिक दृष्टि से नही देखते। प्राणि-जीवन मे भौतिक परिवर्तनो के साथ-साथ मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक प्रगति भी होती जाती है। यथार्थ में प्राणियो की प्रगतिमान् अन्त प्रवृत्तियाँ ही उसे भिन्न-भिन्न भौतिक रूप दिया करती हैं। गाधी जी के अध्यात्म-वादी दृष्टिकोण से हम मानवी समता का मच समान मजदूरी पर नही डाल सकते। आत्मा की ऊँची अट्टालिका पर ही सारे मनुष्य, क्या मालिक, क्या मजदूर समान आदर, प्रेम और प्रतिष्ठा के पात्र हो सकते हैं। यही साम्यवाद का स्थायी सभा-मच है। अतएव यथार्थ साम्य-वादी अनात्मवादी नही हो सकता। कार्ल मार्क्स का 'साम्यवाद' यथार्थ में भौतिकता-मूलक, श्रम-प्रधान, सम्पत्तिवाद है। महात्मा गाधी का साम्यवाद, अध्यात्म-मूलक, श्रम-विभाग-प्रधान समन्वय-वाद है। प्राचीन आर्यो की वर्ण-व्यवस्था का यही शुद्ध रूप है। इस व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने गुण-धर्म तथा अभिरुचि के अनुसार स्वार्थ एव परमार्थ-सेवन का पूरा अधिकार है। अपने सामर्थ्यानुसार वह

न्याय-पूर्वक जितनी सम्पत्ति कमा सकता है, उसका मालिक है। 'राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस' में महात्मा जी ने माल्की मिल्कियत (Property right) के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था उससे यही सिद्धान्त समर्थित होता है। उन्होंने कहा था, स्वराज-शासन की एक कमिटी इस बात की जाँच जरूर कर सकती है कि किसने कितनी जायदाद न्याय-पूर्वक हासिल की है। महाराजाओ के प्रेमी सप्रू साहब ने इस सम्भावना पर कुछ घबराहट भी दिखाई थी, पाठको को स्मरण होगा।

लेकिन कार्ल मार्क्स-मतावलम्बी साम्यवादियो में और महात्मा जी में एक बात पर बिलकुल मतभेद नही है। गाधी जी इस बात को मानते है कि वर्तमान अर्थ-विषमता मानवी प्रगति की घातक है और पूँजीवाद ही इसका मूल कारण है। वे किसी को बहुत श्रीमान् और किसी को अत्यन्त हीन देखना नही चाहते। उनकी दृष्टि में ऐसी अर्थ-विषमता समाज की भौतिक व्याधि है और उसका असर अन्तरात्मा पर भी पडता है। इसी लिए उन्हे झोपडियो के समुदाय में गगन-भेदी राजमहल नहीं सुहाते। 'अगर मेरे अधिकार की बात होती तो मै इन बदतमीज (insolent) राजमहलो को नीचे गिरा देता।' गाधी जी के ये शब्द अभी भी महाराजाओ के कानो में गूँजते होगे। गाधी जी ने ऐसा इसलिए कहा, कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास है कि महाराजाओं की सम्पत्ति अधिकाश में न्यायोपार्जित नही है। महल खीच कर गिरा देने की बात केवल आलंकारिक है, परन्तु उसका इतना आशय जरूर है कि वे भविष्य के लिए ऐसी आर्थिक व्यवस्था चाहते है जिसके अन्दर झोपडी और महल का यह बेमेल दृश्य दिखाई न देने पावे। वे चाहते है कि कुछ न्यूनाधिक अंश में छोटे-बड़े मकानो मे सभी लोग अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार रहे—सभी को भौतिक साधन सुलभ हो और सभी इस पार्थिव जीवन की भौतिक चिन्ताओ से मुक्त होकर परमार्थ-चिन्तन भी कर सकें—कला, साहित्य तथा विज्ञान के द्वारा सार्वजनिक सेवा करने में सक्षम हो। मनुष्य

केवल रोटी के बल पर ही नही जीता। उसे आत्मा की खुराक भी चाहिए। सत्साहित्य और सद्विचार ही आत्मा के भोजन हैं।

इस तरह पाठक देखेंगे कि गाधी जी पाश्चात्य साम्यवादियो से इस बात पर सहमत हैं कि वर्तमान अर्थ-विषमता वाछनीय नही है और उसका मूलोत्पाटन होना आवश्यक है। परन्तु वे अपनी अध्यात्म-दृष्टि से ही ऐसा कहते हैं। वे समझते हैं कि जबर्दस्ती की लादी हुई दरिद्रता अथवा मजबूरी की मजदूरी मानवी विकास के अनुकूल तो होती ही नही, बल्कि मनुष्य की अन्तरात्मा को जडताक्रान्त बना देती है। इस अध्यात्म-दृष्टि से प्रेरित होने के सबब ही गाधी जी को कार्ल मार्क्स और लेनिन के क्रान्तिकारी और हिंसात्मक साधन मान्य नही हो सकते। ऐसी हालत में उनके लिए दूसरा अवलम्ब उत्क्रान्ति (Evolution) का ही रह जाता है। अतएव वे भविष्य के लिए वर्तमानकाल में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात कर देना चाहते हैं कि उसके द्वारा उत्पन्न की हुई भावी परिस्थिति में पूंजीवाद की बू-बास भी न रहने पावे, न तो कोई बहुत श्रीमान् हो सके न अत्यन्त दरिद्र ही होने पावे। व्यवसाय की व्यवस्था ऐसी हो कि पदार्थों के मूल्य (Value) और अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) सभी लोगो में न्यूनाधिक अश में योग्यतानुसार वितरित हो जावे। न कोई मालिक हो न कोई मजदूर। प्रत्येक मनुष्य अपनी मजदूरी का आप ही मालिक हो, और घरेलू उद्योग-धधो का फिर से श्रीगणेश हो। इसी में जन-समाज का कल्याण है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए केन्द्रित व्यवसाय को नष्ट कर देना बहुत जरूरी है। ऐसा व्यवसाय किसी एक आदमी के हाथ में रहे या राज-सत्ता के—दोनो हालत में वह त्याज्य है। यत्रो के ऐसे केन्द्रित समुदाय गाधी जी की राय मे अनिष्टकारी हैं, क्योकि वे थोडे समय में शैतान के समान बहुत-सा काम पूरा करके लाखो आदमियो का पेट मारते हैं और मजदूरी देकर जिनकी जीविका चलाते हैं, उन्हें अपने ही समान यत्रो का रूप दे डालते हैं। यंत्रो की इस घातक

योजना को बिलकुल निर्मोही बन कर तोड़ देना चाहिए। बाजार में भाव की रक्षा करने के लिए बुभुक्षितो के बीच जो लोग लाखो और करोडो मन गेहूं का नाश कर सकते है, उन्हे केन्द्रित यत्रो के सर्वनाश से नही चौकना चाहिए। इतना खाना खराब करनेवाले लोग पूंजीवाले ही हुआ करते है और वे महज स्वार्थ की दृष्टि से ऐसा किया करते है। यत्रो के विनाश मे परमार्थ-बुद्धि है। इसी कारण वे उसका समर्थन नही करते। परन्तु आश्चर्य है कि अपने को साम्यवादी कहनेवाले पाश्चात्य विचारक भी यत्रो का मोह नही छोड सकते। न छोडे, पर इतना तो बिलकुल निश्चित है कि जब तक यत्र-सचालित केन्द्रित व्यवसाय-प्रणाली जन-समाज मे विद्यमान रहेगी, तब तक आदर्श सामाजिक व्यवस्था असम्भव है, साम्यवादी कुछ भी सोचें और किया करे।

गाधी जी का चर्खा इसी दृष्टि से एक युग-सन्देश-वाहक बाना है। इसी लिए वे उसे हमेशा अपने साथ लिये फिरते है। इसी कारण मैंचेस्टर के समान केन्द्रित व्यवसाय के तीर्थ मे भी बैठकर वे अपना चर्खा आत्म-विश्वास-पूर्वक चलाते ही रहे। बेकार ब्रिटिश मजदूरो ने उसे कौतूहलपूर्ण नेत्रो से देखा, पर मालूम नही कि उन्हे यह भी सूझा या नही कि यही चर्खा उनकी बेकारी का अचूक इलाज है और उनके द्वारे नगी नाचनेवाली दरिद्रता-रूपी राक्षसी के लिए रामबाण है। जो लोग यह समझते है कि चर्खा हिन्दुस्थान-सरीखे अनुन्नत और उद्यम-हीन देश के लिए कुछ पैसा बचा लेने का पुराना तरीका है, वे उसके महत्त्व को अभी तक समझ ही नही पाये हैं। चर्खा भारत के समान निर्धन देश के लिए कामधेनु तो है ही, परन्तु पश्चिम के उद्यमी और यत्र-विद्या-विशारद राष्ट्रो के बेकार और पूंजीवाद-ग्रस्त जन-समाज को अर्थ-विषमता की विषम परिस्थिति से उबारनेवाला सुदर्शन चक्र भी है। चर्खे का सन्देश एकदेशीय नही, इस पृथ्वी के समूचे जन-समाज के लिए है। वह एक सच्चा साम्यवादी बाना है।

उसका धारण करनेवाला बडा गम्भीर अर्थ-शास्त्री है और अध्यात्म-शास्त्री भी है। मजदूरी और मोक्ष का प्रेमालिंगन करानेवाला वह इस युग का एक ही मसीहा है।

इस तरह पाठक समझ सकेंगे कि गाधी जी का साम्यवाद क्रान्तिकारी नही, उत्क्रान्तिकारी है। वे शान्तिपूर्वक ऐसी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसके अन्दर समाज की पूंजी थोडे से आदमियो के हाथ एकत्रित ही न होने पावे तथा सभी लोगो मे योग्यतानुसार वितरित हो जावे। न सांप मरे न लाठी टूटे। छीना-झपटी से साम्यवाद सफल नही हो सकता। उससे तो समाज की पूंजी बलवान् लोगो के हाथ चली जावेगी, कमजोर हाथ मलते रह जावेगे। वर्ग-कलह (Class war) को दूर करने का उपाय वर्ग-नाश ही है। गाधी जी इस वर्ग-नाश पर ही तुले हुए हैं, पर इस काम को वे क्रोध और द्वेष से मूढ मनुष्य के समान हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा नही करना चाहते। वे भविष्य के लिए ऐसी व्यवस्था चाहते है कि जिसके वातावरण मे वर्गी-करण की क्रिया ही न होने पावे। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि महात्मा जी विकासवादी साम्यवाद (Evolutionary Socialsm) के प्रवर्तक है। लेकिन ध्यान रहे कि जर्मनी के वर्नस्टैन साहव भी अपने साम्यवाद को इसी नाम से पुकारते है, पर उनका दृष्टिकोण कुछ और है।

हिन्दुस्थान मे भी कुछ दिनो से कुछ ऐसे लोगो की आवाज़ आने लगी है जो अपने को साम्यवादी समझते है। इनका एक छोटा-सा 'जिंजर ग्रूप' यानी 'अदरकी दल' काग्रेस में तैयार हो गया है। इस उदीयमान दल के अधिकाश सदस्य आजकल के शिक्षित नौजवान हैं। साम्यवादी प्रेरणा उन्हें पश्चिम से विशेष कर रशिया से मिली है। पाश्चात्य साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स और उसके प्रवर्तक लेनिन के ग्रथो का उन्होने परिशीलन किया है। अपने देश की वर्तमान दुरवस्था से वे अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। घोर असतोष की इस तीव्रता मे पडकर उनके विचार

भी बहुत उग्र और क्रान्तिकारी हो चुके हैं। उनकी धारणा है कि गांधी जी दरिद्र जनता के उतने पूरे हिमायती नहीं हैं जितना कि एक साम्यवादी को होना चाहिए। कांग्रेस भी उनकी राय में एक ऐसी संस्था है जो पूंजीवालों से तथा उच्च मध्यम श्रेणी (Bourgeois) के लोगों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। वे चाहते हैं कि हमारी राष्ट्रीय महासभा साम्यवाद के आदर्श को लेकर अग्रसर हो और देश के कुली और किसानों का स्वराज ही उसका लक्ष्य हो। वे इस आदर्श अवस्था को किन साधनों से प्राप्त करना चाहते हैं, इस बात का खुलकर खुलासा करनेवाला अधिकारी आदमी उनके बीच में एक ही है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू रशिया का सोव्हियेट शासन अपनी आँखों देख आये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस देश की वर्तमान अवस्था से उन्हें बहुत संतोष हुआ है और हिन्दुस्थान के नौजवानों में वे उन प्रथम दो-चार व्यक्तियों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने हिन्दुस्थान की राजनीति में अपने को पहले-पहल साम्यवादी घोषित किया है। पं० जवाहरलाल नेहरू एक गम्भीर प्रकृति के मनुष्य हैं। उनकी राष्ट्रीय उमंगों पर उनके विचारों का अंकुश रहता है। पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू और दीक्षागुरु गांधी जी का सम्मिलित प्रभाव भी उनके सार्वजनिक जीवन तथा विचारों में अब तक अपना असर डालता हुआ आया है। फिर भी कह सकते हैं कि पं० जवाहरलाल एक स्वतंत्र विचारक हैं और अपने मन के भाव छिपाकर रखने में उन्हें कष्ट होता है। प्रतीत होता है कि बड़े बाप के बेटे होकर भी उन्हें दरिद्रता से सच्ची सहानुभूति है। अतएव उन्हें साम्यवादी मानने में किसी को विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु अभी तक इस बात का जैसा चाहिए, वैसा स्पष्ट खुलासा उन्होंने नहीं किया है कि वे किस स्कूल के साम्यवादी हैं क्रान्तिकारी हैं या उत्क्रान्तिकारी; और यदि क्रान्तिकारी हैं तो किस तरह की क्रान्ति के समर्थक हैं। अभी तक वे अहिंसात्मक साधनों को ही देश की परिस्थिति के अनुकूल मानते आये हैं और हमें इस बात पर बिलकुल संदेह नहीं होता कि इस सम्बन्धमें

में उनके विचार अभी भी वैसे ही बने हुए हैं। ऐसी हालत मे हम यह नही कह सकते कि वे कार्ल मार्क्स और लेनिन के पूरे पूरे अनुगामी है। साराश यह कि जब तक वे अपने वर्तमान विचारो में कोई विशेष परिवर्तन न कर लें, तब तक गाधी जी के विकासवादी साम्यवाद के सिवाय उनके लिए कोई गत्यन्तर नही है।

प० जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध मे हमे इतनी चर्चा इसलिए करनी पडी है कि इस देश के साम्यवादी नौजवान उन्ही के नेतृत्व में अग्रसर होने के लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वर्तमान साम्यवादी दल का निकटवर्ती भविष्य बहुत कुछ उन्ही के नेतृत्व पर निर्भर है। इस देश में साम्यवाद का अभी कल ही जन्म हुआ है इसलिए अभी वह बच्चा है। उसकी बोली भी तोतली है। उसके पोषक भारतीय नौजवानो को पश्चिम की हवा लग गई है। इसलिए वे प्रतिष्ठित नेताओ से जरा बिगड कर बात-चीत करते हैं और समय समय पर गुर्राने भी लगे हैं। साम्यवादी की हैसियत से वे ग्रामो में जाकर दरिद्र किसानो की सेवा करने के लिए तैयार है, पर चर्खा लेकर जाना उन्हे मजूर नही। हिन्दुस्थान एक ऐसा देश है जहाँ के लोग अपनी खाद्य सामग्री तो पैदा कर लेते है, पर वस्त्रो के लिए बिलकुल परावलम्बी हो रहे हैं। यहाँ पर पुतलीघर भी इतने नही है कि उनसे सारे देश की आवश्यकता पूरी हो सके। इसी कारण विदेशी वस्त्रो के रोजगारी इस देश मे दलाली के द्वारा खूब मुनाफा कमा रहे हैं और प्रतिवर्ष दरिद्र जनता के करोडो रुपये विदेशी व्यापारियो के खजानो में भर रहे हैं। ऐसी हालत में हिन्दुस्थान के दरिद्र किसानो का कोई भी समझदार समर्थक उन्हे वस्त्रो के लिए स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न जरूर करेगा। देशी मिलो से यह उद्देश्य पूरा नही हो सकता। इस कारण चर्खे के सिवाय कोई सरल साधन भी उपलब्ध नही है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्थान-सरीखे कृषि-प्रधान देश के लिए चर्खा खेती का आदर्श सहयोगी है। साधन भी वह ऐसा सर्वोत्तम है कि उसके द्वारा जो आमदनी होती है वह देहात के गरीब लोगो में ही बँट जाती है। ऐसी दशा मे

हमारी समझ में यह बात अभी तक नहीं आई कि अपने को साम्यवादी समझनेवाले नौजवान चर्खे के प्रति ऐसी अनास्था प्रकट करके गरीबों के किस मर्ज का क्या इलाज करना चाहते हैं। अभी हाल ही में जयप्रकाश नारायण नामक एक साम्यवादी सज्जन ने घरेलू उद्योग-धंधों के प्रति उदासीनता का भाव प्रकट करते हुए कहा है कि ऐसे धंधे तो मानवी सभ्यता की बाल्यावस्था से ही चले आये हैं, उनमें कौन-सी नवीनता है। इस कटाक्ष के उत्तर में ग्रामीण उद्योग-धंधों के सुयोग्य संचालक और अर्थ-शास्त्री श्रीयुत कुमारप्पा महोदय ने बड़ी योग्यता-पूर्वक अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था। उन्होंने कहा था कि न्यूटन के पहले भी गुरुत्वाकर्षण की शक्ति थी और लोग यह भी जानते थे कि किसी चीज को ऊपर फेंक देने से वह जमीन पर आ गिरती है। फिर भी न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी वैज्ञानिक आविष्कार ने संसार को एक नया दृष्टिकोण दिया। ठीक इसी प्रकार यद्यपि घरेलू उद्योग-धंधे पहले से चले आये हैं तो भी यन्त्र-सचालित केन्द्रित व्यवसाय की नई प्रणाली तथा उसके आर्थिक दुष्परिणाम ने उन प्राचीन धंधों को एक नया और महत्वपूर्ण अर्थ दे दिया है। वर्तमान सदी की अर्थ-विषमता में उनकी जो विशेषता दृष्टिगत हो रही है, वह पुरानी होकर भी नई है। पूंजीवाद से प्रभावित इस यन्त्र-युग ने उन प्राचीन म्रियमाण घरेलू धंधों का महत्व खोलकर इतनी स्पष्टता से दिखा दिया है कि कोई अन्धा भी देख सकता है। कुमारप्पा महोदय का यह उत्तर ऐसा तर्कशील है कि उसका कोई उचित प्रत्युत्तर ही नहीं हो सकता। फिर भी इस देश के दिशा-शून्य साम्यवादी अपना चरखा अलग ही चला रहे हैं। गांधी जी के ग्रामीण उद्योग-संघ को उनसे जैसी सहायता मिलनी चाहिए थी, वैसी नहीं मिल रही है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन नौजवानों का साम्यवाद कोरा विरोधवाद है। अभी उनका दृष्टिकोण परिष्कृत नहीं हो पाया है। यदि उन्हें हिन्दुस्तान की परिस्थिति,

सभ्यता तथा भावी आदर्श का ज्ञान हो जावे तो उन्हे उसी पल प्रतीत हो जावेगा कि गाधी जी के समान दूरदर्शी और व्यवहार-कुशल साम्यवादी न तो आज तक कोई हुआ, न अभी कोई है। भविष्य की बात राम जाने।

भारत की इस प्राचीन भूमि में आधुनिक साम्यवाद स्थापित हो सकेगा अथवा नही और यदि हुआ तो किस रूप मे, यह भी एक विचारणीय विषय है। इसके सिवाय यह भी एक सोचने लायक बात है कि उसके योग्य परिस्थिति हमारे जन-समाज मे अभी आई या नही, और यदि आ चुकी है, तो भारतीय सस्कृति तथा तत्प्रेरित मनोवृत्ति पर विचार करते हुए किन साधनो का अवलम्बन हमे करना पडेगा। सबसे पहले तो हमे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हिन्दुस्थान में जब तक विदेशियो का प्रभाव है और जब तक इस देश की अर्थ-नीति विजातीय शासको के द्वारा सचालित हो रही है—जब तक हिन्दुस्थानी रुपया ब्रिटिश पाउड से अनुचित परिणय-बन्धन मे बँधा हुआ है; तब तक हमारी आर्थिक अवस्था नैसर्गिक नही, बिल्कुल बनावटी बनी ही रहेगी। ऐसी कृत्रिम परिस्थिति के आधार पर अर्थ-शास्त्र का कोई भी मर्मज्ञ अपने सिद्धान्त स्थिर करना उचित नही समझ सकता। ऐसे विचारवान् आदमी की समझ मे यह बात अनायास आ सकती है कि इस देश मे पूँजीवाद की जो यत्किंचित् गन्ध आ रही है, वह हमारे साम्राज्यवादी शासको की चलाई हुई हवा है। हमारे अँगरेज़ शासक अभी ब्रिटिश पूँजीपतियो के सकेत पर घर-बाहर सभी जगह अपनी व्यावसायिक शोषण-क्रिया चला रहे है। उन्होने इस देश के ज़मीदारो, राजाओ, महाराजाओ तथा इतर सेठ-साहूकारो और रोज़गारियो को अपनी शोषण-नीति का समर्थक बना कर अपने चारो ओर इकट्ठा कर लिया है। इन्ही लोगो की बदौलत विदेशियो की पूँजीवादी अर्थ-नीति यहाँ सफल हो रही है। लेकिन यथार्थ में इन लोगो की अवस्था चिमनी के उस काँच के समान है जिसके मध्य स्थित

प्रकाश के बुझ जाने पर उसकी स्वय निजी चमक-दमक कुछ भी नहीं रह जाती और जो अँधेरे में अदृश्य हो जाता है। हिन्दुस्थानी सेठ-साहूकारों की अधिकाश में यह हालत है कि पचास हज़ार की बुनियाद पर वे लाखो का रोजगार करते है और टोटे के एक ही ठोकर से अर्थ-सकट में पडकर मूर्च्छित हो जाते हैं। फिर उनमें उठने की ताक़त नहीं रह जाती। हमारे व्यवसायी अधिकाश में उत्पादक नहीं, कोरे दलाल हैं। विदेश के बने हुए माल खरीदकर अपने देश में मुनाफ़े के साथ बेचना ही इनका व्यवसाय-धर्म है। दलाली से कोई आदमी चैन से खा-पी भले ही ले और दलाली का काम भी चला सके, लेकिन वह उत्पादक यत्रो के मालिको के समान पूँजीवान हरगिज़ नहीं हो सकता। छोटे-छोटे मालगुज़ारों को पूँजीपति कहना उपहासास्पद होगा। वे बिचारे तो किसानो से लगान वसूल करनेवाले सरकारी दारोग़ा-मात्र है, जो अपने जीवन को सन्देह स्थल में डालकर अपनी गुज़र-बसर कर रहे हैं। बड़े बड़े जमींदारों की भी करीब क़रीब वही हालत है। उनके पास साल-ब-साल ग़रीब काश्तकारो-से जो वसूली आती है, वही उनकी यथार्थ पूँजी है जो साल के आखिर तक खर्च भी हो जाती है। राजाओं-महाराजाओ के पास कुछ पहले के पड़े हुए या जड़े हुए बेशक़ीमती-पत्थर भले ही हो, लेकिन प्रजा-दत्त वार्षिक आय के सिवाय उनके पास द्रव्योपार्जन के कोई साधन ही नहीं है। अब रहे मिल तथा कल-कारखानो के मालिक, सो इस देश में ऐसे कितने लोग है? दाल में नमक के बराबर भी नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दुस्थान की पूँजी लुट चुकी है। इस समय इस देश में न तो पूँजी प्राप्त करने के यथार्थ साधन है, न पूँजी है न पूँजीपति ही है; सारा देश ग़रीब क़ुली-किसानों का एक सतप्त समुदाय है; सभी एक समान पूँजीवाद-उत्प्राणित साम्राज्यवाद के शिकार हैं।

इसके सिवाय हमे यह भी विचारना चाहिए कि इस देश में पाश्चात्य व्यवसाय-प्रणाली की अभी पर्याप्त वृद्धि ही नहीं हो पाई है। यहाँ कल-

कारखानो में काम करनेवाले मज़दूरो की जो सख्या है, वह बहुत ही थोडी है। देश के अस्सी फी सदी लोग ऐसे हैं जो देहात में रहकर काश्त करते हैं । अतएव यहाँ का कोई भी आन्दोलन जो सार्वभौमिक हो सकता है वह किसानो के हित-साधक प्रश्नो को लेकर ही खडा हो सकता है। यदि वर्तमान शासन-प्रणाली में हम यथोचित परिवर्तन कर दे और उसके अनुसार प्रत्येक वय प्राप्त मनुष्य मत देने का अधिकारी हो जावे, तो कहना न होगा कि कुली-किसानो के प्रतिनिधियो की सख्या ही हमारी कौसिलो मे सबसे अधिक होगी। ऐसी हालत मे इस देश के किसान केवल वैध उपायो के द्वारा ही अपना श्रेय-साधन कर सकते है। खून-खराबी तथा मारपीट की जरूरत ही क्या ? इसके सिवाय हमारे भारतीय कृषको के जन्म-गत सस्कार भी पश्चिमी क्रान्ति के अनुकूल नही है। भौतिक जीवन मे उनकी आस्था उतनी तीव्र भी नही है जितनी कि एक क्रान्तिकारी प्रयत्न के लिए चाहिए। यहाँ कुली-किसानो मे सगठन नही, शिक्षा-दीक्षा भी नही, उनके पास शस्त्र भी नहीं, यथार्थ मे न तो यहाँ पाश्चात्य देशो के समान वर्ग हैं न वर्ग-भावना है, न फिर वर्ग-कलह ही है। यहाँ केवल एक ही वर्ग है और वह है दरिद्र और परतन्त्र हिन्दुस्थानियो का।

लेकिन साम्यवादी क्रान्ति के इन साधनो के अभाव से हमें कोई मतलब नही, हम तो यह कहना चाहते है कि हिन्दुस्थान को क्रान्तिकारी साधन तो चाहिए ही नही, पश्चिम साम्यवाद भी उसकी दृष्टि मे अनिष्ट है। उसे महात्मा जी के अध्यात्म-मूलक श्रम-विभाग-प्रधान समन्वय-वाद की जरूरत है। यही उसके सस्कार और जीवनादर्श के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था होगी। इसी मे भारतीय जनता का भौतिक, नैतिक, तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष सिद्ध हो सकेगा। इस बात को समझनेवाले राष्ट्रीय नेताओ मे गाधी जी का स्थान अग्रगण्य है। भारतीय प्रतिभा के वे मूर्तिमान् अवतार है। इस कारण भारतीय हृदय की प्रत्येक तन्त्री उन्हे दिखाई दे रही है। वे अच्छी तरह समझते है कि इस देश के जन-समाज

में साम्यावस्था की आवश्यकता है। देश की व्यापक दरिद्रता का जितना उन्हे ज्ञान है, उतना शायद ही किसी को हो। उसे दूर करने के प्रयत्न में ही वे लगे हुए है। वे बिलकुल नही चाहते कि देश की पूंजी दो-चार हाथो मे इकट्ठी हो जावे। इसी कारण वे ग्राम-उद्योग-सघ की योजना में मनसा, वाचा, कर्मणा लगे हुए हैं। वे दरिद्रो के सच्चे से सच्चे हामी है। उनके समान इस पृथ्वी पर शायद ही कोई यथार्थ साम्यवादी हो। लेकिन फिर भी वे अपने को साम्यवादी घोषित करना नहीं चाहते, क्योकि वे समझते है कि पश्चिमी साम्यवाद की विचार-सगति, सम्पादन-विधि तथा उसके आदर्श ऐसे हैं जो भारतीय सभ्यता, आवश्यकता तथा आदर्श के अनुरूप नहीं है।

हम पहले कह चुके है कि पाश्चात्य साम्यवादी श्रमजीवियो की अनियन्त्रित सत्ता को समाज की आदर्श अवस्था नही मानते। वे समझते है कि श्रमजीवी-शासन के द्वारा आगे चलकर एक ऐसी शासन-रहित समाज-व्यवस्था स्थापित हो सकेगी कि जिसमें प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छानुसार काम करके अपने लिए समाज से आवश्यक भोजन प्राप्त कर सकेगा। लोगो पर किसी प्रकार के नियत्रण की आवश्यकता ही न रह जावेगी। न तो कोई शासक होगा, न शासित वर्ग। इस धारणा के लिए लेनिन की दलील सुनने लायक है। वह कहता है कि जब जन-समाज में वर्ग-विभाग होकर दो दल हो जाते है और उनमें स्वार्थ-विरोध उत्पन्न हो जाता है तो अपने को वर्ग-कलह के कष्टो से सुरक्षित रखने के लिए समाज ही 'सरकार' नाम की एक सस्था का निर्माण करता है। सरकार का अस्तित्व ही इस बात का सबूत है कि समाज दो वर्गो में विभक्त हो चुका है। अतएव लेनिन की दलील है कि समाज में वर्गो के नाश होते ही सरकार-सस्था आप ही नष्ट हो जाती है। रशियन क्रान्तिकारी के इस तर्क में हमें ऐतिहासिक तथ्य नही दिखाई देता। शासन-सस्था का सूत्रपात तो उस जमाने से हो चुका है जब कि एक ही कुटुम्ब-परिवार के लोग अपने बडे-बूढो (Patriarchs) के

अनुशासन में रहा करते थे। वर्ग-कलह जिस रूप मे आज विद्यमान है, वह कोई बहुत पुराना नही है । यत्र-युग के पहले जब घरेलू उद्योग-धधे प्रचलित थे, समाज में आज के समान श्रीमान् और गरीबो का वर्गीकरण ही नही था। फिर भी समाज की कुत्सित मनोवृत्तियो को नियत्रित रखने के लिए उन दिनो में भी किसी न किसी रूप मे शासक तो थे ही। ठीक उसी प्रकार वर्तमान वर्ग-कलह के उठ जाने के बाद भी समाज को शासन-सस्था की आवश्यकता रहेगी, क्योकि व्यक्तियो का कलह तो बना ही रहेगा। दुष्ट प्रकृति के दुराचारी लोगो से जन-साधारण के जान-माल की रक्षा करनी ही पड़ेगी। अतएव कोई भी समझदार आदमी इस बात को स्वीकार नही कर सकता कि सुदूर भविष्य में भी शासन-रहित समाज-व्यवस्था कभी सम्भव हो सकेगी। बहुत सम्भव है कि नैतिक दृष्टि से देखनेवाले महात्मा जी को भी यही आदर्श पसन्द हो। यदि हमारी स्मृति हमें धोखा न देती हो, तो हम कह सकते है कि उन्होने भी कुछ प्रसगो पर कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। सभी सरकारें अन्ततोगत्वा पशुबल से ही सचालित होती हैं। अतएव हिंसामूलक शासन-पद्धति वस्तु-स्थिति भले ही हो, वह समाज की आदर्श अवस्था नही मानी जा सकती। सम्भवत कुछ ऐसी ही तर्क-सरणी के आधार पर महात्मा जी भी शासन-रहित स्वतत्र सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करते हो। ऐसे आदर्श के विरुद्ध किसी को कुछ भी शिकायत नही हो सकती। परन्तु साथ साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि यह केवल आदर्श ही है और हमेशा बना रहेगा। जिस दिन किसी जन-समाज के किसी एक भी व्यक्ति में एक भी दोष न रह जायगा, उस दिन ऐसी व्यवस्था शायद सम्भव हो! शायद हम इसलिए कहते हैं कि इतर जातियो से आक्रमण का भय तब भी तो बना ही रहेगा। हाँ, समूची पृथ्वी यदि केवल आत्म-शासित सज्जनो से आबाद हो जावे, तब कही यह आदर्शो का आदर्श जाकर पूरा हो। उस दिन तो जीवन की सारी समस्या ही हल हो जावेगी।

गांधी जी के जीवन तथा सिद्धान्त की प्रस्तुत मीमांसा में साम्यवाद पर इससे अधिक और कुछ लिखने की आवश्यकता हमें नहीं प्रतीत होती। अन्त में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि कार्ल मार्क्स-प्रतिपादित अर्थ-सिद्धान्त को 'साम्यवाद' के नाम से पुकारना भ्रमात्मक है। हाथ या अंगूठा शरीर का अंग जरूर है परन्तु वह शरीर नहीं हो सकता। केवल अर्थ-साम्य से दो मनुष्य समान नहीं हो जाते। फिर भी वह भौतिक विषमता को दूर जरूर कर सकता है। मार्क्सवाद केवल साम्पत्तिक सिद्धान्त है। समाज की सम्पत्ति समाज ही के अधिकार में रहे और प्रत्येक व्यक्ति उसका उपभोग आवश्यकतानुसार कर सके इतना ही तो उसका निचोड़ है। अतएव इस सिद्धान्त को 'साम्यवाद' का व्यापक नाम न देकर 'साम्पत्तिक समाज-सत्तावाद' कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाम जरा लम्बा पड़ता है फिर भी अर्थ ठीक देता है। केवल समय और उच्चारण के सुभीते के लिए ही हम शब्दों का दुरुपयोग नहीं कर सकते।

महात्मा गांधी, कार्ल मार्क्स-प्रतिपादित आशय से बहुत अधिक व्यापक अर्थ मे साम्यवादी हैं। वे मानव-जीवन को सर्वांगीण-भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं। वे समझते हैं कि नैतिक तथा आध्यात्मिक मंच पर ही मनुष्यों की यथार्थ साम्यावस्था स्थापित हो सकती है। साम्पत्तिक समता उसकी सहायक है, अतएव वह भी वाञ्छनीय है। परन्तु समता का अर्थ यदि यह माना जावे कि प्रत्येक मनुष्य दूसरे के बिलकुल बराबर हो, तो भी यह ठीक नहीं। समता का आशय 'सम-भावना' समझना चाहिए। यह भावना जन-समाज के भिन्न-भिन्न श्रम-विभागों में सामञ्जस्य स्थापित करने से आप ही आप उत्पन्न हो जाती है। महात्मा जी इसी अर्थ में साम्यवादी हैं। उनका साम्यवाद यथार्थ में समन्वयवाद है। साम्यवाद का यही सच्चा और स्थायी रूप भी है। गांधी जी इसी रूप के उपासक हैं, क्योंकि विषम संसार के समन्वय में ही सत्य-ब्रह्म की झांकी दृष्टिगोचर हो सकती है।

अध्याय २८

लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी

दो महापुरुषो की तुलना करना वडा नाजुक काम है। हमारी वुद्धि की तराजू इतनी सूक्ष्म नही है कि ऐसे वडे वडे दिग्गजो को उसके पल्लो मे विठाकर हम निश्चय-पूर्वक यह निर्णय कर सके कि कौन हलका और कौन भारी है। फिर भी लोकमान्य और महात्मा जी की मानसिक रचनाओ मे कुछ ऐसी निजी विशेपतायें पाई जाती है कि उन्हे तुलनात्मक दृष्टि से देखने का लोभ-सवरण करना हमारे लिए कठिन हो रहा है। दो वस्तुओ मे अन्तर और समानता ढूंढना वुद्धि का सहज स्वाभाविक व्यापार ही है। यथार्थ मे तुलनात्मक निरीक्षण ज्ञान-सम्पादन करने का एक मुख्य सावन है। दो पदार्थो के वीच समता और भेद का ज्ञान यदि हमें न हो, तो दोनो मे से किसी की भी तासीर हमारी समझ में नही आ सकती। अतएव लोकमान्य और महात्मा जी दोनो के माहात्म्य-रहस्य को ठीक-ठीक समझने के लिए दोनो की योग्यता, वुद्धि-वैभव तथा दृष्टिकोण पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रकरण में हम कुछ ऐसा ही प्रयत्न करना चाहते है। क्षमाशील पाठक हमारी इस ढिठाई पर विशेप ध्यान न दे।

लोकमान्य वालगगाधर तिलक इस देश के वडे ओजस्वी नेता हो गये हैं। केसरी के मुखपृष्ठ पर उनका पसन्द किया हुआ सस्कृत का प्राचीन श्लोक जिन्होने ध्यान-पूर्वक पढा होगा, उन्हे यह वताने की आवश्यकता नही है कि उस रचना में लोकमान्य के निर्भय आत्म-विश्वास का कैसा सच्चा प्रतिविम्व दृष्टिगोचर होता है। पाठक उस रचना के अर्थ-गौरव पर जरा विचार करें—

स्थिति नो रे दध्या क्षणमपि मदान्धेक्षणसखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलाया वन-भुवि ।
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा-
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ॥

"रे उन्मत्त हाथी तू कुछ काल तक अपना उत्पात मचा ले, परन्तु सावधान रहना, देखना कि तेरे ही धोखे में पर्वत की विशालकाय, सुदृढ़ और काली काली चट्टानो को अपने नख-प्रहार से विदीर्ण करके वह अरण्याधिपति केसरी सो रहा है। जब तक वह निद्रामग्न है, तभी तक तेरी खैरियत है।"

इसमें सदेह नही कि इस रचना में हिन्दुत्व के इतिहास-प्रसिद्ध सरक्षक महाराष्ट्र-कुल के उस नर-केसरी का मानसिक प्रतिबिम्ब पूरा-पूरा पड़ा हुआ है। हमारी राष्ट्रीय जागृति की प्रारंभिक अवस्था में जब उदार दलवाले राजनीतिज्ञ स्वराज की भिक्षा माँग रहे थे, उस समय भिक्षा-पात्र को ठुकरा कर भारत-माता के इस वीर लाड़ले ने अकुतोभय होकर कहा था —"स्वराज मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर ही छोड़ूँगा।"

इस नकल्प में राष्ट्र-भावना अपनी दुर्लभ सीमा को पहुँच चुकी है। वह मनुष्यत्व की निर्भय माँग है। उसमें याचना की बू-बास भी नहीं। भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में प्रार्थना-युग के अन्त करनेवाले और निर्भय राष्ट्रीयता के जन्मदाता लोकमान्य तिलक के ये अमरवाक्य आज भी हमारे कानो में गूंज रहे हैं; तन, मन और प्राणो में समाकर भारत के नौजवानो को बेचैन कर रहे है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सबसे पहले भारतीय राष्ट्रीयता की बेख़ौफ़ आवाज लोकमान्य के मुँह से निकली। जिस समय भारत की जनता परतन्त्रता की मोहमयी चद्दर तानकर नदियो की नींद मे निमग्न थी, उस समय हिन्दुस्थान की तग, टेढी-मेढी साम्प्रदायिक गलियो में गश्त लगाते

हुए "सोनेवालो, जागो" कह कर सोते हुए जन-समाज को जाग्रत करने-वाला महाराष्ट्र का यह पुरुष-रत्न ही था। इस प्रकार निर्भय राष्ट्रीयता के आदि प्रवर्त्तक लोकमान्य ने प्रसुप्त भारत को जगाया। महात्मा गाधी ने उस जाग्रत जन-समाज को कटिबद्ध किया। इस देश के राष्ट्रीय जीवन मे इन दो महापुरुषो का यही वैयक्तिक महत्त्व है। दोनो का अन्तर हम देख सकते हैं, पर यह नही कह सकते कि किसका महत्व किसमे अधिक है। सोते हुए को जगाना उतना ही कठिन और महत्त्वपूर्ण काम है, जितना कि जागते हुए को कटिबद्ध करना। अतएव प्रारम्भ ही मे हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते है कि हिन्दुस्थान के इन दो लोक-नायक नेताओ के सम्बन्ध मे यह निश्चय करने का प्रयत्न करना कि कोन छोटा और कोन बडा है, निरी मूर्खता होगी। इस प्रकरण में हमारा ऐसा कुछ भी उद्देश्य नहीं है। हम तो केवल उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताओ का सक्षिप्त दिग्दर्शन-मात्र करना चाहते हैं।

अपने अपने ढग पर दोनो महान् हैं। परमेश्वर की विभूतियाँ सर्वत्र और सर्वदा एक ही रूप मे प्रकट नहीं होतीं। उसके अगणित प्रकार हैं। भगवद्गीता मे योगेश्वर कृष्ण-कथित विभूति-वर्णन जिन्होंने ध्यान-पूर्वक पढा होगा, उन्हे यह बताने की जरूरत नहीं है कि प्रत्येक मानवी गुण के उत्कर्ष मे परमात्मा का ही निवास है। यो तो उसका कोई रूप नहीं, वह नाम-रूपात्मक ससार से बिलकुल परे है। परन्तु फिर भी वह परमात्मा ऐसा बहुरूपिया है कि अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए वह न जाने कितने रूप धारण किया करता है। दलित जनता के आर्तनाद मे उसी की ध्वनि सुनाई देती है। फिर भी दमन करनेवाले का दण्ड भी वही है। 'दण्डो दमयतामस्मि।' विजित जन-समाज की सगठित सघ-शक्ति में उसी का स्नेहाकर्षण विद्यमान है। फिर भी नेताओ की कूटनीति का कुटिल मन्त्री भी वही है। 'नीतिरस्मि जिगीषिताम्।' श्रीमानो के रत्न-कोष मे, और भिखारी के भिक्षापात्र में, सुखी प्राणियो की हर्ष-ध्वनि में और सतप्त जन-समाज के तप्त निश्वासो मे उसका आविर्भाव एक समान

दृष्टिगोचर होता है। उनकी विभूतियाँ अनन्य है और सभी एक से एक बढकर प्यारी, दर्शनीय और वन्दनीय हैं।

एक बार लोकमान्य से किसी ने पूछा था कि स्वराज प्राप्त हो जाने के बाद आप अपना जीवन किस तरह व्यतीत करेंगे। उन्होंने जवाब दिया कि भारतीय जन-समाज के हाथ में स्वराज-शासन का उत्तरदायित्व सौंपकर मैं किसी कालेज में गणित का प्रोफेसर हो जाऊँगा, यही जीवन मुझे पसन्द होगा। लोकमान्य के इस उत्तर में उनकी आन्तरिक मन:-प्रवृत्ति की प्रतिच्छाया प्रकट रूप से दिखाई देती है। जन्म-सिद्ध स्वभाव तथा संस्कारों से वे विद्या-व्यसनी अन्वेषणशील और मौलिक विचार-सम्पन्न विद्वान् थे। उनके लिखे हुए ग्रन्थ विचार-साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में भी अग्रगण्य है। उनमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न करने का विलक्षण सामर्थ्य है। 'आर्कटिक् होम्स इन दि वेदाज' लिखकर उन्होंने आर्यों के आदि निवास के सम्बन्ध मे एक ऐसा मौलिक और प्रामाणिक आविष्कार कर दिया है कि इतिहासज्ञो की विचारधारा ही बदल गई है। मध्य एशिया को आर्यों का आदिम निवास माननेवाले विद्वान् आँखे फाड कर इस ग्रन्थ को देखते है, वैदिक प्रमाणो पर मनोनिवेश-पूर्वक विचार करते है और लोकमान्य की प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी पर मुग्ध होकर उसको मन ही मन प्रणाम कर लेते है।

संसार के विचार-साहित्य मे भगवद्गीता एक अद्वितीय ग्रन्थ है। उलझी हुई जीवन-समस्या को जिस खूबी से योगेश्वर कृष्ण के इस समर-संगीत ने सुलझाया है, वह अन्यत्र कही मिलने की नही। इसमें सन्देह नही कि गीता इस दुनिया में बे-जोड आचरण-शास्त्र हैं। कर्मशील खटपटिया संसार और शान्तिपूर्ण, निश्चल मोक्ष का स्नेहालिङ्गन इस ग्रन्थ में देखते ही बनता है। उसकी यह विशेषता नीतिशास्त्र के विद्वानो को हमेशा से मुग्ध करती आई है। आज भी विदेशी समीक्षको के लिए उसकी तर्कशील विचार-सरणी और गम्भीर गवेषणा महान् आश्चर्य और आदर की वस्तु हो रही हैं। भारतीय धर्म-साहित्य में गीता की प्रतिष्ठा

इतनी बढी-चढी है कि सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक जितने आचार्य इस देश मे हुए, उनमें से प्राय सभी ने अपने-अपने सिद्धान्त-समर्थन में इस ग्रन्थ को प्रामाणिक माना है और उस पर अपना-अपना भाष्य भी लिखा है। परिणाम यह हुआ कि आज गीता के भिन्न-भिन्न आशय निकालनेवाले कई ग्रन्थ विद्यमान है। फिर भी इस अपूर्व ग्रन्थ-रत्न का मौलिक, तर्क-सिद्ध और प्रामाणिक भाष्य बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे ही लिखा गया और उसका लेखक मण्डाले जेल मे बन्द होकर बैठनेवाला एक वीर, ब्रह्म-निष्ठ तथा विद्वान् ब्राह्मण था और वह उस प्रान्त का निवासी था, जहाँ हिन्दुत्व के प्राण अपने गये-गुज़रे दिनो मे सिमट कर बच रहे थे और इसी कारण जहाँ के निवासी यथोचित स्वाभिमान के साथ अपने को 'महाराष्ट्र' कहते है। गीता के इस अपूर्व भाष्य का लेखक इसी महाराष्ट्र का महान् तपस्वी था और उसे लोकमान्य बालगगाधर तिलक के प्रात स्मरणीय नाम से लोग पुकारते हैं।

लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य मे जो कर्म-योग-प्रतिपादक दलीले दी है, उनके सामने सभी आचार्यो के तर्क फीके पड जाते है। पूर्वी और पश्चिमी तत्त्व-ज्ञान का ऐसा सुन्दर निचोड इस भाष्य मे विद्यमान है और उसकी विचार-सरणी इतनी वैज्ञानिक है कि समझदार पाठको की बुद्धि मुक्तकठ होकर अन्त मे कह देती है कि "लोकमान्य का गीता-रहस्य गीता का यथार्थ रहस्य दिखाता है।" हम सरीखे साधारण लोगो की समझ में यह बात अभी तक नही आई कि अपने कर्मशील सार्वजनिक जीवन मे उन्होने पठन-पाठन और मनन के लिए इतना अवकाश ही कब निकाला। गीता-रहस्य की बृहत् काया मे न जाने कितने बडे बडे पूर्वी और पश्चिमी ग्रन्थो के प्रमाण अपने अपने स्थानो पर जडे हुए है। इतने व्यापक और गम्भीर ग्रथाभ्यास के लिए लोकमान्य को समय ही कब मिला? केसरी और मराठा का दुर्वह सम्पादन-भार, राजनैतिक आन्दोलन का क्षुब्ध जीवन और हमेशा का देश-व्यापी दौरा—यानी आठो प्रहर और बारहो महीने की इस अविराम दौड-धूप और चहल-

पहल मे गीता और आर्यो के आदिम निवास पर विचार करने की गुंजाइश ही कहाँ ? इन प्रश्नो का एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि लोकमान्य एक जन्म-सिद्ध विद्वान् थे। अध्यात्मवादी भारत का पूर्वार्जित बुद्धि-वैभव उनके विलक्षण मस्तिष्क में विलास कर रहा था। वे भारतीय मनन-शीलता के अवतार थे। उनके प्रशस्तभाल पर शारदा का वरद हस्त विद्यमान था। देवी सरस्वती की इस कृपा के साथ ब्रिटिश सत्ता की अप्रसन्नता का मेल हुआ और दोनो शक्तियो के सहयोग ने गीता-रहस्य को जन्म दिया। छ वर्ष का कठिन कारागार लोकमान्य के देशबन्धुओ को उस समय असह्य प्रतीत हुआ। परन्तु आज प्रतीत होता है कि अकर्मण्य और उद्भ्रान्त ससार के लिए वह आशीर्वाद था। न लोकमान्य का मण्डाले जेल मे निवास होता, न गीता का वह अप्रतिम भाष्य लिखा जाता। महापुरुषो के कष्ट जन-समाज के लिए कल्याणकारी होते है।

महात्मा गाधी से कदाचित् अभी तक किसी ने यह नही पूछा कि यदि उनके जीवन-काल मे ही देश को स्वराज्य मिल जावे, तो वे अपने शेष दिन किस प्रकार व्यतीत करेंगे। ऐसी हालत मे यह कहना जरा कठिन है कि वे इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे। फिर भी उनके स्वभाव-सस्कार के आधार पर कुछ अनुमान करने का दुस्साहस हम करेंगे। सभवत वे यह कहे कि मैं दस-बीस कोढियो को जमा करके उनकी सेवा-शुश्रूषा में ही अपने जीवन के शेष दिन बिताऊँगा। ऐसी आकाक्षा उनकी जन्मसिद्ध सेवा-भावना के अनुकूल होगी। महात्मा जी को लोक-सेवा का शौक है। उनके जीवन का एकमात्र ध्येय है, "कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम्।" दक्षिण-आफ्रिका में वकालत करते हुए भी वे अस्पताल में नर्स का काम किया करते थे। 'लोकसेवा' शीर्षक प्रकरण में हम यह बता चुके हैं कि किस तरह उन्होंने एक कोढी को सेवा करने की इच्छा से अपने घर ही मे टिका लिया था। हरिजनो की हीनता पर उन्हे जो इतना तरस आता है, वह उनकी अलौकिक सहृदयता का ही परिचायक है। उडीसा के नर-ककालो के लिए जो वे गाँव-गाँव पैदल

फिरा करते है, उसकी प्रेरणा देनेवाला उनका करुणा-पूर्ण हृदय ही है। साराश यह कि महात्मा जी सद्भावनाओ के स्वामी है। उनका जीवन हृदय-प्रधान है और उनकी कर्मशीलता सहृदयता-मूलक है।

भारत की राष्ट्रात्मा तिलक और गाधी दोनो के जीवन मे अवतीर्ण होकर वर्तमान सदी मे अपना स्वत्व स्थापित कर गई। लोकमान्य के द्वारा उसने अपना बुद्धि-वैभव दिखाकर ससार को प्रभावित किया और महात्मा जी के सेवामय जीवन मे उसने अपनी अलौकिक हृदय-सम्पत्ति का परिचय दिया। एक भारत का मस्तिष्क है, दूसरा हृदय है। दोनो के सम्मिलित व्यक्तित्व से हमारे विराट् राष्ट्रीय पुरुष की रचना पूर्ण हो जाती है। पाठक हमारे इस कथन का यह आशय न निकालें कि तिलक के चरित्र मे हृदय का योग नहो अथवा गाधी के मतव्यो में बुद्धि का मेल नहो। हृदय और बुद्धि का सहयोग दोनो के आचरण मे दृष्टिगत होता है। अन्तर इतना ही है कि एक का जीवन बुद्धि-प्रधान है और दूसरे का हृदय-प्रधान है। एक की बुद्धि इतनी पैनी और सूक्ष्मदर्शी है, अपनी व्यावहारिकता मे इतनी चुस्त व चालाक है कि वह एक नजर मे दूसरो के अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाती है। वह कभी धोखा खा ही नहो सकती। दूसरे का हृदय इतना सरल और सद्भावनामय है कि उसे सभी अच्छे नजर आते है। वह अपने अपकारो के भी आँसू पोछता है। इस कारण कुटिल ससार से वह धोखा भी खा जाता है। लोकमान्य का हृदय उनकी बुद्धि से शासित होता था। महात्मा जी की बुद्धि पर उनके हृदय का शासन है। इन दोनो महापुरुषो की मानसिक रचनाओ में यही एक महत्त्वशाली अन्तर हमे दिखाई देता है, पाठक जैसा कुछ समझें।

यदि इन दोनो सत्पुरुषो का जन्म किसी स्वतत्र देश मे हुआ होता, तो लोकमान्य किसी विद्यापीठ के मननशील अध्यापक होते और गाधी जी किसी सेवा-श्रम के अधिष्ठाता। परन्तु हमारी राष्ट्रीय पराधीनता की वर्तमान परिस्थिति ने दोनो को राजनैतिक क्षेत्र में खीच लिया। इस क्षेत्र मे पडकर सरकारी अकृपा के

प्राप्त होते दोनो में से किसी को भी देर न लगी। विदेशी सत्ता का जो विष-वृक्ष इस देश मे आरोपित हो चुका है, उसे छिन्न-मूल करने मे दोनो ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। बन्दी-जीवन दोनो के हिस्से में आया। जन-समाज की बडी से बडी सेवा दोनो से बन्दी-जीवन में ही बन पडी। एक ने अपनी बहुश्रुत और पारदर्शी बुद्धि की बदौलत ससार को गीता का रहस्य सुझाया। दूसरे ने आमरण उपवास का सकल्प करके अपने सौहार्द के सहारे हिन्दू-समाज को क्षत-विक्षत होने से बचा लिया। भारतीय जनता की श्रद्धा से दोनो समर्थित है। नि स्वार्थ लोक-सेवा में ही दोनो की लगन है और त्याग ही दोनो के सार्वजनिक जीवन का मूलाधार है। तात्पर्य यह कि कर्मयोगी जीवन दोनो महापुरुषो का है। परन्तु लोकमान्य का कर्मयोग ज्ञान-मूलक है और महात्मा जी का कर्मयोग भक्ति-प्रधान है। एक ज्ञानी है, दूसरा भक्त है। जीवन-सग्राम में स्फूर्ति देनेवाली गीता ही दोनो के लिए वीरप्रसू माता के समान है। दोनो बडे सिद्धान्ती है। परन्तु लोकमान्य यथार्थवादी आत्मदर्शी है और महात्मा जी आदर्श सत्य के आराधक है। साराश यह कि दोनो महान् है, पर एक हिमालय के समान गगनभेदी है और दूसरा प्रशान्त महासागर के समान व्यापक और गभीर है। एक सूर्य के समान प्रखर, तेजस्वी और प्राणदाता है, तो दूसरा चन्द्रमा के समान शान्त, सुखद और सतोगुणी उन्माद का प्रवर्तक है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद में जितना भेद हो सकता है उतना अन्तर इन लोकनायको मे जरूर है। कहते है कि एक बार किसी हिन्दू नवयुवक ने लोकमान्य से पूछा कि महाराज! मै देश-सेवा का इच्छुक हूँ, कहिए, मैं कौन-सा काम करूँ? इस पर लोकमान्य ने कहा "भारत के नौजवान, तुम्हारे सामने देश-सेवा का बहुत व्यापक क्षेत्र पडा हुआ है। इस क्षेत्र के एक छोर में स्वराज के लिए अर्जी पेश करनेवालो की मण्डली है और दूसरे छोर में फाँसी पर हँसते-हँसते भूल जानेवाले नवयुवको की टोली है। और इन दोनो सीमान्तो के बीच में अनन्त प्रकार के सेवा-कार्य है। अपनी शक्तियो को अच्छी तरह तौल लो और इतने कार्यों में जो

तुम्हारे सामर्थ्य के भीतर हो, उसे फौरन स्वीकार कर लो और अपने काम मे कधा लगाकर भिड जाओ ।" लोकमान्य के इस उपदेश मे यथार्थ-वादी दृष्टिकोण का परिचय खूब मिलता है । लोगो की कमजोरियो का उन्हे खासा ज्ञान था । वे अपने अनुगामियो से सिर्फ एक ही कदम आगे रहना पसन्द करते थे । वे समझते थे कि भारत के समान परतत्र देश के लिए स्वराज ही परम से परम सत्य है, उसे कल्पित अथवा कल्पना-तीत निर्वाध सत्य का आधार नही चाहिए । भूत-दया, अहिंसा तथा विरोधियो से प्रेम का आध्यात्मिक महत्त्व वे खूब समझते थे, परन्तु साथ साथ यह भी समझने थे कि जो लोग अभी साम्प्रदायिकता के पक मे पडे हुए है और जो देश-प्रेम ही क्या चीज है नही जानते, उन्हे विश्व-प्रेम का पाठ पढाना एक उपहासजनक और विफल प्रयत्न होगा ।' अनधिकारियो पर बडे-बडे उपदेशो का परिणाम बहुधा बुरा होता है । हिंसा करने की जिसमे शक्ति ही नही, उसे अहिंसा का उपदेश देना व्यर्थ है । अतएव लोकमान्य ने जन-समाज की सार्वजनिक दृष्टि से ही इस देश की राष्ट्रीय समस्या पर विचार किया और हिंद-स्वराज को ही परम सत्य के रूप में देखा । इस व्यावहारिक और व्यवहार्य सत्य की वलिवेदी पर स्वधर्म और स्वत्व की रक्षा के लिए उन्होने सब कुछ अर्पित कर दिया । यथार्थ मे सत्य का अन्तिम और बडा से बडा स्वरूप हमारी वर्तमान अवस्था मे बिलकुल कल्पनातीत है । अतएव मनुष्य की प्रगति स्वामी रामतीर्थ के शब्दो मे छोटे सत्य (lower truth) से बडे सत्य (higher truth) की ओर होनी है । धार्मिक विकास का यही मार्ग है । यदि स्वराज हमारे लिए अन्तिम सत्य-दर्शन का साधक हो सकता है, तो अभी हम अपने लिए उसे पूर्ण आदर्श ही क्यो न मानलें ? इस ठोस और दृष्ट सत्य का समाराधन क्यो न करे, जिसकी बदौलत ही हम उस 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' सत्य-ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते है ? परतत्र जाति को परब्रह्म नही मिलता, अशक्त जन-समाज को अहिंसा नही शोभती । अनधिकारियो के सामने

ऊँचे-ऊँचे उपदेश अन्त सार-शून्य शब्दाडम्बर का रूप धारण कर लेते है, बुद्धि-भेद भी उत्पन्न होता है।

न बुद्धिभेद जनयेत् अज्ञाना कर्मसगिनाम् ।
योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरन् ॥

आतकित समाज की अहिंसा और पराधीन जाति का अध्यात्मवाद अनधिकारी पात्र को पाकर मानसिक व्याधि का रूप धारण कर लेते हैं।

एक बार स्वामी विवेकानन्द से उनके एक पूर्व-परिचित युवक ने आग्रह किया कि महाराज, आप तो जन-समाज के गुरु है, मुझे भी कुछ अच्छा-सा उपदेश दे जाइए। स्वामी जी इस बात को जानते थे कि जन्म से ही उस आदमी की बुद्धि बहुत कोती थी और लोग इसी कारण उससे हँसी-मजाक किया करते थे। इसी परिचय के आधार पर स्वामी जी ने कहा "प्यारे भाई, फिलहाल अच्छे से अच्छा उपदेश तो मै तुम्हे यही दे सकता हूँ कि जरा रात को निकला करो और चोरी करना सीखो।" स्वामी जी के इस उत्तर मे एक महत्त्व-पूर्ण आशय है। भोदू को ब्रह्म-ज्ञान कैसा ? उसे तो पहले चट और चालाक होना चाहिए। विकास का यही राजमार्ग है। लोकमान्य तिलक इसी सार्वजनिक राज-पथ से जन-समाज को ले जाना चाहते थे। यही उनके नेतृत्व की विशेषता थी। व्यवहारवादी राजनीतिज्ञो के वे शिरोमणि थे। विशुद्ध आदर्शवाद के अटपटेपन से उन्होंने अपने सिद्धान्त और कार्यक्रम दोनो को मुक्त रखा। इसी कारण से उनकी बातें लोगो की समझ में अच्छी तरह आ जाती थी। उनके सभी यथार्थवादी व्यवहार विवेक-मूलक तथा नीति-शास्त्रानुमोदित थे। यथार्थ और आदर्श का सम्मिश्रण उन्होंने बिलकुल ठीक अनुपात में किया था। ऐसी ही चीज जन-समाज को सुग्राह्य हो सकती है। उससे कुपच का भय नही रह जाता। मानसिक अजीर्ण बुरी व्याधि होती है। लोकमान्य इससे जन-समाज को बचाना चाहते थे। इसी कारण व्यवहारवाद ही उनके सार्वजनिक जीवन का मूलाधार था।

लोकमान्य तिलक इस जीवन की समस्याओ को गीता-प्रतिपादित विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से देखा करते थे। जीवन उनके लिए कर्ममय था। सारय योग का कर्म-सन्यास उन्हे बिलकुल मान्य नही था। उनकी धारणा थी कि प्रकृति के साम्राज्य मे रहनेवाला प्राणी एक क्षण भी निष्कर्म नही रह सकता। मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वार्थ से प्रेरित होकर चाहे कुटुम्ब और ससार को छोड दे और ऐसा मान ले कि मैने कर्मों का सन्यास कर दिया है, परन्तु कर्मों से वह सर्वथा मुक्त नही हो सकता। उसे कम से कम अपनी जीवन-रक्षा के लिए निर्जन अरण्य में भी कुछ न कुछ खटपट करनी ही पडेगी। जब अपनी प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य को कुछ न कुछ कर्म करना ही पडता है और वह कर्मों का यथार्थ और सम्पूर्ण सन्यास कर ही नही सकता, तो वह ससार ही क्यो छोडे? जो मनुष्य स्वार्थ-साधक कर्मों से अलग नही हो सकता, वह कौटुम्बिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यो मे पराडमुख क्यो हो? कर्म-सन्यास यदि मानव-जीवन का आदर्श माना जावे, तो ससार कैसे चले, लोक-सग्रह किस प्रकार सभव हो और सामाजिक उत्कर्ष किस तरह सम्पादित हो? अतएव कर्मों से मुँह मोडना न तो सभव है और न फिर वह उचित ही है। इसलिए प्रत्येक मोक्षकामी मनुष्य ससार ही मे रहे, निर्लिप्त मन से कौटुम्बिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन में सलग्न रहे और समाज के मोक्ष में ही अपना मोक्ष मानें।

इन्ही विचारो से प्रेरित होकर लोकमान्य ने अपने वैयक्तिक मोक्ष-साधन को विशेष महत्त्व कभी नही दिया, क्योकि वे जानते थे कि जो मनुष्य जन-समाज के सामुदायिक उत्कर्ष-साधन में लगा रहता है, उसका व्यक्तिगत मोक्ष आप ही आप सिद्ध होता है। समाज तथा राष्ट्र के समष्टिगत मोक्ष के साथ कर्तव्यनिष्ठ समाज-सेवक का व्यक्तिगत विकास अवश्यम्भावी है। अतएव उसके लिए स्वतन्त्र प्रयत्न और विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नही। इसी धारणा से प्रेरित होकर लोक-मान्य ने व्यावहारिक नीतिशास्त्र को ही सामाजिक आचरण का आधार

माना। इस शास्त्र के अनुसार प्रत्येक कर्म की नैतिक योग्यता कर्त्ता की बुद्धि पर ही अवलम्बित रहती है। अतएव कर्म स्वय भले या बुरे नहीं हो सकते। उनको प्रेरणा देनेवाली बुद्धि भली या बुरी होती है। जो मनुष्य लोक-सग्रह को लक्ष्य-पथ में रखता हुआ केवल कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रेरित होकर समबुद्धि तथा अनासक्त मन से कौटुम्बिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियों को पूरा करने में सलग्न रहता है, उसे अपने कर्मों के बाह्य रूप से झिझकने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे मनुष्य के लिए हिंसा भी कई प्रसगो पर धर्म का रूप धारण कर लेती है। कर्त्तव्यनिष्ठा में की गई हिंसा सर्वथा शास्त्र-सम्मत है। इसी कारण लोकमान्य कर्मों के बाह्य रूप को गौण मानते थे, कर्त्ता की बुद्धि ही उनकी दृष्टि में प्रधान थी। धर्माधर्म का निर्णय वे कर्त्ता की बुद्धि के आधार पर ही किया करते थे। यही गीता-प्रतिपादित कर्मयोग-सिद्धान्त है। लोकमान्य इसी सिद्धान्त के समर्थक थे।

महात्मा गाधी लोक-सेवक कर्मयोगी है सो सही, पर उन्होने लोक-सेवा को हमेशा अपने वैयक्तिक मोक्ष-साधन की दृष्टि से देखा है। इसी कारण वे सार्वजनिक प्रश्नो को भी मुमुक्षु की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से देखा करते है। उनके अखड आदर्शवाद का यही रहस्य है। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करनेवाला मनुष्य यदि नीतिशास्त्र-सम्मत, व्यावहारिक एव बुद्धिगम्य आचार-विचारो का प्रतिपादन न करे और अदृश्य एव कल्पनातीत सत्य की दुहाई बात बात में देने का आदी हो, तो लोगो को उसकी बातें हृदयङ्गम नहीं हो सकती। ऐसा आदर्शवादी सत्य-प्रेमी ससार में श्रद्धा का पात्र तो हो जाता है, परन्तु उसकी शिक्षा जन-समाज के लिए विशेष कारगर नही होती। विचार-भ्रान्ति भी फैल जाती है। महात्मा जी के अव्यावहारिक अध्यात्मवाद का एक उदाहरण लीजिए।

वे अक्सर कहा करते है कि बुरी शासन-प्रणाली से चाहे घृणा करो, पर उसके प्रवर्त्तको को प्रेम की दृष्टि से ही देखो। (Hate the

system, but not the man)। कम से कम वे अपने सम्बन्ध में तो कहा ही करते हैं कि मुझे अँगरेजो से कोई नफरत नही, नफरत है उनकी शासन-प्रणाली से। गाधी जी को इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आध्यात्मिक भावना का अनुभव होता हो, परन्तु नीतिशास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि से यह एक असम्भव मनोवृत्ति है। प्रणाली से घृणा और प्रवर्त्तक से प्रेम ! कर्म से नफरत और कर्त्ता के प्रति आदर-भाव ! ! प्रणाली तो जड है, वह स्वय अपने अस्तित्व के लिए जवाबदार नही। फिर वह कर्त्ता की बुद्धि से स्वतन्त्र कोई चीज़ ही नही है। प्रत्येक कर्म कर्त्ता की बुद्धि का भौतिक अनुवाद-मात्र होता है। यदि किसी शासन-प्रणाली में कही बुराई दृष्टि-गोचर होती है, तो उस बुराई की बुनियाद उन लोगो के मन मे है जिहोने अपनी बुरी मानसिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ऐसी कुत्सित प्रणाली की रचना की है। ऐसी दशा मे तिरस्कार का उपयुक्त पात्र वह मनुष्य ही हो सकता है जो उस प्रणाली का प्रवर्त्तक है। कर्म का दोष ही क्या है, दोषी है कर्त्ता। यदि कर्त्ता करनेवाले की आत्मा को मानें, सो भी ठीक नही, क्योकि आत्मा अकर्त्री है। कर्त्ता है मनुष्य, जो आत्मा तथा मन-बुद्धि-चित्त और अहकार के सयोग से बना है। प्रत्येक कर्म की बुराई मनुष्य मे ही रहती है। अतएव कर्मो का जवाबदार कर्त्ता मनुष्य ही होता है, उसके जड कर्म नही हो सकते। इसी लिए कहना पडता है कि तिरस्कार का पात्र प्रवर्त्तक मनुष्य है, प्रवर्तित प्रणाली नही हो सकती। यह तो मनोविज्ञान की दृष्टि से कभी सभव ही नही कि किसी की कार्र-वाइयो से हमें घृणा हो, पर वह हमारे प्रेम का सत्पात्र बना ही रहे। फिर भी महात्मा जी लोगो को ऐसा ही उपदेश देते हैं। यह अवैज्ञानिक आदर्शवाद का एक नमूना है। सिद्धान्त की बात तो यह है कि जब तक संसार में हमे बुराई दिखाई देती है, तब तक उसका दोषारोपण बुराई करनेवाले पर ही करना चाहिए। एक ऊँची से ऊँची दृष्टि और भी है जिससे जगत् में कोई बुराई ही नजर नही आती; भले-बुरे सभी शिव-रूप हो जाते हैं।

जिन्हे हम मनुष्य-हृदय के विकार कहते है, उनकी सृष्टि विधाता ने व्यर्थ नही की है। जीवन-सग्राम में उनका सदुपयोग बडा सहायक होता है। काम एक विकार है, पर सन्तानोत्पत्ति के लिए वह आवश्यक है। अन्याय का प्रतिकार और दुराचार का विरोध क्रोध के विना सभव नही। सग्रह-शीलता लोभ के विना कैसे आवे ? मर्यादित अहकार ही तो स्वाभिमान कहलाता है। मोह-ममता कौटुम्बिक और पारिवारिक सम्बद्धता का सीमेंट है। इस तरह पाठक देखेंगे कि काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह तमोगुणी प्रेरणा पाकर ही विकार का रूप धारण करते हैं और उसी हालत में वे सर्वथा त्याज्य है। सतोगुण और रजोगुण के सम्पर्क से जन-समाज के लिए वे वाञ्छनीय गुणो का रूप धारण कर लेते है। दुराचारियो के प्रति घृणा की भावना एक अत्यन्त उपादेय मानसिक अवस्था है और वह प्रत्येक योग्य नागरिक के हृदय में होनी ही चाहिए। यदि पराधीन राष्ट्र के हृदय में विजेता के प्रति तिरस्कार-भाव जाग्रत न हो, तो वह अपनी स्वतन्त्रता के पथ पर आरूढ ही नही हो सकता। दुराचारी के प्रति घृणा का होना आवश्यक है, उचित भी है। अपने पर अत्याचार करनेवाले के प्रति प्रेम करना दो-चार एकाकी महात्माओ के लिए शक्य हो, अध्यात्म-सम्मत भी हो; परन्तु जन-समाज ऐसे प्रेम का पथिक नही हो सकता। यदि भूल से लोगो को ऐसा उपदेश दिया भी जावे, तो उसका सत्परिणाम तो होता ही नही, प्रत्युत हानि होने की सम्भावना रहती है। इस तरह पाठक देखेंगे कि जिन्हे हम मानव-हृदय के विकार समझते है, उनका सदुपयोग भी है और जिन्हे हम मनुष्योचित गुण समझते है, उनका दुरुपयोग भी हो सकता है। इन्ही बातो को खूब सोच-समझकर सार्वजनिक शिक्षा का स्वरूप निश्चित करना चाहिए, ताकि जन-समाज में किसी तरह भ्रम न फैलने पावे।

महात्मा जी के अव्यावहारिक आदर्शवाद का दूसरा नमूना उनका ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचार है जिसकी विस्तृत चर्चा हम 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक प्रकरण में कर चुके हैं। तीसरा उदाहरण उनका अहिंसा-सिद्धान्त है।

इस नकारात्मक नैतिक उपदेश के इतने अधिक अपवाद हैं कि इसे सार्वजनिक शिक्षा के रूप में रखना सर्वथा अनुपयुक्त है। इस विषय की विस्तृत आलोचना हमने एक स्वतन्त्र अध्याय में की है, यहाँ पर इतना ही संकेत पर्याप्त होगा। इसी तरह का चौथा उदाहरण गांधी जी के द्वारा प्रतिपादित किया हुआ सामूहिक सत्याग्रह का स्वरूप है। इसकी भी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

उपर्युक्त विचारो से पाठक समझ सकेंगे कि लोकमान्य और महात्मा जी की राजनीति मे उतना ही अन्तर पड जाता है जितना व्यावहारिक यथार्थवाद और अव्यावहारिक आदर्शवाद के मध्य विद्यमान है। लोकमान्य की राजनीति नीति-सम्मत थी। नीति-शास्त्र व्यवहारवादी शास्त्र है। उसका निचोड न्याय है। न्याय-पालन मनुष्य का सामाजिक और वैयक्तिक धर्म है। इस धर्म के पालन में मनुष्य के सभी विकारो का सदुपयोग हो सकता है। हिंसा भी बडे काम की चीज साबित होती है। मनुष्य और मनुष्य के बीच न्याय-पालन में दण्ड और दो राष्ट्रो के बीच न्याय-समर्थन मे सशस्त्र संग्राम आवश्यक और नीतिसम्मत भी है। सतोगुणी क्रोध और तिरस्कार-भावना के लिए भी उसमें स्थान है। नीति-शास्त्री इन्द्रियो का दमन नही, नियंत्रण और सदुपयोग चाहता है। लोकमान्य की राजनैतिक दृष्टि इसी नीति-शास्त्रानुमोदित व्यवहार्यता तथा उपादेयता से उत्प्राणित थी। द्वंद्वज संसार के द्वैत-भावना-मूलक व्यापारो में आध्यात्मिक अद्वैत-निष्ठा का आरोप करना वे सर्व-साधारण लोगो के लिए अनावश्यक और अहितकर समझते थे।

महात्मा जी की मन प्रवृत्ति इससे भिन्न है। उनकी राजनीति विशुद्ध आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है। उन्हे केवल अहिंसात्मक कर्म से ही संतोष नही होता। वे कांग्रेस के प्रत्येक स्वयंसेवक से इस बात की प्रतिज्ञा चाहते हैं कि वह कर्म और वचन से तो अहिंसात्मक रहेगा ही, पर हृदय में भी हिंसा का भाव जाग्रत न हो। महात्मा जी की व्याख्या के अनुसार क्रोध भी हिंसा का मानसिक रूप है। क्या यह कभी संभव है कि

प्रगतिशील और स्वाभिमानी राष्ट्रसेवक के हृदय में दुराचारियो के प्रति सात्विक क्रोध का उद्रेक न हो ? यह सतोगुणी और सर्वथा पुरुषोचित क्रोध भी महात्मा जी को मजूर नहीं है। राष्ट्रीय परतन्त्रता के विरुद्ध कटिबद्ध होनेवाले राष्ट्र-सेवक के हृदय में अत्याचार से लडते समय कौन-सी भावना जाग्रत हो सकती है ? क्या अत्याचारी से प्रेम की ? कदापि नहीं। फिर ऐसी अव्यवहार्य प्रतिज्ञा से क्या लाभ ? इसमें तो अप्राकृतिक बनावटीपन की बू आती है। फिर भी गाधी जी को यही पसन्द है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। अभीतक स्वराज-प्राप्ति के लिए काग्रेस ने जिन साधनो को उपयुक्त माना था उनकी ओर 'न्याययुक्त' (Legitimate) और 'शान्तिपूर्ण' (Peaceful) इन दो विशेषणो से सकेत किया था। परन्तु इन शब्दो से गाधी जी को सतोष नही है। वे चाहते है कि 'न्याययुक्त' के बदले 'सत्यता-पूर्ण' (Truthful) और 'शान्तिपूर्ण' के बदले 'अहिंसात्मक' (Non-violent) विशेषणो की योजना हो। इस प्रस्तावित रूप में काग्रेस की कार्यकारिणी समिति को वह मान्य भी हो चुकी थी। पर काग्रेस ने उसे स्वीकार नही किया। अनेक प्रान्तीय समितियो ने इस परिवर्तन का विरोध भी किया था। सभव है, काग्रेस का कोई आगामी अधिवेशन उसे स्वीकार कर ले।

जो हो, यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही प्रकट करने का है कि महात्मा जी की अध्यात्मबुद्धि कहाँ तक काम करती है। हिन्दुस्थानी राष्ट्र-सेवक की हैसियत से ससार के सामने यदि मैं यह घोषित करूँ कि मैं न्याययुक्त साधनो से स्वराज प्राप्त करना चाहता हूँ, तो उसका आशय लोगो की समझ में सहज ही आ जाता है; क्योकि 'न्याय' शब्द का एक विशिष्ट बुद्धि-गम्य अर्थ है। उसके दो मतलब नहीं निकल सकते। परन्तु यदि कोई ऐसा कहे कि मैं सत्यता-पूर्ण साधनो से स्वराज प्राप्त करूँगा तो यहाँ 'सत्यता' शब्द की उपयुक्तता समझ में नही आती। क्या अपने से छिनी हुई अपनी चीज को वापस लेने मे भी कही बेईमानी की

गुजाइश है ? वह तो एक बड़ी ईमानदारी का काम है। राष्ट्र का यही तो एक राष्ट्रीय ईमान है कि वह आजाद रहे और आजादी छीननेवाले से अपनी आजादी छीन ले। यहां तो कहीं बेईमानी की जरा भी गुजाइश नही दिखाई देती। इसके अतिरिक्त 'सत्य' एक ऐसा शब्द है कि लोग अपनी अपनी धारणा के अनुसार उसके कई अर्थ लगा सकते है, लगाते भी है। फिर भी यह विवाद-ग्रस्त विशेषण महात्मा जी को प्रिय है। इसी तरह 'अहिंसात्मक' शब्द भी अनुपयुक्त और अनावश्यक प्रतीत होता है। जब तक हमारे साधन शान्ति-पूर्ण है, तब तक वे अहिंसात्मक तो रहेंगे ही। हिंसा से शान्ति-भंग होती है। 'शान्ति' शब्द का अर्थ सभी समझते है। परन्तु 'अहिंसा' की व्याख्या के लिए बार-बार महात्मा जी के पास दौड़ना पड़ेगा।

ऐसे आदर्शवादी आध्यात्मिकता-मूलक परिवर्तन लोकमान्य की राजनीति को स्वीकृत नहीं हो सकते थे। राजनीति एक सार्वजनिक विषय है। उसकी भाषा भी सार्वजनिक हृदय मे पैठ सकने-वाली हो। उसके भाव, आशय और आदर्श भी निश्चित, निर्विवाद और स्पष्ट हो। परन्तु महात्मा जी अपने आदर्शवाद मे अटल है। जिसे वे परम सत्य मानते है, उसकी बलिवेदी पर सैकड़ो 'स्वराज' न्योछावर कर देने के लिए वे तैयार है। हिंसा से प्राप्त हुआ स्वराज उन्हे मजूर नही। स्वतत्रता उन्हे प्रिय है, पर अहिंसा उससे भी अधिक प्यारी है। लोकमान्य को स्वराज ही प्रिय था और हिंसा तथा अहिंसा को वे समयोचित साधन-मात्र समझते थे। उनकी दृष्टि में हिंसा स्वय बुरी होती है, न भली। कर्त्ता की बुद्धि उसे भली-बुरी बनाती है। यही नीतिशास्त्रानु-मोदित वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है।

लोकमान्य और महात्मा जी के राजनैतिक आन्दोलन तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध मे एक बड़ी विचित्र बात देखने में आती है। महात्मा जी का राजनैतिक नेतृत्व इस देश मे असहयोग से ही प्रारम्भ होता है। अतएव वे ससार में राजनैतिक असहयोगी के नाम से प्रख्यात हैं। असहयोग

और गाधी जी की विचारधाराएँ लोगों के हृदय में हमेशा के लिए अमर हो गई हैं। फिर भी गाधी जी के अधिकाश सार्वजनिक जीवन की वस्तुस्थिति उनकी ख्याति से बिल्कुल विपरीत है। कहने का तात्पर्य यह कि वे सस्कार-सिद्ध सहयोगी हैं और उनके जीवन का अधिकाश ब्रिटिश साम्राज्य से मौके बे मौके सहयोग करने में ही व्यतीत हुआ है। हम पहले ही कह चुके हैं कि गाधी जी के समान ब्रिटिश साम्राज्य का ईमानदार सहयोगी इस देश में एक भी नेता न हुआ। लोकमान्य तिलक जिन राजनैतिक दृष्टिकोण के प्रतिपादक थे, उसे 'प्रतियोगी सहयोग' (Responsive Co-operation) कहते हैं। उनके कई अनुगामी सहयोग के इसी तर्ज को पसन्द करते हैं और असहयोग को अव्यवहार्य मानते हैं। फिर भी लोकमान्य जन्म-सिद्ध असहयोगी थे। उनका जीवन ब्रिटिश सत्ता से आजन्म और आमरण असहयोग का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि वे सहयोग-मार्ग का अवलम्बन लेते, तो उनके लिए ब्रिटिश शासन में ऊंची से ऊंची प्रतिष्ठा का पद खुला हुआ था। परन्तु बी० ए० हो जाने के बाद उन्होंने जीवन का सूत्रपात असहयोग से ही किया। अपनी स्थापित की हुई राष्ट्रीय पाठशाला के वे अध्यापक हो गये और जरा-सी जीविका का आधार लेकर उन्होंने अपने स्वावलबनशील और स्वाभिमानी जीवन का श्रीगणेश किया। इस तरह पाठक इन दोनो महापुरुषो के सम्बन्ध में यह एक आश्चर्यजनक विशेषता देखेंगे कि असहयोग के ख्यातनामा आचार्य तो बड़े से बड़े सहयोगी थे और प्रतियोगी सहयोग के समर्थक स्वभाव-सिद्ध असहयोगी थे।

देश के राजनीतिज्ञो में कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने को तिलक-स्कूल के शिष्य मानते हैं और हिन्दुस्थान की राष्ट्रीय समस्या को यथार्थवादी दृष्टि से देखा करते हैं। ऐसे लोग असहयोग को अव्यवहार्य समझकर उसके प्रति अवहेलना प्रकट करते हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में ऐसे राजनीतिज्ञो की सख्या बहुत है। दूसरे वर्ग के राजनैतिक कार्यकर्त्ता वे लोग हैं जो गाधीवाद के समर्थक हैं। उनकी सम्मति में ब्रिटिश सत्ता से सहयोग की भावना

सर्वथा त्याज्य है। असहयोग, सत्याग्रह, भद्रअवज्ञा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध को ही वे स्वराज के परम साधक समझते है। इस तरह हमारे देश में राजनैतिक विचार की दो धारायें प्रवाहित हो रही है, एक प्रतियोगी सहयोग की और दूसरी अहिंसात्मक असहयोग की। दोनो के प्रबल समर्थक विद्यमान है। इस समय गाधीवाद से देश का वातावरण व्याप्त है। इस कारण तिलक-स्कूल के समर्थक जरा चुप है, परन्तु परिस्थिति से असन्तुष्ट है। यो तो किसी भी स्थापित सरकार से पूर्णतया असहयोग करना सम्भव नही है। स्वय गाधी जी को भी कई बातो मे सहयोग करना ही पडता है। रेल, तार, डाक तथा सरकारी सिक्को का उपयोग करना ही पडता है। लेकिन सहयोग-असहयोग का प्रश्न कौंसिलो के सम्बन्ध मे ही विशेष करके उपस्थित होता है। तिलक-स्कूल के व्यवहारवादियो का कहना है कि कौंसिलो के द्वारा अथवा उनके बाह्याडम्बर की आड मे सत्ताधारी अपना शासन चलाते है और दुनिया को यह कह कर धोखा देते हैं कि हम हिन्दुस्थान पर कौंसिलो के द्वारा ही शासन कर रहे है और कौंसिलें लोगो के चुने हुए प्रतिनिधियो से बनी हुई हैं। इस धोखे की टट्टी को उठा देना चाहिए और कौंसिलो में प्रवेश करके उनसे जो कुछ लाभ हो सके, उठाना चाहिए और जो न मिले, उसके लिए आन्दोलन के द्वारा तीव्र विरोध प्रकट करना चाहिए, ताकि बाहरी दुनिया और देश की जनता दोनो को यह मालूम हो कि विदेशी शासको की दृष्टि में लोगो के प्रतिनिधियो की कोई कदर नही है और वर्तमान कौंसिलें प्रजातंत्र के आडम्बर-मात्र हैं।

इसके विपरीत गाधीवाद के समर्थक वर्तमान कौंसिलो को सर्वथा त्याज्य समझते है। उनकी निश्चित धारणा है कि उनसे देश को कोई लाभ तो है ही नही, प्रत्युत हानि हो रही है। वे प्रलोभन के स्थान है, माया-मन्दिर हैं। वहाँ पहुँचनेवाले केवल मौखिक वाद-विवाद ही कर सकते है, कोई सगीन काम नही कर सकते। कुछ थोडे-से प्रतिनिधियो के विरोध से ये कौंसिलें कमजोर तो होती नही, बल्कि और पनपती

कि किस परिस्थिति में क्या होगा। महात्मा जी ने खुशी से या लाचारी से इस वार तो कौंसिलवादी कांग्रेस-नेताओ को अपना आशीर्वाद दे दिया है, पर वस्तुत वे इस मामले मे उदासीन ही बने हुए हैं।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यथार्थ मे कौन-सी नीति पूर्ण है, गाधी-प्रतिपादित असहयोग की अथवा तिलक-समर्थित प्रतियोगी सहयोग की ? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर ढूंढने के पहले प्रतियोगी सहयोग का आशय अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। हम असहयोग-प्रकरण मे पहले कह आये है कि सहयोग जीवन का नियम है और असहयोग अपवाद है। इस समय देश का शासनाधिकार विदेशियों के हाथ मे है। अतएव उनसे और देश के सर्व-मान्य नेताओ मे राजनैतिक विरोध है। इस हालत मे हमारे विदेशी शासक जब जब ऐसी नीति का अवलम्बन करे जो जन-समाज के लिए लाभदायक हो, तब तब उनमे सहयोग करना हमारे लिए उचित है। परन्तु जब जब अधिकारीवर्ग किसी घातक नीति को अमल मे लावे, तब तब उससे या तो लोग असहयोग करे या अडगा-नीति के द्वारा विरोध करे। यही लोकमान्य-प्रतिपादित प्रतियोगी सहयोग का स्वरूप है।

यदि तिलक-प्रतिपादित सहयोग का यही यथार्थ रूप है, तो मानना होगा कि लोकमान्य का राजनैतिक कार्यक्रम सर्वथा सम्पूर्ण है। उनकी राजनीति में सहयोग और असहयोग दोनो के लिए पूरी पूरी गुजाइश है। इस दृष्टि से देखे, तो अनायास प्रतीत होता है कि असहयोग निर्बाध और स्वतत्र कार्यक्रम की प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। वह तो प्रतियोगी सहयोग का एक अग, एक अवस्थाविशेष (Phase) का नाम है। इसी दृष्टि से हम यह भी समझ सकते है कि स्वय महात्मा जी भी असहयोगी नहीं, प्रतियोगी सहयोगी है। क्योंकि वे तो स्पष्ट शब्दो मे कई वार कह चुके है कि मै स्वाभिमान-पूर्वक सहयोग करने के लिए मर रहा हूँ। सहयोगी तो वे जिन्दगी भर रहे ही है। अभी हाल ही मे वे असहयोगी बने है। अब भी उनका कहना है कि यदि ब्रिटिश राज-

नीतिज्ञ योग्य परिस्थिति पैदा कर दे और हिन्दुस्थान को स्वराज का सत्व (Substance of Independence) देने के लिए तैयार हो, तो मै सहयोग करने के लिए दिलोजान से तैयार हूँ। ऐसा कहनेवाला प्रतियोगी सहयोगी के सिवाय और क्या हो सकता है? अतएव जो लोग अपने को तिलक-स्कूल के सहयोगी मानते हैं उनमे और महात्मा जी में जो अन्तर है, वह मौलिक नही, गौण है। दोनो मे जो भेद दिखाई देता है, उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान परिस्थिति-सम्बन्धी धारणा से है। महात्मा जी समझते है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की वर्तमान नीति ऐसी नही है कि उनसे सहयोग किया जावे। कुछ लोग जो अपने को लोकमान्य के अनुयायी समझते है, वर्तमान परिस्थिति मे भी कौंसिलो के द्वारा सहयोग करने के लिए तैयार हैं।

इस तरह समझदार पाठक अनायास देख सकेंगे कि लोकमान्य के सहयोग में और महात्मा जी के असहयोग मे कोई ऐसा अन्तर नही है जिसे हम मूल-गत (Fundamental) कह सकें। फिर भी मालूम नही, देश में ऐसे दो दल क्यो दिखाई देते है जो अपने को एक दूसरे से बिलकुल भिन्न मानते है और केवल परिस्थिति-सम्बन्धी मतभेद की बुनियाद पर एक दूसरे के विरोधी हो रहे हैं। तिलक-स्कूल के राजनीतिज्ञ अकसर कहा करते है कि यदि लोकमान्य मौजूद रहते तो वे महात्मा जी के असहयोग-कार्यक्रम का विरोध जरूर करते। ऐसा कहनेवालो की कदाचित् यही धारणा होगी कि तिलक की राजनीति में महात्मा जी के कार्यक्रम की कोई गुंजाइश ही नही है। यह उनकी भूल है। लोकमान्य एक ऐसे दूरदर्शी और तर्कशील नेता थे कि विरोध प्रकट करने के सभी साधनो के लिए उनके राजनैतिक शस्त्रागार में काफी स्थान था। उनके प्रतियोगी सहयोग का अर्थ ही यही है कि विरोधियो का रुख देखकर हमे अपना रुख बदल देना चाहिए। 'जो झुके आपसे उससे झुक जाइए और जो रुके आपसे उससे रुक जाइए।' यही तिलक-समर्थित सहयोग का साराश है। अतएव हमारी समझ मे

यह नहीं आता कि क्या समझकर कुछ लोग यह कहा करते हैं कि लोकमान्य तिलक असहयोग तथा सत्याग्रह का विरोध करते। अपनी मृत्युशय्या पर तो उन्होंने साफ-साफ यह कहा था कि यदि मुसलमान कौंसिल-बहिष्कार का वादा करें, तो मैं असहयोग का समर्थक हूँ। लोकमान्य बड़े कट्टर पर बड़े लचीले राजनैतिक नेता थे। वे परिस्थिति देखकर ही काम किया करते थे। महात्मा जी अपने सिद्धान्तों को शिरोधार्य मानते हैं, पर लोकमान्य उन्हें अपने कब्जे में रखा करते थे। वे अपने सिद्धान्तों के स्वामी थे। स्वराज ही उनका सर्वोपरि सिद्धान्त था। उसकी बलिवेदी पर उन्होंने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। क्यों न करते? आखिर स्वतन्त्रता ऐसी ही चीज़ है। उस एक को साध लेने से सब सध जाते हैं। स्वराज सब साध्यों का साधन है। यह मनुष्यत्व का सिंह-द्वार है और सत्य का सहोदर है।

यदि समाज-सुधारक की दृष्टि से देखें, तो लोकमान्य और गांधी जी में हमें विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। लोकमान्य हिन्दू-संस्कृति के मूर्तिमान् अवतार थे। वर्णाश्रम-धर्म के वे हामी थे। स्वदेश उनका आराध्य देव था और स्वदेशी उनकी जीवनचर्या थी। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों के पारगामी पंडित होने के कारण वे हिन्दुत्व के बड़े कायल थे। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में देश-काल के अनुसार उचित परिवर्तन की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती थी, परन्तु वे समूल परिवर्तन के विरोधी थे। वे हिन्दू-समाज का पुनर्निर्माण उसकी प्राचीन बुनियाद पर ही चाहते थे। देश की राजनैतिक पराधीनता को समाज-सुधार के मार्ग में वे बड़ा भारी विघ्न समझते थे। इसी कारण उन्होंने अपने जीवन में राजनैतिक कार्यक्रम पर ही विशेष ध्यान दिया। इसी सम्बन्ध में उनमें और गोखले प्रभृति राजनीतिज्ञों में मतभेद भी था।

महात्मा गांधी भी बड़े सावधान समाज-सुधारक हैं। उन्होंने आज तक ऐसी कोई भी बात नहीं की जो हिन्दू-सभ्यता के मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप न हो। वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध उन्होंने कोई आवाज़ नहीं उठाई।

वे अपने को 'सनातनी हिन्दू' कहने में अपना गौरव मानते हैं। जो लोग उनके हरिजन-आन्दोलन के प्रचार को हैसियत से बड़े [illegible] गुनाहगार मानते हैं, उन्हें मालूम नहीं कि हिन्दू-समाज में अनेक आचार्य बहुत पहले से यह काम करते आये हैं। महात्मा जी का यह कार्यक्रम न तो बिल्कुल नया है न हिन्दू-संस्कृति का विरोधी है। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम हरिजन-सम्बन्धी प्रकरण में कर चुके हैं।

लोकमान्य और महात्मा जी के मध्य जो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं, उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन हम कर चुके हैं। परन्तु इतना ध्यान रहे कि इन अन्तरों के मूल में उनकी मौलिक समता विद्यमान है। मनुष्यत्व और पौरुष के समरक्षेत्र में वे एक समान त्यागी, स्वाभिमानी, धीर और वीर हैं। दोनों विद्वान् और सुलेखक हैं। पत्र-सम्पादन का काम दोनों ने अपने जीवन में बहुत समय तक किया। दोनों मितभाषी हैं। उनके लेखों में अनावश्यक शब्दों के लिए जरा भी गुंजाइश नहीं है। आडम्बर-शून्य, सरल और स्पष्ट भाषा लिखने और बोलने में लोकमान्य और गांधी जी दोनों एक-समान सिद्धहस्त हैं। यों तो पत्र-सम्पादक अपने सम्पादन-काल में न जाने कितने अग्रलेख लिख डालते हैं। एक दिन लोग उन्हें पढ़ते हैं और दूसरे दिन संसार उनकी ओर भूल कर भी नहीं देखता। परन्तु लोकमान्य और महात्मा जी के अग्रलेख विचार-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। 'केसरी' के अग्रलेखों का संकलन हो चुका है। 'यंग इण्डिया' के अग्र लेख भी पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें लोकमान्य और महात्मा जी दोनों की विद्वत्ता और विचार-शक्ति का परिचय मिलता है। दोनों बड़े गम्भीर विचारक हैं। दोनों आत्म-निष्ठ होकर ही जन-समाज की समस्याओं पर मनन-चिन्तन करने के अभ्यासी हैं। उनके व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुई जनता की अपार भीड़ जिन्होंने देखी होगी, वे अनायास ही समझ सकते हैं कि जन-समाज पर उनके व्यक्तित्व का कैसा विलक्षण प्रभाव है। परन्तु व्याख्यान-शैली की दृष्टि से दोनों विशेषता-

शून्य है। उनकी वक्तृता मे कला का बिलकुल अभाव है। परन्तु सदाचरण से बढ कर उस जीवन में कोई कला ही नहीं है। यह आचरण-बल ही उन दोनो महापुरुषों के सरल और स्पष्ट शब्दो मे बोलता है और उन्हे श्रोताओं के हृदय मे हमेशा के लिए अंकित कर देता है। सादगी का सेवा-निष्ठ जीवन दोनो ने स्वीकार किया और इस कण्टकाकीर्ण कर्तव्य-पथ की कठिनाइयाँ दोनो ने हँसते-हँसते झेल लीं। हिन्दुस्तान का देश-व्यापी दौरा इन दो नेताओ से बढकर किसी ने कभी नहीं किया। जनता के अन्तस्तल तक इन दो के सिवाय किसी तीसरे की पहुँच भी न हो सकी। इसमे सन्देह नही कि भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में दोनों अमर हैं—अग्रगण्य हैं। स्वय महात्मा जी लोकमान्य को कितनी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, इस बात का प्रमाण इससे बढकर और क्या हो सकता है कि अपने आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे एक करोड रुपयो के लिए गांधी जी ने जो अपील की थी, उस कोष का नाम उन्होंने 'तिलक-स्वराज्य-फण्ड' रखा था। वे जानते थे कि तिलक के नाम में जादू है जो अपना काम कर जायगा। लोकमान्य के नाम का जादू अपना असर कर गया। क्यो न करता। इस जादू के पीछे आजीवन तपश्चर्या, विशुद्ध सेवा-भावना और निर्मल स्वदेश-प्रेम का बल था।

अध्याय २६

टॉल्स्टॉय, लेनिन और गांधी

इस ग्रंथ को आद्योपांत मनोनिवेश-पूर्वक पढ़नेवालों को प्रतीत होगा कि गांधी जी एक स्वतंत्र विचारक और क्रान्तिकारी नेता हैं। उनकी अहिंसा और सत्यनिष्ठा तो खास उन्हीं की विशेषतायें हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि इस देश के राजनैतिक आन्दोलन में उन्होंने असहयोग तथा भद्र-अवज्ञा-सरीखे जिन विध्वंसक विचारों को अमल में लाने का प्रयत्न किया है, उनकी प्रेरणा उन्हें सम्भवतः टॉल्स्टॉय से ही मिली है। स्वयं महात्मा जी ने इस बात को स्वीकार किया है कि वे अपने विचारों के लिए किसी अंश में टॉल्स्टाय के ऋणी हैं। जहाँ तक हमें मालूम है उन्होंने इस बात का खुलासा अभी तक नहीं किया कि कौन-कौन से विचार उन्होंने इस रशियन विचारक से लिये हैं। हम यहाँ पर टॉल्स्टॉय के सिद्धान्तों के कुछ अवतरण देकर पाठकों से अनुरोध करना चाहते हैं कि वे स्वयं इस बात का निर्णय करें कि इन दोनों विचारकों में कितनी समानता है।

कल-कारखानों के सम्बन्ध में टॉल्स्टॉय के विचार सुनिए —

"मजदूरों की इस हालत का सबब यह नहीं है कि कल-कारखाने धनवानों और पूँजीपतियों के कब्जे में हैं, बल्कि सबब यह है कि उन्हें अपनी रोजी कमाने के लिए गाँवों का प्राकृतिक और सादा जीवन त्यागकर कल-कारखानों की शरण लेनी पड़ती है। आप उनके काम के घंटे कितने ही कम क्यों न कर दें, उनकी मजदूरी कितनी ही क्यों न बढ़ा दें और अन्त में कल-कारखाने भी उनके कब्जे में क्यों न कर दें तब भी इस मुसीबत और तकलीफ की हालत से उनका छुटकारा नहीं हो सकता। क्योंकि उनकी मुसीबतजदा हालत इस बात से नहीं

है कि उन्हे ज्यादा घटो तक काम करना पडता है, या उन्हे कम मजदूरी मिलती है, या कल-कारखाने उनके कब्जे में नही है, बल्कि उनकी इस हालत का सबब यह है कि उन्हे अपनी रोजी पैदा करने के लिए लाचार होकर शहरो की गदी और अप्राकृतिक आबहवा मे रहना पडता है। कल-कारखानो की सडी-गली हवा को साँस लेते हुए लगातार घटो तक एक ही तरह का काम करना पडता है। शहर के अनेक दूषित प्रलोभनो की जोखिम में अपने चरित्र और स्वास्थ्य को डालना पडता है तथा दूसरो की मरजी के मुताबिक गुलामो की तरह जिन्दगी बितानी पडती है।"

—(टॉल्स्टॉय के सिद्धान्त, लेखक,जनार्दन भट्ट, एम० ए०, पृष्ठ-सख्या-६२)

अब इस सम्बन्ध मे गाधी जी के विचार सुनिए —

"बम्बई की मिलो में जो आदमी काम करते है उनकी हालत बिलकुल गुलामो की-सी हो गई है। वहाँ काम करनेवाली स्त्रियो की दशा देखकर नारकीय जीवन का अनुमान करना पडता है। जब ये मिले यहाँ पर न थी, तब भी इन स्त्रियो के पेट भरते थे। इन कम्पनियो की वृद्धि से भारत की आर्थिक दशा बहुत खराब हो गई है। भारत की इन मिलो मे काम करनेवाले स्त्री-पुरुषो की दशा देखकर मै कहने के लिए बाध्य होता हूँ कि भारत में मिलो की सख्या बढाने की अपेक्षा मैचेस्टर के कपडे पहनना बहुत अच्छा है। इसलिए कि मैचेस्टर के कपडे पहनने से केवल धन की हानि होगी, परन्तु हमारे शरीरो के रक्त की रक्षा तो हो सकेगी जो भारत में चलनेवाली मिलो की व्यवस्था से नष्ट-भ्रष्ट होते है।"

"इन यत्रो और कलो की बदौलत यूरोप की दशा भी अच्छी नही है। वह भीतर ही भीतर खोखला हो गया है और दिन पर दिन होता

जा रहा है। ये यन्त्र और कलें, जो नवीन सभ्यता के पुरस्कार हैं, वास्तव में मानव-जीवन के अस्तित्व का संहार करनेवाली पापस्वरूप हैं।"

—(महात्मा जी का विश्व-व्यापी प्रभाव,
लेखक, केशवकुमार ठाकुर, पृष्ठ-संख्या १०१)

वर्तमान सभ्यता के साधनो के सबन्ध में टॉल्स्टॉय कहते हैं —

"आजकल के बडे-बडे विद्वान्, पडित और विज्ञानवेत्ता इस वर्तमान स्थिति को सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। इस वर्तमान स्थिति से फायदा उठानेवाले धनी, जमीदार और कल-कारखानो के मालिक तो इसे सबसे बडी सभ्यता समझते हैं। रेल, तार, फोटोग्राफ, ट्राम्वे, एलेक्ट्रिक-लाइट, कल-कारखाने ये सब इस सभ्यता के बडे भारी अग हैं। ये सब चीजें ऐसी पवित्र समझी जाती हैं कि उन्हे एकदम उठाना तो दूर रहा, उनमें कोई बडा सुधार या बडा परिवर्तन करने का ख्याल भी मन मे लाना बडा भारी पाप समझा जाता है। विज्ञान के अनुसार ससार की हर एक चीज में परिवर्तन हो सकता है। अगर परिवर्तन नही हो सकता तो इस वर्तमान सभ्यता में।

"मनुष्यो का सच्चा प्रेमी और सच्ची सभ्यता का माननेवाला घोड़े की सवारी कर लेगा या पैदल चल लेगा, पर वह कभी भी रेल की सवारी पसद न करेगा जिसके सबब से हर साल सैकडो आदमी कुचलकर या रेल लड़ने से दबकर मर जाते हैं।"

—(टॉल्स्टॉय के सिद्धान्त,
जनार्दन भट्ट, एम० ए०)

अब इसी सबन्ध में गाधी जी के विचार सुनिए —

"ट्राम के सबन्ध में अलग से प्रश्न करने की जरूरत नही है। जब रेलगाडी हमारे लिए हानि पहुँचानेवाली है तब ट्राम क्यों न होगी। यन्त्र और मशीनो से होनेवाले जितने भी काम हैं सबके सब हानिकारक और विषैले हैं। यन्त्रो, शहरो, ट्रामो और रेलो का आविष्कार मनुष्य-

समाज के लिए बहुत अहितकर प्रमाणित हुआ है। इन यन्त्रो से एक भी लाभ नही। इनके अवगुणो पर एक बडा ग्रथ लिखा जा सकता है।"

—(महात्मा गाधी का विश्वव्यापी प्रभाव,
सपादक, केशवकुमार ठाकुर)

कुली-किसानो के वर्तमान-जीवन के सबन्ध मे टॉल्स्टॉय के विचार सुनिए —

"जो किसान या मजदूर गाँवो की जिन्दगी छोडकर शहर में आकर बसे हैं या बस रहे हैं, हरगिज अपनी मरजी से ऐसा नही करते, बल्कि उनकी आर्थिक हालत ऐसी बिगडी हुई है कि लाचार होकर उन्हे ग्राम-जीवन का सुख और आनन्द छोडकर शहर के गदे समाज मे आकर जिन्दगी बितानी पडती है। इसलिए मजदूरो को इस मुसीबत की हालत से निकालने का सवाल इस बात पर आकर टिकता है कि जिन कारणो की बदौलत हमारे मजदूर भाई गाँवो की सुख देनेवाली जिन्दगी से हटकर शहरो और कल-कारखानो की गुलामी में फँस गये हैं वे कारण किस तरह से दूर किये जा सकते हैं।

"ससार मे जितने कवि और महात्मा हुए है उन सबो ने ग्राम और ग्राम्य-जीवन की महिमा गाई है। अधिकतर मजदूर स्वय और कामो की बनिस्बत खेती का काम ज्यादा पसन्द करते हैं। कल-कारखानो का काम हमेशा तदुरुस्ती का बिगाडनेवाला और मन में ऊब पैदा करनेवाला होता है। इसके विरुद्ध खेती का काम हमेशा तन्दुरुस्ती का देनेवाला और रुचि को बढानेवाला होता है।"

—(टॉल्स्टॉय के सिद्धान्त, जनार्दन भट्ट, एम० ए०)

अब इस सम्बन्ध में गाधी जी के विचार भी सुनिए —

"पहले इस प्रकार के बडे-बडे शहर न होते थे। लोग गाँवो मे रहा करते थे और अलग-अलग खुली हवा में रहना अधिक पसन्द करते थे। अब बडे-बडे कारखानो, मिलो और खानो मे पैसे की लालच में

काम करते है। उनके रहने के स्थान इतने गदे और खराव होते है कि उनको देखकर तरस आता है। शीशे के कारखानो मे जो लोग काम करते हैं, वे अपने मरने-जीने की भी परवाह नही करते।"

वर्त्तमान युग की सभ्य कहलानेवाली व्यवस्था के सबंध में टॉल्स्टॉय तथा गाधी जी के विचारो मे कितनी समानता है, पाठक स्वय देख सकते हैं, टीका-टिप्पणी की जरूरत नही। अब हम पाठकों के सामने टॉल्स्टॉय के विचारो के कुछ ऐसे अवतरण देते हैं जिनका वर्तमान राजनैतिक परतन्त्रता से सबध है। गाधी जी ने इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में जिन शस्त्रो का उपयोग किया है वे ज्यो के त्यों टॉल्स्टॉय के नैतिक शस्त्रागार से ही लिये गये हैं, ऐसा मानने में कुछ भी अनौचित्य नही है। टॉल्स्टॉय के मतानुसार सत्याग्रही के लक्षण सुनिए —

"सत्याग्रही टैक्स देने से इनकार करता है क्योंकि जो रुपया टैक्स से इकट्ठा किया जाता है उसका अधिकतर भाग फौज, पुलिस, लड़ाई, किले, तोप, वन्दूक इत्यादि नाशकारी वस्तुओ पर खर्च किया जाता है। सच्चा सत्याग्रही इन सब कामो मे भाग लेना पाप समझता है। सत्याग्रही पुलिस मे भर्ती होने से इनकार करता है, क्योंकि पुलिस-वालों को अपने भाई के साथ जबर्दस्ती करनी पड़ती है और अपने देश-वासियो को सताना पड़ता है। सत्याग्रही अदालतो मे किसी तरह का भी भाग लेना अस्वीकार करता है, क्योंकि वहाँ क्षमा और दया के सिद्धान्त पर नही, बल्कि बदला लेने के सिद्धान्त पर हर एक कार्रवाई की जाती है। सत्याग्रही फौज में किसी तरह का हिस्सा लेने या किसी तरह की मदद देने से इनकार करता है क्योंकि वह यह नही चाहता कि अपने भाइयो के खून से उसके हाथ रँग जायें। जिन सिद्धान्तो के अनुसार सत्याग्रही इन सब बातो में भाग लेने से इनकार करता है वे ऐसे सच्चे और पक्के है कि अत्याचारी से अत्याचारी सरकार भी खुले तौर पर सच्चे सत्याग्रही को सजा नही दे सकती। ऐसे लोगो के मुकाबिले में बली से बली सरकार भी बिलकुल लुज-पुज है।"

"ऐसे आदमी का सरकार क्या कर सकती है जो न तो वलपूर्वक कोई काम करने की शिक्षा देता है और न स्वय किसी के विरुद्ध वल का प्रयोग करता है। वह केवल सरकार से कोई सम्बन्ध नही रखना चाहता। वह सरकार को टैक्स नही अदा करता, सरकार की अदालतो में नही जाता, सरकार के मदरसो में अपने लडको को नहीं भेजता और सरकार की पुलिस तथा फौज मे भर्ती नही होता। इसके लिए सरकार अगर उसे कोई सजा देती है तो वह खुशी से सहने के लिए तैयार रहता है।"

"यह सत्याग्रह की आग कष्ट-रूपी आँच मे तपाकर हमें सच्ची स्वतन्त्रता के योग्य वनायेगी और इसी की वदौलत हम गुलामी से छुटकारा पायेगें। यही सत्याग्रह सच्चे स्वराज्य का द्वार है। वह सच्चा स्वराज्य—वह ईश्वर का राज्य—तुम्हारे हृदय के अन्दर है। उसे अनुभव करो।"

हिंसात्मक विद्रोह के सवध मे टॉल्स्टॉय ने एक अमेरिकन के निम्न-लिखित विचारो का समर्थन किया है —

"सवाल यह है कि हम किस तरह सरकार और उसकी फौजो से छुटकारा पा सकते हैं? क्या हमे उनके साथ लडना चाहिए? क्या हमे अपना हाथ उनके खून से रँगना चाहिए? नही, हम खून गिराने या मार-काट करने के पक्ष मे नही है। मार-काट या खून-खरावी पर हमारा विश्वास नही है। इसके अलावा हम मार-काट या खून-खरावी करे, तव भी हम सरकार से नही जीत सकते क्योंकि तोप और वन्दूक उनके हाथ में है, मैशीनगन और हवाई जहाज उनके कब्जे में हैं और रुपया-पैसा उनके अधिकार मे है।"

"सिर्फ एक उपाय है जिससे हम सरकार को जीत सकते हैं और वह यह है कि हम अपने भाइयो को यह शिक्षा दे और उनमे स्वतन्त्रता के साथ इस वात का प्रचार करें कि सरकार के साथ सहयोग करना और उसकी फौज मे भर्ती होना वडा भारी पाप और अन्याय है। सरकार

की गालियों की परवाह न करते हुए उनका विरोध करने की लोगों को शिक्षा दो।"

अब हिंसात्मक विद्रोह के सम्बन्ध में स्वयं टॉल्स्टॉय के विचार सुनिए —

"शान्तिवादियों और अराजकों का एक समुदाय है जिनका उद्देश्य बादशाहों या सरकारी पदाधिकारियों को दण्ड करना है और जो प्रजा के हित के नाम पर उस तरह की हत्याएं करते हैं। पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि ऐसे व्यक्तियों के मारने में क्या लाभ जो उस दैत्य के समान हैं जो मारे जाने के पश्चात् स्वयं अपने रक्त से पहले से अधिक संख्या में पैदा हो जाता था। बादशाहों और शासकों ने अपने लिए ऐसा इन्तजाम कर रखा है कि ज्यों ही एक शासक हत्या, मौत या किसी दूसरे कारण से हटा दिया जाता है कि दूसरा शासक उसके स्थान पर पहुँच जाता है। इसलिए प्रश्न यह है कि इनके मारने से क्या लाभ?"

टॉल्स्टॉय और गांधी के सिद्धान्त-साम्य को प्रदर्शित करने के लिए इतने अवतरण पर्याप्त होंगे। पाठक देखेंगे कि टॉल्स्टॉय के उपर्युक्त विचारों में गांधी जी के समूचे कार्यक्रम का सारांश सन्निहित है। परन्तु दोनों व्यक्तियों में महत्वपूर्ण अन्तर यह है टॉल्स्टॉय केवल विचारक थे। उनका अहिंसात्मक सत्याग्रह-सिद्धान्त रशिया के जन-समाज पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका। उनके विचार ग्रन्थों में ही रह गये और लेनिन के द्वारा उत्पन्न की हुई उस देश में हिंसात्मक क्रान्ति की जो भयंकर आंधी आई थी, उसमें छिन्न-भिन्न होकर घास के पूलों के समान वे ऐसे उड़ गये कि उनका कहीं पता भी न चला। कालान्तर में तो टॉल्स्टॉय के विचार रशियन-समाज में इतने तिरस्कृत हो गये कि क्रान्ति के बाद साम्यवादी सत्ताधारियों ने उनके ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना भी वर्जित कर दिया। इस प्रकार उनके अहिंसात्मक विचारों की खैरियत न तो ज़ार के ज़माने में रही, न फिर

क्रान्तिकारी लेनिन के साम्यवादी युग मे उनका कोई विशेष आदर हुआ । स्वय टॉल्स्टॉय का पूर्व-जीवन वडा विलासी था। ऐशो-आराम और तडक-भडक उन्हे वहुत पसन्द थी। वे शराव भी खूव पिया करते थे। काज़ान नगर के नाच-रग तथा नाटक-तमाशो मे अमीर विद्यार्थियो के साथ उनके यौवन के दिन व्यतीत हुए। ऐसे विलासी जीवन का स्वच्छन्दतापूर्वक उपभोग करने के वाद ३४ वर्ष की अवस्था मे उन्होने १८ वर्ष की युवती से विवाह किया। लडके-वच्चे भी वहुत-से पैदा किये। सैनिक विद्यालय की शिक्षा भी उन्हें मिली थी और वे तोपखाने में काम भी करते थे। इस काम से कुछ दिनो के वाद उनका जी ऊवने लगा और अन्त मे उन्होने अपने सैनिक पद से त्यागपत्र भी दे दिया। इस्तीफा मजूर होने के पहले ही क्रिमियन युद्ध छिड गया और जोश मे आकर उन्होंने अपना इस्तीफा वापस ले लिया। सिवास्टोपोल के दुर्ग मे वे आफिसर की हैसियत से तैनात किये गये। इस युद्ध मे रशियन लोगो की हार हुई। जिस किले की रक्षा में वे तैनात थे, उसका पतन हुआ और रूसी फौज वुरी तरह हार गई। इस हार की रिपोर्ट लेकर टॉल्स्टॉय को वापस लौटना पडा। प्रतीत तो ऐसा होता है कि यह हार ही आगे चलकर उनकी अहिंसात्मक मनोवृत्ति की जननी हुई।

टॉल्स्टॉय ब्रह्मचर्य-जीवन के वडे कट्टर समर्थक प्रतीत होते है। विवाह-वन्धन को वे मनुष्य का पतन समझते हैं। इस विषय पर उनके जो विचार हैं उनके कुछ अवतरण हमने 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक प्रकरण मे दिये हैं। परन्तु टॉल्स्टॉय की जीवन-चर्या से हमे उनके ब्रह्मचर्य-साधन का कुछ भी पता नही चलता। स्वच्छन्दता-पूर्वक भोग-विलास मे जीवन विताने के वाद ३४ वर्ष की उम्र में १८ वर्ष की युवती से जो विवाह करे और अनेक लडके-वच्चे पैदा करते हुए जो वर्षो तक गृहस्थ-जीवन में आसक्त रहे, उस आदमी के ब्रह्मचर्य-विषयक तथा विवाह-सम्वन्धी विचारो की कोई कीमत नही हो सकती। जिस अवस्था मे टॉल्स्टॉय को स्वच्छन्द विषयो-

पभोग के बाद भी विवाह-बन्धन से पतित होने की आवश्यकता प्रतीत हुई, उस उम्र में गान्धी जी को संयमित गृहस्थी के पश्चात् ब्रह्मचर्य की प्रेरणा हो चुकी थी। अपने असहयोग तथा अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी टॉल्स्टॉय ने न तो वैयक्तिक जीवन में पालन किया, न फिर सामूहिक रूप से वे जन-समाज को भी उनके पालन में उत्साहित कर सके। हाँ, इतना तो उन्होंने जरूर किया कि अपने उपन्यासों तथा किस्से-कहानियों के द्वारा लोगों को शान्तिपूर्ण धार्मिक जीवन का उपदेश देते रहे और पर्याप्त ऐश्वर्योपभोग के पश्चात् वे जूते सीने लगे और गरीबी से रहने भी लगे। छोटे आदमियों की नजरों में एक बड़े आदमी का इतना ही आचरण बहुत था। अतएव टॉल्स्टॉय महोदय नामाङ्कित होकर ढली हुई उमर में महात्मा बन बैठे। परन्तु हमें तो उनके जीवन में आचरण-बल का कोई विशेष प्रशंसनीय प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। यही कारण भी है कि उनके विचार उनकी पुस्तकों में तथा उनके आस-पास रहनेवाले कुछ लोगों में ही सीमित रहे और रशिया के जन-समाज से वे सर्वथा बहिष्कृत ही रहे। आज भी कुछ गुप्त और निकम्मे समर्थकों के सिवाय टॉल्स्टॉय के सिद्धान्तों की कोई क़दर करनेवाला रूस में नहीं है। वहाँ तो हिंसात्मक क्रान्तिकारी लेनिन की ही पूजा हो रही है। रूसी काश्तकारों का वही आराध्य-देव है। जिस मन्दिर में लेनिन की उपासना हो रही है, उसके पिछवाड़े में टॉल्स्टॉय की मूर्ति खंडित पड़ी हुई है।

उनका प्रचारक मनुष्य चाहे कैसा भी हो, फिर भी सद्विचार अपना सुयोग्य पात्र पाकर जड़ पकड़ ही लेते हैं। जिन दिनों टॉल्स्टॉय महोदय अपने अहिंसात्मक असहयोग-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार अपनी लेखनी-द्वारा कर रहे थे, उन दिनों एक प्रवासी भारतीय नवयुवक जन्मगत सतोगुणी संस्कारों को लेकर अपनी जीविका की तलाश करता हुआ दक्षिण-आफ्रिका की विषम परिस्थिति में अपने जीवन को डाल चुका था। उस गैराङ्ग-दलित महाद्वीप में प्रवासी हिन्दुस्थानियों की दयनीय दशा को देखकर उसका करुणापूर्ण हृदय फूट-फूट कर रक्त

के आँसू ढाल रहा था। स्वभाव से वह क्षमाशील था, दयावान् था और सदाचार-शील था। इच्छा-शक्ति उसकी अप्रतिम थी। उसके पौरुष की धार शमशेर से भी तेज थी। जातीय अपमान की छुरी उसके अन्त-करण मे धँस चुकी थी। इसलिए वह बेचैन था, व्याकुल था और मनुष्य की अनादृत प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने के लिए वह कृत-सकल्प था। फिर भी दक्षिण-आफ्रिका की उस अमानुषिक व्यवस्था में वह निस्सहाय था। ठीक इसी मौके पर टॉल्स्टॉय के अहिंसात्मक विचारो के बीज उसके सुसस्कृत हृदयक्षेत्र में जाकर पडे। अपने लिए सुयोग्य भूमि पाकर बात की बात में वे अकुरित हो गये और थोडे ही दिनो में पल्लवित होकर फूलने-फलने भी लगे। इस तरह जो विचार केवल ऊपर ही ऊपर हवा में उड रहे थे, वे एक महान् सुयोग्य पात्र को पाकर मूर्तिमान् हो गये और दक्षिण-आफ्रिका के कटकाकीर्ण पथ पर चलने-फिरने लगे। इस तरह अहिंसात्मक सत्याग्रह ने मानव-शरीर धारण किया और आततायियो को ललकार कर कहा, "प्यारे दुराचारियो, ठहरो, तुम्हारे मान-सिक पक्षाघात का उपचार मुझे मिल गया, उसे लेकर मैं आ रहा हूँ।"

विचारशील पाठको से यह कहने की आवश्यकता नही कि अहिंसात्मक सत्याग्रह की इस देव-दुर्लभ भावना को विचारो के वायुयान से उतारकर ठोस पृथ्वी पर सक्रमणशील बनानेवाला, खोई हुई मानवी प्रतिष्ठा को दलित जन-समाज के हृदय-मन्दिर में फिर से स्थापित करने-वाला, निर्बलो का बलराम, निस्सहायो का सहायक और दीन, अनाथ तथा अपाहिजो का यह आजानुबाहु और समर्थ सरक्षक कौन था। आज उसके प्रात स्मरणीय नाम की सुगन्ध से चारो दिशायें सुवासित हो रही हैं। किसी इतरफरोश का यदि कोई सुयोग्य वशधर हो, तो ऐसा हो।

इस तरह पाठको को ज्ञात होगा कि जिन सिद्धान्तो को टॉल्स्टॉय ने अपने कल्पना के नेत्रो से देखा था, उनके प्रत्यक्ष अनुसरण और सशोधन का गुरुतम भार दैव ने गाधी जी के कन्धो पर ही डाला। इस दुर्वह उत्तरदायित्व का उन्होने जिस अप्रतिम निष्ठा के साथ निर्वाह किया

है, उसे दुनिया जानती है। उनकी लगाई हुई कर्तव्य-निष्ठा की स्वर्गीय लता ससार की पथरीली भूमि में भले ही मुरझा जावे, पर समझदार दुनिया को इस चतुर माली के निमवत कुछ भी शिकायत नहीं हो सकती। अपने चारो ओर देखकर बताइए तो सही कि आज इस ससार-क्षेत्र मे किस पीर अथवा पैगम्बर का बाग हरा-भरा है। हजरत ईसा का उद्यान तो रेगिस्तान हो रहा है। मुहम्मद की लगाई हुई क़लमों पर सिर्फ दो-चार पत्तियाँ फूटकर फिर मुरझा गई। गौतम बुद्ध का बग़ीचा कटीली झाडियो से परिपूर्ण हो रहा है। क्या आश्चर्य है यदि गाधी का गुलशन भी भविष्य में उसी दुरवस्था को प्राप्त हो जावे।

बीसवी शताब्दी ने तीन प्रख्यात पुरुष पैदा किये, टॉल्स्टॉय, लेनिन और गाधी। टॉल्स्टॉय केवल विचारक थे, उन्हें कर्मण्य क्रान्तिकारी की पदवी देना अनुचित होगा। लेनिन, टॉल्स्टॉय को रूस से बहिष्कृत करनेवाला एक क्रान्तिकारी और कर्मशील सत्पुरुष हो गया। परन्तु वह विचारक नही था। उसने कार्ल मार्क्स का सोलह आने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था और विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से प्रेरित होकर रूसी जन-समाज की समस्या को उसने केवल आर्थिक दृष्टि से ही देखा था। अधिकाश लोगो का अधिक से अधिक भौतिक सुख-सम्पादन करना ही उसका जीवन-लक्ष्य था। उसे सिद्ध करने में उसने हिंसा-अहिंसा के तात्त्विक पचडों से अपने कार्यक्रम को सर्वथा मुक्त रखा। 'शठे शाठ्य समाचरेत्' वाली व्यावहारिक नीति का ही उसने अनुसरण किया और अन्त में वह सफल भी हुआ। परन्तु सर्वागीण मानवी दृष्टि से हम लेनिन को एक सफल क्रान्तिकारी नेता ही कह सकते हैं। उसे महापुरुष कहने में हमें कुछ सकोच ही होता है।

लेकिन यदि टॉल्स्टॉय की मनुष्योचित सिद्धात-निष्ठा के साथ लेनिन की कर्मण्यता का मेल कर दें तो दोनो के जोड़ से जो योगफल निकलता है वही गाधी है। भारतीय जन-समाज के इस लोकोत्तर लोक-नायक मे टॉल्स्टॉय की शुद्ध, सतोगुणी नीति-निष्ठा और लेनिन की क्रान्तिकारिणी

कर्मण्यता दोनो विद्यमान है। क्रान्तिकारिता और नीतिमत्ता दोनो के समुच्चय का नाम गाधी है। टॉल्स्टॉय और लेनिन दोनो के गुण इस भारतीय सत्पुरुष मे विद्यमान है। पर दोनो की न्यूनताओ से वह मुक्त है। टॉल्स्टॉय एक नीतिमान् विचारक था। लेनिन रशियन जन-समाज का एक क्रान्तिकारी नेता था। परन्तु गाधी एक युग-सदेश-वाहक महापुरुष है। उसे केवल भारतीय राष्ट्र-नेता समझना उसकी महत्ता को सकुचित करना है।

यदि हम सासारिक दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है कि लेनिन के द्वार पर आज विजय की दु दुभी बज रही है। परन्तु गाधी अपने अरमानो की गठरी पीठ पर लादे हुए—चोटी से एडी तक पसीना बहाते हुए—अभी भी अपने कटकाकीर्ण पथ पर पैदल चला जा रहा है। मालूम नही इस भौतिक जीवन मे वह अपनी मजिले-मकसूद तक पहुँच सकेगा या नही। सभावना निश्चित रूप से कहती है, 'नही।' वस्तुस्थिति भी स्पष्ट शब्दो मे कह रही है कि गाधी जी की दिल्ली अभी बहुत दूर है। जिस आदर्श व्यवस्था का स्वर्ण-स्वप्न वे देख रहे है, वह ससार की दृष्टि से सर्वथा ओझल है। भले ही हो, परन्तु उनका लक्ष्य-बिन्दु उन्हे स्पष्ट-रूप से दिखाई दे रहा है। जन-समाज उनका साथ दे या न दे, परन्तु वे तो अपने रास्ते चले ही जावेगे। आज तक ससार ने किस महापुरुष का साथ दिया ? न तो जन-समाज ही ऐसे आदर्शवादी महात्माओ का साथ देता, न ऐसे महात्मा ही जन-समाज के साथ साथ चलते। गाफिल ससार को एक झटका (Moral shock) देकर जीवन के अतिम लक्ष्य की ओर सकेत करते हुए चलते बनते हैं। ऐसे अन्तर्दर्शी पुरुषो की विजय-घडी अभी बहुत दूर है, इतनी दूर है कि उसे हम अभी कल्पित भी मान लें तो कुछ भी अनौचित्य नही। परन्तु इसमे सदेह नही कि अन्तिम जीत उन्ही की होगी, क्योकि मूल-गत ईश्वरीय मन्तव्य उन्ही के साथ है।

अन्ततोगत्वा विजय के नगाडे उन्ही के द्वार पर बजेंगे। He laughs best who laughs last.

अध्याय ३०

शान्ति-समस्या

शान्ति-स्थापन की समस्या आज की नहीं, सृष्टि-परम्परा से चली आई है। जिस दिन एक से दो हुए, उसी दिन से भेद-बुद्धि का सूत्रपात हो गया और जिस दिन भेद-बुद्धि जाग्रत हुई उसी दिन शान्ति-भग हो चुका। तात्पर्य यह कि द्वैत-भाव-सचालित ससार में अशाति का होना सर्वथा स्वाभाविक है। सत, रज और तम के तारतम्य में, विषय-वीचियो के विश्व-व्यापी क्षोभ में, भेद-मूलक स्वार्थो के सघर्ष में शान्ति कैसी? अस्तित्व की दो अवस्थायें हैं। पहली स्थिर है, दूसरी गतिमान् है। जो स्थिर है, वही शान्त है और जो गतिमान् है—चचल है, वह अशान्त है। अस्तित्व की जो अवस्था स्थिर और शान्त है, वही आदि और अतिम भी है। गति और अशान्ति के मूल में भी वह विद्यमान है। गति एक ऐसी अवस्था का नाम है जिसकी कल्पना ही स्थिरता की कल्पना के विना सभव नहीं। अतएव स्थिरता एक त्रिकालाबाधित अवस्था का नाम है। यह अवस्था अनादि काल से चली आई है, वर्तमान में बनी हुई है और अनन्त काल तक बनी रहेगी। यथार्थ में वह देश और काल से परे है। गति उसका बाहरी विकृत एव मायावी रूप है। गति के साथ साथ ही तो देश और काल का निर्माण होता है। अखड और सर्व-व्यापी अस्तित्व की गतिमान् अवस्था का नाम ही तो जगत् है। जगत् कहलानेवाली यह अवस्था देश (Space), काल (Time) और कार्य-कारण-सम्बन्ध (Causation) से ओत-प्रोत है। जहाँ तक गति है, वहाँ तक जगत् है और जहाँ तक जगत् है वहाँ तक देश, काल और कार्य-कारण-सम्बन्ध है। यदि ऐसा भी कहें तो कोई हर्ज नही कि जो गति है, वही जगत् है और जो जगत् है वही देश, काल और

कार्य-कारण-सम्बन्ध हैं। तीनो यथार्थ में पर्यायवाची शब्द-योजनाये हैं। तीनो त्रिगुणात्मक हैं। इन्ही त्रिगुणात्मक तीनो के पारस्परिक तारतम्य, आकर्षण, विकर्षण, क्षोभ तथा आदोलन से अशान्ति उत्पन्न होती है। अतएव अस्तित्व की मूलगत और अक्षुण्ण शात्यवस्था से स्थूलदृष्ट्या भिन्न अशात्यवस्था का नाम ही जगत् अथवा ससार है। गति ही जगत् है और गति में स्थिरता नहीं, अशाति है। अतएव जगत् और अशाति दोनो समानार्थक शब्द हैं। इस जगद्रूपी अशाति और अशाति-रूपी जगत् मे शाति-स्थापन करने की समस्या उसी दिन उत्पन्न हो गई, जिस दिन सृष्टि का सूत्रपात हुआ। सृष्टि के अत तक वह किसी न किसी अश में वनी रहेगी। शाति में तो ससार का लय ही हो जाता है।

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शान्ति चाहिए ही क्यो, अशान्ति क्यो न सही ? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर देने के पहले हम इतना समझ लें कि ऐसा प्रश्न मनुष्य की अकेली तार्किक वुद्धि ही कर सकती है। हृदय तो ऐसा प्रश्न ही करने के लिए सहमत नही होता। मनुष्य के अन्त करण को शान्ति स्वभावत प्यारी लगती है, क्योकि वह तो मनुष्य की आत्मा का मूलगत स्वभाव है। अपना स्वभाव किसे प्यारा नही लगता ? अपनी जीव-दशा मे आत्मा किसी भी श्रेणी में हो, पत्थर से परमात्मा तक वह शान्ति का प्रेमी है। पृथ्वी पर अदृष्ट-रूप से चलता हुआ क्षुद्रातिक्षुद्र कीडा अपनी सारी शक्तियो को समेट कर और उसी के सहारे अशान्त हृदय से घटे भर में एक इच के हिसाव से अविराम गति से चला जा रहा है। किधर, किस इच्छा से और क्यो ? वनस्पति तथा प्राणि-ससार में अज्ञानी जीवधारी जीवन-सग्राम में लडते-झगडते, रोते-हँसते, हर्ष-विषाद की उथल-पुथल में उतराते हुए, मार-काट और लूट-पाट के भयकर स्वार्थ-सघर्ष से गुज़रते हुए आखिर किधर जा रहे हैं, वे चाहते क्या है ? एक ज्ञानी एकान्त मे आसीन होकर नेत्रो को वन्द करके इन्द्रियो को अन्तर्मुखी वनाता हुआ किसका चिन्तन कर रहा है ? इन तीनो के तरीके, साधन-शक्ति और आत्म-जाग्रति भले ही भिन्न-

भिन्न अथवा न्यूनाधिक हो, पर तीनो का लक्ष्य-विन्दु एक है। मूर्ख और ज्ञानी, दुर्बल और बलवान्, कुली और श्रीमान् सभी अपनी-अपनी अवस्था में अशान्त हैं। सब कुछ है, पर सबको कुछ न कुछ चाहिए ही।

हज़ारो ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पै दम निकले
'बहुत निकले मेरे अरमान, लेकिन फिर भी कम निकले'

वह कौन-सा अरमान है जो हर दिल मे मौजूद है, जो उसे बावला बना रहा है और जिससे ससार की सारी खटपट अपनी प्रेरणा पा रही है? वह है शान्ति की इच्छा और उसकी तलाश। स्वार्थी और परमार्थी दोनो उसके उपासक है। अतएव उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर तो यही है कि शान्ति की इच्छा करना प्रत्येक जीवधारी का स्वभाव है, चाहे उसकी शान्ति-कल्पना कितनी ही ओछी हो और उसे प्राप्त करने के साधन कितने ही विभिन्न हो। ससार इसी शान्ति को भौतिक सुखो मे ढूँढ रहा है और ज्ञानी महात्मा इसी शान्ति की तलाश अपने अन्तः-करण मे किया करते है। साध्य सबका एक ही है, पर साधन और शैलियाँ भिन्न-भिन्न है। शान्ति साध्य है और हमारी सारी कर्मण्यता उचित अथवा अनुचित प्रकार से उसी के लिए है।

इस अशान्त ससार में शान्ति-सत्ता सम्पूर्णतया स्थापित करना यद्यपि असम्भव है, तथापि किसी अश मे वह शक्य और आवश्यक भी है। उसके बिना जन-समाज की प्रगति सभव नही हो सकती। इसी कारण दुनिया की तासीर को समझते-बूझते हुए भी सज्जन लोग जन-समाज में शान्ति-स्थापन के लिए ही प्रयत्नशील रहते आये हैं। लोक-नायक नेताओ तथा महापुरुषो का जीवनोद्देश्य ही यही हुआ करता है। सामाजिक व्यवस्था की रचना भी सर्व-साधारण लोगो की स्वार्थ-प्रेरित कुत्सित प्रवृत्तियो को अनुशासित करके समाज में शान्ति-स्थापन करने के अभिप्राय से ही की गई है। तात्पर्य यह कि द्वद्वज ससार के स्वार्थमूलक स्वाभाविक सघर्ष तथा तज्जनित क्षोभ एव अशान्ति में जितनी शान्ति शक्य और

सभव हो उतनी बनाये रखना मानवी सभ्यता का हमेशा से उद्देश्य रहता आया है। जो मनुष्य-जाति जितनी सभ्य होती है, उतनी ही वह शान्ति-प्रिय होती है। यथार्थ मे मनुष्य की शान्ति-प्रियता ही उसकी सभ्यता का सच्चा मानदड है। द्वेष, स्वार्थ-परता और कलह-शीलता अशान्ति फैलानेवाले मानवी दुर्गुण है, अतएव वे बर्बरता के लक्षण हैं। यदि मनुष्यत्व के इस मानदड मे वर्त्तमान युग की सभ्यताभिमानी जातियो की हम परीक्षा करे तो हमे कुछ ऐसे निर्णय पर आना पडता है जो उनके दावे का सर्वथा विरोधी है। यो तो ससार की बाल्यावस्था से आज तक जीवन-सग्राम की बदौलत प्राणियो मे स्वार्थ और कलहशीलता बनी ही आई है; फिर भी इन बीसवी शताब्दी की दुनिया मे भी बर्बरता के प्राचीन लक्षण किसी कदर कम नही दिखाई देते। प्राचीन काल मे लोग अपेक्षाकृत कम चालाक तथा साधन-सपन्न थे और जन-सख्या की कमी के कारण जीवन-सग्राम इतना उग्र नहीं था जितना आज है। इस कारण स्वार्थ-सघर्ष की जितनी दुर्धर्षता एव बीभत्सता इस युग मे दृष्टिगोचर हो रही है उतनी इतिहास के पृष्ठो मे नहीं दिखाई देती। फिर हम किस बुनियाद पर दावा करे कि वर्त्तमान का जन-समाज अधिक सभ्य है? आज की दशा तो यह है कि पश्चिमी दुनिया के आक्रमणशील और आततायी राष्ट्र सरे आम अपने से कमजोर जातियो पर आघात कर रहे हैं और कोई इस अत्याचार का सुननेवाला ही नही। पश्चिमी राष्ट्रो का नैतिक पतन यहाँ तक हो चुका है कि वे खामखा दूसरी दुर्बल जाति के घरो मे दिन-दहाडे घुसकर उनका सर्वस्व छीन लेते हैं और बडी बेशरमी के साथ कहा करते हैं कि तुम्हे हमारी जरूरत है और इस जरूरत का ज्ञान तुम्हारी नासमझी के कारण तुम्हे खुद ही नही है। कैसी विचित्र समझ-दारी है इन समझदार सभ्यो की!

जिस समय ये पक्तियाँ लिखी जा रही है उस समय की परिस्थिति को देख-सुनकर ऐसा कौन समझदार आदमी यह कहने का साहस करेगा कि आज की दुनिया इसानो की दुनिया है? जो सबल और शक्ति-

सपन्न हैं वे अपनी शक्ति के दुरुपयोग से पतित हो रहे हैं और जो निर्बल और पराजित हैं, वे पुरुषोचित शक्ति के अभाव ही में पशुवत् हो रहे हैं। 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरति।' साराश यह कि आज के स्वय-कथित सभ्य ससार मे सबल और निर्बल, दोनों के दोनों इन्सानियत ने हाथ धो बैठे हैं। पतन के कारण अलग अलग हैं, परन्तु परिणाम एक ही है। अर्थ-लोलुप पश्चिमी राष्ट्र आजकल नख से शिख तक शस्त्र-सज्जित होकर इस पृथ्वी पर अपना आतक जमाये हुए बैठे हैं, परस्पर एक दूसरे की ओर देखकर गर्जन-तर्जन किया करते हैं, अपनी फ़ौजी शक्तियों का प्रदर्शन करते हैं और मौका पाते ही अपने से किसी कमजोर पर टूट पड़ते हैं। इस अनाचार के बिलकुल प्रत्यक्ष उदाहरण इटली और जापान के दुर्व्यवहार हैं। वर्तमान इटली का खूँख़ार विधाता मुसोलिनी सरासर अबीसीनिया पर अत्याचार कर रहा है; उसकी मरजी के विरुद्ध उसे हड़प जाना चाहता है। पर दुर्बल अबीसीनिया की कोई सत्ता नहीं, उसकी करुण-कहानी सुननेवाला कोई नहीं है। जापान की सैनिक शक्ति से कायल होकर और उसकी कूटनीति के चक्र में फँसकर चीन की भी यही दुर्दशा हो रही है। फिर हिन्दुस्थान की निसबत क्या कहें, उसकी दशा तो प्रत्यक्ष है। इनके सिवाय पृथ्वी पर अनेक छोटे-बड़े स्थान हैं जहाँ किसी न किसी पश्चिमी राष्ट्र का बोलबाला है और जहाँ के मूल-निवासियों का समुदाय या तो समाप्त हो गया या अत्यन्त त्रस्त दशा में विद्यमान है। अमेरिका के 'रेड इंडियन्स' का कहीं पता नहीं, इने-गिने ही रह गये हैं। अफ़्रिका के मूलनिवासी हब्शियों पर यूरोप और अमेरिका के गोरे राष्ट्रों का आक्रमण वर्षों से जारी है। अबीसीनिया हब्शी जाति का एक स्वतत्र राष्ट्र है। हब्शियों की महत्त्वाकाक्षा का वह मूलाधार है। यदि उस पर आघात हुआ, यदि अबीसीनिया इटली से पराजित होकर अपनी स्वतत्र राष्ट्रीयता खो बैठा तो फिर हब्शियों का भविष्य अत्यन्त शोचनीय है।

गत यूरोपीय महायुद्ध के समय से इन बीस वर्षों के इतिहास की ओर

यदि हम दृष्टिपात करे तो अनायास ही प्रतीत होता है कि इस पृथ्वी पर ईर्ष्या, अविश्वास और युद्ध का आतक छाया हुआ है। वर्सेलीज की सधि के बाद जो शान्ति-काल आया वह तो खुली हुई खून-खराबी से और भी भयकर सिद्ध हुआ है। इस काल मे सभी पश्चिमी राष्ट्र अपनी अपनी सैनिक शक्ति बढाने में संलग्न रहते आये हैं। जर्मनी को कुचल कर निर्जीव कर देने का प्रयत्न निष्फल हुआ। लाखो राइफले, हजारो मन बारूद, सैंकडो मैशीनगन और पचासो तोप सधि की शर्तों के अनुसार नष्ट करके लाखो पौड साल-ब-साल नुकसानी देते देते जर्मनी की अन्तरात्मा अधीर और उन्मत्त हो उठी। उसका जाग्रत स्वाभिमान हिटलर का रूप धारण करके ललकार उठा और नाजी सिपाहियो की फौजशाही (Military Dictatorship) स्वीकार करके जर्मनी के जन-समाज ने वर्सेलीज़ के सधि-पत्र को राष्ट्र-सघ के सामने ही एक सिरे से दूसरे सिरे तक फाड डाला। आखिर कोई कहाँ तक बर्दाश्त करे! सधि की शर्ते ही कुछ ऐसी थीं कि उनके आधार पर यूरोपीय राष्ट्रो मे शान्ति-स्थापन करना असम्भव था। उन शर्तों का पालन कराने के लिए तथा उनके द्वारा उत्पन्न की हुई विषम-परिस्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से ही राष्ट्र-सघ का निर्माण हुआ था। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन की १४ शर्तें जहाँ की तहाँ रह गई। ऐसा भला आदमी स्वय अपने घर ही में बदनाम होकर तिरस्कृत हो गया। उसने नेकनीयती से काम लिया, इसलिए वह बाहर-भीतर दोनो जगह अनादृत हो बैठा। यूरोपीय जन-समाज मे वस्तु-स्थिति तो ऐसी थी कि लोग युद्ध की खून-खराबी से बिलकुल त्रस्त हो चुके थे। वहाँ ऐसे बहुत कम कुटुम्ब रह गये थे जो युद्ध से खडित न हुए हो। लोगो ने रुधिर के आँसू पीकर यह अनुभव किया कि युद्ध एक बडी बदसूरत बला है। यह सार्वजनिक प्रेरणा, राष्ट्र-सघ (League of Nations) की जननी हुई। परन्तु इस प्रेरणा को कार्य-रूप मे परिणत करनेवाले सत्ताधारियो की मनोवृत्ति वैसी शुद्ध नही थी। युद्ध के व्यय-भार से वे

त्रस्त जरूर थे, परन्तु अपने सैनिक खर्च को पूरा करने तथा चलाने के लिए ही उन्होने वर्सेलीज के सधि-पत्र में कुछ ऐसी अनुचित शर्तें तय कराई कि उसके द्वारा लाई हुई बनावटी शाति युद्ध से भी भयकर हो गई। कुछ काल के वाद जर्मनी की उग्रता को देखकर लीग के सदस्य शकित होने लगे। युद्ध की आशका जो पहले से ही विद्यमान थी और भी वढ गई। परिणाम यह हुआ कि सभी राष्ट्र अपने-अपने घरो में प्रच्छन्न रूप मे युद्ध की तैयारी मे लग गये और प्रकट रूप से नि शस्त्रीकरण (Disarmament) की योजना भी पेश करने लगे। 'मुख में मेरे राम, वगल मे है छुरी'वाली कहावत चरितार्थ होने, लगी। मिथ्याचारियो का राष्ट्रसघ ऐसी हालत में कितने दिनो तक टिक सकता था ! उसकी जड हिलने लगी। उसके सदस्यो ने ही उस पर आघात किये। अपना अपना मौका पाकर सभी ने लीग के सिद्धान्तो को ठुकराया। सवसे पहले त्रस्त जर्मनी ने ही उसकी ओर अँगूठा दिखाया। वाद जापान की वारी आई और चीन में अपनी साम्राज्य-पिपासा को शान्त करने के लिए वह लीग से अलग हो गया। अवीसीनिया पर अपना अधिकार जमाने के लिए आज इटली भी राष्ट्र-सघ की ओर तिरस्कार की उँगली दिखा रहा है। इस तरह पाठक देखेंगे कि सघ की प्रतिष्ठा विलकुल खो चुकी है, उसका वाहरी ढाँचा और प्रदर्शन-मात्र मौजूद है।

इसमें तो किसी को सन्देह नही होना चाहिए कि राष्ट्र-सघ का भविष्य आशाजनक नही है। इसका सवसे प्रधान कारण तो यह है कि जिस वुनियाद पर इस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की रचना हुई है वह विलकुल नैतिकता-शून्य और कच्ची है। युद्ध के समय लोगो की सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए मित्रराष्ट्रो ने इस वात की घोषणा की थी कि हम इस पृथ्वी को अनियत्रित सत्ता की वुराइयो से मुक्त करने के लिए (To make the world safe for democracy) जर्मनी का विरोध कर रहे हैं। परन्तु जव जर्मनी अमेरिका की मदद से परास्त कर दिया गया तो अमेरिकन राष्ट्रपति के उदार चौदह मन्तव्यो को इन

कुटिल राष्ट्रो ने ठुकरा दिया और पूंजीवाद-प्रसूत साम्राज्यवादी दृष्टि-कोण से प्रेरित होकर ही उन्होंने राष्ट्र-सघ की रचना की। उसके निर्माण में इंगलैंड, फ्रास, इटली और जापान का ही विशेष योग था। ये चारो साम्राज्यवादी राष्ट्र हैं और पृथ्वी के इतर देशो में अपनी अनियत्रित सत्ता चला रहे हैं। भला ऐसे लोगो के प्रयत्न से पृथ्वी पर प्रजा-सत्ता सुरक्षित रह सकती है? जो राष्ट्र स्वय दूसरो के जन्म-सिद्ध अधिकारो को छीनने पर तुले हुए है और जो अपने मे कमजोर जातियो पर नादिर-शाही शासन स्वय चला रहे हैं, वे किस मुंह मे ऐसा कह सकते है कि पृथ्वी पर प्रजा-सत्ता स्थापित करना उनका एकमात्र उद्देश्य है? फिर भी इन कुटिलकर्मा राष्ट्रो ने ऐसा ही कहा और अब भी कहा करते हैं। परन्तु हमारी दुनिया अब सचेत हो गई है, अधिक धोखा नही खा सकती। वह अब समझ चुकी है कि राष्ट्र-सघ के सचालक साम्राज्यवादी राष्ट्र केवल सबलो के सहायक ह, कमजोर जातियो की रक्षा करने की न तो उनकी मशा है, न फिर ऐसे काम के लिए उनके पास साधन ही हैं। जहां नीयत ही साफ नहीं, वहां मिथ्याचार के सिवाय शेष कुछ भी नही रह जाता।

नैतिक सिद्धान्त और सद्भावना का यह शोचनीय अभाव राष्ट्र-सघ के विनाश के लिए बहुत काफी थो। फिर भी उसकी दूसरी कमजोरी और भी है जो उसके दड-विधान (Sanction) से सम्बन्ध रखती है। राष्ट्र-सघ का मुख्य मन्तव्य यह है कि सघ के सदस्यो के बीच किसी भी कारण से कोई हिंसात्मक विग्रह यानी युद्ध न होने पावे। यदि ऐसे दो राष्ट्रो में किसी तरह स्वार्थ-सघर्ष पैदा हो जावे तो वे अपना-अपना दावा लीग के सामने ही पेश करें और इस सस्था का जो अन्तिम निर्णय हो, उसका पालन करें। सघ का यह भी मन्तव्य है कि यदि कोई सदस्य उसके निर्णय की अवहेलना करे, तो उल्लघनकारी राष्ट्र का सामूहिक रूप से लीग के सदस्यो के द्वारा आर्थिक बहिष्कार किया जावे। राष्ट्र-सघ का यही दड-विधान है, क्योकि उसके पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय सेना

नहीं है। ऐसी सेना उसके पास रह भी नहीं सकती; क्योंकि हिंसात्मक युद्ध के स्थान पर नैतिक प्रतिकार (Moral equivalent) की मनुष्योचित प्रणाली का प्रचार करने के लिए ही तो उसकी सृष्टि हुई है। ऐसी दशा में आर्थिक बहिष्कार (Economic boycott) के सिवाय राष्ट्र-संघ के 'पिनलकोड' में संघ की अप्रसन्नता प्रकट करने का कोई दूसरा साधन ही शेष नहीं रह जाता।

परन्तु इन पन्द्रह वर्षों के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि यह दंड-विधान किसी मर्ज की दवा नहीं है। पश्चिम के व्यवसाय-प्रधान राष्ट्र अपने आर्थिक सम्बन्धों में परस्पर ऐसे उलझे हुए हैं कि कोई भी एक राष्ट्र दूसरे का पूर्णतया आर्थिक बहिष्कार नहीं कर सकता। ऐसा करना अपने को ही अर्थ-संकट में डालना है। जब किसी एक राष्ट्र के सम्बन्ध में ऐसी कठिनाई उपस्थित हो सकती है तो सामूहिक रूप से इस दंड-विधान को अमल में लाना तो एक प्रकार से असम्भव-सा प्रतीत होता है। जर्मनी और जापान दोनों ने लीग के निर्णय की अवहेलना की, परन्तु उनका आर्थिक बहिष्कार अमल में नहीं लाया जा सका। ऐसे बहिष्कारों से पूँजीपतियों की पूँजियाँ खतरे में पड़ जाती हैं और वे ही अधिकांश राष्ट्रों के इस समय भाग्य-विधाता बने हुए हैं। फिर आर्थिक बहिष्कार का दंड-विधान व्यवहार्य ही कैसे हो? इसी अनुभव का आधार लेकर इटली भी इस दंड-विधान से निश्चिंत है और लीग के निर्णय को कोई महत्व नहीं देता। इसी निश्चिंतता से उत्तेजित होकर वह अबीसीनिया को हड़प जाने पर तुला हुआ है और राष्ट्र-संघ की बहिष्कार-योजना की परवाह नहीं करता। तात्पर्य यह कि जिस संस्था की रचना में कोई शुद्ध सतोगुणी सिद्धान्त नहीं, जिसके सदस्यों की नीयत साफ़ नहीं और जिसमें पारस्परिक सद्भावना का एकान्त अभाव हो, जिसके दंड-विधान में व्यावहारिक सफलता की कोई गुंजाइश ही नहीं और जो प्रजा-सत्ता के स्वभाव-सिद्ध विरोधी साम्राज्यवादियों के द्वारा संचालित

हो, उसके प्रयत्नो से पृथ्वी पर शान्ति-स्थापन कदापि नही हो सकती। शान्ति की कुजी किसी और आदमी के पास है, मिथ्याचारी राष्ट्र-सघ उसे प्राप्त नही कर सकता। प्रस्तुत प्रकरण मे हमें इसी एक वात पर विचार करना है कि शान्ति का यह देव-दुर्लभ सावन किसके पास किस रूप मे विद्यमान है।

इस पृथ्वी पर चार वडे वडे महाद्वीप (Continents) विद्यमान है। एशिया, यूरोप, आफ्रिका और अमेरिका। इन चारो मे से एशिया और आफ्रिका में काले, पीले, गोरे और भूरे आदमियो की वस्ती है और यूरोप तथा अमेरिका मे सफेद जातियो का जन-समाज है। सफेद जातियाँ अविक से अविक सख्या में ईसाई-मतावलम्वी है और उनकी सस्कृति एव सभ्यता एक ही है। इसी कारण इन जातियो मे राष्ट्रीय स्वार्थ-विरोव होते हुए भी मजहव और सभ्यता के आवार पर एक तरह की अन्तर्निहित अभिन्नता है जिसके कारण वे एक दूसरे को परस्पर प्रतिष्ठा और प्रेम की दृष्टि से देखा करते है। एशिया और आफ्रिका के जन-समाज मे अनेक रग, अनेक जाति तथा अनेक मजहव के लोग रहते हैं। उनकी सस्कृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण एशिया तथा आफ्रिका के लोगो में अन्तर्जातीय आदर, प्रेम और सवद्धता विलकुल नही है। वे एक दूसरे से उदासीन और विमुख रहते आये है। आफ्रिका की चर्चा तो हम छोड ही दें, क्योकि वहाँ किसी सभ्य और होनहार जाति का निवास ही नही है। वहाँ इजिप्ट ही एक ऐसा देश है जिसकी सभ्यता किसी युग में वढी-चढी थी। पर आज तो वह मुसलमानो का देश है और उसकी प्राचीन सभ्यता की सम।घियाँ खोदी जा रही है। अधिकाश आफ्रिका या तो मरुस्थल है या घना जगल है। इस महाद्वीप के मूलनिवासी वर्वर है और जगलो में यत्र-तत्र विखरे हुए है। दक्षिण-आफ्रिका के अच्छे अच्छे सुविघाजनक स्थानो पर जो वडे-वडे नगर वसाये गये है, वे यूरोप की सफेद जातियो की सभ्यता, उद्यम और प्रभुता के परिणाम हैं। अतएव दक्षिण-आफ्रिका

में सफेद जातियो का ही बोलबाला है, बेचारे काले हबशियो का मुँह काला तो है ही।

एशिया महाद्वीप मे पाँच प्रमुख देश हैं, चीन, हिन्दुस्थान, अफगानिस्तान, ईरान और जापान। इनमें से जापान सबसे निराला है। उसने पश्चिमी दुनिया की भौतिक सभ्यता से जीवन के अधिकाश साधन स्वीकार कर लिये हैं। इस कारण उसके आचार-विचार तथा जीवन-लक्ष्य भी बहुत कुछ परिवर्तित हो चुके हैं। जापान एक छोटा-सा द्वीप है और ऐसा द्वीप कि जिसका भूगर्भ बिलकुल सडा-गला है। जन-सख्या वहाँ की बढती पर है और उसी अनुपात में जीविका के साधन कम हो रहे हैं। इन दोनो कारणो से जापानी स्वभावत उद्यमशील हैं और उनकी बढती हुई जन-सख्या के लिए उनका देश पर्याप्त नही है। इसी लिए उन्हे चीन में जापानी बस्ती बसाने की बडी जरूरत है। वे उद्यमशील और रोजगारी हैं, इसलिए उन्हें कच्चा माल भी कम लागत में चाहिए और चाहिए बाजार जहाँ उनकी बनाई हुई चीजो की खपत हो। इस व्यावसायिक और साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर जापान एशिया का इँगलिस्तान हो रहा है। एक हाथ मे तराजू और दूसरे में तलवार लेकर वह अपनी प्राचीन बौद्ध-सस्कृति से अपने दोनो हाथ धो चुका है। जापानी लोग पीली मगोल जाति के ही वशधर हैं, परन्तु उनके पीलेपन मे कुछ सफेदी और ललाई का अश भी है। इस कारण वे पश्चिम की सफेद जातियो मे ही अपनी गणना करने लगे हैं।

जापान के सिवाय एशिया महाद्वीप के दो देश अफगानिस्तान और ईरान मुस्लिम मतावलम्बी है। अरब के मरुस्थल मे भी जो थोडी-सी आबादी है वह भी मुसलमानो की है। कहने की आवश्यकता नही कि मुसलमान जाति अर्द्ध मूर्च्छित और अर्द्ध विक्षिप्त अवस्था में है। उनकी एक जातीय सस्कृति जरूर है, पर वह इस वैज्ञानिक युग को बिलकुल नही

पटती। धर्मांधता मुसलमानो की जातीय खासियत है। अतएव विवेक, विचार-स्वातन्त्र्य और औदार्य के आधार पर जो प्रगतिशीलता उत्पन्न होती है उससे मुस्लिम-मनोवृत्ति बिलकुल अछूती है। एशिया के मुसलमान देश यद्यपि स्वतन्त्र हैं, तथापि वे पश्चिमी राष्ट्रो की कुटिल नीति के शिकजे मे पडे हुए हैं। अतएव इस समय स्वतन्त्र राष्ट्रो की मण्डली मे उनकी कोई विशेष प्रतिष्ठा नही है। न तो वे बुद्धिमान् हैं, न विशेष उद्यमी है। फिर उन्हे राष्ट्रो की पंक्ति में आदर का स्थान क्यो कर प्राप्त हो।

अब रहे चीन और हिन्दुस्थान। ये दोनो बहुत बडे बडे देश हैं। पहले की आबादी चालीस करोड के ऊपर है और दूसरे की जन-संख्या पैंतीस करोड है। यदि ये दोनो देश जाग्रत होकर मिल जावें तो उनका सामना करनेवाली इस पृथ्वी पर ईश्वर के सिवाय कोई दूसरी शक्ति ही न रहेगी। पर दुनिया के दुर्भाग्य से चीन और हिन्दुस्थान दोनो मुरदार है। 'मुर्दे है पर मौजूद है', यही उनकी राष्ट्रीय विशेषता है। इन दोनो देशो की सभ्यताएँ बहुत पुरानी है और बहुत कुछ मिलती-जुलती है। चीन में अब तो मुसलमान और ईसाई भी है, पर वहाँ की प्राचीन संस्कृति बौद्ध है। यह संस्कृति भारतीय आर्य-सभ्यता की देनगी है। कदाचित् यही कारण है कि दोनो देशो के दृष्टिकोण प्राय समान है। उनकी वर्तमान दुरवस्था को देखकर हमें यह कहने का साहस नही होता कि उनके जीवन-लक्ष्य पारमार्थिक है। परन्तु इसमें संदेह नही कि उनका प्राचीन रूप वही था। वर्तमान मे तो पारमार्थिक दृष्टि का विकृत और खोखला रूप ही चीन और हिन्दुस्थान के जन-समाज में दृष्टिगत होता है। चीन के लोगो में मजहबो की भिन्नता रहते हुए भी एक ही संस्कृति मौजूद है और इसी कारण वहाँ दो सगे भाई भिन्न-भिन्न मजहबो को मानते हुए भी एक ही घर में रह सकते है। यह चीनियो की बडी सुन्दर विशेषता है। परन्तु अभागा चीन प्रान्तीय वैमनस्य का शिकार है। एक प्रान्त से दूसरा प्रान्त हमेशा ऐंठा रहता

है। इस कारण वहाँ कोई सार्वभौम सत्ता ही नहीं है। इसी कारण वहाँ शासन की जड़ भी दृढ़ नहीं है।

हिन्दुस्तान साम्प्रदायिक विग्रह का शिकार है। इस देश के लोग बहुत दिनों से आराम में ही रहते आये हैं। जो लोग आराम की तलाश में ही व्यस्त रहते हैं, उनमें संगठन की सम्भावना कैसे और संगठन के अभाव में स्वराज्य कैसे? इसी कारण हिन्दुस्तान परतन्त्र है। यहाँ न तो उद्यम है और न किसी तरह का अर्थोत्पादक व्यवसाय है। विदेशी चीज़ों के लिए यह देश एक खुला हुआ बाजार है। इस तरह पाठक देखेंगे कि एशिया में चीन और हिन्दुस्तान—ऐसे दो बड़े बड़े देश बिल्कुल ढीले और निकम्मे हैं। उनमें राष्ट्रीय चेतना नहीं, स्वाभिमान नहीं और इसी कारण अपने पैरों आप खड़े होने की ताक़त नहीं। इसी कारण इन दोनों दीर्घकाय देशों पर पश्चिमी राष्ट्रों की आँखें गड़ी हुई हैं। मध्य-पूर्व-स्थित स्वतन्त्र मुस्लिम देशों को अपने प्रभाव (Sphere of Influence) और कूटनीति में फँसाकर चीन और हिन्दुस्तान को अपने पंजों के नीचे दबाये रखना और अपना स्वार्थ-साधन करते हुए अपनी जीविका चलाना ही पाश्चात्य देशों का सनातन राष्ट्रीय कार्य-क्रम है। तात्पर्य यह कि एशिया की शिथिलता ही पाश्चात्य राष्ट्रों के पारस्परिक वैमनस्य और कलह का कारण है। जिस दिन चीन और हिन्दुस्तान सचेत होकर स्वतन्त्र हो जावेंगे और निरुद्यमी जीवन छोड़कर विदेशी चीज़ों के लिए अपने अपने बाजार के दरवाजे बन्द कर देंगे, उसी दिन यूरोप का अन्तर्राष्ट्रीय मनोमालिन्य बहुत कुछ घट जावेगा। एशिया के अरक्षित और मुक्त-द्वार देशों के कारण ही तो यूरोप के रोज़गारी देशों में इतनी ईर्ष्या फैली हुई है।

यूरोप एक ऐसा महाद्वीप है जहाँ छोटे-बड़े अनेक स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। उनमें ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, इटली और रशिया प्रधान हैं। रशिया को छोड़कर शेष सभी देशों में पूँजीवाले रोज़गारियों का प्रभाव है। इन्हीं लोगों की इच्छा के अनुसार इन देशों की अंतर्राष्ट्रीय नीति निश्चित

होती है। रोजगारियों को अपनी बनाई हुई चीजो की खपत के लिए हमेशा बाजार चाहिए और बाजार तो अपनी चीजो के लिए तभी पूर्णतया सुरक्षित रह सकता है जब उस स्थान पर अपना राजनैतिक अधिकार भी हो। इस विचार-सरणी से प्रेरित होकर पूंजीपतियो के प्रभाव मे रहनेवाले यूरोप के सभी रोजगारी राष्ट्र साम्राज्यवादी हैं। साम्राज्यवाद पूंजीवाद का औरस पुत्र है। इस कारण जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी रहता है।

एशिया कृषि-प्रधान महाद्वीप है। उसकी भूमि रत्न-गर्भा है। पृथ्वी को घुमा फिरा कर देखने से प्रतीत होता है कि जमीन का वह हिस्सा जो उष्ण-कटिबंध का निकटवर्ती है और जहाँ सूर्य की किरणे बहुत कुछ सीधी पडती हैं, बहुत समृद्धिशाली है। एशिया और आफ्रिका की तृतीय चतुर्थांश भूमि इसी कोटि की है। इस भूमिखण्ड मे जितने देश हैं, वहाँ वनस्पति, 'अनाज, नाना प्रकार के खनिज पदार्थ तथा इतर कच्चे माल खूब कसरत से प्राप्त होते है। ऐसे देशो के निवासियो को जन्मत. श्रीमान् समझना चाहिए। परन्तु जो जन्म से श्रीमान् होते है, वे कर्म से शिथिल, लापरवाह और ढीले भी हो जाते हैं। बडे आदमियो के बच्चे अकसर ऐसे ही निकलते है। जहाँ जीविका का प्रश्न टेढा नही है, वहाँ बहुत खटपट और दौडधूप की जरूरत नही, खाना और आराम से पडे रहना। हिन्दुस्थान और चीन के समृद्धिशाली बच्चे इसी तरह खाते-पीते आराम से पडे रहते थे। आरामतलबी ने उन्हे अकर्मण्य और असावधान बना दिया। पडे पडे शान्ति-पूर्वक तत्त्वज्ञान की बातें करते रहे। तत्त्वज्ञान ने ससार को मायावी रूप मे परिणत कर दिया और आगे चलकर इस क्षणभगुर जीवन से सहज ही अनास्था उत्पन्न हो गई। ऐहिलौकिक विराग ने त्याग की मनोवृत्ति पैदा की और त्याग ने औदार्य को जन्म दिया। औदार्य ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" मान लिया। परिणाम यह हुआ कि जो इन एशियाई देशो में आया, घर-द्वार बनाकर बस रहा। अपनी उदारता के कारण चीन और जापान दोनो हमेशा से मुक्तद्वार रहे।

एशिया की इस उदार मनोवृत्ति का यूरोप ने पूरा पूरा दुरुपयोग किया। पाश्चात्य जातियो का जन्म और लालन-पालन जिस भूमि मे हुआ है उसमे उत्पादक शक्ति बहुत कम है। अतएव यूरोप की जातियाँ जन्मना दरिद्र हैं। उनकी जन्म-भूमि उन्हे यथेष्ट जीविका नही देती। इसलिए उनके सामने जीवन-सग्राम का रूप बडा उग्र है। उद्यमशीलता तथा व्यवसाय के बिना उनको गुज़र नही। इसी आवश्यकता ने उन्हें वैज्ञानिक बनाया और विज्ञान ने व्यवसाय को बढानेवाले आविष्कार दिये। इन आविष्कारो ने थोडे ही समय में बहुत-सा माल तैयार करना शुरू किया। इसलिए बहुत-से कच्चे माल की जरूरत हुई और जरूरत हुई ऐसे बाज़ारो की—ऐसे देशो की जहाँ उनकी बनाई हुई चीज़ें खूब बिकें। बाज़ार की इस ज़रूरत ने साम्राज्य-लिप्सा को जन्म दिया और इस लिप्सा ने यूरोपीय राष्ट्रो मे कलह का बीज बोया। बीज उगा और फलने लगा। कच्ची हालत में उस फल को 'आतक' या 'अशान्ति' कहते हैं और जब वह पक जाता है तो उसे 'युद्ध' कहते है। इस समय इन्ही कलहशील यूरोपीय राष्ट्रो की बदौलत हमारी यह दुनिया अशान्ति और युद्ध के कच्चे-पक्के, कडवे फल खा रही है और आँसुओ से अपनी प्यास बुझा रही है। सभी साम्राज्यवादी यूरोपीय राष्ट्रो की आँखें एशिया और आफ्रिका के शिथिल और अकर्मण्य देशो पर गडी हुई है। एशिया के चीन और हिन्दुस्थान-सरीखे बडे बड़े देश उनकी तृष्णा के शिकार हो चुके है। हिन्दुस्थान तो ब्रिटेन के पजो के नीचे पडा हुआ है और चीन जापान से ग्रस्त है। आफ्रिका की प्राय सभी उत्पादक भूमि यूरोपीय राष्ट्रो के अधिकार में आ गई है। एक अबीसीनिया शेष बच रहा है उसे इटली आत्मसात् करना चाहता है।

ऐसी हालत मे यदि हम पश्चिमी राष्ट्रो की विग्रहशील मनोवृत्ति का निदान करना चाहें तो हमें कहना पड़ेगा कि एशिया, और आफ्रिका के निवासियो की असावधानी और अकर्मण्यता ही वर्त्तमान अशान्ति का कारण है। यदि इन लोगों में राष्ट्र-भावना जाग्रत हो जावे और

सगठित होकर वे अपने-अपने घरो के द्वार यूरोप की वनी हुई चीजो के लिए वन्द कर दें तो पश्चिमी राष्ट्रो की साम्राज्य-लिप्सा कुठित हो जावेगी और साम्राज्यवाद के क्षीण होते ही साम्राज्यवादी राष्ट्रो की प्रतिस्पर्द्धा तथा तज्जनित मनोमालिन्य भी नष्ट हो जावेगा। रोजगारी राष्ट्रो की लालच को उत्तेजना देनेवाले स्थान ही जव इस पृथ्वी पर न रह जावेंगे तो फिर उनकी पारस्परिक ईर्ष्या का कोई कारण ही न रह जावेगा। जिस दिन यूरोप के व्यवसाय-प्रधान साम्राज्यवादी एव आक्रमणशील राष्ट्रो को इस वात का अनुभव हो जावेगा कि अव एशिया और आफ्रिका मे उनकी दाल नही गल सकती, उस दिन इस पृथ्वी की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अनायास परिवर्तित हो जावेगी। उस दिन यूरोपीय राष्ट्रो को प्रतीत हो जावेगा कि फौजी खर्च वढाने में और आपस के लडने मे अव कोई लाभ नही है। नि शस्त्रीकरण की समस्या उस दिन आप ही आप हल हो जावेगी। उस दिन उन्हे राष्ट्र-सघ की आवश्यकता ही प्रतीत न होगी। यदि हुई भी तो सघ की रचना तथा दृष्टिकोण मे आवश्यक सुधार करना ही होगा। अभी तो वह जिस रूप मे विद्यमान है, वह केवल कूटनीति और कलहशीलता का आवरण-मात्र है। अभी तो यह अन्तर्राष्ट्रीय सस्था विलकुल अन्तस्सार-शून्य अवस्था में विद्यमान है। इस अवस्था मे वह पृथ्वी पर शान्ति-स्थापन करने का अधिकारी ही नही है।

इन्ही वातो पर विचार करके हमने अपनी यह निश्चित धारणा वना ली है कि शान्ति की कुजी राष्ट्र-सघ के हाथो मे नही है। फिर वह है कहाँ? कहना न होगा कि इस पृथ्वी की उलझी हुई अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को वही आदमी हल कर सकता है और शान्ति की कुजी उसी के हाथ लग सकती है जो प्रसुप्त और गाफिल एशिया को सावधान करके उसे यह सुझा दे कि उसकी सारी सपत्ति लुट चुकी है और यदि यही क्रम जारी रहा तो निकटवर्त्ती भविष्य मे उसका सर्वनाश निश्चित है। इस गम्भीर रहस्य को सुझानेवाला इस समय पूर्वी ससार मे एक ही

आदमी है जो जन्मना वैश्य होने के कारण यूरोपीय राष्ट्रों की व्यवसायी मनोवृत्ति की खूब पहचान करता है और जो एक महान् आत्मा होने के कारण न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर किसी का किसी के द्वारा लुट जाना पसन्द नहीं करता। यह महापुरुष भारतीय आन्दोलन के द्वारा पृथ्वी की सभी अचेत जातियों को ऊर्ध्वबाहु होकर कह रहा है कि "भाई, तुम सब अपना अपना घर सँभालो, स्वदेशी तुम्हारा साधन हो, स्वराज तुम्हारा साध्य हो और इस तरह अन्तर्जातीय सद्भावना तथा शान्ति स्थापित करना तुम्हारे समष्टिगत आचरण का उद्देश्य हो।" परन्तु एशिया-निवासियों के कान बहरे हैं, बुद्धि उनकी मन्द तथा विकृत है और उनकी आत्मचेतनता बहुत कुछ खो गई है। पर इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि हिन्दुस्थान के इस वैश्य महात्मा के इन अत्यन्त व्यावहारिक उपदेश-वचनों में शान्ति-समस्या को हल करने की एक अमोघ युक्ति छिपी हुई है, एशिया का अबोध जन-समाज उसे समझे या न समझे। जब तक गांधी जी के इन अनमोल वचनों का आशय वह न समझेगा, तब तक शान्ति-समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी और ऐसी हालत में इस पृथ्वी का कल्याण सम्भव नहीं है। एशिया की असावधानी ही अशान्ति का मूल कारण है और उसकी आत्मजागृति ही अन्तर्जातीय शान्ति की जननी सिद्ध होगी।

सारांश यह कि शान्ति की कुंजी राष्ट्र-संघ के हाथों में नहीं है, यथार्थ में वह महात्मा गांधी के स्वदेशी-सिद्धान्त में है। इस विषय की चर्चा हम किसी दूसरे अध्याय में स्वतन्त्र रूप से करनेवाले हैं।

महात्मा गांधी ने इस पृथ्वी के जन-समाज को आज तक जितना कुछ उपदेश दिया है उसका सारांश निकालना चाहें तो हम उसे केवल तीन शब्दों में निकाल सकते हैं, अहिंसा, स्वदेशी और सत्याग्रह। पहले और तीसरे की विस्तृत चर्चा हम कर ही चुके हैं। दूसरे की मीमांसा हम आगामी अध्याय में करनेवाले हैं। यहाँ पर हम इतना ही कह देना प्रासंगिक समझते हैं कि यदि हम अहिंसा, स्वदेशी और सत्याग्रह

इन तीनो का जुमला निकालें तो उनका योगफल हमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति (International Peace) के रूप में दृष्टिगोचर होता है॥ इन तीनो का ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध भी है। प्रकट रूप से अहिंसा और चर्खे का आन्तरिक सम्बन्ध नही दिखाई देता, परन्तु दोनो विचार परस्पर सम्बद्ध हैं। चर्खा एक साम्यवादी शस्त्र है। जहाँ उसकी चलन है, जहाँ घरेलू उद्योग-धन्धे प्रचलित हैं, वहाँ पूँजीवाद पनप नही पाता। पूँजीवाद के अभाव में साम्राज्यवाद बिलकुल निरर्थक सिद्ध होता है और जहाँ साम्राज्य-लिप्सा नही, वहाँ फौज और हिंसात्मक लडाइयो की आवश्यकता ही क्या रह गई? अतएव चर्खा अहिंसात्मक परिस्थिति का विधाता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का साधक वही हो सकता है। इस तरह पाठक देखेंगे कि महात्मा जी की अहिंसा और चर्खे (स्वदेशी सिद्धान्त) में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर जो मनुष्य अहिंसात्मक मनोवृत्ति से घरेलू उद्योग-धन्धो के द्वारा ईमानदारी की जीविका चलाता है, वही आदमी सदाचरण-शील, सच्चा सत्याग्रही भी हो सकता है। यथार्थ मे सत्याग्रह मनुष्य का दैनिक कार्यक्रम है। सत्य-पथ पर तो सभ्य मनुष्यो को हमेशा और प्रतिक्षण आरूढ रहना पडता है। अतएव सत्याग्रह के इस व्यापक आशय को स्वीकार करके यदि हम कहना चाहे तो कहना होगा कि जो अहिंसात्मक मनोवृत्ति से परिश्रम करके अपना जोवन-निर्वाह करता है और जो कभी किसी की रोटी नही छीनता, वह आदमी प्रतिदिन का सत्याग्रही है। इस तरह महात्मा जी की अहिंसा, स्वदेशी और सत्याग्रह तीनो परस्पर सम्बद्ध विचार है और तीनो शान्ति के सहायक और सपादक हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का वैज्ञानिक उपचार भी इन तीनो के मेल से तैयार हो जाता है। इसी के प्रयोग से साम्राज्यवाद-ग्रस्त जन-समाज अपने उत्कर्ष के दिन देख सकेगा, अन्यथा नही। इस तरह पाठक देखेंगे कि ससार की शान्ति-समस्या पूँजीपतियो के सकेत पर नाचनेवाले राष्ट्र-सघ से सुलझने की नही। उसे हल करने का सच्चा और स्थायी तरीका एशिया और आफ्रिका को

दलित जातियो के हाथ है और वह तरीका गाधी जी का बताया हुआ है 'अहिंसा-स्वदेशी-सत्याग्रह' का प्रयोग ही है।

हम पहले कह आये है कि यूरोपीय राष्ट्र जन्म से दरिद्र है, क्योकि उनकी अनुत्पादक एव तुषाराहत भूमि ने उनका यथेष्ट लालन-पालन नहीं हो सकता। परन्तु वे अपनी उद्योगशील प्रवृत्ति मे मालामाल हो रहे है। फिर भी अपनी परिस्थिति से हीन होने के कारण उनके स्वभाव में दरिद्रता अभी भी बनी हुई है। लालची मनुष्य चाहे कितना भी श्रीमान् हो, दरिद्र ही कहलायेगा। ऐसे लोग विपुल सम्पत्ति के स्वामी होकर भी हृदय से सकीर्ण और अनुदार ही होते है। उनसे सहायता की आशा करना व्यर्थ है। जो दूसरो को लूट कर अपना खजाना पूरा करते है उनसे उदारता की आशा क्योकर हो सकती है? ऐसे आदमियो के हाथ किसी की भी सपत्ति सुरक्षित नही रह सकती। जिन लोगो के जीवन का साध्य ऐहिक सुखोपभोग हो, साधन द्रव्य-सचय हो, स्वार्थ ही जिनका परमार्थ हो और पर-पीडन तथा प्रवचना जिनके जीवन का निश्चित कार्यक्रम हो, ऐसे लोगो से जनसमाज का कल्याण शक्य और सभव नही।

एशिया-निवासी राष्ट्रो की मनोवृत्ति बिलकुल इसके विपरीत है। वे जन्म से श्रीमान् है। उनकी पृथ्वी अपनी उत्पादक शक्ति में लासानी है। उनके यहाँ जीवन के सभी भौतिक साधनो की विपुलता है। अतएव जन्म से श्रीमान् होने के कारण वे स्वभाव से उदार है। इतने उदार है कि उनकी उदारता और दानशीलता अपनी उचित सीमा को पार करके दुर्गुण का रूप धारण कर चुकी है। अपने इस अनुचित औदार्य के कारण उन्होने विदेशियो का सहर्ष स्वागत किया, बसने को घर दिये और रोजगार के लिए अपने बाजारो के द्वार खोल दिये। परिणाम यह हुआ कि वे कुछ ही वर्षों में लुट गये।

हिन्दुस्थान की दुर्दशा तो ठीक ऐसी ही हो रही है। जिस देश मे किसी समय दूध और शहद की नदियाँ बहती थी, वहाँ आज स्वच्छ जल भी पीने के लिए दुष्प्राप्य हो रहा है। जहाँ लोग पशुओ को अनाज खिलाया

करते थे, वहाँ आज लाखो मनुष्यो को दिन भर मे एक वार भी भर पेट खाने को अन्न नही मिलता और पशुओ को सूखी घास भी मयस्सर नही होती। यथार्थ मे हिन्दुस्थान एक ऐसा देश है जहाँ कुछ थोडे से स्वार्थी श्रीमानो को छोडकर दरिद्रता घर-घर नगी नाच रही है। जहाँ जन-समाज के अन्नदाता किसान कुली से भी गये वीते हो रहे हो, वहाँ की दरिद्रता की सीमा कौन वाँधे ? अपने औदार्य और असावधानी की वदौलत ही हिन्दुस्थान वर्तमान दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह कि जन्म से सपत्तिशाली होकर भी हिन्दुस्थानी अपने कर्मों से दरिद्र हो गये है। यूरोपीय राष्ट्रो की दशा ठीक इसके विपरीत है। वे जन्म से दरिद्र होकर कर्म से श्रीमान् हो गये हैं।

हमारी यह पृथ्वी यथार्थ मे एक द्रव्य-कोष है। सृष्टि-विधाता ने मनुष्य को जन्म देने के वहुत पहले ही भूगर्भ मे वहुत-सा द्रव्य सचित कर दिया है। पृथ्वी का ऊपरी धरातल कई राष्ट्रो मे विभक्त है। सभी जातियाँ अपनी-अपनी जमीन पर अपना अधिकार जमाये वैठी है। परन्तु सभी देशो की उत्पादक शक्ति एक वरावर नही है। अपनी जमीन से किसी को यथेष्ट खाद्य सामग्री प्राप्त हो सकती है, किसी को जरूरत से कम और किसी को जरूरत से ज्यादा भी मिल सकती है। हम पहले कह चुके है कि यूरोप की जातियो को उनकी जमीन से इतनी भोजन-सामग्री उपलब्ध नही होती जितनी कि उन्हे चाहिए और इसी लिए उन्हें कल-कारखानो मे उद्यमी जीवन व्यतीत करना पडता है। उन्हें वाहर से पैसा चाहिए और भोजन भी चाहिए। वे ऐसे दरिद्र हैं। अव यदि इस पृथ्वी को एक तिजोरी मान लें, तो ऐसी हालत मे यह प्रश्न उठता है कि उसकी कुजी किसके सुपुर्द की जाय; उसका नैसर्गिक अधिकारी कौन है ? कौन आदमी इस उत्तरदायित्व का यथोचित निर्वाह करेगा और किससे ऐसी आशा नही की जा सकती ? हमारी राय मे इस प्रश्न का उत्तर देना वहुत ही सहज है। साधारण-सी वात है कि जव किसी सार्वजनिक कोष को सुरक्षित रखने का प्रश्न आता है तो

वह उमी आदमी के सरक्षण तथा देख-भाल में रखा जाता है जो स्वय श्रीमान् होता है। सपत्ति-रक्षा की जिम्मेदारी दरिद्र को कभी नही दी जाती, क्योंकि प्रलोभन में पड़कर वह सभवत चोरी कर सकता है। परन्तु एक श्रीमान् से ऐसी आशका नही हो सकती है, भले ही उससे धोखा खाना पडे। कारण इतना ही है कि विपुलता की गोद में पला हुआ मनुष्य चाहे कैसा भी अनाचारी हो; न्यूनाधिक अश मे वह पैसे से उदार तो होता ही है। इसके विपरीत जो मनुष्य जन्म से दरिद्र होता है, वह चाहे कैसा भी सदाचारी हो, परन्तु द्रव्य की लालच तो उसे रहेगी। सौ में नव्वे दरिद्री द्रव्य के लालायित तो जरूर ही रहते हैं। तात्पर्य यह कि धन के सम्वन्ध मे उनमे आवश्यक उदारता एव निस्पृहता नही आ सकती। उनकी यह कमजोरी परिस्थिति-प्रेरित है।

उपर्युक्त विचारो से यह निष्कर्ष अनायास निकलता है कि पृथ्वी के द्रव्यकोष की जो तिजोरी है उसकी कुजी का यथार्थ अधिकारी एशिया है, यूरोप नही। जब से यह कुजी पश्चिमी दुनिया के हाथ लगी है तब से उसने सिवाय बेईमानी के दूसरा काम नहीं किया। पृथ्वी भर का बहुत-सा पैसा पाश्चात्य राष्ट्र हडप चुके हैं। पृथ्वी की आर्थिक व्यवस्था का शासन-सूत्र अपने हाथो मे लेकर वे औरो के अधिकारो पर प्रकट एव प्रच्छन्न रूप से आक्रमण करने जा रहे हैं, बहुत कुछ कर चुके हैं। एशिया और आफ्रिका दोनो उनकी शोषण-क्रिया से जर्जरित हो रहे हैं। जब तक इन दोनों महाद्वीपो के निवासी इस बात पर मनोनिवेशपूर्वक विचार न कर लें कि किस तरह वे पश्चिमी राष्ट्रो की अर्थ-नीति से दलित हो चुके है और किस प्रकार उसमे बचना सभव है, तब तक उन्हें अपने कल्याण का मार्ग सूझ ही नही सकता। इस मार्ग का सुझानेवाला इस समय सारे एशिया में एक ही आदमी है। यदि उसकी बातें एशिया और आफ्रिका के गले उतर जायें, यदि लोग शुद्ध स्वदेशी व्रत धारण करना अपना कर्तव्य माने, यदि वे अपने लिए आवश्यक चीजें घर ही में बनाने लगें और यदि इस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रो की अर्थ-शोषण-

लिप्सा कुण्ठित हो जावे तो लालची रोजगारियों के रोजगार मन्द पड जावें, साम्राज्यवादियों के होसले ठंडे पड जायें और उन्हें आपस में लडकर शान्तिभंग करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

तात्पर्य यह कि शान्ति की समस्या गांधी-प्रतिपादित स्वदेशी सिद्धान्त से ही हल हो सकती है। उस सिद्धान्त के रूप और रहस्य पर अब दूसरे प्रकरण में विचार करेंगे।

अध्याय ३१

स्वदेशी और स्वराज

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के साहित्य में इन दो शब्दो का बहुत अधिक प्रचार है। यो तो सर्वसाधारण लोग इनका कामचलाऊ मतलब निकाल लेते है, परन्तु इनका सर्वांगीण आशय तथा अन्योन्य-सबध बहुत-से लोग समझते है, इस बात पर हमे सन्देह है। 'स्वदेशी' और 'स्वराज' दोनो की मीमासा हम एक ही प्रकरण में कर रहे है। इसका कारण केवल यही है कि दोनो स्व-मूलक है और दोनो की विचार-सगति एक ही है। स्वराज स्वदेशी का ही एक अग है। स्वदेशी राज (Administration) को ही स्वराज कहते है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि 'स्वराज' से 'स्वदेशी' का आशय-विस्तार बहुत अधिक है। फिर भी दोनो सबद्ध है। क्योकि दोनो का सैद्धान्तिक मूल एक ही है। यहाँ पर हमें इसी विषय पर विचार करना अभीष्ट है।

इस ससार में जितने जड-चेतन पदार्थ है सभी का अस्तित्व कुछ विशेष नियमो के द्वारा सचालित होता है। कुछ प्राकृतिक नियम तो ऐसे है जो सर्वगत होकर सभी स्थानो पर एक समान काम करते है। उत्पत्ति और विनाश के नियम सृष्टि के एक छोर से दूसरे छोर तक एक समान प्रचलित है। जो रचना आज होती है उसका विनाश एक न एक दिन अवश्यम्भावी है। जड़-चेतन सभी इस बात के कायल है। अमर तत्त्व एक ही है, शेष सबकी उत्पत्ति है और सहार भी है। 'स्नेहाकर्षण' (Cohesion) भी एक ऐसे सर्वव्यापक नैसर्गिक नियम का उदाहरण है। एक ही गति से कम्पमान होनेवाले अणुपरमाणु (Electrons) एक ही स्थान पर खिच कर एकत्रित हो जाते है और पदार्थ-विशेष की रचना करते है। समान कम्पगति में रहनेवाले परमाणुओ मे यदि

नैसर्गिक स्नेहाकर्षण विद्यमान न रहता तो इस नामरूपात्मक सृष्टि की रचना ही न होती। सारांश यह कि उत्पत्ति, स्नेहाकर्षण और विनाश (विकर्षण) इस जगत् में सभी जगह अपना-अपना काम कर रहे हैं। सृष्टि के यही तीन सर्वव्यापक नियम हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्राकृतिक नियम हैं जो वस्तुविशेष की उत्पत्ति-क्रिया, विकास एव विनाश-साधन में काम करते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। ऐसे नियम समष्टिगत नहीं, वर्गगत होते हैं। वृक्षो की उत्पत्ति और बाढ के लिए जिस परिस्थिति और जिन साधनो की आवश्यकता होती है उनसे आकाश मे मेघो की सृष्टि नहीं हो सकती। पौधे वहीं अकुरित और पल्लवित होते हैं जहाँ उन्हे खाद, पानी, हवा और सूर्य की गरमी पर्याप्त मात्रा मे मिल सकती है। जब बीज किसी उपजाऊ जमीन पर डाला जाता है, तो वह पृथ्वी और जल के सयोग से अकुरित होता है। तत्पश्चात् उस पौधे को हवा से ताजगी तथा हरियाली मिलती है और सूर्य की किरणो से उसकी बाढ होती है। जिस तरह की हवा से वह पुष्ट होता है उससे इतर जीवधारियो को हानि पहुँचती है। जिन प्राकृतिक नियमो से आकाश में मेघो की सृष्टि होती है, वे बिलकुल भिन्न हैं। सूर्य की किरणें जब समुद्र पर पडती हैं तो उनकी उष्णता से पानी भाफ बनकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म जलकणो के रूप में ऊपर की ओर उडता है। किसी ऊँचाई पर पहुँचकर ये जलकण परस्पर एक दूसरे के सघर्ष में आकर घनीभूत हो जाते हैं। फिर वे भारी होकर वायु की प्रेरणा से कहीं भी वर्षा के रूप में बरस पडते हैं। इस तरह पाठक देखेंगे कि वृक्षो और मेघो की उत्पत्ति, विकास और विनाश की क्रियाओ को सपादित करनेवाले प्राकृतिक नियम एक दूसरे से भिन्न होते हैं। दोनो के अस्तित्व की गति-विधियाँ और परिस्थितियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। मेघो की उत्पत्ति भूमि पर नहीं होती, न फिर वे जमीन पर वृक्षो के समान स्थिर होकर रह सकते हैं। पृथ्वी पर तो वे बडी बडी बूँदो के रूप मे ही गिर सकते हैं। उसी तरह वृक्षो की जडें आकाश में नही फैल सकती,

न फिर वे मेघों के समान आकाशगामी ही हो सकते हैं। वृक्षों का स्वदेश भूमि है और मेघों का स्वदेश आकाश। वृक्षों की उन्नति और विकास के नियम कुछ और हैं और मेघों के कुछ और।

इन दो उदाहरणों से पाठकों को इस बात का परिचय मिल जाता है कि इस सृष्टि में वस्तुओं के भिन्न भिन्न वर्गों की रचना और प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नैसर्गिक नियमों के द्वारा संचालित होते हैं। जीवधारियों की भी यही दशा है। आकाशगामी पक्षियों को यदि हम पानी में डुबा दें तो वे मर जायेंगे। इसी तरह जल की तैरनेवाली मछली को हम बाहर जमीन पर डाल दें तो वह तड़प तड़प कर प्राण छोड़ देगी। ध्रुवों के आसपास रहनेवाले रीछ यदि सहारा के मरुस्थल में छोड़ दिये जावें, तो वे बच नहीं सकते। इसी प्रकार मरुस्थल-निवासी ऊँट यदि ध्रुव-प्रदेश में पहुँचा दिया जावे तो वह सर्दी से ठंडा पड़ जावेगा। तात्पर्य यह कि प्राणियों की उत्पत्ति जिस परिस्थिति में होती है, उसी में उनका विकास भी सम्भव है, अन्यत्र नहीं। जिस वातावरण में एक का विकास है उसी में दूसरे का विनाश है। मनुष्य का बच्चा यदि भेड़ियों की मांद में जन्म ही से पाला जावे तो वह मानवी गुणों का विकास नहीं कर सकता। न तो वह भेड़िया ही सम्पूर्ण रूप से बन सकता है, न फिर वह मनुष्य ही रह जाता है। सिंह का बच्चा यदि शृगालों के समुदाय में पाला जावे तो सम्भवतः शृगालों के समान ही वह भीरु हो जावेगा और सिंह की निर्भयता उसके स्वभाव से तिरोहित हो जावेगी। इस तरह वह न तो पूरा सिंह ही रहेगा, न पूरा शृगाल। वह एक विचित्र और विकृत जीवधारी का रूप धारण कर लेगा। साराश यह कि मनुष्येतर प्राणियो की उत्पत्ति और सम्यक् विकास के लिए खास-खास परिस्थितियों की आवश्यकता हुआ करती है।

मनुष्यत्व के मानदंड से सब मनुष्यों की एक ही जाति है। प्राणि-शास्त्र में उनका वर्ग (Species) एक ही माना गया है। परन्तु यह वर्गीकरण केवल भौतिक दृष्टि से ठीक है। संस्कार और

सभ्यता के दृष्टिकोण से मनुष्यो की अनेक जातियाँ इस पृथ्वी पर विद्यमान है। यहाँ पर हमें भिन्न-भिन्न मानवी सभ्यताओ की अच्छाई अथवा बुराई से मतलब नही, मतलब है उनकी भिन्नता एव विशेषता से। अपनी खास परिस्थिति यानी पूर्व इतिहास, परम्परा और वर्तमान वातावरण के कारण, प्रत्येक मनुष्य-जाति के स्वभाव, आचरण, योग्यता तथा जीवन-लक्ष्य में खास-खास विशेषतायें होती है, गुण भी होते है और दोष भी रहते है। मनुष्य की सभी जातियाँ गुण-दोषमयी है। कई गुण जो एक जाति मे पाये जाते है, दूसरी में नही मिलते। उसी तरह एक का दोष भी दूसरे में नही पाया जाता। ऐसी हालत में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य-जातियो की उन्नति किस प्रकार सपादित हो। हमारे सामने दो आदमी है, एक हिन्दुस्थानी और दूसरा अँगरेज। हिन्दुस्थानी की मानसिक रचना का जब हम विश्लेषण करते है तो हम उसमे कुछ गुण भी पाते है और कुछ दोष। उसी तरह अँगरेज में भी गुण-दोष का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऐसी हालत में इन दोनो मनुष्यों को अपने अपने विकास के लिए क्या करना चाहिए? यदि हिन्दुस्थानी अँगरेज हो जावे यानी उसका सोलह आने अनुकरण करने लगे तो उसका परिणाम यह होगा कि वह स्वय अपने गुण तो खो देगा—क्योकि किसी गुण को खो देना सहज है—पर इस बात पर सन्देह है कि वह अँगरेज के स्वभाव-सिद्ध गुणो को प्राप्त कर सकेगा अथवा नही। ठीक यही हालत हिन्दुस्थानी का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण करने-वाले अँगरेज की भी होगी। ऐसे सम्पूर्ण परिवर्त्तन के प्रयत्न मे वे दोनो अपने पूर्व रूप से विकृत होकर बनावटी प्राणी बन जावेंगे। अतएव उन दोनो के लिए सर्वोत्तम उपाय तो यही होगा कि अँगरेज और हिन्दुस्थानी दोनो अपने पहले की जन्म-स्वभावसिद्ध अवस्था में ही बने रहे और उसी अवस्था मे रहकर एक दूसरे के गुणो को सीखने तथा दोषो के परित्याग का प्रयत्न करे। अँगरेज अपनी जातीय सद्विशेषताओ की रक्षा करता हुआ हिन्दुस्थानियो के गुणो का अनुकरण करे। उसी प्रकार हिन्दु-

स्पानी को भी चाहिए कि वह अपनी सभ्यता की अच्छाइयों को सुरक्षित रखते हुए अंग्रेज के गुणों का अनुकरण करे और उसके दोषों को अपने पास फटकने भी न दे। भिन्न-भिन्न मनुष्य-जातियों को आदान-प्रदान के इसी सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए। इससे भाषा, संस्कृति तथा संस्कारों को सुरक्षित रख कर तथा अपने स्वभावानुसार दोषों का परिहार करके ही मनुष्य अपना विकास यथार्थ कर सकता है, अन्यथा नहीं। अपनी वास्तविकता से पराङ्मुख होकर हम प्रगतिमान् नहीं हो सकते। अपने आत्मस्वरूप पर आरूढ़ रहकर ही हम जीवन में कृतकार्य हो सकते हैं। अपनी जातीय तथा वंशगत नैसर्गिकताओं से हाथ धोकर हम अपने धर्म से विमुख हो जाते हैं। 'धर्म' के इसी व्यापक आशय को ध्यान में रखते हुए योगेश्वर कृष्ण ने कहा है —

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

गीता के इस श्लोक में स्वदेशी का सार सन्निहित है। प्रत्येक मनुष्य का जन्म, लालन-पालन तथा विकास किसी खास देश में ही होता है जिसे वह 'मेरी जन्म-भूमि' के नाम से आदर-पूर्वक सबोधित करता है। इस भूमि से उसके पूर्वजों का इतिहास, उसके स्वभाव तथा सस्कार, उसकी सभ्यता तथा संस्कृति, उसके जातीय मनोरथ तथा जीवनादर्श सब कुछ सबद्ध रहते हैं। देश के साथ इन सब बातों की विचार-सगति विद्यमान रहती है। 'स्वदेशी' शब्द के 'देश' में यही व्यापक अर्थ अभिप्रेत है। इस बात को अच्छी तरह हृदयगम किये बिना 'स्वदेशी' का सपूर्ण आशय समझ में नहीं आ सकता। इसलिए हमें यहाँ पर उसकी सैद्धातिक व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इस दृष्टि से यदि हम 'स्वदेशी' की परिभाषा देना चाहें तो कहना पड़ेगा कि अपने देश के आचार-विचार, रहन-सहन, स्वभाव-सस्कार तथा सस्कृति-सभ्यता के अनुरूप व्यवहार करते हुए अपने देश की नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक उन्नति के सपादन में एकाग्र मनसा सलग्न रहना ही स्वदेशी व्रत कहलाता है।

इन परिभाषा के प्रकाश में पाठकों को अनायास प्रतीत होगा कि हममें से अधिकांश लोग 'स्वदेशी' का कितना संकुचित आशय निकाला करते हैं। अपने देश की बनी हुई चीजों का उपयोग करके ही हममें से अधिकांश लोग समझ लेते हैं कि हमने 'स्वदेशी' का पालन किया। ऐसी समझवाले ही खद्दर का कोट, पतलून और हैट पहनकर इस बात का प्रदर्शन करते हैं कि हम भी स्वदेश-प्रेमी हैं। यथार्थ में 'स्वदेशी' बाहरी आच्छादनों का नहीं, हमारी मनोवृत्ति का नाम है। यदि स्वदेशी भावना हमारी मनोवृत्ति में रही तो फिर बाहरी वेष-भूषा में ही क्या, हमारे सभी व्यवहारों में उसकी छाप रहेगी। हमारे भाव, भाषा और वेष सभी स्वदेशी से प्रभावित रहेंगे। एक हिन्दुस्थानी के लिए यह सचमुच बड़े लाछन और लज्जा की बात है कि वह अपनी वेष-भूषा तथा भाषा-भाव से इस बात का खुलासा न कर सके कि वह हिन्दुस्थान का रहनेवाला है। जिन लोगों में 'स्व' की भावना जाग्रत नहीं रहती, वे ही लोग नकली विदेशी आडम्बरों का अवलंब लिया करते हैं और अपने जातीय स्वरूप को प्रयास-पूर्वक छिपाते हुए उसे समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं। यही वास्तविक आत्महत्या है। कोई प्रबल जाति जब अपने से कमजोर जाति पर अपना अधिकार जमाती है, तो वह पराजित जाति की शिक्षा-दीक्षा तथा सामुदायिक जीवन में कुछ ऐसे परिवर्तन करती है और कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा करती है कि जिससे उस जाति की स्वदेशी मनोवृत्ति नष्ट हो जावे। 'सांस्कृतिक आक्रमण' शीर्षक प्रकरण में हम यह बता चुके हैं कि विजेता लोग विजित जाति के धन-जन पर अधिकार जमा लेने के बाद पराजितों की स्वदेशी मनोवृत्ति को मार कर ही उनका मनोविजय किया करते हैं। इस आंतरिक चोट से जो घायल हुआ, उसके जीवन की आशा बहुत कम रह जाती है। इस भीतरी मार का मारा हुआ ही यथार्थ मृतात्मा है। ऐसी मरी हुई जाति के लिए सिर्फ समाधि-वाक्य लिखना ही शेष रह जाता है।

'स्वदेशी' शब्द का उपयोग इस देश के राजनैतिक साहित्य में

वग-भग के जमाने से विशेष कर हो रहा है। बगाल को फिर से जोड़ देने पर अँगरेज शासकों को बाध्य करने के लिए विलायती चीजों के बहिष्कार का सकल्प लोगों ने किया था। उसी के साथ साथ इस बात का प्रयत्न भी उन्हें करना पड़ा कि उनके स्थान पर देश की बनी हुई चीजें उपयोग में लाई जावें। लोगों की विचार-धारा बहिष्कार-मूलक थी, इसलिए स्वदेशी की सच्ची भावना जाग्रत न हो सकी। अँगरेजों ने बगाल के दो टुकड़े किये, इसलिए क्रोध का भाव जाग्रत हुआ। क्रोध से प्रतिकार-भावना उत्पन्न हुई। बदला लेने की इच्छा से विलायती वस्त्रों का बहिष्कार हुआ और बहिष्कार की बदौलत लाचार होकर स्वदेशी चीजों का उपयोग करना पड़ा। उन दिनों के स्वदेशी आंदोलन का आंतरिक मनोभाव यही था।

इस तरह पाठकों को प्रतीत होगा कि वग-भग के समय जो स्वदेशी आन्दोलन खड़ा किया गया था उसकी प्रेरणा देनेवाली मनोभावना प्रतिकार-मूलक थी। उसका रूप भी केवल आर्थिक था। स्वदेशी की पूर्व-प्रतिपादित सर्वांगीण मनोवृत्ति का उसमें एकान्त अभाव था। इसी कारण कुछ दिनों के बाद वह शिथिल पड़ गया। वग-भग की बुनियाद पर उठाई हुई स्वदेशी की आवाज बगाल के जुड़ जाने पर स्वभावत मन्द हो गई और विलायती चीजें फिर से इस देश में बिकने लगीं।

वग-भग के जमाने से 'स्वदेशी' शब्द का हमारे राजनैतिक साहित्य में प्रचार तो हो गया, परन्तु उसका पूरा पूरा आशय न तो जन-साधारण की समझ में आ सका, न फिर अपने सकुचित (आर्थिक) रूप में भी वह किसी तरह सफल हो पाया। यों तो लोकमान्य तिलक तथा लाला लाजपत-राय सरीखे गण्यमान्य नेता अपनी सम्पूर्ण स्वदेशी भावना से ओत-प्रोत थे, तथापि भारतीय जन-समाज में स्वदेशी की यथार्थ भावना किसी अश में जाग्रत करनेवाले महात्मा गाधी ही सर्वप्रथम नेता हैं। स्वदेशी का जो उपदेश गाधी जी देते आये हैं, वह केवल विदेशी वस्तुओं में ही सीमित नहीं है। उसमें स्वदेशी सस्कार, स्वदेशी सभ्यता, रहन-सहन और जीवनादर्श भी

सम्मिलित हैं। स्वदेशी के इस सम्पूर्ण रूप का परिचय स्वदेश-प्रेमी लोगो को महात्मा जी से ही प्राप्त हुआ है। भारत का शिक्षित समाज पाश्चात्य सभ्यता की वाहरी चमक-दमक पर मुग्ध था। इस समाज के अधिकाश लोगो ने पश्चिमी वेश-भूषा तथा रहन-सहन के ढग स्वीकार कर लिये थे। ऐसे लोग भारतीय नारियो की बदौलत अपनी गृहस्थी मे पश्चिमी सभ्यता के अनुरूप विशेष परिवर्त्तन तो न कर सके, परन्तु अपनी वैयक्तिक वेश-भूषा से विलकुल साहब वन गये। विदेशी रहन-सहन से विदेशी चीजो की आवश्यकता प्रतीत हुई और ऐसे ही वदरग और विकृत हिन्दुस्थानियो की वदौलत बहुत तरह की विदेशी चीजे हिन्दुस्थान मे बिकने लगी। गाधी जी ने अपने उपदेश-वचनो के द्वारा शिक्षित हिन्दुस्थानियो की उस मनोनीत भावना को ही छिन्न-मूल करने का प्रयत्न किया है जिसकी प्रेरणा से वे विदेशी सभ्यता से पराजित हो चुके थे। अर्द्धनग्न भारतीय कृषक के रूप में देहाती वाना लेकर जब महात्मा जी जन-समाज में घूमने-फिरने लगे, तव कही उन्ही के समान हिन्दुस्थानी शिक्षितो ने धोती-कुर्त्ता में अपना स्वदेशी गौरव माना। इसमे सन्देह नही कि गाधी जी की वदौलत बहुत-से हिन्दुस्थानी साहबो ने अपना विदेशी रग-ढग छोड दिया और अपनी जातीय रहन-सहन तथा वेश-भूषा के स्वाभिमानी हो गये। लोकमान्य तिलक तथा लाला लाजपतराय सरीखे सर्व-मान्य नेता स्वदेशी पोशाक में ही प्रकट होते थे, परन्तु उनका कोई विशेष प्रभाव न पड सका। महात्मा जी की पचापरिवेष्ठित अर्द्धनग्नता ही इस सम्बन्ध मे विशेष कारगर हुई।

इसके सिवाय 'स्वदेशी' के आशय में महात्मा जी ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया।

हम पहले कह चुके है कि वग-भग के जमाने से इस देश में स्वदेशी का आन्दोलन चल रहा था। परन्तु वस्त्रो के सम्बन्ध मे स्वदेशी का मतलब देशी मिलो का वना हुआ वस्त्र ही माना जाता था। हमारे अच्छे से अच्छे नेता उन दिनो देशी मिलो का वस्त्र ही पहनते थे। परन्तु जन-समाज के

सामने महात्मा जी ने स्वदेशी की ऐसी व्याख्या पेश की जो बिलकुल नई और उन्ही की है। वे कहते है —

"स्वदेशी वह भावना है जो हमे अपने आस-पास की परिस्थिति का उपयोग करने एव उसकी सेवा करने की प्रेरणा करती हो।"

"अगर मुझमें स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय में मैं अपने पूर्वजो के धर्म पर ही दृढ रहूँगा। इससे मैं अपनी परिवर्त्ती धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हूँ। अगर मुझे उसमें खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिए। राजनैतिक बातो में भी मुझे देशी सस्थाओ का ही उपयोग करना चाहिए। आर्थिक विषय में मुझे अपने आस-पास रहनेवालो की बनाई चीजो का ही उपयोग करना चाहिए। अगर मनुष्य स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया में सतयुग जल्दी आ जायगा।"

"मेरा तो खयाल है कि मेरी तमाम प्रवृत्तियो में चर्खा सबसे अधिक स्थायी और कल्याणकारी है। हिन्दुस्थान के लाखो परिवारो की दरिद्रता और अकालो का वह रामबाण उपाय है। अकालो के कारण लोग इतने भूखो मरते है कि कितने ही परिवार डूब मरते है। इसका कारण यह नही कि बाजार मे अनाज नही मिलता, बल्कि यह है कि अनाज खरीदने के लिए उनके पास पैसा नही। आठ घटे कातनेवाली औरतो को चर्खा प्रतिदिन तीन आने दे सकता है।"

"जो आदमी एक बार खादी खरीदता है वह कम से कम तीन आने गरीबों के यहाँ देता है। खादी मे कितना स्वदेशाभिमान है, यह वही आदमी जानता है कि जो आग्रह-पूर्वक खादी पहनता है। स्वदेशी करोडो के लिए कल्याणकारक है।"

"खादी हिन्दू-मुस्लिम एकता की निशानी है और दरिद्रो के प्रति सहानुभूति का चिह्न है।"

इन अवतरणों में गाधी जी के स्वदेशी-सम्बन्धी विचारो का साराश सन्निहित है। उनके मतानुसार अपनी परिस्थिति का उपयोग तथा उसकी

सेवा ही स्वदेशी की यथार्थ भावना है। इस परिभाषा के अनुसार देशी मिलो के वस्त्र तथा ऐसी सभी चीजे जिनके तैयार करने मे हमे किसी न किसी रूप में विदेशी साधनो का अवलम्ब लेना पडता है, स्वदेशी नही मानी जा सकती। देशी मिलो के वस्त्र तो देश मे बनते है, परन्तु उनको तैयार करने के यन्त्र तो विदेशो से ही प्राप्त होते है। इसलिए ऐसे वस्त्र इस परिभाषा के अनुसार स्वदेशी नहीं सिद्ध होते। हमारे आस-पास जो साधन तथा उपादान उपलब्ध है उन्ही के उपयोग से जो वस्तुएँ हम तैयार कर सकते है, वही स्वदेशी है। इस दृष्टि से यदि हम अपने वस्त्रो को विशुद्ध स्वदेशी का रूप देना चाहे तो हमें चाहिए कि अपने खेत मे पैदा की हुई कपास का सूत चर्खे से कातकर उसे अपने गाँव के जुलाहे से ही बुनवा लें। इस क्रिया में कोई भी साधन या उपादान ऐसा नहीं है जो विदेशी हो। गाँव की कपास, गाँव का बना हुआ चर्खा, गाँव का कता सूत और गाँव ही का बुना हुआ कपडा, सभी साधन स्वावलम्बी हैं, किसी दूसरे देश से कुछ भी वास्ता नही। महात्मा जी के मतानुसार यही शुद्ध स्वदेशी है। इसमे सन्देह नही कि हमारे राष्ट्रीय साहित्य मे आर्थिक स्वदेशी की यह व्याख्या बिलकुल नई और विचारसिद्ध है।

इसके सिवाय स्वदेशी का जो व्यापक आशय है और जिसकी चर्चा हम इस प्रकरण के आरम्भ ही मे कर चुके है वह भी इस देश को गाधी जी से ही प्राप्त हुआ है। अधिकाश लोग स्वदेशी को केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही समझने-समझाते हैं। परन्तु अपने पूर्वजो के धर्म पर आरूढ रहना भी स्वदेशी व्रत का एक अग है। इसके सिवाय अपने देश की सभ्यता तथा रहन-सहन का अनुकरण करना भी स्वदेशी सिद्धान्त के माननेवाले के लिए उचित है। राजनैतिक जीवन में अपनी आवश्यकता तथा जातीय विकास के अनुकूल शासन-पद्धति का निर्माण करना तथा उससे शासित होना भी स्वदेशी का एक महत्त्वपूर्ण अग है। ऐसी स्वदेशी शासन-प्रणाली से जो व्यवस्था बनती है उसी को स्वराज कहते हैं। इस तरह

पाठक देखेंगे कि महात्मा जी की दी हुई स्वदेशी की व्याख्या सर्वांगीण और सम्पूर्ण है। इस विवेचना के अनुसार स्वदेशी एक भावना का नाम है जो जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रकट होती है। हमारे नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन को इसी एक भावना से सचालित होना चाहिए। ऐसी स्वदेशी भावना ही सच्ची और स्थायी राष्ट्रीयता की जननी होती है। जो मनुष्य-जाति इस भावना से विमुख हो जाती है वह अपने जातीय व्यक्तित्व तथा प्रतिभा से भ्रष्ट होकर विकृत और मर्माहत हो जाती है। उसके लिए फिर इस जीवन में कोई आशा नहीं रह जाती।

हम पहले कह चुके हैं कि स्वराज स्वदेशी का ही अंग है। स्वदेशी राज ही 'स्वराज' कहलाता है। वर्तमानकाल में हिन्दुस्थान का राजनैतिक वातावरण 'स्वराज' की ध्वनि-प्रतिध्वनि से मुखरित हो रहा है। इस देश के लोग बच्चे से बूढे तक इस शब्द से आज परिचित हैं। भारत में आज कोई ऐसा सभामंच नहीं, जहाँ से उसकी आवाज न सुनाई देती हो। ऐसा कोई वक्ता नहीं जो अपने वक्तव्य में इस शब्द का उपयोग न करता हो। तात्पर्य यह कि सारा भारतीय जन-समाज स्वराज की भावना तथा आदर्श से उत्प्राणित हो रहा है। यो तो 'स्वराज' संस्कृत का बहुत पुराना शब्द है; परन्तु इस युग में हमारी राजनैतिक आकांक्षा को प्रकट करने के लिए उसका उपयोग कांग्रेस के सभामंच से पहले-पहल दादाभाई नौरोजी ने किया था। उसके पहले 'सेल्फ गवर्नमेंट', 'होमरूल,' 'सेल्फ डिटर्मिनेशन' तथा कोई कोई लोग 'डोमिनियन स्टेटस' का भी उपयोग करते थे। परन्तु ये सभी शब्द विदेशी थे और जन-साधारण की समझ से परे थे। इन शब्दों का ठीक ठीक आशय उनके उपयोग करनेवाले शिक्षित लोग भी समझते थे या नहीं, इस बात पर हमें सन्देह ही है। बात तो यह है कि किसी भी जाति का मनोगत स्वदेशी आदर्श विदेशी शब्दों से प्रकट नहीं किया जा सकता। यदि यह सम्भव भी हो तो जन-समाज के लिए वह सुबोध तो हो ही नहीं सकता।

स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी के 'स्वराज' से ये सब कठिनाइयाँ दूर हो गईं। लोग समझने लगे कि अपना राज ही स्वराज कहलाता है और यही हमारे राजनैतिक आन्दोलन का अन्तिम और सम्पूर्ण आदर्श है। फिर भी हम ऐसा नही कह सकते कि अभी भी 'स्वराज' का यथार्थ आशय और आदर्श हमारी समझ में अच्छी तरह आ चुका है। देश के गण्यमान्य राजनैतिक नेताओ ने इस शब्द का उपयोग तो सैकडो वार किया है, परन्तु अभी तक इसकी वैज्ञानिक व्याख्या किसी ने भी नही की। एक वार देशवन्धुदास से किसी ने इस शब्द की परिभाषा देने के लिए कहा। उस प्रश्न के उत्तर में उन्होने केवल इतना ही कह दिया कि स्वराज स्वराज को ही कहते हैं—'Swaraj is swaraj।' कदाचित् उन्होने इस शब्द की वैज्ञानिक मीमासा के लिए उस प्रसग को उपयुक्त नही समझा। अस्पष्टता में एक विलक्षण आकर्षण-शक्ति रहती है। कदाचित् इसी कारण देशवन्धु उसे सुरक्षित रखना चाहते थे। इसी कारण सम्भवत हमारे अन्यान्य राजनैतिक नेताओ ने भी इस देश के राजनैतिक लक्ष्य की ओर 'स्वराज' के नाम से सकेत तो किया, पर उसका विशेष स्पष्टीकरण किसी ने भी नही किया।

इस सुरक्षित अस्पष्टता के अव दुष्परिणाम दिखाई देने लगे है। यद्यपि भारतीय नागरिको के मौलिक अधिकारो (Fundamental rights) पर करांची-काग्रेस ने काफी प्रकाश डाल दिया है, तथापि भावी स्वराज-रचना के सम्बन्ध में और भी जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ लोगो में वेचैनी अभी भी बनी हुई है। काग्रेस के उदीयमान साम्यवादी दल में यह उत्सुकता वडी तीव्र है। उनकी राय में किसान-कुलियो का शासन ही सच्चा स्वराज होगा। अतएव जव तक शासन-पद्धति में पूँजीवाद-विनाशक व्यवस्था न हो, तव तक प्रजातन्त्र के केवल वाहरी प्रदर्शन से काम न चलेगा। इसमें तो सन्देह नही कि अव वह समय आ चुका है कि जव हमें सम्मिलित रूप से स्वराज-शासन की एक सम्पूर्ण योजना तैयार करने की

क्षमता दिखानी चाहिए। हमें विचार करना चाहिए कि हिन्दुस्तान को जीवन-संग्राम तथा जीवनादर्श के योग्य बनाने के लिए किस प्रकार की शासन-पद्धति चाहिए। हमारी प्रजातंत्र-प्रणाली कोरी पश्चिमी ढाँचे की हो या उसमें हम अपनी जातीय प्रतिभा तथा तासीर के अनुरूप कुछ मौलिक अथवा गौण परिवर्तन करें? वर्तमान प्रजासत्ता (Democracy) की विशेषताओं का तथा उसकी त्रुटियों का भी अनुभव पश्चिमी राष्ट्रों को हो चुका है। उनके अनुभव का लाभ तो हमें उठाना ही चाहिए। कहावत के अनुसार, अगला गिरा तो पिछला होशियार हो जाता है। हम भी क्यों न हो? हम अपने लिए एक ऐसी व्यवस्था की रचना करें जो साम्प्रदायिकता से बिलकुल परे हो, जिसमें प्रजासत्ता का सार हो और जो हमारी जातीय सभ्यता तथा जीवनादर्श के अनुकूल हो। ऐसे स्वदेशी-राज का शासन-विधान वाञ्छनीय है। जो भारत की अन्तरात्मा को पहचानता है, वही इस विधान की रचना कर सकेगा।

'स्वराज' किसे कहते हैं? वह कैसी व्यवस्था का नाम है? उसका अन्तःस्वरूप क्या है? इन बातों पर बहुत कम लोगों ने विचार किया होगा। अधिकांश लोग तो शब्दों पर अपने ही अर्थ लादने के अभ्यासी होते हैं। उनके आशय उनको मुबारक हों। परन्तु विचारवान् लोगों को तो यह निश्चय करना ही पड़ता है कि जिन शब्दों का हम उपयोग किया करते हैं उनके मूलगत आशय क्या होते हैं। 'स्वराज' भी एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग हम अपने राष्ट्रीय जीवन में प्रतिक्षण किया करते हैं। परन्तु उसके मूलगत आशय पर बहुत कम लोगों ने विचार किया होगा। ज़रा देखें कि उसका तात्त्विक रूप क्या है।

'स्वराज' दो शब्दों के योग से बना है, 'स्व' और 'राज।' उसका शब्दार्थ है, अपना राज (Self-administration)। परन्तु यह अर्थ भी 'स्वराज' का पूरा आशय नहीं प्रकट कर सकता। अपना राज हम किसे कहें? अपना अपना राज तो सभी स्थापित करना चाहते हैं।

ब्रिटेन ने भी हिन्दुस्थान मे अपना राज ही तो स्थापित किया है। अतएव पाठक समझ सकेंगे कि उपर्युक्त शब्दार्थ मे ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण बात छूट गई है जिससे यह अनर्थ हो रहा है। 'स्वराज' का यथार्थ आशय 'अपना राज' नही, 'अपने पर अपना राज' है। किसी भी शासन-व्यवस्था के लिए तीन उपादानो की जरूरत होती है, शासक, शासनप्रणाली और शासित। 'स्वराज' शब्द की तात्त्विक रचना मे ये तीनो विचार विद्यमान है। जिसे आत्मशासन (Self-government) कहते हैं उसी का दूसरा नाम स्वराज है। ध्यान रहे कि 'आत्मशासन' में 'आत्म' (Self) एक ऐसा शब्द है जो अपने उपयोग मे बहुत प्रचलित होकर भी बडा गूढार्थी है। अपने पर अपना राज किसे कहते हैं—यह बात जब तक हमारी समझ मे न आवे, तब तक हम इस शब्द का यथार्थ आशय नहीं समझ सकते।

हम पहले कह चुके है कि 'आत्मशासन' (स्वराज) मे शासक, शासित और शासनप्रणाली—ऐसे तीनो उपादान विद्यमान है। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य तो एक ही होता है, उसमे शासक कौन है, शासित कौन और शासन-प्रणाली कौन-सी है? मनुष्य का मानसिक क्षेत्र एक स्वतत्र देश है। उसमे अगणित भली और बुरी वृत्तियो का निवास है। ये सब मनोवृत्तियाँ मिलकर प्रत्येक मनुष्य को जीवन मे चचल और चलायमान बनाये रहती है। किसी भी बात पर निर्णय करने के पहले विचारवान् आदमी के मन में जो अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प उठते हैं वे यथार्थ में अन्त स्थापित पार्लमेट मे छेडे हुए प्रश्न ही तो है। इस पार्लमेट में जब बुरी वृत्तियो की सख्या और शक्ति बढ जाती है, तब मनुष्य पर उन्ही का शासन रहता है। जो मनुष्य अपनी कुत्सित वृत्तियो से शासित होता है वह जन-समाज के लिए भयास्पद हो जाता है। ऐसे मनुष्य पर ऐसी हालत मे दूसरो की सद्वृतियो का शासन चाहिए। समाज की सद्भावना ही—जन-समाज को शान्ति और सुख पहुँचाने की भावना ही कानून (Law) का रूप धारण

करती है। जन-समाज मे हमेशा से ऐसे लोगो की सख्या अधिक रही आई है जिनके व्यक्तित्व पर उनकी कुत्सित मनोवृत्तियो का प्रभाव अथवा शासन रहता है। ऐसे लोगो के लिए हमेशा बाहरी शासको की आवश्यकता बनी रहती है। परन्तु ज्यो ही मनुष्य के मानसिक राज्य मे सद्वृत्तियो की 'मैजारिटी'-द्वारा आत्मा का राज (स्वराज) स्थापित होता है, त्यो ही वह आप ही आप मुक्त हो जाता है। जो आत्मशासक है, उस पर शासन करनेवाला त्रैलोक्य में भी कोई नही हो सकता। इस दृष्टि से यदि हम स्वराज की स्पष्ट मीमासा करना चाहे तो कहना पडेगा कि मनुष्य को कुत्सित वृत्तियो पर उसकी सद्वृत्तियो के शासन को ही आत्मशासन अथवा स्वराज कहते है। सद्वृत्तियो का कोष और आश्रय-स्थान है आत्मा। इस कारण सद्वृत्तियो का शासन ही आत्मशासन है। वही स्वराज है। उसी को अपने पर (बुरी वृत्तियो पर) अपना (भली वृत्तियो का यानी आत्मा का) राज (सयम-नियम से सचालित शासन-पद्धति) कहते है। इस राज के लिए आत्मा की सत्ता अनिवार्य है। इस दृष्टि से कहना पडेगा कि जो सच्चा आत्मशासक (स्वराजी) है, वह दूसरो के शासन से हमेशा मुक्त रहता है। यथार्थ में स्वराज सर्व-प्रथम एक मानसिक व्यवस्था का नाम है। लोगो के हृदयो में ऐसी स्वराज-व्यवस्था नही रहती। इसी कारण उन्हे बाहरी शासन (State control) की आवश्यकता बनी रहती है। जिस दिन समाज का प्रत्येक सदस्य आत्मशासक हो जावेगा, उस दिन हमें किसी भी सामूहिक शासन-पद्धति (State administration) की आवश्यकता न रह जायगी। उन्ही दिनो की कल्पना गाधी जी के समान आदर्शवादी विचारक अकसर किया करते हैं। परन्तु वह दिल्ली अभी बहुत दूर है।

'स्वराज' शब्द की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में अभी तक हम उसका आशय 'स्वतत्रता' समझते आये हैं और 'स्वतत्रता' का अर्थ लेते आये है, अँगरेजो के प्रभाव तथा शासन से मुक्त हो जाना। लेकिन ध्यान रहे कि अँगरेजो के शासन से मुक्त हो जाना एक बात है और इस देश मे

स्वराज स्थापित करना दूसरी वात है। परावीनता से छूट कर हम स्वच्छद हो सकते हैं, परन्तु स्वराज-स्थापन करने के योग्य सम्भवत न हो। अभी हम अँगरेजो की वनाई हुई व्यवस्था से शासित हो रहे है। मान ले कि किसी दैवी अनिवार्य कारण से उनका शासन हिन्दु-स्थान से आज ही उठ गया। इसका परिणाम स्वराज ही होगा, ऐसा हम नही कह सकते। अँगरेजो की व्यवस्था के उठ जाने के वाद सम्भवत हमारे देश में साम्प्रदायिकता-प्रेरित अराजकता फैल जावे, हमारी सद्वृत्तियो पर हमारी कुवृत्तियो का प्रभाव जम जावे। ऐसी दशा मे हम स्वतत्र होकर भी स्वराज-स्थापन न कर सकेंगे। स्वतत्रता का सदुपयोग ही स्वराज कहलाता है। स्वतत्रता उस अवस्था का नाम है जिसमे हमारी भली-वुरी दोनो प्रकार की मनोवृत्तियो पर किसी दूसरे की कुछ भी दस्तन्दाजी नही रहती और दोनो स्वच्छन्द रहती है। परन्तु 'स्वराज' उस मानसिक या सामाजिक व्यवस्था को कहते है जिसमें हमारी कुवृत्तियो पर सद्वृत्तियो का शासन रहता है। और परतत्रता उसे कहते है जिसमें हमारी भली-वुरी दोनो तरह की वृत्तियाँ दूसरो के आतक से दवी रहती है। इस तरह पाठक परतत्रता, स्वतत्रता और स्वराज—इन तीनो का अर्थ-भेद अनायास देख सकते हैं। इन तीनो में पहली सवसे वुरी और घातक होती है। इस अवस्था मे हमारे मनुष्यत्व का विकास केवल अवरुद्ध ही नही होता, मारा भी जाता है। परतत्रता मे अपने सद्विचारो के अनुसार काम करने की सुविधा हमे नही रहती। किसी अश में हमे कुवृत्तियो की प्रेरणा से भूल करने का भी अधिकार चाहिए। वह भी हमें पराधीनता में प्राप्त नही होता। दोनो तरह से इस अवस्था में हमारी आत्मा का हनन ही होता है। स्वतत्रता की अवस्था मे हमारे जीवन का वातावरण निर्वाध रहता है। भले-वुरे दोनो प्रकार के कार्यो में हम स्वच्छद रहते हैं। ऐसी स्वच्छन्दता मे यदि हम स्वराज (आत्मशासन) स्थापित कर सकें, तव तो उसका पूरा पूरा सदुपयोग हो सकता है, अन्यथा कुवृत्तियो के प्रभाव से अराजकता फैल जाती है। फिर भी ऐसी अराजकता

परतन्त्रता से हजार दर्जे अच्छी होती है। क्योंकि स्वच्छंदता और अराजकता मे हमें स्वतन्त्र रूप से अपने बुरे सस्कारो से लडने का अवसर प्राप्त होता है और मनोविजय का मार्ग हमारे लिए खुला रहता है। आत्म-बल के सहारे अपनी दूषित मनोवृत्तियो पर विजय प्राप्त करके ही हम अपना व्यक्तिगत स्वराज-स्थापन कर सकते है। इसी तरह समाजगत सामुदायिक स्वराज भी स्थापित होता है। परन्तु स्वराज का रूप चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, उसके लिए स्वतन्त्रता पहले जरूर चाहिए। स्वतन्त्रता के पृष्ठ-भाग में ही स्वराज का चित्र अंकित हो सकता है। इस तरह पाठक देखेंगे कि परतन्त्रता से स्वतन्त्रता अच्छी और स्वतन्त्रता से अच्छा स्वराज है। स्वराज मानव-जीवन की आदर्श अवस्था है। वही आत्ममोक्ष का सिंहद्वार है। इसी कारण उसके लिए समझदार आदमी अपनी प्यारी से प्यारी चीज का बलिदान कर डालते है।

गांधी जी ने अपने 'हिन्दस्वराज' नामक पुस्तक में स्वराज की जो आदर्शवादी मीमासा की है वह हमारे पूर्व-प्रतिपादित अध्यात्म-दृष्टि से ही की गई है। उनकी दृष्टि मे मनोविजयपूर्वक किया गया आत्मशासन (Self-control) ही सच्चा स्वराज है। प्रत्येक मनुष्य का यह आदर्श होना चाहिए कि वह ऐसा स्वराज अपने व्यक्तिगत जीवन मे स्थापित करे। यदि ऐसे आत्मशासक स्वराजी लोगो की सख्या सौ मे सौ हो जावे, तो इसमें सन्देह नही कि उस समाज के लिए न तो पुलिस की जरूरत होगी न फौज की। ऐसे स्वराजी सदस्यो से बनाई गई बाह्य शासन-मुक्त सामाजिक व्यवस्था जन-समाज की आदर्श और अभिलषणीय अवस्था होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नही। परन्तु सौ में दो-चार लोग भी यदि दुराचारी निकलें, तो फिर वह आदर्श अवस्था बिगड जाती है और जन-समाज के लिए सामाजिक नियन्त्रण (State control) की आवश्यकता हो जाती है। शासन यथार्थ में दुराचार पर ही किया जाता है। सदाचारी तो शासन-मुक्त होते है। दुराचारो

पर अथवा दुराचारियो पर सदाचारियो का शासन ही तो स्वराज कहलाता है। सार्वजनिक हित और न्याय के आधार-स्तम्भो पर ही शासन-सत्ता स्थापित की जा सकती है, फिर वह चाहे किसी भी तरह की सत्ता क्यो न हो। सार्वजनिक हित-दृष्टि सदाचार का साराश है। अतएव शासन का मूलाधार सदाचार है। सदाचारी लोग ही शासनाधिकार के योग्य माने जा सकते है। जिस प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन मे उसकी सद्वृत्तियो का कुवृत्तियो पर शासन ही आत्मशासन (Self-control) अथवा स्वराज कहलाता है, उसी प्रकार जन-समाज में सदाचारी लोगो का दुराचारियों पर नियत्रण ही उस जन-समाज का स्वराज होगा। जब तक ऐसे नियत्रण की आवश्यकता रहेगी, तब तक गाधी जी के द्वारा कल्पित आदर्श समाज की व्यवस्था स्थापित नही हो सकती। फिर भी मानव-समाज के प्रगतिशील जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य तो वही हो सकता है,—होना भी चाहिए।

'यहां तक तो आदर्शवादी चर्चा हुई। परन्तु जो लोग स्वराज के प्रश्न को विशुद्ध राजनैतिक दृष्टि से देखना चाहते हैं, उनके लिए भी गाधी जी ने अपने 'हिन्दस्वराज' की भूमिका में इस बात का खुलासा कर दिया है कि इस समय मै लोगो की इच्छा से प्रेरित होकर 'पार्लिमेंटरी स्वराज' याने प्रजातन्त्र स्वराज के लिए प्रयत्नशील हो रहा हूँ। उन्होने इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि मेरी आदर्श व्यवस्था के दिन अभी बहुत दूर है। परन्तु फिर भी 'हिदस्वराज' में गाधी जी ने ब्रिटिश पार्लिमेंट पर जो कडी आलोचना की हैं, उसमे प्रतीत होता है कि वर्तमान प्रजातत्र में भी उन्हे कई बुराइयाँ नजर आती हैं। अतएव उसमे यथोचित परिवर्त्तन के पक्षपाती भी वे सम्भवत हो। यह परिवर्तन कैसा होगा, किन-किन परिवर्त्तनो के द्वारा वर्तमान की पश्चिमी प्रजातत्र व्यवस्था (Democracy) मे सुधार करके हम उसे अपने लिए उपयोगी और सुग्राह्य बना सकते हैं; भारतीय प्रजातत्र का नख से शिख तक क्या रूप होगा, उसकी आधार-

फा० ४२

शिला कहाँ पर किस रूप में डाली जावेगी—इन सब बातो पर न तो गाधी जी ने ही विशेष विचार किया है, न फिर किसी दूसरे राजनैतिक नेता ने ही कोई महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया है। अभी तो 'स्वराज' शब्द सिक्के के समान चल रहा है। उसके आशय की ओर ध्यान देनेवाले बहुत कम है और जो ध्यान देते भी है वे 'स्वराज' का अर्थ 'प्रजातन्त्र स्वराज' मानकर सन्तुष्ट हो जाते है। इस प्रजातन्त्र में भारतीय प्रतिभा के अनुरूप उपयुक्त सुधार सोचनेवाले लोगो की सख्या बहुत ही कम है।

ऐसे विचारको मे काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० भगवानदास जी गुप्त अग्रगण्य है। उन्होने भारतीय दृष्टि से जो स्वराज-योजना बनाई है, वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के इतिहास में एक बिलकुल नई चीज है। वर्तमान प्रजातन्त्र का निर्माण उन्होंने विचारपूर्वक भारत की प्राचीन आधार-शिला पर ही किया है। वह शिला है, त्यागमूलक सेवा-भावना। इस योजना की सैकडो प्रतियाँ इस देश के राजनैतिक विचारको में डा० साहब ने वितरित की है। परन्तु देश का वातावरण अभी सग्राम-रत सिपाहियो की विद्रोह-भावना से परिपूर्ण है। अधिकाश लोगो में डा० साहब की गवेषणा-पूर्ण योजना पर विचार करने की न तो मन-प्रवृत्ति है, न विधायक योग्यता ही। ऐसी दशा में प्रतीत होता है कि इस भारतीय स्वराज-योजना पर विचार करने के लिए अनुकूल परिस्थिति अभी नही आई। वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन के क्षोभ-पूर्ण जीवन के समाप्त हो जाने के बाद जो लोग अपनी विधायक शक्तियो को समेट कर एकाग्र मनसा शान्तिपूर्ण वातावरण में देश के शासन-विधान पर विचार करेंगे, उनके सामने डा० साहब की यह योजना भारतीय सस्कृति के अनुरूप बड़े काम की पथदर्शक विचार-सामग्री सिद्ध होगी।

इस योजना के सम्बन्ध में कुछ लोगो को हमने लापरवाही के साथ यह कहते सुना है कि डा० साहब ने जैसे प्रतिनिधियो की कल्पना की है वैसे लोग नही मिलेंगे। ऐसे लोगो को कदाचित् यह नही मालूम कि

अनुकूल शिक्षा-दीक्षा तथा वातावरण के द्वारा हम हर तरह के योग्य व्यक्तियों का निर्माण कर सकते हैं। यदि ऐसे योग्य आदमी आज दृष्टिगत नही होते तो इसका यह अर्थ कदापि नही हो सकता कि भविष्य में भी ऐसे लोगो का होना अशक्य है। यदि हम चाहें और इस काम के लिए हमें पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो अपनी आवश्यकता के अनुसार सुयोग्य नागरिक हम तैयार कर सकते हैं। यथार्थ में लोगो के प्रतिनिधि होने का अधिकार उन्ही को प्राप्त हो सकता है जिनके हृदय में स्वार्थ-भावना बिलकुल न रह गई हो और जो अपनी त्यागशील मनोवृति से प्रेरित होकर जन-समाज की सेवा मे अपने ज्ञान, पाडित्य तथा अनुभव की भेंट चढाने के लिए सहर्ष तैयार हो। अपनी स्वार्थ-सनी गृहस्थी के जंजाल से मुक्त होकर जो लोग 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मानते हुए समाज-सेवा में कर्मयोगी जीवन व्यतीत करने के लिए अभिलाषी होगे, वे ही भावी भारतीय राष्ट्र के सौभाग्य-विधाता हो सकेंगे, इसमें हमें तिलमात्र भी सदेह नही है। डा० साहब की स्वराज-योजना में ऐसे ही कर्मयोगी सज्जनो को जन-समाज का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है। जो आत्म-शासक है, जिस पर किसी दूसरे के शासन की आवश्यकता नही और जो स्वय शासित है, वही दूसरो पर शासन कर सकता है। वही शासक होने का यथार्थ अधिकारी है। जो मनुष्य स्वयं अपने पर शासन नही कर सकता, वह किस बुनियाद पर दूसरो का शासक हो सकता है। अतएव डाक्टर साहब की योजना के अनुसार आत्मशासक एव स्वय शासित लोग ही शासनाधिकारी होने के योग्य माने जा सकते है। इस तरह स्वार्थी लोगो पर परमार्थियो का राज ही इस योजना को मजूर है। वही भारतीय प्रतिभा के अनुरूप सच्चा और स्थायी स्वराज होगा। जन-समाज की समस्याओ को 'सर्वभूतहितमत्यन्त' की परमार्थिक दृष्टि से देखनेवाले लोग ही इस स्वराज के योग्य प्रतिनिधि हो सकेंगे। 'स्वराज' शब्द का जो तात्त्विक अर्थ-गौरव है और जिसकी संक्षिप्त चर्चा हम इस प्रकरण के पूर्वार्ध में कर चुके हैं, उसी के अनुरूप डाक्टर

साहब ने अपनी योजना प्रस्तुत की है। क्या ही अच्छा हो कि देश के विचारवान् लोग उस पर विशेष ध्यान दें और उसके सिद्धान्त के अनुरूप वातावरण के निर्माण मे अभी से प्रयत्नशील हो जावें।

हम ऐसा इसलिए कहते है कि पाश्चात्य प्रजातत्र की कोरी नकल में इस देश को बड़ा टोटा है। अच्छे से अच्छे प्रजातत्र में भी कई बुराइयाँ विद्यमान है। उनसे हमें बच कर चलना होगा। महात्मा जी को भी उनसे कडी नफ़रत है। ब्रिटिश पार्लिमेंट की तुलना उन्होंने अपने 'हिन्दस्वराज' में वारागना से की है। यथार्थ में जिस व्यवस्था को हम 'स्व' का राज याने स्वराज कहेंगे, वह एकदम पराया ढग नही हो सकता। उसमें हमारे ऐतिहासिक अनुभव तथा जीवन-सिद्धान्त की मुहर-छाप रहेगी। वह शासन-पद्धति हमारे जीवनादर्श से उत्प्राणित रहेगी। दक्षिण-आफ्रिका के हबशियो के समान यदि हमारा जातीय इतिहास और अनुभव कुछ भी न होता, यदि हमारे पास पूर्व-सचित विचार-सम्पत्ति न होती, तो सम्भवत हम पश्चिमी राष्ट्रो की सोलह आने नकल कर लेते और उनके आचरण और विचारो से दीक्षित हो जाते। परन्तु बात ऐसी नही है। हमारा यह भारतवर्ष मानवी सभ्यता का आदि विधाता है। हजारो वर्षो के उत्कर्षकाल मे इसने जीवन के कई मीठे-कडवे फल चखे है। हमारा यह देश जगद्गुरु है। मानवी सभ्यता का सूर्योदय सबसे पहले यही हुआ। इसकी सभ्यता में एक विलक्षण जीवटपन है। उसे अमरत्व का दावा है क्योकि वह सत्य और विवेक के अमर आधार पर अवस्थित है। भारतीय सभ्यता की पारलौकिकता बहुत चढी-बढी है। फिर भी ऐहलौकिक उत्कर्ष का साधक साहित्य भी इसमे पर्याप्त है। भारतीय धर्म-ग्रथो मे राजनैतिक सिद्धान्तो का विवेचन जगह-जगह पाया जाता है। स्वतत्र रूप से लिखे हुए राजनीति के ग्रथ भी विद्यमान है। जो देश सदियो से स्वतत्र और स्वयशासित रहता आया, उसका विचार-साहित्य राजनीति से बिलकुल रीता हो, ऐसा कभी सम्भव नही।

अपनी स्वराज-योजना मे हमे अपनी पूर्वाजित विचार-सम्पत्ति से लाभ उठाना होगा। अपने पूर्वजो के छोडे हुए विस्तृत और गम्भीर विचार-कोष की ओर दुर्लक्ष्य करके यदि हम कल की जातियो का आँख मूँदकर अनुकरण करने लगें तो हमसे बढकर कोई मूर्ख ही इस पृथ्वी पर न होगा। डा० भगवानदास जी तथा महात्मा गाधी दोनो को यह अधानुसरण पसन्द नही है। दोनो का मत है कि भारत का स्वराज भारतीय सस्कृति के अनुरूप हो और उसमे भारतीय प्रतिभा की मुहर-छाप रहे। सत्य और सर्व-भूत-हित की उदार भावना से ही वह सचालित हो। यह उसकी स्वदेशी विशेषता होगी। इस विशेषता से विमुक्त होकर हमारा यह देश यथार्थ स्वराज स्थापित ही नही कर सकता। स्वराज प्राप्त करने के लिए पहले हमे अपने हृदय में स्वदेशी भावना जाग्रत करनी पडेगी। अपनी सभ्यता के प्रति आदर-बुद्धि का ही नाम स्वदेशी भावना है। यह भावना ही सच्चे स्वभावानुरूप स्वराज की जननी हो सकती है। ऐसा ही स्वदेशी राज हमे चाहिए।

अध्याय ३२

'राउंड् टेब्ल् कॉन्फ्रेंस'

इस देश के राजनैतिक आन्दोलन के इतिहास में 'राउड् टेब्ल् कॉन्फ्रेंस' एक महत्त्वपूर्ण घटना है। राष्ट्रीय महासभा के प्रतिनिधि की हैसियत से महात्मा जी यदि उस सभा में सम्मिलित न होते, तो भावी इतिहास-लेखक की दृष्टि में उसका कुछ भी महत्त्व नही रह जाता। गाधी जी की उपस्थिति ने उसकी विशेषता बहुत बढा दी। यही कारण है कि हम भी उसकी संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक समझते हैं। यहाँ पर हम उस सभा के सम्बन्ध में महात्मा जी के नेतृत्व की दृष्टि से ही विचार करना चाहते हैं, अथवा यो कहें कि इस कान्फ्रेंस में उन्होने अपने प्रतिनिधित्व का जिस तरह निर्वाह तथा पालन किया, वही हमारा विचारणीय विषय है।

सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि हम 'राउड् टेब्ल् कॉन्फ्रेंस' में 'राउड् टेब्ल्' का आशय तथा औचित्य ठीक-ठीक समझ ले। यो तो इस शब्द-योजना का स्थूल अर्थ यह निकलता है कि गोल-मेज के चारो ओर एकत्रित होनेवाली सभा को गोलमेज-सभा (Round Table Conference) कहते हैं। परन्तु इस परिभाषा से 'गोलमेज' की खूबी कुछ नही खुलती। मेज गोल ही क्यो हो, चौकोन क्यो नही ? 'गोलमेज' शब्द मे जो अर्थ-गौरव है, वह हमारी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है। इसलिए हम इस प्रकरण का प्रारम्भ 'राउड् टेब्ल्' की शाब्दिक व्याख्या से ही करना उपयुक्त समझते हैं।

दो विरोधी और कलहशील सम्प्रदायो तथा राष्ट्रो में जब सन्धि-चर्चा होती है और जब दोनो में से कोई विजयी अथवा विजित नही माना

जाता, तब दोनो पक्षो के प्रतिनिधि समान अधिकार से एक दूसरे से मिलते हैं। ऐसी सभा में न तो कोई पहले नम्बर का सदस्य होता है, न आखिरी नम्बर का। सभी बराबरी की हैसियत से एक दूसरे के पास बैठते हैं। एकत्रित प्रतिनिधियो की इस आन्तरिक मशा को प्रकट करने के लिए वृत्त ही एक ऐसा आकार है जो उपयोगी और सार्थक सिद्ध हो सकता है। यदि किसी गोलमेज़ के चारो ओर लोग सिलसिले से बैठ जावें तो यह कहना असम्भव हो जाता है कि सभा का पहला आदमी कौन है और किसका स्थान सबसे अधिक प्रतिष्ठित है। वृत्त के आकार मे आदि और अन्त का कुछ पता ही नही चलता। अतएव समानाधिकार पर समझौता करनेवाले लोगो के लिए गोलमेज़ ही सबसे अधिक उपयुक्त माना जा सकता है।

गोलमेज़-सभा के इस मौलिक आशय तथा अर्थ-गौरव को यदि हम एक बार समझ लें तो फिर यह बताने की आवश्यकता नही रह जाती कि मेज़ का गोल होना बिलकुल अनिवार्य नही है। समता के आशय को प्रकट करने के लिए केवल ऐसा नामकरण कर देना ही काफी है, फिर चाहे कोई समझौते की सभा गोलमेज़ के अभाव में चौकोन टेबल् के चारो तरफ क्यो न बुलाई जाय। सेंट जेम्स् पैलेस मे जिस टेबल् के चारो ओर प्रतिनिधि लोग बैठे हुए थे वह यथार्थ में बिलकुल गोल नही, अडाकार था।

फिर भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने इस सभा को गोलमेज़-सभा के नाम से इसलिए पुकारा कि वे ससार को तथा हिन्दुस्थानियो को यह समझाना चाहते थे कि हम भारतीय प्रतिनिधियो के साथ शासको की शान से नही, प्रत्युत समानता के भाव से बैठ कर हिन्दुस्थान की राजनैतिक प्रगति के सम्बन्ध मे सलाह-मशविरा करना चाहते है। सच पूछा जाय तो जो हिन्दुस्थानी प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन में निमन्त्रित हुए थे, उनमें कुछ थोडे से लोग ही ऐसे थे जिन पर प्रति-निधित्व का आरोप किया जा सकता था। फिर भी ध्यान रहे कि

केवल गाधी जी को छोडकर उनमें से प्राय सभी लोगो का प्रतिनिधित्व साम्प्रदायिकता तथा वर्गदृष्टि से सीमा-बद्ध था। किसी सभा-सोसायटी के द्वारा वे बाकायदा चुने भी नही गये थे। इस देश की ब्रिटिश सरकार ने कुछ ज्ञात तथा अज्ञात लोगो के नाम अपनी दृष्टि से चुन लिये थे। उस फेहरिस्त मे दस-पाँच ऐसे लोगो के भी नाम रख लिये गये थे जो किसी पक्ष-विशेष के प्रख्यात समर्थक थे और जिन्हें वर्ग तथा सम्प्रदाय के प्रतिनिधि की प्रतिष्ठा दी जा सकती थी। जिस फेहरिस्त मे कुछ सच्चे साम्प्रदायिक प्रतिनिधियो के नाम थे, उसमे कई ऐसे लोगो के भी नाम देखने में आये जिनकी जन-समाज में कुछ भी सत्ता नही थी और जो केवल अपने लक्ष्य की सकीर्णता की बदौलत ही प्रतिनिधित्व के योग्य माने गये।

यहाँ पर सबसे पहले हमें उस परिस्थिति पर विचार करना है जिससे लाचार होकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को गोलमेज-सभा की योजना करनी पडी। घटनाओ का क्रम इस प्रकार प्रारम्भ हुआ। सन् १९१९ के शासन-विधान के अनुसार दस वर्षों के बाद एक जाँच कमिटी नियुक्त की गई। मॉटेगू और चेम्सफोर्ड की दी हुई शासन-पद्धति में आवश्यक सुधार अथवा परिवर्तन करना इस कमिटी का उद्देश्य था। हिन्दुस्थान के नरमदलवाले राजनीतिज्ञ वर्षो से उत्कण्ठा-पूर्वक इस कमिटी की प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन जब उसका निर्माण हुआ और सदस्यो के नाम प्रकाशित किये गये, तब मालूम हुआ कि उसमें केवल सात ही सदस्य थे और सभी अँगरेज़ थे। कमिटी की इस सफेद बनावट को देखकर उन नरमदलवाले राजनीतिज्ञो को बडी निराशा हुई जिन्होने मॉटेगू-चेम्सफोर्ड-विधान को स्वीकार किया था और जिन्हें इस बात की आशा थी कि दस वर्ष के बाद जाँच करनेवाली कमिटी में अँगरेज़ सदस्यो के साथ समानाधिकार से बैठकर देश के शासन-सुधार के सम्बन्ध में विचार करने का मौका हमें भी मिलेगा। यह अवसर उनके हाथ से निकल गया। जाँच-कमिटी में

एक भी हिन्दुस्थानी नहीं लिया गया। क्योंकर लिया जाता? सन् १९१९ का शासन-विधान तो कहता है कि हिन्दुस्थान के शासन में सुधार करने की सोलह आने जिम्मेदारी ब्रिटिश पार्लिमेंट पर है। कहने का आशय यह कि हिन्दुस्थानियों को इस जिम्मेदारी में हस्त-क्षेप करने अथवा योग देने का कुछ भी अधिकार नहीं था। ऐसी हालत में उन हिन्दुस्थानी राजनीतिज्ञों की समझ पर हमें तरस आता है जिन्हें इस बात की आशा लगी हुई थी कि शासन-सुधार-सम्बन्धी जाँच-कमिटी में सदस्य होने का सुअवसर उनके भी हाथ लगेगा। वे तो सिर्फ गवाह की हैसियत से कमिटी के इजलास में हाज़िर हो सकते थे। उन्होंने न मालूम क्यों ऐसा समझ लिया कि वे भी विचारक न्यायाधीश की हैसियत से जाँच-कमिटी में बैठ सकेंगे। ख़ैर, आखिर अपनी-अपनी समझ तो है।

साराश यह कि सन् १९१९ के शासन-विधान के अन्दर मंत्री-पद को स्वीकार करनेवाले तथा गाधी जी के असहयोग-आन्दोलन को दबाने में सरकारी नीति का समर्थन करनेवाले राजनीतिज्ञों को इस बात से बड़ी निराशा हुई कि उनमें से एक भी आदमी जाँच-कमिटी में नहीं लिया गया। यह निराशा ऐसी गहरी और मर्म-भेदी साबित हुई कि नरमदलवालों को ऐसा कुछ करना पड़ा जो उनके जन्म-गत सस्कार के बिलकुल विपरीत था। असहयोग के कार्य-क्रम और सिद्धान्त दोनों को हमारे राजनैतिक विकास का अवरोधक समझनेवाले इन राजनीतिज्ञों को उनकी धारणा के बिलकुल विरुद्ध काम करना पड़ा। असहयोगियों को भला-बुरा कहनेवालों को स्वयं असहयोगी बनना पड़ा। यह घटना नरमदल के इतिहास में अद्वितीय थी। इस दल ने अपने जीवन में पहले-पहल पुरुषोचित स्वाभिमान का परिचय दिया। सम्मिलित रूप से इसने जाँच-कमिटी का बहिष्कार कर दिया। इस दल का एक भी नेता गवाह की हैसियत से उस कमिटी के सामने हाज़िर नहीं हुआ। इस कारण माडमन-कमिटी की शान ज़रा फीकी पड़ गई।

नरमदलवालो की चर्चा हमने यत्किचित् विस्तार के साथ इसलिए की है कि उन्ही के रुख पर ही जाँच-कमिटी के महत्व का दारोमदार था। इसी दल के लोग ही शतरज के हाथी, घोड़े और प्यादे हो रहे थे और साइमन-कमिटी की सफलता के लिए सरकारी दृष्टि से उनका सहयोग अनिवार्य था। काग्रेसवालो ने तो असहयोग का वाना पहले ही धारण कर लिया था। उनमें ब्रिटिश पार्लिमेंट से कुछ आशा भी नही थी। दुर्भाग्य से अथवा ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की मूर्खता से नरमदल का सहयोग उनके हाथ से निकल गया। सप्रू और शास्त्री इन दोनो में से दोनो या इनमें से एक भी यदि उस कमिटी में ले लिया जाता, तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि नरमदलवाले बहिष्कार-नीति का अव-लम्बन कदापि नहीं करते। लेकिन जब कोई मनुष्य अपनी शान में मस्त होकर मिथ्याभिमानी हो जाता है, तो वह भद्दी से भद्दी भूल भी कर बैठता है। यही हालत ब्रिटिश पार्लिमेंट की हुई। नरमदल के सहयोग से सफल होकर वह अपने स्वेच्छाचार में ऐसी ग़ाफिल हो गई कि उस दल का सहयोग ही वह अपने हाथो से खो बैठी। परिणाम यह हुआ कि असहयोगी काग्रेसवालों के साथ सहयोगी नरमदलवालो का आकस्मिक मेल हो गया। इस मेल ने साइमन-कमिटी को मात दे दिया। वह यहाँ-वहाँ इधर-उधर कुछ नगण्य लोगो से जाँच-पडताल करके अपना-सा मुँह लेकर वापस चली गई। इस तरह साइमन-कमिटी की योजना बिलकुल विफल हो गई। सन् १९१९ में शासन-विधान की पूर्वनिश्चित योजना अमल में न आ सकी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के लिए नरमदलवालो के नये रुख से एक अभूतपूर्व परिस्थिति पैदा हो गई। वे बडे चिन्ता में पड गये। ब्रिटिश शासन को ऐसी लाचारी की हालत में लाने का अधिकाश श्रेय इसी दल को है, इस बात पर किसी को कुछ भी सदेह नही होना चाहिए। क्योकि इन्ही लोगो का सहयोग ही तो सारी सजावट का मूलाधार था, सो निकल गया।

परिस्थिति ने एक नया परिणाम निकाला। साइमन-कमीशन की समाधि पर उसकी यादगारी के लिए एक नई सभा की योजना हुई और उसका नाम रक्खा गया 'राउड् टेबल् कान्फ्रेंस'। इस घोषणा के द्वारा ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने हिन्दुस्थान के सहयोगियो को इस बात का विश्वास दिलाया कि हम अब गोलमेज के चारो तरफ मैत्री-भाव से बैठकर समानाधिकार से कुछ सलाह-मशविरा कर लेंगे। 'समानाधिकार' का अलफाज सुनकर नरमदलवाले लट्टू हो गये और उनके पैर फिसल पडे। हम ऐसा इसलिए कहते हैं कि गोलमेज-सभा में शामिल होते समय उन्हें इतनी सी बात भी नही सूझी कि भारतीय जनता के हृदय-सम्राट् महात्मा गाधी को हिन्दुस्थान मे जेल के अन्दर छोडकर वे किस मुँह से सेंट जेम्स पैलेस में बैठ सकेंगे। जो हो, शतरज के प्यादे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के हाथ आये, खेल शुरू हुआ। पाठक क्षमा करें, शतरज की कल्पना हमारी नही है। पश्चिमी राष्ट्रो के राजनैतिक तत्त्व-वेत्ताओ ने राजनीति की उपमा ही ऐसी दी है। उनकी राय मे राजनीति एक शतरज का खेल है, उसमे आडी-टेढी सभी प्रकार की चालो की गुजाइश रहती है।

किस्साकोता, गोलमेज-सभा का पहला अधिवेशन कुछ प्रमुख सहयोगियो के सहयोग से हो गया। पर एक कारण से उसका रग बहुत फीका रहा। इस समय तक अपने असहयोग-आन्दोलन की बदौलत महात्मा गाधी की ख्याति ससार के कोने-कोने में इतनी व्याप्त हो चुकी थी कि हिन्दुस्थान का कोई भी प्रतिनिधि-समुदाय उनकी उपस्थिति के बिना पश्चिमी दुनिया की अन्तर्राष्ट्रीय सम्मति में प्रत्यक्ष रूप से धोखे की टट्टी मानी जाती। गोलमेज-सभा में अखिल भारत के सर्वमान्य नेता महात्मा गाधी की अनुपस्थिति उच्च स्वर से मानो प्रतिक्षण घोषित कर रही थी कि इस सभा मे कोई सार नही है। इधर हिन्दुस्थान का सार्वजनिक वातावरण भी आतकित और अप्रसन्न था। देश के प्रमुख राष्ट्रीय नेता तथा हजारो की तादाद मे काग्रेस के कार्यकर्त्ता जेल के

अन्दर थे। जेलों में रोशनी और चहल-पहल थी, पर बाहर देश में गाढ़ा कुहरा छाया हुआ था। सरकारी दमननीति ने एक विचित्र परिस्थिति पैदा कर दी थी। भारतीय जन-समाज सिमटा हुआ था। कांग्रेस के इशारे पर बम्बई के बाज़ार खुलते और बन्द होते थे। उसकी सिर्फ़ एक ऐलान पर रोज़गारियों की दूकानें हड़ताल मनाती थीं। विलायती वस्त्रों का बायकाट बड़ी सरगर्मी से जारी था। व्यवसाय पर इससे बड़ा आघात पहुँचा। यह एक ऐसी चोट है जिसे बनिया ही जानता है और कदाचित् बनिया ही पहुँचा सकता है। इस चोट ने और शासन-सम्बन्धी कठिनाइयों ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की परिस्थिति और भी दुरी बना दी। लाचार होकर उन्हें यह तय करना पड़ा कि गांधी को किसी तरह लाना चाहिए। मालूम नहीं, उन्होंने महात्मा जी के सम्बन्ध में क्या धारणा बना रखी थी। सम्भवतः वे समझते थे कि गांधी एक आदर्शवादी महात्मा है, वह एक सीधा-सादा आदमी होगा। जब इतनी अधिक संख्या में हिन्दुस्थानी प्रतिनिधि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारे अधिकार में है ही, तो ऐसे मजलिस में एक गांधी चाहे कैसा भी हठी हो हार जायगा। कम से कम दुनिया को यह तो ज़रूर मालूम हो जायगा कि गांधी हिन्दुस्थान का सर्वमान्य नेता नहीं है, महात्मा भले ही हो। गांधी में राजनैतिक व्यवहार-बुद्धि का कितना अभाव है, अपने देश की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने में वह कितना असमर्थ है, अतएव भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों में उनका कितना कम प्रभाव है, सारी बातें संसार को प्रकट हो जावेंगी। दुनिया फिर आगे चलकर ऐसा न कह सके कि हिन्दुस्थान के शासन में अँगरेज़ लोग दमन-नीति का अवलम्बन व्यर्थ कर रहे हैं।

उद्देश्य की इस उदार सूझ ने एक बार झोंका खाया। गांधी की ज़रूरत उन्हें महसूस होने लगी। दो हिन्दुस्थानी राजदूतों के द्वारा यह कार्य सम्पादित हुआ। लगाम की खैंच ढीली करनी पड़ी। राष्ट्रनेता छोड़े गये। महात्मा जी यरोडा जेल से बाहर निकले और गोलमेज़वाली

सभा में शामिल होने के पहले कुछ जरूरी शर्तों को तय करने के लिए वे पचा पहने हुए वाइसराय के भव्य भवन में दाखिल हुए। वह एक दर्शनीय दृश्य था। जो अर्धनग्न फकीर कल तक येरोडा जेल का कैदी था, उसका सरकारी महल की सीढियो मे सधिकर्त्ता की हैसियत से इस तरह चढना चर्चिल सरीखे कई ब्रिटिश वहादुरो को वहुत नागवार गुजरा। लेकिन करते क्या, उस समय दूसरा चारा ही न था। किसी तरह उन्होने उस समय गाधी जी के नेतृत्व-पद को स्वीकार कर लिया। लार्ड इरविन और महात्मा जी के बीच सधि-चर्चा होने लगी। बीच बीच में कई रुकावटे और अडचने आई। लार्ड इरविन इस फिक्र मे थे कि ब्रिटिश शासन की प्रतिष्ठा लोगो की नजर मे न गिरने पावे। महात्मा जी को इस वात की चिता थी कि कोई भी ऐसी शर्त उनसे स्वीकृत न हो जावे जिससे काग्रेस के स्वाभिमान पर किसी तरह का आघात पहुँचे। बीच बीच मे आशा और निराशा के कई झोके आये, पर अन्त में किसी तरह समझौता ही हो गया।

महात्मा जी ने भद्र अवज्ञा (Civil Disobedience) बन्द करना स्वीकार किया और लार्ड इरविन ने राजनैतिक कैदियो को छोडना मजूर कर लिया, ताकि काग्रेस के प्रतिनिधि गोलमेज-सभा में सम्मिलित हो सकें। महात्मा जी ने इस बात को मान लिया कि गोल-मेज-सभा में सघ-शासन-प्रणाली (Federal System) की बुनियाद पर ही सारी सुधार-चर्चा होगी और लार्ड इरविन को यह वात स्वीकार करनी पडी कि भारतीय उत्तर-दायित्व (Indian Responsibility) भावी शासन-विधान का मूलाधार होगा। फिर दोनो ने यह भी मजूर कर लिया कि सघ-शासन और भारतीय उत्तर-दायित्व के सिवाय कुछ सरक्षण के नियम (Safeguards) ऐसे भी रहेंगे जो हिन्दुस्थान के हक में फायदेमन्द हो। देश की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सबध, छोटे-छोटे सम्प्रदायो के अधिकार और हिन्दुस्थान की आर्थिक प्रतिष्ठा तथा उत्तरदायित्व के प्रश्न 'सेफ गार्ड्स्' के विषय होगे। सच

पूछा जाय तो सुलहनामे का इतना ही साराश है, शेष बातें सब गौण है। इसलिए उनकी चर्चा करना हमें यहाँ पर अभीष्ट नहीं है।

इस सुलहनामे की योग्यता पर विचार करने के लिए भारतीय दृष्टि से सघ-शासन की उपयुक्तता पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमे सन्देह नहीं कि सघ-शासन की व्यवस्था इस समय कई देशो मे कई रूपो में विद्यमान है। इस जमाने में जहाँ जहाँ नई वस्तियाँ (Colonies) वसी है, वहाँ वहाँ सघ-शासन के रूप में ही लोकसत्ता प्रकट हुई है। हिन्दुस्थान का भावी शासन-विधान भी इसी रूप में प्रकट होगा। इस बात पर हमारे राष्ट्रीय नेताओ मे कोई विशेष मतभेद नही दिखाई देता। गाधी जी के समान दूरदर्शी विचारक ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। उस समय समूचे हिन्दुस्थान में जो ब्रिटिश शासन विद्यमान है उसका रूप इसके बिलकुल विपरीत है, उसे केन्द्र-शासन-प्रणाली (Unitary System) कहना ठीक होगा। एक ही केन्द्र में सर्वोपरि सत्ता स्थापित रखना इस प्रणाली का उद्देश्य होता है। ससार में सभी जगह लोग अपने चारो ओर प्रान्तीय तथा साम्प्रदायिक चहारदीवारी बनाकर रहना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए वे अपनी प्रान्तीय स्वच्छन्दता पहले चाहते है और केन्द्र-शासन की परवाह पीछे करते है। अतएव केन्द्रित शासन का स्थापन करना बहुत कठिन काम है। यह कठिनाई बडे-बडे देशो के लिए और भी बढ जाती है जहाँ कई तरह के लोगो को एक ही केन्द्रीभूत शासन से सबद्ध करने का प्रश्न आता है। ब्रिटिश शासन ने एक ऐसा ही कठिन से कठिन राजनैतिक प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक किया है। हमारी नम्र सम्मति में यही केन्द्रीभूत सत्ता (Unitary Government) हमारे भावी स्वराज के लिए भी अधिक लाभदायक सिद्ध होगी। उसे सचालित करने का अपना जन्मसिद्ध अधिकार ही हमें चाहिए। यदि यह केन्द्रीभूत शासन-सत्ता हमें ज्यो की त्यो मिले तो बहुत ही अच्छा हो। हिन्दुस्थान इतना बडा देश

है, उसमें इतने बड़े बड़े प्रान्त और सम्प्रदाय है कि एक वार केन्द्र-शासन की वागडोर ढीली हुई कि प्रान्तो में दुर्मति समा जाने की वडी सभावना है। एक जवरदस्त केन्द्र-शक्ति के अभाव में हिन्दुस्थान के भिन्न भिन्न प्रान्त निरकुश होकर मनमानी करने लगेंगे और इस तरह विदेशी कूट-नीतिज्ञो का शिकार चीन के समान हिन्दुस्थान भी सदियो तक वना रहेगा। 'फ़ेडरेशन' यदि सघ गया तो किसी कदर ठीक ही होगा। यदि नही, तो विद्रोही प्रान्तो को एक ही केन्द्रित-शक्ति के अनुशासन में लाना सघ की सर्वमान्य सैद्धान्तिक दृष्टि से भी कठिन हो जावेगा। इस देश में रियासतो की मौजूदगी भी एक ऐसी वात है जो सघ-शासन की कठिनाई को कई गुनी अधिक वढा देती है। आज यदि केवल खालसा प्रान्तो का प्रश्न हो, तो उनका सघ-निर्माण हो सकता है। पर रियासतो को लेकर चलना और ऐसी हालत में जव कि वे चलने के लिए तैयार नही है, कठिन से भी कठिन काम है। इन देशी रियासतो के राजे-महाराजे गोलमेज़ के पहले अधिवेशन में सघ-शासन की खुलकर प्रशसा कर आये। सुनने-वालो को प्रतीत हुआ कि उनमे कुछ राजनैतिक दूरदर्शिता आने लगी है। लेकिन वाद को जव रियासती प्रतिनिधियो को गोलमेज़-सभा की चहल-पहल से कुछ फुरसत मिली तो शासन-विधान के ग्रन्थो का कुछ यहाँ-वहाँ अवलोकन किया और सघ-शासन के अन्तर्गत प्रान्तीय उत्तर-दायित्व पर विचार करने का उन्हें मौका मिला। तव कही उनकी आँखें खुली और उन्होने पीछे खिचना शुरू किया। पर एक विशेषता थी। देशी रियासतो के विद्वान् प्रतिनिधि इतना तो अन्त तक स्वीकार करते गये कि हम दिलोजान से सघ-शासन के पक्ष में हैं। पर इसी के साथ वे अपनी वर्त्तमान अनियन्त्रित सत्ता पर किसी तरह का आघात भी नही चाहते थे। सघ के अधिकार उन्हें चाहिएँ, पर जिम्मेदारी और आव-श्यक त्याग उन्हें मजूर नही है। ऐसी हालत में सघ वने कैसे? रियासती प्रजा-सघ तो अपना चुना हुआ प्रतिनिधि भेजना चाहता है और वहाँ के राजे-महाराजे अपना नामजद आदमी चाहते है। इसका

निपटारा कैसे हो और कौन करे ? फिर इधर सघ-शासन में सम्मिलित होकर रहना भी उन्हे प्रिय है। इतना बडा झमेला कैसे सुलझे ? सुलझेगा जरूर, मगर एक तरीके से, नही तो और भी उलझन पैदा होने का अन्देशा है। इसे ठीक ठीक सुलझाने का उपाय यही है कि हम पहले खालसा के प्रान्तो को लेकर ही एक लोकसत्ता-मूलक सघ-शासन का निर्माण करें और रजवाडो से यह कह दें कि आपकी जब मरजी हो तब आइए, सघ का दरवाजा खुला है। यह एक ऐसी आवश्यक शर्त थी, जिसका अभाव गाधी-इरविन-सुलहनामे में बहुत खटकता है। पर साथ साथ यह भी सच है कि तेजाब में पानी मिलाकर पतला करनेवाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस शर्त को कभी मजूर भी न करते। महात्मा जी के लिए लाचारी थी। पर आज रियासतो के साथ सघ बनाने मे जो दिक्कते पेश हो रही हैं उन्हे देखकर हमारे कुछ राजनीतिज्ञ कहने लगे है कि नही चाहिए रियासतो का झमेला, हमें तो ब्रिटिश शासन के अन्दर ही स्वराज दे दो, रियासतो का देखा जायगा। हम तुम दोनो मिलकर उन्हे रास्ते पर ले आवेंगे। परन्तु ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ कहते हैं कि सघ-निर्माण तो समूचे देश का एक साथ ही होगा, तभी हिन्दुस्थान की जिम्मेदारी का भी सवाल उठ सकता है, अन्यथा नही। इस तरह आज हिन्दुस्थान का भावी शासन-विधान सघ की खटाई में बुरी तरह पड चुका है। साराश यह कि गोलमेज-सभा की सारी कार्रवाई विफल हो गई। साइमन-कमीशन अपनी कबर से उठ बैठा है। वह मरा नही था, सिर्फ घायल ही पडा था। हम ऐसा इसलिए कहते है कि इस कमीशन ने जिस प्रान्तीय सुधार-योजना (Provincial autonomy) की सिफारिश की थी, अधिकाश में उसी को ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने अमल में लाने का विचार किया है। शिमला के शासन में आखिर देने-लेने की कोई बात नही रह गई। इस प्रकार साइमन-कमीशन की जीत रही। उसकी पुनरावृत्ति 'ज्वाइंट पार्लिमेंटरी कमिटी' के रूप में हुई। वह भी खालिस अँगरेजो की

कमिटी थी। परन्तु आश्चर्य है कि देश के सहयोगियो को उसके इजलास में गवाह की हैसियत से हाजिर होना बिलकुल बरदाश्त हो गया! सिर्फ इसलिए कि बीच मे गोलमेज-सभा का कुछ गोल-माल हो चुका था। वह एक ऐसी बाहरी सजावट थी कि उसके फेर मे एक बार गाधी जी के नेतृत्व में समूची काग्रेस भी पड गई। पडना पडा, कुछ लाचारी से और कुछ उपयोग की दृष्टि से भी।

काग्रेस ने गोलमेज-सभा में शामिल होकर जो लाभ उठाना चाहा, उसके सम्बन्ध में कुछ मतभेद की सम्भावना जरूर है। कुछ लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते है कि गोलमेजवाली सभा मे महात्मा जी के शामिल होने से देश को कुछ लाभ तो हुआ ही नही, बल्कि हानि हुई है। साम्प्रदायिक समस्या को हल करने मे लदन मे प्रयत्नशील और सरे आम असमर्थ होकर गाधी जी ने अपने राजनैतिक नेतृत्व की महत्ता बहुत कुछ घटा दी है। यह मौका अगर महात्मा जी न लाते तो उनके हक में अच्छा होता। यह धारणा इस प्रत्यक्ष बात से भी समर्थित होती है कि स्वय गाधी जी को 'सेंट् जेम्स पैलेस' मे साम्प्रदायिक, सकीर्ण-हृदय और चालबाज़ नामजद लोगो के बीच बैठकर किसी प्रकार सफलता प्राप्त करने की आशा अपनी यात्रा के आरम्भ ही से नही थी। उन्होंने स्पष्ट ही कहा था कि मै आशा के विरुद्ध आशावान् होकर जा रहा हूँ। परिणाम भी वही हुआ जिसकी सोलह आने आशका थी। गाधी जी के प्रयत्न से भी हिन्दुस्थान का साम्प्रदायिक समझौता न हो सका। ससार को महात्मा जी की विफलता का यही दृश्य दिखाना ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो को मजूर था, सो देखा गया।

साम्प्रदायिक निर्णय करनेवाली उपसमिति (Minorities Sub-Committee) की पहली बैठक हुई। अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में सदस्यो को प्राचीन भारत के तत्त्वज्ञानियो की याद दिलाकर रैमज़े मैकडॉनल्ड ने अपनी बनावटी उदार बुद्धि का परिचय दिया और हिन्दुस्थानी प्रतिनिधियो से कहा कि "अपना साम्प्रदायिक निर्णय आप लोग

ही करें, मैं इस मामले में किसी तरह का हस्तक्षेप करना नहीं चाहता। दूसरो के लिए मैं पूरा पूरा बदनाम हो चुका हूँ। फिर भी यदि आप लोग आपस में कुछ भी तय न कर सकेंगे और यदि आप लोगो की इच्छा होगी तो मैं इस झमेले में पडकर फिर भी बदनाम होने के लिए तैयार हूँ", इतना इशारा कुछ लोगो के लिए काफी था। आगा खाँ उठकर बोले कि मुसलमान-प्रतिनिधि आज रात को गाधी जी से मिलकर सलाह-मश्विरा करनेवाले है, इसलिए इस उपसमिति की कारंवाई स्थगित की जावे। कर्नल गिड्नी और अबेडकर ने यह अन्देशा जाहिर किया कि कही हिन्दू-मुसलमान अलग ही अलग आपस में समझौता करके अन्यान्य छोटे सम्प्रदायो का हक न मार दें। मैकडॉनल्ड ने उन्हें आश्वासन दिया कि ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता, पर तब तक आप लोग भी अलग मिलकर समझौता कर डालें। इसके बाद उपसमिति की कार्र-वाई स्थगित हो गई।

तत्पश्चात् साम्प्रदायिक प्रतिनिधियो की चहल-पहल शुरू हुई। रिज़ होटेल में आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमान-प्रतिनिधियो से महात्मा जी की बातचीत हुई। डा० असारी के बिना तथा इतर राष्ट्रीय मुसलमानो के अभाव में वे बिलकुल निहत्थे और निस्सहाय हो रहे थे। उन्होने मुसल-मान-प्रतिनिधियो से इस बात का आग्रह भी किया कि डा० असारी को साम्प्रदायिक उपसमिति में लेना बहुत जरूरी है। पर आगाखाँनी दीक्षा से दीक्षित मुसलमान इस बात पर क्यो राजी होते ? उन्होंने महात्मा जी की सलाह सुनी-अनसुनी कर दी। लार्ड इरविन से सधि-चर्चा करते समय यदि इस शर्त पर जोर दिया गया होता तो कदाचित् गाधी जी डा० असारी सरीखे कुछ मुस्लिम नेताओ को साथ ले सकते थे। एक बार लदन पहुँचकर उन्हें शामिल करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ ही था।

गाधी जी सिक्ख तथा हिन्दू-प्रतिनिधियो से भी मिले। अबेडकर और गिड्नी से भी बातें हुईं। तत्पश्चात् हिन्दुस्थानी प्रतिनिधियो की सेंट

जेम्स् पैलेस में सभा हुई और उसके सभापति महात्मा जी हुए। दलित जाति के सरकारी प्रतिनिधि अवेडकर ने अपनी दलित बुद्धि का परिचय इस सभा मे खूव ही दिया। उसे यह कहते जरा भी सकोच नही हुआ कि दलित-वर्ग के लोग हिन्दू नही है। उसने इस वात पर जोर दिया कि दलितो को पृथक् निर्वाचन का अधिकार चाहिए। पतरो साहव तो इस वात का समर्थन करनेवाले ही थे। मगर आश्चर्य है कि सप्रू, मुदलियर और रामचन्द्रराव सरीखे राजनीतिज्ञ भी दलितो को पृथक् निर्वाचनाधिकार देने के लिए राजी हो गये। गाधी जी ने काग्रेस-पक्ष का खुलासा इस तरह किया—

"हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय प्रतिनिधि की हैसियत से मैं पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन का विरोधी हूँ। फिर भी लाचारी की हालत में सिक्ख और मुलसमानो का पृथक् निर्वाचन देने के लिए मैं किसी तरह तैयार हो सकता हूँ। पर दलित-वर्ग को ऐसा अधिकार देकर उसे हिन्दू-समाज से हमेशा के लिए अलग कर देना मैं हरगिज नही चाहता।"

प० मालवीय ने महात्मा जी का समर्थन किया। परन्तु कोई समझौता न हो पाया और साम्प्रदायिक उपसमिति की वैठक का दिन भी आ गया। गाधी जी ने आठ अक्टूवर तक यह कहकर मोहलत माँगी कि अभी प्रतिनिधियो में समझौते की वातचीत जारी है, समय कम था, इसलिए कुछ निर्णय नही हो पाया। उन्होने यह भी कहा कि कम से कम मैं अव दूसरी मोहलत न लूँगा और इस समिति की दूसरी वैठक में सारी कार्रवाई की रिपोर्ट पेश कर दूगा। मै वडा जवरदस्त आशावादी हूँ, इसलिए उम्मीद करता हूँ कि शायद कुछ समझौता हो जावे। आगा खाँ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। कर्नल गिड्नी तथा अवेडकर की पेश की हुई शकाओ का समाधान करके समिति की वैठक फिर स्थगित हो गई।

तत्पश्चात् प्रतिनिधियो की सभा फिर शुरु हुई। महात्मा जी ने काग्रेस का पक्ष-समर्थन करते हुए कहा कि पृथक् निर्वाचन का अधिकार

राष्ट्रीयता का विघातक होगा। सिवाय इसके एक या दो सम्प्रदायो को ऐसा हक देकर हम इतर सम्प्रदायो को उससे वंचित नही कर सकते।

"राष्ट्रीयता से पराङ्मुख और साम्प्रदायिकता के वशवर्ती होकर आप लोग इतनी परस्परविरोधी माँगें पेश कर रहे है कि मेरा समझ में नही आता कि इस उलझन का निपटारा कैसे हो ? मै समझौते के लिए प्राणपण से प्रयत्नवान् हूँ। मगर मेरी आँखो के सामने अभी प्रकाश दिखाई ही नही देता।" प्रकाश क्योकर दिखाई देता ? स्वार्थी और साम्राज्यवादी ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो के इशारे पर कठपुतली होकर नाचने-वाले 'आगा खाँ-अबेडकर-पतरो-गिड्नी एड को०' के साथ साम्प्रदायिक समझौता करना एक क्या, एक दर्जन महात्माओ के लिए असम्भव था। भारत का दुर्दैव इसी कपनी के रूप में गाधी जी से लोहा लेने के लिए लदन में उपस्थित हुआ था। आखिर किसी राष्ट्र का दुर्दैवी कर्म-विपाक भी तो कोई चीज़ है। सर्व-शक्तिमान् ईश्वर भी इसे वदलने में सक्षम हो सकेगा या नही, इस वात पर हमें सदेह है। अतएव गाधी जी की इस विफलता में उनके नेतृत्व का कोई दोष नही, दोष है देश के दुर्दैव का।

आखिर पचायत पर मामला छोड देने की वात होने लगी। सरोजिनी वाई ने कहा कि इस काम के लिए साम्प्रदायिक समिति के पाँच पच चुन लिये जावे। हिन्दू और सिक्ख नेताओ ने कहा कि पच ऐसे हो जो समिति के सदस्य न हो। मुसलमानो की ओर से कहा गया कि समिति के सदस्यो में से ही पच चुनना ठीक होगा। बाहर के लोगो से इस मामले में सहायता लेना अपनी कमजोरी जाहिर करना है, ऐसा हरगिज नही होना चाहिए। इस तरह मत-भेद के बवडर में पडकर पचायत की योजना कई चक्कर खा गई। महात्मा जी वडी चिंता में पड गये और कदाचित् सोचने लगे कि अपनी नाकामयाबी का इज़हार साम्प्रदायिक उपसमिति की बैठक में किस तरह देना चाहिए।

बिगडी हुई वात को बनाकर वोलना आसान काम नही है। उसके

लिए बहुत योग्यता की जरूरत होती है। गाधी जी को जो आदमी चतुर राजनीतिज्ञ न समझता हो, उसे चाहिए कि वह साम्प्रदायिक निर्णय-समिति के सामने दिये हुए महात्मा जी के उस लाजवाब अश को अनेक बार पढे और मनन करे। उन्होंने जो कहा है उसका साराश यह है—

सभापति महोदय,

हमें मालूम नही है कि हिन्दुस्थान को कौन-कौन-से और कितने शासनाधिकार दिये जावेंगे। इस बात का खुलासा आप लोगो ने अभी तक बिलकुल नही किया है। ऐसी हालत में भारतीय प्रतिनिधियो को इस कान्फ्रेंस के जरिये अपना लक्ष्य ही नही दिखाई देता। जो लक्ष्य ही अदृश्य है उसके मार्ग पर कोई किस आशा से आरूढ हो? यही कारण है कि सम्प्रदायो के बीच समझौता होना इस समय शक्य प्रतीत नही होता। राजनैतिक अधिकारो को प्राप्त कर लेने के बाद ही हम उसका आपस मे बँटवारा कर सकते है। सो पहले यह तो बताइए कि आप हमें देना क्या चाहते है? यदि इस प्रश्न का उत्तर आप निश्चय-पूर्वक दे सकें, तो हमें यह निर्णय करते अधिक देर न लगेगी कि हम आपस में उसका विभाग किस प्रकार करेंगे। यदि हमे आज यह मालूम हो जावे कि हिन्दुस्थान को आप स्वतत्रता का सत्व (Substance of Independence) देने के लिए तैयार है, तो फिर ऐसे मौके को हाथ से छोडने के पहले हमें पचीसो मरतबे गम्भीरता-पूर्वक सोचना पडेगा। लेकिन जब तक हमारे पास बँटवारे की सामग्री ही प्रस्तुत नही है, तब तक 'सूत न कपास जुलाहो में लठा-लठी' वाली कहावत चरितार्थ होती रहेगी और मेल की असम्भावना बनी रहेगी। आखिर समझौता हो तो हो किस बुनियाद पर? जिस स्वराज-मन्दिर का हम निर्माण करना चाहते है, उसकी नीव स्वतत्रता के सत्व पर डाली जावेगी और उसके गगनभेदी शीर्ष-भाग पर जो कलस रहेगा, वह हमारे साम्प्र-

दायिक सहयोग से बनेगा। अतएव बुनियाद के लिए हमें पहले स्वराज चाहिए; साम्प्रदायिक निर्णय तो उसके बाद सम्भव हो सकेगा। अभी तो व्यर्थ का झगड़ा है।"

गाधी जी के इस तर्क मे गम्भीर अर्थ-गौरव भरा हुआ है; इसमें शक नही। जब तक मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि मुझे किसी के आधीन होकर रहना है, तब तक वह स्वतत्रता-पूर्वक व्यवहार नही कर सकता। अप्रभावित रहकर स्वतत्र रूप से निर्णय करने के लिए उसे स्वतत्र ही होना चाहिए। हिन्दू और मुसलमान जिस दिन यह समझ लेंगे कि आज से हम आजाद है, उस दिन स्वतत्रता के वातावरण में वे अपना साम्प्रदायिक निर्णय अनायास कर लेंगे। लेकिन आज तो वे यह समझते है कि किसी तीसरी सत्ता को कृपा-दृष्टि से उन्हें जीना है। दिल की इस गिरी हुई हालत में वे अपना समझौता आप ही कर लेने के योग्य नही है। ऐसी दुरवस्था में पड़कर ससार की किसी भी मनुष्य-जाति की आत्म-क्षमता नष्ट हो सकती है। यह एक सच्ची और सैद्धान्तिक बात है। इसी का उपयोग महात्मा जी ने अपनी साम्प्रदायिक विफलता की कैफियत देते हुए किया। एक चतुर बैरिस्टर के समान उन्होने 'सबूती का भार' (*Onus probandi*) बात की बात में ब्रिटिश राजनीतिज्ञो पर डाल दिया। लेकिन सेंट जेम्स पैलेस के कुटिल वातावरण में तर्क और विवेक के लिए कोई गुजाइश नही थी।

अन्ततोगत्वा वह दिन आया जब साम्प्रदायिक समिति की अन्तिम बैठक हुई। सभा के सदस्यो ने अपनी अपनी डफली बजाकर अपना अपना राग अलापा। आगा खाँ ने छोटे सम्प्रदायों की ओर से और सरदार उज्ज्वलसिंह ने सिक्खो की ओर से अपनी अपनी माँगे पेश की। रैमजे मैकडॉनल्ड ने बडी शान से कहा, अच्छा, तो मै आप लोगो की नाकामयाबी की रिपोर्ट भेज दूगा। उनके प्रारम्भिक

भाषण के बाद कई लोग बोल गये। पर गांधी जी के एक बोल का नाराच सभी को निस्तेज कर देता है। उन्होंने मुक्त-कण्ठ होकर कहा—

"कि इस योजना के मैं बिल्कुल विरुद्ध हूँ। मैं जिस राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि हूँ, वह वर्षों तक जंगल जंगल मारी मारी फिरना पसन्द कर लेगी, लेकिन ऐसी कोई भी साम्प्रदायिक योजना स्वीकार न करेगी जिनके पैदा किये हुए वातावरण में नियमित शासन का पौधा कभी पनप ही न पायगा।"

भारतीय शासन-विधान के निर्माण में जो दूरदर्शिता चाहिए, उसके अन्तिम शब्द महात्मा जी के उपर्युक्त वक्तव्य में अंकित हैं। पर उन्हें स्वीकार करने की मनोवृत्ति उस जन-समाज में नहीं थी। आखिर बेचारों ने यह तय किया कि मैकडोनल्ड साहब ही कृपापूर्वक पंच का काम कर दें। सभी ने अपने अपने नोट भेजे, महात्मा जी भी उनमें से एक थे। पर उन्होंने क्या लिखा, यह हमें मालूम नहीं।

आखिर मैकडोनल्ड महोदय ने अपना साम्प्रदायिक पंच-फैसला दे दिया और उसका देश पर क्या परिणाम हुआ, वह कुछ कहने-सुनने की बात नहीं है। उसका परिणाम तो हम प्रत्यक्ष भोग रहे हैं। हमारी यह निश्चित धारणा है कि जिन लोगों ने हिन्दुस्थान के साम्प्रदायिक मसले को हल करने का काम एक विदेशी कूटनीतिज्ञ के सुपुर्द किया, उन्होंने कुछ ऐसा काम किया जो उनके आत्म-सम्मान के बिलकुल विरुद्ध था। इसके सिवाय इस जिम्मेदारी को उन्होंने एक ऐसे राजनीतिज्ञ के हाथ में डाला, जो मजदूर-दल का नेता होकर साम्राज्यवादियों के दरवाजे उस समय पानी भर रहा था। उसका निर्णय न्याय-समर्थित क्योंकर हो? इस बात को हिन्दुस्थानी प्रतिनिधि नहीं जानते थे, ऐसी बात नहीं थी। परन्तु वे राष्ट्रदृष्टि का परित्याग करके केवल स्वार्थ-पथ पर ही आरूढ थे। इसी कारण महात्मा जी की बाअसर बातें बिल-कुल बे-असर साबित होती थीं। इसी कारण वे समझते हुए भी

नासमझ थे और देखते हुए भी अंधे थे। मैकडोनल्ड साहब का प्रारम्भिक संकेत अपना काम कर गया। आप पत्र बन हों तो बैठे। ऐसी हालत में गांधी जी के सामने त्याग तपस्या करने के सिवाय कोई काम नहीं रह गया। देश का दुर्दैव सेंट जेम्स पैलेस से सड़ी पर मार देता हुआ निकला और गांधी जी बाहर आये निराशवदन और गम्भीर होकर। आज भी वे अपने मन की उसी अवस्था में हैं। मैकडोनल्ड साहब के दिये हुए साम्प्रदायिक निर्णय के एक महत्वपूर्ण अंश के विरोध में उन्हें प्राणों की बाजी लगानी पड़ी। विलायत की विफलता का प्रायश्चित्त उन्हें हिन्दुस्थान में इस रूप में देना पड़ा।

तारीख १८ सितम्बर को होनेवाली संघ-शासन-समिति (Federal Structure Committee) की बैठक में महात्मा जी पहले-पहल उपस्थित हुए। लेकिन वह उनका मौन-दिवस था। चौबीस घंटे के मौन-चिन्तन के बाद दूसरे दिन वे सभा में बोले। कार्यभार गुरुतम था। पैंतीस करोड़ मूक, पराधीन और दरिद्र जनता की पैरवी उन्हें स्वार्थी साम्राज्यवाद की इजलास में करनी थी। जो अपराधी था, वही न्यायाधीश की हैसियत से बैठा हुआ था। ऐसी हालत में विरोधियों की प्रसुप्त अन्तरात्मा को पहले जाग्रत करने के सिवाय कोई दूसरा उपाय ही नहीं था। गांधी जी बोले—अधिकार-पूर्वक बोले और ऐसी निर्भयता के साथ बोले जो स्वाभिमानी भारत के लिए सर्वथा उचित था। सबसे पहले उन्होंने अपने सहयोगी हृदय का परिचय दिया और कहा कि मैं भारत और इंगलैंड के बीच सुलह करने की एकान्त निष्ठा से यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। इस सहृदयता के साथ राजनैतिक बुद्धिमत्ता का मेल होना जरूरी था और उसका परिचय उन्होंने यह कहकर दिया कि मैं इस बात को भी जानता हूँ कि दोनों राष्ट्रों के बीच मौलिक मत-भेद हैं; माने इस मजलिस में, इस तरह, इस अवस्था में और इस मनोवृत्ति के साथ सुलह होना बहुत मुश्किल है। ऐसी विषम परिस्थिति में सन्धि-चर्चा व्यर्थ हो जायगी। अतएव गांधी जी को बेलाग होकर यह कहना

पडा कि जिस क्षण ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को मेरी उपस्थिति असुविधाजनक प्रतीत होगी, उसी क्षण मैं केवल एक सकेतमात्र से ही बाहर चला जाऊँगा।

इस योग्य और समुचित भूमिका के बाद उन्होने अपना वक्तव्य शुरू किया। जिस राष्ट्रीय महासभा की ओर से वे अपनी पवित्र जिम्मेदारी का पालन कर रहे थे, उसका दावा सिद्ध किया और कहा कि हिन्दुस्थान मे काग्रेस ही एक ऐसी सस्था है, जो देश के नाम पर अधिकार-पूर्वक बोल सकती है। इस सस्था ने अपने जीवन के प्रारम्भ काल ही से अछूत जातियो की सेवा की है; अतएव उनकी ओर मे भी वह अधिकार-पूर्वक बोल सकती है। अपने प्रतिनिधित्व की अद्वितीय क्षमता का इस तरह पहले खुलासा करके उन्होने काग्रेस का ध्येय प्रस्तुत किया। उसकी मीमासा उन्होने जिस तरह की, वह भी सुनने योग्य है। उन्होने कहा कि 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का आशय कही आप यह न समझ लेना कि दुनिया के आगे हम केवल इस बात की घोषणामात्र करना चाहते है कि हिन्दुस्थानियो ने अँगरेजो से सारा सम्बन्ध तोड दिया। हम तो केवल यही सिद्ध करना चाहते है कि 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' की साझेदारी में हम दोनो स्वतन्त्र है और दोनो के समान अधिकार है। महात्मा जी के इस वक्तव्य में औपनिवेशिक स्वराज (Dominion Status) की ओर प्रत्यक्ष सकेत है। अपने भाषण के अन्त मे भी उन्होंने यही कहा—

"I would love to go away with the Conviction that there is to be an honourable and equal partnership between Britain and India It will be my fervent prayer during all the days I live in your midst that that consummation may be reached."

यथार्थ में 'पूर्ण स्वतन्त्रता' की तर्कसिद्ध मीमासा वही हो सकती

लेकिन परिस्थिति उनके बिल्कुल विरुद्ध थी। जिस औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना महात्मा जी के भाषण में दृष्टिगोचर होती है, वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की इच्छा से बाहर की बात थी। इस बात को गांधी जी जानते थे। लेकिन जानकर भी उन्हें एक बार भारत की अन्तरात्मा की आवाज़ बुलन्द करनी थी। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के दरबार में उन्हें स्वाभिमान और नम्रता के साथ हिन्दुस्तान की ओर से यह घोषित करना था कि सरकारी नामज़द लोगों का यह स्वयं-स्वीकृत प्रतिनिधि-मंडल हिन्दुस्तान के किसी भी मर्ज़ की दवा नहीं है। उपचार तो कांग्रेस का ही कारगर होगा, क्योंकि वह शक्ति-सम्पन्न है। जानत

भारत का राष्ट्रीय स्वाभिमान इस तरह गाधी जी के द्वारा सेट जेम्स-पैलेस मे बेलाग होकर बोल गया। उसे सारा ससार निस्तब्ध होकर सुन रहा था।

सघ-शासन-समिति की कार्रवाइयो से ऊबकर और वहाँ की वाग्विलासिता को देख-सुनकर गाधी जी का माथा ठनका। तारीख १७ की बैठक मे सर्वप्रथम वक्ता की हैसियत से वे बेलाग होकर साफ-साफ कह गये।

"साहबान, सोमवार के दिन मे आपकी कार्रवाइयो को देखकर मेरी दिली हैरानी बढती जा रही है। पहला कारण तो यह है कि आप लोगो में मे एक भी आदमी ऐसा नही है जो लोगो के प्रतिनिधि होने का दावा कर सके। आप तो सरकार के द्वारा चुने गये है। सरकारी नामजद लोगो के इस महफिल मे मुझे इस तरह की बेचैनी मालूम हो रही है और वह इस खयाल मे कि इस गोलमेज-सभा की बनावट ऐसी नही है कि जिसे देखकर कोई ऐसा समझ सके कि इस सभा को जुटानेवालो में दिल की सचाई है। इस कान्फरेस की सामर्थ्य-हीनता का इससे अधिक परिचय और क्या दिया जा सकता है कि लगातार घटो वाद-विवाद करने पर भी हम किसी निर्णय पर नही पहुँच पाते। मुझे तो सभापति महोदय मैकडॉनल्ड साहब की हालत को देखकर दया आती है कि उन्हे अपना पित्त मारकर ऐसी शिष्टता-पूर्वक सभासदो की सारी बाते सुननी पड रही है। फिर भी मै आशावान् हूँ कि आपके इस आदरणीय धैर्य का कोई अच्छा परिणाम निकलेगा और आपको बधाई देने का सुयोग मुझे प्राप्त हो सकेगा।"

इस प्रारम्भिक भाषण मे गाधी जी ने अपना रुद्ररूप दिखलाया। जहाँ लोग 'अहो रूप अहो ध्वनि' कहकर एक दूसरे की प्रशसा में मस्त हो रहे थे, वहाँ इस मुँह-फट सत्यवक्ता ने नामजद सदस्यो की सारी कमजोरियाँ खोलकर रख दी। सेट जेम्स पैलेस के वातावरण मे साम्राज्य-वाद के आतक से मुक्त होकर शायद ही कोई माता का लाल ऐसा कभी

बोल गया होगा। कोई भी समझदार आदमी इस बात को स्वीकार कर सकता है कि गांधी जी उस भाषण के बाद गोलमेज-सभा-मञ्च के पात्रो के लिए असुविधाजनक हो गये। अपने घर ही में बैठकर हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियो से ऐसी खरी बातें सुनने का अभ्यास ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को नही था। जिसे केवल भोला-भाला आदर्शवादी साधु समझ रखा था, वह बड़ा चुस्त व चालाक राजनीतिज्ञ भी निकला। उन्हें इस बात की कल्पना भी नही थी कि पक्का सौदा करनेवाले किसी व्यवहार-कुशल बनिये से गाँठ पड़ेगी। गाधी जी को गोलमेज-सभा में बुलाकर ब्रिटिश साम्राज्य की दृष्टि से उन्होने जो भूल की थी, उसका ज्ञान उन्हें होने लगा।

सघ-शासन-समिति की एक और महत्त्वपूर्ण बैठक उस दिन हुई, जिस दिन देश की रक्षा और बाहरी नीति के प्रश्न छेड़े गये। जिन मुस्लिम प्रतिनिधियो ने साम्प्रदायिक निर्णय के अभाव से अप्रसन्न होकर समिति की कार्रवाइयो में दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया था, वे भी इस सभा में उपस्थित हुए। उनकी राष्ट्रीयता-घातक हरकतो की ओर सकेत करते हुए लार्ड सैकी ने कहा कि आप लोग विश्वास करें कि मैं न तो हिन्दुओ का पक्षपाती हूँ न मुसलमानो का तरफदार हूँ; मैं तो सारे हिन्दुस्थान का हिमायती हूँ। जिन्ना साहब इस सकेत को समझ गये और समझकर उन्होने जवाब दिया कि मैं आपसे बढकर हिन्दुस्थान का हमदर्द हूँ। परन्तु उन्हें क्या मालूम कि मुसलमानो के साम्प्रदायिक दुराग्रह से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ फायदा तो उठा रहे थे, पर उन्हें इज्जत की निगाह से देखने के लिए उनकी अन्तरात्मा तैयार नही थी। जिन्ना साहब के इस जवाब का जो जवाबुल-जवाब सैकी साहब ने दिया, वह किसी भी स्वाभिमानी हिन्दुस्थानी दिल के दो टुकड़े कर देनेवाला था। मालूम नही, चौदह शर्तो के हिमायती उस मुस्लिम महानुभाव के हृदय की उस समय कैसी अवस्था थी। क्या पाठक जानना चाहते हैं कि सैकी महोदय ने क्या प्रत्युत्तर दिया? सुनिए, उन्होने कहा,

जिना साहब, मैं इस बात को मंजूर नहीं करता कि आप मुझसे बढ़कर हिन्दुस्थान के हिमायती हैं। एक अँगरेज यदि किसी हिन्दुस्थानी से ऐसा कहे, तो सहृदय पाठक समझ सकते हैं कि वह उस हिन्दुस्थानी के लिए कितनी लज्जास्पद बात होगी। जिना साहब को इसका उत्तर कुछ भी न सूझा। खामोश रह गये। बोलते क्या, उनकी अन्तरात्मा सैकी साहब की करारी मार से सन्न रह गई।

इस सभा के प्रथम वक्ता सप्रू साहब थे। उन्होंने अपनी उदार नीति का परिचय यह कहकर दिया कि प्रगतिकाल में फौजी विभाग को देशरक्षक एक ऐसे हिन्दुस्थानी मेम्बर के हाथ में रहे, जो गवर्नर-जनरल के सामने अपने काम का जिम्मेदार हो। मुदलियर महोदय भी कुछ ऐसा ही बोल गये। मालवीय जी ने कांग्रेस का दृष्टिकोण बतलाया। इस पर लार्ड रीडिंग अपने प्रतिनिधित्व का जामा उतार कर वैयक्तिक हैसियत से अपना खरापन दिखाते हुए बिलकुल साफ-साफ कह गये। उनका साम्राज्यवादी दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट था। उन्होंने कहा कि मैं बिलकुल साफ साफ कह देना चाहता हूँ कि मैं ऐसी कोई भी योजना स्वीकार नहीं करूँगा, जिसमें फौजी विभाग की जवाबदारी गवर्नर-जनरल पर न हो। परन्तु अँगरेजों की माँद में पले हुए उस यहूदी सज्जन को यह जानना चाहिए था कि उस सभा में एक ऐसा भी आदमी मौजूद था, जो सप्रू साहब का देश-भाई था और जो खरी बात कहने में दुनिया में अपना कोई सानी ही नहीं रखता। रीडिंग महोदय का दृष्टिकोण सरासर साम्राज्यवादी था और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से सर्वथा समर्थित था। साम्राज्यवाद की इस ढिठाई का जवाब निश्चल राष्ट्रवाद ही दे सकता था। महर्षि मालवीय और महात्मा गांधी के अमर वाक्यों में उसका पूर्णावतार हो गया। महात्मा जी बोले—

"कांग्रेस अपने देश की सेना पर पूरा अधिकार चाहती है। हमें इस धोखे में हरगिज नहीं रहना चाहिए कि देश-रक्षा का भार विदेशियों के हाथ में सौंपकर हम स्वतन्त्र हो सकते हैं। यह स्वतन्त्रता

नही, आत्म-प्रवचना होगी। मेरी समझ में नही आता कि यदि इस अधिकार से हम आज वंचित किये जावे, तो ऐसा कौन-सा दिन आवेगा जब कि हम इतर अधिकारो का सदुपयोग करते हुए भी सहसा इसके योग्य हो सकेंगे।"

"मै उस दिन का सुख-स्वप्न देख रहा हूँ कि जब ब्रिटेन हिन्दुस्थान को आत्मरक्षा का भार उदारतापूर्वक सौप देगा। आप ही तो हमारे पर काटनेवाले है और आप ही तो उगाना भी पड़ेगा। यह कोई मेहरबानी का काम नही, आपका फर्ज ही होगा। मै कल्पान्त तक ठहर सकता हूँ, पर आत्मरक्षा का भार दूसरो पर लाद कर स्वराज का उपभोग करना पसन्द न करूँगा। सेनाधिकार छोडकर मै एक उत्तरदायी शासन का निर्माण कर सकता हूँ—ऐसा धोखा मै कभी खा ही नही सकता।"

"आखिर सोचिए तो सही, हिन्दुस्थान कोई ऐसा देश नही है, जहाँ के लोग आत्मरक्षा करना न जानते हों। सीमा-प्रान्त के सिक्ख और मुसलमान किसी बाहरी दुश्मन से नहीं डरते। गुरखो की मनोवृत्ति इस समय गिरी हुई है, जिस दिन उनमें राष्ट्र-भावना जाग्रत होगी, उस दिन वे अकेले ही इस काम के लिए कटिबद्ध हो जावेंगे। राजपूतो की जाति ऐसी है कि उसने एक नही, अनेक थर्मापिली के दृश्य दिखाये है। उनके शौर्य का साक्षी इतिहास है।"

"बाहरी मामलात (External Affairs) का आशय मैंने सप्रू साहब से पूछ लिया है। वे कहते है कि इस विभाग में निकटवर्त्ती तथा इतर राष्ट्रो से यथोचित सम्बन्ध स्थापित करनेवाली नीति पर विचार तथा अमल करना पडता है। यदि यही आशय है, तो मै कह सकता हूँ कि हम इतने नालायक नही हैं कि अपने हिताहित को ध्यान में रखते हुए हम दूसरो से उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित न कर सकें। अपने पडोसी अफगानो से हम मित्रता का नाता जोड सकते है, जापानियो से भी हम सुलह कर सकते है। ब्रिटिश कामनवेल्थ के

भावना से उत्प्राणित होकर उन्होंने अपने अन्तिम वक्तव्य का सिलसिला इस तरह शुरू किया।

"मन्त्री महोदय तथा मित्रो,

"मैं तो सोचता था कि यहाँ पर बिना बोले ही मेरा काम निकल जावे तो अच्छा हो। परन्तु मुझे बोलना ही पड़ेगा। यदि इस महत्त्व-पूर्ण प्रसग पर मैं कांग्रेस की ओर से अपना अन्तिम वक्तव्य न पेश करूँ, तो मेरा यह व्यवहार आपके प्रति और स्वय अपने सिद्धान्त के प्रति भी न्याय-सगत नहीं माना जायगा। पर बोलने के पहले मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरे मन में किसी भी तरह का भ्रम नहीं है। आप लोगो की मशा और अपनी वर्तमान परिस्थिति इन दोनो की मुझे पूरी पूरी जानकारी है। मैं इस बात को जानता हूँ कि इस समय जो कुछ मै कहनेवाला हूँ, उसका ब्रिटिश नीति पर कोई प्रभाव नही पड सकता। सभवत आप लोगो ने अपना निश्चय पहले ही कर लिया है। हिन्दुस्थान-सरीखे देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न केवल वाग्विलास से हल नही हो सकता। मै कहता हूँ कि इतने शीघ्र केवल शान्तिपूर्ण समझौते से भी इस उलझन से निपटना मुश्किल है। सधि-चर्चा के महत्त्व को मैं महसूस करता हूँ, पर मैं यह भी समझता हूँ कि ऐसी चर्चा अपने समय पर और परिस्थिति-विशेष में ही सफल हो सकती है। अन्यथा उसकी विफलता निश्चत है।"

इस खरी भूमिका को सुनकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के कान खड़े हो गये होगे; इसमें हमें जरा भी सदेह नही। अपने भाषण के आरम्भ ही मे कांग्रेस के उस कुशल कर्णधार ने गोलमेज-सभा की कार्रवाइयों की कडी से कडी और मार्मिक आलोचना कर डाली। जिस समय उन्होंने यह कहा कि मुझे इस बात का भ्रम नहीं है कि मेरी बातों का आपके निर्णय पर कोई प्रभाव पडेगा, क्योंकि सम्भवत. आपने अपना निश्चय पहले ही कर लिया है—उस समय उन्होने ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की कुटिल नीति का नग्न रूप ससार को दिखा दिया। गोलमेज-सभा

की गोल-माल में पडने का महात्मा जी का उद्देश्य भी यही था। परिस्थिति को देखते हुए इससे बेशी अभिप्राय कुछ हो ही नही सकता था। स्वराज तो समय पर आवेगा, पर गाधी जी ने सोचा होगा कि ससार हिन्दुस्थान के स्वराज-सकल्प से अपरिचित न रहने पावे। लोकमत एक शक्ति है। अपने अत्याचारो के पक्ष मे उसे लाकर कुटिल राजनीतिज्ञ बहुधा उसका दुरुपयोग करते है। अपने पातको के समर्थक वनाकर पातकी प्राणी दूसरो को भी पातकी वना डालते है। अपराधी के अपराध-मार्जन के पहले उसे दड देने के पूर्व—उसके उद्भ्रात समर्थको को जाग्रत करके सन्मार्ग पर पहले लाना चाहिए। ऐसा करने से समर्थको के अभाव मे आततायी के पख कट जाते है। चारो तरफ से अपनी निर्भर्त्सना सुनकर एक वार दुष्टात्मा भी सोचने लगता है कि अव मुझे क्या करना चाहिए। लोकमत परमात्मा की शक्ति है, इसी लिए उसका सीधा असर अतरात्मा पर पडता है। ससार में न जाने कितने लोग ऐसे हैं, जिन्हे केवल लोकमत के ही डर से अपने दुराचरण से वाज़ आना पडता है। इसी भय से कई लोग हमेशा के लिए सुधर भी जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने मानव-समाज को ऐसा सम्बद्ध वना दिया है कि कोई भी राष्ट्र इस शक्ति की उपेक्षा सर्वथा नही कर सकता। इसमे सदेह नही कि हम अपनी न्याय-बुद्धि की वेदी पर आत्म-समर्पण करने की क्षमता दिखाकर ही लोकमत को अपने पक्ष मे स्थायी रूप से रख सकते है। इस दृष्टि से राष्ट्र के कार्य-कर्त्ताओ को अपना स्वराज-सग्राम तो अपने देश ही में लडना होगा, पर साथ साथ इस वात की भी आवश्यकता होती रहेगी कि हमारे प्रयत्नो को अतर्राष्ट्रीय लोकमत की सहायता तथा सहानुभूति भी मिलती रहे। इसी कारण हमारी यह निश्चित धारणा है कि, विदेशो मे भारतीय आन्दोलन की यथार्थता का परिचय देना एक ऐसा कठिन और आवश्यक कार्य हैं, जिसकी ओर अव अधिक दुर्लक्ष्य नही होना चाहिए।

उपर्युक्त भूमिका के वाद महात्मा जी ने अपने प्रतिनिधित्व का दावा इस तरह पेश किया—

"कान्फ्रेंस के सामने जो रिपोर्टें पेश हुई हैं, उनमें आप देखेंगे कि प्रायः सभी में किसी न किसी तरह का मतभेद प्रदर्शित है। इसके सिवाय आप लोगो को यह भी मालूम होगा कि उनमे से अधिकाश मतातर मेरे हैं। अपने वक्तव्य के आरम्भ ही में मैं इस बात का खुलासा कर देना आवश्यक समझता हूँ कि कांग्रेस प्रतिनिधि की हैसियत से मेरे मतभेद का क्या महत्त्व है। सघ-शासन-समिति की एक बैठक मे मैं पहले कह चुका हूँ कि कांग्रेस ८५ सैकड़ा हिन्दुस्थानी जन-समाज की प्रतिनिधि है। यह उसका दावा है। मूक, मिहनती और दरिद्रता-ग्रस्त जनता की ओर से अधिकारपूर्वक बोलनेवाली वह एक ही सस्था है और यदि हिन्दुस्थानी रियासतो के राजे-महाराजे क्षमाशील होकर सुनें, तो मै यह कहने का भी साहस करता हूँ कि अपनी पूर्व सेवा के आधार पर कांग्रेस रियासती प्रजा के भी प्रतिनिधि होने की अधिकारिणी अपने को मानती है, मालगुज़ार-जमींदारो तथा शिक्षित लोगो के विषय में तो कुछ कहने की जरूरत ही नही। आज मै आप लोगो के सामने वही दावा फिर से पेश कर रहा हूँ। यहाँ पर प्रतिनिधियो के जितने दल उपस्थित हैं, उन्हें केवल सम्प्रदाय अथवा वर्ग-विशेष का ही प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। कांग्रेस ही एक ऐसी सस्था है, जो समूचे देश के नाम पर बोल सकती है। कांग्रेस ही एक ऐसी सस्था है जो साम्प्रदायिकता का जानी दुश्मन है और जो रग, जाति और मज़हब का भेद मानना जानती ही नहीं। उसका सभामच सभी के लिए खुला हुआ है। इस बात को मै स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ कि अपने आदर्श-पालन मे उससे भूल हुई होगी। मैं स्वय ऐसा समझता हूँ कि उसने कई बार ऐसी भूलें की हैं। पर मै आपसे पूछता हूँ कि ससार में मनुष्य की बनाई हुई ऐसी कौन-सी सस्था है, जिसमें यह कमज़ोरी नही पाई जाती। कांग्रेस में जो कुछ त्रुटियाँ हो, फिर भी उसका बुरे से बुरा आलोचक भी इस बात को स्वीकार करेगा कि वह एक ही ऐसी सस्था है जिसकी आवाज़ सुदूर

देहातो में भी रहनेवाली हिन्दुस्थानी जनता को सुनाई देती है और जिसका इतना व्यापक प्रभाव है।"

महात्मा जी का यह प्रारम्भिक वक्तव्य उनके आत्म-विश्वास और निर्भयता का बडा हृदयग्राही उदाहरण है। इसके सिवाय उनकी निरपेक्ष भावना पक्षपाती राजनीतिज्ञो के लिए एक दर्शनीय विशेषता है। काग्रेस का दावा पेश करते समय उसकी कमजोरियो को न भूलना अथवा स्वीकार कर लेना एक ऐसा काम था, जिसे वर्तमान ससार का कोई भी चुस्त व चालाक राष्ट्र-नेता स्वीकार नही करता। भयकर से भयकर अत्याचारो को 'सेसरशिप' के द्वारा मुस्तैदी के साथ छिपाने की जिन्हें आदत है और जो राजनीतिज्ञ अपने अतर्राष्ट्रीय दाँव-पेचो में सत्य का वलिदान करने के स्वभावत अभ्यासी है, मालूम नही, उनके हृदय पर महात्मा जी के इस भूल-स्वीकार का क्या परिणाम पडा होगा।

यथार्थ मे हमारी अधिकाश त्रुटियाँ पराधीनता की पुत्रियाँ है। उन्हें दूर करने के लिए ही तो हिन्दुस्थान स्वतत्र होना चाहता है। मनुष्योचित अधिकारो से वचित होकर हम मनुष्योचित कर्त्तव्यो से पराङमुख हो गये। ऐसा होना विलकुल स्वाभाविक है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को याद होगा कि जव रोम पर आपत्ति आने पर रोमन-साम्राज्य ग्रेटब्रिटेन से उठा लिया गया और रोमन सिपाही अपने देश को वापस लौटने लगे, तो अँगरेजो के पूर्वजो ने उनसे प्रणिपात-पूर्वक कहा था कि आप लोग हमे ऐसा निराधार छोडकर न जाइए। मनुष्य की अतरात्मा स्वतत्रता की स्वस्थ और खुली हवा में ही खिलती है। आतक और परतत्रता के कुहरे मे पडकर वह सकुचित और सुप्त हो जाती है।

परतत्र देश की कमजोरियो का कहना ही क्या है, और फिर भारत-सरीखा देश, जो अधा है और सो भी रहा है! हम पराधीन हैं—इससे वढकर हमारी जातीय हीनता का प्रदर्शन और क्या हो सकता है? हमने अपनी कमज़ोरियो से ही देश की ऐसी परिस्थिति वना ली है कि गाधी जी के समान लोक-सेवक साधु को अकसर जेल के

अन्दर ही रहना पड़ता है। अपनी राष्ट्रीय कमजोरी को इस प्रत्यक्ष बात को, कांग्रेस की विफलताओं को स्वीकार न करना साधुता का व्यवहार तो होता ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक बुद्धिमानी की दृष्टि से भी वह अनुचित ही होता। प्रत्यक्ष बातों को अस्वीकार करके मनुष्य विश्वास का पात्र तो बनता ही नहीं, प्रत्युत अपनी रही-सही प्रतिष्ठा भी खो बैठता है। अतएव प्रकट बुराइयों पर परदा डालना 'पालिसी' की दृष्टि से भी अच्छा नहीं है। परन्तु बात तो यह है कि हमारी अधिकांश बुराइयाँ तभी दूर होंगी, जब हम उनकी जड़ ही काट डालेंगे। उनकी जड़ है हमारी राष्ट्रीय परतन्त्रता। जल के अन्दर पहुँच कर ही हम तैरना सीख सकते हैं। स्वराज की आबहवा में ही हम स्वस्थ और सक्षम हो सकते हैं। परतन्त्रता की दशा में स्वतन्त्रता के योग्य होने के लिए ठहरना कल्पान्त तक ठहरना है।

अन्त में गांधी जी ने कांग्रेस की कर्म-शीलता की ओर संकेत किया। उन्होंने कहा कि "वह केवल आवाज़ बुलन्द करनेवाली संस्था नहीं है। सात लाख देहातों की ग्रामीण जनता में उसका जो प्रभाव है, वह कोई निर्मूल बात नहीं है। कांग्रेस अपने उस प्रभाव का सबूत भी दे चुकी है।" महात्मा जी के इस प्रत्यक्ष संकेत में विजेता की एक शान थी जो सर्वथा उचित थी। गांधी जी की आँधी का झोंका सारा देश खा चुका है; इस बात को कौन आँखवाला मनुष्य अस्वीकार कर सकता है? महात्मा जी ने इसी प्रत्यक्ष प्रमाण को कांग्रेस के प्रभाव की सबूती में पेश किया। वह एक सफल नेतृत्व की आवाज़ थी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने उसके आशय को ठीक ठीक समझने में कोई भूल नहीं की। उसका यथार्थ मर्म समझनेवाले उस सभा में उनके सिवाय कोई दूसरा था ही नहीं।

गांधी जी ने कांग्रेस का दावा अधिकार-पूर्वक पेश तो किया ही, पर साथ ही दृढ़ता-पूर्वक, स्वाभिमान से प्रेरित होकर उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस के महत्त्व को यदि आप स्वीकार न भी करें, तो

उस पर कोई आपत्ति का पहाड नही टूट पडेगा; वह ज्यो की त्यो सशक्त और जीवित रहेगी, क्योंकि वह त्याग-मूलक कर्मण्यता को ही अपनी प्रगति का मूलाधार मानती है, किसी की कृपा-दृष्टि को नही। यही भाव महात्मा जी के इस निर्भय वाक्य मे गर्भित है। इसके बाद वे आगे चलकर बोले—

"मैं इस बात को खुलकर कह देना चाहता हूँ कि कांग्रेस एक विद्रोही संस्था है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि विद्रोह शब्द का उच्चारण-मात्र ही इस सभा में वर्जित है, क्योंकि हम यहाँ पर शान्ति-पूर्वक समझौता करने के लिए एकत्रित हुए है। जितने वक्ता यहाँ बोल गये, सभी ने यही स्वर अलापा है कि ऐसे समझौते से हमे स्वतन्त्रता मिल सकेगी। मैं कोई इतिहास का विशेषज्ञ नही हूँ। फिर भी इस विषय मे मुझे छोटी-सी परीक्षा पास करनी पडी है और मैंने देखा है कि इतिहास के पृष्ठ शहीदो के रक्त-स्राव मे लाल है। बडी-बडी तकलीफो को बिना पार किये स्वतन्त्र होते मैंने किसी मनुष्य-जाति को देखा ही नही। खूनी की कटार, विष का प्याला और बन्दूक की गोलियाँ ही सभी जगह दिखाई देती है। स्वतन्त्रता के अबूझ समर्थको ने अभी तक इन्ही शस्त्रो का उपयोग किया है और सबसे मार्के की बात तो यह है कि मनुष्य के इतिहास ने इन साधनो का खण्डन भी नही किया है। पर मैं उन्हे सर्वथा त्याज्य समझता हूँ। इसी कारण मैं हिंसात्मक आतंकवादियो का तरफदार भी नही हूँ।"

इस अंश मे गांधी जी ने कांग्रेस के रुख का खुलासा खूब खुलकर किया है। गोलमेज कान्फ्रेंस की अनुपयुक्तता तथा निःसारता पर कडी फटकार है। ऐसा आदमी ब्रिटिश साम्राज्यवादियो को असुविधा-जनक न हो, तो फिर कौन हो? उन्होंने समझ लिया कि स्वतन्त्रता की कुंजी इस आदमी के हाथ लग गई है। इसका आजाद रहना भयंकर है। सम्भवत उन्होने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि गांधी हिन्दुस्थान मे खुला न रहने पावे। इस बात की सूचना जासूसो ने

महात्मा जी को दे रखी थी। वे गिरफ्तार होने के लिए ही राऊड टेब्ल कान्फ्रेंस से देश को लौटे थे। इसमें किसी को सन्देह हो क्या हो सकता है।

गाधी जी फिर उसी दृढता के साथ बोले—

"मैं जानता हूँ कि कोई भी शासक विद्रोह को बरदाश्त नही करता। पर यह भी जानता हूँ कि विद्रोहियो के सामने ही शासक सिर झुकाते है। ब्रिटिश सत्ता भी कई बार इस तरह सिर झुका चुकी है। डच सरकार को भी यही करना पडा। दक्षिण-आफ्रिका के जनरल स्मट्स ने भी लोगो के विद्रोह का सामना किया, पर अन्त में उन्हें हार माननी पडी। हिन्दुस्थान मे लार्ड चेम्सफोर्ड ने भी उसी आतक नीति का अनुसरण किया। बम्बई के गवर्नर ने भी वार्सा और बारडोली मे दमन का ही उपयोग किया। लेकिन मत्री महोदय, अब बहुत देर हो गई है, देश का विद्रोह अब बहुत बढ चुका है, अब वह अपनी लक्ष्य-सिद्धि के पहले शान्त हो ही नहीं सकता। भारतीय विद्रोह का दमन करनेवाला उपचार एक-मात्र स्वराज ही है। आपकी मशा और हमारी जातीय आकाक्षा, इन दोनो का अन्तर देखकर तथा आपकी दमन-नीति की ओर दृष्टिपात करके मुझे कई बार चितित होना पडता है। आपके सामने दो ही मार्ग हैं, दमन या स्वराज। आप दमन-नीति के प्रवर्तक है और हम स्वराज-पथ के पथिक है। हमारे-आपके मार्ग अब बिलकुल अलग-अलग दिखाई देते है।"

अहिसात्मक असहयोग-भावना की प्रखरता इस अश मे अकित है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की दुनाली पालिसी का इससे अधिक स्पष्ट खण्डन और क्या हो सकता है? स्वराज देने की उदारता और दमन-नीति की सकीर्णता दोनो सहचरी होकर क्षण भर भी नही रह सकती। यदि स्वराज देना हो, तो दमन बन्द कीजिए। यदि दमन-नीति स्वीकार है, तो नीयत साफ नही। दोनो बातो का मेल सम्भव

ही कैंने हो ? महात्मा जी के मुख से निकले हुए स्पष्ट आशय-वाले ये निर्भय वाक्य झूठी प्रतिष्ठा के प्रेमियो के हृदय मे बेहद चुभे होगे, ऐसा हमे प्रतीत होता है। उन्हे क्या मालूम कि उनके सामने ससार का सर्व-प्रथम स्पष्टवक्ता बोल रहा था। गाधी जी से ऐसी खरी बाते सुनने की मानसिक तैयारी यदि लोगो ने नही की थी, तो यह उनकी बडी भूल थी। जो मनुष्य निष्पृह है, जो परमार्थ का अनन्य सेवक है और जिसने मनोविजय के द्वारा स्वार्थ का मूलोच्छेदन कर दिया है, वह इस त्रिभुवन मे किसी से भय नही खाता। राजे-महाराजे तथा प्रार्थनावादी राजनीतिज्ञ भले ही चापलूसी के साथ साम्राज्यवादियो से बाते करे, परन्तु स्वावलम्वनशील काग्रेस के पर-मार्थी प्रतिनिधि को यह निर्भय स्पष्टवादिता ही शोभा दे सकती थी।

तत्पश्चात् महात्मा जी बोले—

"फिर भी मै निराश होते हुए भी आशावान् हूँ और भारत और इँगलैड के बीच आत्म-सम्मान-मूलक समझौता करने के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील रहूँगा। यदि मै ऐसा कर सकूँ, तो मुझे इस बात की तिल-मात्र भी इच्छा नही है कि मेरे लाखो देश-बन्धुओ को यत्रणा की कडी आँच से होकर गुजरना पडे। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अपने देशभाइयो को फिर से कटिबद्ध करने मे मुझे कुछ भी हर्ष न होगा। लेकिन यदि हमारे दुर्भाग्य की ऐसी ही प्रेरणा हो कि हम दमन की भट्ठी मे फिर भी झोक दिये जावें, तो लाचार होकर मुझे विरोध-मार्ग पर आरूढ होना ही पडेगा और मै इस काम को बडे हर्ष और सतोष के साथ करूँगा, क्योकि मैं समझता हूँ कि मेरा विद्रोह न्याय-मूलक है। वह सत्य से समर्थित है। इसके सिवाय आन्दोलन की अहिंसात्मक विशेषता हमारे लिए और भी अधिक सतोष की बात होगी।"

इस वक्तव्य मे महात्मा जी की कई मानसिक अवस्थाओ का दृश्य है। "मै निराश हूँ, फिर भी आशावान हूँ, शान्ति-पूर्वक निपटारा करने

के लिए दिल से कोशिश करूँगा,—मै लडना नही चाहता फिर भी यदि लाचारी हो तो लडाई छेडने के लिए खुशी से तैयार भी हूँ, न्याय मेरे पक्ष में है।" पाठक जरा देखें, इसमे गाधी जी ने अपने व्यक्तित्व के कितने पहलू एक साथ ही दिखाये है। शान्ति-प्रियता और समर की तैयारी दोनो साथ-साथ है। किसी राष्ट्र का सुयोग्य सेनानी जब सधि-चर्चा करता है, तो वह अपने सामर्थ्य के आधार पर ही बातें करता है। ऐसे प्रसगो पर तिल भर भी कमजोरी का प्रदर्शन ताड के समान प्रतीत होता है। गाधी जी के समान सफल नेता यदि इस बात को नही जानता तो कौन जानता ? वे कह सकते थे कि सुलह न होने पर मुझे खेद के साथ विरोध करना होगा। लेकिन उन्होने ऐसा नही कहा। उन्होने कहा कि लडाई छेडने में भी मुझे हर्ष ही होगा। न्याय के समर्थन में, सत्य-समाराधन में उन्हें युद्ध भी शान्ति के समान ही प्रिय है।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ

केवल इतना ही नही कहा, गाधी जी ने अपने विगत आन्दोलन का चित्र भी खीचा।

"मै इस बात को जानता हूँ कि अन्त मे समझौता होना अवश्यम्भावी है। और मै इतनी दूर यही समझकर आया हूँ कि विगत आन्दोलन से आप लोगो को हिन्दुस्थान की स्वातन्त्र्य-निष्ठा तथा सहन-शक्ति का ज्ञान हो गया होगा। आपके देश भाई लार्ड इरविन ने अपने फतवो (Ordinance) के द्वारा हम लोगो की काफी परीक्षा ले ली है और उन्हे इस बात का प्रमाण मिल चुका है कि स्वतन्त्रता के प्यासे हजारो हिन्दुस्थानी स्त्री-पुरुष तथा बच्चे न तो फतवों की परवाह करते, न फिर उन्हे लाठियो का ही भय है। आजादी की लहर जो एक बार लोगो के मन में उठ चुकी है, वह कदापि रुकने की नही, बढती ही जायगी।"

"इसलिए मेरा कहना है कि अभी भी कुछ समय बाकी है; आप

लोग देर न करे और काग्रेस के मतव्यो को ठीक ठीक समझ लें। मै अपनी जिन्दगी आप लोगो के सुपुर्द करता हूँ। काग्रेस-कार्यकारिणी के सदस्यो का जीवन भी आप लोगो को समर्पित है। परन्तु इस बात को न भूलना कि भारत की मूक जनता के प्राण आप लोगो के उत्तरदायित्व पर ही अवलम्बित है। यदि सम्भव हो, तो मै लोगो को कुर्बानी की आग मे फिर डालना पसन्द न करूँगा। इसलिए आप ध्यान में रखें कि आत्म-सम्मान के साथ समझौता करने के लिए मै कोई भी बात उठा न रक्खूँगा, कोई भी बलिदान ऐसा नही, जिसे करने मे मुझे सकोच होगा।"

महात्मा जी के वाक्य विनय-शील है, फिर भी वे मानसिक दृढता के परिचायक है। उनमें प्रार्थनावादी नीति की गध भी नही है। वे आत्म-बलिदान की दुर्दमनीय भावना से उत्प्रागित है। मालूम नही, ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के ठेठ अन्त करण तक वे पहुँचे या नही। कदाचित् वहाँ तक उनकी पहुँच न हो सकी, क्योकि इंगलैंड के साम्राज्यवादियो की अन्तरात्मा स्वार्थ के कडे और दुर्भेद्य आवरण से ढकी हुई है। मनुष्योचित परमार्थ-भावना सिर पीट कर वाहर ही रह जाती है। परमात्मा वहाँ से वहिष्कृत है।

हिन्दुस्थान के स्वराज-पथ पर जो साम्प्रदायिक अवरोध है, उसे महात्मा जी ने अपने भाषण मे स्वीकार किया और कहा—"मै इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि साम्प्रदायिक समस्या को हल किये विना हम सच्ची स्वतत्रता का उपभोग नही कर सकते। मै इसी लिए यहाँ तक इस उम्मीद पर आया हूँ कि शायद हम लोगो का तसफिया यही हो जावे। लेकिन वह न हो सका। फिर भी मै निराश नही हूँ। मै अभी भी आशावान् हूँ और समझता हूँ कि एक न एक दिन इसकी कुजी मेरे हाथ लगेगी। लेकिन एक बात है और वह यह है कि जव तक हमारे सम्प्रदायो के बीच विदेशी शासन विद्यमान रहेगा और उसकी भेद-नीति काम करती रहेगी, तव तक इस प्रश्न का हल

होना सम्भव नही, तब तक सिर्फ बातो का जमा-खर्च ही रहेगा। लेकिन हिन्दुस्तान विदेशी शासन के इस बुरे प्रभाव मे ज्यो ही मुक्त होगा, त्यो ही कलहशील सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रेमपात्र बन जावेगे। क्योंकि आखिर वे एक ही घर के आदमी है, उनकी एक ही पैदायश है। क्या आप ऐसा समझते है कि उनका यह सहज स्वाभाविक प्रेम-सम्बन्ध बिलकुल बेकार साबित होगा, उनकी यह कौटुम्बिक नातेदारी कुछ काम न आयेगी ?"

इस वक्तव्य में हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक कलहशीलता का रहस्योद्घाटन है। गाधीजी ने राष्ट्र के इस दोप को स्वीकार किया। इस प्रत्यक्ष बात को कौन स्वीकार न करेगा ? लेकिन एक बात और है, जो उतनी ही प्रत्यक्ष हैं। हिन्दू-मुसलमानो का प्रेमालिगन तभी सम्भव होगा, जब उनके बीच का मध्यस्थ वहाँ से हट जावे। विदेशी शासन का दुष्परिणाम हमारे साम्प्रदायिक विग्रह का सहायक है। यथार्थ मे हिन्दू-मुसलमानो का हृदय-बन्धन स्वतन्त्रता के स्वास्थ्यकर वातावरण में ही सम्भव हो सकेगा। प्रेम का पौधा परतन्त्रता की आतंकित जल-वायु में पल्लवित नही हो सकता। न सही दिली मुहब्बत, यदि इस देश के हिन्दू-मुसलमान अपनी व्यवहार-बुद्धि का यत्किंचित् उपयोग करके इतना ही समझ ले कि आखिर हमें एक ही देश में जीना-मरना है, हमें किसी न किसी दिन मिलकर रहना ही पडेगा, एक ही मा की गोद में बैठकर हम दोनो नालायक बच्चे कब तक इस तरह लडते रहेंगे ? यदि हम इतना और भी समझ लें कि हम लोगो के बीच बाहरी सत्ता की उपस्थिति हमारी कलह-शीलता की स्वभावत सहायक हो रही है, तो हमें आपस में कम से कम इतना तो तय करना ही पडेगा कि विदेशी शासन के प्रभाव से हम दोनो पहले मुक्त हो जावे। बहुत सम्भव है कि स्वराज की खुली हुई हवा में हिन्दू और भी अधिक उदार हो जावें। यह भी इतना ही सम्भव है कि मुसलमानो के हृदय से अविश्वास का डेरा उठ जावे और वे अधिक स्वाभिमानी होकर पुरुषोचित विवेक से काम लें।

मुस्लिम हृदय ने अभी तक राष्ट्रीयता का झोका नही खाया। विशेष कारण यह है कि अभी वह साम्राज्यवादियो की बनाई हुई स्वार्थ की दीवारो से घिरा हुआ है। उसे खुली हवा की जरूरत है। यदि हमारे साम्प्रदायिक नेता इतना समझ ले, तो कम से कम अभी काम-चलाऊ मेल (Working unity) की अनिवार्यता उन्हे इसी क्षण प्रतीत होगी। यह मेल हमे विदेशी शासन से मुक्त कर सकेगा। मुक्त होते ही मुसलमान यह फौरन समझ लेगा कि नमाज के वक्त भले ही मै काबे की तरफ मुखातिब रहूँ, पर जिस जमीन पर मैं खडा हूँ उसका पाक होना तो पहले जरूरी है। आजादी की पाक जमीन पर ही सच्चा मुसलमान अपनी नमाज पढ सकता है।

गोलमेज-सभा की अन्तिम बैठक में गाधी जी ने जो भाषण दिया, वह विचार की दृष्टि से इतना सर्वागीण, तर्क की दृष्टि से इतना सम्बद्ध और कला की दृष्टि से इतना सुन्दर है कि उसकी जितनी प्रशसा की जाय, उतनी थोडी है। उस भाषण में सेनानी की शान, राजनैतिक नेता की व्यवहार-कुशलता, निस्पृही की निर्भयता, स्वतन्त्रता-प्रेमी की स्वाभिमान-भावना, प्रतिनिधित्व की जिम्मेदारी, विद्वान् की सभा-चातुरी, साहित्य-सेवी का शब्द-सौष्ठव और परमार्थी की पवित्रता—सभी विशेषताओ का ऐसा दुर्लभ और विलक्षण मेल है कि कुछ कहते नही बनता। जिन लोगो ने महात्मा जी के इस भाषण को एक बार पढा है, उन्हें चाहिए कि उसे वे फिर दुबारा पढें और देखें कि गाधी जी की अन्त स्फूर्ति से निकली हुई यह तात्कालिक विचार-धारा कैसी पुरअसर और बेजोड है। इच्छा तो होती है कि उसमे से कुछ और अवतरण देकर हम उसकी विशेषताओ की विवेचना करें। परन्तु इस अल्पकाय मीमासा में इतना ही पर्याप्त होगा। इतर समितियो में उन्होने जो व्याख्यान दिये है, वे भी उच्च कोटि के है। उनकी सक्षिप्त चर्चा हम पहले कर चुके है।

अन्त में वह घडी आई, जब गाधी जी रैमजे मैकडानल्ड को सभा-

समाप्ति के पश्चात् धन्यवाद देने के लिए खडे हुए। मानव-स्वभाव का पसन्द किया हुआ नियम तो ऐसा है कि हम सफल होने पर ही उपकारी को धन्यवाद दिया करते है। पर महात्मा जी की उदारता एक अनोखी चीज है। सभा के सचालक मत्री मैकडानल्ड को उन्होने अपनी विफलता पर भी बधाई दी। अपने इस भाषण मे उन्होने कहा—

"मत्री महोदय, इस अन्तिम प्रसग पर आपको धन्यवाद देने के लिए उपस्थित होना खासकर मेरे लिए बहुत जरूरी है। इसका एक विशेष कारण है। मै अपने कर्तव्य-पथ का अन्तिम निर्णय तो आप लोगो की रिपोर्ट पढकर ही करूँगा। परन्तु फिर भी मुझे इस बात की सम्भावना दिखाई देती है कि इस सभा के पश्चात् हमारे और आपके मार्ग बिलकुल भिन्न-भिन्न होगे, मुझे इस बात का खेद नही है। मै कहता हूँ कि इतना जानते-समझते हुए भी मै आपको साधुवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आप मेरे धन्यवाद के सर्वथा पात्र है।"

"इस विषम ससार में सर्वथा सहमत होकर रहना हम मनुष्यो के लिए सभव नही। इस बात की आशा भी नही कर सकते। अपने विचारो का बलिदान करके सुलह करना भी उचित नही। बल्कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सिद्धान्त-रक्षा में ससारी कठिनाइयो का सामना करने के लिए तत्पर रहे। इसी में मानव-स्वभाव का गौरव है। कई मर्तबे भाई भाई भी परस्पर विरोधी हो जाते है—होना पडता है। लेकिन विरोध के ऐसे सभी प्रसगो पर हम एक दूसरे से द्वेष न रक्खें और भलमनसाहत और तथा निष्कपट भाव से पेश आवे। यदि विपक्षी होकर भी हम और आप इस उदार भावना से काम लें, तो मत्री महोदय, मैं कह सकता हूँ कि हमारे आपके विग्रह मे भी सतोष के लिए स्थान रहेगा। मैं नही जानता कि अब मेरा कर्तव्य-पथ क्या और किधर होगा। मुझे इस बात की तिल-मात्र भी चिन्ता नही है। लेकिन यदि आपसे बिलकुल विरुद्ध दिशा में भी मुझे जाना पडे, तो भी आप मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र है।"

कैसी स्पष्ट स्वाभिमानोक्ति है ! शिष्टाचार और आत्म-गौरव-भावना का कैसा मनोहारी मेल है ! पाठक विचार करें। पेशावरी प्रतिनिधि सर अब्दुल कयूम और भोपाल के नवाव ने गाधी जी के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस शिष्टाचार का उत्तर शिष्टता-पूर्वक देने के लिए रैमजे मैकडानल्ड साहव खडे हुए। लेकिन यह काम उनसे सध न सका। इस प्रसग पर भी वे एक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ की चालवाजी और शरारत से वाज न आये। अपने सक्षिप्त भापण के अन्त मे उन्होने कहा—

"वडी प्रसन्नता की वात है कि मेरे पुराने मित्र सर अब्दुल कयूम ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया है। एक ही प्रस्ताव पर उनका और गाधी जी का सहमत होना कोई मामूली वात नहीं है। इससे कम से कम इस वात की सूचना मिल जाती है कि भविष्य मे मुसलमान और हिन्दू नेता.. .... .."इसी बीच में महात्मा जी वात काटकर वोल उठे—"हिन्दू नही।" मैकडानल्ड महोदय उन्हें हिन्दुओ का साम्प्रदायिक नेता वनाकर उनके राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व का गौरव कम करना चाहते थे। सभवत इस वात को वे जान-बूझकर शरारतन कह रहे थे। अपने प्रतिनिधित्व का यह निर्मूल उपहास महात्मा जी से सहन न हो सका। उन्होने उसका फौरन विरोध किया। मैकडानल्ड साहव का वह वाक्य ज्यो का त्यो अधूरा रह गया। पूरा न हो पाया। उसका अपूर्ण रहना ही ठीक था।

उन्होने तत्काल यह कहकर महात्मा जी से माफी माँगी, "गाधी जी अच्छी तरह जानते है कि आदमी की अनभ्यस्त जवान अकसर फिसल जाती है।"

इस क्षमा-याचना पर भारतीय स्वाभिमान के उस मूर्तिमान् अवतार ने दृढतापूर्वक उत्तर दिया—

"इस गलती के लिए मै आपको माफ करता हूँ।"

मैकडॉनल्ड की अतरात्मा इस क्षमादान से झुलस गई। वह प्रफुल्लित न हो सकी। अपनी नासमझी के साझीदार दूसरो को भी वनाकर वे कहने लगे—

"गांधी जी जानते हैं कि मेरी और मुसलमान मित्रों की तथा इतर लोगों की भी जबानें इस तरह फिसल जाती हैं। अब मैं गांधी जी के विचारों से परिचित हो चला हूँ। इसका मुझे यही कहना है कि आप लोग वर्ग-विशेष अथवा सम्प्रदाय के प्रतिनिधि हैं।" महात्मा जी ने उत्तर दिया, 'इसमें कोई शक नहीं।'

इस तरह चतुर पाठक देखेंगे कि मैकडानल्ड महोदय को लेने के देने पड़ गये! मजदूर-दल का यह निस्पृह और अकिंचन मजदूर-नेता पूंजीवाद के समर्थक शासकों का पिट्ठू होकर अपनी असलियत को बिलकुल भूल चुका था। अपने श्रीमान् मालिकों का कृपा-पात्र होकर उसने अपने स्वामियों के समान ही गाउनरों की बातें कीं। जिस उदार पुरुष ने शिष्टता-पूर्वक उसे धन्यवाद दिया, उसी की सर्वमान्य प्रतिष्ठा पर उसने आघात करने का प्रयत्न किया! कैसी विचित्र भल-मनसाहत है! क्या हम समझें कि यह अंगरेजी शिष्टाचार का नमूना है? नहीं, अभी तो हम इतना ही समझेंगे कि यह एक अहम्मन्य मजदूर-हृदय की मामूली-सी झलक है, इसलिए नगण्य है।

कहाँ मैकडोनल्ड और कहाँ महात्मा गांधी! मैकडोनल्ड वह आदमी है, जिसने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने चिर-पोषित पक्ष और सिद्धान्त को ठुकरा दिया। जिस सीढ़ी पर से वह इस ऊँचाई तक पहुँचा, उसी को उसने पैर से नीचे गिरा दिया। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'इण्डियन अवेकनिंग' (Indian Awakening) से वह खुद शर्मिन्दा है। गांधी वह आदमी है, जो स्वार्थ को भस्म करके परमार्थ की भभूती रमाये बैठा है। वह कामिनी और कांचन की कमजोरियों से परे एक मनोजयी महापुरुष है। अपनी सिद्धान्त-रक्षा में वह अकेला मिट जाने को तैयार है। वह एक ऐसा आदमी है जो अपना क्रॉस अपने ही कंधों पर ले चलने को राजी है। ऐसे बेलाग, त्यागशील, निरभिमानी और स्वाभिमानी से भला मैकडॉनल्ड मजदूर क्या पार पाता! उसे संकुचित होना पड़ा। भारत का राष्ट्रीय स्वाभिमान महात्मा जी

की अन्त स्फूर्ति के द्वारा बोल उठा। भला, हमारी राष्ट्रीय महा-सभा का सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि एक स्वार्थी मजदूर से इस तरह अनादृत हो सकता था? हरगिज नही!

सहृदय पाठक देखेगे कि अन्तिम धन्यवाद-सभा की शिष्टता मैकडौनल्ड साहब की नासमझी से जरा मद पड गई। ऐसा नही होना चाहिए था। उनका शेष अन्तिम भाषण भी झूठी शान से भरा हुआ शब्दाडबर के सिवाय कुछ भी नही है। 'माइ डियर महात्मा' के सम्बोधन मे हमे मिथ्याभिमान की वू आती है। एक बार लज्जित हो जाने पर जब कोई निर्लज्ज अपनी योग्यता सिद्ध करने का दुबारा प्रयत्न करता है, तो वह कुछ ऐसा ही किया करता है जैसा कि मैकडॉनल्ड ने इस प्रसग पर किया है। सूक्ष्मदर्शी श्रोताओ तथा पाठको की निगाह से उसकी शरमिदगी छिप नही सकती थी।

इस तरह महात्मा जी का दुस्तर दूतकार्य सफलता-पूर्वक समाप्त हुआ। 'सफलता-पूर्वक' हम इसलिए कहते है कि वैसी परिस्थिति मे भारतीय राष्ट्र की ओर से जितना काम योग्य से योग्य आदमी कर सकता था, उतना गाधी जी ने किया और अप्रतिम योग्यता के साथ किया। वे यथार्थ मे भारत की ओर से इँगलंड के सामने प्रार्थनाशील होकर पैरवी करने नही गये थे। उनका उद्देश्य बिलकुल भिन्न था। वे सिर्फ यही चाहते थे कि 'राउड-टेबुल कान्फ्रेंस' के द्वारा हिन्दुस्थान की जाग्रत राष्ट्रीयता की आवाज ससार के कानो में बुलन्द हो, लोकमत की इजलास में उसका दावा पेश हो और गोलमेज सभा की खोखली रचना खोलकर दुनिया को दिखा दी जावे। इससे अधिक उस परिस्थिति मे कोई उद्देश्य हो ही नही सकता था। समझौते की आशा नही थी। पर काग्रेस अपनी आवाज़ को आप ही दबाकर नही रख सकती थी। यह एक तरह से आत्महत्या होती। इस आवाज को कौशलपूर्ण युक्ति से उठानेवाला गाधी जी के समान कोई दूसरा नेता नही मिल सकता था। पृथ्वी के अन्यान्य राष्ट्रो में भी ऐसा नेता कही मिलने का नही।

भारत का दुर्भाग्य बहुत बड़ा है, उसी अनुपात में उसे गांधी जी के समान बड़े से बड़ा नेता भी प्राप्त हुआ है। हम समझते हैं कि हिन्दुस्थान इस बात को समझता है।

गांधी जी की विलायत-यात्रा में गोलमेज की सभा के सिवाय एक दूसरा विशेषतापूर्ण प्रसग उनका मैंचेस्टर जाना है। सुनते हैं कि उनकी प्राण-रक्षा के लिए इंगलैंड की सरकार को कुछ जासूस और कुछ शरीर-सरक्षक नियत करने पड़े थे। परन्तु जो पुरुष अद्वेष्टा है, उसका कौन बाल बाँका कर सकता है। भारत के विलायती वस्त्र-बहिष्कार से त्रस्त होते हुए भी मैंचेस्टर के मिल-मालिक और मजदूरों ने मिलकर गांधी जी का स्वागत किया। वहाँ मजदूरों की मडली में जाकर महात्मा जी मिल गये। सभी ने उन्हें प्रेम और आदर की दृष्टि से देखा। वे अपना सताप उस समय भूल गये। महात्मा जी की उदार अतरात्मा ने ब्रिटिश मजदूर-मडली का हृदय आकर्षित कर लिया। साधु पुरुषों के सान्निध्य में पहुँचकर साँप और बिच्छू तक अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं। फिर मैंचेस्टर के मजदूर तो मनुष्य थे, वे महात्मा गांधी के वशीभूत क्यों न होते?

आतकवाद पर विश्वास करनेवाली पश्चिम की दरिद्रता-ग्रस्त जनता के बीच उस आदमी का निहत्था और एकाकी जाना जो उनकी बेकारी का कारण हो, एक ऐसे विलक्षण साहस का काम था, जिसे प्राणों को हथेली पर रखकर चलनेवाला त्यागशील महापुरुष ही कर सकता है। काम खतरे से खाली नहीं था। यह बात सरकारी प्रबध से ही मालूम होती है। पर ब्रिटिश सावधानी के पहले ही योगेश्वर कृष्ण ने ससार को यह दृढ आश्वासन दे रखा है—

"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति"। कल्याणकर्ता दुर्गति को कभी प्राप्त नहीं होता। योगेश्वर का यह अभय-वाक्य गांधी जी के लिए बहुत था। उसी की प्रेरणा उन्हें निर्भयता-पूर्वक मैंचेस्टर तक ले गई।

वहाँ पर मिल के मालिको तथा मजदूरो से महात्मा जी ने अपने स्वभाव के अनुसार खुलकर ही वाते की। कोई वात छिपाकर नही रक्खी। उन्होने कहा कि आप लोग इस वात की आशा छोड दे कि हिंदुस्थान में मैंचेस्टर के वस्त्रो की वैसी ही खपत होगी, जैसी पहले हुआ करती थी। आपका वस्त्र-व्यवसाय हमेशा के लिए भारत से उठ गया, इसमें ज़रा भी शक नही। लेकिन यदि इँगलैंड और मेरे देश के वीच प्रेम का सबध बना रहा, तो हम लोगो को वाहर से जिन वस्त्रो की आवश्यकता होगी, उन्हें और कही से न लेकर हम मैंचेस्टर से ही खरीद सकते हैं। यथार्थ मे विलायत के व्यापारी यदि नेक-नीयती से काम ले और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस वात को अच्छी तरह समझ जावें, तो स्वतत्र भारत से उचित व्यवसाय-सबध स्थापित करके मैंचेस्टर के रोज़गारी टोटे मे हरगिज़ न रहेंगे। कोई भी देश अपनी सभी आवश्यकताओ के लिए स्वावलवी नही हो सकता। उसे कई चीज़ें अन्यान्य देशो से खरीदनी पडती है। हिन्दुस्थान को भी यही आवश्यकता प्रतीत होगी। ऐसी हालत में पूर्व-सबध की प्रेरणा से वह मैंचेस्टर का माल मोल लेना अधिक पसद करेगा। हिन्दुस्थान कच्चा माल उत्पन्न करनेवाला कृषिप्रधान देश है और इँगलैंड कल-कारखानो का उद्यमी केन्द्र है। ऐसे दो राष्ट्रो का व्यवसाय-सवध दोनो के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। लेकिन इस सवध के मूल मे सद्‌भावना की आवश्यकता है। उसका आविर्भाव उनके वीच तभी होगा, जब दोनो देश समानाधिकार से पारस्परिक हानि-लाभ का निर्णय कर सकेंगे। परतत्र भारत पर जबरदस्ती लादे हुए रोज़गार से लकाशायर कव तक फायदा उठाता रहेगा? अभी तक तो यह शोपण-क्रिया जारी रही। लेकिन अव उसके दिन गये। अब हिन्दुस्थान अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए स्वावलवी होने पर तुला हुआ है। मैंचेस्टर के रोज़गारियो को इस चेतावनी की ज़रूरत थी, सो महात्मा जी ने दे दी।

उनकी वापिसी यात्रा में दो वातें उल्लेखनीय है। रोमाँरोलाँ का

आतिथ्य-सत्कार और मुसोलिनी से सभाषण। लौटती बार रोमांरोलाँ से मिलने का निश्चय महात्मा जी ने पहले ही कर रक्खा था। पाश्चात्य सभ्यता में लालित-पालित परन्तु उससे बिलकुल ऊबा हुआ यह उदार-चेता विद्वान् यूरोप मे अपने ढग का एक ही आदमी है। वे गाधी के परम प्रशसक और भक्त है। महात्मा जी को अपने मेहमान के रूप में पाकर उन्हें कितनी आतरिक प्रसन्नता हुई होगी, इसका अनुमान सहृदय पाठक सहज ही कर सकते है।

जीनीवा से महात्मा जी रोम पहुँचे। वहाँ उनसे और मुसोलिनी मे कुछ देर तक सभापण हुआ। सुनते है, इटली के उस आतकवादी सर्वाधिकारी ने हिन्दुस्थान के सबध मे कई प्रश्न गाधी जी मे किये। मालूम नही, उस साम्राज्यवादी सिपाही ने ब्रिटिश साम्राज्य के जानी दुश्मन, अहिंसाचार्य गाधी जी को किस दृष्टि से देखा। भला उसकी क्या बिसात जो महात्मा जी के महान् आशय को समझ पावे।

रोमन कैथालिक सप्रदाय का धर्माधिकारी पोप रोम ही में रहता है। लेकिन उससे और महात्मा जी से मेल-मुलाकात न हो सकी। कारण यह था कि शनिवार के पहले जून महात्मा जी रोम पहुँचे। दूसरे जून पोप किसी मे मिलता ही नही। दूसरा दिन इतवार का था, इसलिए उस दिन भी मुलाकात होनी सभव नही थी। कहना चाहिए कि यह पोप का वडा दुर्भाग्य था कि पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष से वह न मिल सका। मिथ्याभिमान मूर्खता का सगा भाई है और दोनो साथ साथ जाते है। कदाचित् पोप के मस्तिष्क में भी इन दोनो का विलास-भवन बना हुआ है।

अट्ठाईस दिसम्बर सन् १९३१ को भारत का यह अप्रतिम नेता अपने प्यारे देश को लौट आया। भारतवर्ष की भावुक जनता अपने हृदय-सम्राट् के स्वागत के लिए पलको के पाँवडे बिछाये सतृष्ण नेत्रो से पुलकित खडी थी। अपने सर्वमान्य जन-स्वामी को फिर से अपने बीच पाकर वह कृत-कृत्य हो गई। हर्ष और स्वाभिमान से उसका हृदय प्रफुल्लित और मस्तक ऊँचा हो गया।

अध्याय ३३

मोहनमाला

मनुष्य में ऐसी कई विशेषतायें हैं, जो इतर जीवधारियों में नही पाई जाती। परन्तु उन सवमें सर्वोपरि उसकी मानापमान-बुद्धि है। हमारे दुर्व्यवहारो से पशुओ को कष्ट तो होता है, परन्तु अपमानित होने की मनोवेदना उन्हें नही व्यापती। इसका कारण केवल इतना ही है कि इन प्राणियो में स्वाभिमान-भावना जाग्रत नही रहती। छोटे-बडे की भेद-बुद्धि भी उन्हे प्रतिदिन के जीवन मे सचालित नही करती। परन्तु ज्यो ही, प्राणी पशुयोनि से मुक्त होकर मानव-शरीर धारण करता है, त्यो ही अज्ञात रूप से यह धारणा उसके हृदय पर अधिकार जमा लेती है कि वह इस ससार का सर्वश्रेष्ठ जीवधारी है। यदि वह आस्तिक हुआ तो केवल ईश्वर को छोडकर अपने को सभी से ऊँचा समझता है। आत्म-गौरव की यह धारणा ही उसकी मानापमान-बुद्धि को जन्म देती है। जीव-सृष्टि में व्याप्त होकर रहनेवाला जो अविनाशी तत्त्व है, वह समूचे विश्व-प्रपच का मूलाधार और ब्रह्माण्ड का शिरोमणि है। इस सर्वश्रेष्ठ अमरतत्त्व का विकास विशेष रूप से मनुष्य-योनि में ही सपादित होता है। मनुष्येतर प्राणियो मे यह अमरतत्त्व विद्यमान तो रहता है, परन्तु अत्यत जडता-क्रात अवस्था मे प्रसुप्त रहता है। ज्यो ही जीवधारी विकास-परपरा से होता हुआ मनुष्य-योनि को प्राप्त होता है, त्यो ही उसे अत स्वरूप की यत्किंचित् पहचान ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे हो जाती है। यह आत्मजाग्रति ही मानवोचित स्वाभिमान-बुद्धि की जननी होती है। इस आत्म-चेतनता की शुभ घडी मे ही प्राणी यह समझने लगता है कि मै प्रतिष्ठा पाने योग्य एक जीवधारी हूँ। अतएव इन प्रत्यक्ष बात

को कोई अस्वीकार नही कर सकता कि सम्मानित होने की इच्छा सर्वथा मनुष्योचित भावना है। वह मनुष्य की जाग्रत आत्मा की स्वाभाविक माँग है जो बिलकुल उचित भी है। इस मानवी आग्रह की जो अवहेलना करता है, वह सृष्टिकर्त्ता की दृष्टि मे दोषी ठहरता है। आत्मा का अनादर यथार्थ में परमात्मा का ही अपमान है, क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अश है। 'जीवो ब्रह्मेव नापर'।

यो तो आमतौर पर मानापमान-बुद्धि मनुष्यमात्र मे पाई जाती है, परन्तु फिर भी शिक्षा, सस्कार तथा व्यक्तिगत विकास के अनुसार वह भिन्न-भिन्न मनुष्यो में न्यूनाधिक अश में विद्यमान रहती है। मानव-हृदय जितना अधिक सस्कृत हो जाता है, उतनी ही अधिक मात्रा में उसमे स्वाभिमान-भावना जाग्रत होती जाती है। अतएव एक सुशिक्षित मनुष्य की पहचान यह भी है कि वह अधिक से अधिक स्वाभिमानी होता है। ध्यान रहे, स्वाभिमान और अहकार में बडा अतर है। पहला दूसरे का मर्यादित रूप है। जीवन और विकास दोनो के लिए मर्यादित अहकार की आवश्यकता है। सीमा के बाहर जाकर तो वह बडे दुर्गुण का रूप धारण कर लेता है। जब तक एक मनुष्य की अहभावना दूसरे की अहभावना को आदर की दृष्टि से देखती है और तदनुसार आचरण भी करती है, तब तक वह एक आवश्यक गुण का रूप धारण किये रहती है। लेकिन ज्यो ही वह और लोगो की उचित अहमन्यता को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगती है, त्यो ही वह तिरस्कृत दुर्गुण का रूप ले बैठती है। इसी को गर्व, अभिमान अथवा घमड भी कहते है। घमडी मनुष्य से बढकर कोई दूसरा मूर्ख ही इस ससार में नही होता। (अभिमान मूर्खता का सबसे बडा पुत्र है और सबसे बढकर दुराचारी भी है।)

स्वाभिमान की भावना सस्कृत हृदय की सबसे प्यारी चीज है। आदर पाने की इच्छा चाहे किसी मनुष्य के मन में न हो, परन्तु अनादृत होना कोई भी नही चाहता। अनादर का व्यवहार मनुष्य की स्वाभाविक स्वाभिमान-बुद्धि को कडी से कडी ठेस पहुँचाता है। अशिक्षित तथा

असभ्य लोगो को ऐसा व्यवहार अपेक्षाकृत कम आघात पहुँचाता है, परन्तु एक सभ्य और सस्कृत हृदय को उसकी जो मार बैठती है वह एक ऐसी मनोवेदना उत्पन्न करती है कि मनुष्य एक बार अपना प्राण दे देना चाहे स्वीकार कर ले, परन्तु अपमान-जनित मानसिक सताप उसे बिलकुल सहन नही हो सकता। अनादृत जीवन स्वाभिमानी हृदय को विष से भी अधिक विषैला प्रतीत होता है। अपने आत्म-गौरव की बलिवेदी पर मिट जाने का सामर्थ्य रखनेवाला मनुष्य मानव-समाज का सिरमौर होता है। यथार्थ मे स्वाभिमान ही मनुष्यत्व का सच्चा मानदड है। उसे खोकर आदमी पशु से भी गया-बीता बन जाता है। उसकी आत्मा प्रसुप्त हो जाती है। इसी स्वाभिमान-भावना से शून्य होकर हमारा भारत परावलबी हो गया। आज उसमें जितनी बुराइयाँ विद्यमान है, उनका मूल कारण उसकी स्वाभिमान-शून्यता है। यदि भारतवासी यह समझने लगें कि हम भी मनुष्य है और हमें मनुष्योचित्त अधिकार चाहिए तो आज ही बेडा पार हो। परन्तु अधिकाश हिन्दुस्थानी ऐसा नही समझते और जो थोडे-से लोग समझते भी है, उनके हृदय मे बेचैन बनानेवाली मनोवेदना उत्पन्न नही होती। इसी कारण हमारा विकास-पथ आज सर्वथा अवरुद्ध हो रहा है, आगे बढने की गुजाइश ही नजर नही आती।

इस स्वाभिमान-शून्य भारत को आत्म-गौरव की शिक्षा देनेवाले जितने नेता इस देश में उत्पन्न हुए, उनमें सबसे पहला स्थान महात्मा गाधी का है। अपने जीवन-काल में गत पद्रह वर्षो के अन्दर उन्होंने इस सबध मे जो एक देशव्यापी मानसिक क्रांति उत्पन्न कर दी है, वह भावी इतिहासकारो के लिए महान् आश्चर्य की बात होगी,—इसमें हमें कुछ भी सदेह नही। जिस देश में किसी समय लोग कीडो के समान पेट के बल चलने के लिए मजबूर किये गये और जहाँ ऐसे घृणित अनाचार का एक भी विरोधी न निकला, वहाँ दस वर्षों के अदर इस स्वाभिमानी लोकनायक ने हजारो और लाखो की तादाद मे ऐसे लोग पैदा कर दिये जो पेट के बल चलना तो क्या, अपने प्रशस्त और उन्नत भाल को तिल

भर भी झुकाने के लिए तैयार नही है। इस व्यापक और दुर्दमनीय आत्म-गौरव-भावना को जन्म देनेवाला महापुरुष भारतीय स्वाभिमान का मूर्तिमान् अवतार गाधी है। आज दिन हिन्दुस्थान में ही क्या, समूचे जन-समाज मे उनकी जैसी प्रतिष्ठा है, वह मानवी सभ्यता के लिए महान् गौरव की वात है। जिन लोगो ने गाधी जी को हिन्दुस्थान में रेल-यात्रा करते देखा होगा और उनके स्वागत के लिए स्टेशनो पर जमी हुई जनता की अपार भीड देखी होगी, उन्हे इस वात का ज्ञान अनायास ही हो गया होगा कि इस देश में महात्मा गाधी के लिए जो आदर का स्थान है, वह किसी भी देश में किसी भी मनुष्य को प्राप्त नही है। इसके सिवाय' उनकी प्रतिष्ठा केवल हिन्दुस्थान मे ही सीमित नही है। आज दिन इस पृथ्वी पर गाधी जी एक ही ऐसे व्यक्ति है, जो अतर्जातीय श्रद्धा के पात्र हो रहे है। महात्मा जी की कीर्ति इस मेदिनीतल पर पूर्ण चद्र की चाँदनी के समान छाई हुई है और सहस्रो सतप्त हृदयो को इस कौमुदी में शाति मिल रही है।

लेकिन दैव की गति बडी विचित्र होती है। जिस आदमी के चरणो पर आज ससार अपना मस्तक झुका रहा है, उसी आदमी को अपने पूर्व-जीवन के पग-पग पर इतने अधिक अपमान सहने पडे है कि उन्हें पढ-सुन कर हम सरीखे साधारण मनुष्य की भी ओछी स्वाभिमान-बुद्धि स्तभित हो जाती है। हृदय फूट-फूटकर रोने लगता है। आँखो से आँसू की दो बेशकीमती बूँदें टपक पडती है। अनादृत मोहनदास गाधी समवेदना और प्यार से ओत-प्रोत प्राणो के भीतर प्रवेश कर जाता है। हृदय की ऐसी अवस्था हो जाती है कि बस कुछ कहते नही बनता। फिर भी हृदय की इस उत्तेजित भावना को भीतर ही भीतर दबाकर हम पाठको को उन प्रसगो का परिचय देना चाहते है जब गाधी जी को अपमानित होना पडा था। इन प्रसगो की केवल जानकारी से कुछ भी लाभ नही। लाभ तो तब होगा, जब हम यह भी शिक्षा ग्रहण करें कि ऐसे प्रसगो का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ?

इन अपमानो की चर्चा महात्मा जी ने अपनी आत्मकथा में स्वय की है, अन्यथा वे ससार को मालूम ही न होते। अपने आत्म-चरित्र में उनका वर्णन करके गाधी जी ने अपने समान अपने अपमानो को भी अमर बना दिया है। ससार का अच्छा से अच्छा आदमी भी कीर्ति-शिखर पर आरूढ हो जाने के बाद अपने प्रति की गई पूर्व-कृत बुराइयो पर पर्दा डाल देता है और उन्हे प्रकाश में नही लाता। यह एक सज्जन से सज्जन मनुष्य की भी स्वाभाविक मनोवृत्ति हो सकती है और उसे हम निदनीय भी नही कह सकते। अनादर के घाव गहरे होते हैं। उनमे नासूर भी पड जाता है। उसे देखने-दिखाने की जरूरत ही क्या?

परन्तु गाधी जी एक विलक्षण प्रकृति के मनुष्य है। भारतवर्ष के आराध्य देव हो जाने के बाद भी उन्होने अपने पूर्व-जीवन की सभी प्रतिष्ठाघातक बातो का खुलासा कर दिया है। फिर वे अपने अपमानो से ससार को अपरिचित क्यो रखते? उनकी तालिका बनाकर उन्होने ससार के सामने खुद ही रख दी है। ऐसा करने मे उन्हे कुछ भी सकोच न हुआ, क्योकि महापुरुषो की मानापमान-बुद्धि कुछ और ही होती है। वे ओछे लोगो के अनादरो को हँसते-हँसते झेल लेते हैं। क्षमाशीलता ही उनके बडप्पन की जननी है। ऐसे निर्लिप्त, निर्विकार और क्षमा-शील पुरुषो का कौन अनादर कर सकता है? उनकी प्रतिष्ठा का पद ही इतनी ऊँचाई पर रहता है कि अल्पात्माओ के हाथ वहाँ तक नही पहुँच पाते। अनादृत होकर जो हँस देता है, वह अनादर करनेवाले की अन्तरात्मा को रुला कर छोडता है। ("The robbed that smiles steals something from the thief". चोर की ओर देखकर जो मुस्करा देता है, वह चोरी करनेवाले से भी कुछ चुरा लेता है।)

गाधी जी इसी कोटि के अलौकिक पुरुष है। लोक-सेवा के पथ पर आरूढ रहनेवाला मनुष्य जिस सोपान-परपरा के द्वारा ऊपर चढता है, उसकी सीढियाँ अनादर और यत्रणा से निर्मित रहती है। औदार्य का आश्रय लेकर जो इन सीढियो पर चढेगा, उसी के पैर जम सकेंगे। नही

तो फिसल जाने की समावना तो है ही। मनुष्योचित्त गुणो का अवलव लेकर जो जीवन यात्रा में अग्रसर होता है, उस सत्पुरुष को किसी का भय नही रहता। तभी तो आचार्य कहते है —

"धैर्य यस्य पिता क्षमा च जननी शांतिश्चिर गेहिनी।
सत्य सूनुरय दया च भगिनी भ्राता मन सयम।
शय्या भूमितल दिशोऽपि वसन ज्ञानामृत भोजनम्।
एते यस्य कुटुंविनोवद सखे कस्माद्भय योगिन ?"

ऐसे योगियो का ससार ने मान किया तो क्या और अपमान किया तो क्या, बुराई की तो क्या अथवा भलाई की तो क्या! वे तो मरते दम तक यही कहेंगे—

'Father, forgive them, for they know not what they do'.

दुराचारियो के लिए उनके ओठो पर अभिशाप नही, आशीर्वाद ही रहेगा। अपकार के पलटे अपकार देना, भोंकने के जवाव में भोंकना तो महज श्वानवृत्ति है। महात्मा इस पथ के पथिक नही होते। उनका पथ ही निराला है।

महात्मा जी इसी निराले पथ के पथिक है। ससार-प्रवेश करते ही—वैरिस्टर होते ही उनके स्वाभिमान पर सवसे पहला आघात हुआ। वहुत आग्रह करने पर इच्छा के विरुद्ध वे अपने भाई साहव की सिफारिश करने पोलिटिकल एजेंट के पास गये। वह भला आदमी परिचित होने पर भी वडी रुखाई के साथ पेश आया। गाधी जी की वात सुनना उसे नामजूर हुआ। केवल इतना ही नही, उसने अपने चपरासी के जरिये हाथ पकड़ाकर वैरिस्टर गाधी को वँगले से वाहर निकाल वाहर किया। नवयुवक का खौलता हुआ खून और वैरिस्टरी की शान इन दोनो ने मिल-कर मानहानि का वाक़ायदा नोटिस दिलाया। परन्तु हिन्दुस्थान की वर्तमान अवस्था ऐसी है कि एक अदने से अदना अँगरेज़ वडे से वडे हिन्दुस्थानी का अनादर कर सकता है और उसे दुष्परिणाम का भागी

नही होना पडता। पराधीन देश के निवासियो की प्रतिष्ठा ही नही होती, फिर उसकी हानि की सभावना ही कैसी ! फिरोजशाह मेहता की सलाह से गाधी जी अपमान की उस कडवी घूँट को पी गये। इसमे शक नही कि अपमान की घूँट बहुत कडवी होती है। ससार के अधिकाश लोग इसे नही पी सकते, उलटी हो जाती है। पर एक बार यदि वह गले के नीचे उतर गई, तो ऐसे विलक्षण टॉनिक का काम करती है कि उसका पान करनेवाला बलिष्ठ होकर दुर्दमनीय हो जाता है। गाधी जी का अलौकिक आत्मबल ऐसे ही पौष्टिक पानो से बढा हुआ है। प्रकट किया हुआ क्रोध बिलकुल बेकार जाता है। परन्तु वही यदि हृदय के अतरतम प्रदेश में दबाकर रख लिया जाय, तो पौरुष के रूप में परिवर्तित होकर वह ऐसे 'डाइनामाइट' का रूप धारण कर लेता है कि बडे से बडे साम्राज्य की इमारत को वह बात की बात में छिन्नमूल करके ढा देता है।

बैरिस्टर गाधी दक्षिण-आफ्रिका पहुँचकर एक दिन डरबन की अदालत देखने गये। मैजिस्ट्रेट ने उनकी ओर टकटकी लगाकर देखा और देखकर कहा—'अपनी पगडी उतार लो।' स्वाभिमानी बैरिस्टर ने ऐसा करने से इनकार किया और अदालत को छोड दिया। दक्षिण-आफ्रिका की अदालत में गाधी जी का पहला स्वागत इसी तरह हुआ। आज इस स्वाभिमानी भारतीय के सिर पर न तो पगडी है और न पैर में जूते है। उसने स्वय अपने बदन से सब कुछ उतार डाले हैं। आज वह अर्धनग्न फकीर है। उसने अपने शरीर से उतारने योग्य एक चिदी भी नही रख छोडी है। परन्तु आज स्वार्थी ब्रिटिश साम्राज्य की शान उतारनेवाला वह एक ही आदमी है। आज उसके चरणो पर ससार का मस्तक अपनी ऊँचाई से उतर चुका है।

थोडे ही दिनो के पश्चात् अपनी पगडी उतारने के बजाय गाधी जी को स्वय उतरने की बारी आई। पहले दरजे के डब्बे में वे प्रिटोरिया जा रहे थे। उसी डब्बे मे बैठने के लिए एक यात्री आया और एक

हिन्दुस्थानी को देखकर चकराया। वह लौटा और एक-दो रेलवे कर्मचारियों तथा एक आफिसर को लेकर डब्बे के पास फिर आया। रेलवे आफिसर ने कहा—'तुम्हे उतरना होगा'। गांधी जी बोले—'मेरे पास पहले दरजे का टिकट है, मै न उतरूंगा'। उत्तर मिला—'परवाह नही, तुम्हे आखिरी डब्बे में बैठना होगा'। गाधी जी का निष्क्रिय प्रतिरोध शुरू हो गया। लेकिन पशु-बल की जीत हुई, धक्के खाकर उन्हें नीचे गिरना पडा। उनका सामान भी नीचे फेंक दिया गया।

सुहृदय पाठक अनुमान कर सकते है कि इस व्यवहार से गांधी जी के स्वाभिमानी हृदय पर कैसा करारा आघात पहुँचा होगा। किन्तु उनकी गम्भीरता अद्वितीय है। मन में अनेक कष्टदायक संकल्प-विकल्प उठने के बाद उन्होंने यह तय किया—

"मुझ पर जो कुछ बीत रही है वह तो ऊपरी चोट है। वह तो भीतर के महारोग का एक वाह्य लक्षण है। यह महारोग है राग-द्वेष। यदि इस गहरी बीमारी को उखाड फेंकने का सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो कष्ट और दुःख सहने पड़ें, सहना चाहिए।"

यह राग-द्वेष सफेद चमडीवालो के हृदय को आज भी काला कर रहा है। घोर अमावस्या को अपने अंतःकरण में दबाकर बाहर को चाँदनी फैलानेवाली सफेद जाति अभी इस बात को नही समझ पाई है कि (Handsome is he that handsome does) जिसकी करतूत अच्छी है, उसी का मुख उज्ज्वल है। इस बात को हृदयंगम होने में अभी देर है। भले क्राइस्ट के गोरे भक्त मनुष्य की मनोहर अन्तरात्मा को नहीं देख सकते। हृदय की परख हृदय ही कर सकता है। ऐसा पारखी हृदय सफेद चमडीवालो के हिस्से नहीं आया। अभी इन्सानियत की दिल्ली उनसे दूर है—बहुत दूर है।

पाश्चात्य देश के लोग भौतिक विज्ञान के बडे हामी हैं, परन्तु सरल से सरल वैज्ञानिक सत्य उनकी समझ में नही आया। उन्हे यह

जानना चाहिए कि उनका रंग केवल इसी कारण सफेद है कि सूर्य की किरणें उन पर सीधी नहीं पड़ती। अतएव उनकी चमड़ी के सबसे ऊपरी परत को छोड़कर उनके शरीर की सारी बनावट वैसी ही है, जैसी काले आदमियों की होती है। इस जरा-सी बात पर इतना नाज़! अच्छा है, अहंकार के इस अंधकार में वे पड़े रहे। समय अपनी शिक्षा लेकर समय पर पहुँचेगा। वह सफेद रंगवालों के काले कारनामों का खुलासा करेगा और सदियों तक किये गये दुराचारों के लिए पाई-पाई का हिसाब निष्ठुरता-पूर्वक लेकर छोड़ेगा। रंग-द्वेष का यह महारोग महात्माओं के प्रयत्न से जानेवाली व्याधि नहीं है। इसका उपचार निष्ठुर काल ही करेगा। 'कालाय तस्मै नमः'।

गांधी जी के चौथे अपमान का वर्णन पढ़कर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। फिर भी पाठक अपनी छाती कड़ी करके सुनें। उन्हें घोड़ा-गाड़ी के ज़रिये जोहान्सवर्ग जाना था। गाड़ी हाँकनेवाले ने पहले तो उन्हें न बिठाने के लिए कुछ बहाना किया, क्योंकि साथ चलनेवाले सब यात्री गोरे थे। उन देव-दूतों के साथ एक काला आदमी भला कैसे बिठाया जा सकता था! आख़िर कम्पनी के अफसर ने उन्हें हाँकनेवाले के पास जगह दी और आप ख़ुद भीतर बैठा। गांधी जी के स्वाभिमान पर इस तिरस्कार से बड़ा आघात पहुँचा। पारडीकोप पहुँचने पर उसकी इच्छा खुली हवा के लिए बाहर बैठने की हुई। ऐसी हालत में गांधी जी को भीतर बिठाना था। लेकिन उस गोरे सज्जन ने ऐसा नहीं किया। एक मैला-सा बोरा हाँकनेवाले से लेकर पैर रखने के तख्ते पर उसे डाल दिया और कहने लगा, "सामी, तू यहाँ बैठ, मैं हाँकनेवाले के पास बैठूँगा।" पहला अपमान तो हिन्दुस्थानी हृदय का 'सामी' चुपचाप पी चुका था। यह दूसरा उसकी सहनशीलता के बाहर हो गया। उसने अपने हृदय का खुलासा करते हुए कहा कि मैं अन्दर तो बैठ सकता हूँ, पर तुम्हारे पैर के पास बैठने के लिए तैयार नहीं। इतना कहने की देर थी कि गांधी जी पर थप्पड़ों की वर्षा होने लगी। वह गोरा गुंडा उनका हाथ पकड़

घर खींचने लगा। साथ-साथ गालों और मार की बौछारें भी उन पर पड़ रही थीं। भारतवर्ष का भावी हृदय-सम्राट् उस अपमान को चुपचाप झेलता हुआ मानो हिन्दुस्तानी होने के अपराध का प्रायश्चित्त कर रहा था। हिन्दुस्तान, हम तुम्हें क्या कहें, कुछ कहते नहीं बनता; परमात्मा तेरा भला करे।

एक निरपराध मनुष्य के प्रति होनेवाले ऐसे पाशविक दुर्व्यवहार को आख़िर वह उदासीन परमात्मा भी न सह सका। इतनी देर तक जो वह गोरे यात्रियों के हृदय में जड़ता के समान मुँह बाये ख़ुर्राटे भर रहा था, परन्तु अब जाग्रत हुआ और कहने लगा—'अजी इस बेचारे को वहाँ बैठने क्यों नहीं देते? फ़िज़ूल इसे क्यों पीटते हो? यह ठीक तो कहता है। वहाँ नहीं तो इसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।' गोरा खिटपिटाया। मार बन्द हुई। गांधी जी अन्दर बैठे। गाड़ी चली। गोरा त्योरी चढ़ाकर गांधी जी की ओर देख रहा था। हमारा निस्सहाय 'सामी' ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना कर रहा था। परन्तु ईश्वर के कान बहरे हैं, वह बहुत ऊँचा सुनता है। मालूम नहीं, प्रार्थना की वह दर्दनाक आवाज़ उसके कानों तक आज भी पहुँची या नहीं। गोरे तो अभी भी हमें पेट के बल हमारे घर ही में चला रहे हैं।

इसी यात्रा में प्रिटोरिया जाते हुए वैसा ही मौक़ा गांधी जी को फिर आया। वे फ़र्स्ट क्लास में बैठे हुए थे। जर्मिस्टन स्टेशन पहुँचने पर गार्ड टिकट देखने के लिए निकला। एक कुली को फ़र्स्ट क्लास में बैठा हुआ देखकर उसका सफ़ेद चमड़ा क्रोध के ज़हर से काला पड़ गया। उँगली से इशारा करके उसने कहा, 'तीसरे दर्जे में जा बैठ'। 'कुली बैरिस्टर' ने अपने पहले दर्जे का टिकट दिखाया। रंगद्वेष के संरक्षक गोरे गार्ड ने बेलाग होकर जवाब दिया, 'इसकी परवा नहीं, चला जा तीसरे डब्बे में।'

ग़नीमत थी कि उस डब्बे में बैठनेवाला एक ही अँगरेज़ यात्री था और वह भलामानुस निकला। उसने गार्ड को डाँटकर कहा, 'तुम इन्हें

क्यो सताते हो ? देखते नही, उनके पास पहले दर्जे का टिकट है ? मुझे इनके पास बैठने में कोई आपत्ति नही है। इतना कहकर गाधी जी की ओर उसने देखा और कहा, 'आप आराम से बैठे रहिए'। गाधी जी बैठे रहे। 'कुली के साथ बैठना हो तो बैठो, मेरा क्या विगडता है,' कहकर गार्ड चलता बना। गाडी चली।

जडताक्रान्त भारत का उद्धार होना कोई आसान बात नही है। उसके लिए उद्धारकर्त्ता में बहुत आत्मबल की आवश्यकता थी। इसी नैतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए सृष्टि-विधाता मोहनदास गाधी को 'कड़ुवा टॉनिक' पिला रहा था। परन्तु उसकी खूराक पूरी न होने पाई थी। अभी गाधी को और भी बहुत-सी कडवी घूँटें पीनी थी। इसी कारण अभी अपमानो का तांता जारी था।

प्रिटोरिया की बात है, गाधी जी घूमने जा रहे थे। फुटपाथ पर से प्रेसीडेंट स्ट्रीट में प्रेसीडेंट क्रूगर के मकान के पास से वे निकले। विना कुछ वोले सन्तरी ने एक धक्का मारा, लात भी जमा दी और फुटपाथ पर से उतार दिया। गाधी जी सन्तरी के इस व्यवहार से स्तम्भित रह गये। कोट्स नामी एक अँगरेज मित्र ने सन्तरी के इस दुर्व्यवहार को देखा और कहा, 'गाधी, मैंने यह देख लिया है। यदि तुम मुकदमा चलाना चाहते हो तो मैं गवाही दूँगा। मुझे बहुत दुःख है कि तुम पर इस प्रकार का हमला हुआ।' गाधी जी की महान् आत्मा ने इस पर क्या जवाब दिया सो भी सुनिए—

"इसमें अफसोस की बात ही क्या है ? सन्तरी बेचारा क्या पहचानता ? उसके नजदीक तो काले-काले सब बराबर। हब्शियो को फुटपाथ से वह इसी तरह उतारता होगा। इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया। मैंने तो अपना यह नियम बना लिया है कि मेरे जात खास पर जो कुछ भी बीते, उसके लिए कभी अदालत न जाऊँगा, इसलिए मुझे इसे अदालत में नही ले जाना है।"

कोट्स साहब ने सन्तरी को उच भाषा में टोटा। सन्तरी ने गांधी जी से माफी मांगी। पर वह तो महान् अनादृत के महान् हृदय से पहले ही माफी पा चुका था। महापुरुषो की जननी क्षमाशीलते, तू धन्य है, तेरी उदारता को कोटिश नमस्कार है।

सबसे बडा और सामूहिक आक्रमण महात्मा जी पर उस समय हुआ, जब वे हिन्दुस्थान से एक वर्ष के बाद लौटकर दक्षिण-आफ्रिका पहुँचे। बाल-बच्चे तथा कस्तूर बा साथ ही मे थी। जहाज जैसे धक्के पर आया, पुलिस आफिसर ने जहाज के कप्तान को कहला भेजा कि गांधी को शाम को उतारना, गोरे उसके खिलाफ सामूहिक रूप से बिगडे हुए है। परन्तु गांधी जी के भाग्य में एक और आघात बदा था। कोई मिस्टर लॉटन आध घंटे बाद ही आये और कहा, 'चलिए, अब तो शान्ति है, गोरे सब इधर-उधर चले गये है। रात को छिपकर जाना अच्छा नही।' गांधी जी की स्वाभिमान-बुद्धि को यह बात पट गई। कस्तूर बा और बच्चो को गाडी में रुस्तम जी सेठ के यहाँ रवाना कर दिया और आप मिस्टर लॉटन के साथ पैदल चले। उन्हे क्या मालूम कि वे एक दगाबाज अँगरेज के साथ जा रहे है।

बाहर निकलते ही कुछ अँगरेज छोकरो ने उन्हे देखा और लगे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने। बस, भीड बढने लगी। रिक्शा पर बैठने का प्रयत्न किया तो रिक्शावाला भगा दिया गया। गांधी आगे चले। भीड भी पीछे-पीछे चली। लॉटन साहब से कुछ करते-धरते न बना। वे अलग कर दिये गये। निस्सहाय गांधी जी पर भीड टूट पडी। अंडे बरसने लगे, पगडी गिरा दी गई और लातो की मार शुरू हो गई। मार इतनी पडी कि गांधी जी को गश आगया और वे नजदीक के किसी घर के सीखचे को पकडकर रह गये। खडा रहना असभव था। थप्पडों की वर्षा हो रही थी। दुराचारी गोरों के क्रुद्ध समुदाय में भारतीय स्वाभिमान का मूर्तिमान् अवतार अपनी राष्ट्रीय पराधीनता का प्राय-श्चित्त चुप-चाप दे रहा था। मानव-समाज का शिरोमणि जिस समय

इस तरह ठुकराया जा रहा था, उस समय गुरुदेव अपनी कसौटी गाढे प्रहार कर रहा था। उसके उस निष्ठुर हास में एक रहस्य था जो आज सुन रहा हूँ। निष्कलंक भविष्य उसका खजाना और भी भर देगा।

महात्मा जी ने अपने इस अपमान का वर्णन जिस अध्याय में किया है, उसका शीर्षक है 'कसौटी'। सचमुच में यह दुर्घटना दैव की दी हुई एक कसौटी थी, जिस पर उनका भावी उत्कर्ष कसा जा रहा था। इस कष्टदायक कसावट में गांधी जी निर्मल स्वर्ण के समान खरे उतरे। कुछ दिनों के बाद मि० चैम्बरलेन ने तार दिया कि गांधी पर हमला करनेवालों पर मामला चलाया जाय। मि० एस्कम्ब ने उन्हें बुलाया, समवेदना प्रकट की और कहा कि यदि हमला करनेवालों को आप पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलाने के लिए तैयार हूँ, मि० चैम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते हैं।

महात्मा गांधी ने जवाब दिया कि "मैं किसी पर मुकदमा नहीं चलाना चाहता। हमलाइयों में से एक-दो को मैं पहचान भी लूँ, तो उन्हें सजा कराने से मुझे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता हूँ। क्योंकि उन बेचारों को तो कहा गया कि मैंने हिन्दुस्थान में नेटाल के गोरों की भरपेट और बढ़ा-चढ़ा कर निंदा की है। इस बात पर यदि वे विश्वास कर लें और बिगड़ पड़ें तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है? कसूर तो ऊपर के लोगों का और मुझे कहने दें तो आपका माना जा सकता है। आप लोगों को ठीक सलाह दे सकते थे। पर आपने रूटर के तार पर विश्वास किया और कल्पना कर ली कि मैंने सचमुच अत्युक्ति से काम लिया। मैं किसी पर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगों पर प्रकट हो जायेगी और लोग जान जायेंगे तो अपने आप पछतावेंगे।"

मालूम नहीं, दुराचारी आक्रमणकारियों के निष्ठुर हृदयों में एक निर्दोष मनुष्य के प्रति किये गये दुर्व्यवहारों के लिए कभी पश्चात्ताप

हुआ या नहीं। परन्तु उन पर मुक़दमा न चलाने का प्रभाव गाधी जी के लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। समझदार गोरो को लज्जित होना पड़ा। समाचार-पत्रो ने गाधी जी को निर्दोष बताया और आक्रमण करनेवालो को भला-बुरा कहा। इस प्रकार अपमानित भारत के उस अनादृत सपूत की प्रतिष्ठा अनादरो की बदौलत ही बढ गई। कौन कहता है कि अपने कर्त्तव्य पर दृढ निश्चय होकर आरूढ रहनेवाला मनुष्य कभी अनादृत हो सकता है ? अनादर का पात्र तो मनुष्य तभी होता है जब वह नैतिक पथ से पराड्मुख हो जाता है। हमारे अपमान के कारण स्वय हमारे ही दुराचार होते है; दूसरो के दुर्व्यवहार नही। जो मनुष्य अपने मनुष्यत्व को मान देता है, उसका अपमानित होना असभव है। वह सदैव और सर्वत्र आदर का पात्र है। कदाचित् इसी धारणा से प्रेरित होकर महात्मा जी ने इन घटनाओ को अनादर के रूप में कभी नही देखा। वे समझते आये है कि उनका सच्चा अपमान उसी दिन होगा, जिस दिन उनकी अतरात्मा उनके आचरण की ओर तिरस्कार की उँगली दिखावेगी। इसी कारण लोगो के कटाक्ष उन पर कुछ भी असर नही डालते। उनके आलोचक उन्हें कोरा महात्मा ही समझे, व्यवहार-बुद्धि-शून्य नेता कहकर उनकी खिल्ली भले ही उड़ावें, परन्तु गाधी जी धीर है और धीर-वीर पुरुषो की पहचान है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगातरे वा।
न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है, 'पराधीन सपनेहु सुख नाही।' सचमुच में पराधीन प्राणी को कभी सुख नही है। दासत्व के बधन में जकड़े हुए मनुष्य के ऊपर दैहिक, दैविक और भौतिक सताप तीनो सहमत होकर टूट पड़ते है। ऐसे मनुष्य को आत्म-तोष कहाँ ? अनादर तो उसके पग-पग में होता है। भारत पर विदेशियो के आक्रमण का

इतिहास यथार्थ मे हमारे जातीय अपमानो का इतिहास है। कहने का आशय यह है कि पराधीन भारतीय की हैसियत से आज हम अपने घरो मे ही ठुकराये जा रहे है। तो फिर जहाँ स्वार्थरत गोरे लोगो का बोलबाला है, वहाँ प्रवासी भारतीयो की कैसी दुर्दशा हो रही है, उसका वर्णन कौन करे। वह तो वज्र के हृदय को भी टुकडे-टुकडे कर देगा। दक्षिण-आफ्रिका मे हमारे प्रवासी देश-भाई मनुष्य तो माने ही नही जाते। वे पशुओ से भी गये बीते हो रहे है। एक कुत्ता गोरे आदमी के बिस्तर पर लेट सकता है, उसका मुँह भी चाट लेता है, परन्तु प्रवासी भारतीय गोरो की बस्ती के निकटवर्ती स्थानो मे अपने मकान भी नही बना सकते। इस जातीय तिरस्कार की कोई सीमा है!

साराश यह कि हमारे जातीय अपमानो की कोई इयत्ता नही है। फिर भी इस बात की खास तौर पर जाँच की जाय तो हमे प्रतीत होगा कि शायद ही कोई ऐसा साधारण से साधारण भी हिन्दुस्थानी नही निकलेगा जिसे अपने जीवन में स्वाभिमान पर इतने आघात सहने पडे हो जितने कि गाधी जी को एक उच्च कुल-प्रसूत तथा शिक्षित बैरिस्टर की हैसियत से सहन करने पडे हैं। सचमुच मे यह आश्चर्य की बात है। कदाचित् विधि का विधान ही ऐसा था कि अनादृत भारत की राष्ट्रात्मा अपमानो की कडी आँच में पहले झोक दी जाय। इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ही वह इतनी सबलबाहु हो सकती थी कि हिन्दुस्थान-सरीखे जडताक्रात देश को हिलाकर वह चेतनाशील बना दे। इस कसौटी में पडकर ही वह तिरस्कृत मानव-समाज की ऐसी दुर्दमनीय समर्थक हो सकती थी। यथार्थ मे गाधी जी के अपमान उनके लिए आध्यात्मिक 'डवेल्स' का काम कर रहे थे। अपने अनादर का उसी क्षण प्रतिकार करके मनुष्य ज्यो का त्यो जड हो जाता है। परन्तु अनादर की कडवी घूँट यदि वह चुपचाप पी गया, तो उसके हृदय में एक भयकर क्राति मच जाती है। गाधी जी ने विधाता की भेजी हुई इस आत्मबल-वर्धक कडवी दवा की कई खूराक ली है। न जाने अपने

जीवन में कितने जातीय और व्यक्तिगत अपमान गाधी जी ने शान्ति-पूर्वक और विचार-पूर्वक सह लिये है।

उनका सम्मिलित परिणाम क्या दिखाई देता है? आज गाधी जी का हृदय आत्मबल से परिपूर्ण होकर एक ऐसा प्रचड 'डायनेमो' के समान काम कर रहा है कि जेल की दीवारें उनकी क्रांति-कारिणी शक्ति के लिए कोई रुकावट पैदा नहीं करती। कारागार के भीतर जन-समाज से ओझल होकर वह मनुष्य और भी सबल हो जाता है। अपने विरोधियो के लिए गाधी एक कठिन मे कठिन समस्या है। उसकी आवाज दोनो गोलार्धों में गूँज रही है। उसकी तसवीर घर-घर दिखाई देती है। कुली और श्रीमान् उसके सामने समान श्रद्धा से नतमस्तक हो रहे है। गाधी अब मनुष्य नही रहा, वह तो आदमी का छोटा बाना छोडकर एक विश्वव्यापी सिद्धान्त बन बैठा है। जहाँ ब्रिटिश साम्राज्य की समूची सेना रुक जाती है, वहाँ और उसके बहुत आगे भी उसकी पहुँच है। गाधी जी के आक्रमण में बन्दूक की आवाज़ नही सुनाई देती। हाँ, उनकी चढाई में अन्त करण की झनकार जरूर सुनाई देती है। अपने निर्मल, सुदृढ और सुनिश्चित विचारो तथा सद्-भावनाओ की प्रेरणा से वे जड मनुष्य के हृदय को भी एक बार ऐसा हिला देते है कि उसके बुरे सस्कार चाहे कैसा भी विरोध करें, परन्तु उसकी अन्तरात्मा से ध्वनि तो यही निकलती है कि 'गाधी का कहना ठीक है।' गाधीवाद को स्वीकार करने में आज ससार समर्थ हो या न हो, पर प्रत्येक विचारवान् मनुष्य इस बात को स्वीकार करेगा कि जन-समाज अपने कल्याण के दिन तभी देख सकेगा, जब अधिकाश लोग गाधीवाद को अपने जीवन में चरितार्थ कर सकेंगे। इस गये-गुजरे कलह-शील कलिकाल में भी जहाँ मानव-हृदय के सस्कार स्वच्छ है, वहाँ गाधी जी का आसन जम चुका है। यह उनकी अलौकिक तपस्या का परिणाम है। इस तपस्या की खरी आँच उन्हें दक्षिण-आफ्रिका के अनादृत जीवन

मे ही सहनी पडी है। इस आँच मे तपकर गाधी जी का हृदय वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हो गया है।

इमारत बनाने के पहले लोग उसकी नीव मे बडे बडे मजबूत पत्थर डालते है। सुनने मे आता है कि दुर्जय किलो की बुनियाद मे फौलाद भी पिलाया जाता है। गाधी जी ने अपने बडप्पन का जो दुर्दमनीय दुर्ग प्रयास-पूर्वक खडा किया है, उसकी नीव मे जातीय तथा व्यक्तिगत अपमान, यन्त्रणा और आत्मग्लानि का फौलादी लोहा पिलाया गया है। इसलिए वह इतना चिरस्थायी और सुदृढ है कि ब्रिटिश साम्राज्य के विस्फोटक शस्त्र सब बेकार साबित हो चुके है। ऐसे सामर्थ्यवान् पुरुष को कौन जीत सकता है। क्षमा जिसकी ढाल हो और सत्य शमसीर हो, उसका सामना साम्राज्यवाद के स्वार्थलोलुप समर्थक क्या कर सकेंगे? ऐसे ही सत्यसघ वीर के सम्बन्ध मे तो रामचन्द्र जी कहते है—

शौरज धीर जाहि रथ चाका।
सत्य शील दृढ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम पर-हित घोरे।
क्षमा दया समता रजु जोरे।।
ईश-भजन सारथी सुजाना।
बिरति चर्म सतोष कृपाना।।
दान परशु बुधि शक्ति प्रचडा।
वर विज्ञान कठिन कोदडा।।
सयम नियम शिलीमुख नाना।
अमल अचल मन तूण समाना।।
कवच अभेद विप्र-पद पूजा।
..
सखा धर्ममय अस रथ जाके।
जीत न सकहि कतहुँ रिपु ताके।।

गांधी जी के जन्म-सिद्ध संस्कार बड़े सुकुमार थे। बाल्यावस्था में वे अपनी स्कूली किताबों के अध्ययन ही में सारा समय लगा देते थे। मास्टर की उलाहना उन्हें सहन नहीं होती थी। इसी कारण ऐसे प्रसंगों से अपने शैशव के स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए वे अपना पाठ प्रयास-पूर्वक याद कर लिया करते थे। संसार के साधारण बच्चे मास्टर साहब की उलाहना की तो क्या, कड़ी बेतों की भी परवाह नहीं करते। परन्तु बालक गांधी का हृदय इतना नाजुक था कि मास्टर के तिरस्कार-सूचक शब्द भी असह्य प्रतीत होते थे। यही बालक जब बढ़कर एक प्रतिष्ठित और स्वाभिमानी बैरिस्टर हुआ तो उसे अपने संग्रामशील जीवन में पग-पग पर अनादर की इतनी ठोकरें खानी पड़ीं कि सुनकर एक बार पत्थर का भी हृदय पिघल जाता है। गांधी जी के जन्मगत नाजुक संस्कारों को उन अपमानों ने कैसी कड़ी और मर्मान्तिक वेदना पहुँची होगी, इसका अनुमान सुहृदय पाठक सहज ही कर सकते हैं। हृदय की वह सम्मिलित वेदना आज ववंडर के रूप में प्रकट होकर अशक्त, अनादृत और जड़ताक्रांत भारत को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला रही है।

संसार का बड़े से बड़ा आदमी भी अपने पूर्व जीवन के अप्रिय और अपमानजनक प्रसंगों को अपने वैभव के दिनों में भूल जाता है। यदि वे बातें उन्हें याद भी रहीं तो सार्वजनिक रूप में उनकी चर्चा करना उन्हें पसंद नहीं होती। जन-समाज की जानकारी से उन्हें छिपाकर ही रख छोड़ते हैं। परन्तु गांधी जी को अपने अपमान केवल याद ही नहीं हैं, प्रत्युत उनकी चर्चा अपने आत्म-चरित्र में करके उन्हें उन्होंने सदैव के लिए अमर बना दिया है। इसका कारण केवल इतना ही है कि उन्होंने उन दुर्घटनाओं को अपनी खास दृष्टि से ही देखा है। जिस समय भृगु ने सोते हुए विष्णु भगवान् के वक्षस्थल में एक करारी लात जमाई थी, उस समय उस क्षमाशील संसार-संरक्षक ने उस नासमझ ऋषि के दुर्व्यवहार को उसी दृष्टि से देखा था।

छमा वडन को उचित है, ओछन को उतपात।
रहिमन प्रभु को का घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥

कुछ भी न घटा, वल्कि विष्णु भगवान् के वडप्पन का मान ससार में वढ गया। यही कारण है कि आज तक वे भृगु के पद-चिह्न को अपने हृदय में एक अनमोल आभूपण के समान धारण किये हुए है। महापुरुपो के उदार हृदय पर आततायी का पद-चिह्न भी अलकार हो जाता है। महापुरुप गाधी ने भी अपने अपमानो की माला वनाकर अपने हृदय मे सदैव के लिए धारण कर ली है। लोक-प्रिय हो जाने के वाद आज दिन गाधी जी के गले में न जाने कितने स्वागत के हार चढते है और दूसरे क्षण उतार भी दिये जाते है। गाधी जी उन्हें पल भर भी धारण नही करना चाहते। परन्तु उनके गले मे अनादरो की जो माला पडी हुई है, वह कभी नही उतरती। प्रकट रूप से अपनी आत्मकथा मे उनकी चर्चा करके गोया उन्होने उन अपमानो का गलहार गढकर पहन लिया है। यह मोहनमाला मोहनदास गाधी को खूब खुलती है और शिव जी की नरमुड-माला से कई दर्जे वढकर सुन्दर भी है। उसकी रचना भी विलक्षण है। उसमे क्षमाशीलता, मानवप्रेम और औदार्य के वडे-वडे वेशकीमती और पानीदार मोती सत्यता के सूत्र मे पिरोये गये है। मध्य भाग मे 'अहिसा' का अनमोल नीलम चमक रहा है। जिनकी प्रज्ञा की आँखें खुली है, वे ही गाधी जी के गले मे इस देव-दुर्लभ गलहार की शोभा देख सकते है। हमें तो गाधी जी के असख्य स्वागतहार भी इस मोहनमाला के सामने विलकुल फीके और तेजोहीन प्रतीत हुए।

अध्याय ३४

मानचित्र

इन पंक्तियों के लेखक को महात्मा जी के सन्निकट बैठने का सौभाग्य न तो अद्यावधि प्राप्त हुआ है, न भविष्य में कभी होगा। यह सम्भव ही कैसे हो? उसके लिए दृढ़ निष्ठा और आवश्यक अवकाश चाहिए। इन दो साधनों में से हमारे पास एक भी नहीं है। अतएव गांधी जी के दर्शन और प्रणाम हमने दूर ही से किये हैं। ऐसा आदमी उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने का अधिकारी नहीं हो सकता। उनके सिद्धान्त और विचार तो इन पृष्ठों में जैसे-तैसे ला पहुँचे हैं, परन्तु उनकी दिनचर्या, खान-पान, रहन-सहन, स्वभाव, वार्तालाप-शैली, व्यवहार तथा व्यक्तित्व का सच्चा परिचय उन्हीं लोगों को मिल सकता है जिन्हें उनके आस-पास रहने का सुयोग प्राप्त हुआ है। अतएव उनके दैनिक आचरण तथा व्यक्तिगत व्यवहार-सम्बन्धी विशेषताओं को आँकने का काम सुयोग्य अधिकारियों पर छोड़ते हुए हम यहाँ पर उनके व्यक्तित्व का स्थूल रूप से दिग्दर्शन-मात्र करना चाहते हैं।

सन् १९२० से गांधी जी अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा तथा विवाद के विषय हो रहे हैं। गत पन्द्रह वर्षों के अन्दर सभ्य तथा असभ्य संसार का ध्यान उनकी ओर पूर्णतया आकृष्ट हो चुका है। श्रीमानों और शाह-शाहों की विभव-वार्ता तथा बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों की कीर्ति कुछ दूर दौड़कर लँगड़ी पड़ जाती है। सूर्य और चन्द्र का प्रकाश भी एक समय पर पृथ्वी के एक ही गोलार्ध पर पड़ सकता है। परन्तु वर्तमान जन-समाज के संतप्त जीवन में नये प्राणों के फूँकनेवाले इस अर्धनग्न फ़क़ीर की कीर्ति-कौमुदी एक ही काल में इस मेदिनीतल पर चारों

ओर समान रूप से निखरी हुई है। ख्याति का योग गाधी जी के जीवन मे कुछ ऐसा विलक्षण है कि बस देखते ही बनता है। बैरिस्टर की हैसियत से वे दक्षिण-आफ्रिका पहुँचे। दूसरे-तीसरे दिन वे डरबन की अदालत देखने गये। मैजिस्ट्रेट ने उन्हे दो-तीन बार घूरकर देखा और पगडी उतारने के लिए हुक्म दिया। इस आज्ञा की अवहेलना करके वे बाहर निकल आये। इस घटना के दूसरे ही दिन उनकी चर्चा दक्षिण-आफ्रिका के प्रमुख समाचार-पत्रो मे चल गई। बात की बात मे गाधी जी मशहूर हो गये। ख्याति एक ऐसी चीज है जो वर्षा मे बडी दिक्कत से मिला करती है। परन्तु गाधी जी को उनके जीवन के प्रारम्भकाल ही से वह सुलभ रहती आई है। इसमे सन्देह नही कि महात्मा जी के साथ-साथ आगे-पीछे चलनेवाली हमेशा से दो महिलाये रहती आई है। आगे चलनेवाली का नाम है 'कीर्त्ति' और पीछे चलनेवाली का नाम है 'कस्तूर बा।' मानव-सभ्यता के इतिहास मे कई महापुरुष हो गये। परन्तु उनमें से किसी एक को भी वह भूतलव्यापिनी कीर्त्ति उनके जीवनकाल में नही मिल पाई जो गाधी जी को प्राप्त है।

कही तो लोग उनके व्यक्तित्व-वैचित्र्य से विस्मित है और कही उनकी महत्ता के कायल है। कही उनके सिद्धान्तो की व्यवहार्यता के कट्टर अविश्वासी है और कही ऐसे भी लोग है जो एकान्त निष्ठा से प्रेरित होकर अपनी आँखो से देखना भी नही चाहते। परन्तु इन सब प्रकार के मनुष्यो मे सभी की यह धारणा है कि गाधी एक विलक्षण कोटि का मनुष्य है। जो उनके भक्त है, वे नही जानते कि उनका वर्णन कैसे करें। और जो उनके विरोधी है, उन्हे यह नही सूझता कि उनका सामना किस तरह किया जाय। इस प्रकार गाधी जी अपने मित्र और अमित्र दोनो के लिए समस्या-रूप है। असाधारण तो वे सभी को प्रतीत होते है। उनमे से अधिकाश लोग उन्हे महान् भी मानते है। ऐसो मे कुछ थोडे से लोग उनका अनुकरण भी करते है। लेकिन अनुसरण करनेवालो में ऐसे लोगो की सख्या और भी बहुत कम है, जो उन्हे

कहते हैं कि अहिंसा परम धर्म है, उस समय लोग मुक्तकंठ होकर कहा करते हैं कि अरे, यह तो और कोई नहीं, इस हिंसाशील युग का गौतम बुद्ध है। दरिद्र और दुखी जनता की सेवा में जिस समय वे संलग्न रहते हैं, उस समय वे स्वयं-सिद्ध वैष्णव प्रतीत होते हैं। पर जिस समय वे सच्चे मानव-धर्म के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम मैत्री की चर्चा में व्यस्त रहते हैं, उस समय मुसलमान समझते हैं कि कबीर साहब के वर्तमान संस्करण यह ही गांधी हैं। इस प्रकार गांधी मनुष्य तो एक ही हैं, परन्तु उनके स्वरूप अनेक हैं। प्रत्येक पहलू में किसी न किसी महापुरुष की झांकी मिलती है।

इस तरह भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर वे भिन्न-भिन्न महापुरुषों के रूप में प्रकट होते हैं। फिर भी गांधी उनमें से एक भी नहीं है। वह बिल्कुल नया आदर्श है। टॉल्सटॉय के समान वे परिश्रमशील जीवन के प्रतिपादक और कृषि-जीवियों के समर्थक हैं सही, पर उनकी अहिंसा टॉल्सटॉय की कल्पना से भी आगे बढ़कर विशुद्ध आध्यात्मिक विश्व-प्रेम का रूप धारण कर चुकी है। उनकी मानसिक रचना में रशियन ऋषि का साम्यवाद तो है, पर उसके साथ भारतीय महर्षियों का अद्वैतवाद भी मिश्रित है। ईसामसीह ने जन-समाज को सेवाधर्म और नम्रता की शिक्षा जरूर दी, परन्तु गाय में उन्हें ढूंढने पर भी आत्मा का आभास न मिला। गांधी की पैठ उससे भी गहरी है। गाय की तो बात ही क्या, वह बकरी को भी माता कहकर पुकारता है। उसे जड़-चेतन सभी में आत्मा का विकास दृष्टिगोचर होता है। गौतम बुद्ध ने अहिंसा को मानवधर्म का सर्वोपरि स्वरूप जरूर माना, परन्तु उन्होंने अहिंसात्मक रहने का उपदेश धर्म-मंच पर आरूढ़ होकर उन लोगों को दिया, जो संसार-विरक्त मुमुक्षु थे। परन्तु गांधी जी अहिंसा-धर्म का उपदेश संसार-क्षेत्र के राजनैतिक तथा सामाजिक मंच पर आरूढ़ होकर उन लोगों को दे रहे हैं जो विदेशियों से लड़कर भौतिक स्वराज प्राप्त करने के अभिलाषी हैं। कबीर साहब ने हिन्दू-मुस्लिम मैत्री के द्वारा सांस्कृतिक

समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न जरूर किया, पर उनकी फटकार कड़वी कुनैन थी और उनकी तर्क-सरणी सुननेवालो के सिर के ऊपर से निकल जाती थी। वे दोनो की बुराइयो को नगी घसीट कर चौराहे पर डाल देते थे। परन्तु गाधी हिन्दू-मुसलमानो को फटकारता नही, फुसलाता है, प्रेम-पूर्वक मीठी-मीठी बातें करता है। उसकी तर्कशीलता लाजवाब है और वह दोनो सम्प्रदायो की अच्छाइयो को ही जन-समाज के सामने पेश करता है। साराश यह कि गाधी अपने ढग का पहला उपदेशक है। उसमें कई पैगम्बरो का निचोड़ है। इस कारण वह सबसे मिलता-जुलता हुआ भी सबसे निराला है। इस सभ्यताभिमानी वैज्ञानिक सदी का वह एक अद्वितीय सन्त है। वह मानव-धर्म का धुरन्धर है और समाज-विज्ञान का गम्भीर वैज्ञानिक है। भारतीय सस्कारो के लासानी लावण्य से उसकी अन्तरात्मा ओत-प्रोत है।

परन्तु पूर्वी ससार के इस बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य ने जिस समय अपने सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात किया, उस समय लोग उसे अर्ध-विक्षिप्त और 'चक्रम्' समझते थे। उन दिनों वे इतना तो मानते थे कि गाधी बड़ा साहसी मनुष्य है, पर उसके साहस को प्रेरणा देने-वाली फिलासफी किसी की समझ मे नही आती थी। पर दक्षिण-आफ्रिका के उस 'कुली बैरिस्टर' मे और आज के महात्मा गाधी में लोगो के दृष्टिकोण मे जमीन-आसमान का-सा अन्तर पड़ गया है। अपमान और आत्मग्लानि की आँच मे तपकर इस लोकोत्तर मनुष्य ने ऐसा ठोस और सगीन चरित्र-निर्माण किया है कि उसके सामने क़ुतुब-मीनार की ऊँचाई और ताजमहल की स्वच्छता दोनो सम्मिलित होकर भी फीकी पड़ जाती है। गाधी जी के साथ इन दोनो की तुलना करके हमें मन ही मन सकोच भी हो रहा है। क़ुतुबमीनार ऊँची तो है, परन्तु उसकी रचना अहकारमूलक है। ताजमहल स्वच्छ तो है, पर वह एक गतप्राण शरीर की समाधि है। गाधी क़ुतुब के समान ऊँचा और ताज के समान मनोहर है, परन्तु उसकी उच्चता नम्रता की नीव

पर खडी है और उसकी मनोहरता मसीहाई के आत्मनिष्ठ जीवन से उत्प्राणित है। इसमें सन्देह नही कि गाधी एक ऐसा 'वडर' है जो आठवाँ होकर भी सवसे पहला है। सम्भव है कि शताब्दियो के करारे झोके खाकर इस भूमडल के सातो आश्चर्य मिट जावे। परन्तु इस आठवे आश्चर्य की वुनियाद इतनी गहरी है कि वह इस भौतिक ससार मे अमर होकर रहेगा।

इस देश में भी जव गाधी ने आँधी की आवाज से असहयोग-आन्दोलन की सूचना पहले-पहल दी, तो लोगो ने उसे अविश्वास और सशय के कानो मे सुना। परन्तु आज उसी आदमी पर समूचे भारत की आस्था इतनी अकम्प और गम्भीर हो चुकी है कि लोग अव कहा करते है कि इँगलैंड और हिन्दुस्थान के वीच किसी भी तरह का समझौता गाधी जी के विना सम्भव नही है। जिस समय पहले-पहल उसने ज्ञान और कर्म का साराग अहिंसा और चरखे के रूप में निकाला, सभ्य ससार उसकी ओर उपहास की उँगली दिखा रहा था। जिस समय वह सार्वजनिक सभामच पर पचा पहनकर प्रकट हुआ, भारत का शिक्षित समुदाय उसके राजनैतिक नेतृत्व को सशयात्मक दृष्टि मे देख रहा था। जिस समय चौरी-चौरा-हिंसाकाड के वाद उसने अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया, उस समय लोग वेलाग होकर कह उठे, 'गाधी व्यवहार-कुशल नेता नही, निरा महात्मा है'। इस देश के सत्ता-धारियो ने उसके विचित्र आन्दोलन को पहले-पहल किञ्चित् अप्रसन्नता के साथ कौतूहल-पूर्ण नेत्रो से तमाशवीन के समान ही देखा। लेकिन उसी आदमी का महत्त्व देश के सार्वजनिक जीवन मे इतना अधिक वढ चुका है कि वह अपने मित्रो के लिए अत्यन्त आवश्यक और अमित्रो के लिए विलकुल अनिवार्य हो रहा है। किसी समय जिसे लोग वावला समझते थे, उसका वावलापन इतना वढ चुका है कि वह समूचे देश के सिर पर सवार है और वोल भी रहा है। उसके उपहास करनेवाले आलोचक अव निस्तब्ध और गम्भीर है। उसका चरखा यन्त्र-युग के पूँजी-

वाद से ग्रस्त जन-समाज का उद्धारक प्रतीत हो रहा है। उसकी अहिंसा निहत्थे जन-समाज के लिए एक अमोघ शस्त्र सिद्ध हो चुकी है। उसका सत्याग्रह-सिद्धान्त सग्राम-त्रस्त जन-समाज के लिए सार्वजनिक आशीर्वाद के रूप में प्रकट हो रहा है। इस तरह कोई भी समझदार आदमी इस बात को मानेगा कि गाधी एक फतहयाब आदमी है। इस देश के सार्वजनिक जीवन मे क्राति की जो एक दीर्घकाय लहर उठी है, उसके सिरे पर यह फतहयाफ्ता आसन मारकर बैठा हुआ है और सत्रस्त ससार उसकी ओर बद्धाञ्जलि होकर श्रद्धा-पूर्वक देख रहा है। इस प्रकार जन-समाज का यह चित-चोर न जाने किधर से सेंध लगाकर लोगो के अन्त -करण में पैठ चुका है। ससार अब इस बात को मुक्तकठ से स्वीकार करता है कि गाधी इस ज़माने का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष है। लेकिन जब इसी मनुष्य ने अपने सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात किया, तब न जाने कितने उपहास, कितने अपमान और कितनी यन्त्रणाओ का सामना उसे करना पडा! गौरव का मार्ग फूलो से बिछा हुआ नही होता। उस पर चलनेवालो को सैकडो कटकाकीर्ण गर्तों से गुज़रना पडता है।

गाधी समाज-सरोवर का खिला हुआ फूल है। उसके हृदय में बाघ और बकरी एक ही घाट पानी पीते है। भिन्न-भिन्न प्रसगो पर भिन्न-भिन्न कारणो से वह नम्र से भी नम्र और भयकर से भी भयकर हो जाता है। सत्य-निष्ठा से प्रेरित होकर वह शैतान को शैतान कहने मे कभी नही चूकता, परन्तु ऐसा कहने मे वह अपनी स्वभावसिद्ध शिष्टता का परित्याग भी नहीं करता। सत्य-समर्थन मे वह अपने और ससार के प्रति बडी बेदरदी के साथ पेश आता है। यह जीवन उसके लिए प्रयोगशाला है और अपने प्रयोगो मे वह ससार को सचाई का जौहर दिखाना चाहता है। अपनी कमजोरियो की छानबीन में वह बडा निर्दयी है और उनका उद्घाटन भी वह ऐसी बेरहमी के साथ किया करता है कि सुननेवालो को अपने दाँतो के तले अँगुली दबानी पडती है। इसमें सन्देह नही कि उसके उपदेशों में उसकी महत्ता प्रतिबिम्बित है, परन्तु उसके भूल-

स्वीकार मे उसकी महत्ता का ठोस और सच्चा स्वरूप दृष्टिगत होता है। उसकी आत्मकथा ससार के पुस्तकालय में एक अनूठो रचना है। इस पुस्तक मे इस अद्वितीय सत्य-समाराधक ने अपने अन्तर्बाह्य का खुलासा जिस साहस के साथ किया है, वह सर्वथा देव-दुर्लभ है। अपने को आत्मगोपन-भार से मुक्त करने के लिए उसने अपने सारे कल्मप खोलकर धो डाले है। अब उसके पास छिपाने के लिए अणुमात्र भी आत्मरहस्य शेष नही है। उसके खुले हुए जीवन का साक्षी पृथ्वी पर जन-समाज है और आकाश मे सूर्य-चन्द्र है। अपनी मिलनसारी और नम्रता में वह पृथ्वी के सभी वडे-वडे लोगो को मात करता है। परन्तु अपनी टेक और निश्चयता मे भी वह वडा टेढा है। समूचा ससार भी यदि उसका विरोध करे, तो भी वह परवाह नही करता। उससे वढकर लडाका शायद ही कोई दूसरा हो। लेकिन छिपकर सहसा वार करना उसके शूरोचित स्वभाव को स्वीकार नही। अपना आक्रमण वह वाकायदा नोटिस देकर ही किया करता है।

उसकी आत्म कथा के पढनेवाले को यह अनायास प्रतीत होता है कि उसने अपनी मानसिक प्रवृत्तियो के साथ आजन्म युद्ध किया है। अपनी अन्तरात्मा को उसने अपने मन के पीछे जासूस वनाकर रख छोडा है। मनोविजय प्राप्त करके वह ऐसा दिग्विजयी हो गया है कि ससार की वडी से वडी शक्ति का विरोध वह सफलतापूर्वक कर सकता है। जन-समाज का वह चक्रवर्ती शासक है। परन्तु रत्न-जडित सिंहासन पर बैठना उसे मजूर नही। प्राणपोपक रक्त-प्रवाह से सचालित मानव-हृदय पर ही उसकी आसनी विछी हुई है। और उसका मुकुट ? हीरे-माणिक्य से नही, खालिस कांटो से बना हुआ है। उसका शासन-विधान प्रेम-मूलक है और उसका राजदड सर्वथा अहिसात्मक है। उसकी मार शरीर पर नही, अन्तरात्मा पर पडती है। शासको के चार शस्त्रो—साम, दाम, दड और भेद—मे से उसने पिछले तीन का सर्वथा परित्याग कर दिया है। उसके साम्राज्य का विस्तार यदि कोई देखना चाहे, तो उसे नकशे पर नही ढूँढना

चाहिए। मानव-समाज के अन्तस्तल में ही उसकी रचना दृष्टिगत हो सकेगी।

इस महापुरुष की सारी शक्ति उसकी सद्भावना में है। वह अपने विरोधियों को प्रचड प्रतिवादिता से नहीं, प्रत्युत नम्रतापूर्वक तर्क-सिद्ध दलीलों से परास्त करता है। उसकी मानसिक रचना में परस्पर विरोधी विशेषतायें दृष्टिगत होती है। उनका हृदय वज्र से भी कठोर—और कुसुम से भी कोमल है। उडीसा के जीवित नर-ककालों की दुर्दशा पर जहाँ वह तर्स खाकर करुणा के आँसू बहाता है, वहाँ वह बम्बई की जल्दी झोपडियों को देखकर खिलखिलाता है और खुश होता है। उसकी मानसिक व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और विचित्र है कि वह प्रथाओं से घृणा करता हुआ भी उनके प्रवर्तकों से प्रेम का व्यवहार कर सकता है। एक तार्किक हृदय को यह बात बिलकुल असगत जँचती है। परन्तु अपनी सद्भावना के प्रवाह में यह विश्वप्रेमी सारी तर्क-शृखला को तोडकर बहा देता है। उसके जीवन में दुनिया भर की भिन्नताओं का एक विलक्षण मेल दिखाई देता है। जन्मगत सस्कार से वह बडा व्यवहार-कुशल बनिया है। सूत के कच्चे धागे को भी वह सुरक्षित रख छोड़ता है। शिक्षा से वह तर्कशील बैरिस्टर है। बुद्धिमान् विपक्षियो को वह अपने तर्क से ही मात करता है। स्वभाव से वह अहिंसात्मक सत्याग्रही है। पेशे से वह लोक-सेवक पत्र-सपादक है। परस्पर व्यवहार में नम्र और सरल, पर अपने सिद्धान्त की शान में बडा टेढा भी है। दृष्टिकोण से वह शान्ति का प्रेमी और प्रचारक है। फिर भी अपने कर्मों से वह बडे से बडा क्रातिकारी है। जन्म लेते ही उसने सोने के कडे पहने। परन्तु जीवन में उसके हाथो पर लोहे की हथकडियाँ ही नजर आई। अपनी कर्मण्यता में वह पुरुष है, पर हृदय की सुकुमारता में वह स्त्रियो को भी मात करता है। उसकी वाग्धारा रोनेवालो को हँसा देती है और हँसनेवालो को रुलाकर छोडती है। कोढी के गदे और दुर्गन्ध-पूर्ण घाव वह अपने

कपड़ों से ही पोंछता है, पर श्रीमानों के सुगन्ध-सने शानदार वस्त्रों से उसे दुर्गन्ध आती है। धन-कुबेरों के राजमहलों में बैठकर भी वह अपने टीन के तसले में ही भोजन करता है। एक तरफ बच्चों से विनोद करते हुए भी वह दूसरी ओर फिर कर गहन राजनीति की चर्चा कर सकता है। गंभीर चिन्ता में व्यस्त होकर भी वह खिलखिला कर हँसने का आदी है। उसे स्वयं कोई विषाद नहीं, फिर भी दरिद्र जनता के सन्ताप ने उसका हृदय दिन-रात आँसू बहाता है। वह स्वयं जीवन्मुक्त है, पर लोकसेवा के कर्मपाश में वह स्वयं ही ऐसा आबद्ध है कि उसके लिए टस से मस होना भी कठिन है, उसे पल भर भी फुर्सत नहीं। उसके विरोधी उनसे लड़ने जाते हैं, पर उसके सौजन्य से परास्त होकर वापस लौट आते हैं। उनका जीवन संग्राममय है, फिर भी वह बात की बात में स्वस्थ और सरल बच्चे के समान सो जाता है।

बुद्धि-वैभव

यह बुद्धिवाद का जमाना है। न जाने कितने महात्मा भारतवर्ष में ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अब भी विद्यमान हैं। हिन्दुस्थान तो प्रारम्भ ही से साधु-महात्माओं का कर्तव्य-स्थल रहा आया है। हिन्दू-जाति की सभ्यता के इतिहास में जितने अधिक जीवन-मुक्त साधु पुरुष हुए, उतने अन्यत्र कहीं न मिलेंगे। गांधी जी तो अभी अपने को सत्य-शोधक ही समझते हैं। पर हाल ही में परमहंस देव स्वामी रामकृष्ण, स्वामी-विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ-सरीखे जीवन-मुक्त महात्मा भारत में हो गये। परमहंस देव समर्थ थे, संक्षिप्त किस्से-कहानियों के रूप में गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण वे बड़ी सफलतापूर्वक किया करते थे। परन्तु संसार को अपना अमर सन्देश सुनाने के लिए उन्हें एक तर्क-पटु सतोगुणी और वर्तमान विज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से धर्म की मीमांसा कर सकनेवाले बुद्धिमान् शिष्य की आवश्यकता हुई। न स्वामी विवेकानन्द होते, न रामकृष्ण मिशन अमरीका पहुँचता और न

वहाँ वेदान्त और गीता की इतनी चर्चा होती। कहने का अभिप्राय यह कि वर्तमान तर्कशील शताब्दी में वैज्ञानिक बुद्धि का आधार लेकर ही कोई पैगम्बर पनप सकता है।

इसी कारण इन पक्तियो का लेखक महात्मा जी के आध्यात्मिक विकास को यथोचित आदर देते हुए भी उसे उनकी विशेषताओ मे गौण मानता है। गाधी जी की विशेषता इस बात मे नही कि वे महात्मा है, परन्तु इस बात मे है कि उनमे आत्मबल के साथ वैज्ञानिक बुद्धि और विचार-सरणी का विलक्षण मेल है। यदि ऐसा न होता तो उन्हे देशबन्धुदास, विट्ठल भाई पटेल तथा पडित मोतीलाल नेहरू-सरीखे तर्कशील विद्वान् मुरीद मिलते ही नही। गाधी जी महात्मा तो है, पर साथ-साथ वे बडे हाजिरजवाब, तर्कशील और लडाका वैरिस्टर भी है। अपने विपक्षियो के कई प्रश्नो को वे एक ही उत्तर मे लँगडा कर देते है। उनके माकूल, मौजूँ और मुह-तोड जवाबो का यदि कोई सकलन करे, तो वह एक पढने योग्य चीज होगी। किंचित् विनोद के साथ चुटकियाँ लेना तो उनके बायें हाथ का खेल है। गाधी जी पूरे आदर्शवादी पर व्यवहार-कुशल महात्मा है। उनके सानी का प्रत्युत्पन्नमति नेता हमारे देखने मे आज तक नही आया। उनकी हाजिरजवाबी का एक सुन्दर से सुन्दर उदाहरण हमारे हृदय पर अकित हो गया है और उसे प्रसग-वश यहाँ पाठको को सुनाने का लोभ-सवरण हम नही कर सकते।

'राउँड् टेबुल कान्फ्रेंस' से लौटते समय इटली की बात है, किसी क्रिश्चियन योरोपियन स्वाभिमानी ने बडी शान से पूछा, गाधी जी, हिन्दुओ में अपने मृतको को कौवो से नुचवाने की जो प्रथा है, वह बिलकुल असभ्य और निन्दनीय है, आपकी क्या राय है? प्रश्नकर्त्ता अज्ञानी था। उसे जानना चाहिए था कि यह प्रथा केवल पारसी लोगो मे प्रचलित है। उनकी सख्या हिन्दुस्थान मे सबसे कम है और वे हिन्दू नही है। प्रथा के सम्बन्ध मे अपनी राय देने के पहले कोई भी बुद्धिमान् से बुद्धिमान् उत्तर देनेवाला पहले यही कहता कि

मृतको को कौवो से नुचवाना हिन्दू-प्रथा नही, पारसियो की है । परन्तु इस उत्तर मे साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि का यत्किंचित् आभास भी आ जाता। प्रत्युत्पन्नमति गाधी जी इस नाजुक प्रसग को बडी सफाई से पार कर गये। फौरन और सीधा यही उत्तर दिया कि महाशय, मनुष्य अपने मृतको को चाहे खुली हवा में कौवो से नुचवावे, चाहे कब्र मे कीडो से, बात एक ही है । आप इसकी चिन्ता न करे, चिन्ता तो इस बात की कीजिए कि आत्मा की रक्षा किस प्रकार हो सकती है। शानदार प्रश्नकर्ता निरुत्तर हो गया। गाधी जी की ओर वह अपनी बुद्धि के सीमान्त पर लाचार खडा खडा ताक रहा था। गाधी जी चलते बने।

पत्र-प्रतिनिधियो के पूर्व-निश्चित कुटिल और कौशलपूर्ण प्रश्नो का नि सकोच, उपयुक्त और तात्कालिक उत्तर देनेवाला नेता गाधी जी के समान हमारे देखने में दूसरा नही आया। दस-पाँच ढीठ से ढीठ प्रतिनिधियो को दस-पाँच मिनट मे ही एक साथ निपटा देना केवल उन्ही का काम है। प्रश्नकर्ता को बेवकूफ बनाना भी यह बैरिस्टर महात्मा खूब जानता है। इसी कारण उनसे प्रश्न करनेवालो को खूब सतर्क रहना पडता है। उनके समान तर्कशील और सबद्ध व्याख्यान देनेवाले विद्वान् सार्वजनिक सभामचो पर बहुत कम मिलेंगे। अपने 'राउँड् टेबल् कान्फ्रेंस' के व्याख्यानो के सम्बन्ध मे उन्होने कहा था कि वक्त पर ईश्वर जो सुझा देगा, बोल जाऊँगा, उसके लिए कोई खास तैयारी नही की है। परन्तु उनके उन व्याख्यानो को कोई देखे, वे तात्कालिक विचार-शक्ति और साहित्यिक योग्यता के बेजोड उदाहरण है। 'राउँड् टेबल् कान्फ्रेंस' के अँगरेज प्रतिनिधियो को जिस समय उन्होने अपनी स्वभाव-सिद्ध निर्भयता के साथ चुनौती दी और फिर भी सहयोग की आशा और सम्भावना दिखाते हुए यह कहा कि—"There is yet some sand left in the glass" उस समय उन्होंने यह तो सूचित किया कि बोलनेवाला अपने विचारो का स्वामी है, पर साथ-साथ इस बात का परिचय भी दिया कि वह सुन्दर से सुन्दर मुहावरेदार और

मनोहर भाषा भी बोल सकता हूं। गाधी जी एक उच्च कोटि के लेखक है, सक्षिप्त और सुन्दर मे सुन्दर शब्दो में परिणामवाही असर पैदा करना उन्ही का काम है। गाधी जी के बौद्धिक उत्कर्ष का नज्जारा उस समय देखने मे आया, जब वे महात्मा होने के बाद पहले-पहल बाहर निकले। वह उनकी 'राउंड् टेबल् कान्फेंस'वाली यात्रा थी। इस यात्रा में उन्हें भारत के भावुक भक्तो मे नही, कट्टर विदेशी उपहासको से निपटना था। योरप के विपक्षी वातावरण में किसी भी सभा-सोसाइटी के सामने निरुत्तर होकर वे भारत का राष्ट्रीय गौरव नहीं घटा सकते थे। लेकिन यह चूक गाधी जी से कभी नही हुई। कई चूक जाते है। मौके पर बात अच्छे अच्छे विद्वानो को नही सूझती। बाद को तो बुद्धिमान् सभी हो जाते है। वक्त की सूझ गाधी जी में विलक्षण है। सभाषण-चातुरी, बौद्धिक योग्यता और मानसिक समता का दुर्लभ योग महात्मा जी के जीवन में ही मिलता है। 'कस्टम्स आफिसर' के जिन मामूली प्रश्नो पर कवि रवीन्द्र खिझ गये, उस प्रसग का निर्वाह गाधी जी हँसते हुए, चुटकियाँ भरते हुए, माकूल जवाब पलभर में कर देते और अमेरिका के अन्दर अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए दाखिल हो जाते। इसमें सन्देह नही कि न केवल साधुता की दृष्टि से परन्तु बौद्धिक योग्यता की दृष्टि से भी उनके समान दूसरा व्यक्ति राष्ट्रीय महासभा को ऐसा नही मिल सकता था जो हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय अधिकारो तथा आकाक्षाओ को पश्चिमी ससार के सामने ऐसी योग्यतापूर्वक पैरवी कर सकता। इसमें सन्देह नही कि गाधी जी ने अपना प्रतिनिधित्व बडे कमाल के साथ अदा किया है। ख्याल रखने की बात है कि ऐसे वातावरण में जो लोगो के सच्चे प्रतिनिधियो से नहीं, वरन् सरकारी नामजद लोगो की भीड से भरा हुआ था, साम्प्रदायिक झमेले में उन्हे जो नाकामयाबी हुई, उसका उत्तरदायित्व उन पर नहीं डाला जा सकता। उसके लिए जवाबदार मुसलमानो का साम्प्रदायिक आग्रह है। "ब्लैक चेक" दे डालने पर भी वे सफल न हो सके। क्यो होते ? उस चेक में समझदारी के साथ

राष्ट्रीय दृष्टि से आँकड़े भरनेवाले मुसलमान वहाँ बुलाये ही नही गये थे। डा० अन्सारी के लिए महात्मा जी का किया हुआ प्रयत्न विफल गया। सरकारी नामजद मुसलमानो मे समझौता होना असम्भव था; सो हुआ। किसी भी देश मे—इँगलैंड मे भी—ऐसे सौ-पचास आदमी कभी भी मिल सकते है जो बुरे प्रभाव से प्रभावित होकर अपने देश-हित का घात कर सकते है। इसमे किसी महात्मा का भी क्या दोष? यह तो मनुष्य-स्वभाव की क्षुद्रता है और ससार में सभी जगह पाई जाती है और विशेषकर परतत्र देशो में। पूर्णरूप से तो वह उसी दिन मिट सकेगी जिस दिन यह ससार ब्रह्मलोक बन जावेगा। तब तक मानव-स्वभाव की यह नीचता कई महात्माओ को रुधिर के आँसू रुलावेगी।

गाधी जी का व्यवहार अत्यन्त नम्रतापूर्ण होता है, फिर भी उनके व्यक्तित्व की एक धाक है। उसका सामना करना बहुत मुश्किल है, बहुत पक्की जमीन पर खड़ा होना पड़ता है, नही तो विरोधी के पैर फौरन उखड़ जाते है। आचरण-बल का सामना करना केवल बुद्धिबल का काम नही। यही कारण है कि चर्चिल महोदय गाधी जी की कार्रवाइयो में दिलचस्पी लेते हुए भी लन्दन में उनसे न मिल सके। योरप ने उन्हें पग-पग मे कौतूहल की निगाह से देखा। लन्दन की सड़को पर दिसम्बर की शीत में उन्हें खुले पैर चलते देखकर आमतौर पर अँगरेज नर-नारियो को आश्चर्य हुआ था। परन्तु उनकी खुली हुई बुद्धि और मुक्त हृदय का जौहर चर्चिल कोटि के ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने ही देखा। उनके घर ही में बैठकर उन्ही को खरी-खोटी साफ-साफ बातें सुनानेवाले पहले मेहमान महात्मा जी ही निकले। अँगरेज लोग हिन्दुस्थानी प्रतिनिधियो से इतनी खरी और स्पष्ट बातें सुनने के अभ्यासी नही थे। महात्मा जी की सत्य-समर्थित दलीलो को सुनकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की अन्तरात्मा सकुचित हो रही थी। उन्हे कदाचित् खबर ही नही थी कि गाधी को चाहे दस बार आसानी से

जेल भेज सकते है, पर उसका सामना करना बडी हिम्मत का काम है। गाधी जी को निमन्त्रण देकर जो उन्होने अपनी दृष्टि से भूल की थी, उसका ज्ञान उन्हें हो गया। वेल्स के जादूगर, योरप के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लॉयडजार्ज ने प्रकट रूप से और सत्ताधारी अनुदार दलवालो ने गुप्त रूप से मन ही मन इस बात को स्वीकार किया कि गाधी सिर्फ महात्मा ही नही, बडा चतुर राजनीतिज्ञ भी है। इस बात की चर्चा हमने 'राउँड् टेवल् कान्फ्रेंस्'वाले अध्याय में की है।

गाधी जी का शरीर तो बहुत छोटा है, पर उनकी अन्तरात्मा इतनी ऊँची है कि उसकी छाया जाकर पेशावर में पडी हुई है। सीमाप्रान्त के कलहशील खूख्वार और शस्त्रधारी अफरीदियो में शान्तिपूर्वक गोलियाँ सह लेने की अहिंसात्मक भावना का बात की बात मे जाग्रत् होना ससार की महान् से महान् आश्चर्य-जनक घटनाओ मे से एक है। गफ्फार गांधी की पेशावरी प्रतिध्वनि है। उसने 'सीमा-प्रान्त से भय' वाली आतकवादी नीति का खोखलापन खोलकर दिखा दिया। इसी कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के लिए गफ्फार गाधी से भी अधिक खौफनाक है। गाधी गुजरात को लौट सकता है, पर गफ्फार का पेशावर पहुँचना सत्ताधारियो को बिलकुल मजूर नही है। इसमें सन्देह नही कि खूख्वार अफरीदियो के बीच गफ्फार महात्मा गाधी का पैदा किया हुआ एक 'बडर' है। स्वभाव से सरल और साधु, राष्ट्रीयता का सच्चा प्रेमी और निर्भय मुसलमान हमें यह पेशावरी गाधी ही नजर आया। महापुरुषो मे रचनात्मक शक्ति कितनी अधिक होती है—इस बात का परिचय हमे गाधी जी के इस पेशावरी सस्करण से मिलता है।

'गुरुदेव'

गाधी जी यथार्थ में अपने गुरु स्वय आप ही है। फिर भी वे गोखले को अपना राजनैतिक गुरु मानते आये है। यह एक विचित्र सम्बन्ध है, क्योकि यह बात समझ में नही आती कि गाधी जी ने गोखले

मे किस वात की दीक्षा ली है। माननीय गोखले के लिए स्वर्ग में भी यह एक सौभाग्य की वात होगी कि गाधी जी के समान शिष्य उन्हें अनायास मिल गया। पर मालूम नही कि वे अपने प्यारे शिष्य के अमली असहयोग को किस दृष्टि से देखते होगे।

गाधी जी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी 'गुरुदेव' शब्द से सम्बोधित करते है। यहाँ भी गुरु-शिष्य का रिश्ता प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत नही होता। एक एकान्त-सेवी कवि है, दूसरे व्यवहार-कुशल सार्वजनिक नेता है। एक पक्षियो के प्रात कालीन मधुर कलरव को सुनकर काव्यानन्द मे मस्त हो जाता है, दूसरे को उन चिडियो की आवाज सुनकर इस वात की चिन्ता हो आती है कि उन्हे रात को भोजन मिला या नही। गाधी जी का ऐसा कोई भी सार्वजनिक कार्यक्रम नही जिसे कवि रवीन्द्र ने खुले दिल से स्वीकार किया हो। अपने "लेटर्स फ्रॉम एब्राड्" मे उन्होने असहयोग के कार्यक्रम का जी खोलकर खण्डन किया है। विचारो की इस विषमता के कारण महात्मा गाधी और कवि रवीन्द्र के वोच किसी तरह का दृढ नाता जोडना जरा कठिन मालूम होता है। फिर भी गाधी जी तो उन्हे अपना गुरुदेव मानते ही हैं। हमें भी कुछ ऐसा ही समझ लेना चाहिए। जिस मनुष्य के हृदय में मिथ्याभिमान की वू-वास भी न हो और जो सत्य की तलाश मे एकनिष्ठ होकर मानवोचित सद्गुणो का अनन्य प्रेमी वन गया हो, वह जडभरत के समान आत्म-विकास की एकान्त इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य की तो वात ही क्या, पशु-पक्षियो में भी गुरुत्व का आरोप कर सकता है।

चिंतन और विनोद

गाधी जी मे दैहिक दर्शनीयता कुछ भी नही है। उनमें जो कुछ है, वह उनका नैतिक व्यक्तित्व ही है। विदेशो से जो लोग उनके दर्शनार्थ आते है, वे पहले-पहल उनके रग-रूप और वेष-भूषा को देखकर विस्मित हो जाते हैं। परन्तु ज्यो ही उनके समीप वैठकर वे विदेशी अभ्यागत किसी

।व ध का चचा छेडते है और महात्मा जी के मुँह से उनके निश्चित विचार नपे-तुले शब्दो के द्वारा धारावाही रूप में निकलने लगते हैं, त्यो ही इस चतुर वक्ता के बुद्धि-कौशल का जौहर खुलने लगता है। सिर्फ आध घटे की मुलाकात मे गाधी जी की बौद्धिक तथा नैतिक क्षमता आगन्तुक की आँखो के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। वह फिर उनके लघु शरीर की ओर लक्ष्य करना भूल जाता है। स्वभाव की सरलता, शिष्टाचार-पटुता, सभाषण-चातुरी, भाषा-सौष्ठव, निर्भयता तथा विचार-गाम्भीर्य को देख-सुनकर विदेशी अभ्यागत का हृदय इस बात को फौरन स्वीकार कर लेता है कि गाधी यथार्थ में एक महापुरुष है। ससार में अनेक विद्वान् ऐसे भी होते है जिनके साथ घटो सभाषण करने के बाद भी इस बात का पता नही चलता कि हम किसी सुयोग्य व्यक्ति से बातें कर रहे है। इसका कारण यह नहीं होता कि ऐसे लोग अपनी योग्यता को छिपाने का प्रयत्न करते है। उनकी विद्वता उनके सभाषण मे थोडे समय के अन्दर प्रकट ही नही होती। विशिष्ट रूप में विशेष प्रसगो पर किसी विशेष कारण की प्रेरणा पाकर ही वे अपनी योग्यता का प्रदर्शन कर सकते है। परन्तु योग्य व्यक्तियो में कुछ थोडे-से लोग ऐसे भी होते हैं कि जिनकी बात बात में उनकी आन्तरिक प्रतिभा बोलती है। गाधी जी इसी कोटि के विद्वानो के शिरोमणि है। उनकी हर बात में किसी न किसी तरह की विशेषता पाई जाती है। हर जवाब में उनकी सत्य-निष्ठा प्रकट होती है। मानव-जीवन के उत्कर्ष से सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा कोई विषय नही, जिस पर गाधी जी अधिकारपूर्वक बात न कर सकते हो। क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या अर्थ-शास्त्र, क्या समाज-शास्त्र, क्या तत्वज्ञान, क्या अन्तर्जातीय समस्या, सभी क्षेत्रो में उनकी निर्बाध गति एक समान दिखाई देती है। उनसे प्रश्न करनेवाले को किसी भी बात की कैद नही; चाहे जिस विषय पर प्रश्न कर सकता है। प्रश्न हुआ और फौरन से पेश्तर ही गाधी जी के मुँह से उत्तर निकला। सुननेवालो को प्रतीत होता है कि महात्मा जी के मस्तिष्क में बने बनाये

उत्तर पहले ही से मौजूद रहते है। लेकिन आदमी का दिमाग कोई 'ह्वाइट् अवे लेडला' कम्पनी की दूकान नहीं है जहाँ बनी-बनाई चीजें सिलसिलेवार सजी हुई रखी हो। प्रश्न और उत्तर के दर्म्यान में जो मानसिक क्रियाये होती है, वे बडी सूक्ष्म और तात्कालिक होती है। अनेक प्रश्नो का रूप ऐसा होता है कि पूर्व निश्चित उत्तरो से उनका समाधान नही हो सकता। बुद्धि को उसी क्षण नया उत्तर नई भाषा में गढना पडता है। मनुष्य की मेधा यदि ठीक समय पर ठीक उत्तर देने में सक्षम न हो, तो विद्वान् से विद्वान् मनुष्य को भी निरुत्तर होकर लज्जित होना पडता है। ऐसी तात्कालिक बुद्धि बहुत विरली होती है। वह अच्छे से अच्छे विद्वानो मे भी नही पाई जाती। महात्मा जी की मेधा-शक्ति अपनी तात्कालिकता में बडी निपुण है, वह कुठित होकर कभी धोखा देना जानती ही नहीं। यथोचित उत्तर के अभाव में गाधी जी को गम्भीर और ग्रस्त मुद्रा धारण करते हुए आज तक शायद ही किसी ने देखा हो। उनकी बुद्धि सर्वतोमुखी है। वह हर विषय में हर तरह से चक्कर काट सकती है। तभी तो वे अच्छे अच्छे चतुर प्रश्न करनेवालों को एक-दो शब्दो मे ही शान्त कर देते है। सभाषण में विनोद करने का मौका आया तो मजाक उडाने मे वे कभी नहीं चूकते। हमेशा गम्भीर मुद्रा से बातचीत करनेवाला सुननेवालो को प्रियकर नही होता। गाधी जी ऐसे महामहोपदेशको में से नही है। वे समय समय पर चुटकियाँ लेना, हँसी-मजाक करना भी खूब जानते है। अपने मित्रो से तो खूब खुलकर बातें किया करते है। सुनते है कि एक बार नाक के फोडे पर नश्तर चलवाने के बाद सरदार पटेल गाधी जी से जिस समय पहले-पहल मिले, तो गाधी जी ने उनकी पीठ पर प्रेम की थाप मारते हुए कहा, क्यो भई, नाक कटा आये! सुननेवाले मजाक के कहकहे लगाने लगे।

यथार्थ में शुद्ध सतोगुणी विनोद-भाव जीवन की सफलता के लिए एक आवश्यक गुण है। जो मनुष्य सृष्टि की उलझी हुई महान् समस्याओ में व्यस्त रहता हुआ लम्बा-सा मुँह बनाये गम्भीर बैठा रहता

है, उसको लोग दूर ही से प्रणाम कर लेते हैं। ऐसा महात्मा भी जन-समाज में घुलमिल नहीं सकता। लोगों के हृदयों में ऐसे आदमी की पैठ हो नहीं हो सकती, क्योंकि उसके सामने अपने हृदय की बात कोई खोलता ही नहीं। मनुष्य महान् तो हो, पर उसमें जन-समाज को खींचने की आकर्षण-शक्ति भी हो। तभी वह सच्चा लोकनेता बन सकता है। सार्वजनिक नेता ऐसे हों, जिनके पास छोटे से छोटे आदमी की भी पहुँच हो सके और वे सभी प्रकार के लोगों को अपने पास खींच सकें। आकर्षण में ही तो नेतृत्व का रहस्य है। महात्मा जी ऐसे ही आकर्षणशील नेता हैं। बच्चे भी उनकी ओर वृद्धों के समान खिंच आते हैं। स्वयं गांधी जी को भी बच्चों से खेलना बहुत पसन्द है। वे अपने आश्रम में प्रतिदिन बालक-बालिकाओं से निश्चित समय पर मिला करते हैं और उनसे विनोद करते हुए उन्हें उपदेश दिया करते हैं। उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि यदि मुझमें विनोद-प्रियता (Sense of humour) न होती, तो मेरे लिए जीना मुश्किल हो जाता। बात बिल्कुल सच है। चिन्ताओं की कोई सीमा नहीं। उन्हीं के बीच हँस लेने का प्रकार जो निकाल सकता है, वही मनुष्य इस जीवन-भार को हँसते-हँसते झेल सकता है। गांधी जी का भार कितना दुर्वह है, इसका अनुमान केवल वे लोग ही कर सकते हैं, जिन्हें ईश्वर ने अच्छी से अच्छी कल्पना-शक्ति प्रदान की है। देश की शायद ही ऐसी कोई सार्वजनिक संस्था हो, जो अपना दुखड़ा रोने के लिए महात्मा जी के पास न जाती हो। मिल-मालिकों से मजदूर तक अपनी कठिनाइयों को हल करने के लिए उन्हीं के पास दौड़े जाते हैं। तरह तरह के स्वार्थी तथा परमार्थी उन्हें दिन-रात इर्द-गिर्द घेरे रहते हैं। ऐसे सभी लोगों का समाधान उन्हें करना पड़ता है। फिर कोरे दर्शनार्थियों की भी कोई कमी नहीं। वे बस दर्शन से अपना उल्लू सीधा कर ही लेते हैं। संसार भर की खत-कितावत भी उन्हें साथ-साथ करनी पड़ती है। जिसके मन में जो शंका उपस्थित हुई, गांधी जी के पास लम्बे-चौड़े

चिट्ठो मे लिख भेजता है। इस विचार-विनिमय के जमाने में जो आदमी दुनिया भर मे मशहूर हो और जो बडा बुद्धिमान् लोक-नायक माना जाता हो, उससे बातचीत करने की इच्छा किसे न होगी? इस प्रकार दुनिया भर का पत्र-व्यवहार, प्राय हमेशा का दौरा, देश की राजनैतिक उलझने, खलनेवाली साम्प्रदायिक समस्या, भारतीय जनता की बढती हुई दरिद्रता, शिक्षितो की राष्ट्रीय अनास्था, यहाँ की आग और वहाँ का भूकम्प, न जाने कितनी चिन्तायें गाधी जी के हृदय और मन को घेरे रहती है। फिर भी वे अपने करुणामय जीवन के बीच में हँसने-हँसाने के लिए समय निकाल लेते है। जो मनुष्य हँसते-हँसाते अपनी कठिनाइयो को पार कर जाता है, वही तो महापुरुष है। जो अज्ञानी है, वही रोता है, वही खिन्न रहता है। यथार्थ में जीवन आनन्दमय है, केवल दृष्टिकोण चाहिए। इस पहलू से ससार को जो देख सकता है, वही महात्मा है। स्वामी विवेकानन्द को कई बार बच्चो से तथा इतर लोगो से हँसी-मजाक करते और खुलकर हँसते देखकर एक पादरी ने उनसे किसी समय कहा था—'स्वामी जी, आप तो बडे तत्त्वज्ञानी और गम्भीर वेदान्ती है, आप इस तरह साधारण लोगो के समान हँसी-मज़ाक की बातचीत क्यो किया करते है?' स्वामी जी तुरन्त बोल उठे, "क्यो भाई, हम हमेशा चिन्तित और उदासीन क्यो रहें? मनहूसी तो मानसिक पतन का बाहरी लक्षण है। हम तो सब आनन्दमय पिता के पुत्र है। हर जगह, हर हालत मे आनन्द है, शादी है; फिर क्यो न खुश रहें, क्यो न हँसें?" पादरी महोदय इस गम्भीर उत्तर को सुनकर चुप रह गये।

साराश यह कि महापुरुष सबसे अधिक चिन्ता-भार से लदकर भी खुश रहते है। यही उनकी विशेषता है। ससार का साधारण आदमी केवल अपनी स्वार्थ-चिन्ता से ही इतना दब जाता है कि उसके माथे की सिकुडन कभी सीधी नही होती, हास्य की एक फीकी-सी रेखा भी ओठो पर कभी नही झलकती। पर जो लोग महापुरुष कहलाते है,

और उपसहार दोनो कला की दृष्टि से वडे उपयुक्त और परिणामवाही होते है। भापा का उपयोग वे उतना ही करते है जितनी आवश्यकता उन्हे विचारो को पूर्णरूप से प्रकट करने के लिए होती है। एक भी अनावश्यक शब्द उनके लेखो में ढूंढने से भी न मिलेगा। खासकर विशेपणों का उपयोग वे वहुत सोच-समझकर किया करते हैं। दूसरो के पास के आये हुए पत्रो का सक्षिप्त साराश निकालना और नपे-तुले शब्दो में उपयुक्त उत्तर देना उन्ही का काम है। यद्यपि पढनेवालो को यह प्रतीत नही होता कि वे अपनी भापा को साहित्यिक सौन्दर्य देने के लिए विशेष प्रयत्नशील रहते है, तथापि कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ इस वात को स्वीकार करेगा कि गाधी जी भापा-सौष्ठव के शौकीन जरूर है। लेखन की धारावाही क्रिया में जो मुहावरे अथवा अलकार उन्हे अनायास सूझ जाते है उनका उपयोग करने मे वे नही चूकते। उनकी शारीरिक पोशाक तो विलकुल आडम्वर-शून्य होती है, खुले वदन एक पचा पहनकर ही अपना वहुत-सा समय वे निकाल लेते है। परन्तु उनकी भापा वैसी अलकारहीन और अर्धनग्न नही होती। वह एक उच्च कुल की सम्भ्रान्त गुजराती महिला के समान सादगी के साथ भी सजी रहती है। कहना न होगा कि यह सारी विशेपता उनकी अँगरेजी भाषा-सम्वन्धी है। इन पक्तियो के लेखक को गुजराती का ज्ञान नही है, अतएव वह इस वात पर विचार करने का अधिकारी नही है कि गाधी जी की गुजराती कैसी होती है। हरिभाऊ जी उपाध्याय ने उनकी आत्म-कथा मे अनुवादक की ओर से अपना जो वक्तव्य दिया है, उसमें वे इस वात को तसदीक करते हैं कि "महात्मा जी वडे थोडे मे और वहुत खूवी से अपने हृदय के गूढ भावो को व्यक्त कर देते है। उनका अनुवाद करना कई वार कठिन हो जाता है। भाव को विशद करने जाते है तो भापा-सौन्दर्य नही निभ पाता और भापा-सौन्दर्य पर ध्यान देते है तो भाव में गडवडी पडने लगती है।" गुजराती के मर्मज्ञ एक विद्वान् लेखक की यह सम्मति सर्वथा माननीय है। यही विशेषता गाधी जी की अँगरेजी भापा में भी पाई जाती है॥

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी अँगरेजी भाषा-शैली की ओर कई अच्छे अच्छे अँगरेज लेखक भी ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से देखते होंगे। कम से कम हिन्दुस्थान के अँगरेजी पत्र-सपादकों में हमें गाधी जी की जोड का दूसरा लेखक नजर नहीं आया। अलबत्ता महादेव जी देसाई बहुत कुछ उनके समान लिख सके हैं और कई प्रसगों पर यह समझना मुश्किल हो जाता है कि मूल-लेखक गाधी जी हैं अथवा देसाई जी। महात्मा जी के जेल चले जाने के बाद 'यग इडिया' का सपादन-भार कुछ काल तक श्रीयुत राजगोपालाचार्य पर आ पडा था। उन्होंने भी इस पत्र की साहित्यिक योग्यता बहुत कुछ सुरक्षित रक्खी थी। पर अब कुरेशी के हाथों पडकर तो 'यग इडिया' कुछ का कुछ हो गया, उसका हुलिया ही बदल गई।

गाधी जी के जीवन का खासा अच्छा समय पत्र-सपादन तथा लेखन-कार्य मे व्यतीत हुआ है। वर्तमान सार्वजनिक जीवन के लेखन तथा व्याख्यान दो ही तो प्रधान साधन हैं। पहले-पहल दक्षिण-आफ्रिका में उन्होंने 'इडियन ओपिनियन' का सपादन किया। बाद को वह पत्र 'फिनिक्स सेटलमेंट' से निकलने लगा। इस स्थान में 'इडियन ओपिनियन' के प्रथम अक को समय पर निकालने में आश्रम-वासियों को कितनी दिक्कत हुई तथा मशीन के बिगड जाने से किस तरह उन्हें रात भर जागरण करना पडा, इस बात की चर्चा गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में की है। इसके पढनेवालों को अनायास प्रतीत होगा कि एक पत्रकार की हैसियत से समय की पाबन्दी को गाधी जी कितना अधिक महत्त्व देते थे। हिन्दुस्थान को लौट आने के बाद यहाँ पर उन्होंने तीन साप्ताहिक पत्रों को जन्म दिया, अँगरेजी में 'यग इडिया' और हिन्दी तथा गुजराती मे 'नवजीवन'। इस समय तो परिस्थिति की प्रेरणा से ये तीनो पत्र बन्द हो चुके हैं। परन्तु उनकी भाषा-शैली तथा विचारों की गूँज अभी भी मर्मज्ञों के हृदय में शेष है। विज्ञापनबाजी के दूषण से मुक्त, सनिष्प, सात्त्विक और स्वाधीन विचार तथा भाव-ध्वनि से सम्पूर्ण साप्ताहिक

पत्र वैसे फिर देखने में नहीं आये। उनकी कमी गांधीवाद के प्रेमियों को बहुत खल रही है। 'यंग इंडिया' के अधिकांश अग्रलेखों का संकलन प्रकाशित हो चुका है। पर हमें नहीं मालूम कि नवजीवन के गुजराती तथा हिन्दी-लेखों का संग्रह अभी तक निकला या नहीं। यदि नहीं तो किसी प्रकाशक को यह काम फौरन हाथ में लेना चाहिए। गांधी जी के विचार तथा लेख संसार-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है, यदि वे अलक्षित रूप से अन्धकार में पड़ी रहे, तो उनसे हमारी बुद्धि-हीनता का ही परिचय मिलेगा। उनकी प्रेरणा से निकलनेवाला 'हरिजन' अब भी अंगरेजी-पाठकों को 'यंग इंडिया' का कुछ आभास दे जाता है।

समाज-सुधारक

महात्मा जी बड़े मनर्स और सावधान समाज-सुधारक है। वर्तमान युग के भारतवर्ष में दो बड़े बड़े प्रख्यात समाज-सुधारक हो गये। पहले राजा राममोहन राय और दूसरे महर्षि दयानन्द सरस्वती। इन दोनों ने प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को छिन्न-मूल करने की कोशिश की। एक ने ब्रह्म-समाज को जन्म दिया और दूसरे ने आर्य-समाज की रचना की। दोनों 'जात-पांत तोड़क' समाज है। दोनों ने हिन्दू-महिलाओं को विधवा-विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया। दोनों मूर्ति-पूजा के बड़े जबरदस्त विरोधी निकले। एक ने शून्य भवन में क्रिश्चियन शैली पर सामूहिक प्रार्थना को अपने समाज में स्थान दिया, दूसरे ने यज्ञ-याग की प्राचीन वैदिक विधि स्वीकार की। उपर्युक्त तीनों तरह के सुधार हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के मुख्य मुख्य स्तम्भों को हिलानेवाले है। इन परिवर्तनों को अधिकांश हिन्दू-समाज ने स्वीकार नहीं किया और वह आज भी अपनी प्राचीन बुनियाद पर स्थिर है। निकट भविष्य में इस बात के आसार भी नजर नहीं आते कि उपर्युक्त सुधारकद्वय के मतव्यों को हिन्दू-समाज स्वीकार कर सकेगा।

महात्मा जी ने इन तीनों प्रकार के सुधारों में से किसी एक को भी

हाथ नही लगाया। वे अपने को 'सनातनी हिन्दू' कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें वर्णाश्रम-व्यवस्था को छिन्नमूल करना मजूर नही है। आज तक उन्होंने ऐसी कोई भी बात सार्वजनिक सभामच से नही कही जो हिन्दुओ की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के प्रतिकूल हो । फिर भी वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के इस युग को देखकर भिन्न-भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषो का पारस्परिक परिणय-सम्बन्ध बर्दाश्त कर लेते हैं। अभी हाल ही मे उन्होने अपने पुत्र देवदास को एक ब्राह्मण-कन्या (श्रीयुत राजगोपालाचार्य की पुत्री) से विवाह-सम्बन्ध करने की अनुमति दी है। वैश्य-पुत्र और ब्राह्मण-कन्या का यह परिणय-बन्धन प्रतिलोम विवाह का एक नमूना है। सुनने में आया है कि जब गाधी जी को इन दोनो के प्रेम-सम्बन्ध की सूचना मिली और कन्या के पिता को इस सम्बन्ध के लिए तैयार देखा तो दोनो लडके-लडकियो की पारस्परिक प्रेम-निष्ठा की परीक्षा करने के लिए उन्होंने बहुत-सा समय लिया। तत्पश्चात् बहुत सोच-विचार कर उन्होने इस सम्बन्ध को अपना आशीर्वाद दिया। इस कौटुम्बिक विषय की चर्चा करते हुए अथवा उसके समर्थन में कुछ कहते हुए हमने महात्मा जी को कभी नही सुना। फिर भी उन्होने इस प्रतिलोम सम्बन्ध के लिए जो स्वीकृति दी उसमें वर्तमान व्यक्तिवाद की छाया दृष्टिगत होती है। स्त्री-पुरुष का हार्दिक प्रेम-बन्धन ही सच्चा परिणय-सम्बन्ध है। उसके अभाव में स्त्री-पुरुषो का केवल शारीरिक पाणिग्रहण विगत-प्राण शरीर-सम्बन्ध ही के समान है। ऐसा निर्जीव विवाह-बन्धन स्त्री-पुरुष के आत्म-विकास का सहायक तो होता ही नहीं, प्रत्युत दोनो के जीवन को अधिकाश मे विफल बना देता है। अतएव जहाँ भिन्न-भिन्न दो वर्णो के स्त्री-पुरुषो में पारस्परिक प्रेम-भावना का ऐसा उद्रेक हो कि वे प्रकट रूप से जन-समाज के सामने अपना परिणय-प्रस्ताव पेश करते हों और निश्चय तथा दृढता के साथ करते हो तो जन-समाज को उसका विरोध नही करना चाहिए। फिर भी प्रचलित परिपाटी, ऐसी हो कि एक ही वर्ण तथा समाज-सस्कार के स्त्री-पुरुषो में

ही रक्त-सम्बन्ध स्थापित करना उचित और उपादेय माना जावे। ऐसे सम्बन्ध मे उच्छृखलता तथा निरकुशता स्पृहणीय नही है। स्वय गाधी जी को भी यह मत सर्वथा मान्य है कि लोगो का विवाह-क्षेत्र सीमित होना चाहिए। किसी एक सीमा के अन्दर विवाह नही करना (Endogamous) और किसी दूसरी सीमा के बाहर नही जाना (Exogamous) उन्हें मजूर है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रो का भी यही सिद्धान्त है। प्राणि-शास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह समर्थित है। वर्ण-सकर समाज के लिए हानिकारक है। हमारी सम्मति मे महात्मा जी इस विचार के पूर्ण समर्थक है।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में भी गाधी जी का मत बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। वे बाल-विवाह को अन्यायमूलक समझते है। जब तक विवाह-बन्धन के उत्तरदायित्व का ज्ञान लडके-लडकियो में न हो, तब तक माता-पिता का परम धर्म है कि वे अपनी सतानो का विवाह न करे। ऐसे अन्यायमूलक और अनुचित सम्बन्ध के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार समझदार होने पर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मिलना चाहिए। अतएव यदि कोई बाल-विधवा बालिग होने पर पुनर्विवाह करना चाहे, तो वह सर्वथा मान्य है। इस अश तक महात्मा जी को विधवा-विवाह स्वीकार है। परन्तु उन विधवाओ के सम्बन्ध में जिन्होने गृहस्थी का जीवन न्यूनाधिक अश में व्यतीत कर लिया है, महात्मा जी विधवा-विवाह के पक्षपाती प्रतीत नही होते। ऐसे वैधव्य को तो वे स्त्री-पुरुषो के लिए जीवन का शृगार समझते है। ऐसे जीवन से लोगो को इस बात का परिचय मिलता है कि वे वासनाओ से कहाँ तक आवद्ध है और उनसे छूटने के क्या उपाय है। इस दृष्टि से यदि वैधव्य जीवन का सदुपयोग हो सके, तो सचमुच वह मानव-जीवन का शृगार ही है। लोक-सेवा का कार्यक्रम लेकर यह जीवन बहुत सफलतापूर्वक व्यतीत किया जा सकता है। पर जहाँ इसका पालन असम्भव हो, वहाँ किसी न किसी सामाजिक व्यवस्था की दरकार स्पष्ट है। वासन्तीदेवी से समवेदना

प्रकट करते हुए गांधी जी ने वैष्णव धर्म-सम्बन्धी अपने जो विचार प्रगट किये है, वे पढ़ने योग्य हैं और वे इस बात को सिद्ध करते हैं कि उन्होंने इस विषय को विशुद्ध आत्म-ज्ञान की दृष्टि से देखा है और इसी कारण वे वर्तमान हिन्दू-व्यवस्था के रक्षक हैं। सहृदय पाठक हमें यह कहने के लिए क्षमा करेंगे कि गांधी जी की यह सामाजिक अन्तर्दृष्टि न तो राजा राममोहन राय में थी, न स्वामी दयानन्द में।

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में तो गांधी जी का मत इन्हीं के समान स्पष्ट है। हरिजनों के लिए मन्दिर-प्रवेशाधिकार मांगकर वे अपनी अनन्य-सिद्ध वैष्णव-निष्ठा का ही परिचय दे रहे हैं। सब पूजा करते भी जो लोग अपने को मूर्तिपूजा के विरोधी बतलाते हैं, वे नहीं समझते कि स्वयं वे क्या कह रहे हैं। मूर्तिपूजा (Idolatry) का वैज्ञानिक आशय ही वे नहीं समझते। निराकार परमात्मा के लिए किसी भी तरह का साकार अवलम्ब लेना ही मूर्तिपूजा है। संसार में ऐसा कोई धर्म ही नहीं जो ईश्वरोपासना के लिए किसी न किसी प्रकार का भौतिक अवलम्ब न लेता हो। कहीं वीर-पूजा है, कहीं पत्थर-पूजा है. होना भी चाहिए। हिन्दू-धर्म ने भी रामकृष्ण के समान अवतारी महापुरुषों को तथा शरीरधारी देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र इत्यादि) की ही मूर्तियां स्थापित की हैं। इन्हें वीर-पूजा (Hero-worship) ही समझना चाहिए। आज तक हमने राम, कृष्ण, शिव, महावीर, देवी तथा इतर देवताओं के मन्दिर देखे, परन्तु ईश्वर का मन्दिर हमें एक भी देखने में नहीं आया। अतएव किसी न किसी ढंग से वीर-पूजा तथा मूर्तिपूजा जिस तरह दूसरे मज़हब के लोग किया करते है, उसी तरह हिन्दू भी अपने ढंग से करते है। वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं। बाहरी प्रकार भिन्न-भिन्न है, परन्तु दोनों की आन्तरिक मनःस्थिति समान है। यथार्थ में हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा (Idolatry) प्रस्तर-मूर्ति की पूजा नहीं है; वह विचार-पूजा (Idealatry) है। प्रत्येक देवता किसी न किसी गुण का आदर्श माना जाता है। भावना-जगत्

के इस आदर्श को ही पूजा उन मूर्तियो के द्वारा होती है। जब हम किसी नेता तथा महापुरुष का चित्र अपने कमरे मे रखते है तो उसके द्वारा हम उस अनुपस्थित व्यक्ति के गुण-धर्म तथा स्वभाव का ही स्मरण करते है। गुण-धर्म तथा स्वभाव तीनो निराकार है, अतएव उनके लिए भौतिक आधार का अवलम्ब लेना ही तो मूर्तिपूजा है। इस दृष्टि से वह सर्वथा स्वाभाविक और उचित साधन भी है। स्वामी विवेकानन्द ने मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे अपना विचार एक दूसरे मार्मिक ढग से प्रकट किया था। उन्होने अपने गुरु परमहसदेव की चर्चा करते हुए कहा था कि यदि कोई मनुष्य मूर्तिपूजा का अवलम्ब लेकर ऐसा जीवन्मुक्त महापुरुष हो सकता है तो वह क्या बुरी है? उसमें आध्यात्मिक टोटा ही कहाँ है?

हिन्दू-समाज की दृष्टि मे गाधी जी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधार का काम अपने हाथो मे लिया है और वह है, अत्यजो तथा दलितवर्ग का उद्धार-कार्य। विशुद्ध सामाजिक दृष्टि से उनका मन्दिर-प्रवेशाधिकार ही मुख्य है। उनके उद्धार के शेष कार्यक्रम राष्ट्रीयता तथा नागरिकता से सम्बन्ध रखते है। हम पहले ही कह चुके है कि महात्मा जी का यह कार्य कोई नया नही है, सदियो से यह काम वैष्णव आचार्य करते आये है। गाधी जी भी उसी वैष्णव-धर्म का पालन कर रहे है और वह सर्वथा उचित और वर्तमान परिस्थिति में अत्यन्त आवश्यक भी है। दलितोद्धार के कार्यक्रम को राजा राममोहन राय तथा महर्षि दयानन्द दोनो ने स्वीकार किया था। परन्तु इस विषय मे गाधी जी को जो सफलता मिली है, वह उन दोनो मे से किसी एक को भी न मिली। यथार्थ मे इस कार्यक्रम का सम्बन्ध विचार-परिवर्तन से है। हिन्दू-समाज मे दलितो के सम्बन्ध में जो विचार-क्रान्ति गाधी जी ने पैदा की है, वह सर्वथा अपूर्व है। 'आमरण उपवास' की अमर निष्ठा इस कार्यक्रम को जिला रही है। वह भविष्य में जीवित रहेगी और अपना असर दिखावेगी, इसमें हमें कुछ भी सन्देह नही।

वक्ता-श्रोता

गाधी जी स्वभाव तया सस्कार से बडे मितभाषी है। वे आत्म-कथा मे लिखते है कि मै बचपन में बडा 'झेपू' था। कक्षा के अन्यान्य विद्यार्थियो से वे खुलकर मिलना-जुलना जानते ही न थे। वाचाल और चालाक लडको की प्रकृति मे उनकी तासीर बिलकुल विपरीत थी। उनके स्वभाव का यह 'झेंपूपन' कई मरतबे उनके लिए ढाल का काम कर गया है। ऐसे लोग स्वभावत मितभाषी होते है। उनकी हमेशा यह इच्छा रहती है कि दो-चार शब्द बोलकर किसी से पिड छुडा ले। अदालत की बैरिस्टरी में उन्हें जो पहले-पहल आत्म-विश्वास नही था उसका कारण उनके स्वभाव की यह मितभाषिता ही थी। ऐसे आदमी के लिए सार्वजनिक सभामच पर सफलतापूर्वक बोलना असम्भव-सा हो जाता है। 'असम्भव-सा' हम इसलिए कहते है कि गाधी जी ने उसे पूर्णरूप से सम्भव बना लिया है। लोकसेवा के मार्ग में उन्हे हमेशा बोलने के तथा विवाद करने के प्रसग एक के बाद एक जबरदस्ती आते ही गये। इस जबरदस्ती की शिक्षा (Compulsory education) से गाधी जी वक्तृता के स्कूल मे शिक्षित हुए है। उनकी व्याख्यान-शैली बाह्य कला की दृष्टि से बिलकुल विशेषता-शून्य होती है। उनकी वक्तृता में दो सर्वोपरि विशेषतायें पाई जाती है, आडम्बरशून्य सादगी और आत्म-विश्वास। पहली उसका बाहरी रूप है और दूसरी उसे उत्प्रा-णित करनेवाली आत्मा है। गाधी जी के व्याख्यानो में न तो भाषा बोलती, न शैली ही कुछ बोलती, एक मात्र आचरण-बल ही बोलता है और खूब बोलता है। उनके कला-शून्य सीधे-साधे व्याख्यानो को पचास हजार आदमी घटो तक एक समान शान्ति का समा बाँधे हुए सुना करते है। यह सार्वजनिक शान्ति अच्छे अच्छे वक्ताओ को भी दुर्लभ होती है। गाधी जी के सभामच पर आते ही एकदम शान्ति का सन्नाटा छा जाता है और अन्त मे व्याख्यान-समाप्ति के बाद ही 'महात्मा गाधी की जै' के साथ उसका भग होता है।

सादगी और आचरण-बल के अतिरिक्त महात्मा जी के व्याख्यान बडे सारगर्भित और तर्क-सिद्ध रहते है। एक ही विषय पर अनेक बार बोलते हुए भी वे अपने वक्तव्यो में दिलचस्पी पैदा कर सकते है। उनकी विचार-प्रदर्शन-शैली हमेशा किसी न किसी अश मे मौलिक हुआ करती है। इस एक बात से ही गाधी जी के बुद्धि-वैभव का परिचय मिल सकता है। अब तो कई विषयो पर उनके विचार इतने परिमार्जित और स्पष्ट हो चुके है कि उन्हे बोलने के पहले कोई तैयारी नही करनी पडती। यहाँ तक कि 'राउँड् टेबल् कान्फ्रेंस' मे उन्होने जो भाषण दिये, वे भी तात्कालिक ही थे। फिर भी वे विचार-सम्बद्धता और भाषाधिकार के सर्वोत्तम उदाहरण है। क्या अँगरेज़ी मे, क्या हिन्दी में और क्या गुजराती में, वे एक समान अविच्छिन्न धारा-प्रवाह से अपने विचार प्रकट कर सकते है। बोलते समय उन्हें भाव तथा भाषा की कठिनाई बिलकुल प्रतीत नही होती। उनकी आवाज़ में चढाव-उतार भी नही रहता, वे समान स्वर मे सारी बातें कह जाते है। भाव-भगी का प्रदर्शन, बोलते समय ऊपर-नीचे, इधर-उधर देखना तथा हाथो का साकेतिक सचालन करना वे जानते ही नहीं। इसी कारण माइक्रोफोन के सामने जितनी सफलतापूर्वक वे बोल सकते है, उतनी कामयाबी के साथ अच्छे अच्छे वक्ता भी नही बोल सकते। अतएव परिणाम की दृष्टि से यदि गाधी जी की वक्तृत्व-शक्ति पर विचार करें तो हम कह सकते है कि वे बडे सफल वक्ता है। अपने शब्दो की कीमत करना वे जानते है। इसी कारण जन-समाज भी उन्हें श्रद्धापूर्वक सुनता है तथा उन पर विचार और मनन भी करता है।

लोकसेवा के मार्ग मे महात्मा जी को न जाने कितना बोलना पडा है। आज तक दिये हुए उनके सार्वजनिक व्याख्यानो की सख्या यदि कोई लगावे, तो वह एक जानने लायक बात होगी। जब वे दौरे पर रहते है, तब तो नियमित रूप से एक-दो व्याख्यान उन्हें प्रतिदिन देने पडते है। कभी कभी उनका नम्बर पाँच-छ तक पहुँच जाता

है। मुख्य मुख्य स्टेशनो पर जहाँ बडी भीड रहती है और गाडी भी अधिक देर तक ठहरती है, वहाँ उन्हें जो कुछ बोलना पडता है उसका हिसाब ही अलग है। डेरे पर लौटने के बाद कार्यकर्त्ताओ से बातचीत और प्रश्नकर्त्ताओ से जो बक-बक करनी पडती है, उसका भी हिसाब अलग ही रखना होगा। उनके पास जानेवालो में से अधिकाश लोग उनकी बातें सुनने की इच्छा से ही जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि गाधी जी को दिन भर मे इतना अधिक बोलना पडता है कि एक स्वस्थ से स्वस्थ नवयुवक भी इतने अधिक बोलने के बाद शिथिल पड जावेगा। कल्पनाशील पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि सप्ताह मे एक दिन का मौन उनके लिए कितना आवश्यक है। परन्तु इन मौन-दिवसो में भी उन्हे पूरा आराम मिलता है, ऐसा नहीं कह सकते। लिखने-पढने का काम तो वे इन्ही दिनो में किया करते हैं। मस्तिष्क का प्रयास वैसा ही जारी रहता है, बल्कि अधिक कहें तो हर्ज नही, क्योकि जब मनुष्य बोलता नही, सिर्फ सोचता है तो उसकी विचार-क्रिया अधिक गम्भीर और तीव्र भी हो जाती है।

परन्तु महात्मा जी को इतना अधिक सिर्फ लाचारी से बोलना पडता है। यह उनके स्वभाव के बिलकुल विपरीत है। मितभाषी सस्कार की प्रेरणा के कारण अपने जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे वे बोलने में साधारण शिक्षित आदमी से भी अदक्ष थे। विलायत के विद्यार्थी-जीवन में वे पहले-पहल अन्नाहारी मडल के सदस्य हुए। इस मडल की सभी बैठको में वे उपस्थित हुआ करते थे, मगर बोलते कुछ भी न थे। वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

"समिति में और लोग तो अपने अपने मत प्रदर्शित करते, पर मैं मुँह सीकर चुपचाप बैठा रहूँ—यह भौंडा मालूम होता था। यह बात नही कि बोलने के लिए मेरा दिल न होता हो। पर समझ ही नहीं पडता कि बोलूँ कैसे?"

उसी समिति की किसी बैठक में उन्हें बोलने की भीतर ही भीतर

बडी प्रेरणा हुई। फिर भी उनकी हिम्मत न हुई। अतएव अपने विचार लिखकर अध्यक्ष को दे देने का निश्चय किया। लिखे हुए को पढने का भी साहस उन्हें न हो सका। अध्यक्ष ने दूसरे सदस्य से उसे पढवाया।

एक बार वेंटनर मे भी उन्हे अपनी इसी मानसिक कमज़ोरी का बुरा अनुभव हुआ। अन्नाहार को उत्तेजना देनेवाली एक सभा हुई। गाधी जी और मजूमदार महोदय वहाँ वोलनेवाले थे। मौखिक व्याख्यान देने की हिम्मत तो गाधी जी में थी ही नही, लिखकर पढने का निश्चय किया था। पर उनसे यह भी न हो सका। जब पढने खडे हुए तो आँखो के सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे। लिखा हुआ भाषण मुश्किल से फुल्सकेप का एक पृष्ठ रहा होगा। आखिर मजूमदार महोदय ने उसे पढ सुनाया। गाधी जी को अपनी कमजोरी पर वडा दुख हुआ।

व्याख्यान देने का तीसरा अवसर गाधी जी के लिए उस समय आया जब वे वैरिस्टर होकर विलायत से लौटने लगे। विदा होने के पहले उन्होने अपने अन्नाहारी मित्रो को 'हावर्न भोजनालय' मे निमन्त्रित किया। जब भाषण करने का समय आया, तो वे तैयारी के साथ खडे हुए। पर वे एक ही वाक्य बोलकर रुक गये। एडिसन की कहानी से उन्होने अपने विनोदी व्याख्यान का प्रारम्भ किया और थोडी ही देर के बाद एडिसनवाली हालत स्वय उन्ही की हो गई।

अपने इन अनुभवो का सार गाधी जी ने यह निकाला—"परन्तु इस झेंपू स्वभाव के कारण मेरी फजीहत होने के अलावा और कुछ नुकसान न हुआ—कुछ फायदा ही हुआ है। बोलने के सकोच से पहले तो मुझे दुख होता था। पर अब सुख होता है। बडा लाभ तो यह हुआ कि मै शब्दो की किफायतशारी सीखा। अपने विचारो पर कब्जा करने की आदत सहज ही हो गई। अपने को यह प्रमाण-पत्र मैं आसानी से दे सकता हूँ कि मेरी जबान अथवा कलम से विना विचारे अथवा विना सोचे शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नही पडता

कि अपने भाषण या लेख के किसी अंश के लिए शर्मिन्दा होने या पछताने की आवश्यकता मुझे कभी हुई है। इसके बदौलत मैं अनेक खतरों से बच गया हूँ और बहुतेरा समय भी बच गया है, सो यह लाभ अलग है।"

आज गांधी जी में झेंपूपन की बू-बास भी नहीं है। आज उनके समान निर्भय वक्ता शायद ही इस पृथ्वी पर कोई दूसरा हो। यह मानसिक दृढ़ता उन्हें लोक-सेवा के मार्ग में प्राप्त हुई है। आज वे सैकड़ों व्याख्यान पूर्व तैयारी के बिना ही दिया करते हैं, पर अनुचित अथवा अनुपयुक्त बात एक भी मुँह से नहीं निकलती। साम्राज्यवादी चतुर राजनीतिज्ञों के बीच 'राउंड् टेबल् कान्फ्रेंस' में उन्होंने जिस खूबी से व्याख्यान दिये, वे भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास में अंकित होकर रहेंगे। हमें इस बात पर जरा भी विश्वास नहीं है कि हिन्दुस्थान का कोई भी दूसरा कुशल से कुशल राजनैतिक सुवक्ता इस कार्य का संपादन इतनी अच्छी तरह से कर सकता।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठकों को अनायास प्रतीत हुआ होगा कि गांधी जी के जन्मगत स्वभाव को अधिक बोलना पसन्द नहीं है, पर उनके नेतृत्व और परिस्थिति की लाचारी उन्हें बोलने के लिए प्रतिक्षण प्रेरित करती रहती है। जो लोग स्वभाव से मितभाषी होते हैं, वे दूसरों की बातें सुनना अधिक पसन्द करते हैं। यह विशेषता गांधी जी में भी है। वे अच्छे वक्ता तो हैं ही, पर उससे कहीं अधिक अच्छे श्रोता हैं। संसार के अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों में अपनी हाँकने की मानसिक प्रवृत्ति बहुत दिखाई देती है। किसी विषय पर विवाद करते समय वे विपक्षी की बात सुनना उतना पसन्द नहीं करते जितना कि खुद बोलना उन्हें प्रिय होता है। दूसरों की बात काटकर अपनी बात अड़ा देना उनका स्वभाव होता है। वाद-विवादों में अकसर देखा जाता है कि दोनों पक्षों के लोग एक ही साथ अपनी अपनी दलीलें दिया करते हैं और कोई किसी को नहीं सुनता। ऐसे उपहासजनक दृश्य हमने अनेक देखे हैं। उपहास-

जनक उन्हे हम इसलिए कहते है कि ऐसे विवादियो के बीच किसी तरह का निपटारा होना बिलकुल असम्भव है। जब दोनो पक्षो के लोग एक दूसरे की बात विचारपूर्वक सुनते ही नही, तो समाधानकारक उत्तर ही ही क्या दे सकते है ? इस तरह की विषय-चर्चा शब्दो की चाँदमारी हो जाती है---साराश कुछ भी नही निकलता।

कहने का अभिप्राय यह कि प्रत्येक सफल वक्ता को अच्छा श्रोता भी होना चाहिए। स्वय बोलने के पहले उसे चाहिए कि दूसरे की बात शान्ति के साथ ध्यानपूर्वक सुन ले और समझकर विचारपूर्वक उत्तर दे। स्वय बोलने के लिए उत्कठित होने के बजाय उसे दूसरो की बातें सुनने के लिए अधिक उत्सुक होना चाहिए। क्योकि ध्यानपूर्वक दूसरो की बातें सुनकर ही वह अच्छा बोल सकता है। अच्छा श्रोता ही कुशल वक्ता हो सकता है। ऐसे ही श्रोता-वक्ताओ मे गाधी जी अग्रगण्य है। वे दूसरो की बातें एकाग्र मनसा सुना करते है और सुन-समझकर थोडे शब्दो मे ऐसा जवाब गढ देते है कि फिर आगे उस बात को बढाने की आवश्यकता ही प्रतीत नही होती। अच्छे श्रोता होने की बदौलत ही गाधी जी के विचार इतने परिष्कृत होते है। दूसरो की न सुनकर अपनी हाँकनेवालो के विचार बेतुके और अस्पष्ट हुआ करते है। ऐसे बेतुके हाँकनेवालों की सख्या इस देश के पढे-लिखे लोगो मे बहुत अधिक है। शिक्षित होने के नाते कम से कम इतनी शिक्षा तो उन्हें महात्मा जी के उदाहरण से जरूर लेनी चाहिए---न सही अहिसात्मक सत्याग्रह अथवा भद्र अवज्ञा।

आस्तिकता

महात्मा जी की आस्तिकता एक विलक्षण कोटि की भावना है। यो तो ससार मे ऐसे बहुत कम लोग निकलेंगे जो यथार्थ मे नास्तिक हो। किसी न किसी रूप अथवा अश मे हममें से प्रत्येक आदमी आस्तिक है। अपने से किसी बडी शक्ति की कल्पना तथा आराधना उसे जीवन के कई प्रसगो पर करनी ही पडती है। जब तक मनुष्य सुखी रहता है, तब

तक वह अपने को सामर्थ्यवान् समझता है। परन्तु ज्यो ही कोई ऐसी दुर्घटना हुई जो उसके सामर्थ्य के बाहर है और जिससे अपनी रक्षा करने में वह अपने को अशक्त पाता है, त्यो ही उसका कमजोर हृदय उसकी नास्तिक बुद्धि को एक किनारे छोडकर सामने आता है और खुलकर किसी अदृष्ट और अज्ञात शक्ति का समाराधन किया करता है। मरते समय कई नास्तिको ने अपने जीवन में पहले-पहल और अन्तिम बार ईश्वर का नाम लिया है। सुख-दुख में समान रूप से ईश्वर को माननेवाले लोग ससार में बहुत ही कम हुआ करते है। ऐसे आस्तिक तो थोडे-बहुत मिलेंगे जो अपने सुख और वैभव को ईश्वर की कृपा समझकर सद्बुद्धि के लिए प्रार्थनाशील रहते है। परन्तु ऐसे आस्तिक जो अपने महान् से महान् सकट को भी ईश्वर का आशीर्वाद समझते हो—बिरले ही मिलेंगे। अच्छे-अच्छे आस्तिक भी कष्ट के करारे झोकें खाकर नास्तिक हो जाते है। ईश्वर को गालियाँ देने लगते है। ऐसे दुख के प्रसगो पर टिकनेवाली आस्तिकता ही सच्ची आस्तिकता है। महात्मा जी के मानसिक निर्माण मे ईश्वर-निष्ठा खासकर इस जडवादी विज्ञान-युग के लिए बडे आश्चर्य की चीज है। आजकल का पढा-लिखा तर्कशील बैरिस्टर यदि पचा पहन कर बात बात मे ईश्वर की दुहाई दे, तो हम उसे मामूली बात नही कह सकते। वैज्ञानिक तर्कशीलता के साथ अदृष्ट बातो के प्रति अनास्था भी रहा करती है। ईश्वर एक अदृष्ट तत्त्व है। अतएव विज्ञान अभी उसकी ओर से उदासीन है।

एक प्रतिष्ठित वैष्णव-कुल में जन्म होने के कारण भी गाधी जी के जन्मगत सस्कार आस्तिक थे। भक्त-हृदय की आस्तिकता उनके रुधिर के साथ प्रवाहित हो रही थी। रभा ने राम-नाम का बीज बालक गाधी के हृदय में बो ही दिया था। माता की धर्म-निष्ठा बढी-चढी थी। पिता भी धर्म-भीरु थे। रामायण तथा गीता से उन्हे प्रेम था। ऐसे वातावरण में जन्म लेनेवाला बालक यदि जीवन मे नास्तिक निकल जाता, तो एक बड़े आश्चर्य की बात होती।

यथार्थ में आस्तिकता ही लोकनायक महापुरुषों का बल है। संसार में जितने पथ-प्रदर्शक महात्मा हुए, वे सभी आस्तिक होते आये हैं। नास्तिक विद्वान् अलबत्ता देखने में आते हैं, पर नास्तिक महात्मा अभी तक सुनने में भी नहीं आया। नास्तिक की आत्मा महान् हो ही नहीं सकती। जो मनुष्य किसी महान् केंद्रीभूत और व्याप्त चेतन-शक्ति-पुंज की कल्पना कर सकता है और उसके अस्तित्व पर विश्वास करता है, उसे आस्तिक समझना चाहिए। वेदांत की आस्तिकता और भी अधिक वैज्ञानिक है। अपने से बाहर किसी कल्पित ईश्वर पर विश्वास करने की आवश्यकता अथवा औचित्य ही क्या है? जो मनुष्य अपने अस्तित्व और आत्मा पर विश्वास करता है, वही सच्चा आस्तिक है। महात्मा जी की आस्तिकता सर्वांगीण है, वे बाहर-भीतर सिवाय ईश्वरीय प्रेरणा के कुछ भी नहीं देखते। उनका अक्षरशः विश्वास है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं डोलता। इसी निष्ठा के आधार पर वे काम करते हुए दिखाई भी देते हैं, यहाँ तक कि कभी कभी ईश्वर की दुहाई देकर वे दीगर दुनियावी लोगों में उपहास के पात्र भी हो जाया करते हैं। परन्तु उनकी आस्तिकता बड़ी अटल है। इस मामले में वे उपहास की परवाह नहीं करते।

गांधी जी अपने प्रत्येक कार्य को ईश्वरीय प्रेरणा समझने के अभ्यासी हैं। वे अपने को परमात्मा का केवल शस्त्र मात्र समझते हैं। वे जीवन की प्रत्येक घटना को किसी न किसी आशय का ईश्वरीय संकेत समझते हैं। बिहार के भूकंप को उन्होंने ईश्वर का दिया हुआ अस्पृश्यता-रूपी सामाजिक अपराध का दण्ड माना था। कई प्रसंगों पर वे केवल अंतःस्फूर्ति के आधार पर काम किया करते हैं। ऐसे मौकों पर वे कभी कभी रहस्यवादी के समान बातें भी किया करते हैं और जन-साधारण की समझ के परे भी हो जाते हैं।

गांधी जी ईश्वर को सत्य के रूप में देखते हैं। अतएव उनकी दृष्टि में ईश्वर-प्रेम और सत्य-निष्ठा दोनों एक ही बात हैं। ईश्वर-निष्ठ होने

के कारण वे बड़े प्रार्थनावादी हैं। प्रार्थना उनके दैनिक जीवन की एक अटल और निश्चित चर्या है। सन्ध्या-समय और प्रातःकाल वे आश्रम में आश्रमवासियों के साथ अथवा बाहर में जनता के साथ नियमित रूप से प्रार्थना किया करते हैं। उनका विश्वास है कि जो बातें मनुष्य के प्रयत्न से सफल नहीं हो सकतीं, वे प्रार्थना के बल पर अनायास संपादित हो जाती हैं। हम इस बात को मान सकते हैं कि गांधी जी को जीवन में इस धारणा के लिए प्रमाण मिले होंगे। परन्तु जन-साधारण के लिए ऐसे प्रमाण नहीं के बराबर हैं। इसी कारण प्रार्थना को उचित मानते हुए भी लोग उसके अमोघ परिणाम पर उतना विश्वास नहीं कर सकते। कदाचित् ईश्वर को भी इस बात की परवाह नहीं कि प्राणी उसकी सत्ता और विश्वसनीयता पर अनायास ही विश्वास कर लें।

प्रार्थना के प्रेमी अकसर कहा करते हैं कि सच्ची प्रार्थना ईश्वर के दरबार में सुनी जाती है। यदि ऐसा होता, तो आज यह संसार इतना दुखी न होता। संताप-ग्रस्त मनुष्य के हृदय से जो प्रार्थना निकलती है, वह बिलकुल सच्ची होती है। संकट-काल में मनुष्य और ईश्वर के बीच का फासला कम हो जाता है। फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि ईश्वर मनुष्य को प्रार्थना सुनता है और उसके अनुसार वह उसे त्राण देता है। जन-समाज का अनुभव इसके विपरीत है। ईश्वर प्राणियों के सुख-दुख में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। मनुष्य अपने कर्मों से बनता है और कर्मों से बिगड़ भी जाता है। अपने बनने-बिगड़ने में वह स्वतंत्र है। अतएव उसे कर्म-विपाक का भला-बुरा अनुभव लेना ही पड़ता है। कर्मों से ही वह मोक्षपद का अधिकारी होता है, ईश्वर की कृपा से नहीं। इसी बात को बड़े गंभीर कटाक्ष के साथ एक कवि यों कहता है—

एक बात एकान्त में, सुन लो जगदाधार।
तारें मेरे कर्म तो, प्रभु का क्या उपकार ?

किसी की शिकायत हम एकान्त में तब करते हैं, जब हम उसकी सार्वजनिक प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार का आघात नही पहुँचाना चाहते। ईश्वर के सम्बन्ध मे आमतौर पर लोगो की यह धारणा है कि वह बडा कृपालु है, इस लोक मे सुख और परलोक में मोक्ष का दाता वही है। ईश्वर की इस सर्व-स्वीकृत सच्ची-झूठी प्रतिष्ठा पर यह कवि किसी प्रकार का आघात नही पहुँचाना चाहता। इसलिए वह एकान्त में कहता है, ताकि उसकी शिकायत ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा न सुनने पावे। बात भी बडे पते की करता है। वह पूछता है कि यदि यह बात सच है कि मै अपने कर्मों से ही भव-सागर तर सकूगा, तो उसमें फिर आपके उपकार के लिए गुजाइश ही कहाँ रह जाती है? फिर मै आपकी ओर क्यो हाथ फैलाऊँ? मै अपने कर्मो को ही देख-भाल क्यो न करूँ? यह प्रश्न प्रार्थना-सम्बन्धी प्रचलित धारणा को बिलकुल निर्मूल सिद्ध करता है।

हम इस बात को मानते है कि ईश्वर है, परन्तु इस बात को बिलकुल भूल जाना चाहिए कि वह किसी को कष्ट-मुक्त करता है। कर्मजनित कष्ट तो मनुष्य को भोगना ही पडता है। फिर भी जिस समय दैहिक, दैविक अथवा भौतिक तापो से सतप्त होकर ससीम मनुष्य असीम परमात्मा की ओर एकान्तनिष्ठा से मुखातिब होता है, उस समय उसकी सीमित सहन-शक्ति को सर्वशक्तिमान् ईश्वर से कुछ थोडा-सा 'ग्राट' मिल जाता है। यदि इसी बात को वैज्ञानिक भाषा मे प्रगट करना चाहें तो कहना पडेगा कि ब्रह्माण्ड के मूल मे जो केन्द्रीभूत पर फिर भी व्याप्यमान आध्यात्मिक शक्तिपुज है, उससे अपनी आत्मा का आध्यात्मिक सम्बन्ध जोडकर कोई भी प्रार्थी अपने सम्बन्ध की घनिष्ठता के अनुसार न्यूनाधिक अश में कुछ सहनशक्ति प्राप्त कर सकता है। इस शक्ति से प्रार्थी के कर्मजनित सकट नही टलते, केवल उन्हे सहन करने की अधिक मानसिक क्षमता प्राप्त हो जाती है। भविष्य मे ऐसे कर्मों से बचने की सद्बुद्धि भी प्राप्त हो जाती है, क्योंकि प्रार्थना से प्राप्त की हुई शक्ति जड नही है, वह एक चेतन-शक्ति

वह अपनी मस्ती में रहता है नादाँ,
जिये या मरे कोई अपनी बला से।

मनुष्य को अपने किये हुए कर्मों के शुभाशुभ परिणाम भोगने ही पडते है। न तो ईश्वर किसी को सुख देता, न फिर उसे लोगो की तकलीफो से ही किसी तरह का सम्बन्ध है। वह तो केवल ससार-चक्र का चलानेवाला एक मंशीनमैन के समान है। इस ससार-यन्त्र की छान-बीन कीजिए और अनुभव एव तर्क के आधार पर यह निश्चय कीजिए कि किधर जाने से दबकर पिस जाने का भय है और किस ओर का मार्ग प्रशस्त और श्रेयस्कर है। अपने स्वय निश्चित पथ पर चलिए और अपना उद्धार आप ही कीजिए।

उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्,
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन । (गीता अध्याय ६, श्लोक ५)

ईश्वर न तो किसी का उद्धार करता है न फिर वह किसी को नरक ही में डालता है—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु,
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते।
नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु,
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥ (गीता अध्याय ५, श्लोक १४, १५)

साराश यह कि मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का विधाता है। ऐसा समझकर उसे पुरुषार्थी होना चाहिए और किसी भी देवता अथवा ईश्वर से सहायता की आशा छोड देनी चाहिए। भक्तो ने ईश्वर के लिए 'करुणा-सागर', 'दयासिधु' तथा 'कृपानिधान' इत्यादिक विशेषणो का दुरुपयोग करके ईश्वरीय कर्त्तव्य के सम्बन्ध में बडी गलतफहमी फैला दी है। यदि वह केवल करुणा-सागर ही होता, तो ससारी प्राणियो की भयकर से भयकर और रोमाचकारी यन्त्रणाओ को कदापि नही देख

सकता। 'करुणा-निधान' परमेश्वर की सृष्टि में कोई दुखी ही न रहता। लेकिन वस्तु-स्थिति इसके बिलकुल विपरीत दिखाई देती है। ससार में दुखी प्राणियो की ही सख्या अधिक है। इस सृष्टि-व्यवस्था को देखकर यदि हम निरपेक्ष भाव से ईश्वरीय स्वभाव के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निकालें, तो हमें स्वीकार करना होगा कि इस जगत् का रचने-वाला कुसुम से कोमल भले ही न हो, परन्तु वह वज्र से भी अधिक कठोर तो जरूर है। उसकी व्यवस्था में करुणा, दया अथवा कृपा के लिए तिलमात्र भी गुजाइश नही है। प्रार्थना के प्रेमियो को चाहिए कि वे इस निष्ठुर सत्य की ओर ध्यान दें और परमेश्वर के सम्बन्ध में उन्होंने जो उद्भ्रान्त धारणा बना ली है उसका सर्वथा परित्याग कर दें।

राम झरोखे बैठकर, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, वैसा वाको देय॥

ध्यान रहे कि यहाँ पर 'चाकरी' शब्द 'पुरुषार्थ' के अर्थ मे ही व्यवहृत हुआ है।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

(तुलसीदास)

तभी तो उपर्युक्त जिज्ञासु बडे गम्भीर कटाक्ष के साथ प्रश्न करता है—

'तारे मेरे कर्म तो, प्रभु का क्या उपकार?' इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा विवेक कहता है 'कुछ भी नही'। परमेश्वर किसी का उपकार नही करता। वह एक हृदयहीन और निष्ठुर निर्माणकर्ता है; इसके सिवाय कुछ भी नही।

'महात्मापन' के कष्ट

'महात्मापन' एक नया शब्द है, भदेस भी है। फिर भी यहाँ पर हमें यही उपयुक्त जँचता है। क्योकि इस प्रकरण में हम महापुरुषो के उन कष्टो की चर्चा नही करना चाहते, जिन्हें सहकर वे महान् होते हैं और

जिन्हें वे अपने सिद्धान्त की प्रेरणा पाकर सहा करते है। ऐसे कष्ट तो महात्मा होने के लिए अनिवार्य है। यहाँ पर हम महात्माओ के उन कष्टो की चर्चा करना चाहते है जो उन्हे अपने ही श्रद्धालु भक्तो से मिला करते है। इन्ही को हम 'महात्मापन' के कष्ट कहते है। ऐसे कष्टो को देखकर ससार का समझदार आदमी महात्मा होना तो पसन्द करेगा, पर महात्मा के नाम से मशहूर होना वह हरगिज़ न चाहेगा। यह बात हम हिन्दुस्थान के सम्बन्ध मे कह रहे है। पृथ्वी पर यही एक ऐसा देश है जहाँ लोग स्वार्थ से या परमार्थ से महात्माओ के पीछे मरते है। गाधी जी का इस देश में जो इतना व्यापक प्रभाव है, वह अधिकाश मे इसी कारण है कि वे महात्मा हैं और महात्मा के नाम से मशहूर भी है। लोकमान्य तिलक, देशबन्धु तथा लाजपतराय भी त्यागशील महात्मा थे। हिन्दुस्थान की जनता राजनैतिक नेता किसे कहते है, नही जानती। कुछ थोडे से पढे-लिखे लोग ही राजनैतिक नेतृत्व का महत्त्व समझते है। पर भारतीय जनता साधु-महात्माओ को आदर देना खूब जानती है। यह उसका प्राचीन सस्कार है। यही कारण है कि वह गाधी जी के राष्ट्रीय कार्यक्रम की उतनी परवाह नही करती, जितना कि वह उनके दर्शन करने अथवा चरण छूने के लिए उत्कण्ठित रहती है। देहातो में अथवा यात्रा करते समय उनके स्वागत के लिए स्टेशनो पर लोगो की जो अपार भीड दिखाई देती है, उसका अधिकाश केवल दर्शनार्थी होता है। बस एक बार महात्मा जी को सिर से पैर तक देख लिया, मौका मिला तो चरण छू लिया और कृतकृत्य हो गये। यही कारण है कि कई प्रसगो पर सार्वजनिक सभाओ मे तथा विशेषकर स्त्री-सभाओ में ऐसे अप्रिय अवसर आ जाते है कि लोगो का हल्ला ही नही बन्द होता। महात्मा जी को यदि पूरे समय तक नही, तो बहुत समय तक हल्ला सुनते हुए चुप बैठना पडता है। हल्ला बन्द ही क्यो हो, लोग तो दर्शन करने आये है, बातचीत करते जाते है, गाधी जी की ओर देखते जाते है। दोनो बातें साथ-साथ निभ जाती है। चुप रहने की ज़रूरत ही क्या ?

महात्मा जी के लिए रेल-यात्रा के कष्ट और भी अधिक होते हैं। दिन को प्रत्येक स्टेशन पर दर्शनार्थियों का समाधान करना ही पड़ता है, पर रात को भी जहाँ जहाँ गाड़ी खड़ी होती है, वहाँ लोग उनके डब्बे के नजदीक हो-हल्ला मचाते हैं, दर्शन के लिए बिल्कुल अड़ जाते हैं। नींद और आराम छोड़कर महात्मा जी को डब्बे से बाहर निकलकर खड़ा होना ही पड़ता है। इस तरह १ बजे और ४ के बीच रात को यदि तीन-चार बार भी बाहर आना पड़ा, तो रात की सारी नींद ही समाप्त हो जाती है। निद्रा के अभाव का स्वास्थ्य पर बुरा परिणाम होता है, विशेषकर उस हालत में जब कि दिनभर काम करना पड़ता हो। फिर भी लोगों को इस बात की परवाह नहीं, वे तो दर्शन चाहते हैं, सो मिलना ही चाहिए।

गाधी जी का स्वागत लोगों की श्रद्धालुता का एक सबल प्रदर्शन है। एक बार रायपुर सी० पी० का स्वागत स्वयम् इन पंक्तियों के लेखक ने देखा है। उनको गाड़ी के पहुँचते ही व्यवस्था का सारा बाँध टूट गया। स्वागतकारिणी के सभ्य सदस्य बाकायदा स्वागत ही न कर सके। वे उत्कंठित जन-समाज के प्रचंड प्रवाह में न जाने कहाँ के कहाँ डूबी हुई नौका के यात्रियों के समान बह गये। महात्मा जी की गाड़ी लोगों के बवंडर में पड़ गई। यदि वह काफी मजबूत न होती, तो लोगों की सम्मिलित शक्ति से दबकर वह चूर चूर हो जाती। जोशीले दर्शनार्थी गाड़ी के फुटबोर्ड पर खड़े हो गये। अब भीतर ही घुसने की देर थी। सारांश यह कि गाधी जी का वह स्वागत-समारोह इतना बेक़ाबू हो गया कि बड़ी मुश्किल से गुज़रा। महात्मा जी दबने से बाल-बाल बच गये।

ऐसा ही एक प्रसंग हमने सन् १९२० के नागपुर-कांग्रेस में देखा था। स्वयंसेवकों का बाँध टूट चुका था। सभाभवन के बाहर एकत्रित जन-समुदाय में गाधी जी अरक्षित और निहत्थे रह गये थे। भीड़ उन पर टूट रही थी। गाधी जी पीछे हटते जाते थे। बीच बीच में लोग उनके पैर भी श्रद्धापूर्वक पकड़ लेते थे। इसलिए उनका चलना भी मुश्किल था।

वे लोगो से दीनतापूर्वक यह कहते हुए पीछे हटते जाते थे कि "भाई, आप लोग ऐसा न करे, मेरी तबीअत घबराती है ।" हटते हटते दैवयोग से उन्हें एक पास ही पडा हुआ बेंच मिल गया । उसी पर खडे होकर महात्मा जी ने अपनी रक्षा की, दबने से बच गये । सार्वजनिक श्रद्धा का वह अतिरेक श्रद्धा-पात्र को कुचल डालनेवाला था !

लोगो के स्वागत-भाव को सतोष देने के लिए घटो तक धूप और गर्द मे धीरे धीरे चलना आसान बात नही है । ऐसा स्वागत हम सरीखे किसी साधारण मनुष्य का यदि किया जावे, तो एक ही स्वागत मे बस ढीले पड जायें और फिर वैसे स्वागत की इच्छा ही न रह जावे । गाधी जी के समान महात्मा को विरोधियो की शूली पर चढने के लिए तैयार तो रहना ही पडता है पर भक्तो की अमर्यादित श्रद्धा का शिकार भी होना पडता है । श्रद्धा का शिकार ! कैसी विचित्र शब्द-योजना है ! पर बात बिलकुल ठीक है ।

महात्मा जी अपने जीवन मे सार्वजनिक श्रद्धा के शिकार हैं। उनकी लोक-प्रियता उन्हें कई अवसरो पर बडे कष्ट में डाल चुकी है । ऐसी अनावश्यक तकलीफो को बरदाश्त करना भी एक महत्ता का काम है । जिनका हृदय उदार है, वे जन-समाज की अन्ध-श्रद्धा को नापसन्द करते हुए भी उसके दुष्परिणाम चुपचाप सह लेते है । महात्मापन के शारीरिक कष्टो के सिवाय उन्हें मानसिक बेचैनी भी बहुत भोगनी पडती है । जिला बोर्ड अथवा म्युनिसिपैलटी के मान-पत्रो में मतलब की बात न कहकर लोग मनमानी उनकी प्रशसा किया करते हैं और उन्हे चुपचाप बैठे बैठे सुनना भी पडता है । आत्म-प्रशसा का चाहे कोई कैसा भी प्रेमी हो, बारबार अपनी तारीफ सुनकर वह ऊब जायगा । सभवत उसे सकोच भी होने लगे । फिर अपनी प्रशसा बार बार सुनकर महात्मा जी के समान विनयशील और विनम्र आदमी की कैसी मन स्थिति होती होगी—कल्पनाशील पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं । कई बार तो वे मान-पत्रो के प्रशसातिरेक से घबराकर अपने उत्तर में यह स्पष्ट

कर चुके हैं कि ऐसे प्रसगो पर केवल मतलब की बात करनी चाहिए, व्यर्थ की बडाई से कोई लाभ नही। फिर भी लोगो की बेढगी स्वागत-विधि ज्यो की त्यो बनी है। उन्हें अपनी तारीफ अपने कानो सुननी ही पडती है। गाधी जी को अपने भावुक भक्तो की ओर से जितना कष्ट मिलता है, उतना कदाचित् विरोधियो से नहीं। यदि विपक्षी उनके उपदेशो की ओर दुर्लक्ष्य करे अथवा उनका विरोध करे तो यह एक बिलकुल स्वाभाविक बात है। इसमे उपदेशक को किसी तरह का मानसिक कष्ट नही होता, परन्तु अपने ही भक्तो को अपनी शिक्षा-दीक्षा के विरुद्ध आचरण करते देखकर गाधी जी को जो मानसिक सताप होता है, उसे वे ही जानते है। इसी आशय को उन्होने एक प्रसग पर यह कहकर प्रकट किया था कि मै अपने अनुगामियो से जितना डरता हूँ, उतना किसी से भी नही।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त बातें हमने अपने समान सर्व-साधारण मनुष्य की दृष्टि से ही लिखी है। पर महापुरुषो का दृष्टिकोण कुछ और होता है। जो अपनी सिद्धान्त-रक्षा के लिए बडी से बडी कीमत चुकाने के लिए तैयार रहते है, उन्हें श्रद्धालु भक्तो की मूर्खतापूर्वक पैदा की हुई तकलीफें नहीं व्यापतीं। अपने स्वभाव-सिद्ध औदार्य का आश्रय लेकर वे महात्मा-पन के कष्ट हँसते-हँसते झेल जाते हैं।

अध्याय ३५

'हिन्द-स्वराज'

[illegible] हैं और [illegible] विचारक के [illegible] आशय का पूर्ण प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। अतएव विचार-मौलिकता की दृष्टि से इस पुस्तक का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसमें कई बातें ऐसी हैं, जो बिल्कुल निर्विवाद हैं, कुछ ऐसी हैं जो मनन-चिन्तन के योग्य हैं और कई विचार ऐसे भी हैं जिनमें मतभेद एवं विचार-वैमनस्य की पूरी गुंजाइश है। पुस्तक बीस अध्यायों में विभक्त है और प्रश्नोत्तर के रूप में लिखी गई है। प्रश्नकर्ता है, एक पाठक और उत्तरदाता है, सम्पादक। प्रश्न करनेवाला कोई हिन्दुस्थानी नौजवान है जो क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधि की हैसियत से बातें करता है। उनको समाधानकारक उत्तर देनेवाले सम्पादक स्वयं गांधी जी हैं। इस पुस्तक में जितने सवाल-जवाब हैं, वे यथार्थ में दो क्रान्तिकारियों के बीच हुए हैं। एक हिंसात्मक प्रयत्नों पर विश्वास करनेवाला राजनैतिक क्रान्तिकारी है, तो दूसरा अहिंसापूर्ण पद्धति से वर्तमान जड़वादी सभ्यता

को छिन्नमूल करके सामाजिक व्यवस्था मे पूर्ण परिवर्तन करनेवाली विचार-क्रांति का समर्थक है। दोनो दो सिरे (Extremes) के विचारक है, इस कारण मध्य-विन्दु दोनों ने छूट गया है। इस प्रकरण में हम मध्यवर्ती आलोचक की हैसियत से दोनो क्रातिकारियो के सिद्धान्तो की सक्षिप्त मीमासा करने का प्रयत्न करेंगे।

इस पुस्तक का पहला अध्याय कांग्रेस और उसके पूर्वकालीन कर्णधारो के सम्बन्ध में लिखा गया है। वर्तमान के अधीर और क्रातिकारी नवयुवको के मन में पूर्वकाल के 'प्रार्थनावादी' नेताओ के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई है। लोगो को इस युग की राजनैतिक जाग्रति के प्रकाश मे पुराने नेताओ का चित्र कुछ धुँधला-सा दिखाई देता है। इस कारण नये ज़माने के नौजवान पुराने नरम प्रकृति के नेताओ की अक्सर कड़ी आलोचना किया करते है। इस अध्याय मे महात्मा जी ने इस नवीन मनोवृत्ति में सशोधन करने का प्रयत्न किया है। सपादक के रूप में उन्होने दादाभाई नौरोजी, ह्यूम, विलियम वेडरबर्न, प्रोफेसर गोखले तथा बदरुद्दीन तय्यब जी के प्रति अपनी श्रद्धा-भावना प्रदर्शित की है। महात्मा जी और इन लोगो के बीच सिद्धान्त-भेद इतना अधिक है कि यदि गोखले और तय्यब जी सरीखे लोग आज मौजूद होते, तो गाधी-आन्दोलन के सभामच पर वे भूलकर भी पैर न रखते। इस बात पर किसी को कुछ भी सदेह नही होना चाहिए। इस विचार-वैमनस्य के कारण कोई यह न समझे कि गाधी जी के मन मे उनके प्रति किसी तरह की अनास्था या अपूज्य बुद्धि है। इसी बात का खुलासा करने का प्रयत्न महात्मा जी ने परोक्ष रूप मे इस अध्याय में किया है। नाम तो चार-पाँच के लिखे गये है, पर दादाभाई नौरोजी और गोखले की प्रशसा कुछ विस्तार के साथ की गई है। दादाभाई नौरोजी के सम्बन्ध में गाधी जी ने जो सद्भावना प्रकट की है, उस पर किसी को कुछ भी आपत्ति नही हो सकती, वह सर्वथा उचित है। परन्तु विचार प्रकट करने की शैली में ऐसी बातें कुछ ज़रूर है, जिन पर कुछ टीका-टिप्पणी की जा सकती है। गाधी जी लिखते है —

"वे आदरणीय दादाभाई नौरोजी ही थे, जिन्होंने हमें यह सुझाया कि अँगरेज़ लोगो ने हमारे जिस्म और जिन्दगी का सारा ख़ून चूस लिया हैं। क्या हर्ज है अगर उनका विश्वास अभी भी अँगरेजो पर [वना हुआ है ?"

हर्ज तो जरूर है। यदि हर्ज नही तो ताज्जुव की वात तो ज़रूर है कि जो आदमी औरो को यह सुझावे कि अँगरेज़ो ने हिन्दुस्थान का रक्त पान किया है, वही आदमी फिर अँगरेजो की नेकचलनी पर विश्वास भी करे। जो आदमी रहस्योद्घाटन के द्वारा परदा फाहिश करके अँगरेज़ो के प्रति जन-समाज में अविश्वास उत्पन्न करे, वही स्वय वडे से वडा विश्वासी वना रहे। इसमें सदेह नही कि पूर्वकालीन नेताओ ने हमारे राष्ट्रीय उत्थान मे सोपान-परम्परा का काम किया है। उन्ही की वदौलत आज हम इस उँचाई पर विद्यमान है। अतएव उनके प्रति हमे अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। निसेनी की उपमा उपयुक्त है। परन्तु शिक्षक और विद्यार्थी की उत्प्रेक्षा के साथ गाधी जी ने जो कुछ लिखा है, उसके सम्वन्ध में हमें कुछ कहना है। जो विद्यार्थी अपने शिक्षक से ज्ञान प्राप्त करके उसमें कुछ और भी अधिक जोड लेता है, वह शिक्षक से अधिक वुद्धिमान् तो ज़रूर हो जाता है। पर इसका मतलव यह नही कि विशेष वुद्धिमत्ता के कारण वह अपने शिक्षक का पूर्ववत् आदर न करे।

प्रोफेसर गोखले एक विद्वान् देश-भक्त थे, इसमे सदेह नही। परन्तु उनके लिए भारतीय राष्ट्रीयता के 'माता-पिता' (Parents) की उपाधि अथवा उपमा उपयुक्त नही जँचती। उनके कई समकालीन और पूर्वकालीन नेता ऐसे है, जो इस उपमा के अधिक योग्य हो सकते है। गोखले देश-भक्त ज़रूर थे, पर उससे अधिक वढकर अर्थ-शास्त्री विद्वान् थे। परन्तु अपनी देशभक्ति की वलिवेदी पर प्राणो की वाजी लगानेवाले देशभक्तो में उनकी गणना नही की जा सकती। ऐसे लोगो में लोक-

मान्य थे, लाला जी थे और भी कई थे। नरम और गरम दलो के पौरुप-बल मे यही तो भेद रहा है।

वग-भंग

दूसरे अध्याय मे गाधी जी ने हमारी राष्टीय जाग्रति के इतिहास में 'वगभग' का महत्त्व वतलाया है। उनकी सम्मति मे वह एक ऐसी घटना है, जिसने बगाल के नही, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के ही दो टुकडे कर दिये। उसी दिन से हिन्दुस्थान के नौजवानों और बडे-बूढो मे भी स्वतन्त्रता के लिए एक नई उत्तेजना पैदा हुई। विभाग तो बगाल का हुआ, पर भूकप के समान उसका धक्का दूसरे प्रान्तो पर भी खूब पडा। सारे देश में असन्तोप की एक बडी-सी लहर दौड गई। स्वदेशी भावना का जन्म हुआ। आज विचार-दृष्टि से और उसी अंश में प्रचार-दृष्टि से भी वह भावना बहुत प्रौढ हो चुकी है। परन्तु उसका जन्म उस खाई में हुआ, जो बगाल को बोच ने तराशने मे बन गई थी। काटा गया बगाल, और वह जुड भी गया, पर ब्रिटिश स्टीमर में उस दिन जो सूराख पट गई, वह बढती ही गई। आज वह बढकर बहुत बडी हो गई है।

नरम और गरम दल के नेताओ के बीच विचार-वैमनस्य पर खेद प्रकट करते हुए महात्मा जी ने इस अध्याय का अन्त किया है। जन-समाज में दो तरह के लोग हमेशा से रहते आये है। कुछ ठडे दिल से विचार करनेवाले बुद्धिवादी ऐसे होते है, जो विचारपूर्वक सावधानी के साथ अपने प्राणो को विशेष खतरे मे न डालते हुए धीरे धीरे अगसर होने के पक्षपाती होते है। कई हृदय-शाली लोग ऐसे भी होते है, जो अपने आदर्श के मतवाले होकर बेचैन हो जाते है और उसके लिए अपने प्राणो का भी मोह छोड देते है। ऐसे दो तरह के लोगो की खीचातानी मे ही जन-समाज का कल्याण है। दोनो शक्तियो के समन्वय में ही सामाजिक प्रगति सभव है। जन-समाज को ऐसे लोगों की बहुत जरूरत है जो उसे निर्भय होकर अग्रसर होने की उत्तेजना दें और ऐसे लोग भी चाहिए जो उसे सावधान रहने की सलाह देते रहें।

स्वराज-व्यवस्था कैसी हो?

तीसरे अध्याय में सार्वजनिक असन्तोष पर अपने विचार प्रकट करके चौथे में गांधी जी ने इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है कि स्वराज किसे कहना चाहिए। पुस्तक की भूमिका में महात्मा जी ने इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि यद्यपि मेरा स्वराज-सम्बन्धी आदर्श कुछ और है, तथापि लोगों की सम्मिलित इच्छा के अनुसार मैं प्रजातन्त्र स्वराज (Parliamentary Swaraj) प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान् हूँ। वे इस अध्याय के प्रारम्भ ही में कहते हैं कि हिन्दुस्थान के लोग स्वराज प्राप्त करने के लिए अधीर हो रहे हैं, परन्तु अभीष्ट स्वराज का रूप क्या होगा, इस सम्बन्ध में हम लोगों का कोई भी निश्चित मत नहीं है। आमतौर पर लोगों की यह धारणा है कि इस देश से अँगरेजों को निकाल बाहर करने पर हमें स्वराज प्राप्त हो जावेगा। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, इस बात पर वे विचार नहीं करते।

प्रश्न-कर्त्ता पाठक की राय है कि अँगरेजों के चले जाने के बाद हम उनकी बनाई हुई योजना एवं शासन-प्रणाली पर अपना अधिकार कर लेंगे और उसी के अनुसार हम अपना राज आप ही चलावेंगे। परन्तु सम्पादक महाशय (गांधी जी) को यह राय मंजूर नहीं। वे कहते हैं कि शेर को निकालकर उसके हिंसक स्वभाव का अनुकरण करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। यदि हम अँगरेजों को निकाल दें और उनकी शासन-पद्धति को ज्यों की त्यों स्वीकार कर लें तो इससे हमें कोई विशेष लाभ न होगा। यथार्थ स्वराज की प्राप्ति तो हमें अँगरेजों के बहिष्कार से नहीं, उनकी शासन-प्रणाली के परित्याग से होगी।

इस उत्तर पर पाठक फिर प्रश्न करता है कि क्या आपको अँगरेजों की प्रजातन्त्र शासन-पद्धति (Parliamentary Government) पसन्द नहीं है? इसके उत्तर में गांधी जी जो कुछ कहते हैं वह यथार्थ में कई लोगों के मन में विस्मय के भाव उत्पन्न करेगा। ध्यान रहे कि प्रारम्भिक वक्तव्य में उन्होंने प्रजातन्त्र शासन को अपने राजनैतिक

आन्दोलन का लक्ष्य तो जरूर माना है, परन्तु साथ साथ यह भी कह दिया है कि लोगों के इच्छानुसार ही मैंने इसे अपना लक्ष्य बनाया है। इसका स्पष्ट आशय यह निकलता है कि स्वयं गांधी जी को पार्लिमेंट का राज वाञ्छनीय प्रतीत नहीं होता। ब्रिटिश पार्लिमेंट के लिए इन्होंने दो उपमायें चुनकर दी हैं। अँगरेजों को यह सभ्या जिसे प्रजातन्त्र की जननी (Mother of Parliaments) होने का नाज है, महात्मा जी की नजर में एक बाँझ औरत और वेश्या के समान प्रतीत होती है। वेश्या के समान वह इसलिए है कि वह किसी व्यक्तिविशेष की धर्म-पत्नी होकर नहीं रहती। जो मन्त्री जिस समय आया, उसी के आश्रय में वह रहा करती है। इस कारण उसकी निश्चित नीति-रीति कुछ भी नहीं रहती। गणिका के समान वह अपना रूप-रंग हमेशा बदलती रहती है। स्वयं होकर उसने अभी तक लोगों का एक भी उपकार नहीं किया, इसलिए वह वन्ध्या के समान है। गांधी जी की यह भी शिकायत है कि उसके सदस्य अधिकांश में कपटी और स्वार्थी हुआ करते हैं। इसलिए अपने शासन-काल में वे सार्वजनिक हित की अपेक्षा अपने स्वार्थ-साधन की ओर अधिक ध्यान देते हैं। महात्मा जी का यह भी आक्षेप है कि पार्लिमेंट के सदस्य आँखें बन्द करके अपने दल का साथ देते हैं और जो कोई अपना स्वतन्त्र मत देने का साहस करता है, वह बदनाम होता है।

इन आक्षेपों के बाद गांधी जी कुछ ऐसी बात कह जाते हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उसमें उनके स्वराज-सम्बन्धी आन्तरिक विचारों की कुछ झलक दिखाई देती है। वे लिखते हैं.—

"If the money and the time wasted by the Parliament were entrusted to a few good men, the English nation would be occupying today a much higher platform. The Parliament is simply a costly toy of the nation."

याने ब्रिटिश पार्लिमेंट जितने समय और धन का अपव्यय किया

करती है, वह यदि कुछ थोड़े से भले आदमियों के सुपुर्द कर दिया जाता, तो अँगरेजों की प्रतिष्ठा और योग्यता आज तक बहुत ऊँची हो गई होती। पार्लिमेंट क्या है, एक बेशकीमती खिलौना है।

गांधी जी के इस विचार पर कई लोगों को आश्चर्य होगा। प्रतीत होता है कि वे पार्लिमेंट के मन्त्री तथा उसके सदस्यों की हीनता से ही असन्तुष्ट नहीं हैं; उन्हें पार्लिमेंट की शासन-पद्धति भी मंजूर नहीं है। अपने पूर्व-सञ्चित अनुभव के आधार पर वर्त्तमान संसार का सभ्य और शिक्षित जन-समाज प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम शासन-प्रणाली समझता है। एक या कुछ थोड़े से लोगों की प्रभुता उसे पल भर के लिए भी सहन नहीं हो सकती। लोगों ने एकच्छत्र-शासन (Monarchy) का सबसे पहले अनुभव किया। उसके कई दुष्परिणाम देखे। तत्पश्चात् राज-सत्ता को कुछ थोड़े से लोगों (Oligarchy) के हाथ सौंपकर भी देखा। समाज का कल्याण-सम्पादन उससे भी न हो सका। सभी ने अपनी प्रभुता का दुरुपयोग ही किया। अब प्रजातन्त्र की बारी है। इस बहुमत-सञ्चालित शासन-प्रणाली के समर्थन में सबसे प्रबल दलील दी जा सकती है और वह यह है। अधिकांश लोगों का अधिक सुख-सम्पादन करना ही नीति-शास्त्र (Ethics) का उद्देश्य है। अतएव जिन साधनों से अधिकांश लोगों का अधिक सुख-सम्पादन हो सकता है, उनका निर्णयाधिकार अधिक लोगों (बहुमत) को ही औचित्य-पूर्वक दिया जा सकता है, एक या कुछ थोड़े से लोगों को नहीं, फिर चाहे वे कितने भी अच्छे हों। प्रजातन्त्र के समर्थन में दी हुई यह दलील बिलकुल अकाट्य है, इसमें हमें सन्देह नहीं।

अब रही उसकी खामियों की चर्चा। महात्मा जी ने वर्त्तमान के प्रजातन्त्र में जो दोष दिखाये हैं, वे अधिकांश में जरूर पाये जाते हैं, इस बात पर भी हमें सन्देह नहीं है। शासन-प्रणाली चाहे कैसी भी अच्छी हो, यदि उसके सञ्चालक बुरे हुए तो उसका परिणाम बुरा ही होता है। वर्त्तमान प्रजातन्त्र के सञ्चालक और सूत्रधार पूँजीपति

और उनके मुसाहिब लोग होते हैं। पूँजीवालों की स्वार्थ-दृष्टि बहुत गिरी हुई होती है। इसलिए उन्होंने प्रजातन्त्र का अपने स्वार्थ के लिए हर तरह से दुरुपयोग ही किया है। इस बात का अनुभव अब जन-समाज को हो चुका है। सार्वजनिक असन्तोष की इस प्रेरणा ने ही साम्यवाद को जन्म दिया है। साम्यवादियों का मत है कि शासन-व्यवस्था ऐसी हो कि उसके अन्दर पूँजी कुछ थोड़े से हाथों में एकत्रित न होने पावे, किसी का किसी पर अनुचित प्रभाव न पड़ने पावे और बहुमत से चुने हुए जन-समाज के सच्चे प्रतिनिधि ही प्रजातन्त्र के सञ्चालक हों। यदि भविष्य में ऐसी व्यवस्था स्थापित हो गई—और हो सकती है—तो पूँजीवाद से मुक्त होकर वर्त्तमान का प्रजातन्त्र शासन सामाजिक उत्कर्ष का सर्वोत्तम साधन सिद्ध होगा, इसमें किसी को कुछ भी सन्देह नहीं होना चाहिए। प्रगतिमान् राजनैतिक विचारकों का यही निश्चित मत भी है।

समाज-शासन के सञ्चालन के लिए महात्मा जी 'कुछ थोड़े से भले आदमियों' को योग्य समझते हैं, परन्तु भलमनसाहत की यथार्थ मापतौल करने का सच्चा मान-दंड क्या होगा, किस प्रकार उसका निश्चय हो सकेगा और कौन निर्णय करेगा, इन बातों पर गांधी जी ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। काम कठिन भी है। पर इसमें तो सन्देह नहीं कि महात्मा जी प्रजातन्त्र के प्रेमी नहीं हैं। सच पूछा जाय तो वे किसी भी तन्त्र के प्रेमी नहीं हैं। जो आदमी शासनमात्र का विरोधी (Anarchist) हो, वह शासन की किसी प्रणाली को क्योंकर पसन्द करे? सम्भवतः कुछ लोग ऐसा भी कहें कि ऐसे शासन-विरोधी आदर्शवादी से हम अपनी व्यावहारिक राजनीति में कुछ भी सहायता नहीं पा सकते। ऐसा कहनेवालों को समुचित उत्तर देना जरा मुश्किल का काम है।

गांधी जी की विचार-सरणी की ओर पाठकों का ध्यान हम फिर से आकृष्ट करना चाहते हैं। सबसे पहले तो उन्होंने इस

वात को स्वीकार किया कि स्वराज के लिए हम अधीर तो है, पर स्वराज का स्वरूप-निर्णय अभी तक हम लोग नही कर पाय है। इसके वाद उन्होने यह कहा कि हिन्दुस्थान से अँगरेज लोगो को निकाल वाहर करने का कोई महत्त्व नही है, क्योकि प्रश्न है उनकी स्थापित की हुई प्रणाली का। यदि वह वनी रही, तो हम अँगरेजो को वहिष्कृत करके भी स्वराज प्राप्त नही कर सकते। इस पर प्रश्न हुआ कि क्या आपको—अँगरेजो की प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली पसन्द नही है ? इसके उत्तर में गाधी जी ने ब्रिटिश पार्लिमट की वुराइयाँ वतलाई। इसके सचालक मन्त्रियो की तथा सहायक सदस्यो की स्वार्थी मनोवृत्तियो का भेदोद्घाटन किया और अन्त में समाचार-पत्रो की भुठाई और लोकमत की चचलता का चित्र खीचा। पश्चिमी जन-समाज के स्वभाव में ये सव वुराइयाँ क्योकर और कहाँ से आई ? महात्मा जी के मतानुसार इस प्रश्न का उत्तर है 'वर्त्तमान सभ्यता।'

वर्त्तमान सभ्यता

इस कारण छठवे अध्याय का विचारणीय विषय है 'सभ्यता।' गाधी जी कहते है कि वर्त्तमान का सभ्य आदमी अपनी सभ्यता की वुराइयो को स्वभावत नही देख सकता। स्वप्न देखनेवाला मनुष्य स्वप्नावस्था को सच ही समझता है। इस सभ्यता की मौलिक वुराई यह है कि उससे रँगा हुआ आदमी शारीरिक सुख-श्रेय को ही जीवन का उद्देश्य मानता है। इस भौतिक सुखोपभोग की इच्छा से प्रेरित होकर ही वह वडे वडे सुसज्जित महलो की रचना करता है, महीन से महीन और मुलायम कपडे पहनता है। पर उसकी मनोवृत्ति वही पुरानी वनी हुई है। पहले वृक्षो की छाल या चमडा पहन-कर तीर-कमान या भाला लिये हुए वह फिरा करता था। आजकल वह पतलून पहने और पिस्तौल छिपाये हुए चलता है। ऊपरी रहन-

सहन और सजधज में अलबत्ता परिवर्त्तन हुआ है, पर आदमी वही जगली है। उसकी वही पुरानी वर्बरता प्रच्छन्न रूप से उसके स्वभाव में अब भी बनी हुई है।

"पहले योरप मे लोग अपने हाथो से ही हल चलाते थे, पर आज भाप के यन्त्रो से एक ही आदमी कई बीघे ज़मीन बात की बात मे जोत डालता है। इस तरह कई लोगो का पेट काटकर वह बहुत-सा पैसा कमा लेता है। यह आजकल की सभ्यता मानी जाती है। पहले बहुत थोडे से लोग दस-पाँच ही ग्रन्थ लिखा करते थे और वे उच्च कोटि के होते थे। अब छपाई-सफाई के ज़माने में जिसका जी चाहता है वही कुछ लिखकर छपा लेता है और इस तरह उसका प्रचार करके लोगो के हृदय और बुद्धि को कलुषित कर देता है। पहले ज़माने मे लोग बैलगाडियो पर धीरे धीरे यात्रा किया करते थे और अब वे हवा मे मीलो तक मिनट भर में उडकर चले जाते है। यह व्यवस्था सभ्यता की पराकाष्ठा मानी जाती है। लोगो का कहना है कि आगे चलकर हमें अपने हाथ-पैर से काम करने की आवश्यकता न होगी। ज़रा-सा बटन दबाया कि भोजन सामने आ गया। दूसरा बटन दबाया कि पहनने के लिए कपडे सामने आये और तीसरे बटन के दबाते ही मोटर दरवाजे पर हाज़िर हो जायगी। लोगो के मतानुसार सभ्यता की यह आदर्श व्यवस्था होगी।"

"पहले लोग अपने शरीर की ताकत से लडते थे। अब एक आदमी मैशीनगन के पीछे छिपकर हजारो आदमियो के प्राण ले लेता है। पहले लोग खुली हवा में स्वेच्छापूर्वक काम किया करते थे। अब उन्हें मजबूरन लाखो की तादाद में खानो के या कारखानो के भीतर गन्दी हवा में बन्द रहकर काम करना पडता है। पूँजीपतियो के स्वार्थ के लिए उन्हे अपनी जानो को जोखिम में डालकर काम करना पडता है। पहले लोग शारीरिक बल-प्रयोग-पूर्वक गुलाम बनाये जाते थे, पर आजकल वही काम पैसे के

प्रलोभन से किया जाता है। आजकल ऐसी ऐसी बीमारियाँ फैल गई हैं जिनकी कल्पना भी पहले के लोगों को नहीं थी। इसी कारण आज हमें डाक्टरों की एक बड़ी फौज-सी दिखाई देती है जो हमेशा व्याधियों को दूर करने के उपाय सोचा करती है। अस्पतालों की संख्या इस कारण बहुत बढ़ गई है। पहले बहुत मुश्किल और खर्च से किसी खास आदमी को भेजकर ही हम अपना समाचार एक दूसरे को भेज सकते थे। आज की सभ्यता-निर्मित व्यवस्था ऐसी है कि हम तीन पैसे के पोस्टकार्ड में किसी को भी गाली लिख कर भेज सकते हैं। यह सही है कि हम उसी तरह धन्यवाद भी आसानी के साथ भेज सकते हैं। पहले लोग अपने घरों में भोजन पकाकर दिन-रात में सिर्फ दो या तीन बार खाया करते थे। अब तो होटलों में हर दो घंटों में लोग अच्छे अच्छे माल उड़ाते हैं, उन्हें दूसरे कामों के लिए कोई फुरसत ही नहीं। मैं अब अधिक क्या कहूँ। यही आजकल की सभ्यता है। इसी की लोग प्रशंसा करते हैं। जो उसकी बुराइयाँ बतलावे, वह मूर्ख और नालायक माना जाता है।"

"इस सभ्यता में धार्मिक शिक्षा को कुछ भी गुंजाइश नहीं है। यथार्थ में यह अधर्म का रूप ही है। इसके चंगुल में जो लोग फँस गये हैं, वे अर्द्ध-विक्षिप्त-से हो रहे हैं। न तो उनमें साहस है, न फिर शारीरिक शक्ति ही रह गई है। नशे के जरिये वे कुछ थोड़ी-सी ताकत बनाये रखते हैं। गृहस्थी की रानी स्त्रियाँ सड़कों पर फिरा करती हैं, या कल-कारखानों में मजदूरी करती हैं। उनकी दशा बड़ी दयनीय हो रही है।"

"यह सभ्यता आप ही आप नष्ट होनेवाली है, जरा धैर्य की जरूरत है। इसी सभ्यता के युग को हिन्दू-धर्म में कलियुग कहते हैं। अंगरेज-जाति इसके दुष्परिणामों से जर्जरित हो रही है। इसका सर्वथा परित्याग ही श्रेयस्कर सिद्ध होगा। पार्लिमेंट यथार्थ में दासत्व के प्रवर्त्तक हैं। यदि इन बातों पर आप गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो मुझसे सहमत होने में आपको कुछ भी कठिनाई प्रतीत न होगी।"

महात्मा जी के वर्तमान सभ्यता-सम्बन्धी विचारों का यही सारांश है। मननशील पाठक उन पर मनोनिवेशपूर्वक विचार करें।

छठवें अध्याय में वर्तमान सभ्यता पर क्टाक्ष करते हुए गांधी जी ने सातवें अध्याय में इस बात पर विचार किया है कि हिन्दुस्थान हमारे हाथों से क्यों और किस तरह छूट गया। यदि अँगरेजों की सभ्यता इतनी निकृष्ट और निकम्मी है तो फिर उन्होंने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे तैयार किया? इस प्रश्न के उत्तर में महात्मा जी कहते हैं कि इस देश पर अँगरेजों का आधिपत्य उनकी शक्तिमत्ता के कारण नहीं वरन् हमारी कमजोरी के कारण स्थापित हुआ है। कम्पनी बहादुर को बहादुर किसने बनाया? वे यहाँ पर अपना राज्य स्थापित करने की इच्छा से तो आये ही न थे। उनके सिक्के को और किसने लोभ की दृष्टि से देखा? किसने उनके सामान खरीदे? उन्हें रहने-बसने तथा रोजगार करने के लिए किसने अनेक सुविधायें दीं? कहना न होगा, यह सब हमीं लोगों ने किया। हमारे राजे-महराजे आपस में लड़ने लगे। कम्पनी बहादुर से उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध सहायता ली। कम्पनी व्यवसाय-कुशल थी, लड़ने-लड़ाने में सिद्धहस्त थी। उसके सामने नीतिमत्ता का कोई प्रश्न ही न था। हिन्दू-मुसलमान दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन थे। दोनों ने मिलकर कम्पनी की प्रभुता बढ़ाई और देश को उनके हाथों में सौंप दिया। इसलिए यह कहना सच नहीं है कि अँगरेजों ने हिन्दुस्थान को शस्त्र-बल से जीता। सच बात यह है कि हमीं लोगों ने आपस के विरोध में उनकी गुलामी स्वीकार कर ली।

अँगरेजों का राज इस प्रकार स्थापित तो हुआ, मगर प्रश्न यह है कि अब तक उनकी जड़ इतनी मजबूत क्यों बनी हुई है? इस प्रश्न के उत्तर में गान्धी जी ने आठ से लेकर बारह अध्याय तक हिन्दुस्थान की वर्तमान दुरवस्था का दिग्दर्शन किया है। उनकी राय में यह देश अँगरेजों के आधिपत्य से दलित नहीं है। यथार्थ में वह वर्तमान सभ्यता के दुष्परि-

णामो से विकृत और भ्रष्ट हो रहा है। हमारी पतनशीलता का कारण अँगरेजो का राज नही, वरन् मनुष्य-धर्म और ईश्वर की ओर से हमारा पराड्मुख होना है। हिन्दू-धर्म, इस्लाम, पारसी तथा ईसाई मजहब यही शिक्षा देते हैं, कि हमे दुनियादारी से उदासीन रहना चाहिए और पारलौकिक चिन्तन में रत होना चाहिए। हमारी भौतिक इच्छाओ की कोई निश्चित मर्यादा हो और हमारी धार्मिक आकाक्षायें असीम हो।

सपादकगाधी जी के इस विचार पर पाठक विगडकर कहता है कि उसी से हिन्दुस्थान इस दुर्दशा को पहुँचा है और वही धर्मांधता आप फिर से लोगो को सिखा रहे है। गाधी जी इस वात को स्वीकार करते है कि वर्तमान काल मे धर्म के नाम पर वहुत धूर्तता फैली हुई है, परन्तु उनका कहना है कि धर्म के धूर्तो ने ससार को उतनी हानि नही की जितनी कि वर्तमान सभ्यता के दगावाजो से हो रही है। जितनी वुराई आजकल की सभ्यता में है, उतनी पडे-पुजारियो की प्रवृत्ति में नहीं है। धर्म के नाम पर प्रच्छन्न या प्रकट रूप से जो अनाचार हो रहे है या हुए है, उन्हें महात्मा जी स्वीकार करते है, परन्तु उनका कहना है कि वर्तमान सभ्यता के जो अत्याचार है, वे कही वहुत वढे-चढे है। यह सभ्यता एक अन्त सारहीन पर मोहक प्रकाश है, जिससे आकृष्ट होकर लोग पतगो के समान लाखो और करोडो की सख्या में झुलसते, जलते और मरते जा रहे है। धर्म के नाम पर जो वुराइयाँ विद्यमान है, वे अपेक्षाकृत वहुत कम हानिकारक है।

पाश्चात्य सभ्यता पर महात्मा जी ने जो आक्षेप किये है, उनमे किसी भी समझदार हिन्दुस्थानी को कुछ भी मतभेद नही हो सकता। जिस प्रकार एक मनुष्य की वाल्यावस्था, यौवन और जरा—ऐसी तीन अवस्थाये होती है, उसी प्रकार मनुष्य-जातियो की भी हुआ करती है। वर्तमान की पाश्चात्य जातियाँ वहुत प्राचीन नही है। अपनी वर्वरता और वचपन से वे कल ही मुक्त हुई है। अभी उनका यौवन है, इसी कारण उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक है। प्राय प्रत्येक नौजवान को ससार के सुखोप-

भोग मे तल्लीनता रहती है और यह सर्वथा स्वाभाविक भी है। हिन्दुस्थान की हिन्दू-जाति अपनी उमर मे बहुत प्रौढ है। जिन दिनो में भारत के प्राचीन आर्य पद्मासन मारकर ससार के साराश पर मनोयोगपूर्वक चिन्तन कर रहे थे, उन दिनो अँगरेजो तथा इतर यूरोपीय जातियो के पूर्वज या तो विद्यमान ही नहीं थे या फिर गिरि-कन्दराओ में एक दूसरे के प्रति गुर्रा रहे थे। हिन्दुओ की इन प्राचीन जाति ने अपने यौवन मे ऐहिलौकिक सुखोपभोग भी किया और कुछ काल के बाद उसकी नि सारता का अनुभव करके उसका परित्याग भी कर दिया। उसकी दृष्टि पारलौकिक हो गई। जीवन की अनुभव-पूर्ण अवस्था मे सभी का दृष्टिकोण ऐसा ही हो जाता है। भारतीय सभ्यता एक प्रौढ सभ्यता है, इसी कारण उसकी रचना में आध्यात्मिकता का इतना अधिक पुट है। पाश्चात्य सभ्यता सासारिक सुखोपभोग का सभ्यता है, क्योकि वह नवजात जातियों की है। इस कारण वह वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध भारत को नही पटती। गाधी जी भारतीय आत्मा के अवतार है। इसी कारण वे पाश्चात्य सभ्यता के इतने घोर विरोधी है। उनकी आवाज यथार्थ मे अनुभवशील और प्रौढ भारत की आवाज है, कोई सुने या न सुने।

नवें अध्याय के प्रारम्भ ही में गाधी जी कहते है कि वर्तमान सभ्यता के जिन मूलाधार साधनो को हिन्दुस्थान के लिए मैं लाभदायक समझता था, उनके सम्बन्ध में मेरे विचारो मे बहुत बडा परिवर्तन हो चुका है। आज उन्हीं बातो को मैं महान् अनर्थकारी मानता हूँ। रेल, वकील और डाक्टर इन तीनो ने मिलकर इस देश को बिलकुल बर्बाद कर डाला है। यदि हम तीनो की शोषण-क्रिया से सावधान न होगे, तो हमारा सर्वनाश अवश्यम्भावी है।

"रेल के द्वारा अँगरेजो ने अपने राज की जड जमाई। रेल ने ही प्लेग फैलाया। उसी के द्वारा दुर्भिक्षो की सख्या बढ गई। रेल के जरिये बुरे और बदमाश आदमी अब तीर्थस्थानों में भी पहुँच गये है।"

इस आक्षेप के उत्तर में प्रश्नकर्ता पूछता है कि रेल से क्या लाभ

कुछ भी नही है ? उससे हम फायदा भी तो उठा सकते है। इसके उत्तर में गाधी जी कहते है कि भलाई की चाल धीमी होती है और बुराई बडी चचल और शीघ्रगामिनी हुआ करती है। इस कारण रेलो से भलाई तो न हो सकी, पर बुराइयो का प्रचार बहुत और बहुत जल्दी हो गया।

पाठक कहता है कि अगर रेल न होती तो इतने बडे देश में एक छोर से दूसरी छोर तक राष्ट्रीयता का इतनी जल्दी प्रचार ही न हो पाता। गाधी जी कहते है कि "हम एकराष्ट्र तो पहले ही से थे। हमारे सिद्धान्त, सस्कार, आचार-विचार सब समान थे। अँगरेजो ने ही यह विचार हमारे मन में ठूस दिया कि हम एकराष्ट्र कभी नही थे। हम एकराष्ट्र थे, इसी कारण समूचे हिन्दुस्थान मे अँगरेज लोग एकच्छत्र शासन स्थापित कर सके। पीछे उन्होने हमें एक दूसरे से विभक्त कर दिया। मेरे कहने का यह मतलब नही कि लोगो में भिन्नता नही थी। थोडी-बहुत बाहरी विषमता अवश्य थी। परन्तु देश के नेता पहले बैल-गाडियो पर बैठकर देश में भ्रमण किया करते थे। वे एक दूसरे के सपर्क में आकर परस्पर विचार-विनिमय किया करते थे। चारो दिशाओ मे हमारे पूर्वजो ने चार धामो की रचना की थी। तुम समझते हो कि उनका आन्तरिक अभिप्राय क्या था ? वे इन धामों में हिन्दुस्थान की हदबन्दी करके उसके अन्दर एक ही सभ्यता, एक ही राष्ट्र-भावना का प्रचार करना चाहते थे। वे अपने मन्तव्य में कृतकार्य भी खूब हुए। विदेशियो ने हमारी इस अन्तर्गत एकवाक्यता को अच्छी तरह पहचान लिया और हमें असम्बद्ध, खण्डित और अशक्त करने की स्वार्थमूलक इच्छा से उल्टी-सीधी शिक्षा देने लगे। उसी शिक्षा का यह दुष्परिणाम है कि हम आपस मे एक दूसरे को भिन्न समझने लगे है।"

इन अवतरणो में हमने महात्मा जी के विचारो का सक्षिप्त साराश-मात्र दिया है। विस्तारपूर्वक पढनेवालो को चाहिए कि वे

मूल पुस्तक ही देखें। रेलवे के सम्बन्ध मे उनके जो आक्षेप है, वे सम्भवत कई लोगो को मान्य प्रतीत न होगे । हमारी राय में उनके आक्षेप तो ठीक है, परन्तु उनसे यह सिद्ध नही होता कि उचित व्यवस्था के साथ उनकी बुराइयाँ दूर नही की जा सकती। स्टीम एंजिन का आविष्कार हुआ, रेलगाडियाँ बनी और फौरन उन्हे पूँजीवालो ने अपने अधिकार में ले लिया। अपनी जीविका और व्यवसाय का उन्हे साधन बनाया और उनके द्वारा अधिकाश जन-समाज को चूस डाला। इस कारण अर्थ-विषमता बढ गई। इसमे सन्देह नही कि यह सब रेलवे के दुष्परिणाम है, परन्तु ये सब बुराइयाँ यथार्थ में पूजीवादी शासको की व्यवसाय-नीति मे है, रेलवे में नही। यदि आज हमारी रेलगाडियाँ साम्राज्यवादियो की फौजें न ढोवें, मिल-मालिको की शोषण-क्रिया का साधन न बनाई जावे और जन-समाज के सच्चे प्रतिनिधियो के सुपुर्द कर दी जायें, तो उनकी सारी वर्तमान बुराइयाँ दूर हो जावेगी। हमारे पूर्वजो नें बैलगाडियो पर बैठकर धीरे-धीरे देश भर की यात्रा जरूर की, विचार-विनिमय भी किये, सदियो के प्रयत्न से सास्कृतिक एकवाक्यता स्थापित की, इस प्रकार समूचे भारतवर्ष को एक ही सस्कृति के सूत्र में बाँधकर एक सभ्यता-निर्मित राष्ट्र बनाया। फिर भी देश की विशालता तथा आने-जाने की कठिनाइयो के कारण वे एकच्छत्र राजनैतिक शासन का स्थायी निर्माण न कर सके। जो जहाँ था, वह वही अपने को स्वतन्त्र राज्य का निवासी समझता था। अनेक कलहशील राजाओ और महाराजाओ की सृष्टि हो गई। कभी कभी तो उनमें से बहुत-से लोग किसी चक्रवर्ती महाराजाधिराज के अधिकार मे आये, पर अधिकाश मे वे लडते ही रहे। आजकल जिस तरह योरोपीय राष्ट्र आपस में एक दूसरे के विरुद्ध सधि-चर्चा, सग्राम तथा दाँव-पेंच किया करते है; ठीक उसी प्रकार उन दिनो यहाँ के राजे-महाराजे सुदृढ केन्द्र-शासन के अभाव मे किया करते थे। हमारी वर्तमान हीनता का मूल कारण हमारी राजनैतिक असम्बद्धता ही रही

आई है। इतने बडे देश को राजनैतिक सगठन के शिकजे मे कसने के लिए और एक शक्तिमान् केन्द्र-शासन स्थापित करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जल्दी पहुँचने की सुविधा चाहिए थी। दक्षिण मे बगावत हुई तो दिल्ली से सिपाही चले, चलते चलते महीनो बीते और पहुँचते पहुँचते यात्रा की कठिनाइयो से कुछ मर गये, कुछ बचे और बचे सो सुस्त और निकम्मे बचे। अब बागियो का सामना कौन करे।

रेलवे और डाक दोनो ने मिलकर हिन्दुस्थान को हस्तामलक बना दिया है। आज शिमला मे निकला हुआ फरमान सिर्फ २४ घटो के अन्दर हिन्दुस्थान के कोने कोने मे गूज जाता है। प्रान्त बिल्कुल एक दूसरे के पडोसी हो गये है। उनके बीच लोगो का रेलगाडियो के द्वारा आना-जाना, माल लाना-ले जाना, सास्कृतिक, साहित्यिक, तथा राजनैतिक विचारो का आदान-प्रदान इतना अधिक बढ गया है कि अब एक प्रान्त की दुर्घटना दूसरे को भी पीडा पहुँचाती है। एक का दुर्भिक्ष दूसरे को भी घायल करता है। कहने का तात्पर्य यह कि रेल और डाक के द्वारा हमारे भिन्न भिन्न प्रान्तो के बीच आर्थिक स्वार्थ की अभिन्नता बहुत बढ गई है। यही वर्तमान की आर्थिक राष्ट्रीयता (Economic nationalism) की जननी है। इसी की प्रेरणा से हिन्दुस्थान अपने आर्थिक जीवन मे स्वावलम्बी हो सकेगा। रेल और डाक जिस दिन हमारे अधिकार में आ जावेंगे, उस दिन वे हमारे हितसपादक सिद्ध होगे। इंग्लैंड के समान छोटे से द्वीप में यदि रेल और डाक न हो तो भी कोई विशेष सुविधा का अनुभव न होगा। परन्तु हिन्दुस्थान, रूस और चीन के समान विशालकाय देशो को एक ही केन्द्र-शासन के अधीन मे लाने और सतत रखने के लिए रेल और डाक की सहायता अनिवार्य है। उनके अभाव में सगठनशील अँगरेज भी इस देश में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक ऐसी व्यापक शासन-व्यवस्था नही कर पाते। आज उनकी मौजूदगी ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की शोषण-

नीति का साधक हो रही है। कल वह भारतीय प्रतिनिधियों के अधिकार में हमारे राष्ट्रीय हित-सम्पादन में सहायक होगी।

हिन्दू-मुसलमान

हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में गांधी जी के मत का साराश सुनिए —

"धर्मों की विविधता हमारी राष्ट्रीयता की बाधक नहीं हो सकती। प्रत्येक राष्ट्र में हजम करने की शक्ति चाहिए। ऐसी शक्ति इस देश में पहले थी। इसी कारण इस देश में जितने विदेशी आये, सब आत्मसात् कर लिये गये। यथार्थ में धर्म का भेद तो ऐसा है कि जितने आदमी उतने ही धर्म हो सकते है। जो भारतीय प्रतिभा की इस आध्यात्मिक विशेषता को समझते है, वे फिर धार्मिक मतभेद की परवाह नहीं करते, न उस पर किसी प्रकार का आघात ही पहुँचाते है। इस देश के हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयों को समझ लेना चाहिए कि उन्हें अपनी स्वार्थ-दृष्टि से ही एक दूसरे से मिलकर रहना होगा। एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं है जिसमें धार्मिक सम्प्रदायों की भिन्नता न पाई जाती हो।"

"हिन्दू और मुसलमान जब लडे तब लडे, जब तो वे बहुत दिनों से मिलकर ही रहते आते थे। मुसलमान बादशाहो के सरक्षण में हिन्दू सुखी और समृद्धिशाली थे और मुसलमान लोग भी हिन्दू राजाओं के अधिकार में मजे से रहते थे। दोनों का झगडा तो अभी अँगरेजों के आने के बाद ही शुरू हुआ है।"

"हिन्दू-मुसलमानों के पुरखे तो एक ही है। मजहब बदल देने से क्या हुआ ? क्या हिन्दुओं के ईश्वर और मुसलमानों के खुदा अलग अलग है ? धार्मिक सम्प्रदाय तो एक ही जगह पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग है। क्या हिन्दुओं में आपस में ऐसे साम्प्रदायिक विग्रह नहीं हुए ? जैन-धर्म वैदिक-धर्म से भिन्न माना जाता है। फिर भी उन दोनों के मानने-वाले एक ही राष्ट्र में शामिल है।"

हिन्दू और मुसलमानो के सम्वन्ध मे गाधी जी का अधिकाश मत हमें मान्य है। इसमें सन्देह नही कि हिन्दू और हिन्दुस्थानी मुसलमानो के पूर्वज एक ही है। इस देश के मुसलमान हिन्दू पूर्वजो के ही विकृत वश-घर है। उन्हे हम विकृत इसलिए कहते है कि उन्होने अपने हिन्दू-सस्कार वदल दिये है और वदलते जा रहे है। उन्हे इस देश की हरियाली नही सुहाती। अरव की मरु-भूमि उन्हे अधिक प्यारी लगती है। वे अपनी मूर्खता और स्वाभिमान-शून्यता के वशवर्ती होकर समझने है कि उनके वाप-दादे वाहर से आये थे और हिन्दू-रक्त से उनका कोई भी सम्वन्ध नही है। इसमें सन्देह नही कि हिन्दुस्थान में धार्मिक मत-मतान्तरो को पूर्ण स्वतत्रता आदि काल से हो रही आई है। अभी भी हिन्दू-समाज मे अनेक तरह के धार्मिक विचार हैं। परन्तु ध्यान रहे कि धार्मिक मतभेद रहते हुए भी हिन्दूमात्र की सभ्यता एक ही है। जैन-धर्मावलम्वी वैदिक-धर्म को नही मानते, परन्तु जैनियो की सस्कृति वही है जो इतर हिन्दुओ की है। साम्प्रदायिक विग्रह भी इस देश में बहुत हुए, परन्तु सास्कृतिक समानता के कारण वे शान्त भी हो गये और आज दिन हमारी राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग में उनकी उपस्थिति कोई वाधा नही पहुँचा सकती। परन्तु इस देश के जो हिन्दू मुसलमान हो गये, उन्होने अपने धार्मिक विश्वास में ही परिवर्तन नही किया, वरन् अपनी रहन-सहन, वेष-भूषा और स्वभाव-सस्कार भी वदल डाले। यह सस्कार-भेद ही आज हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग को कटकाकीर्ण एव दुर्गम वना रहा है। जिसे हम हिन्दू-धर्म कहते हैं, उसमें अनेक पीर, पैगम्वर तथा अवतारी पुरुष विद्यमान है। इन महापुरुषो की पक्ति में हजरत मुहम्मद को भी प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त हो सकता है। परन्तु जिसे हम मुस्लिम मनोवृत्ति के नाम से पुकारते हैं और जिसकी मुख्य विशेषताये धर्मांधता, अविवेक और खूखारी है, उसके लिए हिन्दू-सभ्यता में जरा भी गुजाइश नही है। अतएव इस देश के हिन्दू और मुसलमानो में स्थायी मैत्री का होना उस

दिन सम्भव होगा, जिस दिन मुसलमान गोवध बन्द कर देंगे, अपने धार्मिक विचारों में तर्कशीलता और उदारता से काम लेंगे और हिन्दुओं को अपने देश भाई तथा हिन्दुस्थान को अपना देश मानने लगेंगे। अभी तो इन बातों का उनमें सर्वथा अभाव ही है। मुसलमानों के द्वारा जो गोकुशी होती है उसके सम्बन्ध मे महात्मा जी के मत का सारांश यह है —

"मैं स्वयं गाय का बड़ा प्रेमी भक्त हूँ। हिन्दुस्थान के समान कृषि-प्रधान देश के लिए तो वह माता के समान पोषण करनेवाली है। मेरे मुसलमान भाई भी इस बात को स्वीकार करेंगे।"

"लेकिन बात यह है कि मैं जितना आदर गाय को देता हूँ, उतनी ही श्रद्धा की दृष्टि से मैं अपने भाई मनुष्य को ओर भी देखता हूँ। मनुष्य उतना ही उपयोगी है, जितना एक मनुष्य, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। ऐसी हालत में क्या मेरे लिए यह उचित है कि गाय की रक्षा के लिए मैं अपने भाई मनुष्य से लड़ू या उसे मार डालूं? इसलिए गाय की रक्षा के लिए मेरा उपाय तो यह है कि मै अपने मुसलमान भाई से गोकुशी बन्द करने के लिए अनुनय-विनय करूँगा। यदि वह मान गया तो ठीक है, नही तो गो-रक्षा के प्रश्न को अपने सामर्थ्य के बाहर समझकर छोड़ दूंगा। यदि यथार्थ में मेरी गोभक्ति बिलकुल निर्विकार और गम्भीर है तो मैं गोरक्षा के प्रयत्न मे मुसलमान भाई के सामने अपने प्राण दे दूंगा, परन्तु उस आदमी पर किसी तरह का आघात न करूँगा।"

"मैं जब अपनी शान बघारता हूँ तो उसका वही प्रत्युत्तर मुसलमान भी देता है। लेकिन मैं जिस दिन विनीत होकर नम्रतापूर्वक व्यवहार करूँगा तो उसका सत्परिणाम यह होगा कि मुसलमान मेरे सामने मुझसे भी अधिक झुककर सभ्यतापूर्वक बातें करेगा। यदि उसने ऐसा नही किया तो भी मैं समझ लूंगा कि मैंने नम्रता दिखाकर कोई भूल नही की।"

महात्मा जी के उपर्युक्त विचार एक सत्पुरुष के योग्य ही हैं। परन्तु

बात यह है कि इस समाज में एक ही पक्ष की सद्भावना अधिक दिन नहीं टिक सकती और नासमझी और असहनशीलता की भी कोई सीमा होती है। संसार का कोई भी अर्थ-शास्त्री इस बात को स्वीकार करेगा कि एक कृषि-प्रधान देश के निवासी हिन्दुस्तानियों के लिए गोकुशी आत्म-हत्या के समान होती है। जो हिन्दुस्तानी गो-मांस खाता है, वह राष्ट्र-घाती है। यथार्थ में गाय खाने वाला अपनी ही सन्तति का भक्षण करता है। इस प्रत्यक्ष बात को इस देश के मुसलमान नहीं समझते। उनकी भावना इस दुनिया में बेजोड़ है। जो थोड़े-से लोग समझते भी हैं, वे केवल अपनी उद्दण्डता के वशवर्ती होकर हिन्दुओं को मनोवेदना पहुँचाने की इच्छा से ही गो-वध किया करते हैं। गाय को सजाकर धूम-धाम के साथ आम रास्ते से होकर ले जाने का जो नया तरीका कुछ दिनों से देखने में आता है, उसका दूसरा अभिप्राय क्या हो सकता है? अतएव हमारे मुसलमान भाइयों को चाहिए कि वे पूर्व सम्बन्ध, देश की परिस्थिति, गाय की उपयोगिता और हिन्दू-मुसलमानों के राष्ट्रीय स्वार्थ की अभिन्नता को समझें, सोचें और अपने दृष्टिकोण में आवश्यक सुधार करें। तभी वे इतर हिन्दुस्तानी सम्प्रदायों के आदर-भाजन हो सकेंगे। विदेशियों की कूटनीति के कठपुतले होकर रहने में न तो देश का कल्याण है, न फिर उनका भी कोई स्थायी और यथार्थ हित है। हमारे हिन्दू और मुसलमान राष्ट्रनेताओं का भी कर्तव्य है कि वे हमारी साम्प्रदायिक कमजोरियों की जरा खुलकर निर्भयता के साथ आलोचना करें, केवल यहाँ-वहाँ पर मौके-बेमौके कटाक्ष करने का असर दोनों पक्षों पर बुरा पड़ता है। एक अधिक उद्दण्ड हो जाता है, दूसरा अधिक शंकित और असन्तुष्ट हो जाता है। राष्ट्रीयता का 'बैलेन्स' इससे बिगड़ जाता है। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम एक स्वतन्त्र अध्याय में कर चुके हैं।

वकील-बैरिस्टर

वकील-बैरिस्टरों के सम्बन्ध में महात्मा जी की जो राय है, वह

हमें सर्वथा मान्य है। हम 'वकालत' शीर्षक अध्याय मे इस बात को स्वीकार कर चुके है कि पेशे के रूप में वकालत का धधा वकील और जन-समाज दोनो के लिए घातक सिद्ध हुआ है। लोगो में विग्रह हुआ ही करते है और उनके शमन करने का एक और भी तरीका है जो बहुत कम त्रास-जनक और अधिक सुभीते का है। वह है, आपस की पचायत, अधिकाश झगडे इसी तरीके से तय करना चाहिए। परन्तु वकीलो के इतनी अधिक सख्या में होने का परिणाम यह हुआ है कि लोग बात-बात में अदालतो में जाने के आदी हो रहे है। धन से बर्बाद होते है, मनोमालिन्य बढ जाता है और लडाई की धुन मे अनेक बार वे अपने मनुष्यत्व से हाथ धो बैठते है। वर्तमानकी परिस्थिति यह है कि हिन्दुस्थानी जन-समाज में जहाँ देखो वही आपस के लडाई-झगडे, मुकदमे-मामले और उन्ही की चौबीसो घटे चर्चा! जन-समाज के अशिक्षित और चालबाज़ आदमी अकसर ऐसे विग्रह-वृत्त के केन्द्र हुआ करते है। दोनो पक्षो से दो तरह की बातें करके दोनो भाइयो को आपस में लडाते है और अपना उल्लू सीधा किया करते है। अदालतो के इर्द-गिर्द, शहर में जगह-जगह, मुसाफिर-खानो मे और स्टेशनो पर भी इनकी मौजूदगी रहती है। वे यत्र, तत्र और सर्वत्र रहा करते है। दुर्भाग्य से ऐसे ही लोगों से वकीलो का जीवन सम्बद्ध हो रहा है। वकीलो के दफ्तर ऐसे छिद्रान्वेषी, प्रवचक, स्वार्थी और कलहकारी लोगों के अड्डे हो रहे है। ऐसी दशा में यदि वकील-सम्प्रदाय एक सगठित शरारत का उत्तेजक माना जाय तो इस आक्षेप का कोई उचित उत्तर ही नही दिया जा सकता। जिनकी जीविका लोगो के विग्रह पर अवलम्बित है, उनका जन-समाज में न होना ही अच्छा होगा। ससार में भेद-भाव और बन्धु-विरोध का शमन करना या सुलझाना तो एक मनुष्योचित पुण्य कार्य है। उसके लिए फीस क्यो और कैसी?

परन्तु हमारी समझ में यह बात नही आई कि महात्मा जी ने

वकीलो को हिन्दू-मुसलिम-विग्रह के लिए जवाबदार क्यो ठहराया है। यो तो वे सभी तरह के विग्रहो के प्रोत्साहक है। उनके धधे मे साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की प्रेरणा प्राय नही के बराबर है। यह बात और है कि वे साम्प्रदायिक दगो के बाद अदालतो में किसी न किसी पक्ष से जरूर खडे होते है। परन्तु दगो की प्रेरणा देनेवाले वकील नही माने जा सकते। वे लोग और है जो ऐसी उत्तेजना दिया करते है। वे है, कुछ पुराने कठमुल्ले और कुछ पद-लोलुप, स्वार्थी और मूर्ख विद्वान्। सम्भव है, ऐसे विद्वानो मे कुछ वकील भी हो। परन्तु इससे वकील-समाज पर कोई आक्षेप नही आ सकता। इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि वकोलो के उत्पन्न किये हुए या बढाये हुए झगडे अकसर जायदाद-सम्बन्धी हुआ करते है। क्योकि ऐसे मामलो मे ही उनको अधिक लाभ होता है। जैसा कि महात्मा जी के सकेत से प्रतीत होता है, वकीलो के अप्रकाशित उदाहरण ऐसे भले ही हो जो उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि के सबूत है। फिर भी ज्ञात घटनाओ के आधार पर लोगो की सार्वजनिक दृष्टि ऐसी नही होनी चाहिए। महात्मा जी के वकालत-सम्बन्धी इतर सभी विचारो के हम पूर्ण समर्थक है। वे जन-समाज के सत्ताधारियो के लिए सर्वथा मननीय और अनुकरणीय है। परन्तु इसके लिए चाहिए व्यापक दृष्टि और उदार-भावना। इस समय उन लोगो के पास दोनो मे से एक भी नही है।

वैद्य और डाक्टर

डाक्टरो और वैद्यो के सम्बन्ध मे महात्मा जी का जो प्रकाशित मत है, वह बिलकुल निर्विवाद नही माना जा सकता। पाठक उनके विचारो का पहले साराश सुनें—

"कभी-कभी मुझे यह बात ठीक जँचती है कि इन पढे-लिखे और डिग्रीधारी डाक्टरो से तो देहाती नुसखेबाज (Quacks) ही अच्छे है। रोगी शरीर को निरोग बनाना ही उनके धधे का उद्देश्य होता है।

अब देखना चाहिए कि हमारे रोग कैसे उत्पन्न होते है। हम कोई भूल कर बैठते है, कुपथ्य होता है और हम बीमार पड जाते है। दौडकर डाक्टर के पास गये, दवा ली और अच्छे हो गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हम आसानी से अच्छे होकर अपनी पिछली भूल से ग़ाफिल ही रहे। उससे कोई नसीहत न ली और हम ज्यो के त्यो रहे अथवा यो कहे कि और भी गफलत में पड गये। इस प्रकार दवा लेने-देने की सर्व-सुलभ सुविधा का परिणाम यह हुआ है कि लोगो की सयम-शक्ति जाती रही।"

"इस तरह हमारे दवाखाने गुनाहखाने हो रहे है। मनुष्य अपने आचरण में अधिक लापरवाह हो गये और दुराचार बढ गया। योरप के डाक्टर तो और भी गये बीते है। हर साल वे हजारो प्राणियो की हत्या करते है और समझते है कि हम लोगो की स्वास्थ्य-रक्षा के सम्बन्ध में कोई बडा काम कर रहे है। अबोध प्राणियो को पकड कर जीवित अवस्था में ही उनकी काट-छाँट करते हैं। यह तो धर्म के विरुद्ध है। वे हमारी धार्मिक भावनाओ के विरुद्ध काम करते हैं। उनकी अधिकाश दवाइयों मे या तो मदिरा रहती है या चरबी। हिन्दू-मुसलमान दोनो को इनसे नफरत है। हम अपने को बडे ऊँचे और सभ्य भले ही समझें और धार्मिक निषेधो को अधविश्वास ही मानें; परन्तु सच तो यह है कि डाक्टरो की उपस्थिति से हमे अपनी विलासी मनोवृत्ति में उत्तेजना मिली है और हमारे आत्म-सयम की बागडोर ढीली पड गई है। अतएव योरप के वैद्यक-शास्त्र का पढना-पढाना अपने दासत्व को बढाना है।"

"विचार करना चाहिए कि लोग डाक्टरी धधा क्यो करते हैं। सेवा-भाव से नही, द्रव्य और प्रतिष्ठा की लालच से लोग डाक्टर होते है। वे अपने ज्ञान का बडा प्रदर्शन करते है। उनकी दवाओ की तैयारी में मुश्किल से कुछ आने लगते है और वे उन्हे रुपयो की कीमत लगाकर दिया करते है। इस तरह लोग उनसे धोखा खाते है। क्या ऐसे शिक्षित डाक्टरो से नुसखेबाज अच्छे नही है।"

गांधी जी के वैद्य और वैद्यक-सम्बन्धी विचारों पर अपना मत प्रकट करने के पहले हम इस बात का अनुसंधान करें कि वर्तमान काल में इनकी इतनी अधिक नगण्यता क्यों हो गई है। वर्तमान की वैज्ञानिक सभ्यता ने बड़े-बड़े नगरों की सृष्टि की है। जहाँ जीवन के अनेक भौतिक प्रलोभन एकत्रित हो गये हैं। इसके सिवाय कल-कारखानों की रचना भी शहरों में हुई है। परिणाम यह हुआ कि अमीर लोग भौतिक सुख-भोग के लिए और गरीब आदमी अपने जीवन-निर्वाह के लिए देहातों को छोड़कर नगरों में आ बसे हैं। श्रीमान् लोग अपने विलासी आचरण के कारण बीमार पड़ते हैं और गरीब अपनी गरीबी, गंदी जल-वायु और सड़ी भोजन के कारण रोगग्रस्त हो जाते हैं। इस प्रकार गरीबी और अमीरी दोनों ही व्याधियों का आधार बनी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान सभ्यता-निर्मित बड़े-बड़े नगरों की बदौलत रोगियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। देहातों की शुद्ध जल-वायु में रहनेवाले अपेक्षाकृत बहुत कम बीमार पड़ते हैं। वहाँ वैद्य और डाक्टर भी इसी कारण बहुत कम पाये जाते हैं। इनकी महिमा विशेषकर शहरों में ही बढ़ी-चढ़ी है और वहीं सीमित भी है। द्रव्य-विभाजन की विषमता के कारण पश्चिमी संसार में श्रीमान् इसलिए अधिक बीमार पड़ते हैं कि उनके पास भौतिक भोगों के साधन पर्याप्त से भी बहुत अधिक हैं और दरिद्र इसलिए अस्वस्थ रहते हैं कि उनके पास जीवन के यथेष्ट साधन ही नहीं हैं।

हिन्दुस्थान-सरीखे परतंत्र और दरिद्रता-ग्रस्त देश की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो वह भी दरिद्रता-जन्य व्याधियों से ग्रस्त दिखाई देता है। जहाँ गरीबी है, वहीं दुर्भिक्ष, हैजा और प्लेग के प्रकोप विशेष उग्र रूप धारण करते हैं।

इनके अतिरिक्त बाल-विवाह की सामाजिक कुप्रथा लोगों के शरीर और मन को निःसत्व बना रही है। इस प्रथा का दुष्परिणाम स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से भोगना पड़ता है। कच्ची उमर में शरीर

ज्यों ही कमजोर हुआ, त्यों ही वह नाना प्रकार की बीमारियों का अड्डा बन जाता है। ऐसे अशक्त मा-बाप से जो सन्तान पैदा होती है, वह जन्म ही से अस्वस्थ रहती है। इस तरह पाठक देखेंगे कि इस समय पृथ्वी भर में अतिशय अमीरी, घोर दरिद्रता और सामाजिक कुप्रथाओं के कारण रोगियों की संख्या बहुत बढ़ गई है।

रोगियों की इस बढ़ी हुई संख्या ने डाक्टरों और वैद्यों की संख्या भी उसी अनुपात में बढ़ा दी है। अतएव इतना ध्यान में रहे कि वर्तमान परिस्थिति की प्रेरणा से ही चिकित्सकों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई है। रोगी अधिक हैं, इसलिए वैद्य-डाक्टर भी अधिक हो गये।

प्राचीन काल में न तो वर्तमान की भौतिकता-प्रधान सभ्यता थी, न फिर ऐसी सामाजिक परिस्थिति ही विद्यमान थी। उन दिनों बड़े-बड़े नगरों की रचना नहीं हुई थी, कल-कारखाने तथा केन्द्रित व्यवसाय की प्रणाली भी नहीं थी। लोग गाँवों की शुद्ध जलवायु में रहते थे, घरों में रहकर ही इच्छानुसार अपने उद्योग-धन्धों में लगे रहते थे और साधारण परिश्रम के बाद उन्हें सन्तोषजनक और स्वास्थ्यकर भोजन भी सुलभ था। इन कारणों से उन दिनों न तो अधिक रोगी पाये जाते थे, न वैद्यों की ही इतनी बहुलता थी।

यदि आज हम एक सरकारी हुक्म के द्वारा वैद्यों और डाक्टरों की संख्या कम कर दें और अस्पतालों में ताले लगा दें, तो परिस्थिति सुधरने के बजाय बहुत बिगड़ जावेगी। क्योंकि रोगियों की संख्या तो घटने की नहीं, बल्कि बहुत बढ़ जावेगी। चिकित्सा के बिना लोगों में 'त्राहि माम्' की पुकार मच जावेगी। हमें पूरा विश्वास है कि ऐसा करुणाजनक दृश्य अस्पतालों को पाप-भवन समझनेवाले गांधी जी के समान सुधारक भी न देख सकेंगे। रोगियों की संख्या जीवन की वर्तमान परिस्थिति को बदल देने से ही कम होगी। अतएव यह तर्क-सरणी बिलकुल ठीक है कि डाक्टरों की माँग है, इसलिए उनकी

सख्या वढ गई है और वर्तमान सभ्यता-जनित परिस्थिति की वदौलत रोगियो की सख्या भी वढ गई है। जव तक यह आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था वनी रहेगी, तव तक चिकित्सको की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान स्थिति में उनका होना सुविधाजनक है। अतएव हमारी शिकायत वर्तमान काल की सभ्यता से है, डाक्टरो और हकीमो से नही। उनसे तो हमे यही कहना पडेगा कि भाई, जव तक हमारी हालत खराव है, तव तक आप वने ही रहिए।

अव रही मन सयम के छूट जाने की वात। इस सम्वन्ध में महात्मा जी की तर्क-सरणी हमें विशेष युक्तियुक्त प्रतीत नही होती। सवसे पहली वात तो यह है कि मनुष्य चाहे शरीर-धर्म के कारण बीमार पडे, चाहे अपने दुराचारो की वदौलत; रोगग्रस्त होने के वाद वह अपनी स्वाभाविक आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उपचार तो करेगा ही, और इस प्रयत्न मे वह अपनी विज्ञान-वुद्धि का उपयोग अवश्य ही करेगा। इस नैसर्गिक प्रेरणा में कोई भी सुधारक कुछ भी परिवर्तन नही कर सकता। उसकी जरूरत भी नही है।

महात्मा जी कहते है कि वीमार पडने के वाद यदि मैं दवा न लूँ, तो बीमारी अपनी स्वाभाविक गति से चली जायगी और उसके द्वारा जो कुछ कष्ट मुझे मिलेगा, उसका पूरा-पूरा अनुभव पाकर मैं हमेशा के लिए नसीहत ले लूँगा। परन्तु यह कल्पना ही निर्मूल है। जिस तरह बीमारी का उत्पन्न होना और वढना एक नैसर्गिक क्रिया है, उसी प्रकार उसके रोकने का मानव-प्रयत्न भी विलकुल नैसर्गिक है। यह कैसे सम्भव है कि एक नैसर्गिक क्रिया को तो हम होने दें और दूसरी को रोकें ?

अव रही नसीहत लेने की वात, सो दवा लेकर भी तो रोगी काफी कष्ट पा जाता है। आज तक किसी भी वीमारी की कोई भी ऐसी अचूक ओषधि नही तैयार हुई कि पेट में पहुँचते ही वह व्याधि को दूर

भगा दे। दवा का परिणाम भी यदि अच्छा हुआ, तो धीरे-धीरे ही होता है। इतने समय में रोगी को कष्ट का अनुभव बहुत हो जाता है। और फिर इस पर पूरा यकीन ही कैसे हो कि दवा लेकर हम अच्छे हो हो जावेंगे। हम अपने सामने हर रोज ऐसे उदाहरण देखते है कि दवा लेकर भी कुछ नही होता, रोग बढता ही जाता है और प्राणो के साथ ही वह दूर होता है। अतएव दवा लेकर अच्छा हो जाने का परिणाम किसी भी साधारण से साधारण समझदार आदमी के मन मे यह नही हो सकता कि अनुभूत व्याधि के उत्तेजक कारणो के प्रति वह दुर्लक्ष्य करेगा।

इसमें सन्देह नही कि हम कई बार अपने मिथ्याचार के कारण बीमार पडते है। परन्तु फिर भी कोई यह कह सकता है कि सदाचारी बीमार नही पडते ? महात्मा जी के समान सयमी और सदाचारी इस ससार में बहुत कम होगे। वे अपने खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार मे इतने सतर्क और नियम-बद्ध रहते है कि शायद ही कोई दूसरा ऐसा हो। लेकिन फिर भी वे अपने जीवन मे अनेक बार बीमार पड चुके है। यरवदा जेल का 'एपेंडिसाइटिस' तो बडा ही भयकर था। अपने ऊपर लगाने के लिए गाधी जी के पास कौन-सा 'चार्ज' है ? हमें तो कुछ भी नही दिखाई देता। तात्पर्य यह कि नियमित और सयमित जीवन भी व्याधियो के चगुल से सर्वथा नहीं छूट सकता। शरीर की रचना ही ऐसी है, इसमे किसी का अधिक वश नहीं है। हमारे चारो ओर की प्रकृति जिन तत्त्वो से बनी हुई है, उन्ही तत्त्वो का मेल हमारे शरीर मे भी विद्यमान है। बाहर की प्रकृति में जो उथल-पुथल, सघर्षण और घटनाये होती है, उनकी लहरें दौडकर हमारे भौतिक शरीरो पर भी आघात पहुँचाती है। बाहर हवा में सरदी है, इस कारण हमें जुखाम हो गया। बाहर कडी गरमी है, हमे विषमज्वर हो गया। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे शरीरो का व्याधि-ग्रस्त हो जाना तथा उनके प्राकृतिक समन्वय का बनना और बिगडना भी सर्वथा नैसर्गिक घटनायें है। उन्हें सयमी जीवन भी बिलकुल

बन्द नहीं कर सकता। इस तरह वैद्य और डाक्टरों की आवश्यकता पर्याप्त संख्या में अच्छी से अच्छी मानव-सभ्यता के लिए भी अनिवार्य है।

अभी तक तो हमने उन लोगों की दृष्टि से विचार किया है जो समझदार, संयमी और स्वस्थ हैं। परन्तु उन बेचारों के विषय में क्या कहना चाहिए जो जन्म से ही कमजोर, रोगी अथवा अस्वस्थ रहा करते हैं। बच्चे भी बीमार पड़ते हैं, नैसर्गिक प्रेरणा से और मा-बाप की गलती से भी। दोनों हालत में वे दया के पात्र हैं। ऐसे प्राणियों के लिए सुविधापूर्ण अस्पतालों की सहायता व चिकित्सकों की आवश्यकता तो हमेशा रहेगी। माना कि इन अस्पतालों का लाभ वे लोग भी उठाते हैं जो अपने मिथ्याचारों के सबब बीमार पड़ते हैं। परन्तु इन सब बातों का निपटारा कैसे हो कि कौन रोगी अपनी बीमारी के लिए जवाबदार है और कौन नहीं है। ऐसी बातों की जांच-पड़ताल, कौन, कैसे और किस तरह करे? यही सब कठिनाइयाँ हैं जिनकी ओर आदर्शवाद अकसर दुर्लक्ष्य करता है।

प्रत्येक सभ्य आदमी को संयमी होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने प्रत्येक आचरण को सुविचार की बागडोर से शासित रखे। यदि ऐसे संयमी जीवन में भी वह बीमार पड़े, तो वह चिकित्सा-शास्त्र का उपयोग करके अपने शरीर को फिर से स्वस्थ और कर्मशील बनावे। यही तो पुरुष का पुरुषार्थ है कि नैसर्गिक विकारों का वह युक्ति और कौशल्यपूर्वक सामना करे और अपनी शरीर-रक्षा में संयम और चिकित्सा दोनों का उपयोग करे। संयम और चिकित्सा दोनों पुरुषार्थ के ही रूप हैं। केवल मन संयम से ही शरीर सर्वथा व्याधि-मुक्त नहीं हो सकता। अधिकांश लोग तो इतने संयमी हो भी नहीं सकते। अतएव चिकित्सा-शास्त्र मानव-बुद्धि का पुरुषार्थ है। शरीर को धर्म का साधन मानकर वह लोगों की सेवा में आठो याम तत्पर रहता है। इसी कारण सामाजिक जीवन में उसका इतना महत्त्व है। इसी कारण हिन्दुओं की सभ्यता

ने उसे "आयुर्वेद" (पाँचवें वेद) का सार्थक और प्रतिष्ठित नाम भी दिया है। इस वेद के आदि विधाता धन्वन्तरि महाराज बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते है। सद्वैद्यो की भी जन-समाज में अच्छी इज्जत होती है। गांधी जी कहते है कि "हम लोगो में (हिन्दुओ में) वैद्यो को जो अधिक प्रतिष्ठा का स्थान नही दिया गया है उसका रहस्य अब मैं समझ रहा हूँ।" परन्तु ऐसा तो हमने आज तक नहीं सुना कि वैद्यो की प्रतिष्ठा हिन्दू-समाज में किसी तरह कम है। कदाचित् किसी प्रान्तविशेष में ऐसी निर्मूल धारणा प्रचलित हो, हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते।

चिकित्सको के सम्बन्ध में महात्मा जी का मूलगत विचार इतना ही है कि चिकित्सा की अपेक्षा सयम श्रेष्ठ है। इस विचार के विरुद्ध किसी को कुछ भी आपत्ति नही हो सकती। आपत्ति इतनी ही है कि संयमी जीवन कठिन है और रोग की सम्भावना को वह सर्वथा बन्द भी नही कर सकता। इसी अनुपात में चिकित्सा की भी आवश्यकता अनिवार्य है। चिकित्सा के लिए ऐसे लोगो की जरूरत है जो बिलकुल नुसखेबाज न हो और शरीर-विज्ञान के साथ-साथ चिकित्सा-शास्त्र के शिक्षित और सदाचारी विद्वान् हो। ऐसे सद्वैद्यो की आवश्यकता सभ्य से सभ्य जन-समाज को भी हमेशा रहेगी।

हमारे देश में इस बात की बुराई है कि हमारे प्राचीन आयुर्वेद का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो रहा है। आयुर्वेद-शिक्षा की न तो सर्व-सुलभ उचित व्यवस्था है, न फिर योग्य आदमी भी इधर ध्यान देते है, क्योकि पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली के विद्वानो का विशेष मान है। इसलिए हमारे योग्य से योग्य हिन्दुस्तानी लोग वैद्य न होकर डाक्टर ही बन जाते हैं। परावलम्बी बुद्धि के कारण वे अपने शास्त्रो का अध्ययन भी नही करते। विदेशो से मँगाई हुई उनकी ओषधियाँ महँगी भी पड़ती है। उनके उपचार के कुछ ढग भी ऐसे है जो हिन्दुस्तानी प्रकृति की ओर दुर्लक्ष्य करते हैं। यही लोग यदि आयुर्वेद का भी अभ्यास

करें और अपनी अनुभूत एवं वैज्ञानिक देशी ओषधियों का उपयोग करें, तो उनकी सहायता जन-साधारण को अधिक सुलभ हो सकेगी। परन्तु आज की परिस्थिति ऐसी स्वदेशी व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। स्वराज ही उसका संपादक होगा।

भारतीय सभ्यता

पाठक गांधी जी से प्रश्न करता है —"जब आप रेलवे, वकील, बैरिस्टर और डाक्टरों की ऐसी कड़ी निर्भर्त्सना करते है तो फिर आपके मतानुसार सभ्यता क्या चीज है ?"

महात्मा जी उत्तर देते है —

"मेरा विश्वास है कि भारत के प्राचीन आर्यों ने जिस सभ्यता का निर्माण किया है, वह इस दुनिया में बिलकुल लासानी है। रोम मिट गया। ग्रीस की भी वही हालत हुई। ईजिप्ट पुरातत्व-शास्त्र का विषय हो चुका है। चीन की निसबत कुछ नहीं कह सकते। परन्तु हिन्दुस्थान का अन्तःस्वरूप अभी किसी कदर ज्यों का त्यों बना हुआ है। इस देश के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि हिन्दुस्थान के लोग इतने अज्ञानी और असभ्य है कि उनमें किसी तरह परिवर्तन की कोई गुंजाइश ही नहीं है। लेकिन सच पूछा जाय तो यह अपरिवर्तनशीलता हमारा जातीय गुण है, दोष नहीं। जिन बातों को अनुभव के आधार पर हमने स्वीकार कर लिया है, उनका परित्याग हम नहीं कर सकते। कई लोग हमें कई तरह की सलाह देते है। परन्तु हम अपने स्वरूप और सभ्यता पर आरूढ है। यही हमारी विशेषता है और इसी के कारण हमारा भविष्य उज्ज्वल भी है।"

"सभ्यता उस शक्ति का नाम है जो हमें कर्तव्यशील बनाती है और कर्त्तव्य का मार्ग भी दिखाती है। सदाचारशीलता का ही दूसरा नाम सभ्यता है। यदि सभ्यता की यह परिभाषा सही है तो मैं कह सकता

हूँ कि हिन्दुस्थान को किसी दूसरी जाति से कुछ भी सीखना नहीं है। मनुष्य का मन बड़ा चचल है। हम अपने विकारो की बागडोर जितनी ढीली छोड़ते है उतना ही वे और भी भड़कते है। इसी कारण हमारे पूर्वजो ने मनोविजय को ही यथार्थ पुरुषार्थ माना है। मनुष्य केवल धन-सम्पत्ति से ही सुखी नही हो सकता। श्रीमान् अकसर दुखी देखे जाते है। अपेक्षाकृत ग़रीब आदमी अधिक सन्तुष्ट रहते है। इन सब बातो पर विचार करके हमारे पूर्वजो ने इन्द्रिय-सयम को ही सभ्यता का साराश समझकर स्वीकार किया है। इसी कारण हमने अपनी पुरानी बातें अभी तक कायम रखी है। वही छोटी-सी पुरानी झोपड़ी, वही पुराने हल और वही हमारी देशी शिक्षा हमारे काम की चीजें है और उन्हे हमने अपने बीच बहुत कुछ सुरक्षित रखा है। हमारी सभ्यता में प्रतिस्पर्धा के लिए स्थान नही। हमारी संस्कृति सहयोग-मूलक है।'

"क्या हमारे पूर्वज यन्त्रो (Machinery) का निर्माण नहीं कर सकते थे? जरूर कर सकते थे। लेकिन उन्होने दूरदर्शितापूर्वक यही निश्चय किया कि अपने जरूरत के सभी काम हमे हाथ-पैर से करना चाहिए। उन्होने यह भी समझ लिया कि बड़े-बड़े नगरो की रचना लोगो के लिए लाभदायक सिद्ध न होगी। ऐसे स्थानो मे चोर, जुआरी, बदमाश और वारागनायें ही अपनी माया और प्रलोभन का विस्तार करेंगी और ग़रीब आदमी पैसेवालो के द्वारा लूट जावेंगे। इसी लिए उन्होने छोटे-छोटे गाँव ही बसाये। वे समझते थे कि मनुष्य की नैतिकता राजाओ की भौतिक शक्ति से बढकर होती है। इसी कारण उन्होने ऋषियो को राजाओ से अधिक मान दिया। जिस जाति की ऐसी सभ्य व्यवस्था है, वह दूसरों को बहुत कुछ सिखा सकती है, उसे अन्य राष्ट्रो से कुछ भी सीखने की जरूरत नही। हमारे देश में अदालतें थी, वैद्य थे और न्यायशास्त्री भी थे। लेकिन सब मर्यादा के भीतर काम किया करते थे और राजधानी के आस-पास ही पाये जाते थे। अधिकाश लोग स्वतन्त्रतापूर्वक देहातो में ही रहते थे। उनका जीवन कृषि-प्रधान था।

नहीं सभ्यता का उपभोग वे लोग ही किया करते थे। जहाँ वर्तमान की दूषित सभ्यता का प्रसार नहीं हुआ है, वहाँ लोग इन गये-गुजरे दिनों में भी सुखी हैं।'

"अतएव मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि जो लोग पाश्चात्य सभ्यता के हिमायती होकर हिन्दुस्थान में उसका बीजारोपण करना चाहते हैं, वे देश के जानी दुश्मन और पातकी हैं।"

"इस बात को मैं मानता हूँ कि हमारे बीच में कई प्रकार की सामाजिक और धार्मिक बुराइयाँ घुस पड़ी हैं। परन्तु हमारी सभ्यता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनको छिन्न-भिन्न करना हमारा कर्त्तव्य रहा है, भविष्य में भी रहेगा। इस समय देश में जो एक नई जाग्रति दिखाई देती है, उसका उपयोग हमें उन बुराइयों के मूलोत्पाटन में करना चाहिए।'

"इन सब बातों का सारांश देना चाहूँ, तो मैं यह कहूँगा कि भारत की प्राचीन सभ्यता मनुष्य की नैतिक योग्यता को बढ़ानेवाली है। वर्तमान की पाश्चात्य सभ्यता दुराचार का प्रचार करती है। पहली दैवी सम्पत्ति है, दूसरी आसुरी है। पहली परमात्म-निष्ठ है, दूसरी बिलकुल नास्तिक है। ऐसा समझकर प्रत्येक भारतवासी को अपनी सभ्यता से वैसा ही प्यार करना चाहिए, जैसा कि एक बच्चा अपनी माता से प्यार करता है।"

महात्मा जी के भारतीय सभ्यता-सम्बन्धी विचारों का सारांश हमने विस्तार के साथ दिया है, ताकि हमारे पाठक उनका यथार्थ अन्तर्दर्शन कर सकें। इन विचारों से किसी भी समझदार और स्वाभिमानी हिन्दुस्तानी का मतभेद नहीं हो सकता। यथार्थ में भारतीय सभ्यता मानवी विकास की एक बेजोड़ रचना है। इस समय भारतवासी उसकी विशेषताओं के पहचानने में स्वयं असमर्थ हो रहे हैं। उनकी परतन्त्रता-प्रसूत मनोवृत्ति उन्हें स्वयं अपनी दृष्टि में ही हीन बना रही है। ईर्ष्यालु विदेशी विद्वान् हमारी इस नासमझी के जन्मदाता और पोषक हैं। आश्चर्य की बात तो

यह है कि आज हमारे गुण भी हमें दुर्गुण के रूप में दिखाई दे रहे हैं। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की बदौलत हमारा दृष्टिकोण इतना भिन्न हो रहा है कि हमें अपना वैयक्तिक और सार्वजनिक कल्याण पश्चिम के पूर्ण अनुकरण में ही दिखाई देता है। हमारी यह उद्भ्रान्त धारणा ही हमारी यथार्थ परतन्त्रता है। विदेशी शासकों का सांस्कृतिक आक्रमण हमारे शिक्षित हिन्दुस्थानियों को बहुत कुछ घायल कर चुका है। अपनी सभ्यता से पराङ्मुख होना हमारे लिए जातीय आत्महत्या के समान है। मृतात्मा होकर फिर हम इस पृथ्वी पर जीवित नहीं हो सकते। हमारी यह आत्म-विस्मरणशीलता क्यों और किस प्रकार आई, इस बात की विस्तृत चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ पर इतना ही संकेत बस होगा।

हम यह भी बता चुके हैं कि विदेशी आक्रमणकारियों के द्वारा हमारे मनोविजय की जो क्रिया कुछ दिनों से जारी है, उसके विरोध में प्राचीन भारत की अतरात्मा किस तरह बोल उठी और किन-किन महापुरुषों के रूप में प्रकट होकर उसने विदेशी आक्रमण का सफलता-पूर्वक सामना किया। ऐसे महापुरुषों में महात्मा गाधी अग्रगण्य हैं। पाश्चात्य सभ्यता की बढ़ती हुई गति को जिस ज़ोर का धक्का उन्होंने दिया है, उतना शायद ही किसी ने दिया हो। यथार्थ में गाधीवाद की मौलिक विशेषता इसी एक बात में है कि वह भारतीय सभ्यता का बड़ा कट्टर हिमायती और पाश्चात्य सभ्यता का जानी दुश्मन है। गाधी जी के बाह्य रूप को ही देखकर कोई कह सकता है कि वे भारतीयता के पूर्ण अवतार हैं। उनका अत स्वरूप तो भारतीय संस्कारों से ओत-प्रोत है। आज उनकी वेष-भूषा, रहन-सहन तथा आचार-विचार को देख-सुनकर भारतीय शिक्षित समाज की आँखें बहुत कुछ खुल गई हैं। भारत की अतरात्मा आज गाधी जी के शब्दों में बोल रही है। ससार कान लगाकर सुन रहा है और वर्तमान हिन्दुस्थान पहले से अधिक सावधान हो चुका है। आत्म-विस्मृत जन-समाज को सावधान और सतर्क करना ही महापुरुषों का उद्देश्य

हुआ करता है। एक वार मनुष्य सचेत हुआ कि वह आप ही चलने लगता है।

स्वराज की परिभाषा

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जव इस देश की सभ्यता इतनी उत्तम है तो हिन्दुस्थान अपने वर्तमान दासत्व को किस तरह और क्यो प्राप्त हुआ ?

इस प्रश्न के उत्तर मे गाधी जी कहते है —

"पहली वात तो यह है कि प्रत्येक मानवी सभ्यता के लिए परीक्षा का समय आता ही है। जो सभ्यता सामर्थ्यवती है वह इन परीक्षाओ में उत्तीर्ण होती है। भारतमाता के वच्चे अपने पूर्वजो के अनुरूप सामर्थ्यवान् न रहे, लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये। इसी कारण उनकी सस्कृति खतरे में पड गई। पर उनकी सभ्यता की परीक्षा अभी पूरी नही हुई, अभी हो रही है और अभी तो यह देखना है कि इस आक्रमण से वह किस तरह और कितनी सुरक्षित निकलती है।"

"फिर यह सोचना भी भूल है कि सारा हिन्दुस्थान पराजित हो चुका है। जिनको पश्चिमी शिक्षा मिली है, वे ही गुलाम है। हम तो इतने मूर्ख है कि अपने छोटे-से गज से ब्रह्माड भर को नापना चाहते है। हम खुद गुलाम है, इसलिए समझते है कि सारा देश गुलाम है। यथार्थ में ऐसी वात नही है। इस एक वात को यदि हम समझ लें, तो हम यह भी समझ सकेंगे कि यदि हम खुद स्वतत्र है, तो हिन्दुस्थान भी स्वतत्र है। ध्यान रखना, इसी विचार मे तुम्हें स्वराज की परिभाषा भी मिल जावेगी। ज्यो ही हम आत्म-शासक हुए कि हमें स्वराज मिला। वह तो हमारे हाथ की हथेली पर है। ऐसी स्वराज-भावना का आरोपण हममें से प्रत्येक को अपने हृदय में करना चाहिए। इस भावना के अनुभव विना हम दूसरो को क्या खाक स्वराज दिला सकते है ? जो खुद ही गुलाम है, वह दूसरो को गुलामी से किस तरह छुटकारा दे सकेगा ?"

यत्किंचित् विस्तार के साथ 'स्वराज' की मीमासा हम 'स्वदेशी और स्वराज' शीर्षक अध्याय मे कर चुके हैं। यहाँ हम पाठको का ध्यान विशेषकर उसी अश की ओर आकर्षित करना चाहते है, जहाँ महात्मा जी ने स्वराज के यथार्थ आशय की ओर सकेत किया है। आत्म-बंधन ही मनुष्य की सच्ची परतंत्रता है। अपने से बढकर अपना कोई दुश्मन नही। 'आत्मैव रिपुरात्मन ।' जो विकारो और कमजोरियो के आत्म-बन्धन से मुक्त हो गया, वही सच्चा स्वराज-भोगी है। शेष सब परतंत्र है, कमजोरियो के गुलाम है। अपने स्वार्थ-मूलक विचारो से पराजित हम पहले हुए, राजनैतिक पराधीनता पीछे आई। दोनो का कार्य-कारण-सम्बन्ध है। उसी क्रम से हमें स्वतंत्र भी होना पडेगा। आचरण-बल के बिना हम अपने विकारो पर अधिकार प्राप्त करके आत्म-विजयी नही हो सकते। "स्वभावविजयो हि शौर्यम् ।" अपनी स्वाभाविक कम-जोरियो पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची शूरता है। जब तक हममें यह सामर्थ्य न हो, तब तक हम राजनैतिक स्वराज के भी योग्य नही हो सकते। जो क्षुद्र एवम् स्वार्थी विचारो से आक्रात हो सकता है, जो थोडे-से द्रव्य के लालच में पडकर देश के प्रति विश्वासघाती हो सकता है, जो कामिनी की एक चितवन से घायल हो सकता है और जिसे मदिरा की एक बोतल आकृष्ट कर सकती है, ऐसे चरित्र-हीन स्वार्थी मनुष्य को गुलामो के बन्धन में डाल रखने के लिए फौज की जरूरत ही नही है। वह अपनी बनाई हुई दासत्व की बेडी में स्वय बद्ध रहता है। इस बन्धन से, इस पशुता-पाश से जो मुक्त हुआ, उस पर से दूसरो का शासन आप ही आप उठ जाता है, उसके लिए अलग प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह कि महात्मा जी के मतानुसार सदाचार ही स्वराज है। राजनैतिक शासन सदाचारियो के लिए नही, दुराचारियो के लिए है; मनुष्यत्व से पराङ्मुख प्राणियो के लिए है। इस तरह पाठक देखेगे कि महात्मा जी राजनैतिक स्वराज को चरित्रबल का स्वाभाविक परिणाम समझते है। नीति-धर्म के पालन से सयम और सयम से चरित्रबल प्राप्त

होता है। इसी कारण वे स्वराज-व्यवस्था के जन्मदाता नीति-धर्म को ही प्रधान महत्त्व देते हैं। स्वराज तो उस व्यवस्था का नाम है, जिसका निर्माण हम स्वयं अपने आत्म-बल से किया करते हैं। वह चीज ऐसी है जिसे हम खुद ही खोते हैं और खुद ही हासिल करते हैं। न तो उसे कोई हमसे छीन सकता, न फिर देनगी के रूप में वह किसी दूसरे से प्राप्त ही हो सकता। इसी दृष्टि से स्वाभिमान-पूर्वक और संपूर्ण औचित्य के साथ महात्मा जी ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने कहा था कि मैं आप लोगों के पास स्वराज माँगने नहीं आया हूँ। वह तो हमें ही हासिल करना होगा। मैं सिर्फ आप लोगों से यही कहना चाहता हूँ कि हमारी स्वतन्त्रता के मार्ग में आपने जो रोड़े डाले हैं, उन्हें हटा दीजिए, हिन्दुस्थान आगे बढ़ने के लिए कटिबद्ध और अधीर हो रहा है।

पशु-बल

(Brute force)

सोलहवें अध्याय में पाठक पशु-बल की उपादेयता का प्रतिपादन करता है और कहता है कि जब इँग्लैंड-सरीखे इतर राष्ट्रों ने पशु-बल के प्रयोग से अपनी इष्टसिद्धि की, तब हम भी ऐसा ही क्यों न करें। यदि उद्देश्य अच्छा है, तो उसे सिद्ध करनेवाले सभी साधन अच्छे हो सकते हैं। यदि मेरे घर में चोर घुसा हो, तो क्या मैं यह सोचने बैठूँ कि कौन-सा साधन धर्म है और कौन-सा अधर्म ? ऐसी हालत में मेरा कर्तव्य होगा कि मैं किसी भी हालत में उसे निकाल बाहर करूँ।

"इसके उत्तर में गांधी जी कहते हैं कि साधन और साध्य-दोनों का ऐसा घनिष्ठ-संबंध है कि अच्छे साध्य का साधन भी अच्छा चाहिए। बुरे साधनों से हम किसी भी प्रकार का सदुद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकते। यदि मुझे समुद्र पार करना है तो नाव चाहिए, गाड़ी से काम न चलेगा। जैसा बीज बोया जावेगा, वैसा ही फल लगेगा। यदि मैं ईश्वर को प्रसन्न करना चाहता हूँ, तो शैतान की आराधना से काम न चलेगा।

यदि मैं अपना अधिकार चाहता हूँ, तो मुझे अपना कर्तव्य पहले करना चाहिए। यदि मैं तुमसे छड़ी छीनना चाहता हूँ, तो मुझे तुमसे लड़ना पड़ेगा। यदि खरीदना चाहूँ तो कीमत चुकानी होगी और यदि दान के रूप में लेना चाहूँ, तो अनुनय-विनय करनी होगी। इस तरह तुम देखोगे कि तीन भिन्न-भिन्न साधनों के तीन भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं।"

महात्मा जी की इस तर्क-सरणी के सम्बन्ध में हमारा कहना सबसे पहले यह है कि ऐसे विषयों का निर्णय उदाहरणों के द्वारा होना बहुत कठिन है। ठेठ विचारणीय विषय को लेकर ही तर्क का आश्रय लेना ठीक होता है। अतएव सबसे पहले हम इसी एक बात पर विचार करें कि पशु-बल की परिभाषा क्या है, पशु-बल हम किसे कहें और किसे न कहें ?

यदि पशु-बल को हम शरीर-बल का पर्यायवाची मानें, तो यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि शरीर-बल का प्रत्येक प्रयोग पशु-बल का प्रयोग नहीं माना जा सकता। यदि किसी अशक्त और बीमार आदमी को मैं शरीर-बल से उठाकर अस्पताल तक ले जाऊँ, तो ऐसा कहना असंगत होगा कि मैंने पशु-बल का प्रयोग किया। 'पशु-बल' के 'पशु' शब्द में पाशविक मनोवृत्ति का आशय सन्निहित है। यानी जिस बल का प्रयोग पाशविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर किया जाता है, उसी को पशु-बल कह सकते हैं। अब देखना चाहिए कि पाशविक मनोवृत्ति क्या है ?

पशुओं में देखा जाता है कि उनमें कर्तव्याकर्तव्य बुद्धि नहीं होती। उनकी सारी क्रियाशीलता स्वार्थ-मूलक होती है। मनुष्येतर प्राणियों का सबसे प्रथम और अन्तिम स्वार्थ है, क्षुधा-शान्ति और जीवन-रक्षा। उन्हें जीवन में केवल शरीर-पोषण की आवश्यकता विशेष रहा करती है। इसकी पूर्ति करने में वे अपने शरीर-बल का उपयोग किया करते हैं। ज्यों हीं उन्हें भूख लगी कि अपने से किसी अशक्त प्राणी को मारकर खा लिया। यही उनकी प्रतिदिन की चर्य्या है। पशुओं की प्रवृत्ति में यही एक विशेषता है कि अपने स्वार्थ के साधन में वे धर्माधर्म का विचार नहीं करते और शरीर-बल का ही प्रयोग करते है, क्योंकि बुद्धि-बल उनमें होता ही नहीं।

इस दृष्टि से यदि हम पशु-बल को परिभाषा देना चाहे तो कहना होगा कि पशु-बल हम शारीरिक शक्ति के उस स्वार्थ-मूलक प्रयोग को कहते है जिससे किसी दूसरे प्राणी को कष्ट पहुँचता है। ध्यान रहे कि इस परिभाषा में दो बाते महत्त्व की है, शारीरिक बल का प्रयोग स्वार्थ-मूलक हो और किसी दूसरे को हानिकारक भी हो। केवल स्वार्थ-मूलक होने के कारण ही हम शरीर-बल को पशु-बल नही कह सकते। जो मजदूर अपने शरीर-बल (Manual labour) से बिना किसी दूसरे को हानि पहुँचाये अपना स्वार्थ-साधन करता है, उसके सम्बन्ध में हम यह नही कह सकते कि वह पशु-बल का प्रयोग कर रहा है। उसी तरह हम शरीर-बल के किसी प्रयोग को दूसरो के लिए केवल कष्टकारक होने के कारण ही पशु-बल नही कह सकते, उसे स्वार्थ-मूलक भी होना चाहिए। टूटी हुई कलाई को खीचकर सीधा करनेवाला डाक्टर और मालिश करनेवाला नौकर दोनो अपने बल-प्रयोग से दूसरो को कष्ट अथवा पीडा पहुँचाते ही है। परन्तु पशु-बल-प्रयोग का दोषारोपण उन पर नही किया जा सकता, क्योकि उनका शरीर-बल-प्रयोग स्वार्थ-मूलक नही होता। अतएव शरीर-बल को पशु-बल कहलाने के लिए दो बातो की आवश्यकता है, स्वार्थ और पर-पीडन। तात्पर्य यह कि स्वार्थ-मूलक और पर-पीडक शारीरिक बल-प्रयोग को ही हम पशु-बल कह सकते है। यही परिभाषा हमे युक्ति-युक्त जँचती है।

आत्म-बल
(Soul Force)

अब हमें यह देखना है कि आत्म-बल क्या चीज है। उसका सच्चा रहस्य तो हमारी समझ में तभी आवे, जब कि हम यह समझ लें कि आत्मा किसे कहते है। आत्मा उस अनुभूत शक्ति का नाम है जो इस ब्रह्माण्ड के मूल में विद्यमान है और जो समूचे सृष्टि-प्रपच का अविनाशी आदि कारण है। ससार की सारी सत्ता, सारी शक्ति उसी की है। जीवात्मा से उसका बाहरी

भेद दिखाने के लिए उसे परमात्मा भी कहते है। परन्तु वस्तुत जीवात्मा और परमात्मा दोनो एक है। 'आत्मा' शब्द दोनो का द्योतक है। इसी कारण उपनिषदो ने कई स्थानो पर 'परमात्मा' के अर्थ में 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

आत्मा की शक्ति सर्वव्यापिनी है। सिवाय आत्मा के कुछ है ही नही। जड सृष्टि भी उसी का रूपान्तर है। हमारा शरीर भी हमारी आत्मा का दूसरा रूप ही है। तुच्छ से तुच्छ कोटाणु में और गाधी जी के समान महा-पुरुष में केवल आत्म-विकास का ही अन्तर है, वस्तुत कोई भेद नही। दोनो मूलगत आत्मा के दो रूप है। परन्तु फिर भी हम ससार की भाषा में जड और चेतन तथा ऊँच और नीच का भेद अपनी समझ की सुविधा के लिए किया करते है। जहाँ पर हमें आत्मा का अस्तित्व बिलकुल निश्चल और निश्चेष्ट दिखाई देता है, वहाँ हम जडता का आरोप कर देते है। जहाँ वह चचल और शक्तिमान् दृष्टिगोचर होता है, वहाँ हम चेतनता का आरोप करते हैं। हम अपने शरीर का ही उदाहरण लें। हमारा यह शरीर जड है, उसमें कोई शक्ति नही। मृत शरीर को कोई देखे कि वह कितना जड और शक्तिहीन रहता है। जब तक उसमें जीवात्मा का निवास है, तब तक वह चलता-फिरता है, मार-पीट करता है और कई प्रकार की हरकतें करता है। अतएव जिसे हम शरीर-बल कहते है, उसका अस्तित्व शरीर में नही, आत्मा में है। इसी तर्क-सरणी के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जिसे हम पशु-बल कहते है वह भी वस्तुत आत्मा का ही बल है। सिंह एक ऐसा जानवर है जो पशु-बल से परिपूर्ण रहता है। परन्तु मरे हुए सिंह के शरीर में उस बल का नामोनिशान भी नही पाया जाता, क्योंकि उसमें आत्मा नही। इस व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पशु-बल और आत्म-बल मे वस्तुत कोई अन्तर नही रह जाता।

फिर भी जब ऐसे दो शब्दो का प्रयोग होता ही है, तो दोनो में अर्थान्तर भी होना चाहिए। ऐसी हालत में हमें अब यह देखना है कि पशु-बल और आत्म-बल के बीच वैज्ञानिक अन्तर की लकीर कहाँ पर और

कैसी खीची जानी चाहिए। पशु-बल की मीमासा करते हुए हमने पहले यह निर्णय कर लिया है कि स्वार्थ-मूलक और हिंसक शरीर-बल को ही हम पशु-बल कह सकते है, क्योकि स्वार्थ और हिंसा दोनो पाशविक प्रकृति के लक्षण हैं। ठीक उसी तरह हम आत्म-बल उसे कहेंगे जिस बल के पीछे परमार्थ की प्रेरणा हो, क्योकि वह आत्मा का गुण है। इस परिभाषा के अनुसार शरीर-बल के ऐसे सभी प्रयोग जो परमार्थ दृष्टि से अथवा लोक-सग्रह की दृष्टि से किये जाते है, आत्म-बल के ही प्रयोग कहे जावेंगे। अतएव जो सिपाही राष्ट्र और स्वधर्म-रक्षा की पारमार्थिक दृष्टि से प्रेरित होकर स्त्री और बच्चो से अन्तिम बार मिलते हुए प्रसन्नता-पूर्वक समर-भूमि की ओर अग्रसर होता है उसके पैर आत्म-बल से ही चलते है। वहाँ पशु-बल की बू-बास भी नही।

आत्म-बल का यह अर्थ हर्गिज नही कि हमारे शरीर मे कोई क्रिया ही न हो। प्रत्युत सभी प्रकार की शारीरिक क्रियाये जो पारमार्थिक दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त करती है, आत्म-बल के ही प्रयोग है। इसके विपरीत हमारी जिन क्रियाओ को पाशविक मनोवृत्ति से प्रेरणा मिलती है, उन्हे पशु-बल के उदाहरण समझना चाहिए।

निष्क्रिय प्रतिरोध

(Passive Resistance)

सत्रहवें अध्याय मे महात्मा जी ने आत्म-बल-समर्थित निष्क्रिय प्रतिरोध की विस्तृत विवेचना की है। सबसे पहले पाठक इस बात की जानकारी चाहता है कि आज तक मनुष्य-जाति के इतिहास मे किसी जन-समाज ने अपने उत्कर्ष-साधन मे इस बल का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है या नही। इस प्रश्न का उत्तर महात्मा जी बहुत युक्ति-पूर्वक देते है। इतिहास मे उन्हे सामूहिक निष्क्रिय प्रतिरोध का कोई उदाहरण नही मिलता। इस कारण पहले वे इतिहास की ही मीमासा करते हुए लिखते है —

"इतिहास केवल बड़े लोगों का—राजाओं और महाराजाओं का तथा उनकी कार्रवाइयों का—इतिहास है। ऐसे इतिहास में भला आत्म-बल के प्रयोग करनेवाले कहाँ स्थान पा सकते हैं। यदि मनुष्य-समाज का अतीत केवल युद्धों से ही भरा होता, तो दुनिया आज दिन विद्यमान ही न रहती। एक आदमी भी आज तक जीता न बचता। संसार में आज भी इतने अधिक लोग इतनी लड़ाइयों के बाद भी सही सलामत बने हुए हैं—यही इस बात को सिद्ध करता है कि आत्म-बल का सफल प्रयोग लोग करते ही आये हैं। दो भाई आपस में प्रेमपूर्वक रहते हैं। यह एक ऐसी बात है जिसकी ओर लोगों का ध्यान ही आकर्षित नहीं होता। फिर उस बात की चर्चा कौन करे? परन्तु जब वे दोनों भाई आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे की हत्या करता है या दोनों मिलकर अदालत की शरण लेते हैं तो इस घटना की सर्वत्र चर्चा होने लगती है। पत्रों में भी उनके कलह का समाचार प्रकाशित होता है और इस तरह वह घटना प्रसिद्ध हो जाती है। ऐसी हालत में मानना होगा कि जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह उन्हीं घटनाओं का संकलन एवं वर्णन करता है जो समाज की प्रेम-बल-संचालित व्यवस्था में किसी तरह की रुकावट या गड़बड़ पैदा करता है। आत्म-बल की कार्रवाइयाँ बिलकुल स्वाभाविक होती हैं और हमेशा जारी रहती हैं। इसलिए उनकी चर्चा इतिहास में नहीं पाई जाती।"

बहुत युक्तियुक्त उत्तर है। यथार्थ में यह संसार प्रेम-बल के आधार पर ही स्थित है। हमारा अधिकांश वैयक्तिक जीवन इसी बल से संचालित होता है। हमारा कुटुम्ब-प्रेम, परिवारगत आत्मीयता, सामाजिक संबद्धता तथा राष्ट्रीय एकवाक्यता—सब प्रेम-बल की बदौलत ही विद्यमान हैं। प्रेम का स्नेहाकर्षण यदि मनुष्य और मनुष्य के बीच न हो, तो इस पृथ्वी पर किसी भी तरह की व्यवस्था ही न रहे। मनुष्य तो बहुत ऊँचा प्राणी है, पशु और पक्षी तक इस प्रेम-बल से प्रेरित होकर संबद्धतापूर्वक एक ही स्थान पर रहते हैं। हमारा सौर्य जगत् स्नेहाकर्षण का एक जाज्वल्य-

मान उदाहरण है। समूची सृष्टि ही अभिन्नता-मूलक है। अभिन्नता का ही दूसरा नाम प्रेम है।

लेकिन हमारी राय मे प्रश्नकर्ता का यथार्थ आशय कुछ दूसरा था। वह इस बात को जानना चाहता था कि इतिहास मे कोई जाति अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता आततायियो से प्रेम-बल की बदौलत फिर से प्राप्त कर सकी है या नही। राष्ट्रो का उत्कर्ष तो आत्म-बल से होता ही है। इस बात को कोई अस्वीकार नही कर सकता, न फिर कोई समझदार आदमी ऐसा प्रश्न ही करेगा।

महात्मा जी के वक्तव्य मे उपर्युक्त प्रश्न का कोई उत्तर नही है।

इस अध्याय मे गाधी जी ने आत्म-बल के प्रयोग को निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) कहा है। परन्तु हमारी राय मे दोनो शब्द समानार्थक नहीं है। आत्म-बल के प्रयोग कई प्रकार के हुआ करते है और उनमे निष्क्रिय प्रतिरोध भी एक प्रकार है। सत्याग्रह आत्म-बल के प्रयोग को ही कहते है। सत्याग्रह को यदि हम 'प्रेमाग्रह' अथवा 'आत्माग्रह' भी कहे तो ठीक ही होगा, क्योकि सत्य, प्रेम और आत्मा तीनो एक ही शक्ति के अलग अलग नाम है। इस ससार मे सब मिथ्या है, केवल आत्मा ही सत्य है। अतएव सत्य और आत्मा दोनो एक है। फिर प्रेम का रूप भी आत्म-मूलक है। जहाँ अभिन्नता के भाव है, वही प्रेम भी होता है। सभी प्राणियो में अभिन्न रूप से जो तत्त्व विद्यमान है, उसी को 'आत्मा' कहते है। अतएव अभिन्नता आत्मा ही का गुण है। यदि प्राणी मूलत एक दूसरे से भिन्न हो, तो दोनो के बीच किसी तरह का आकर्षण अथवा प्रेम हो ही नही सकता। तर्कदृष्टि से यह एक असभव बात होगी। दो प्राणियो मे पारस्परिक स्नेहाकर्षण के लिए दोनो में मूलगत अभिन्नता होनी ही चाहिए। इस तरह पाठक देखेंगे कि सत्य और प्रेम दोनो आत्मा के ही गुण-धर्म है।

इसलिए आत्म-बल के प्रयोगो को सत्याग्रह कहना ही ठीक होगा।

'सत्याग्रह' के जो रूप-रूपान्तर हमने पिछले अध्याय में बतलाये हैं, उन्हें देखने पर पाठकों को प्रतीत होगा कि जिसे हम निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) कहते हैं वह निष्क्रिय सत्याग्रह या उसका अन्तिम और निकृष्ट रूप है। शरीर को जड़वत् बनाकर जो विरोध किया जाता है उसी को इस नाम से पुकारना ठीक होगा, अन्यथा इस शब्दयोजना में जो 'निष्क्रिय' (Passive) शब्द है, वह बिलकुल अनुचित हो जाता है। ध्यान रहे कि आत्म-बल के प्रयोगों को निष्क्रिय कहना ठीक नहीं। सिवाय इसके आत्म-बल (सत्याग्रह) के कई प्रयोग ऐसे भी होते हैं जिनमें शरीर भी क्रियावान् रहता है। मजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध जो आदमी सभामंच पर खड़ा होकर व्याख्यान देता है, उसकी क्रिया को हम निष्क्रिय प्रतिरोध नही कह सकते।

इस शब्द के गढ़नेवाले यथार्थ में टॉल्स्टॉय हैं। बाइबिल के 'रेसिस्ट नॉट ईविल' (बुराई का विरोध न करो) के उपदेश से प्रभावित होकर संभवतः उन्होंने इस शब्द की रचना की होगी। सामूहिक अहिंसात्मक विरोध का तरीका गाधी जी को टॉल्स्टॉय से ही मिला है। परन्तु अहिंसा-दृष्टि महात्मा जी की खास चीज है। इसके लिए वे टॉल्स्टॉय के आभारी नहीं हो सकते। बल्कि टॉल्स्टॉय को ही गाधी जी से अहिंसा-सम्बन्धी आध्यात्मिक शिक्षा मिल सकती है। उस रशियन विचारक ने अपनी योजना में अहिंसा को अशक्तों के लिए व्यावहारिक अस्त्र के रूप में ही स्वीकार किया है। सच्ची अहिंसा-दृष्टि के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा और वेदान्त का तत्त्व-ज्ञान चाहिए, सो महात्मा गाधी को है और टॉल्स्टॉय को नही था।

फिर भी जब गाधी जी ने टॉल्स्टॉय से सामूहिक विरोध का तरीका ले लिया तो उनका शब्द भी लेना पड़ा। वर्षों तक महात्मा जी 'पैसिव्ह रेजिस्टेंटस्' शब्द का उपयोग अपने व्याख्यानो और लेखो में करते रहे। अनुभव और विचार दोनो बढ़ते गये और कुछ काल के बाद यह शब्द

अनुपयुक्त अथवा घटिया प्रतीत होने लगा। आज हमे आत्म-बल के सभी तरह के प्रयोगो के लिए एक बहुत अच्छा और व्यापक अर्थ देनेवाला शब्द 'सत्याग्रह' मिल गया है। वह एक मौलिक संस्कृत शब्द है, जिसका अनुवाद विदेशियो को करना होगा। उसके कई रूप-रूपान्तर है। किसी मे शारीरिक क्रिया होती है, किसी मे नही, असहयोग, भद्र अवज्ञा, धरना देना तथा उपवास करना ये सब सत्याग्रह के ही भिन्न-भिन्न रूप है। निष्क्रिय प्रतिरोध उसका एक निचला रूप है जिसके द्वारा हद दर्जे शरीर को जडवत् बनाकर विरोध किया जाता है। तात्पर्य यह कि आज हमारे पास सत्याग्रह (Love force or Soul force) के भिन्न-भिन्न प्रकारो के लिए भिन्न-भिन्न नाम है और उनके वैज्ञानिक वर्गीकरण करने का प्रयत्न हमने किसी पिछले अध्याय में किया है।

ऐसी दशा में 'हिन्द-स्वराज' के पढनेवाले को निष्क्रिय प्रतिरोध का सत्याग्रह के अर्थ मे प्रयुक्त होना बहुत खटकता है। समझदार पाठको के लिए तो विचार-विकास की ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रयोग यदि इस पुस्तक में बना रहे तो कोई हर्ज नही। परन्तु सर्वसाधारण लोग इस सूक्ष्म विशेषता को नही समझ सकते। इस कारण वे भ्रम में पड सकते है। 'निष्क्रिय प्रतिरोध' शब्द का उपयोग गाधी जी को भी कुछ खटकता ही था। यह उनके निम्नलिखित वाक्य से प्रतीत होता है।

"The force implied in this may be described as love force, soul force or more popularly *but less accurately*, 'Passive Resistance"

(हिन्द-स्वराज, पृष्ठ-सख्या ७७)

"इसमे जिस शक्ति का उपयोग होना है उसे आत्म-बल या प्रेम-बल कहना चाहिए। आम तौर पर लोग उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' कहा करते है, परन्तु यह शब्द-योजना उतनी उपर्युक्त नही है।"

इस अध्याय का दूसरा महत्त्वपूर्ण अश वह है, जिसमे गाधी जी ने निष्क्रिय प्रतिरोध की व्याख्या की है। वे लिखते है —

"निष्क्रिय प्रतिरोध वह तरीका है जिसमे मनुष्य आत्म-यन्त्रणा के द्वारा अपने अधिकार प्राप्त करता है। यह उपाय शस्त्र-प्रयोग के बिलकुल विरुद्ध है। जब मै अपने अन्त करण की प्रेरणा के अनुसार किसी अनुचित काम को करने से इनकार करता हूँ, तब मुझे आत्म-बल का प्रयोग करना पडता है। उदाहरण के लिए सरकार ने कोई ऐसा कानून बनाया, जिसके अनुसार मुझे बरतना चाहिए। मुझे वह कानून पसन्द नही है। यदि इस कायदे को रद्द कराने के लिए मै शस्त्रों का उपयोग करूँ तो मै शरीर-बल से काम ले रहा हूँ। यदि मैं उसे न मानूँ और उल्लघन की सजा स्वीकार कर लूँ तो कहना होगा कि मै आत्म-बल का प्रयोग कर रहा हूँ।" आगे चलकर गाधी जी लिखते है :—

"मनुष्य को चाहिए कि जो बात उसकी बुद्धि और आत्मा को नही पटती, उसे कदापि न माने और परिणाम में जो कुछ तकलीफ उसे उठानी पडे, उसे बरदाश्त करे। आत्म-बल के प्रयोग की यही कुंजी है।'

इस नसीहत के विरुद्ध प्रश्नकर्ता एक बहुत महत्त्वपूर्ण आक्षेप करता है। वह कहता है कि आप तो लोगो को राज्य-शासन के विरुद्ध विद्रोही होने की सलाह दे रहे है। इस आक्षेप के उत्तर मे महात्मा जी के विचार सुनिए —

"राज्य-शासन के कानून भले हो या बुरे, उनका पालन हमें करना ही चाहिए, यह धारणा लोगो के मन मे अभी हाल ही में उत्पन्न हुई है और बिलकुल असगत है। पुराने जमाने मे लोगो का ऐसा खयाल नहीं था। जिन कायदो को लोग पहले जमाने मे पसन्द नही करते थे, उनका वे उल्लघन किया करते थे और प्रसन्नतापूर्वक दड भोग लेते थे। जो कायदा हमारे अन्त करण के विरुद्ध है, उसको मान लेना हमारे मनुष्यत्व का घातक होता है। ऐसा आचरण धर्म-विरुद्ध है और दासत्व ही उसका पर्यायवाची है। यदि सरकार हमे आज्ञा दे कि तुम नगे फिरा करो, तो क्या हम उसे मान लें? यदि मुझमें आत्म-बल है, तो मै साफ-साफ कह दूँगा कि आपके फरमान से मुझे कुछ भी मतलब नहीं है। परन्तु हम इतने आत्म-विस्मृत

और दब्बू हो गये है कि हम किसी भी बुरे से बुरे कानून को चुपचाप स्वीकार कर लेते है।"

आगे चलकर वे इसी सम्बन्ध मे लिखते है—

"यदि लोग इतना समझ ले कि किसी अनुचित कायदे को मानना उनके पौरुष के विरुद्ध है, तो वे किसी भी दुराचारी शासक के दास होकर नही रह सकते। इसी मनोवृत्ति में आत्म-शासन (Home rule)' का रहस्य है। लोगो का खयाल है कि प्रजातन्त्र में उन्हें बहुमत को शिरोधार्य मानना चाहिए। परन्तु यह एक ऐसी धारणा है जो ईश्वरीय मन्तव्य के विरुद्ध और भ्रातिमूलक है। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते है जिनसे मालूम होता है कि बहुमत का निर्णय कई बार बिलकुल गलत साबित हुआ है और थोडे से विरोधी लोगो की सम्मति बिलकुल ठीक निकली है। शासन में जितने सुधार हुए है, वे बहुधा थोडे से विरोधी लोगो की प्रेरणा-शक्ति से ही सम्पादित हुए है। अतएव जो लोग ऐसा समझते है कि किसी अनुचित कानून को उन्हें नही मानना चाहिए, उनके लिए आत्म-बल का मार्ग खुला हुआ है। इतर दूसरे उपाय अनर्थकारी सिद्ध होगे।"

महात्मा जी की इस तर्क-सरणी में एक बडी विवाद-ग्रस्त बात है। हम इतना तो मान सकते है कि यदि राज्य-शासन का अधिकारी कोई एक ही आदमी हो और वह दुराचारी तथा त्रास-दायक भी हो, तो आत्म-बल-सम्पन्न लोगो को चाहिए कि वे उसकी अनुचित आज्ञाओ का उल्लघन करे। इसके दो कारण है। पहला तो यह है कि ऐसा अत्याचारी शासक लोगो की इच्छा के विरुद्ध राज्य-सिहासन पर आसीन रहता है। दूसरा यह है कि उसके मन्तव्यो में लोगो की सम्मति नही ली जाती। ऐसी अवस्था मे त्रस्त प्रजा के पास एक ही उपाय रह जाता है जिसे भद्र अवज्ञा (Civil Disobedience) कहते हैं। परन्तु जहाँ बाकायदा प्रजातन्त्र शासन स्थापित हो चुका है और लोगो के चुने हुए प्रतिनिधि ही मिलकर राष्ट्रीय प्रगति की बागडोर सँभालते है और बहुमत से लोगो पर लोगो के हित के लिए ही शासन करते है, वहाँ किसी एक मनुष्य को

सिर्फ इसी एक बुनियाद पर कि कोई कायदा या मन्तव्य उसे पसन्द नही है, शासन के नियमो को ठुकराने का नैतिक अधिकार हरगिज नही दिया जा सकता। इस नियन्त्रण के कई कारण हो सकते है। पहला कारण तो यह है कि वह अपना प्रतिनिधि भेजकर प्रजातन्त्र शासन को स्वीकार करता है। इस स्वीकृति में यह प्रतिज्ञा अनिवार्यरूप से छिपी रहती है कि लोगो के प्रतिनिधियो के द्वारा जो कुछ निर्णय होगा, उसे मै मान्य समझूँगा। परोक्षरूप मे ऐसा वचन देते समय वह इस बात को जानता है और स्वीकार भी करता है कि प्रजातन्त्र मे सर्वसम्मति मे हमेशा शासन चलाना सभव नही। अच्छे से अच्छे मन्तव्य के कुछ विरोधी रहते ही है। अतएव बहुमत से ही शासन का उत्तरदायित्व सँभाला जा सकता है। दूसरा कारण और है। प्रत्येक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का नैतिक उद्देश्य अधिक लोगो का अधिक सुख-सपादन करना ही है। जब उद्देश्य का रूप यह है, तो कहना होगा कि किस बात मे अधिकाश लोगो का अधिक हित सिद्ध हो सकता है, इस बात पर निर्णय करने का अधिकार अधिक लोगो (बहुमत) को ही न्यायपूर्वक दिया जा सकता है। अतएव थोडे से लोगो को बहुमत का निर्णय हमेशा मान्य होना ही चाहिए। यदि वे नही मानते, तो कहना होगा कि वे प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की जड पर ही कुठाराघात कर रहे है। ऐसा आचरण प्रजातन्त्र के मूल-गत सिद्धान्त के ही विरुद्ध होगा। जिस अधिकार का प्रतिपादन महात्मा जी ने अपने वक्तव्य में किया है, वह यदि प्रत्येक मनुष्य को दे दिया जावे और उसके मन में यह भ्रम प्रवेश कर जावे कि जो कानून मुझे पसन्द नहीं है अथवा जो मेरे अन्तःकरण के विरुद्ध है, उसे मैं कदापि नही मानूँगा, तो शासन के प्रत्येक प्रस्ताव का क्रियात्मक विरोध करनेवाले कई उद्दड आदमी खडे होगें और लोग बात-बात पर प्रजातन्त्र की धज्जियाँ उडावेंगे। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से अन्तःकरण की दुहाई देकर लोग शासन के नियमो का उल्लघन करेंगे और ऐसी अव्यवस्थित दशा में कोई भी प्रजातन्त्र दो दिन भी न टिक

सकेगा । इन कारणो से हमारी यह निश्चित धारणा है कि प्रजातन्त्र शासन मे बहुमत के विरुद्ध थोडे-से लोगो को नियमोल्लघन का अधिकार देना और वह भी अन्त करण के नाम पर, एक ऐसा उपदेश है जो सार्वजनिक व्यवस्था का बडा सहारक है । अन्त करण अथवा आत्मा एक बहुत सूक्ष्म शक्ति का नाम है । हम एक दूसरे के अन्त करण को नही देख सकते । और तो क्या, जो मनुष्य उसकी दुहाई देता है, वह खुद नही जानता कि वह क्या चीज है और किस नियम के आधार पर वह काम करता है । इसके सिवाय एक ही बात पर भिन्न-भिन्न लोगो के अन्त करण से अलग-अलग ध्वनि निकलती है । शिक्षा-दीक्षा तथा सस्कार से उसमें परिवर्त्तन भी होते रहते हैं । ऐसी दशा मे हम कह सकते है कि अन्त करण की निश्चित रूप-रेखा सभी लोगो में एक समान नही पाई जा सकती। इसके अतिरिक्त अपनी अदृश्यता तथा सूक्ष्मता के कारण वह आत्म-प्रवचना तथा धोखेबाजी का उत्तम से उत्तम साधन भी हो सकता है । आत्मा, परमात्मा और धर्म के नाम पर आज तक इस पृथ्वी पर जितनी बुराइयाँ हुई हैं, उनका साक्षी मानव-सभ्यता का इतिहास है ।

इसके अतिरिक्त यह भी कैसे माना जा सकता है कि किसी एक प्रश्न पर अल्पसख्यक विरोधियो का ही विचार ठीक है । फिर ऐसा भी हमेशा नहीं होता कि सभी विरोधी किसी एक बात पर एक मत हो, उनमें भी कई फिरके रहते है । गाधी जी स्वीकार भी करते हैं कि कोई मनुष्य इस बात को अधिकारपूर्वक नही कह सकता कि उसी का कहना ठीक है ।

"No man can claim to be absolutely in the right, or that a particular thing is wrong *because he thinks so,* but it is wrong for him so long as that is his deliberate judgment"

"कोई भी मनुष्य इस बात का दावा नही कर सकता कि अमुक बात सिर्फ इसी कारण ग़लत या सही है, क्योकि वह ऐसा सोचता है । लेकिन

जब तक उसका विचार-पूर्ण निर्णय किसी बात को गलत समझता है, तब तक उसके लिए वह गलत ही है।"

'विचार-पूर्ण निर्णय' (Deliberate judgment) इस शब्द पर पाठक ज़रा ध्यान दें। तर्क-पूर्ण विवेक तो ऐसी शक्ति है जो जन-साधारण में नहीं पाई जाती। जन-समाज के अधिकांश लोग हमेशा कुछ थोड़े से नेताओं का अधानुकरण ही किया करते हैं। इन्हीं लोगों की प्रेरणा से सर्वसाधारण के विचार बनते और बिगड़ते हैं। ऐसी दशा में कहना होगा कि गांधी जी की भद्र अवज्ञा उन लोगों के लिए उपयुक्त शस्त्र नहीं हो सकती, जिनमें विचार-शक्ति का अभाव है; क्योंकि ऐसे लोग न जाने किस समय क्या करेंगे और क्या न करेंगे। इस तरह भद्र अवज्ञा करने के यथार्थ अधिकारी बहुत थोड़े से लोग ही रह जाते हैं।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि कोई भी मनुष्य अधिकार-पूर्वक यह नहीं कह सकता कि उसी का कहना ठीक है। अतएव बहुत सम्भव है कि किसी विषय विशेष पर बहुमत की सम्मति भी भ्रांति-मूलक हो सकती है। पर अल्पमतवाले भी उसी कमजोरी के शिकार हैं। ऐसी हालत में जहाँ दोनों पक्षों से भूल होने की सम्भावना है और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भूल किधर है, वहाँ बहुमत को मानकर धोखा खा जाना या भूलकर बैठना ही अधिक वाछनीय होगा। जहाँ दोनों ओर भूल की सम्भावना है, वहाँ प्रजातन्त्र का सिद्धान्त यही कहता है कि बहुमत के साथ लोगों को रहना चाहिए; क्योंकि उसके साथ रहने में भूल की सम्भावना अपेक्षाकृत बहुत कम रहती है। सिवाय इसके अधिक से अधिक लोगों को अधिक सुख-सम्पादन के लिए कुछ भी निश्चय करने का नैतिक अधिकार अधिक लोगों को ही दिया जा सकता है। अतएव प्रजातन्त्र शासन में अल्प-संख्यक विरोधियों को शान्तिपूर्वक विचार-प्रचार करने का अधिकार तो ज़रूर है, परन्तु जब तक कोई क़ानून बहुमत से रद्द न हो, तब तक उसका पालन करना प्रत्येक योग्य नागरिक का धर्म है। अन्त करण की दुहाई देकर वह उसका उल्लंघन

नही कर सकता। यदि ऐसी स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य को दे दी जावे, तो व्यवस्थापूर्ण सामाजिक जीवन असम्भव हो जावेगा। इस विषय की चर्चा हम 'भद्र अवज्ञा' शीर्षक अध्याय में कुछ अधिक विस्तार के साथ कर चुके हैं।

शिक्षा-प्रणाली

महात्मा जी वर्तमान विदेशी शिक्षा-प्रणाली के बडे जबरदस्त विरोधी प्रतीत होते हैं। उनकी राय मे ऐसी शिक्षा जो हमारे आचरण-बल के विकास में सहायक न हो, किसी काम की नही है। उससे तो निरक्षर रह जाना ही अच्छा है। केवल अक्षर-ज्ञान एक ऐसे शस्त्र के समान है जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। हम लोगो ने अधि-कांश में उसका दुरुपयोग ही किया है, क्योंकि उसके साथ-साथ हमे सदा-चार-सम्बन्धी शिक्षा नही दी गई।

गाधी जी लिखते है कि हमारे देश में एक देहाती काश्तकार पढना-लिखना नही जानता, पर उसे ससार का साधारण ज्ञान है और वह जानता है कि स्त्री-बच्चे तथा कुटुम्ब-परिवार के प्रति उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए। इतना उसके लिए बस है। हम लोग पश्चिमी विचारो के प्रवाह मे पडकर ऐसा सोचा करते है कि हमारे देश के किसानो को भी इस विदेशी शिक्षा की जरूरत है।

इसके बाद प्रोफेसर हक्सले का प्रमाण देकर गाधी जी लिखते हैं कि भूगोल-शास्त्र, ज्यामेट्री तथा अलजेबरा पढने का कोई भी सत्परिणाम आचरण-बल पर नही पडता। अतएव हमारे मनुष्यत्व के विकास के लिए आजकल की प्रारम्भिक और ऊँची दोनो तरह की शिक्षायें व्यर्थ है।

परन्तु महात्मा जी शिक्षा-मात्र के विरोधी नही हैं। वे हिन्दुस्तान की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के बडे प्रेमी है। इस प्रणाली में सदाचार-शिक्षा को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आचरण-बल ही मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है। इसलिए प्रारम्भिक (Primary) शिक्षा का उद्देश्य भी वही होना चाहिए। इस सम्बन्ध में गाधी जी के विचार अग्रलिखित हैं—

"स्वराज प्राप्त करने के लिए तो जन-साधारण को अँगरेज़ी शिक्षा की ज़रूरत ही नही है। ऐसी शिक्षा देना उन्हें दासत्व के बन्धन में जकडना है। मैकाले की शिक्षा-प्रणाली ने हमें गुलाम बना दिया। क्या यह अफसोस की बात नही है कि हमे अपना स्वराज-आन्दोलन अँगरेज़ी में करना पडता है? योरोपीय राष्ट्रो ने जिन पद्धतियो को अनुभव के आधार पर व्यर्थ समझकर छोड दिया है, उन्हें हम स्वीकार किये हुए बैठे है। हमारी हालत बहुत बुरी है। हिन्दुस्थानी होकर भी हम आपस में पत्र-व्यवहार अँगरेज़ी में ही किया करते है और वह भी ऐसी हालत में कि जब हम शुद्ध अँगरेजी भी नही लिख सकते। अँगरेज़ी पढे-लिखे हिन्दुस्थानियो ने अपने सर्वसाधारण देश-बन्धुओ को दगा देने तथा भय दिखाने में भी कुछ सकोच नही किया है। इसलिए महात्मा जी के मतानुसार शिक्षित लोग जनता के लिए आजकल जो कुछ कर रहे है, वह एक तरह से पुराने कर्ज की आशिक अदाई-मात्र है।"

भविष्य में लाभदायक सिद्ध होनेवाली राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में गांधी जी लिखते है—

"कई शास्त्रो के ज्ञान-सपादन करने का हौसला हमें छोड देना चाहिए। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का पहला स्थान होगा। अपनी प्रान्तीय भाषा के सिवाय प्रत्येक हिन्दुस्थानी को यदि हिन्दू हुआ तो सस्कृत, मुसल्मान हुआ तो अरबी और पारसी हुआ तो फारसी का ज्ञान होना चाहिए। पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी का ज्ञान सबके लिए अनिवार्य है। कुछ हिन्दुओ को धार्मिक विचार-विनिमय के लिए अरबी और फ़ारसी जानना चाहिए और कुछ मुसलमानो और पारसियो को सस्कृत पढना चाहिए। उत्तर और पश्चिम के हिन्दुस्थानियो को तामिल सीखनी चाहिए। पर सबकी राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही रहे और वह या तो देवनागरी-लिपि में लिखी जावे या फारसी-लिपि में। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को समझ सकें, इसलिए यह ज़रूरी है कि लोग देवनागरी और फारसी दोनो

लिपियाँ सीखें। यदि हम इतना कर सकें, तो अँगरेजी भाषा का बहिष्कार कर सकते हैं।"

अँगरेजी शिक्षा और विदेशी शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में महात्मा जी का जो मत है, उसका विरोध करनेवाला शायद ही कोई समझदार हिन्दुस्थानी होगा। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह देश विदेशी शिक्षा से बदरंग हो गया है। इस शिक्षा का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षित भारतीयों में अपनी जातीय संस्कृति के प्रति अज्ञान-मूलक अनास्था उत्पन्न हो गई है। उन्होंने आपस में मिलकर एक ऐसी जाति बना ली है जो समाज के जन-साधारण से जरा हटकर अलग रहती है। विचार-प्रभाव में पड़कर ऐसे लोगों ने विदेशियों का हर बात में अंधानुसरण ही किया और वे स्वदेश में रहते हुए भी विदेशी बन बैठे। इन्हीं लोगों के द्वारा ही अँगरेजों ने दुभाषियों का काम लिया और इस तरह अपने विदेशी शासन की एक स्वाभाविक कठिनाई को दूर किया। अतएव महात्मा जी का यह कहना अक्षरशः ठीक है कि शिक्षित हिन्दुस्थानी ही इस देश में विदेशी राज की जड़ जमानेवाले हैं।

स्वराज के लिए हमें स्वदेशी शिक्षा चाहिए। स्वदेशी शिक्षा हम उसे कहेंगे जो हमारी पूर्वार्जित संस्कृति तथा जातीय प्रतिभा के अनुकूल हो। ऐसी शिक्षा पर ही भारतीय स्वराज की स्थायी बुनियाद डाली जा सकती है। इस राष्ट्रीय शिक्षा की भविष्य में जो योजना बनेगी, उसकी रूप-रेखा भी महात्मा जी ने खींचने का प्रयत्न किया है। उसके सम्बन्ध में हमें कुछ कहना नहीं। कहना इतना ही है कि उन्होंने फारसी लिपि को अनावश्यक और अनुचित महत्त्व दिया है। इस देश के हिन्दू यदि मुसलमान या ईसाई होना चाहें तो वे हो सकते हैं, उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं है। वे अपना आन्तरिक विश्वास बदल सकते हैं, धार्मिक रसूमों में परिवर्तन कर सकते हैं। परन्तु वे विदेशी धर्म के साथ-साथ विदेशी लिपि नहीं ला सकते। यदि लावें, तो वह उन्हीं की चीज होकर रहेगी। देश की लिपि से वह प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती। इसके सिवाय

हमें पहले कह चुके है कि साधारण बोलचाल की भाषा में ही हिन्दुस्तानी प्रयुक्त हो सकती है। ऊँचे और शास्त्रीय विचारो के प्रकाशन में अनेक शुद्ध सस्कृत शब्दो का उपयोग अनिवार्य होगा। ऐसे शब्द फारसी से नही लिये जा सकते। यदि मुसलमान ऐसा करें, तो उन्हे अपना साहित्य-निर्माण अलग ही करना पडेगा। सस्कृत के शास्त्रीय शब्दो को फारसी-लिपि में लिखने का प्रयत्न करना विफल ही नही, उपहासास्पद भी होगा। वैज्ञानिक स्वर-योजना की दृष्टि से यदि देखें, तो कहाँ देवनागरी और कहाँ फारसी-लिपि। देवनागरी के समान इस पृथ्वी पर कोई वैज्ञानिक लिपि ही नही। हमें उन हिन्दुस्थानियो की समझदारी पर तरस आता है जो कभी-कभी कहा करते है कि हिन्दुस्थान को रोमन-लिपि स्वीकार करनी चाहिए। फारसी तो एक महान्, दोषपूर्ण और लँगडी लिपि है। वह तो स्वय अपने ही शब्दो को उच्चारण के अनुसार शुद्ध रूप से नही लिख सकती। सस्कृत के बडे-बडे साहित्यिक शब्द उसमे क्या खाक लिखे जावेंगे। अतएव इस देश के साहित्य-निर्माण में देवनागरी के साथ फारसी-लिपि को बराबरी का स्थान देना हमें कोई औचित्यपूर्ण योजना प्रतीत नही होती। हाँ, इसमें मुसलमानो को प्रसन्नता जरूर हो सकती है।

महात्मा जी धार्मिक शिक्षा के बडे हिमायती प्रतीत होते है। परन्तु प्रश्न जरा टेढा है। जहाँ तक हमें ज्ञान है, वे 'धर्म' शब्द का उपयोग अधिकाश में नीति-धर्म (Ethical religion) के अर्थ में ही किया करते है। यदि धार्मिक शिक्षा का केवल यही असाम्प्रदायिक रूप हो तो किसी को ऐसी धार्मिक शिक्षा से कोई आपत्ति नही हो सकती। परन्तु हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा ईसाइयो के बीच साम्प्रदायिकता की वृद्धि करनेवाला जितना एव-कथित धार्मिक साहित्य होगा, उसका हमारी राष्ट्रीय सस्थाओ से सर्वथा बहिष्कार करना होगा। वर्तमान की पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से किसी बात पर विचार करने की जो बौद्धिक प्रवृत्ति है, वह धर्मान्धता की 'रामबाण' दवा है। विदेशी

शिक्षा की सारी बातें हम छोड दें, माध्यम छोड दें, पाठ्य पुस्तकों की योजना (Curriculum) बदल दें, दृष्टिकोण भी परिवर्तित कर दें, परन्तु अंधविश्वास को निर्मूल करनेवाली वर्तमान की वैज्ञानिक तर्कशैली बड़े काम की चीज होगी, खासकर उन सम्प्रदायों के लिए जिनमें धर्मान्धता अधिक मात्रा में विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे राष्ट्र-निर्माण में राष्ट्रीय शिक्षा का महत्त्व सबसे अधिक है और इसमें भी सन्देह नहीं कि जो शिक्षा-प्रणाली हमारी संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना और धर्मान्धता को छिन्नमूल कर सकेगी और हमारे मनुष्योचित विवेक को जाग्रत् कर देगी, वही सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली होगी और हमारा स्वराज उसी की आधार-शिला पर स्थापित हो सकेगा।

यन्त्र

(Machinery)

यंत्रों के सम्बन्ध में गांधी जी लिखते हैं—

"यंत्रों की बदौलत सारा योरप बरबाद हो रहा है। अँगरेजों के गृह-द्वार पर भी सर्वनाश खड़ा है और दरवाजा खटखटा रहा है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का बाना यंत्र ही है। अधिक क्या कहें, वह एक घोर पाप का प्रतिनिधि है।"

"बम्बई के मिलों में जो लोग काम करते हैं, वे गुलाम हो गये हैं। वहाँ काम करनेवाली जो स्त्रियाँ हैं, उनकी दुर्दशा को देखकर तो हृदय को बड़ी ठेस पहुँचती है। जब मिलों की सृष्टि नहीं हुई थी, तब ये स्त्रियाँ भूखों नहीं मरती थीं। जिस दिन हमारे बीच में यंत्र-प्रेम का पागलपन बढ जावेगा, उस दिन हमारा यह देश बहुत दुखी हो जावेगा, इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं।"

जिन्होंने हमारे 'साम्यवाद' शीर्षक प्रकरण को पढ लिया है, उन्हें यह बताने की जरूरत नहीं कि महात्मा जी के उपर्युक्त विचारों से हम पूर्णतया सहमत हैं। केन्द्रित व्यवसाय को प्रोत्साहन देने में जहाँ-जहाँ और जिस

रूप में यन्त्रों का उपयोग हुआ है, वहाँ वहाँ वह मनुष्यत्व का हर प्रकार से घातक सिद्ध हुआ है। दिन भर यन्त्रो के समान ही लगातार काम करने का परिणाम यह होता है कि मजदूरो का शरीर कमजोर और नि सत्व हो जाता है। अतएव वे थोडे ही दिनो में काल-कवलित हो जाते है। थके हुए शरीर को क्षणिक विश्राम देने के लिए और क्लान्त एव कमजोर शरीर से भोग-लिप्सा की पूर्ति करने के लिए वे शराब के आदी हो जाते है। शराब पीकर वे पशुवत् व्यवहार करते है। परिणाम यह होता है कि उनको रात भर की गृहस्थी का वातावरण कलहशील और दूषित हो जाता है। इस तरह शरीर के साथ-साथ मजदूरो की बुद्धि भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। जहाँ शरीर, मन और बुद्धि की यह दुर्दशा है, वहाँ आत्मा के विषय में कहना ही क्या है, वह प्रसुप्त होकर नितान्त जडताक्रान्त हो जाता है। ऐसे मनुष्यो में और पशुओ में केवल बाहरी आकार का ही अन्तर रह जाता है, आन्तरिक दशा दोनो की समान हो जाती है।

इस दृष्टि से गाधी जी का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि बम्बई में नये मिल खोलने की अपेक्षा मैनचेस्टर से कपडे मँगवाकर पहनना बेहतर होगा। विदेशी वस्त्रो के उपयोग से केवल इतना ही होता है कि हमारे घर का पैसा बाहर चला जाता है। परन्तु इस देश में मिलो की रचना का यह परिणाम होगा कि हम जन-समाज से पैसा छीनकर थोडे-से पूँजीपतियो के हाथ सौंप देंगे और लाखो की तादाद में लोगो को मजदूर बना कर उन्हें पशुओ में परिणत कर देंगे। स्वतन्त्र और स्वावलम्बनशील जुलाहो की रोटी छीनकर उन्हें हम सडक के भिखारी या मिल के मजदूर बना देंगे। तात्पर्य यह कि विदेशी मिलो से तो हमारे केवल धन का ही अपहरण हो रहा है, परन्तु देशी मिलो की बदौलत तो हम अपना शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सब कुछ खो बैठेंगे। पैसा यदि बच भी गया, तो थोडे-से मिल-मालिक पूँजीपतियो के हाथो में पड जावेगा। सम्भव है, ऐसी व्यवस्था से हम हिन्दुस्तान में अमेरिकन रॉकफेलर के कुछ देशी सस्करण तैयार कर सकें। परन्तु रॉकफेलर चाहे हिन्दुस्तानी हो या अमेरिकन,

दोनो में अन्तर कुछ भी न रहेगा। दोनो की आन्तरिक मनोवृत्ति और शोषण-क्रिया की नीति एक समान ही रहेगी।

यहाँ तक तो हुई वस्त्रो की वात। अव प्रश्नकर्त्ता गाधी जी से पूछता है कि यत्र-निर्मित वस्त्रेतर चीजो के सम्वन्ध में आपका क्या आक्षेप है? या तो हमें उन चीजो को यत्रो के द्वारा देश में ही तैयार करना होगा या विदेशो से मँगाना पडेगा। उनका उपयोग तो हम छोड ही नही सकते, कदाचित् ऐसा करना अनुचित भी होगा।

इस प्रश्न के उत्तर में महात्मा जी का ववतव्य यह है—

"सच है, हमारी देव-मूर्तियाँ तक तो जर्मनी से वनकर आती हैं। फिर दियासलाई, आलपीन, काँच के अनेकानेक सामान तथा इतर चीजो के सम्वन्ध में कहना ही क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मै प्रश्न के द्वारा ही देना चाहता हूँ। हिन्दुस्थान के वाजारो मे उपर्युक्त विदेशी चीजें जव नही आती थी, उन दिनो हम अपनी गुजर-वसर किस तरह किया करते थे? ठीक वैसी ही सादगी का जीवन हमें फिर भी व्यतीत करना चाहिए। हमारी मानसिक निष्ठा यह रहे कि जव तक हम यत्रो के विना आलपीनें न वना सकें, तव तक उनका उपयोग ही न करें। विदेशी काँच की चमक-दमक से हमें विरक्त होना पडेगा। वत्तियाँ भी हम अपने घरो में घर ही के कपास से वना लेंगे और मिट्टी के वने हुए दीपो में घर ही का तेल भर लेंगे। इन सव वातो में अडचन कहाँ आती है? विद्युत्प्रकाश का वहिष्कार करके हम अपने पैसे और नेत्र दोनो की रक्षा कर लेंगे। इस प्रकार हम स्वदेशी के सहायक होकर स्वराज प्राप्त करने में सफल होगे।"

"यदि यह स्वदेशी-सिद्धान्त ठीक है तो अपने देश की भलाई के लिए हम एक के वाद एक यत्र-निर्मित चीजो का वहिष्कार करते ही जावेंगे। थोडे-से प्रभावशाली आदमी जिस काम को करते हैं उसका अनुकरण सर्व-साधारण लोग करते ही हैं। परन्तु हमें उस दिन के लिए रुककर नही रहना चाहिए। इस स्वदेशी-सिद्धान्त का उदाहरण हमें, जन-समाज के सामने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा रखना ही पडेगा। क्योकि जव कभी

हो, इस कार्य का प्रारम्भ इसी तरह होगा। फिर इस शुभ काम में हम देरी क्यों करें ? शुभस्य शीघ्रम् ।"

यंत्र-निर्मित वस्त्रेतर वस्तुओं के सम्बन्ध में महात्मा जी के मत का यही साराश है। विचार इतने तर्क-सिद्ध, स्वावलम्बनशील और राष्ट्रोपयोगी है कि उनका विरोध करना सर्वथा अनुचित होगा। महात्मा जी के उपर्युक्त वस्त्र यंत्रों में जो सचाई है, वह स्वय-सिद्ध है। इस विषय पर प्रसङ्गानुसार हम अनेक अध्यायों में और विशेषकर 'स्वदेशी और स्वराज' शीर्षक प्रकरण में अपने विचार प्रकट कर चुके हैं।

अन्त मे प्रश्नकर्ता महोदय ने रेलवे और ट्रामगाड़ियों के सम्बन्ध में गाधी जी के विचारों से पूर्वगत अध्यायों में अवगत होकर भी दुबारा वही प्रश्न किया है। ध्यान रहे कि इस पुस्तक के प्रश्नकर्ता भी स्वय गाधी जी ही है। प्रश्नकर्ता कोई दूसरा होता, तो हम इस विषय को महज पिष्ट-पेषण समझकर छोड देते। परन्तु गाधी जी ने कदाचित् सोचा होगा कि 'यंत्र' शीर्षक अध्याय मे रेलवे और ट्रामगाडियो का सर्वथा बहिष्कार कर देना अनुचित होगा। इस कल्पित विचार-सरणी के आधार पर हम भी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना प्रसङ्गवश अनावश्यक नही समझते।

गाधी जी आलोचित अध्याय के इस अश में कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जो उनके महान् अव्यावहारिक आदर्शवाद के परिचायक है। पहले उनके विचार सुनिए—

"यदि हम रेलवे के बिना अपना काम चला सकते है तो ट्रामगाडियो की क्या बिसात जो शहरो में दौडती ही रहें। यंत्र यथार्थ में साँप के बिलों के समान ही है। न जाने उनमे कितने विषैले बच्चे छिपे होंगे, जो भविष्य में बाहर निकलकर लाखो आदमी को काटा करेंगे। परन्तु ध्यान रहे कि यत्रों के विष से शरीर का हनन तो होता ही है, पर आत्मा भी मूर्च्छित हो जाती है। जडताक्रान्त आत्मा में सयम की सम्भावना कैसी और चरित्र-बल के अभाव में स्वराज क्योकर हासिल हो ?"

"तुम देखना कि जहाँ यत्रो के बडे-बडे कारखानें है, वही बडे-बडे नगर बसाये गये है और वही बिजली की ट्रामगाडी और रेलगाडियो की दौड-धूप जारी रहती है। इँग्लैंड के देहातो मे इन चीजो का अभाव है। ईमानदार चिकित्सक इस बात को कबूल करते है कि जहाँ जहाँ स्थानान्तर होने के ये बनावटी साधन काम मे लाये गये है, वहाँ-वहाँ सर्वसाधारण के स्वास्थ्य को हानि पहुँची है । मै एक ऐसे योरोपीय नगर का उदाहरण जानता हूँ, जहाँ पैसे के अभाव में डाक्टरो, वकील-बैरिस्टरो और ट्राम-कम्पनियो की आमदनी एक बार घट गई, पर उस साल सर्वसाधारण लोगो की तन्दुरुस्ती इतर वर्षो की अपेक्षा अच्छी रही। ज्यादा क्या, मैं तो तुम्हें आखिरी बार यह कह देता हूँ कि यत्रो के सम्बन्ध में मै एक भी अच्छी बात नही कह सकता। यदि मैं उसकी बुराइयो का विस्तृत वर्णन करना चाहूँ तो एक नही, अनेक ग्रथ लिखने पडेंगे।"

इसमे सन्देह नही कि यत्र-यानो की वर्तमान बुराइयो की यदि केवल सक्षिप्त से सक्षिप्त सूची भी बनाई जावे, तो उसके सामने 'विष्णु-सहस्रनाम' भी एक बार फीका पड जावेगा। यत्र-प्रसूत बुराइयो के अनेक रूप है और अनेक प्रकार से वे इस समय जन-समाज को हानि पहुँचा रहे है। इसमें सन्देह नही कि इन यत्रो के द्वारा सर्वसाधारण का आर्थिक, नैतिक और दैहिक सत्व थोडा-थोडा करके प्रच्छन्न रूप से चूस डाला गया है। स्थूल रूप से हम यत्रो के दो विभाग करते है। एक प्रकार के यत्र तो वे है जो केन्द्रित व्यवसाय की सस्थाओ में सामूहिक रूप से दिन-रात शैतान के समान काम करते है और लोगो से काम लेते है। इन यत्रो के द्वारा थोडे समय में बहुत-सा सामान तैयार हो जाता है। अब रही उसकी खपत की बात। सो मिल-मालिको ने उसी वाष्पशक्ति का उपयोग दूसरी तरह और दूसरे ढाँचे में करके रेलगाडियाँ चलाई और उन्हें विदेशो में अपना माल जल्दी से जल्दी और कुशलतापूर्वक पहुँचाने का साधन बनाया। इस तरह पाठक देखेंगे कि वस्तु-निर्माण करनेवाले यत्रो में और रेलवे चलानेवाले यत्र में आधार-आधेय सम्बन्ध है। यदि आज पृथ्वी के

सारे यंत्र-सचालित व्यवसाय नष्ट कर दिये जावें, तो रेलवे-कम्पनियो को रेलगाडियों की सख्या वहुत घटा देनी पडेगी। मालगाडियाँ तो इक्की-दुक्की ही चला करेंगी। लोग आनन्दपूर्वक अपने घरो में अपने उपयोग की चीजें वना लेंगे और अपनी आवश्यकता पूरी करने के वाद कहीं वे अपना सामान वाहर भेजेंगे। इससे राष्ट्रो का व्यावसायिक सम्वन्ध वहुत घट जावेगा। पर इससे कोई वुराई नहीं हो सकती। जैसा कि महात्मा जी ने कहा है कि यदि हम आलपीनें नही वना सकते तो कागजो में छेद करके चरखे के सूत का उपयोग कर लेंगे। दियासलाई के वदले 'चकमक पत्थर' और लोहे के टुकडो से काम चला लेंगे। सभी राष्ट्र स्वावलम्वी होना सीखेंगे और अधिक महत्त्व की वात तो यह है कि पूँजीपति वरसाती कीडो के समान कुछ दिनो में आप ही आप विलीन हो जावेंगे। इस तरह पाठक देखेंगे कि केन्द्रीभूत व्यवसायो का अभाव रेलगाडियो और जहाजो का दौर-दौरा वहुत कम कर देगा। जितने अंश में रेलगाडियाँ मिल-मालिक पूँजीपतियों की रक्त-शोषक मनोवृत्ति को सहायता पहुँचा रही हैं, वहाँ तक हम महात्मा जी से सहमत हैं। परन्तु ध्यान रहे कि रेलों की वर्तमान वुराइयाँ स्वयं रेलो में नहीं हैं, वरन् उनके दुरुपयोग में तथा पैसेवाले रोजगारियो की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति में हैं।

रेलगाडियो की उपयोगिता पर निरपेक्ष भाव से विचार करनेवाले को प्रतीत होगा कि उनमें कुछ ऐसे गुण भी हैं जो हिन्दुस्थान के समान विशालकाय भूखण्ड में राष्ट्रीयता स्थापित करने के लिए तथा उसके उत्तरोत्तर विकास के लिए अनिवार्य साधन हैं। हमारे पूर्वजो ने सदियों के भगीरथप्रयत्न से समूचे भारतवर्ष में घूम-घूमकर यात्रा के अनेक कष्टों का सामना करते हुए सास्कृतिक एकवाक्यता जरूर स्थापित की। प्रयत्नो से क्या नहीं होता? प्राचीन युग की यात्रा-जन्य वडी-वडी आपत्तियों को झेलकर हमारे धर्मोपदेशको ने इतने वडे देश में एक ही सस्कृति का जो शासन स्थापित किया, वह समझनेवालो के लिए एक ऐसा मानवी प्रयत्न है जिसके सामने चीन की दीवार फीकी पड जाती है। यह दीवार

महज मजदूरी और अध्यवसाय का स्मारक है। परन्तु इस दीर्घकाय देश भर मे व्याप्त होकर अद्यावधि शासन करनेवाली और सदियो के आघातो को सहकर भी विद्यमान रहनेवाली यह अमर भारतीय संस्कृति एक ऐसी चीज है जो एकदम लासानी है। लोग नासमझ है, जो दुनिया के सात 'वण्डरो' मे इसकी प्रथम गणना नही करते।

पाठक देखेंगे कि हमारे पूर्वजो ने भारतवर्ष मे सास्कृतिक सत्ता तो स्थापित की, परन्तु उसी विशेषता के साथ इस देश में एक वैसी ही स्थायी राजनैतिक केन्द्र-सत्ता स्थापित करने में वे सफल न हो सके। इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि देश बहुत बडा है। एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचने मे महीनो लग जाते थे। हस्तिनापुर की राजगद्दी पर बैठनेवाला नरेश दक्षिण-प्रान्त पर अपना प्रभाव अक्षुण्ण नही रख सकता था और केवल इसी कारण कि विद्रोहियो को अपने अनुशासन मे लाने के लिए वह समय पर अपनी सेना नही भेज सकता था। परिणाम यह हुआ कि सारा देश एक ही धर्म और एक ही सभ्यता का अभिमानी होते हुए भी अनेक राजनैतिक टुकडो मे विभक्त हो गया। अनेक राजे-महराजे पैदा हो गये जो अपने-अपने शासन मे पूर्ण स्वतन्त्र रहा करते थे। उनके बीच सबसे अधिक शक्तिशाली चक्रवर्ती राजाधिराज जब कभी पैदा हो जाता, तब इन नरेशो में कुछ शान्ति और सुलह रहती थी। पर ऐसे चक्रवर्ती शासक के मरते ही कुत्तो के समान वे फिर भी कलहशील हो जाते थे। रिश्ता-नाता तथा स्वार्थ के आधार पर उनमें दलबन्दियाँ रहती थी और वे हमेशा एक दूसरे की जड खोदने में लगे रहते थे। इस देश की यह राजनैतिक कमजोरी एक ऐसी चीज है जो परम्परा से चली आई है। एक दूसरे की जड खोदते-खोदते उन्होने समूचे देश की जड खोखली कर डाली।

वर्तमान काल के भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की जो नई चेतनता दिखाई देती है उसके दो प्रधान कारण है। पहला है पश्चिम का सम्पर्क। इस सम्पर्क की बदौलत हमें यह मालूम हुआ कि बाहर के लोग इस देश में

आकर अपना उल्लू सीधा कर रहे है; इस कारण हमें सम्मिलित रूप से उनका विरोध करना चाहिए। समान यन्त्रणा ने पारस्परिक सहानुभूति उत्पन्न की। दूसरा कारण है, रेलवे। हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि रेलवे न होती, तो इस देश मे अँगरेज भी हमारे पूर्वजो के समान सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने में असमर्थ रहते। रेलवे की बदौलत आज दिल्ली के तख्त पर बैठा हुआ वाइसराय समूचे देश पर अपना प्रभाव प्रतिपल अक्षुण्ण रख सकता है। आज जहाँ कहीं विद्रोह शुरू हुआ, तार से वाइसराय को खबर पहुँची और दूसरे दिन हजारो की तादाद में सशस्त्र सिपाही रेलगाडियो मे बैठकर विद्रोह-स्थल पर दाखिल हो सकते है। फिर किस उम्मीद पर कोई बलवा करे।

रेलगाडियो की बदौलत ही यह सम्भव है कि हम अपने विचारो का प्रचार देश के एक छोर से दूसरे छोर तक इतनी जल्दी कर सकते है। इन्ही गाडियो की बदौलत आज इस देश के सभी प्रान्तो में सभी प्रान्त के लोग पाये जाते है। प्रान्तीय विचारो का आदान-प्रदान, लोगो का सम्मिलन, सभापण और पारस्परिक सम्बन्ध बहुत बढ़ गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आज हम रेलगाडियो की बदौलत एक दूसरे से जल्दी और अनायास मिल सकते है। यदि रेलगाडियाँ न होती, तो क्या यह सम्भव था कि कांग्रेस के अधिवेशन इतनी सफलतापूर्वक होते? महीनो की यात्रा को तय करके कुछ थोड़े से दस-बीस प्रतिनिधि मरते-जीते अधिवेशन-स्थान पर पहुँच पाते। पहुँच भी पाते तो कांग्रेस का समाचार लेकर वापस घर पहुँचने तक सही सलामत रहते, इसमें भी सन्देह रहता। क्या यह सम्भव था कि पन्द्रह दिन या सिर्फ महीने भर की नोटिस से कांग्रेस-कमेटी की बैठकें हो जाती? क्या महात्मा जी के लिए यह कभी शक्य होता कि वे साल भर के अन्दर हरिजनो के नाम पर देश-व्यापी दौरा पूरा कर सकते? तात्पर्य यह कि हमारी राष्ट्रीय जाग्रति का दूसरा बडा साधन रेलवे है। इसी प्रकार मोटर और ट्रामगाडियो का भी उपयोग हो सकता है।

ऐसी दशा में हमें यह मानना होगा कि इतने बडे देश को एक ही

राष्ट्रीय विचार से सम्बद्ध और सगठित करने मे रेलगाडियाँ बडी सहायक सिद्ध हुई है। उनका कायम रहना भी जरूरी है। रेलगाडियो के अभाव में हिन्दुस्थानी भी अपना स्वराज कायम न रख सकेगें। देश मे वही पुरानी फूट पैदा होगी और यात्रा की वही पुरानी कठिनाइयाँ होगी। अभी तक विदेशी पूँजीपतियो के हाथ मे पडकर इन रेलगाडियो ने इस देश के अर्थ-शोषण में खूब सहायता पहुँचाई है, इसमे सन्देह नही। परन्तु साथ-साथ हिन्दुस्थान के प्रान्तो को सम्बद्ध बनाने में भी वे सहायक हुई हैं। अब हमें इतना ही करना है कि उनसे पहला काम न होने पावे। जिस दिन हमारा अधिकार रेलवे पर स्थापित हो जावेगा, उस दिन हम उसका उपयोग सर्वसाधारण के हित के लिए कर सकेंगे। फिर उनमें कोई बुराई न रह जावेगी। यदि बगाल मे दुर्भिक्ष हुआ या बाढ आई, तो हम गुजरात का गल्ला मालगाडियो के जरिए सहायता के लिए एक हफ्ते के अन्दर भेज देंगे। जिस प्रान्त में जिस चीज की कमी होगी, उसकी पूर्ति हम दूसरे प्रान्तो से बहुत शीघ्र कर देंगे। परन्तु देश का माल बाहर भेजने मे या विदेश का अनावश्यक माल देश के भीतर लाने में हम इन रेलगाडियो का ऐसा दुरुपयोग न करेंगे जैसा कि आज हो रहा है।

पाठक विचारपूर्वक देखें कि रेलगाडियो का चलना आज बन्द हो जावे तो उसका पहला परिणाम तो यह होगा कि हिन्दुस्थान के लोगो का विचार-विनिमय के लिए समय पर मिलना-जुलना बन्द हो जावेगा। दूसरा परिणाम यह होगा कि डाक का सारा विभाग स्थगित हो जावेगा, क्योकि इतनी सहूलियत से लोगो में पत्र-व्यवहार का होना असम्भव हो जावेगा। पत्र-वाहको को पैदल दौडना होगा। लाहौर की चिट्ठी महीनो के बाद मद्रास पहुँचेगी और महीनो के पश्चात् भेजनेवाले को उत्तर मिल सकेगा। तार का मुहकमा भी लँगडा पड जावेगा। कही एक-आध तार का खम्भा टूटा कि पता लगानेवालो को चलते-चलते महीनो लग जावेंगे, तब तक तारो का आना-जाना बन्द रहेगा। हमारे दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र सब बन्द हो जावेंगे। आज तो यह सुभीता है कि कलकत्ते का छपा

हुआ दैनिक पत्र दो दिनो के भीतर सारे देश भर में वितरित हो जाता है। पुस्तको का लिखना-लिखाना तथा प्रकाशन और वितरण सब बन्द हो जावेंगे, क्योंकि छपी हुई पुस्तकों का कौन किस प्रकार प्रचार करेगा। राष्ट्र का साहित्यिक जीवन बिलकुल नष्ट हो जायगा। राष्ट्रोपयोगी साहित्य-प्रचार के अभाव मे लोगो की विचार-प्रगति जहाँ की तहाँ रुक जावेगी और कालान्तर मे जन-समाज का सामूहिक जीवन टुकडे-टुकडे होकर बिखर जावेगा। रेल के अभाव में ओषधियों का वितरण न हो सकेगा। बंगाल में लोग मलेरिया से हजारों की तादाद में मरेंगे, पर बम्बई में क्विनाइन की बोतलें पडी-पडी सडा करेंगी। आसाम में लोग दुर्भिक्ष से खाये बिना मरेंगे, पर सिन्ध में अनावश्यक अनाज या तो ढोर खावेंगे या सडता रहेगा। इस तरह विचारशील पाठक देखेंगे कि रेलगाडियो के अभाव में अनेक दुष्परिणाम होंगे। न तो केन्द्र-सरकार की कोई सत्ता रहेगी, न जन-समाज का साहित्यिक जीवन ही रहेगा; न तो प्रान्तो के बीच में वाणिज्य-व्यवसाय ही रहेगा, न फिर संवाद-समाचार का सुभीता। न तो हमारा राष्ट्रीय जीवन ही रहेगा, न हमारी राष्ट्रीय महासभा की आवाज ही सुन पडेगी। तब लोग महात्मा गांधी का केवल नाम ही सुना करेंगे। उनके दर्शनाभिलाषी देश-बन्धुओं की आँखे उनके दर्शनो के लिए तरसती रहेंगी। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई यह अफवाह उडा दे कि गांधी नाम का एक बडा भारी आदमी पैदा हुआ है जिसके चार सिर हैं और दस भुजायें, जो खाता-पीता नही और जमीन को अपवित्र समझकर उस पर पैर ही नहीं रखता, तो जन-समाज से इस भ्रम को दूर हटाने में महीनों की जरूरत होगी। यात्रा की वर्तमान सुविधा के रहते हुए भी तो महात्मा जी के सम्बन्ध में तरह-तरह की अफवाहें उड चुकी हैं। परन्तु रेलगाडियो की बदौलत आज देहातों के मामूली कुली और किसान भी उनका दर्शन कर चुके हैं, अपना भ्रम-निवारण कर चुके हैं।

विचारो का सिलसिला समाप्त हो चुका। साराश इतना निकला

कि यत्र कई स्थानो पर बाधक है, कई स्थानो पर साधक है। जहाँ वे मानवी प्रगति के अवरोधक हैं, वहाँ उनका सर्वथा विनाश होना चाहिए। जहाँ साधक है, वहाँ वे परमात्मा के दिये हुए आशीर्वाद है। उनके विना हम किसी भी वैज्ञानिक आविष्कार का उपयोग नही कर सकते। रेलगाडी की प्रचण्ड वाष्प-शक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि अधिक से अधिक शक्ति के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म आधार (जलकण) की जरूरत होती है। जो सर्वशक्तिमान् है, उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'अणोरणीयान्' होना ही चाहिए। रेडियो की विलक्षणता इस बात को सिद्ध करती है कि देश और काल का अस्तित्व हमारी इन्द्रियो का भ्रमजाल है। उनका कोई अस्तित्व नही। इस तरह से वाष्प-शक्ति और विद्युत्-शक्ति दोनो मिलकर उपनिषदो का ब्रह्म-निरूपण कर देते है। वेदान्त और विज्ञान, परा और अपरा—दोनो का यह स्नेहालिंगन देखते ही बनता है। माया और ब्रह्म दोनो मिलकर एक हो जाते है। यही तो चाहिए।

अध्याय ३६

गांधीवाद

गाधी जी के सिद्धान्तो की चर्चा तथा मीमासा यहाँ तक हो चुकी। अब हमे अन्त मे यह निश्चय करना है कि जिसे हम 'गाधीवाद' कहते है, उसमें किन-किन विचारो की सगति विद्यमान है। प्रत्येक धर्मोपदेशक तथा महापुरुष के साथ कुछ खास-खास विचारो तथा सिद्धान्तो का विशेष सम्बन्ध रहा करता है। जब कभी हम गौतम बुद्ध का नाम लेते है, हमारे मन में "अहिसा परमो धर्म" का सिद्धान्त-वाक्य जाग्रत् हो जाता है, क्योकि इस महापुरुष के उपदेशो का साराश अहिसा-धर्म ही है। जैन-सम्प्रदाय के आचार्य महावीर स्वामी के साथ भी यही विचार-सगति विद्यमान है। योगेश्वर कृष्ण का नाम लेते ही गीता-प्रतिपादित कर्मयोगी जीवन का चित्र हमारी आंखो के सामने अकित हो जाता है। रामचन्द्र जी की पावन स्मृति के साथ कर्तव्यनिष्ठ मर्यादाशील जीवन की रूप-रेखा हमे दृष्टिगत होने लगती है। स्वामी शकराचार्य हमारे कानो मे, वेदान्त-प्रतिपादित 'सोऽह' की अद्वैत-ध्वनि सुना जाते है। ईसा मसीह के नाम के साथ नम्रता और त्याग की भावना जाग्रत् होती है। उसी प्रकार हजरत मुहम्मद इस्लामी बन्धुत्व की आवाज बुलन्द करते हुए हमारी कल्पना की आँखो के सामने खडे हो जाते है। तात्पर्य यह कि ऐसा कोई धर्मोपदेशक अथवा सम्प्रदाय-निर्माता नही, जो लोगो के मन में किसी सिद्धान्त-विशेष का विचार जाग्रत् न करता हो। महात्मा गाधी की गणना राम और कृष्ण के समान प्रागैतिहासिक पुरुषो के साथ तो नही, पर गौतम बुद्ध, और महात्मा ईसा के साथ कर सकते है। सम्भव है कि इस पर

किसी को कुछ आपत्ति हो। परन्तु हमें विश्वास है कि यदि उनके सम-कालीन लोग नही तो आनेवाली जन-सन्तति गाधी जी की गणना इन धर्मोपदेशको के साथ जरूर करेगी।

गाधीवाद के अर्थ-गौरव को ठीक-ठीक समझने के लिए हमे उनके पूर्व-कथित सिद्धान्तो का दिग्दर्शन करना होगा। हम इस ग्रथ के कुछ प्रारम्भिक अध्यायो में इस बात की चर्चा कर चुके है कि मानवी सभ्यता के जिस युग में महात्मा गाधी का जन्म हुआ है, वह पूँजीवाद (Capitalism) और युद्धवाद (Militaryism) से आक्रान्त युग है। ये दोनो 'वाद' मिलकर इस समय मानव-समाज के अभिशाप-स्वरूप हो रहे है। बीसवी सदी को यदि हम एक बडे शैतान का रूप दे डालें, तो हमें उपर्युक्त दोनो वादो को उसके दो पैर मानना पडेगा, जिसके पजो के नीचे इस समय का अधिकाश जन-समाज कुचला हुआ अश्रुपात-पूर्वक औंधा पडा हुआ है। जिस समय इस पृथ्वी के मानव-समाज की ऐसी दुरवस्था हो रही है, उसी समय महात्मा जी जीवन के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए है। ऐसी हालत में यदि उनके उपदेश-वचनो में उपर्युक्त दो बडी-बडी सार्वजनिक कठिनाइयो को दूर करने का कोई उपाय न हो, तो फिर गाधी जी के जीवन का कोई महत्त्व नही रह जाता। परन्तु बात ऐसी नही है। महात्मा जी ने लोगों को जो कुछ शिक्षा दी है, उसके द्वारा उन्होने उपर्युक्त शैतान के दोनो पैर—पूँजीवाद और युद्धवाद—उखाडने का ही प्रयत्न किया है। इसमें उन्हें भविष्य में सफलता प्राप्त होगी या नही—इस विषय पर विचार करके ही हम इस ग्रथ को समाप्त करना चाहते है। अभी तो हम इसी बात पर विचार करेंगे कि गाधीवाद क्या है।

विचारशील पाठको से यह कहने की आवश्यकता नही है कि पूँजीवाद और युद्धवाद दोनो का आधार-आधेय-सम्बन्ध है। पूँजीवाद पिता है और युद्धवाद उसका प्यारा औरस पुत्र है। ये दोनो पिता-पुत्र मिलकर पृथ्वी के सिहासन पर इस समय विराजमान है और अपनी उद्दण्डनीति का शासन स्वेच्छापूर्वक चला रहे है। इन दोनो की जन्म-कथा इस प्रकार है।

पश्चिमी दुनिया के जन्मना दरिद्र और क्षुधार्त जन-समाज के हृदय में अपनी भौतिक हीनता की एक कसक पैदा हुई। हृदय की इस पीड़ा ने उन्हे उद्योगशील बनाया। उनकी धरित्री रत्नगर्भा साबित नहीं हुई। इस कारण वे नाना प्रकार के उद्योग-धंधो में लग गये, साथ ही वे पृथ्वी के इतर खण्डो की ओर लालच की निगाह से देखने भी लगे। इसी बीच मे उनकी अनुभूत आवश्यकताओं ने वैज्ञानिक आविष्कारो का जन्म दिया। वाष्प-शक्ति उनके हाथ लगी। इस शक्ति का उपयोग उन्होंने दो प्रकार के यन्त्रो के द्वारा किया। एक के द्वारा उन्होने इस शक्ति से कल-कारखानों में अनेक प्रकार की चीजे बनाई। दूसरे के द्वारा इन चीजो को बाहर विदेशो मे ढोने के लिए बड़ी-बड़ी वाष्पनौकायें (steam ships) और लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियाँ चलाई। दोनों यन्त्रो के मेल ने पश्चिमी संसार को थोड़े ही दिनों मे मालामाल कर दिया। पृथ्वी की अधिकांश पूँजी पश्चिमी पूँजीपतियों के पास इकट्ठी हो गई। पर उनके बीच में भी अधिकांश जन-समाज दरिद्र ही रहा। पूर्वी गोलार्द्ध इस प्रकार खोखला हो चला और पश्चिमी भाग के पूँजीवाले श्रीमान् अपनी अर्थ-विपुलता के कारण उन्मत्त और पागल हो चले। पृथ्वी का पूर्वार्द्ध जहाँ-जहाँ आबादी से सघन और खनिज पदार्थो से परिपूर्ण है, वहाँ-वहाँ उन्होने अपनी दाल गलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सोचा कि कुछ स्थान उनके लिए ऐसे जरूर चाहिए, जहाँ से वे अपने यन्त्रो के उपयोग के लिए कच्चा माल निकाल सकें और अपनी बनाई हुई चीजो की खपत भी कर सकें। इस विचार-धारा ने—स्थायी व्यवसाय-व्यवस्था स्थापित करने की इच्छा ने—साम्राज्यवाद को जन्म दिया। यह वाद पूँजीवाद का पुत्र और युद्धवाद का सगा भाई है।

महात्मा गांधी के सारे उपदेश-वचनों से हमने दो शब्द निकाले है वे है अहिंसा और चरखा-सिद्धान्त। चर्खा न कहकर हम चर्खा-सिद्धान्त कहना अधिक उपयुक्त समझते है। चर्खा घरेलू उद्योग-धंधो का प्रतीक (symbol) है। घरेलू धंधे केन्द्रित व्यवसायो के जानी दुश्मन हैं। इस

दृष्टि मे गांधी जी का चर्खा वर्त्तमान कल-कारखानो का कट्टर से कट्टर विरोधी है। वह यथार्थ में पूंजीवाद के विनाश के लिए चक्र सुदर्शन है। यदि इस चक्र मे पूंजीवाद आहत हुआ, तो उसके दोनो औरस पुत्र युद्धवाद और साम्राज्य-वाद आप ही आप नष्ट हो जावेंगे। सुना जाता है कि दैत्यो के प्राण कभी पैर में, कभी हाथ की कनिष्ठ अंगुली में और कभी पुराने वृक्षो की खोल मे भी रहते हैं। इसी प्रकार हम कह सकते है कि उपर्युक्त दोनो दैत्य-पुत्रो के प्राण उनके पिता पूंजीवाद की भीषण काया में ही सन्निहित हैं। इस कारण पिता के मरते ही दोनों पुत्र भी आप ही आप मर जावेंगे, इसमे सन्देह नही। मनुष्यों में ऐसा नही होता; इस योनि मे पिता के मरने के बाद पुत्र उत्तराधिकारी हुआ करते हैं। साराश यह है कि चर्खा-सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने का परिणाम पूंजीवाद, युद्धवाद और साम्राज्य-वाद तीनों का विनाश होगा। जब कल-कारखाने ही न रहेंगे, तो इतना अधिक माल विदेशों के लिए कौन और किस तरह तैयार करेगा? जब बिक्री के लिए माल ही नही, तो बाजारो की जरूरत ही क्या। बाजारो की जरूरत नही, तो साम्राज्य ही व्यर्थ होगे। लाभ के बिना दूसरो पर शासन करने का व्यर्थ उत्तरदायित्व कौन अपने मत्थे ले? फिर जब साम्राज्य ही नही, तो युद्ध और खूनखराबी की बला कौन मोल ले? इस तरह विचारशील पाठक देखेंगे कि महात्मा जी का चर्खा-सिद्धान्त और अहिंसा-धर्म दोनो परस्परसम्बद्ध विचार हैं। अतएव जिसे हम गाधीवाद कहते हैं उसके मूल में अहिंसा का सिद्धान्त सर्व-प्रथम है, यानी गाधीवाद प्रथमत अहिंसामूलक है।

परन्तु ध्यान रहे कि अहिंसा की भावना को हृदयगम करने के लिए मानसिक सयम की आवश्यकता होती है। द्वेष, घृणा और क्रोध के भावों पर अधिकार प्राप्त करना पड़ता है; अन्यथा बाहरी हिंसा के न होते हुए भी मानसिक हिंसा तो होती ही रहेगी। अतएव मन के विकारो पर विजय प्राप्त करने के लिए खान-पान, रहन-सहन, एवं आचरण में सादगी की आवश्यकता अनिवार्य है। स्वय गाधी जी का जीवन भी सादगी और

संयम का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अतएव जिसे हम गाधीवाद कहते है, वह द्वितीयत. सयमप्रधान है।

परन्तु गाधीवाद की पूर्णता केवल अहिसा और सयम से ही नहीं हो जाती। ये दोनो मानव-हृदय की नैतिक अवस्थायें है। जब तक इन दोनो का प्रकटीकरण और परिसमाप्ति जीवन के भौतिक कर्म-क्षेत्र में नही हो जाती, तब तक जनसमाज के लिए उनका कोई उपयोग नही। हम पहले ही कह चुके है कि अहिसा-धर्म और चर्खा-सिद्धान्त दोनो परस्पर-सबद्ध विचार है। पूजीवाद, अहिसा और सयम दोनो का घातक है। अतएव घरेलू उद्योग-धधो के द्वारा ही इन दोनो नैतिक गुणो की रक्षा और विकास सभव है। कल-कारखानो के मालिक अपनी अर्थ-विपुलता के कारण अपना मन सयम खो बैठते है और उनके मजदूर अपनी अतिशय दरिद्रता के कारण पतित हो जाते है। परन्तु घरेलू उद्योग-धधो में व्यस्त रहनेवाले मनुष्य को न तो इतना द्रव्य ही प्राप्त हो सकता कि जिससे वह मिल-मालिको के समान विलासी जीवन व्यतीत करे, न फिर वह मजदूरो के समान इतना दरिद्र ही हो सकता कि उसे भरपेट भोजन के भी लाले पड़े। इस तरह वह अर्थ-विपुलता और एकान्त दरिद्रता दोनो के दुष्परिणामों से सुरक्षित रहता है। इसी एक बात पर घरेलू उद्योग-धंधों का नैतिक महत्त्व है। इसी कारण महात्मा जी चर्खे के द्वारा लोगो को यह उपदेश देना चाहते हैं कि वे अपनी आवश्यक वस्तुओ के लिए स्वावलम्बी बनें और कल-कारखानो का अवलम्ब लेना अपने नैतिक और आर्थिक जीवन के लिए घातक समझें। ऐसा स्वावलम्बी उद्योग गांधी जी को अत्यन्त प्रिय है और ऐसे ही उद्योगी जीवन का उपदेश वे चर्खे के द्वारा जन-समाज को दे रहे है। अतएव गाधीवाद की जो व्याख्या हमने 'अहिसा-मूलक' और 'सयम-प्रधान' इन दो शब्दो से की थी, उसकी पूर्णता 'उद्योगवाद' से हो जाती है। साराश यह है कि गाधीवाद जीवन के उस सिद्धान्त का नाम है, जिसे हम अहिसा-मूलक, सयम-प्रधान उद्योगवाद कह सकते है।

गाधीवाद की इस सक्षिप्त व्याख्या के बाद हमें अब यह देखना है कि

उसका भविष्य क्या है। इस वाद के हिमायती इस आशा और विश्वास से प्रेरित होकर काम कर रहे है कि एक दिन ऐसा जरूर आवेगा कि इस पृथ्वी पर अथवा कम से कम भारतवर्ष में गाधी जी को अहिंसा और रामराज्य का प्रसार होगा तथा ऐसी अहिसा-पूर्ण व्यवस्था में लोग शान्तिपूर्वक स्वावलम्बन-शील जीवन व्यतीत करेंगे। कल-कारखानो का मूलोत्पाटन हो जायेगा और ग्रामीण उद्योग-धधो की वदौलत न तो कोई विशेष श्रीमान् ही रहेगा न अत्यन्त दरिद्र। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था की विषमता दूर हो जावेगी और लोग आत्म-सयमी होकर वाह्यान्तर स्वराज का उपभोग कर सकेंगे। इस धारणा के सम्बन्ध में किसी भी समझदार मनुष्य को कुछ भी शिकायत नही हो सकती। हम भी यही चाहते हैं कि परमात्मा करे कि वह शुभ घडी शीघ्र आवे और गाधी जी तथा उनके अनुगामियो के सुख-स्वप्न जाग्रत् जीवन मे चरितार्थ हो।

परन्तु हमे यह लिखते हुए अत्यन्त खेद होता है कि हमारा विवेक गाधी-पथ के पथिको की आशा से प्रेरणा प्राप्त नही करता। जिस समय हम वर्त्तमान जन-समाज के मनो-विकास की ओर दृष्टिपात करते है और जब हम यह देखते है कि लोगो की मनोवृत्ति राम-राज्य स्थापित करने के लिए आज सर्वथा असमर्थ है और ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे हजारो वर्षों की जरूरत है, तब हमारा हृदय घोर निराशा का निश्वास लेता हुआ विवश होकर कहता है, 'अफसोस, हमें गाधी और गाधीवाद दोनो की परिसमाप्ति एक साथ ही देखनी पडेगी।'

हम पहले लिख चुके हैं कि गाधीवाद का निचोड केवल दो शब्दो में निकाला जा सकता है, अहिंसा-धर्म और चर्खा-सिद्धान्त। अब हम पहले यही देखें कि अहिसा का भविष्य कैसा है, उज्ज्वल अथवा मलिन। इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हमें स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा आर्य-सभ्यता का बडा प्राचीन सिद्धान्त है। वैदिक धर्म के अनुसार अहिंसा परमधर्म है। परन्तु वेदो ने इस धर्म को तर्क तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा और यह निश्चय किया कि अहिसा कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जो

त्रिकालाबाधित हो और जिसके पालने मे देश, काल तथा पात्र पर विचार करने की आवश्यकता न पडे। धर्म के अन्यान्य अगों के जिस प्रकार अपवाद हो सकते है और परिस्थितिविशेष में उनके परिवर्तित रूपो को स्वीकार करना पडता है, उसी प्रकार प्रसग-विशेष में हिंसा भी धर्म का रूप धारण कर लेती है और अहिंसा अधर्म मे परिणत हो जाती है। इसी कारण उन्होने अहिंसा-धर्म का अपवाद निकाला और जन-समाज के सामने घोषित किया कि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।" वैदिकी हिंसा का आशय है, यज्ञार्थ की गई हिंसा। ध्यान रहे कि यहाँ पर यज्ञ का सकुचित अर्थ अभिप्रेत नही है। ससार के जितने पुण्य-कार्य है, वे सब यज्ञरूप ही है। भगवद्-गीता में यज्ञ को जो व्यापकता प्रदर्शित की गई है, उसी दृष्टि मे हमें उसका आशय समझना चाहिए। ऐसी दशा में हमें यह मानना पडेगा कि वैदिक-मत के अनुसार सदुद्देश्य से की गई हिंसा सर्वथा धर्म-सगत है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन योगेश्वर कृष्ण ने गीता में भी किया है और इसी के अनुसार कुरुक्षेत्र के मैदान में दुर्योधनादिक आततायियो को मारने के लिए उन्होने अर्जुन को कटिबद्ध किया और भारीश में यह कहा कि "अर्जुन, लोकसग्रह तथा क्षात्रधर्म की दृष्टि से दुष्टों का विनाश करना सर्वथा उचित है, इसलिए समबुद्धि से धर्म-संस्थापनार्थ तू इन दुष्ट कौरवो का वध कर; तेरे लिए यह बडे पुण्य का काम होगा।"

कालान्तर में वैदिक यज्ञ-यागों का रूप विकृत हो गया और वैदिकी हिंसा के नाम पर जिह्वा-लोलुप ब्राह्मण पशुओ का अत्यधिक और अनुचित बलिदान करके अपनी वासना तृप्त करने लगे। गौतम बुद्ध ने इस विकृत वैदिकी हिंसा का विरोध किया और 'अहिंसा परमो धर्म' की आवाज देश-देशान्तरो में बुलन्द की। परन्तु गौतम बुद्ध की अहिंसा प्रति-क्रियात्मक थी। जिस प्रकार वेदमतावलम्बी ब्राह्मण अहिंसा-धर्म के वैज्ञानिक रूप से पराङ्मुख हो चुके थे, यानी यज्ञ के नाम पर अनावश्यक हिंसा-कार्य में प्रवृत्त थे, उसी प्रकार बौद्ध-धर्म ने भी प्रतिक्रियात्मक रूप से निरपवाद

अहिंसा-धर्म का उपदेश जन-समाज को दिया यानी जहाँ वेदमतानुसार हिंसा-कर्म धर्म-सगत माना जाता था वहाँ भी गौतम बुद्ध ने उसे वर्जित ठहराया। बौद्ध-भिक्षुओ ने भारतवर्ष के बाहर देशान्तरों में भी इस अहिंसा-धर्म का प्रचार किया। उन दिनो मे भी वे दक्षिण मे सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और उत्तर और पश्चिम मे चीन, जापान तथा पैलेस्टाइन तक पहुँच गये थे। हजरत ईसा को अहिंसा-धर्म की दीक्षा बौद्ध-भिक्षुओ से ही मिली। परन्तु योरप के बर्बरताग्रस्त और हिंसक जन-समाज मे अहिंसा-मूलक ईसाई-मत का कुछ भी प्रभाव न पड सका। ईसा मसीह ने बौद्ध-भिक्षुओ से जिस अहिंसा-धर्म की दीक्षा ली थी, वह भी वैदिकी अहिंसा का बिगडा हुआ प्रतिक्रियात्मक रूप ही था। 'यदि कोई दुष्ट तुम्हारे बाये गाल में थप्पड मारे, तो दाहिना गाल उसकी ओर फेर दो।' ऐसा उपदेश वेद-मत को मान्य नही है। उसके अनुसार तो आततायियो का विनाश करना पवित्र क्षात्र धर्म है। अहिंसा के नाम पर आत्महत्या करने का आदेश वैदिक धर्म हर्गिज नही देता। महात्मा गाधी अहिंसा के जिस रूप को पाकर प्रसन्न है और जिसका प्रचार वे इस समय जन-समाज मे कर रहे है वह वैदिक धर्म-प्रतिपादित अहिंसा-धर्म नही है बल्कि ईसाई मजहब से लिया हुआ वैदिकी अहिंसा का विकृत बौद्ध रूपान्तर है जो हिन्दू-नीतिशास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अग्राह्य है। अतएव हमे तो इस बात पर जरा भी सन्देह नहीं है कि हिन्दू-समाज की तर्क-मूलक धार्मिकता को गाधी जी की अहिंसा कभी मान्य नही हो सकती। बल्कि हमें तो इस बात का अन्देशा है कि जिस रूप मे और जिस उत्साह के साथ वे इस समय अहिंसा का प्रचार कर रहे है, उसका परिणाम निकटवर्ती भविष्य मे कदाचित् विपरीत हो और एक प्रतिक्रियात्मक (reactionary) आन्दोलन का सूत्रपात होगा। ईश्वर न करे, ऐसी परिस्थिति कभी आवे।

मानव-सभ्यता के प्रात काल मे आज तक अहिंसा-सिद्धान्त के चार बडे-बडे प्रवर्त्तक हो गये है। सबमे पहले जैन-सम्प्रदाय के आचार्य महावीर

स्वामी हुए। इनके बाद गौतम बुद्ध हुए। गौतम बुद्ध के बाद ईसा मसीह और ईसा के बाद महात्मा गांधी हुए। प्रथम तीन धर्मोपदेशकों की अहिंसा-शिक्षा का जन-समाज पर क्या परिणाम हुआ? कहने योग्य कुछ भी नहीं। महावीर स्वामी एक ऐसे सम्प्रदाय की रचना करके चले गये जिसके मानने-वाले हिंसा से बचने का कुछ उपहासजनक और निरर्थक प्रयत्न करते हुए अब भी देखने में आते हैं। गौतम बुद्ध की अहिंसा और भी अधिक निष्फल साबित हुई। चीन, जापान तथा ब्रह्मदेश के बौद्धमतावलम्बियों की दैनिक जीवन-चर्या, रहन-सहन तथा खान-पान का कोई निरीक्षण करेगा तो उसे अनायास प्रतीत होगा कि इन देशों में जीव-हिंसा का बाजार कितना गर्म है। इन देशों के लोग पृथ्वी के सभी कीड़ो-मकोड़ों का अचार बनाकर खा जाते हैं। बौद्ध-धर्म का स्वाभिमानी जापान आज सिर से पैर तक शस्त्र-सन्नद्ध है और पशुबल के द्वारा चीन को हड़प जाने पर तुला हुआ है। हज़रत ईसा का अहिंसा-धर्म तो और भी अधिक निष्फल साबित हुआ है। ईसा-मतावलम्बी योरोपीय राष्ट्र आज अपने शस्त्र-बल के द्वारा सारी पृथ्वी पर आतंक जमाये बैठे हैं। उनकी हिंसक मनोवृत्ति को देखकर किसी को ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता कि वे हज़रत ईसा के समान किसी अहिंसावादी के अनुगामी और भक्त हैं।

अब इस भौतिकता-ग्रस्त वर्त्तमान युग में अहिंसा-धर्म की वही पुरानी आवाज़ गांधीवाद के रूप में फिर भी कर्णगोचर हो रही है। महात्मा गांधी और प्रथम तीन धर्मोपदेशकों की अहिंसा में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अभी तक इस धर्म का अक्षरशः पालन करने में वे ही लोग प्रयत्नशील रहते आये हैं जो आध्यात्मिक मोक्ष के अभिलाषी थे। प्रथम तीन आचार्यों ने अहिंसा का उपदेश धर्ममंच से ही दिया और वह भी मुमुक्षुओं को। परन्तु गांधी जी की अहिंसा-सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा जन-समाज के उन सर्व-साधारण लोगों को दी जा रही है जिनका दृष्टिकोण सांसारिक है और जो राजनैतिक स्वतन्त्रता के हिमायती हैं। "अहिंसा-धर्म" शीर्षक प्रकरण में हमने हिन्दू-धर्म-शास्त्र की दृष्टि से इस शिक्षा के औचित्य-

अनौचित्य पर अच्छी तरह विचार किया है। यहाँ पर हमें केवल परिणाम की दृष्टि से यह देखना है कि महात्मा गाधी के इस व्यापक और निरपवाद अहिंसा-धर्म का असर जन-समाज पर क्या होगा। हम तो यही समझते हैं कि धर्ममच से दी हुई अहिंसा की दीक्षा का परिणाम पारलौकिक धर्मपथ पर आरूढ रहनेवाले मोक्षार्थियों पर जहाँ कुछ भी न हुआ, वहाँ राजनैतिक क्षेत्र में स्वराज के लिए लडनेवाले ससारी लोगो पर उसका स्थायी प्रभाव कुछ भी नही पड सकता। अनादृत, पराधीन और अशक्त भारत की अन्तरात्मा इस रूप में अहिंसा-धर्म को स्वीकार नही कर सकती। जब कभी वह सामर्थ्यवान् होकर राष्ट्रीय योग्यता प्राप्त करेगी, तब वह अपने वैदिक अहिंसा-धर्म को ही स्वीकार करेगी। वह गाधीवाद की नही, योगेश्वर कृष्ण-प्रतिपादित गीता-धर्म की अहिंसा होगी।

गाधीवाद की अहिंसा के भविष्य पर सक्षेप में विचार करने के बाद अब हमें यह देखना है कि महात्मा जी के ग्रामीण तथा घरेलू उद्योग-धधो का भविष्य क्या होगा। हम पहले अनेक बार इस बात को मुक्तकठ से स्वीकार कर चुके हैं कि गाधी जी का चरखा-सिद्धान्त वर्तमान पूँजीवाद की बुराइयो के लिए एक रामबाण उपचार है। हम यह भी बतला चुके हैं कि साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था को चिरस्थायी बनाने के लिए गाधी जी की प्रतिपादित की हुई यह युक्ति सर्वथा उपयुक्त और उपादेय है। आज उनके भगीरथप्रयत्नो की बदौलत घरेलू उद्योग-धधो का यत्किंचित् प्रचार भी इस देश मे हो रहा है। उनके द्वारा स्थापित किये हुए अखिल भारतीय चरखा-संघ की प्रेरणा से खादी भी कुछ लोक-प्रियता प्राप्त कर चुकी है। परन्तु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस दिशा में जो कुछ राष्ट्रीय क्रियाशीलता दृष्टिगत हो रही है, वह सब महात्मा जी के व्यक्तित्व तथा आत्म-विश्वास की प्रेरणा का ही परिणाम है। उनके बाद हमें इस बात की आशा नही है कि खादी का महत्त्व हिन्दुस्थान के अबूझ जन-समाज में वैसा ही बना रहेगा, जैसा कि कुछ कुछ आज है। वैज्ञानिक आविष्कारो की

बदौलत जिन यंत्रों का निर्माण हो चुका है, उनका सर्वथा नष्ट हो जाना संभव नहीं है। वे तो अभी बहुत दिनों तक चलते रहेंगे और केन्द्रित व्यवसाय-प्रणाली के प्रवर्तक सिद्ध होंगे। जब तक इस पृथ्वी पर यह प्रणाली प्रचलित रहेगी, तब तक घरेलू उद्योग-धंधों का भविष्य निराशा-जनक ही रहेगा। यदि हिन्दुस्थान का नव-निर्मित साम्यवादी दल इस सम्बन्ध में महात्मा जी के समान ही उत्साह-प्रदर्शन करता, तो इस देश में चरखा कदाचित् चल जाता। परन्तु हमारे साम्यवादी नौजवान कार्ल मार्क्स की भौतिकता-मूलक शिक्षा से दीक्षित हो चुके हैं। वे पूँजीवाद को छिन्न-मूल करने पर तुले हुए हैं; परन्तु अर्थ-विभाग की विषमता को दूर करने के लिए वे मार्क्स-प्रतिपादित उपायों को ही श्रेयस्कर समझते हैं। वे केन्द्रीभूत व्यवसाय के संचालक यंत्रों को पूँजीपतियों के नियंत्रण से छीन कर मजदूर-शासन के सुपुर्द कर देना चाहते हैं। यंत्र वे ही रहेंगे, व्यवसाय-प्रणाली वही रहेगी और मजदूर भी वही रहेंगे; केवल यंत्रों का स्वामित्व पूँजीवाले व्यक्तियों से छूटकर मजदूर-संघ के हाथ चला जायगा। परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं इस परिवर्तन से जन-समाज का कोई विशेष लाभ न होगा। मजदूरों को मजदूरी संभवतः अधिक मिल जायगी, काम करने के घंटे कम हो जायँगे; रहने के लिए साफ-सुथरे मकान भी उन्हें मिल जायँगे, मजदूर-बच्चों के लिए शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध भी हो जायगा। सब कुछ होगा, परन्तु मजदूर मजदूर ही रहेंगे। अपने दैनिक जीवन में उन्हें स्वतंत्र मनुष्य का स्वामित्व कभी प्राप्त न होगा। यंत्रों के समान ही उन्हें प्रतिदिन काम करना पड़ेगा। ऐसी व्यवस्था मानवी संस्कृति के विकास में कदापि सहायक नहीं हो सकती।

परन्तु हिन्दुस्थान के नवोदित साम्यवादी दल को महात्मा जी का उपर्युक्त दृष्टि-कोण हृदय से मान्य नहीं है। आज वे अपने विरोधी विचारों को मन में ही दबाये बैठे हैं। उन्हें महात्मा जी की अहिंसा भी माननीय प्रतीत नहीं होती, क्योंकि कार्ल मार्क्स के साम्यवाद में पूँजीपतियों की वही सेना है, वे ही शस्त्र हैं और पशु-बल का वही संगठन है।

अन्तर केवल इतना ही है कि अभी वह सैन्य-बल पूंजीपतियों के संकेत पर अपना काम कर रहा है और साम्यवादी ज़माने में वह मजदूर-शासन की आज्ञा को शिरोधार्य मानेगा। तात्पर्य यह कि प्रश्न सिद्धान्त-परिवर्तन का नहीं है, स्वामित्व-परिवर्तन का है। आमतौर पर लोग इस बात को मानने लगे हैं कि इस देश के राजनैतिक भविष्य का सूत्र उदीयमान साम्यवादी दल के हाथों में होगा। यदि लोगों की यह धारणा सच है तो कोई भी निस्संकोच होकर यह कह सकता है कि आनेवाले दिन गांधीवाद के लिए अनुकूल नहीं हैं। न तो गांधी जी के द्वारा प्रतिपादित किया हुआ अहिंसा-धर्म ही हमारे भावी साम्यवादी नेताओं को मान्य होगा, न फिर उनका साम्यवादी चर्खा-सिद्धान्त ही किसी तरह अमल में लाया जा सकेगा। बुराइयाँ ज्यों की त्यों रहेंगी, केवल उन बुराइयों के प्रवर्त्तक बदल जावेंगे। आज पूंजीपति हैं, कल मजदूर होंगे। जन-समाज के भविष्य पर इस दृष्टि से विचार करनेवाले को सहज ही प्रतीत होता है कि हमारे उत्कर्ष की दिल्ली अभी बहुत दूर है। अभी लोगों को अपनी नासमझी के बहुत से कड़वे फल चखने हैं। मानव-समाज का विकास नैसर्गिक गति से अनुभव के आधार पर ही संभव है। महात्मा न जाने कितने हुए और होंगे। परन्तु केवल इन महात्माओं के उपदेशों का जन-समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। लोगों को अपने विकास-पथ पर अग्रसर होने के लिए पग-पग पर अनुभव का ही आधार चाहिए। यदि हिंसा बुरी है तो वह गौतम बुद्ध या महात्मा गांधी के कहने से बुरी सिद्ध नहीं हो सकती। स्वयं जन-समाज सदियों तक उसका उपयोग करेगा, उसके भले-बुरे परिणामों को भोगेगा और फिर कहीं अन्ततोगत्वा स्वयं-अर्जित अनुभव के आधार पर वह पशु-बल का परित्याग करेगा।

यदि यन्त्र सार्वजनिक दरिद्रता के प्रवर्त्तक और थोड़े-से पूंजीवालों के पोषक हैं तो गांधी जी के समान एक-दो विचारवान् पुरुषों की बातें कारगर न होंगी। मजदूर लोग भी उन यन्त्रों का सर्वथा नाश कर देना

पसन्द न करेंगे। वे वर्तमान पूँजीवालो के स्थानापन्न होकर उन्हें शा[illegible]
की हैसियत से खुद चलावेंगे। देश-देशान्तरों में अपने व्यवसाय-वा[illegible]
का प्रचार करके आर्थिक राष्ट्रीयता (Economic nationalism)
से प्रेरित होकर वे अपने देशी मजदूरों की भलाई पहले सोचेंगे और करेंगे।
इस प्रयत्न में उन्हे यदि आवश्यकता प्रतीत हुई तो मजदूर-साम्राज्य
स्थापित कर देंगे। कोई ऐसा न सोचे कि पश्चिमी राष्ट्रो मे
वाद का यथेष्ट प्रचार होते ही पृथ्वी पर अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व आप ही
स्थापित हो जावेगा। पश्चिम का साम्यवाद यथार्थ में मजदूरो के
आर्थिक स्वार्थवाद है। वह कोई दूध से धुली हुई बिलकुल निर्दोष ची[ज]
नही है। राष्ट्रो के साम्यवादी शासक ही आर्थिक राष्ट्रीयता के नाम प[र]
लडेंगे, मरेंगे और दुनिया की बेढंगी रफ्तार अभी सदियो तक यही रहेगी।
काल की गति बडी प्रबल होती है। उसे रोकने में आज तक कई म[हात्माओं]
की आजन्म और आमरण चेष्टायें विफल हो चुकी हैं। फिर किस [आधार]
पर कहें कि जहाँ गौतम और ईसा विफल हो गये, [वहाँ] महात्मा [गाँधी]
सफल होगे। हमारी धारणा तो यही कहती है कि जन-समाज अभी [इसी]
वर्तमान कटकाकीर्ण कुपथ पर ही आरूढ रहेगा और किसी महा[त्मा के]
उपदेशो की बदौलत नही, अपने स्वय अर्जित अनुभव की प्रेरणा से [ही]
आगे चलकर कभी सुदूरवर्ती भविष्य में किसी नवीन पथ पर [आरूढ]
होगा। इसी तरह गिरता-पडता, हँसता-रोता, कूदता-फाँदता यह [जन-समाज]
अपनी ही अनुभव-सचालित गति से चलता रहेगा और अपने [ही अनुभव से]
ही वह अपने पूर्ण विकास की अवस्था को प्राप्त होगा। जन-समाज [को]
सहसा ऊँचा उठानेवाला 'लिफ्ट' अभी किसी ने तैयार नही किया।
महापुरुष तथा महात्मा लोग ठीक दिशा की ओर सकेत-मात्र ही कि[या]
करते हैं और चले जाते है। परन्तु जडताक्रान्त जन-समाज अपनी
चाल से चलता है। शुरू से वह इसी तरह चलता आया है। महापुरु[षों]
के प्रयत्नो से उसमें क्षणिक चेतनता जरूर आ जाती है, परन्तु सर्वसाधार[ण]
लोगो में स्थायी जाग्रति अनुभव की प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है।

गाधीवाद की व्याख्या और उसके भविष्य का अनुमान हम सक्षेप
ार चुके है । अब इस सम्बन्ध में हमे विशेप कुछ भी कहना
। है। महात्मा जी के प्रियतम सिद्धान्तो का निकटभविष्य चाहे
ा भी निराशाजनक क्यो न हो, परन्तु इसमे सन्देह नही कि जन-समाज
उत्कर्प जब कभी होगा, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व की उदार भावना
ो सपादित हो सकेगा। शिक्षा बहुत पुरानी है। लोगो ने यही उपदेश
महापुरुषो से सुने हैं। परन्तु अबूझ मानव-समाज अभी पशुता-पाश
ही आबद्ध है। उसकी आत्म-जाग्रति अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था
ो है। अभी उसमे तीन-चौथाई पशुता विद्यमान है। इसी कारण उसके
अकाश व्यवहार पाशविक प्रवृत्ति से ही प्रेरणा प्राप्त करते है। वर्तमान
इस विपमतापूर्ण परिस्थिति मे स्वार्थी, कलहशील और अनात्मवादी
[illegible] सामने सत्य और अहिंसा की शिक्षा देना शूकरो के सम्मुख
[illegible] रना है। अतएव गाधी जी की उदार भावनाये इस समय
[illegible] र ही है। फिर भी यदि जन-समाज का कल्याण
[illegible] वी है तो किसी न किसी दिन सुदूरवर्ती भविष्य में गाधीवाद का
[illegible] वित होगा, उसमे फूल और फल भी लगेगे। सन्ताप-सागर में
[illegible] निराश जन-समाज के लिए इतनी भी आशा क्या कम है ! यही
[illegible] गाधी जी के सकटमय जीवन को भी सान्त्वना दे रही है। इसी
[illegible] विश्वास की सयुक्त प्रेरणा से वे अनन्य मनसा क्रियाशील है
[illegible] समाज की दुरवस्था के कारण विपाद-विपन्न होते हुए भी शान्त
[illegible] रहते है। यह आशावाद ही तो मानव-जीवन का मूलाधार
भोजन के विना मनुष्य कई दिनो तक जी सकता है, पानी के विना
दो-चार दिन जीना सम्भव है, हवा प्राणो के लिए अत्यन्त आवश्यक
तु है, फिर भी उसके विना भी मनुष्य दो-चार, दस-पाँच पल जीवित
सकता है। परन्तु आशा के विना उसके लिए पल भर भी जीना सम्भव
। आशा ऐसी प्राणप्रद वस्तु है ! मनुष्य जितना महान् होता है, उतना
बड़ा वह आशावादी भी होता है। महात्मा गाधी का आशावाद भी